शिक्षा में क्रांति

प्रवचन-क्रम

1. नये मनुष्य के जन्म की दिशा...3
2. धर्म और विज्ञान...15
3. शिक्षा और धर्म...27
4. शिक्षक, समाज और क्रांति...43
5. प्रेम-विवाह और बच्चे..56
6. युक्रांद क्या है?...68
7. नारी और क्रांति...81
8. अज्ञात के नये आयाम..90
9. प्रेम-केन्द्रित शिक्षा...109 10...विषबुझी महत्वाकांक्षा
.... 124
11..अशांति का बीजमंत्र
.... 135
12...विद्रोह की आग
.... 145
13...संदेह की ज्योति
.... 156
14...साध्य और साधन
.... 169
15...बोध से रूपांतरण
.... 191
16...अखंड जीवन का सूत्र
.... 205
17...जटिल धारणायें नहीं, सरल जीवंत अनुभव
.... 226
18...महत्त्वाकांक्षारहित अतुलनीय प्रेम
.... 240
19..निराग्रही, अन्वेषक चित्त की खोज
.... 261
20..जीवन-विरोधों में लयबद्धता का बिन्दु
.... 271
21..मनुष्य के आमूल रूपांतरण की प्रक्रिया
.... 287
22...मनोविश्लेषण, मनोजागरण और मनोसाधना
.... 300

23..नारी की मुक्ति और शांति
....323
24..अंधविश्वासों से मुक्ति
....339
25..शक्ति -नियोजन
....354
26...जीवंत शिक्षकों की खोज
....368
27...अंकुरित होने की कला
....383
28..कम्यून -जीवन
....396
29...नई दिशा , नया बोध
....417
30...बोध का जागरण
....430
31...शिक्षाः नया धर्म
....445

शिक्षा में क्रांति
पहला प्रवचन

नये मनुष्य के जन्म की दिशा

मेरे प्रिय!
मैं आपके बीच उपस्थित होकर अत्यंत आनंदित हूं। निश्चय ही इस अवसर पर मैं अपने हृदय की कुछ बातें आपसे कहना चाहूंगा। शिक्षा की स्थिति देख कर हृदय में बहुत पीड़ा होती है। शिक्षा के नाम पर जिन परतंत्रताओं का पोषण किया जाता है उनसे एक स्वतंत्र और स्वस्थ मनुष्य का जन्म संभव नहीं है। मनुष्य-जाति जिस कुरूपता और अपंगता में फंसी है, उसके मूलभूत कारण शिक्षा में ही छिपे हैं। शिक्षा ने प्रकृति से तो मनुष्य को तोड़ दिया है लेकिन संस्कृति उससे पैदा नहीं हो सकी है, उलटे पैदा हुई है--विकृति। इस विकृति को ही प्रत्येक पीढ़ी नई पीढ़ियों पर थोपे चली जाती है। और फिर जब विकृति ही संस्कृति समझी जाती हो तो स्वभावतः थोपने का कार्य पुण्य की आभा भी ले लेता हो तो आश्चर्य नहीं है। और जब पाप पुण्य के वेश में प्रकट होता है, तो अत्यंत घातक हो ही जाता है।
इसलिए ही तो शोषण सेवा की आड़ में खड़ा होता है, और हिंसा अहिंसा के वस्त्र ओढ़ती है, और विकृतियां संस्कृति के मुखौटे पहन लेती हैं। अधर्म का धर्म के मंदिरों में आवास अकारण नहीं है। अधर्म सीधा और नग्न तो कभी उपस्थित ही नहीं होता है। इसलिए यह सदा ही उचित है कि मात्र वस्त्रों में विश्वास न किया जाए। वस्त्रों को उघाड़ कर देख लेना अत्यंत ही आवश्यक है। मैं भी शिक्षा के वस्त्रों को उघाड़ कर ही देखना चाहूंगा। इसमें आप बुरा तो न मानेंगे? विवशता है, इसलिए ऐसा करना आवश्यक है। शिक्षा की वास्तविक आत्मा को देखने के लिए उसके तथाकथित वस्त्रों को हटाना ही होगा। क्योंकि अत्यधिक सुंदर वस्त्रों में जरूर ही कोई अस्वस्थ और कुरूप आत्मा वास कर रही है; अन्यथा मनुष्य का जीवन इतनी घृणा, हिंसा और अधर्म का जीवन नहीं हो सकता था।
जीवन के वृक्ष पर कड़वे और विषाक्त फल देख कर क्या गलत बीजों के बोए जाने का स्मरण नहीं आता है? बीज गलत नहीं तो वृक्ष पर गलत फल कैसे आ सकते हैं? वृक्ष का विषाक्त फलों से भरा होना बीज में प्रच्छन्न विष के अतिरिक्त और किस बात की खबर है? मनुष्य गलत है तो निश्चय ही शिक्षा सम्यक नहीं है।
यह हो सकता है कि आप इस भांति न सोचते रहे हों और मेरी बात का आपकी विचारणा से कोई मेल न हो। लेकिन मैं माने जाने का नहीं, मात्र सुने जाने का निवेदन करता हूं। उतना ही पर्याप्त भी है। सत्य को शांति से सुन लेना ही काफी है। असत्य ही माने जाने का आग्रह करता है। सत्य तो मात्र सुन लिए जाने पर ही परिणाम ले आता है।
सत्य का सम्यक श्रवण ही स्वीकृति है।
शिक्षाशास्त्र से भी मेरी दृष्टि भिन्न और विरोधी हो सकती है। मैं न
तो शिक्षाशास्त्री ही हूं और न समाजशास्त्री ही। किंतु यह सौभाग्य की बात है। क्योंकि जो जितना अधिक शास्त्र को जानते हैं, उनके लिए जीवन को जानना उतना ही कठिन हो जाता है। शास्त्र सदा ही सत्य के जानने में बाधा बन जाते हैं। शास्त्र से भरे हुए चित्त में चिंतन समाप्त हो जाता है। चिंतन के लिए तो निर्भार और पक्षपात मुक्त चित्त चाहिए न! शास्त्र और सिद्धांत पक्ष पैदा करते हैं। और तब जीवन और उसकी समस्याओं के प्रति निष्पक्ष और निर्दोष दृष्टि नहीं रह जाती है। शास्त्र जिसके लिए महत्वपूर्ण हैं, उसके समक्ष समाधान समस्याओं से भी ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाते हैं। वह समस्याओं के अनुरूप समाधान नहीं, वरन समाधानों के अनुरूप ही समस्याओं को देखने लगता है! इससे जो मूढ़तापूर्ण स्थिति पैदा होती है, उससे समाधानों से समस्याओं का अंत नहीं, अपितु और बढ़ती होती है। मनुष्य का पूरा इतिहास ही इसका प्रमाण है।
मनुष्य का विचार और आचार इतना भिन्न, स्व-विरोधी क्यों है? शास्त्रों
और सिद्धांतों के आधार पर जीवन पर थोपे गए समाधानों का ही यह परिणाम है।

समाधान समस्याओं से नहीं जन्में हैं, उन्हें समस्याओं के ऊपर थोपा गया है। समाधान ऊपर हैं, समस्याएं भीतर हैं। समाधान बुद्धि में हैं, समस्याएं जीवन में हैं। और यह अंतर्द्वंद्व आत्मघाती हो गया है। सभ्यता के भीतर इस भांति जो विक्षिप्तता चलती रही है वह अब विस्फोट की स्थिति में आ गई है। उसके विस्फोट की संभावना से पूरी मनुष्यता भयाक्रांत है। लेकिन मात्र भयभीत होने से क्या होगा? भय की नहीं, वरन साहसपूर्वक पूरी स्थिति को जानने और पहचानने की जरूरत है।
मैं शास्त्रों को बीच में नहीं लूंगा, क्योंकि मैं समाधानों से अंधा नहीं होना चाहता। मैं तो आपसे कुछ ऐसी बातें करना चाहता हूं जो कि समस्याओं को सीधा देखने से पैदा होती हैं।
क्या यह संभव नहीं है कि हम जीवन को सीधा देख सकें? क्या यह संभव नहीं
है कि हम जीवन को वैसा देखें जैसे कि पहले आदमी ने उसे देखा होगा? क्या हमारा मन उतनी सरलता और स्वतंत्रता और सहजता से जीवन को नहीं देख सकता है? शिक्षा के समक्ष इसे मैं सबसे अहम समस्या मानता हूं।
शिक्षा व्यक्ति के चित्त को इतना बोझिल, जटिल और बूढ़ा कर दे कि उसका जीवन से सीधा संपर्क छिन्न-भिन्न हो जाए तो वह शुभ नहीं है। बोझिल और बूढ़ा चित्त जीवन के ज्ञान, आनंद और सौंदर्य, सभी से वंचित रह जाता है। ज्ञान, आनंद और सौंदर्य की अनुभूति के लिए तो युवा चित्त चाहिए। शरीर तो बूढ़ा होने को आबद्ध है, लेकिन चित्त नहीं। चित्त तो सदा युवा रह सकता है। मृत्यु के अंतिम क्षण तक चित्त युवा रह सकता है। और ऐसा चित्त ही जीवन और मृत्यु के रहस्यों को जान पाता है। ऐसा चित्त ही धार्मिक चित्त है। लेकिन शिक्षा तो चित्त को बूढ़ा करती है। यह चित्त को जगाती नहीं, भरती है; और भरने से चित्त बूढ़ा होता है। विचार भरने से चित्त थकता, बोझिल होता और बूढ़ा होता है! विचार देना, स्मृति को भरना है। वह विचार या विवेक का जागरण नहीं है। स्मृति विवेक नहीं है। स्मृति तो यांत्रिक है। विवेक है चैतन्य। विचार नहीं देना है, विचार को जगाना है। विचार जहां जाग्रत है, वहां चित्त सदा युवा है। और जहां चित्त युवा है, वहां जीवन का सतत संघर्ष है, वहां चेतन के द्वार खुले हैं और वहां सुबह की ताजी हवाएं भी आती हैं, और नये उगते सूरज का प्रकाश भी आता है। व्यक्ति जब दूसरों के विचारों और शब्दों की कैद में हो जाता है, तो सत्य के आकाश में उसकी स्वयं की उड़ने की क्षमता ही नष्ट हो जाती है। लेकिन शिक्षा क्या करती है? क्या वह विचार करना सिखाती है, या कि मात्र मृत और उधार विचार देकर ही तृप्त हो जाती है? विचार से जीवंत और शक्ति कौन सी है।
लेकिन मात्र दूसरों के विचारों को सीख लेने से जड़, और मृत भी कोई दूसरी जड़ता नहीं है। विचार संग्रह जड़ता लाता है। विचार संग्रह से विचार और विवेक का जन्म नहीं होता है।
विचार और विवेक के आविर्भाव के लिए यांत्रिक स्मृति पर अत्यधिक बल घातक है। उसके लिए तो विचार और विवेक के समुचित अवसर होने आवश्यक हैं। उसके लिए तो श्रद्धा की जगह संदेह सिखाना अनिवार्य है।
श्रद्धा और विश्वास बांधते हैं। संदेह मुक्त करता है।
लेकिन संदेह से मेरा अर्थ अविश्वास नहीं है, क्योंकि अविश्वास तो विश्वास का ही नकारात्मक रूप है--न विश्वास, न अविश्वास वरन संदेह-- विश्वास और अविश्वास दोनों ही संदेह की मृत्यु हैं। और जहां संदेह की मुक्तिदायी तीव्रता नहीं है वहां न सत्य की खोज है, न प्राप्ति है।
संदेह की तीव्रता खोज बनती है। संदेह है प्यास, संदेह है अभीप्सा। संदेह की अग्नि में ही प्राणों का मंथन होता है और विचार का जन्म होता है।
संदेह की पीड़ा विचार के जन्म की प्रसव पीड़ा है। और जो उस पीड़ा से पलायन करता है, वह सदा के लिए विचार के जागरण से वंचित रह जाता है।
क्या हममें संदेह है? क्या हममें जीवन के मूलभूत अर्थों और मूल्यों
के प्रति संदेह है? यदि नहीं, तो निश्चय ही हमारी शिक्षा गलत हुई है। सम्यक शिक्षा का सम्यक संदेह के अतिरिक्त और कोई आधार ही नहीं है। संदेह नहीं तो खोज कैसे होगी? संदेह नहीं तो असंतोष कैसे होगा? संदेह नहीं तो प्राण सत्य को जानने और पाने को आकुल कैसे होंगे? इसलिए तो हम सब अत्यंत

छिछली तृप्ति के डबरे बन गए हैं, और हमारी आत्माएं सतत सागर की खोज में बहने वाली सरिताएं नहीं हैं।
यह जड़ता किसने पैदा की है? निश्चित ही शिक्षा ने और शिक्षक ने। शिक्षक
के माध्यम से मनुष्य के चित्त को परतंत्रताओं की अत्यंत सूक्ष्म जंजीरों में बांधा जाता रहा है। यह सूक्ष्म शोषण बहुत पुराना है। शोषण के अनेक कारण हैं--धर्म हैं, धार्मिक गुरु हैं, राजतंत्र हैं, समाज के न्यस्त स्वार्थ हैं, धनपति हैं, सत्ताधिकारी हैं।
सत्ताधिकारी ने कभी भी नहीं चाहा है कि मनुष्य में विचार हो, क्योंकि जहां विचार है, वहां विद्रोह का बीज है। विचार मूलतः विद्रोह है। क्योंकि विचार अंधा नहीं है, विचार के पास अपनी आंखें हैं। उसे हर कहीं नहीं ले जाया जा सकता। उसे हर कुछ करने और मानने को राजी नहीं किया जा सकता है। उसे अंधानुयायी नहीं बनाया जा सकता है। इसलिए सत्ताधिकारी विचार के पक्ष में नहीं हैं, वे विश्वास के पक्ष में हैं। क्योंकि विश्वास अंधा है। और मनुष्य अंधा हो तो ही उसका शोषण हो सकता है। और मनुष्य अंधा हो तो ही उसे स्वयं उसके ही अमंगल में संलग्न किया जा सकता है।
मनुष्य का अंधापन उसे सब भांति के शोषण की भूमि बना देता है। इसलिए विश्वास सिखाया जाता है, आस्था सिखाई जाती है, श्रद्धा सिखाई जाती है। धर्मों ने यही किया है। राजनीतिज्ञों ने यही किया है। विचार से सभी भांति के सत्ताधिकारियों को भय है। विचार जाग्रत होगा तो न तो वर्ण हो सकते हैं, न वर्ग हो सकते हैं। धन का शोषण भी नहीं हो सकता है। और शोषण को पिछले जन्मों के पाप-पुण्यों के आधार पर भी नहीं समझाया और बचाया जा सकता है। विचार के साथ आएगी क्रांति--सब तलों पर और सब संबंधों में--राजनीतिज्ञ
भी उसमें नहीं बचेंगे और राष्ट्रों की सीमाएं भी नहीं बचेंगी। मनुष्य को मनुष्य से तोड़ने वाली कोई दीवाल नहीं बच सकती है। इससे विचार से भय है, पूंजीवादी राजनीतिज्ञों को भी, साम्यवादी राजनीतिज्ञों को भी। और इस भय से सुरक्षा के लिए शिक्षा के ढांचे की ईजाद हुई है। यह तथाकथित शिक्षा सैकड़ों वर्षों से चल रहे एक बड़े षडयंत्र का हिस्सा है। धर्म पुरोहित पहले इस पर हावी थे, अब राज्य हावी है।
विचार के अभाव में व्यक्ति निर्मित ही नहीं हो पाता है। क्योंकि व्यक्तित्व की मूल आधारशिला ही उसमें अनुपस्थित होती है। व्यक्तित्व की मूल आधारशिला क्या है? क्या विचार की स्वतंत्र क्षमता ही नहीं? लेकिन स्वतंत्र विचार की तो जन्म के पूर्व ही हत्या कर दी जाती है। गीता सिखाई जाती है, कुरान और बाइबिल सिखाए जाते हैं, कैपिटल और कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो सिखाए जाते हैं--उनके आधार पर, उनके ढांचे में विचार करना भी सिखाया जाता है! ऐसे विचार से ज्यादा मिथ्या और क्या हो सकता है? ऐसे अंधी पुनरुक्ति सिखाई जाती है और उसे ही विचार करना कहा जाता है!
जहां आधार है, ढांचा है, विश्वास और श्रद्धा है, वहां विचार असंभव है। विचार के लिए तो समस्त ढांचों से मुक्त चित्त चाहिए। शिक्षा मन को ढांचे दे और पटरियां दे तो उचित नहीं है। उसे तो ढांचों में मन न ढल पाए ऐसी सावधानी और सजगता देनी चाहिए। उसे तो ऐसा बोध देना चाहिए कि संस्कारों में चित्त परतंत्र न हो पाए और व्यक्ति की स्वतंत्र चिंतन धारा का आविर्भाव भी हो सके।
ध्यान दिया जाए तो यह अवश्य ही हो सकता है। स्वतंत्र चिंतन के बीज तो प्रत्येक व्यक्ति में है। अनुकूल सुविधाओं में वे विकसित भी हो सकते हैं। स्वतंत्रता कौन नहीं चाहता है? स्वयं का विवेक और विचार कौन नहीं चाहता है? लेकिन यदि शिक्षा का पूरा यंत्र ही मनुष्य की स्वतंत्रता की जगह परतंत्रता के लिए तैयारी करता हो तो बात ही दूसरी है। तब तो वे थोड़े से व्यक्ति ही आश्चर्य का कारण हैं जो इस यंत्र से गुजर कर भी यंत्र बनने से स्वयं को बचा लेते हैं।
शिक्षालयों से गुजर कर स्वयं की प्रतिभा को बचा लेने से अधिक दुरूह कार्य और कोई भी नहीं है। विश्वविद्यालयों ने मौलिक प्रतिभाओं को नष्ट करने में अपनी कुशलता का चरम बिंदु तो बहुत पहले ही उपलब्ध कर लिया है।

मनुष्य की परतंत्रता के लिए ही अनुशासन पर अत्यधिक बल दिया जाता है। विवेक के अभाव की पूर्ति अनुशासन से करने की कोशिश की जाती है। विवेक हो तो व्यक्ति में और उसके जीवन में एक स्वतःस्फूर्त अनुशासन अपने आप ही पैदा होता है। उसे लाना नहीं पड़ता है। वह तो अपने आप ही आता है। लेकिन जहां विवेक सिखाया ही न जाता हो, वहां तो ऊपर से थोपे अनुशासन पर ही निर्भर होना पड़ता है। यह अनुशासन मिथ्या तो होगा ही। क्योंकि वह व्यक्ति के अंतस से नहीं जागता है और उसकी जड़ें उसके स्वयं के विवेक में नहीं होती हैं। व्यक्ति का अंतःकरण तो सदा भीतर ही भीतर उसके विरोध में सुलगता रहता है। ऐसे अनुशासन की प्रतिक्रिया में ही स्वच्छंदता पैदा होती है। स्वच्छंदता सदा ही परतंत्रता की प्रतिक्रिया है। वह उसकी ही अनिवार्य प्रतिध्वनि है। स्वतंत्रता से भरी चेतना कभी भी स्वच्छंद नहीं होती है।
मनुष्य को स्वच्छंदता के रोग से बचाना हो तो उसकी आत्मा को परिपूर्ण स्वतंत्रता का वायुमंडल मिलना चाहिए। लेकिन हम तो दो ही विकल्प जानते हैं--परतंत्रता या स्वच्छंदता। स्वतंत्रता के लिए तो हम अब तक तैयार ही नहीं हो सके हैं। अनुशासन--दूसरों से आया हुआ अनुशासन भी परतंत्रता है। ऐसा अनुशासन जगह-जगह टूट रहा है तो बहुत चिंता व्याप्त हो गई है। यह अनुशासन तो टूटेगा ही। यह तो टूटना ही चाहिए। उसके होने के कारण ही गलत हैं। उसकी मृत्यु तो उसमें ही छिपी हुई है। वह तो अराजकता को बलपूर्वक स्वयं में ही छिपाए हुए है। और बलपूर्वक जो भी दमन किया जाता है, एक न एक दिन उसका विस्फोट अवश्यंभावी है।
ऐसा अनुशासन हो तो व्यक्ति चेतना की सारी सहजता और आनंद छीन लेता है;
और टूटे तो भी व्यक्ति को खंडहर कर जाता है। बाहर से आया हुआ अनुशासन सब भांति मनुष्य के अहित में है। शिक्षा बाह्यानुशासन से मुक्त होनी चाहिए। उसे तो व्यक्ति में प्रसुप्त विवेक को जगाना चाहिए।
फिर वह विवेक ही आत्मानुशासन बन जाता है। वैसी चर्या में न दमन होता है, न दबाव होता है। वैसी चर्या तो फूलों जैसी सहज और सरल होती है। और जीवन जब स्व-विवेक के प्रकाश में गति करता है तो अराजकता और स्वच्छंदता की संभावनाएं ही समाप्त हो जाती हैं। जहां दमन ही नहीं है, वहां अराजकता और स्वच्छंदता के विस्फोट भी असंभव हैं।
मैं पूछता हूं कि क्या हम मनुष्य को स्वतंत्र नहीं बना सकते हैं? स्वतंत्रता में स्वच्छंदता का भय मालूम होता है। क्योंकि हमने मनुष्य को परतंत्रताओं से दबा रखा है, और उसकी आत्मा सदा से ही उन परतंत्रताओं से छूटने को तड़फड़ाती रही है। और जब भी संभव हुआ है, उसने बंधन तोड़े हैं। लेकिन बंधन तोड़ने के प्रयास में वह जिस कटुता, कठोरता और विरोध से भर जाती है, उसके ही कारण स्वतंत्र तो नहीं होती, स्वच्छंद हो जाती है। स्वतंत्रता सृजनात्मक है, स्वच्छंदता विध्वंसात्मक। लेकिन यदि स्वच्छंदता से बचना हो तो स्वतंत्रता के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है।
शिक्षा निश्चय ही ऐसे आधार रख सकती है जो कि मनुष्य को स्वतंत्र बनाए। अनुशासित व्यक्ति अब नहीं चाहिए। स्वतंत्र और स्वयं के विवेक को उपलब्ध व्यक्ति चाहिए। उनमें ही आशा है और उनमें ही भविष्य है।
अनुशासन की प्रणालियों ने क्या किया है? मनुष्य में जड़ता और बुद्धिहीनता लाई है। अनुशासित व्यक्ति जड़ तो होगा ही। असल में जो जितना जड़ है उतना ही अनुशासित हो जाएगा। देखें, यंत्र कितने अनुशासित हैं? विवेक सदा ही "हां" नहीं कह सकता है। उसे "नहीं" कहना भी आना चाहिए। उसके "हां" में भी तभी मूल्य और अर्थ है अब, जब वह "नहीं" कहना भी जानता हो। लेकिन अनुशासन "नहीं" कहना नहीं सिखाता है। वह तो सदा "हां" ही की अपेक्षा करता है। कहा जाए--गोली चलाओ तो गोली चलाएगा। ऐसी जड़ता की शिक्षा के कारण ही तो दुनिया में युद्ध और हिंसा और भांति-भांति की मूर्खताएं चलती रही हैं और चल रही हैं।
क्या इस दुष्टचक्र को अब भी नहीं तोड़ना है? क्या अणु युद्ध के बाद ही अनुशासन लाने वाली शिक्षा बंद होगी? लेकिन तब तो बंद करने की कोई जरूरत ही नहीं होगी। क्योंकि तब न तो अनुशास्ता ही बचेंगे और न अनुशासित ही। मनुष्य के भविष्य के लिए अनुशासित बुद्धि के लोगों से जितना खतरा है, उतना

किसी और से नहीं। क्योंकि वे केवल आज्ञाएं मानना ही जानते हैं। अणु- अस्त्रों को चलाने के लिए भी वे आज्ञाशील व्यक्ति सदा तैयार और तत्पर हैं! काश! अनुशासन की जगह विवेक सिखाया गया होता, आज्ञाकारिता की जगह विचार सिखाया गया होता! तो निश्चय ही दुनिया बिल्कुल दूसरी ही हो सकती थी। शिक्षा अनुशासन देने को नहीं, आत्म-विवेक देने को है। उससे ही जो अनुशासन फलित होगा, वही शुभ और मंगलदायी हो सकता है। क्योंकि उस अनुशासन का फिर शोषण नहीं किया जा सकता। धर्म पुरोहितों और राजनीतिज्ञों के हाथ में हिंसा और युद्ध के लिए उसे उपकरण नहीं बनाया जा सकता। उसके आधार पर हिंदू को मुसलमान से नहीं लड़ाया जा सकता है। और न राष्ट्रों की झूठी और कल्पित सीमाओं पर ही रक्तपात के तांडव-नृत्य किए जा सकते हैं। अनुशासन और आज्ञाकारिता के नाम पर मनुष्य से क्या नहीं कराया गया है?
समाज, शिक्षक के द्वारा नई पीढ़ी को इसी भांति अनुशासित करने का काम लेता रहा है। शिक्षक बहुत से शोषणों का औजार रहा है। वह बहुत से रोगों को संक्रमित करने वाला उपकरण है। और शायद उसे इसका पता भी नहीं है। क्योंकि वह स्वयं भी ऐसी ही शिक्षा का शिकार है! प्रत्येक पीढ़ी अपनी ईर्ष्याएं, अपने द्वेष, अपने वैमनस्य, अपनी शत्रुताएं, अपनी मूढ़ताएं, सभी शिक्षक के द्वारा नई पीढ़ी को वसीयत में दे जाती है। अपने अनुभवों और ज्ञान के साथ ही साथ वे अपने रोग और जड़ताएं भी सौंप जाती हैं। और ज्ञान और अनुभव से भी ज्यादा आग्रह और सचेतता वे अपने रोगों को देने में बरतती हैं। क्योंकि उनकी शत्रुताएं और उनके अंधविश्वास उनके अहंकार ही होते हैं। हिंदू बाप अपने बच्चों को हिंदू होना सिखा जाता है, और जैन अपने बच्चों को जैन, और मुसलमान अपने बच्चों को मुसलमान। और मनुष्य विरोधी जिन संप्रदायों में वह पला था, उसी विष को वह अपने बच्चों को भी सौंप जाना चाहता है।
शिक्षा के अनेक-अनेक माध्यमों से यह विष फैलाया जाता है। और ऐसी विषाक्त सिखावन के कारण मनुष्यता एक नहीं हो पाती है। और उस धर्म के प्रति भी हमारी आंखें नहीं उठ पाती हैं जो कि एक है, और एक हो सकता है।
ऐसे ही राष्ट्रीयताएं सिखाई जाती हैं। और राष्ट्रीय अहंकारों को गौरवान्वित किया जाता है। एक देश को दूसरे देशों के विरोध में पाला-पोसा और खड़ा किया जाता है। परिणाम में हिंसा फलती-फूलती है और युद्धों की अग्नि जलती है।
जहां अहंकार हैं--वहां हिंसा है, वहां युद्ध हैं। ऐसे ही और भी बहुत से रोग हैं जिनके कीटाणु शिक्षक अबोध बच्चों में संक्रमित करते रहते हैं। मनुष्य के साथ किए जाने वाले जघन्य से जघन्य अपराधों में से एक यह है।
शिक्षक अत्यंत जागरूक हो तो ही इस लांछना से वह बच सकता है।
समाज में जो सत्ताधिकारी हैं, वे समाज के ढांचे को कभी भी बदलना नहीं चाहते हैं। क्योंकि उनकी सत्ता, स्वार्थ और शोषण उस ढांचे पर ही निर्भर होता है। इस ढांचे को भी शिक्षक नये बच्चों के मनों में बैठाता रहता है। वह उन्हें गतानुगतिक बनाता रहता है और मृत परंपराओं से बांधता रहता है। वह उन्हें विद्रोह नहीं सिखाता है। और जहां विद्रोह नहीं है, वहां विकास नहीं है। शिक्षक का कर्तव्य क्या है? उसका कर्तव्य है विद्रोह सिखाना-- जिस दिन भी शिक्षा विद्रोह होगी, उसी दिन एक बिल्कुल ही नई मनुष्यता का जन्म हो सकता है।
विद्रोह से क्या अर्थ है?
विद्रोह से अर्थ है--मूल्यों में क्रांति! निश्चय ही जीवन मूल्य गलत हैं अन्यथा मनुष्य के जीवन में यह अशांति, यह अर्थहीनता, यह विभ्रांति क्यों होती? यह कुरूपता, यह हिंसा, यह ईर्ष्या, यह अधर्म--यह सब क्या अकारण हैं? नहीं, जीवन मूल्य गलत हैं और उसका ही यह सहज परिणाम है!
जीवन मूल्य बदलने होंगे। मनुष्य के लिए नये मूल्य चाहिए। और उसके लिए
एक बड़े विद्रोह की तैयारी आवश्यक है।
शिक्षक को निद्रा से जागना ही होगा। उसके अतिरिक्त और कोई भागीरथ नहीं है जो कि विद्रोह की गंगा को पृथ्वी पर ला सके। लेकिन शिक्षक बड़े भ्रमों में है। समाज उसे भूखा भले मारे लेकिन उसके प्रति आदर खूब दिखाता है। शिक्षक को सदा से ही आदर और सम्मान दिया गया है। वह गुरु है, सम्माननीय

है, ऐसे उसके अहंकार को पोषित किया जाता है, और उसे भ्रम में डाला जाता है। और फिर उसके द्वारा नई पीढ़ियों को पुराने ढांचों में ढालने का कार्य लिया जाता है। ऐसे बड़े आदरपूर्वक शिक्षक का शोषण होता है। समाज शिक्षक को व्यर्थ ही आदर नहीं देता है। इस आदर के बदले बड़े सस्ते में वह बहुत महंगा काम उससे लेता है। मैं पूछता हूं कि क्या शिक्षकों को इसका बोध है? मनुष्य का इतिहास मूर्खताओं से भरा है। अंधविश्वासों और अज्ञानों से
सब कहीं डेरे डाल रखे हैं। लेकिन शिक्षक उसशृंखला से नई पीढ़ियों को अलग नहीं होने देता है। वह उसीशृंखला से ये नये आगंतुकों को बांधता चला जाता है। वह अतीत का चाकर है और इस भांति भविष्य का दुश्मन सिद्ध होता है। क्या यह उचित नहीं है कि अतीत का भार हमारे सिर पर न हो? वह पैरों के तले की भूमि बने यह तो ठीक, लेकिन सिर का बोझ बने यह तो ठीक नहीं है। भविष्य के निर्माण के लिए अतीत से मुक्त चित्त चाहिए।
अतीत के अनुभव मनुष्य के ज्ञान को बढ़ाएं लेकिन वे उसे बांधें नहीं। क्योंकि उसे उनसे भी आगे जाना है। अतीत उसकी यात्रा का प्रारंभ है, अंत नहीं। विगत पीढ़ी ने जहां उसे छोड़ा है, उसे उससे आगे जाना है। हर पीढ़ी को, पिछली पीढ़ी को, सब भांति पीछे छोड़ देना है। भौतिक दृष्टि से ही नहीं, मानसिक और आत्मिक दृष्टि से भी। निश्चय ही विदा होती पीढ़ी के अहंकार को इससे चोट लगती है। और इसी अहंकार के कारण वह अपने से आगे कोई भी यात्रा और विकास नहीं देखना चाहती है।
शायद प्रत्येक व्यक्ति में जो अहंता और ईर्ष्या होती है वही अहंता और ईर्ष्या पूरी पीढ़ी को भी पकड़ लेती है। पहले धर्मगुरु, आगे और धर्म संस्थापकों के जन्म मना ही कर गए हैं। प्रत्येक पैगंबर अपने आपको अंतिम बता गया है। और प्रत्येक ने स्वयं के सर्वज्ञ होने की भी घोषणा कर रखी है, और इस भांति ज्ञान के आगे और विकास के सब द्वार अवरुद्ध कर दिए हैं। स्वर्ण-युग तो पीछे थे! आगे तो सब पतन और ह्वास है। मनुष्य को अतीत के खूंटों से बांधना अत्यंत अकल्याणकर है। लेकिन पुरानी पीढ़ी तो अपने शास्त्र, अपने सिद्धांत, अपने गुरु सभी नई पीढ़ी पर थोप जाना चाहती है। सैकड़ों वर्षों से यह होता ही रहा है। और परिणाम में मनुष्य की आत्मा जितनी विकसित हो सकती थी वह नहीं हो पाई। उसे जो प्रौढ़ता मिल सकती थी वह नहीं मिल पाई। वह अतीत के पाषाणों के नीचे दबी है, और अतीत से इतनी भारग्रस्त है कि उसका सभी ऊर्ध्वगमन बंद हो गया है।
शिक्षा को मनुष्य की आत्मा को निर्भार करना है। क्योंकि निर्भार आत्माएं ही परमात्मा के शिखरों तक गति कर सकती हैं। जड़ संस्कारों का भार चेतना के बीज को अंकुरित ही नहीं होने देता, और वह भूमि में दबा-दबा ही नष्ट होता रहता है। अतीत से निर्भार हुए बिना व्यक्ति के स्वयं के व्यक्तित्व का अंकुरण हो ही नहीं सकता है। अतीत की जकड़ ढीली हो तो ही मनुष्य में विकास होता है। अतीत तो सीढ़ी है जिस पर से गुजर जाना है। उसे सिर पर लिए फिरना समझदारी नहीं है।
संसार में भौतिक समृद्धि तो बढ़ती है, क्योंकि हर पीढ़ी उसे पिछली पीढ़ी
से आगे ले जाती है। लेकिन आत्मिक समृद्धि नहीं बढ़ती, क्योंकि हमारे मन उस दिशा में अतीत से अत्यधिक बंधे हुए हैं। पिता ने जो मकान बनाया था, उसे और बनाने में पुत्र संकोच नहीं करता है। लेकिन राम, कृष्ण या बुद्ध या महावीर या क्राइस्ट जो वसीयत छोड़ गए हैं, उसके आगे बढ़ाने में कोई बहुत-बहुत गहरा भय हमारे प्राणों को रोक लेता है। यह सिखाया हुआ है, यह भय आरोपित किया हुआ है।
गीता पर टीका लिखी जा सकती है। लेकिन गीता से आगे विचार नहीं किया जा सकता। कुरान से आगे कुछ है ही नहीं। इससे मनुष्य-जाति अत्यधिक पंगु और आत्मिक दृष्टि से दीन-हीन हो गई है। बाप से बेटा आगे जाए इसमें उसका असम्मान या अपमान नहीं है। वस्तुतः इसमें ही उसका सम्मान है। यही उसका गौरव है।
प्रत्येक पीढ़ी को, हर नई पीढ़ी को इस भांति तैयार करना चाहिए कि वह उसे
सब भांति पीछे छोड़ दे। वह उससे ही बंधी रहे और उसके दायरे में ही घूमती रहे यह इच्छा रुग्ण है और उससे स्वस्थ मन की सूचना नहीं मिलती है। यह विचार

करना जरूरी है कि क्या शिक्षा इन रुग्ण लक्ष्मण-रेखाओं को खींचने में सहयोगी नहीं रही है?
मैं तो इस पागलपन को समझ ही नहीं पाता हूं। मेरा प्रेम तो यही कहता है
कि जो मेरे पीछे जगत में आ रहे हैं, वे सब भांति मेरे आगे बढ़ें। वे एक ऐसी दुनिया बनाएं जिसकी कि हम कल्पना भी नहीं कर सकते थे। उनकी आत्मा हम से उज्जवल हो, उनके विचार हमसे निर्मल हों। उनकी आंखें उन सत्यों का साक्षात्कार करें जो हम नहीं कर सके, और उनके चरण उन अज्ञात पथों का स्पर्श करें जो कि हमें स्वप्न में भी ज्ञात नहीं थे। प्रेम तो ऐसी ही प्रार्थनाएं कर सकता है। मैं न तो बच्चों को अपने ज्ञान से बांधना चाहूंगा और न अपने अनुभवों से ही। मैं तो उन्हें मुक्त करना चाहूंगा। प्रेम तो सदा मुक्त करता है। जो बांधता है, वह प्रेम ही नहीं है--वह तो हिंसा ही है।
शिक्षा भविष्योन्मुख होनी चाहिए, अतीतोन्मुख नहीं, तभी विकास हो सकता है। कोई भी सृजनात्मक प्रक्रिया भविष्योन्मुख ही हो सकती है। क्या यह उचित नहीं है कि हम भविष्य के लिए प्रेम और आदर सिखाएं? अतीत की अर्थहीन पूजा बहुत हो चुकी। क्या अब यह उचित नहीं है कि हम भविष्य के सूर्योदयों के लिए हमारे हृदयों में प्रार्थनाएं हों? लेकिन हम तो अतीत से बंधे हैं। अतीत यानी जो बीत गया है और अब सिवाय स्मृति के और कहीं भी नहीं है। हमारे सारे सिद्धांत, सारी धारणाएं, सारे आदर्श अतीत से ही लिए हुए हैं। इस भांति मृत का जीवित पर शासन है। मृत के प्रति सम्मान एक बात है, उसका शासन बिल्कुल ही दूसरी बात है। बल्कि शासन के कारण ही स्वस्थ सम्मान भी संभव नहीं हो पाता है। शासन के प्रति तो भीतर ही भीतर प्रतिरोध भी संग्रहीत होता रहता है। अतीत के प्रति हार्दिक सम्मान तो तभी होगा जब कि अतीत का कोई भी शासन न हो; वह सम्मान अत्यंत आत्मिक होगा। और उस सम्मान में अनुग्रह होगा और कृतज्ञता होगी। वह कृतज्ञता हमें बांधेगी नहीं बल्कि और निर्भार और हल्का करेगी। हृदय उनके प्रति सहज ही कृतज्ञता से भर उठता है जो मुक्त करते हैं।
जो बांधते हैं, उनके प्रति कृतज्ञता अस्वाभाविक है और असंभव है।
शिक्षा को ज्ञान का प्रसार कहा जाता है। निश्चय ही उसे ज्ञान का प्रसारक होना चाहिए। लेकिन जो बंधनों को भी प्रसारित करती हो वह ज्ञान की प्रसारक नहीं हो सकती है। ज्ञान तो वहां है, जहां मन मुक्त है। मन जहां बंधनों में है, वहां ज्ञान कहां? ज्ञान तो स्वयं ही मुक्ति है।
शिक्षा भय सिखाती है। शिक्षा प्रलोभन सिखाती है। शिक्षा ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा सिखाती है। शिक्षा महत्वाकांक्षा के ज्वर में दीक्षा देती है। ऐसी शिक्षा ज्ञान की प्रसारक कैसे होगी? ऐसी शिक्षा मुक्तिदायी कैसे होगी? ऐसे मनुष्य स्वस्थ कैसे होगा? यह तो घातक रोगों का प्रसार है। मित्र, यह ज्ञान प्रसार तो नहीं है, यह तो अज्ञान का ही प्रसार है।
मैं देखता हूं तो पाता हूं कि भय से अधिक भयानक और कोई बीमारी नहीं है। जीवन में भय से अधिक भयभीत होने को और क्या है? भय तो प्राणों को लकवा ही मार देता है। भय तो विद्रोह की समस्त क्षमता को ही नष्ट कर देता है। भय तो परिवर्तन को असंभव ही बना देता है। भय ज्ञात से बांध देता है और अज्ञात की सब यात्रा बंद हो जाती है। जब कि जीवन में जो भी जानने और पाने योग्य है वह सब अज्ञात है।
परमात्मा अज्ञात है। सत्य अज्ञात है। सौंदर्य अज्ञात है। प्रेम अज्ञात है। किंतु भयभीत चित्त तो भय के कारण ज्ञात से ही चिपटा रहता है। वह तो लीक को कभी छोड़ता ही नहीं। वह तो परिचित पटरियों पर ही दौड़ता रहता है। वह तो यंत्रवत हो जाता है और उसकी गति कोल्हू के बैल से भिन्न नहीं होती है। धर्म भय सिखाते हैं--नरकों का भय, पापों का भय, दंडों का भय। समाज भय सिखाता है--असम्मान का भय। शिक्षा भी भय सिखाती है--असफलता का भय।
और साथ ही प्रलोभन हैं--स्वर्ग का प्रलोभन, पुण्य फलों का प्रलोभन, सम्मान, पद का प्रलोभन, प्रतिष्ठा का प्रलोभन, सफलताओं, पुरस्कारों का प्रलोभन। प्रलोभन भी भय के सिक्के के ही दूसरे पहलू हैं। इस भांति व्यक्ति-चेतना, भय से और लोभ से भर-भर जाती है। ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा

की अग्नि जलाई जाती है, महत्वाकांक्षा का ज्वर जगाया जाता है। फिर इन सब विवर्तों में जीवन नष्ट हो जाता हो तो कोई आश्चर्य नहीं है!
ऐसी शिक्षा खतरनाक है। ऐसे धर्म खतरनाक हैं। शिक्षा तो वह है जो अभय सिखाए, अलोभ में प्रतिष्ठा दे, साहस दे और विद्रोह की शक्ति दे--अज्ञात की चुनौती को मानने की हिम्मत दे। ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा नहीं, प्रेम सिखाए। महत्वाकांक्षा की ज्वरग्रस्त गति नहीं, वरन सहज, स्वस्फूर्त विकास दे। लेकिन यह तो तभी होगा जब हम प्रत्येक व्यक्ति की निजता की अद्वितीयता
को स्वीकार करेंगे। किसी की किसी से तुलना आधारभूत भूल है। तुलना से स्पर्धा होती है। न कोई किसी से आगे है, न पीछे; न कोई किसी से ऊपर है, न नीचे। प्रत्येक वही है जो वह है और प्रत्येक को वही होना है। आदर्शों की सिखावन यह नहीं होने देती है। बच्चों को कहा जाता है, राम जैसे बनो, बुद्ध जैसे बनो, गांधी जैसे बनो। इससे भूल भरी बात और क्या होगी? क्या कोई किसी और जैसा बन सकता है या कि कभी बन सका है?
राम तो बनना असंभव है। हां, रामलीला के राम जरूर बन सकते हैं। इसी कारण तो संसार में इतना पाखंड है। पाखंड आदर्श की छाया है। जब तक आदर्श थोपे जाएंगे तब तक पाखंड भी रहेंगे। पाखंड को मिटाना है तो आदर्शों को छोड़ना आवश्यक है।
वस्तुतः कोई भी मनुष्य किसी दूसरे जैसा होने को पैदा नहीं हुआ है। प्रत्येक को स्वयं जैसा ही होना है। प्रत्येक को, उस बीज को ही वृक्ष तक पहुंचाना है जो कि उसमें ही छिपा है, और मौजूद है।
शिक्षा जिस दिन भी व्यक्ति की अद्वितीय और बेजोड़ निजता के सत्य को स्वीकार करेगी, उस दिन ही एक बड़ी क्रांति का सूत्रपात हो जाएगा। फिर हम किसी के ऊपर किसी और के ढांचे को नहीं थोपेंगे। वरन उस व्यक्ति के बीज में ही जो प्रसुप्त है उसके जागरण के लिए ही चेष्टारत होंगे। आदर्शों के कारण बहुत हिंसा होती रही है और व्यक्ति को वही होने का अवसर नहीं दिया जा सका है जो कि वह हो सकता है। और अन्य होने के प्रयास में अन्य तो कोई हो ही नहीं पाता है। हां, वह होने से जरूर वंचित रह जाता है जो कि वह हो सकता था।
मैं अत्यंत विनम्रता से यह निवेदन करना चाहता हूं कि मनुष्य को वही होने दें जो कि होने को वह पैदा हुआ है। गुलाब गुलाब है, और चमेली चमेली, और जुही जुही। और कोई किसी से न छोटा है, न बड़ा है। गुलाब को चमेली नहीं होना है और चमेली को जुही नहीं होना है। यह छोटे-बड़े और ऊंचे-नीचे का मूल्यांकन एकदम झूठा और बेहूदा है। इस मूल्यांकन को नष्ट करें। कवि चमार से बड़ा नहीं है और न राजनेता ही किसी से बड़ा है।
एक अध्यापक राष्ट्रपति होने से बड़ा नहीं हो जाता है। जीवन एक सहयोग है। उसमें सबका अपना-अपना स्थान है और सबकी आवश्यकता है और अनिवार्यता है। कार्यों के साथ पद और प्रतिष्ठा जोड़ने से सारी दुनिया जिस महत्वाकांक्षा की विक्षिप्तता में पड़ गई है, क्या यह आपको दिखाई नहीं पड़ रही है?
यह मूर्खतापूर्ण है कि गुलाब को जुही होने का उपदेश दिया जाए या कि घास के फूल को कमल होने के लिए उकसाया जाए। अर्थपूर्ण बात इतनी ही है कि गुलाब पूरा विकसित हो और घास का फूल भी पूरा विकसित हो। उनकी पंखुड़ियां अविकसित न रह जाएं और उनकी सुवास उनमें ही बंद न रह जाए। स्वयं की संभावनाएं पूरी विकसित हों, इसके अतिरिक्त जीवन का और कोई आनंद नहीं है। और शिक्षा के कार्य की सम्यक दिशा यही है।
आदर्श सिखाने की आवश्यकता नहीं है और न ही किसी का अनुसरण सिखाने की जरूरत है। व्यक्ति का निज व्यक्तित्व पूर्णता को कैसे प्राप्त हो, इस ओर ही सारे प्रयास केंद्रित होने चाहिए। और तब ही महत्वाकांक्षा से मुक्ति होगी और ईर्ष्या के ज्वर से छुटकारा होगा। और एक ऐसा समाज निर्मित हो सकेगा जो कि समता और शांति को उपलब्ध हो सके। महत्वाकांक्षा से मुक्त समाज ही वर्गहीन और शोषण-शून्य हो सकता है।
क्या ऐसी शिक्षा नहीं हो सकती है जो कि महत्वाकांक्षा पर आधारित न हो? क्या गणित या संगीत इसलिए सीखा जा सकता है कि उन्हें सीखने वाले दूसरे साथियों से आगे निकलना है? क्या गणित के प्रेम से ही गणित और संगीत के

आनंद से ही संगीत नहीं सीखा जा सकता है? मैं तो देखता हूं कि वस्तुतः संगीत तभी सीखा जा सकता है और उसकी गहराइयां तभी स्पर्श की जा सकती हैं, जब संगीत से ही प्रेम हो और किसी अन्य से प्रतिस्पर्धा नहीं। प्रतिस्पर्धापूर्ण मन क्या संगीत को जानेगा? प्रतिस्पर्धा तो विसंगीत ही है। उन्होंने ही संगीत को जाना है जो संगीत में डूबे हैं, प्रतिस्पर्धा में दौड़े नहीं। दौड़ने और डूबने में विरोध है। दौड़ना तनाव है, डूबना विश्रांति है। दौड़ ज्वर है, वह स्वयं के बाहर ले जाती है। डूबना स्वास्थ्य है, क्योंकि डूब कर व्यक्ति स्वयं की ही आत्यंतिक गहराइयों में प्रतिष्ठा पाता है। विद्या तो डूबने की कला है। और जो दौड़ना ही सिखाती है, उसे मैं अविद्या कहता हूं।
एक दिन शिक्षकों की सभा में गया था। शिक्षक-दिवस का समारोह था। वहां मैंने उनसे कहा--एक शिक्षक राष्ट्रपति हो जाए तो इसमें शिक्षक का सम्मान क्या है? क्या शिक्षक नीचे और राष्ट्रपति ऊपर है? यदि ऐसा है तब तो यह शिक्षक या शिक्षा की प्रतिष्ठा नहीं, राजपद और राजनीति की ही प्रतिष्ठा है। हां, एक राष्ट्रपति अपना पद छोड़ शिक्षक हो तब शायद शिक्षक के लिए सम्मान की बात हो भी सकती है।
राजपदों को हम जब तक ऊपर रखते हैं, तब तक हम बच्चों को जाने-अनजाने राजनीति ही सिखाते हैं। हालांकि राजनीतिज्ञ कहते हैं कि शिक्षकों और विद्यार्थियों को राजनीति से कोई वास्ता नहीं रखना चाहिए। राजपदों की प्रतिष्ठा दूसरों में भी आकांक्षा को जगाती है। और यदि दूसरे शिक्षक होना छोड़ शिक्षामंत्री और उपराष्ट्रपति और राष्ट्रपति होने के सपने देखते हों, उन स्वप्नों को पूरा करने के लिए दौड़-धूप करते हों, तो आश्चर्य कैसा? यह तो स्वाभाविक ही है। और अन्य शिक्षक भी यदि शिक्षक-जाति को सम्मानित कराने में लगे हों तो कुछ बुरा तो नहीं है!
शिक्षा को महत्वाकांक्षा से मुक्त होना ही चाहिए। महत्वाकांक्षा ही
तो राजनीति है। महत्वाकांक्षा के कारण ही तो राजनीति सबके ऊपर, सिंहासन पर विराजमान हो गई है। सम्मान वहां है, जहां पद है। पद वहां है, जहां शक्ति है। शक्ति वहां है, जहां राज्य है।
इस दौड़ से जीवन में हिंसा पैदा होती है। महत्वाकांक्षी चित्त हिंसक चित्त है। अहिंसा के पाठ पढ़ाए जाते हैं। साथ ही महत्वाकांक्षा भी सिखाई जाती है। इससे ज्यादा मूढ़ता और क्या हो सकती है?
अहिंसा प्रेम है। महत्वाकांक्षा प्रतिस्पर्धा है। प्रेम सदा पीछे रहना चाहता है। प्रतिस्पर्धा आगे होना चाहती है। क्राइस्ट ने कहा हैः "धन्य हैं वे जो पीछे होने में समर्थ हैं।" मैं जिसे प्रेम करूंगा, उसे आगे देखना चाहूंगा और यदि मैं सभी को प्रेम करूंगा तो स्वयं को सबसे पीछे खड़ा कर आनंदित हो उठूंगा। लेकिन प्रतिस्पर्धा प्रेम से बिल्कुल उलटी है। वह तो ईर्ष्या है। वह तो घृणा है। वह तो हिंसा है। वह तो सब भांति सबसे आगे होना चाहती है।
इस आगे होने की होड़ की शुरुआत शिक्षालयों में ही होती है और फिर कब्रिस्तान तक चलती है। व्यक्तियों में यही दौड़ है। राष्ट्रों में भी यही दौड़ है। युद्ध इस दौड़ के ही तो अंतिम फल हैं। यह दौड़ क्यों है? इस दौड़ के मूल में क्या है? मूल में है--अहंकार! अहंकार सिखाया जाता है, अहंकार का पोषण किया जाता है।
छोटे-छोटे बच्चों में अहंकार को जगाया और जलाया जाता है। उनके निर्दोष और सरल चित्त अहंकार से विषाक्त किए जाते हैं। उन्हें भी प्रथम होने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। स्वर्ण-पदक और सम्मान और पुरस्कार बांटे जाते हैं। फिर यही अहंकार जीवनभर प्रेत की भांति उनका पीछा करता है और उन्हें मरते दम तक चैन नहीं लेने देता।
विनय के उपदेश दिए जाते हैं और सिखाया अहंकार जाता है। क्या वह दिन मनुष्य-जाति के इतिहास में सबसे बड़े सौभाग्य का दिन नहीं होगा जिस दिन हम बच्चों को अहंकार सिखाना बंद कर देंगे? अहंकार नहीं, प्रेम सिखाना है। और प्रेम वहीं होता है, जहां अहंकार नहीं है।

इसके लिए शिक्षण की आमूल पद्धति ही बदलनी होगी। प्रथम और अंतिम की कोटियां तोड़नी होंगी। परीक्षाओं को समाप्त करना होगा। और इन सबकी जगह जीवन के उन मूल्यों की स्थापना करनी होगी जो कि अहंशून्य और प्रेमपूर्ण जीवन को सर्वोच्च जीवन-दर्शन मानने से पैदा होते हैं।
प्रेम जब प्रतिस्पर्धा की जगह लेता है तब सहज ही सफलता की जगह सत्य की प्रतिष्ठा हो जाती है। सफलता ही जिस जीवन-व्यवस्था में एकमात्र मूल्य है, वहां सत्य नहीं हो सकता है। सफलता की केंद्रीय महत्ता ने सफलता के प्राण ही ले लिए हैं। नहीं, सफल हो जाना ही सब कुछ नहीं हैं। मात्र सफलता कोई मूल्य ही नहीं है। एक बुरे काम में सफल होने की बजाय एक शुभ कार्य में असफल होना भी ज्यादा मूल्य की और गौरव की बात है। प्रतिस्पर्धा में सफल होने की बजाय प्रेम में असफल होना ही कहीं ज्यादा शुभ है। धन में सफल होने की बजाय धर्म में असफल होना भी क्या ज्यादा मूल्यवान नहीं है?
मैं जीवन का मूल्य, मात्र सफलता में ही नहीं देखता हूं। मैं उसे देखता हूं सत्य में, शिवत्व में, सौंदर्य में; लेकिन सफलता ही जब तक हर बात का मापदंड है तब तक सत्य की, शिव की और सौंदर्य की और मनुष्य की आत्मा गतिमान नहीं हो सकती है। सत्य के लिए, शिवत्व के लिए, सौंदर्य के लिए, असफलता को भी सीखा जाना चाहिए। उस दिशा में असफलता भी गौरव है, यही दृष्टि पैदा होनी चाहिए। सत्य के लिए हार जाना भी जीत है। क्योंकि उसके लिए हारने के साहस में ही आत्मा सबल होती है और उन शिखरों को छू पाती है, जो कि परमात्मा के प्रकाश से आलोकित हैं।
विजय और पराजय अर्थहीन हैं। अर्थ है मोर्चे का, किस मोर्चे पर विजय या पराजय--सत्य के या असत्य के, प्रेम के या घृणा के, मनुष्य के या दानवता के? और मैं कहता हूं कि धन्य हैं वे लोग जो कि असत्य की विजय को छोड़ते हैं
और सत्य के साथ पराजय को आलिंगन करते हैं, क्योंकि इस भांति हार कर भी वे जीत जाते हैं और मिट कर भी उसे पा लेते हैं जो कि अमृत है। लेकिन यह सब तभी संभव है जब शिक्षा में आमूल क्रांति हो और मात्र सफलता और विजय के वे मूल्य अपदस्थ हों जिन्होंने कि सदियों से मनुष्य को पीड़ित कर रखा है। सत्य की दिशा में सबसे बड़ा अपराध तो तब हो जाता है, जब हम सत्य के संबंध में रूढ़ धारणाओं को बच्चों के ऊपर थोपने का आग्रह करते हैं। यह आग्रह अत्यंत घातक दुराग्रह है।
परमात्मा और आत्मा के संबंध में विश्वास या अविश्वास बच्चों पर थोपे जाते हैं। गीता, कुरान, कृष्ण, महावीर उन पर थोपे जाते हैं। इस भांति सत्य के संबंध में उनकी जिज्ञासा पैदा ही नहीं हो पाती है। वे स्वयं के प्रश्नों को ही उपलब्ध नहीं हो पाते हैं, और तब स्वयं के समाधानों को खोज लेने का तो सवाल ही नहीं है।
बने-बनाए तैयार समाधानों को ही वे फिर जीवन भर दोहराते रहते हैं। उनकी स्थिति तोतों के जैसी हो जाती है। पुनरुक्ति चिंतन नहीं है। पुनरुक्ति तो जड़ता है। सत्य किसी और से नहीं पाया जा सकता है, उसे तो स्वयं ही खोजना और पाना होता है।
क्या यह उचित नहीं है कि बच्चों की जिज्ञासा जगाई जाए लेकिन उन्हें समाधानों से न जकड़ा जाए? उनमें प्रश्न पैदा किए जाएं, लेकिन उन्हें उधार उत्तरों से न भरा जाए? शिक्षा यदि उन्हें जीवन सत्य के अनुसंधान की महत यात्रा पर ही भेज सके तो उसका कार्य पूरा हो जाता है।
मेरी दृष्टि में शिक्षक वही है जो प्रसुप्त समस्याओं को जगा देता है,
और जिज्ञासा को जाग्रत कर देता है, और बच्चों को उनके स्वयं के अनुसंधान के लिए साहस और अभय से भर देता है। लेकिन कोई भी व्यक्ति इस अर्थ में शिक्षक तभी हो सकता है, जब वह स्वयं आग्रहों और पक्षपातों से मुक्त हो। इसलिए शिक्षक होना बड़ी साधना है। शिक्षक होने के लिए अत्यंत विद्रोही, सजग और सचेत आत्मा चाहिए। जिस शिक्षक में विद्रोह की अग्नि नहीं है, वह जाने या अनजाने किसी स्वार्थ, किसी नीति, किसी धर्म, या किसी राजनीति का दलाल हो ही जाएगा। क्योंकि तब वह उन पक्षपातों को और उन धारणाओं को बच्चों पर आरोपित करेगा जिनमें कि वह स्वयं ही कैद है।

शिक्षक स्वयं स्वतंत्र हो तभी वह विद्यार्थी के लिए भी स्वतंत्रता का संदेशवाहक हो सकता है। इसलिए मैंने कहा कि शिक्षक होना बड़ी साधना है। वह बड़ा विद्रोह है। शिक्षक के भीतर-भीतर एक ज्वलंत अग्नि होनी चाहिए--चिंतन की, विचार की, विद्रोह की। उसे बहुत कुछ विध्वंस भी करना है ताकि वह सृजन कर सके। उसे बहुत कुछ मिटाना है ताकि वह कुछ बना सके। उसे परंपराओं से छोड़ा गया बहुत सा कूड़ा-करकट जलाना है और व्यर्थ के घासपात से मनुष्य के मन की भूमि को साफ करना है, ताकि उस पर प्रेम के और सौंदर्य के फूलों की खेती हो सके।
यह बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। यदि शिक्षक इसे पूरा कर सकेगा तो ही एक नये मनुष्य का और एक नई मनुष्यता का जन्म हो सकता है।

शिक्षा में क्रांति
दूसरा प्रवचन

धर्म और विज्ञान

मेरे प्रिय!
एक अमावस की गहरी अंधेरी रात्रि की बात है और एक छोटे से गांव की घटना। आधी रात्रि बीत गई थी और सारा गांव नींद में डूबा हुआ था। कुत्ते भी भौंक-भौंक कर सो गए थे कि अचानक एक झोपड़े से उठ रही रोने की और चिल्लाने की आवाज ने सभी को जगा दिया। अर्धनिद्रित लोग उस झोपड़े की ओर भागने लगे, बूढ़े और बच्चे--सभी। उस सोए गांव में एक विक्षिप्त सी गति आ गई। किसी को कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। फिर भी लोग उस झोपड़े के आस-पास इकट्ठे हो रहे थे। झोपड़े के भीतर से आवाज आ रही थीः "आग लगी है, मैं जल रही हूं, मेरा घर जल रहा है।" कुछ लोग तो पानी भरी बाल्टियां ले-ले कर भी आ गए थे। लेकिन झोपड़े के आस-पास आग लगे होने का कोई भी चिह्न नहीं था। आग तो दूर, उस झोपड़े में एक दीया भी नहीं था।
वह एक गरीब बूढ़ी स्त्री की झोपड़ी थी। लोगों ने दरवाजे धकाए तो पाया कि खुले ही हुए हैं। कोई भाग कर लालटेन ले आया तो भीड़ भीतर गई। बूढ़ी स्त्री जोर-जोर से रो रही थी और छाती पीट रही थी और साथ ही वह चिल्लाती भी जाती थीः "आग लगी है, मेरे घर में आग लगी है।" गांव के लोग यह दृश्य देख कर बहुत हैरान हुए। उन्होंने कहाः क्या तुम पागल हो गई हो? आग कहां है? हम जरूर उसे बुझाएंगे, लेकिन वह है कहां? यह सुन वह बूढ़ी रोना बंद कर जोर-जोर से हंसने लगी और बोलीः मैं पागल नहीं हूं, पागल हो तुम, आग तुम्हारे घरों में लगी है और उसे बुझाने तुम यहां आए हो? जाओ और अपने घरों में आग को खोजो? मेरे भीतर भी आग लगी है, लेकिन उसे तुम देख कैसे सकोगे? और उसे तुम बुझाओगे भी कैसे? उसे तो मुझे ही बुझाना पड़ेगा। भीतर की आग स्वयं ही बुझानी पड़ती है। आग बाहर होती तो तुम जरूर उसे बुझा देते, लेकिन आग तो भीतर है। यह कह बूढ़ी फिर रोने लगी और चिल्लाने लगीः "मेरे घर में आग लगी है, मैं जल रही हूं... !" मैं भी उस रात्रि उस गांव में उपस्थित था। और क्या आप भी उपस्थित नहीं थे? शायद आप उस घटना को भूल गए हों, लेकिन में नहीं भूला हूं। मैंने आपको देखा था कि आप व्यर्थ ही नींद तोड़े जाने के कारण उस बूढ़ी स्त्री पर नाराज होते हुए वापस सो गए थे। और सुबह जब आप उठे थे तो उस घटना को भूल गए थे। वह पूरा गांव ही भूल गया था, पूरी पृथ्वी ही भूल गई है। उस छोटे से गांव में ही तो सारी मनुष्यता का आवास है।
आप तो सो गए थे, लेकिन मैं फिर नहीं सो सका। उस बूढ़ी औरत ने सदा के लिए
ही मेरी नींद तोड़ दी, क्योंकि मैंने जब आग खोजने के लिए भीतर झांका तो पाया कि आग तो नहीं थी, नींद थी और वह नींद ही आग थी। जीवन नींद में ही जल रहा है, वह निद्रा ही है दुख, वही है पीड़ा, वही है अग्नि, लेकिन आप उसे नहीं देख पाए, क्योंकि आप पुनः सो गए और सपने देखने लगे।
सपने नींद के साथी हैं, वे नींद को नहीं टूटने देते, वे तो अग्नि में घृत की भांति हैं। दुखद सपने जरूर थोड़ा-सा धुआं पैदा करते हैं और करवट लेने को मजबूर कर देते हैं, लेकिन सुखद सपनों की आशा में उन्हें सह लिया जाता है। और वे न हों तो सुखद सपने भी नहीं हो सकते हैं। क्योंकि उन्हीं की काली पृष्ठभूमि में तो सुखद सपनों की शुभ्र रेखाएं उभर पाती हैं। ऐसे सुख और दुख के सपने दो बैलों की जोड़ी की भांति नींद की गाड़ी को चलाए जाते हैं। और नींद में जीवन खोता है क्योंकि जो सोया है वह जीवित ही कहां है?
और जीवन के दुख की यह कथा है बहुत पुरानी। मनुष्य जितनी ही पुरानी है
यह कथा, लेकिन जो कहता है, जीवन जल रहा है, वह पागल प्रतीत होता है और हम उससे पूछते हैं--कहां है आग? और हम पानी भरी बाल्टियां लेकर दौड़ते हैं कि आग को बुझा दें। लेकिन आग बाहर नहीं है, इसलिए बाहर ही देखने वाली आंखें नहीं देख पाती हैं। और बाहर नहीं है, इसलिए बाहर का पानी भी उसे कैसे बुझा सकता है?
लेकिन आग चाहे दिखाई पड़ती हो या न पड़ती हो लेकिन जीवन में उसकी जलन तो सभी को अनुभव होती है।

वह है तो जलाएगी ही! चाहे हम उसे देखें या न देखें। उसका जलाना हमारे देखने पर निर्भर नहीं है। वस्तुतः तो हम उसे नहीं देखते हैं इसलिए वह हमें जला पाती है। हमारा न देखना ही उसका होना है। हमारे अंधेपन में ही तो उसके प्राण हैं। और जब वह जलाती है और मनुष्य उस अदृश्य और अज्ञात अग्नि से झुलसता और पीड़ित होता है, तो बजाय यह खोजने के कि उस अदृश्य अग्नि का मूलस्रोत कहां है, वह पानी की खोज में दौड़ता है। यह पानी की खोज ही संसार है।
हम सब पानी की खोज में दौड़ रहे हैं। वह पानी चाहे धन का हो, चाहे यश का, चाहे मोक्ष का। पानी की दौड़ का एक अनिवार्य लक्षण है कि वह सदा बाहर होता है, और दूसरा अनिवार्य लक्षण है कि उसे पाने के लिए दौड़ना पड़ता है। क्योंकि जो बाहर है वह अनिवार्यतः दौड़ता है। और सबसे बड़ा मजा यह है कि जो पानी के लिए दौड़ता है उसके भीतर की आग और जोर पकड़ती जाती है। क्योंकि दौड़ से वह और उत्तप्त होता है, और दौड़ से उसका ज्वर और तीव्र होता है। और फिर जितना वह दौड़ता है उतनी आग तीव्र होती है। और जितनी आग तीव्र होती है वह उतना ही और दौड़ता है। ऐसे दुष्चक्र पैदा हो जाता है। क्या इस चक्र का नाम ही संसार नहीं है?
और एक तो पानी मिलता नहीं है, क्योंकि अधिक सरोवर मृग-मरीचिका सिद्ध होते हैं। और यदि पानी मिल भी जाए तो भी व्यर्थ सिद्ध होता है, क्योंकि बाहर का पानी भीतर की आग को कैसे मिटा सकता है? अर्थात जिन्हें पानी मिल जाता है वे, और जिन्हें पानी नहीं मिलता वे, अंततः समान ही असफल सिद्ध होते हैं।
संसार और सफलता का कहीं भी मिलन नहीं है क्योंकि संसार का दुष्चक्र असफल होने को आबद्ध ही है। संसार की असफलता उसकी आंतरिक अनिवार्यता है। महान सिकंदर की मृत्यु हुई। लाखों लोग उसे देखने आए। उसके दोनों हाथ अर्थी के बाहर थे जो कि रिवाज के एकदम प्रतिकूल था। हाथ सदा सभी देशों में अर्थी के भीतर ही होते हैं। लोग इसका कारण पूछने लगे तो ज्ञात हुआ कि सिकंदर ने चाहा था कि उसके दोनों हाथ अर्थी के बाहर रखे जाएं, ताकि लोग भलीभांति देख सकें कि उसके हाथ भी खाली ही हैं। वह भी संसार से खाली हाथ ही जा रहा है। काश! सभी मृतकों के हाथ अर्थियों के बाहर ही रखे जा सकें, ताकि यह सत्य रोज-रोज प्रत्येक को दिखाई पड़ने लगे कि संसार और भरे हाथों का कोई भी संबंध नहीं है।
मनुष्य के भीतर जो आग है, वह बाहर के किन्हीं भी उपायों से नहीं बुझ सकती है।
मनुष्य के भीतर जो दुख है, वह बाहर के किन्हीं भी सुखों से नहीं मिट सकता है।
मनुष्य के भीतर जो अंधकार है, बाहर के कोई भी सूर्य उसे नष्ट करने में असमर्थ हैं।
लेकिन अब तक यही हुआ है, आग भीतर है और बुझाने की कोशिश बाहर है।
विज्ञान का जन्म इसी कोशिश से हुआ है।
मैं विज्ञान के विरोध में नहीं हूं, मैं तो विज्ञान का मित्र हूं। लेकिन यह जरूर कहना चाहूंगा कि, वह अकेला मनुष्य के जीवन को शांति, आनंद और अर्थ देने में समर्थ नहीं है और न कभी समर्थ हो ही सकेगा। वह सुविधा दे सकता है और सुविधाएं ज्यादा से ज्यादा दुख के विस्मरण में क्षणिक रूप से सहयोगी हो सकती हैं। लेकिन थोड़े ही समय में सुविधाएं स्वीकृत आदतें हो जाती हैं और दुख अपनी जगह वापस लौट आता है। सुविधाओं से दुख मिटता नहीं, बस केवल छिपता है। इसीलिए सुविधाएं और सुविधाओं की मांग लाती हैं और एक ऐसी दौड़ पैदा होती है जिसका कि कोई अंत नहीं है। और यह दौड़ ही एक तनाव और अशांति तथा दुख बन जाती है। यह अंतहीन दौड़ ही विक्षिप्तता बन जाती है। शरीर के तल पर विज्ञान का अर्थ और प्रयोजन है। शरीर के तल पर कष्टों
के निवारण में उसकी महती उपादेयता है। क्योंकि कष्ट बाहर हैं इसलिए बाहर का पानी उन्हें बुझा भी सकता है। मनुष्य के संताप का केंद्र कष्ट नहीं है। निश्चय ही वे संताप की परिधि हैं, किंतु केंद्र तो आंतरिक दुख ही है। और परिधि पर लाए गए सभी सुख इस दुख की विस्मृति में भले ही सहयोगी होते हों,

लेकिन वे इसे मिटा नहीं पाते हैं। वरन उनके घिराव में इस आंतरिक पीड़ा का बोझ और प्रखर होकर वापस लौटने लगता है। यही तो कारण है कि बाह्य समृद्धि के उठते शिखरों के नीचे आंतरिक दरिद्रता और दैन्य की खाइयां अनिवार्यतः और भी मुंह बाकर खड़ी हो जाती हैं।
महावीर और बुद्ध को बाह्य सुखों के मध्य में यह दुख पूर्ण स्पष्ट होकर दिखा हो तो आश्चर्य नहीं है। लेकिन विज्ञान से आई समृद्धि के कारण क्रमशः पूरी मनुष्यता ही उस बोध के निकट पहुंच रही है। विज्ञान की प्रगति के साथ एक बड़ा भ्रम भी भंग हो गया है, कि बाह्य समृद्धि आंतरिक संगीत और शांति को जन्म दे सकती है। विज्ञान के विकास ने ही विज्ञान की सामर्थ्य और असामर्थ्य को सुस्पष्ट कर दिया है। विज्ञान की सीमा और शक्ति का बोध अब अस्पष्ट नहीं है। विज्ञान न तो उस अर्थ में व्यर्थ है जैसा कि अंधे धार्मिक लोग सोचते थे, और न उस अर्थ में पूर्ण जैसा कि अंधे विज्ञान प्रेमियों की धारणा थी।
असल में अंधापन चाहे वह किसी भी प्रकार का हो, कभी भी तथ्यों को वैसा
ही नहीं देख पाता है जैसे कि वे होते हैं। अंधापन सदा ही तथ्यों पर सिद्धांतों को लादता है। वस्तुतः तथ्यों पर सिद्धांतों को लादना ही तथ्यों को न देखना है। तथ्यों को सीधा देखने से आंखें खुलती हैं और जो ज्ञान उपलब्ध होता है, वह जीवन को बांधता नहीं बल्कि मुक्त करता है।
जीवन को पूर्व निर्धारित सिद्धांतों के ढांचे में देखने के कारण ही मनुष्य आज तक खंडित और पंगु रहा है। वह पूरे और समग्र जीवन को नहीं देख पाता है। उसने जीवन को बिना चुनाव के नहीं देखा है, इसलिए जीवन जैसा है-- अपनी पूर्णता, समग्रता और अखंडता में, वह उसे जानने और जीने से वंचित रहा है।
धर्म के प्रभाव में बाह्य को अस्वीकृत किया गया था और फिर उसके विरोध
और प्रतिक्रिया में आंतरिक को अस्वीकृत कर दिया गया था। यह दूसरा अस्वीकार विज्ञान के इर्द-गिर्द इकट्ठा हुआ था। धर्म और विज्ञान ऐसे एक दूसरे के विरोध में खड़े हो गए थे। यह विरोध धर्म और विज्ञान का नहीं, वरन मनुष्य के चित्त में एक अति के विरोध में पैदा हुई दूसरी अति का विरोध था। मनुष्य का चित्त अतियों में डोलता है। घड़ी के पेंडुलम की भांति उसकी गति है। एक अति दूसरी अति को जन्म दे देती है। और अतियों में सत्य कभी नहीं होता है। अति सदा ही अधूरी होती है नहीं तो वह अति ही नहीं हो सकती है। सत्य तो मध्य में है। सत्य तो है वहां जहां दोनों अतियां शून्य और शांत हैं। अतियों के अतिक्रमण में ही सत्य है।
जीवन न तो एकांततः बाह्य है और न एकांततः आंतरिक ही। जीवन तो दोनों ही
है या दोनों ही नहीं है। जीवन को मात्र आंतरिक में देखने से केंद्र ही रह जाता है और परिधि खो जाती है। जब कि बिना परिधि के कोई केंद्र कैसे हो सकता है? परिधि है तो ही केंद्र है। और जीवन को मात्र बाह्य में देखने से केंद्र खो जाता है और मात्र परिधि रह जाती है। जब कि बिना केंद्र के परिधि हो ही कैसे सकती है? जीवन तो दोनों में है और इसलिए जीवन किसी एक में ही नहीं है।
विज्ञान बाह्य की खोज है--परिधि की। धर्म आंतरिक की खोज है--केंद्र की। विज्ञान पदार्थ में प्रवेश है, धर्म परमात्मा में। बाह्य रूप से वे एक आंतरिक विरोध में दिखाई पड़ते हैं। किंतु वस्तुतः वे किसी एक ही सत्य के पहलू हैं। उनका विरोधाभास मनुष्य के शब्दों में ही है। मनुष्य की खंडित दृष्टि ने सभी कुछ खंडित कर डाला है, जब कि जीवन तो एक है और अखंड है।
जीवन आंतरिक और बाह्य की अखंडता है। जो श्वास भीतर आती है, वही बाहर जाती है। भीतर और बाहर उसकी ही यात्रा के दो बिंदु हैं। स्वयं श्वास क्या है? वह आंतरिक है या बाह्य? वह दोनों है और वह दोनों नहीं है। अंतर के बिंदु से देखने पर वह आंतरिक है और बाह्य के बिंदु से देखने पर बाह्य। और श्वास के स्वरूप में ही देखने पर वह दोनों है और दोनों नहीं है। ऐसा ही जीवन भी है, वह एक बिंदु से बाह्य है, एक बिंदु से आंतरिक। और स्वरूप से दोनों है और दोनों नहीं है।
बाह्य बिंदु विज्ञान है, अंतर बिंदु धर्म।

और फिर है जीवन का स्वरूप, उसे तो वही जान पाता है, जो अंतर बाह्य से शून्य होता है। क्योंकि सब कोणों से, दृष्टियों से, बिंदुओं से जो शून्य हो जाता है, वही जीवन की समग्रता में प्रतिष्ठा पाता है। जब तक दृष्टि है, कोण है, बिंदु है, तब तक खंड है। क्योंकि तब तक मैं कहीं हूं और इसलिए सब कहीं नहीं हो सकता हूं। जहां दृष्टि नहीं है, कोण नहीं है, बिंदु नहीं है, वहां मैं भी नहीं हूं और तब जो है, बस वही है। वही है सत्य।
सत्य कोई दृष्टि नहीं है, वह तो वहां है, जहां सब दृष्टियां शून्य हो जाती हैं। दृष्टियां जहां नहीं हैं वहीं उसका दर्शन है, जो कि सत्य है। और सत्य का अनुभव ही वह जल है जो कि जीवन में लगी अग्नि को बुझा सकता है। लेकिन मनुष्य जहां स्वयं को सदा पाता है, वह चित्त दशा अंतर और बाहर में विभाजित है। इस विभाजन पर ही मनुष्य स्वयं को पाता है। उसका अहं बोध ही इस विभाजन के पीछे है। वह है इसलिए वह विभाजन है। यह विभाजन है इसलिए वह है। इसी अग्नि में तो हम सब खड़े हैं और जल रहे हैं। फिर बाह्य की ओर जो जाता है, वह पाता है कि विभाजन और तनाव बढ़ता जा रहा है, क्योंकि उसकी परिधि बढ़ती जाती है और केंद्र दूर से दूर होता जाता है। इसलिए विज्ञान का आरंभ तो है लेकिन अंत नहीं। इसलिए विज्ञान एक यात्रा भर है, वह साधन मात्र है, साध्य वह नहीं है। वह चलता है लेकिन कहीं पहुंचता नहीं है।
धर्म है अंतर की दिशा। वह शायद वह दिशा नहीं, अदिशा है, क्योंकि दिशाएं तो सब बाहर की ओर ही होती हैं। धर्म है अंतर की ओर गति। लेकिन नहीं, शायद वह गति नहीं, अगति है। क्योंकि गतियां तो सब स्वयं से दूर ही ले जाती है। धर्म है केंद्र की ओर दृष्टि। लेकिन नहीं, दृष्टा और दृष्टि और दृश्य का भेद तो है परिधि पर--केंद्र पर तो ऐसा कोई भेद ही नहीं है!
विज्ञान तो परिभाष्य है, लेकिन फिर धर्म क्या है?
धर्म परिभाष्य नहीं है। जो बाह्य है उसकी ही परिभाषा हो सकती है। जो आंतरिक है उसकी परिभाषा नहीं हो सकती है। वस्तुतः जहां से परिभाषा शुरू होती है वहीं से विज्ञान शुरू हो जाता है, क्योंकि वहीं से बाह्य शुरू हो जाता है। विज्ञान है शब्द में, धर्म है शून्य में। क्योंकि परिधि है अभिव्यक्ति और केंद्र है अज्ञात और अदृश्य और अप्रकट। वृक्ष और बीज की भांति ही वे हैं। विज्ञान वृक्ष है, धर्म बीज है। विज्ञान को जाना जा सकता है, धर्म को जाना नहीं जा सकता, लेकिन धर्म में हुआ जा सकता है और धर्म में जीआ जा सकता है। विज्ञान ज्ञान है, धर्म जीवन है। इसलिए विज्ञान की शिक्षा हो सकती है, धर्म की कोई शिक्षा नहीं हो सकती है।
विज्ञान है ज्ञात और ज्ञेय की खोज। धर्म है अज्ञात और अज्ञेय में निमज्जन। विज्ञान है पाना, धर्म है मिटना। इसलिए विज्ञान बहुत हैं, लेकिन धर्म एक ही है। इसलिए ही विज्ञान है विकासशील, किंतु धर्म शाश्वत है। जीवन की परिधि की ओर जाने से तो केंद्र से दूर निकल जाते हैं। लेकिन
एक बड़ा आश्चर्य है कि जो केंद्र की ओर जाता है वह परिधि से दूर नहीं निकलता है, उलटे परिधि और निकट आती जाती है। और ठीक केंद्र पर पहुंचने पर तो परिधि विलीन ही हो जाती है, क्योंकि केंद्र भी विलीन हो जाता है। परिधि पर परिधि भी है और केंद्र भी है। केंद्र पर न केंद्र है, न परिधि है। आंतरिक तो अंततः उसका द्वार बन जाता है जो कि न आंतरिक है, न बाह्य है।
इसलिए मैं कहता हूं कि विज्ञान का तो धर्म से विरोध हो भी सकता है, लेकिन धर्म का विज्ञान से विरोध असंभव है। बाह्य का आंतरिक से विरोध हो सकता है, लेकिन आंतरिक के लिए तो बाह्य है ही नहीं। पुत्र का मां से विरोध हो सकता है, लेकिन मां के लिए तो पुत्र का होना उसका स्वयं का होना ही है। धर्म विज्ञान के विरोध में नहीं हो सकता है, और जो हो वह धर्म नहीं है। धर्म संसार के विरोध में भी नहीं है। संसार धर्म के विरोध में हो सकता है, लेकिन धर्म संसार के विरोध में नहीं हो सकता है। धर्म सर्व अविरोध है और इसलिए तो धर्म मुक्ति है। जहां विरोध है, वहां बंधन है। और जहां विरोध है, वहां अशांति, वहां अग्नि है। वह बूढ़ी स्त्री सही तो चिल्लाती थी--"मेरा घर जल रहा है, मेरे जीवन में आग लगी है।"
और लोग पहुंचे थे विज्ञान की बाल्टियां लेकर, बाह्य का जल लेकर, तो वह हंसने लगी थी। वह आज भी हंस रही है, क्योंकि जीवन में आग आज भी लगी है,

रात्रि आज भी अमावस की है। गांव आज भी सोते से जाग पड़ा है, पड़ोसी आज भी दौड़े चले आए हैं, लेकिन फिर वे ही बातें पूछ रहे है। वे पूछते हैं, आग कहां है? दिखाई तो नहीं देती, बताओ, हम उसे बुझा दें, हम पानी की बाल्टियां ले आए हैं। हर रात्रि यही हो रहा है, वही बात हर रात दुहरती है।
लेकिन आग है भीतर और पानी है बाहर का। अब आग बुझे कैसे? आग और बढ़ती ही जाती है और आदमी उसमें झुलसता ही जा रहा है। यह भी हो सकता है कि आग तो न बुझे और आदमी को ही बुझना पड़े। और यह भी हो सकता है कि आग के चरम उत्ताप में आदमी परिवर्तित हो जाए और उसकी नींद टूट जाए। और इस आग से वह और भी निखरा हुआ स्वर्ण होकर बाहर निकले। यह स्मरण रहे कि विज्ञान आग को नहीं बुझा सका है, उल्टे विज्ञान की सभी खोजें आग को और प्रज्वलित करने में सहयोगी हो गई हैं।
विज्ञान के लिए मनुष्य ने कितना श्रम नहीं किया है? अथक खोज से विज्ञान खड़ा हुआ है। लेकिन आग जहां थी, वहीं है, उसकी लपटें जरूर उसी मात्रा में विशाल हो गई हैं जिस मात्रा में विज्ञान ने मनुष्य के हाथों में शक्ति दे दी है। यह शक्ति उस अग्नि का ईंधन बन गई है।
अज्ञान के हाथों में शक्ति आत्मघाती हो उठे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? मुझे तो पिछले दो महायुद्ध मनुष्यता द्वारा सार्वलौकिक आत्मघात की पूर्ण तैयारियां ही मालूम पड़ते हैं। दो महायुद्धों में शायद दस करोड़ लोगों की हत्या हुई है और तैयारी आगे भी जारी है। तीसरा महायुद्ध होगा अंतिम।
इसलिए नहीं कि फिर मनुष्य युद्ध नहीं करेगा, वरन इसलिए कि फिर मनुष्य युद्ध करने को बचेगा ही नहीं।
स्वयं को नष्ट करने की मनुष्यता की आतुरता अकारण भी नहीं है। शायद बाह्य की एकांगी खोज से जो विफलता हाथ आई है, उसके विवाद में ही आत्मघात का यह विराट आयोजन चल रहा है। मनुष्य के हाथ सारी दौड़-धूप के बाद भी खाली के खाली हैं। जीवन ही रिक्त, अर्थहीन और खाली है। सिकंदर ने मरते समय ही जाना कि उसके हाथ खाली हैं, इसलिए मरने की जिम्मेवारी उसने स्वयं अपने ऊपर नहीं ली। शायद अब मनुष्य ने जीते-जी जो यह जान लिया है, इसलिए वह स्वयं ही अपने को मारने को तैयार है। वह मृत्यु के लिए परमात्मा को भी कष्ट नहीं देना चाहता है। जब हाथ खाली हैं, और आत्मा ही खाली है तो जीने का प्रयोजन ही क्या है... अर्थ ही क्या है... अभिप्राय ही क्या है?
जीवन है अर्थहीन, क्योंकि जीवन से मनुष्य परिचित ही नहीं है। और जिसे उसने जीवन जाना है वह निश्चित ही अर्थहीन है, क्योंकि वह जीवन ही नहीं है। जीवन आंतरिक को खोकर बाह्य की ही दौड़ हो तो निश्चित ही अर्थहीन हो जाता है। क्योंकि तब बच जाती है वस्तुएं और वस्तुएं। आत्मा को बेच कर जो इन वस्तुओं को इकट्ठा कर लेता है, वह अपने ही हाथों अपनी मृत्यु जुटा लेता है।
और बाह्य के विरोध और शत्रुता में जो आंतरिक की ओर चलता है, वह पंगु हो जाता है। क्योंकि उसका जीवन भी अंतर्द्वंद्व में शांति और संगीत को खो देता है।
और आत्मा तो केवल उन्हें ही मिलती है जो संगीत में और सौंदर्य में जीते हैं। बाह्य की शत्रुता एक भांति की कुरूपता पैदा करती है। और बाह्य का विरोध एक भांति की जड़ता ले आता है। अंतर्द्वंद्व अहंकार को तो पुष्ट करता है लेकिन इससे आत्मा उपलब्ध नहीं होती है।
जीवन है, बाह्य और अंतर के मिलने में। जीवन है बाह्य और अंतर के संगीत में। जीवन है बाह्य और अंतर के मध्य में। विरोध से, तनाव से, द्वंद्व और दमन से वह उपलब्ध नहीं होता है। वह तो उपलब्ध होता है शांति से, सरलता से, सहजता से। और शांति, सरलता और सहजता आती है सजगता से--सजगता, जीवन के प्रति सजगता,--जो है "उसके प्रति सजगता"--सजगता यानी अमूर्च्छा, सजगता यानी जाग्रतचित्तता। सजगता के आलोक में क्रमशः बाह्य से अंतर की ओर गति होती है। और फिर अंतर से उसकी ओर गति होती है जो न बाह्य है, न अंतर है, जो कि बस है।

इसलिए मैं कहता हूं कि निद्रा ही, मूर्च्छा ही, तंद्रा ही वह अग्नि है, जिसमें जीवन जलता और पीड़ित होता है। और सजगता, और अमूर्च्छा, होश ही वह आलोक है, जिसमें जीवन परम जीवन में परिवर्तित होता है। वह शक्ति ही जो कि निद्रा में जलाने वाली अग्नि है, जागरण में जीवनदायी आलोक बन जाती है। मनुष्य सजग हो तो उसके हाथों में सारी शक्तियां ही मंगलदायी हैं। क्योंकि मूर्च्छा और बेहोशी के अतिरिक्त और कोई अमंगल नहीं है। शक्तियां तो सदा ही तटस्थ हैं, और निष्पक्ष हैं। उनसे क्या होगा यह उन पर नहीं, उनके उपयोग करनेवाले मनुष्य पर ही पूर्णतः निर्भर है।
धर्म में प्रतिष्ठित मानवीय चेतना के लिए विज्ञान की अग्नि भी आत्मविनाशी नरक नहीं, वरन आत्म-सृजन, स्वर्ग बन सकती है। धर्म से संयुक्त होकर विज्ञान एक बिल्कुल ही अभिनव मनुष्यता का जन्म बन सकता है।
एक बादशाह ने किसी वृद्ध फकीर से पूछा था, मैं सुनता हूं कि बहुत सोना बुरा है लेकिन मुझे नींद बहुत आती है। आपकी राय क्या है? वह वृद्ध फकीर बोला था, अच्छे लोगों का सोना बुरा होता है लेकिन बुरे लोगों का सोना ही अच्छा होता है। क्योंकि वे जितनी देर जागते हैं, संसार को उतना नरक बनाने के लिए श्रमरत रहते हैं।
शांति के केंद्र पर शक्ति की परिधि शुभ होती है। किंतु अशांति के केंद्र पर तो अशक्ति ही शुभ है। धर्म के हाथों में विज्ञान शुभ है। किंतु अधर्म के हाथों में उसे कैसे शुभ माना जा सकता है? ज्ञान के साथ शक्ति शुभ है। लेकिन अज्ञान और शक्ति का मिलन तो दुर्घटना बनेगी ही! मनुष्य ऐसी ही दुर्घटना में फंस गया है। विज्ञान ने दी है शक्ति, लेकिन वह शांति कहां है, जो उसका सम्यक उपयोग कर सके? शांति नहीं होगी तो होगा विनाश। और शांति होगी तो जीवन के और सृजन के अभूतपूर्व मार्ग प्रशस्त हो सकते हैं? मनुष्य के बाहर है शक्ति और भीतर है अशांति। गणित बिल्कुल सीधा और साफ है? यह संयोग ही संकट है।
अशांत और दुखी चित्त दूसरों को भी दुखी और अशांत करने में सुख का अनुभव करता है। दुखी चित्त के लिए इसके अतिरिक्त और कोई सुख होता ही नहीं है। वस्तुतः जो हमारे पास होता है उसे ही तो हम दूसरों को दे सकते हैं?
जो दुखी है, वह दूसरों को सुख में देख कर और दुख में पड़ जाता है। उसका सुख तो यही होता है कि कोई सुख में न हो। यही हो रहा है, यही होता रहा है। और दुखी, अशांत और अंधकार से भरे मनुष्य के हाथों में विज्ञान ने ऐसी शक्ति रख दी है, जो कि समग्र जीवन का विनाश भी बन सकती है।
मनुष्यता को आत्मघात के लिए पूर्ण उपकरण उपलब्ध हो गए हैं। और अब जो महामृत्यु के लिए समारोहपूर्वक तैयारी चल रही है, उसे आकस्मिक नहीं कहा जा सकता है। हम सब किस कार्य में संलग्न हैं? यह विराट श्रम किस दिशा में हो रहा है? हम किसलिए जी रहे हैं और मर रहे हैं? मृत्यु को लाने के लिए! महामृत्यु को लाने के लिए!
पहले तथाकथित धार्मिक लोग जीवन से छुटकारे के लिए व्यक्तिगत रूप से श्रम और साधना करते थे। अब विज्ञान ने सामूहिक और सार्वजनिक रूप से जीवन से छुटकारे के लिए द्वार खोल दिए हैं। इस बहती गंगा में कौन हाथ न धो लेना चाहेगा? मृत्यु के इस अदभुत समारोह में हम सभी एक-दूसरे के लिए सहयोगी और साथी हैं। जीवन के लिए जो साथी और सहयोगी नहीं हैं, वे भी एक-दूसरे को मृत्यु में भेजने के लिए स्वयं को मिटाने के लिए भी सहर्ष तैयार हैं। अदभुत है बलिदान की यह भावना, त्याग की यह वृत्ति! जीवन में जो शत्रु हैं, मृत्यु के महायज्ञ में वे सब संगी-साथी हो गए हैं।
क्या मैं कहूं कि मनुष्य विक्षिप्त हो गया है? शायद यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इससे यह भ्रम पैदा होता है कि जैसे वह पहले स्वस्थ था! मनुष्य तो वैसा ही है, जैसा सदा से था। सिर्फ वे शक्तियां जो पहले उसके हाथ में नहीं थीं अब उसके हाथ में आ गई हैं, और उसने ही उसकी छिपी विक्षिप्तता प्रकट कर दी है। शक्ति और सामर्थ्य पाकर कोई पागल नहीं होता है। बस शक्ति की सुविधा पाकर जो पागलपन अप्रकट होता है वही प्रकट हो जाता है।
मनुष्य की विक्षिप्तता पूरी तरह प्रकट हो गई है। ऐसे इस उदघाटन के लिए विज्ञान के प्रति कृतज्ञ होना अत्यंत आवश्यक है। मनुष्य के सारे

वस्त्र छिन गए हैं और वह बिल्कुल नग्न खड़ा है। इस नग्नता में वह नष्ट भी हो सकता है और एक बिल्कुल नये रूप में जन्म भी पा सकता है। स्वयं के समक्ष इस भांति नग्न खड़ा होना चेतना के नये आरोहण के लिए बिल्कुल अपरिहार्य जो है! मनुष्य के ऊपर झूठे वस्त्र खतरनाक थे। झूठे वस्त्रों से तो सच्ची नग्नता बेहतर है। क्योंकि झूठे वस्त्र दूसरों को धोका देते ही हैं, स्वयं को भी धोका देते हैं।
इस आत्मवंचना के कारण ही तो आज तक मनुष्य में कोई मौलिक क्रांति नहीं
हो पाई है। लेकिन अब वह क्षण आ गया है कि हम मनुष्य की विक्षिप्तता को उसके प्रकट रूप में देख सकते हैं। और जो रुग्णता प्रकट हो, निश्चय ही उससे मुक्त होने के लिए कुछ किया जा सकता है।
मनुष्य-जाति के तीन हजार वर्षों के छोटे से इतिहास में अनुमानतः पंद्रह हजार युद्ध हुए हैं। प्रतिवर्ष पांच युद्ध! यह विक्षिप्तता नहीं है तो और क्या है? और ये सब युद्ध भी हुए है शांति के लिए! यह विक्षिप्तता नहीं है तो और क्या है? पृथ्वी ने मनुष्य के आगमन के बाद दो ही प्रकार के कालखंड जाने हैं--युद्ध के कालखंड और युद्ध की तैयारी के कालखंड। शांति का कालखंड तो आज तक जाना ही नहीं गया है, क्योंकि दो युद्धों के बीच का जो समय है, वह शांति का नहीं, युद्ध की तैयारी का ही समय होता है। यह विक्षिप्तता नहीं है तो और क्या है? क्या मनुष्य लड़ने के लिए ही जी रहा है? विज्ञान ने जरूर इस रोग को उस चरम स्थिति पर पहुंचा दिया है जहां कि या तो रोगी ही नहीं बचेगा। या, यदि उसे बचना हो तो फिर रोग को छोड़ना ही होगा--चाहे रोग कितना ही पुराना और प्यारा क्यों न हो। रोग भी पुराने होने से प्यारे हो जाते हैं और परंपरागत होने से उन्हें भी एक आदृत स्थान प्राप्त हो जाता है।
किसी भी चीज का पुराना होना उसके बने रहने के लिए दलील हो जाती है। और
यह युद्ध की बीमारी तो सबसे ज्यादा पुरानी धरोहर है। यह तो मनुष्य की सबसे ज्यादा गहरी संस्कृति है!
एक कहानी कहना चाहता हूं। कहानी बिल्कुल ही झूठी है। लेकिन जो वह कहती है वह एकदम सत्य है, सौ प्रतिशत सत्य है। दूसरे महायुद्ध के बाद की बात है। परमात्मा ने युद्ध में मनुष्य को मनुष्य के साथ जो करते देखा था उससे वह बहुत चिंतित था। लेकिन चिंता उस दिन उसकी परम हो गई थी जिस दिन उसके दूतों ने बताया कि मनुष्य-जाति अब तीसरे महायुद्ध की तैयारी में संलग्न है। परमात्मा की आंखों में मनुष्य की इस विक्षिप्तता से आंसू आ गए थे और उसने तीन बड़े राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को अपने पास बुलवाया था। इंग्लैंड, रूस और अमरीका के प्रतिनिधि बुलाए गए थे। परमात्मा ने उनसे कहाः मैं यह सुन रहा हूं कि तुम अब तीसरे महायुद्ध की तैयारी में लग गए हो? क्या दूसरे महायुद्ध से तुमने कोई पाठ नहीं सीखा है?
मैं वहां होता तो कहता कि मनुष्य-जाति सदा ही पाठ सीखती रही है। पहले महायुद्ध से दूसरे महायुद्ध के लिए पाठ सीखा था! अब दूसरे से तीसरे के लिए ज्ञान पाया है! लेकिन मैं वहां नहीं था और इसलिए जो परमात्मा से नहीं कह सका, वह आपसे कहे देता हूं।
परमात्मा ने अपनी सदैव की आदत के अनुसार फिर उनसे कहाः मैं तुम्हें एक-एक मनचाहा वरदान दे सकता हूं, यदि तुम यह आश्वासन दो कि इस आत्मघाती वृत्ति से बचोगे। दूसरा महायुद्ध ही काफी है। मैं मनुष्य को बना कर बहुत पछता लिया हूं, अब बुढ़ापे में मुझे और मत सताओ। क्या तुम्हें पता नहीं है कि मनुष्य को बनाकर मैं इतने कष्टों में पड़ गया कि फिर उसके बाद मैंने कुछ भी निर्मित नहीं किया है?
मैं वहां होता तो कहता, हे परमात्मा! यह बिल्कुल ही ठीक है। दूध का जला छाछ भी फूंक-फूंक कर पीता है। लेकिन मैं वहां नहीं था!
अमरीका के प्रतिनिधि ने कहाः हे परमपिता! हमारी कोई बड़ी आकांक्षा नहीं है। एक छोटी सी हमारी कामना है। वह पूरी हो जाए तो तीसरे महायुद्ध की आवश्यकता ही नहीं है।
परमात्मा क्षण भर को प्रसन्न दिखाई पड़ा था। लेकिन जब अमरीका के प्रतिनिधि ने कहा, पृथ्वी तो हो लेकिन पृथ्वी पर रूस का कोई नामोनिशान न

रह जाए--बस छोटी सी और एकमात्र यही हमारी कामना है। तो वह पुनः ऐसा उदास हो गया था जैसा कि मनुष्य को बना कर भी उदास न हुआ होगा। निश्चय ही मनुष्य अपने बनाए जाने का पूरा-पूरा बदला ले रहा था!
फिर परमात्मा ने रूस की तरफ देखा। रूस के प्रतिनिधि ने कहाः कामरेड! पहली बात तो यह कि हम मानते नहीं कि आप हैं। बरसों हुए हमने अपने महान देश से आपको सदा के लिए विदा कर दिया है। वह भ्रम हमने तोड़ दिया है जो कि आप थे। लेकिन नहीं, हम पुनः आपकी पूजा कर सकते हैं, और उजड़े और वीरान पड़े चर्चों और मंदिरों तथा मस्जिदों में फिर आपको रहने की भी आज्ञा दे सकते हैं। पर एक छोटा सा काम आप भी हमारा कर दो। दुनिया के नक्शे पर हम अमरीका के लिए कोई रंग नहीं चाहते हैं। ऐसे यदि यह आपसे न हो सके तो चिंतित होने की भी कोई बात नहीं। देर-अबेर हम स्वयं बिना आपकी सहायता के भी यह कर ही लेंगे। हम बचें या न बचें लेकिन यह कार्य तो हमें करना ही है। यह तो एक ऐतिहासिक अनिवार्यता है जिसे कि सर्वहारा के हित में हमें करना ही पड़ेगा। मनुष्य का भविष्य अमरीका की मृत्यु में ही निहित है।
और फिर आंसुओं में डूबी आंखों से परमात्मा ने इंग्लैंड की ओर देखा।
और इंग्लैंड के प्रतिनिधि ने क्या कहा? क्या आप कल्पना भी कर सकते हैं? नहीं। नहीं, उसकी कल्पना कोई नहीं कर सकता है। क्योंकि वह बात ही ऐसी अद्वितीय है।
इंग्लैंड के प्रतिनिधि ने कहाः हे महाप्रभु, हमारी अपनी कोई आकांक्षा नहीं है। बस दोनों मित्रों की आकांक्षाएं एक ही साथ पूरी कर दी जाएं, तो हमारी आकांक्षा अपने आप ही पूरी हो जाती है।
ऐसी स्थिति है। क्या यह कहानी झूठी है? लेकिन इससे सच्ची कहानी और क्या हो सकती है? और यह किसी एक राष्ट्र की बात नहीं है, सभी राष्ट्रों की बात है। राष्ट्रीयता जहां भी है, वहां युद्ध है। वह ज्वर ही तो अंततः युद्ध लाता है।
और यह राष्ट्रों की ही बात नहीं है। व्यक्ति-व्यक्ति की भी यही बात है। क्योंकि जो ज्वर व्यक्ति-व्यक्ति में न हो, वह राष्ट्रों में भी कैसे हो सकता है? व्यक्ति ही तो है इकाई, उस सबकी, जो कि मनुष्य के जगत में कहीं भी घटित होता है। गंगा चाहे प्रेम की हो, चाहे घृणा की; गंगोत्री तो सदा व्यक्ति ही है। और चाहे जीवन के विराट आकाश में घृणा के ऐसे बादल घिरे हों कि सारी पृथ्वी ही उनसे ढंक गई हो, तो भी व्यक्ति के छोटे से हृदय में ही खोजना होगा उस मूल उत्स को जहां से क्रोध, घृणा, वैमनस्य, महत्वाकांक्षा, दुख, चिंता और संताप के छोटे-छोटे वाष्प खंड धीरे-धीरे उठ कर सारे आकाश को घेर लेते हैं। और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की, घृणा और हिंसा की जब मुठभेड़ होती है तो उनमें जोड़ नहीं, गुणन हो जाता है। यह गुणन फैलता ही जाता है और फिर मृत्यु के जो बादल आकाश में छा जाते हैं, वे सब व्यक्तियों की हिंसा के जोड़ से बहुत ज्यादा होते हैं। लेकिन यह गुणन प्रक्रिया कोई चिंता की बात नहीं है, क्योंकि जो घृणा के संबंध में हुआ है, वही प्रेम के संबंध में भी हो सकता है।
पृथ्वी पर ऐसा प्रेम हो सकता है जो कि सभी व्यक्तियों के प्रेम के जोड़
से अनंत गुना ज्यादा हो। उस प्रेम का नाम ही परमात्मा है। लेकिन अभी जो है वह है घृणा का दैत्य--चाहें तो कहें कि यही शैतान है, लेकिन एक बात स्मरण रहे कि न परमात्मा इससे भिन्न है और न शैतान। वे मनुष्य के ही सृजन हैं। मनुष्य में जो शुभ है, वह प्रभु है। जो सुंदर है, वह स्वर्ग है। जो अशुभ है, वह नरक है। मनुष्य स्वयं को जैसा बनाता है, वैसा ही वह जगत को भी निर्मित करता है। मैं जो हूं, वही जगत को मेरा दान है। उस दान से ही मैं जगत को भी निर्मित करता हूं। ऐसे प्रत्येक व्यक्ति स्रष्टा है।
यह जानना अत्यंत आवश्यक है कि यह जो कुरूप जगत है--हिंसा, क्रोध, घृणा
और युद्ध का यह जो तांडव चल रहा है, उसमें प्रत्येक व्यक्ति साझीदार है। इसका उत्तरदायित्व प्रत्येक पर है। प्रत्येक इसके लिए उत्तरदायी है। बड़े से बड़े युद्ध के लिए छोटे से छोटा व्यक्ति भी उत्तरदायी है। क्योंकि व्यक्ति ही तो फैलकर समाज बन जाता है। समाज और कहां है? व्यक्ति ही तो समाज है!

और व्यक्ति है महत्वाकांक्षा के ज्वर से ग्रस्त। प्रत्येक कुछ होना चाहता है! और इस कुछ होने की दौड़ में वह भूल ही जाता है उसे जो कि वह है! और आश्चर्यों का आश्चर्य तो यह है कि प्रत्येक केवल वही हो सकता है जो वह है। स्वयं के अतिरिक्त और अन्यथा होना असंभव है। क्योंकि जो बीज में नहीं है वह वृक्ष में कैसे हो सकता है? लेकिन प्रत्येक वही होने की दौड़ में है जो वह नहीं है। इससे एक ज्वरग्रस्त जीवन पैदा होता है जो कि अनिवार्यतः हिंसा और विध्वंस में ले जाता है। व्यक्ति जो बीजतः होता है, उसके विकास में न तो दौड़ होती है और न ज्वर होता है और न विक्षिप्तता होती है। उसमें तो एक शांत और मौन और अदृश्य विकास होता है। उसमें तो जो गति होती है उसकी पगध्वनियां भी नहीं सुनाई पड़ती हैं। लेकिन व्यक्ति जो नहीं है उसके होने में शोरगुल तो बहुत होता है और होता कुछ भी नहीं है। यह शोरगुल, यह संघर्ष, यह तनाव, यह अशांति पैदा होती है प्रतिस्पर्धा से।
व्यक्ति जो है, वही होने में कोई प्रतिस्पर्धा नहीं होती है। वह होता
है बस अपने में, अन्य की तुलना में नहीं। वैसे विकास में अन्य की कोई प्रतिभा ही नहीं होती है। इसलिए चित्त कलह से मुक्त शांत गति करता है। शक्ति का संघर्ष में, स्पर्धा में होने वाला अपव्यय बचता है और व्यक्ति शक्ति का संरक्षित सरोवर बन जाता है। शक्ति का, ऊर्जा का यह शांत संचय जीवन को एक ऐसा गत्यात्मक रूप देता है, जिसमें कि गति तो होती है पूर्ण लेकिन घर्षण शून्य होता है। लेकिन जहां व्यक्ति अन्य की तुलना में जीता है, वहां तो वह जीता ही नहीं है।
जीवन तो है स्वयं में, वह अन्य में नहीं है। अन्य की तुलना में है ईर्ष्या, क्रोध, हिंसा--और वे जीवन नहीं हैं, वे तो हैं मृत्युएं। इन मृत्युओं में व्यक्ति जीता हो तो जगत जैसा कुरूप हो गया है, वैसा होना अनिवार्य ही है। और फिर जब सब भांति की महत्वाकांक्षाओं और प्रतिस्पर्धाओं में जीने के बाद भी आनंद के द्वार नहीं खुलते हैं और दुख का नर्क और गहरे से गहरा होता जाता है तो व्यक्ति इस विफलता और विषाद में सारे जगत से ही प्रतिशोध लेने लगता है। वह हो जाता है विध्वंसक। वह, जो स्वयं को सृजन नहीं कर पाया है, उसके प्रतिशोध में अन्यों का विध्वंस करने लगता है।
आत्म-सृजन का अभाव विध्वंस और हिंसा बन जाता है। इसलिए मैं कहता हूं
कि महत्वाकांक्षा के आधार पर खड़ा जगत कभी भी अहिंसक नहीं हो सकता है, फिर चाहे यह महत्वाकांक्षा संसार की हो या मोक्ष की। जहां महत्वाकांक्षा है, वहां हिंसा है। वस्तुतः तो महत्वाकांक्षा ही हिंसा है। और विज्ञान ने महत्वाकांक्षी मनुष्य के हाथों में असीम शक्ति दे दी है। अब यदि धर्म ने मनुष्य के चित्त से महत्वाकांक्षा न छीनी तो विनाश सुनिश्चित है।
यह महत्वाकांक्षा पैदा ही क्यों होती है और कहां से होती है? महत्वाकांक्षा पैदा होती है हीनता के भाव से। व्यक्ति है स्वयं के अंतस में अत्यंत दीन-हीन। वहां है सब रिक्त और शून्य। वहां कुछ भी नहीं है। वहां है सब अभाव, सब भांति का खालीपन। इस अभाव, इस रिक्तता से ही वह भागता है। और इस पलायन के लिए ही वह महत्त्वाकांक्षा के लक्ष्य निर्मित करता है ताकि वे उसे दौड़ने के लिए ज्वर और त्वरा दे सकें। मूलतः वह किसी स्थान के लिए नहीं भागता है, वरन किसी स्थान से भागता है।
लेकिन मात्र किसी स्थान से भागे जाना बिना किसी स्थान के लिए एकदम असंभव है, इसलिए वह लक्ष्य और गंतव्य निर्धारित करता है। अभाव से पलायन है मूल में, लेकिन प्रकटतः दिखाई पड़ता है कि प्रत्येक व्यक्ति कहीं पहुंचने के लिए दौड़ रहा है। वस्तुतः हम भाग रहे हैं स्वयं से बचने के लिए। लेकिन इस तथ्य को देखना भी दौड़ की हत्या करना है। इसलिए कहीं पहुंचने की, किन्हीं मंजिलों की, किन्हीं आदर्शों की, किन्हीं मोक्षों की हम बातें कर रहे हैं। यह आत्मवंचना बहुत गहरी है। और जो इस आत्मवंचना को तोड़ने का साहस नहीं करता है वह महत्वाकांक्षा के ज्वर से कभी स्वस्थ नहीं हो सकता है। उसकी एक महत्वाकांक्षा व्यर्थ सिद्ध होगी तो वह दूसरी निर्मित कर लेगा।
संसार की महत्वाकांक्षाएं व्यर्थ होंगी तो वह मोक्ष की, ब्रह्म को पाने की महत्वाकांक्षाओं को बना लेगा। संसारी संसार से छूट भी नहीं पाता

है कि संन्यासी हो जाता है। और ऐसे महत्वाकांक्षा नये वस्त्रों में पुनः वापस लौट आती है। और क्या महत्वाकांक्षा ही संसार नहीं है?
धर्म का जीवन में अवतरण उसी क्षण से होता है, जब से व्यक्ति अपनी दौड़
के मूल कारण को देखना और पहचानना शुरू करता है। यह सत्य दिखाई पड़ जाना कि महत्त्वाकांक्षा का मूल आंतरिक अभाव से पलायन है, जीवन में एक नई ही दिशा का उदघाटन बन जाता है।
स्वयं की आंतरिक रिक्तता से भागना संसार है। और स्वयं की आंतरिक रिक्तता और शून्य में जागना धर्म। भागना संसार है, जागना धर्म है। और जो भागता है वह पाता है कि शून्य बढ़ता ही जाता है। और जो जागता है वह पाता है कि शून्य है ही नहीं। निद्रा में जो शून्य प्रतीत होता था, जागृति में वही पूर्ण हो जाता है। मित्र, भागने से शून्य बढ़ता है क्योंकि हम स्वयं से जितने दूर होते हैं उतने ही रिक्त और शून्य हो जाते हैं। हमारी स्वयं की सत्ता से जो दूरी होती है, वही दूरी हमारी रिक्तता का अनुपात भी है। यह स्मरण रहे कि मनुष्य में जितना बड़ा सिकंदर छिपा होता है, उसके हाथ उतने ही खाली होते हैं।
और स्वयं से भागने से शून्य इसलिए भी बढ़ता है कि भागने का मूल है भय। भागना भय की स्वीकृति है। पलायन भय को गले लगा लेना है। और जिसे हम स्वीकार करते हैं और जिसे हम गले लगा लेते हैं, वह बढ़ता ही जाता है। भय भागने से घटता नहीं, बढ़ता है। और भय जितना बढ़ता है स्वयं का होना उतना ही घटता है। और ऐसे स्वयं की रिक्तता और भी बढ़ जाती और पीड़ादायी हो जाती है। किंतु जो स्वयं से भागता नहीं, वरन स्वयं के प्रति जागता है, वह जीवन
के एक बिल्कुल दूसरे ही अनुभव को उपलब्ध होता है। उसके हाथ खाली नहीं रह जाते हैं। उसके प्राण खाली नहीं रह जाते हैं। उसका समग्र जीवन ही एक अनूठी संपदा से भर जाता है।
क्योंकि जो स्वयं के प्रति जागता है, वह पाता है कि वहां तो कोई अभाव
ही नहीं है। वहां तो स्वयं परमात्मा है। अभाव स्वयं में नहीं, स्वयं के प्रति मूर्च्छा में है। मैं सोया हूं--यही है अभाव। मैं जाग जाऊं तो अभाव वैसे ही नहीं पाया जाता है जैसे कि सूर्य के निकलते ही अंधकार नहीं पाया जाता है।
क्या आपको ज्ञात है कि एक बार अंधकार ने सूर्य को पत्र लिखा था और शिकायत की थी कि आप अकारण ही मेरे पीछे क्यों पड़े हुए हैं। सूर्य अंधकार के इस पत्र को पाकर बहुत हैरान हुआ था। और उसने खबर भिजवाई थी कि मित्र, मैं तो आपको जानता भी नहीं हूं। कभी आएं और मेरा आतिथ्य स्वीकार करें। अनजाने में कोई भूल मुझसे हो गई हो तो मैं प्रत्यक्ष सेवा से क्षमा मांगना चाहता हूं। किंतु इस आमंत्रण को दिए गए अनगिनत सदियां बीत गई हैं। और अंधकार आज तक भी सूर्य से मिलने नहीं आ सका है। और अब तो सूर्य को संदेह भी होने लगा है कि अंधकार कहीं है भी या नहीं? वह पत्र जाली भी तो हो सकता था! मैं जैसे ही जागता हूं, वैसे ही कोई अभाव नहीं है। मैं जैसे ही सूर्य बनता हूं, वैसे ही कोई अंधकार नहीं है। और यह मैं जाग कर कह रहा हूं। मैं यह सूर्य बन कर कह रहा हूं। मैं यह सब भांति भरा हुआ होकर कह रहा हूं, आओ! और मेरे हाथ देखो! क्या वे भरे हुए नहीं हैं?
और स्मरण रहे कि सूर्य आप भी हो और हाथ आपके भी भरे हुए हैं। लेकिन आप आंखें बंद किए हो और सो रहे हो, और इस निद्रा के कारण भरे हुए हाथ दिखाई नहीं पड़ रहे हैं। और तब उन्हें भरने के लिए हजार-हजार सपने देखे जा रहे हैं।
लेकिन मित्र, क्या वे हाथ कभी भरे जा सकते हैं जो कि खाली ही नहीं हैं?
और क्या उस आंतरिक अभाव को भरा जा सकता है जो कि है ही नहीं? इसलिए ही तो मनुष्य की सब दौड़ अनिवार्यतः असफल हो जाती है। और यह अनिवार्य असफलता ही तो मनुष्य का संताप है।
और फिर जो संताप में है वह दूसरों को भी संताप देता है। जो दुख में है
वह दुख बांटता है। मनुष्य जो है, उसे ही बांटने को आबद्ध है और समर्थ है। क्योंकि स्वयं को बांटे बिना जिया ही नहीं जा सकता है। फूल सुगंध बांटते हैं क्योंकि वे सुगंध हैं। तारों से प्रकाश बंटता है क्योंकि वे प्रकाश

हैं। मनुष्य दुख बांटता है क्योंकि वह दुख है। लेकिन, मनुष्य आनंद भी बांट सकता है क्योंकि वह आनंद भी हो सकता है।
धर्म आनंद का द्वार है। क्योंकि धर्म स्वयं के प्रति जागरण है। जो स्वयं के प्रति जागता है वह पाता है कि वहां अभाव नहीं है, और यह साक्षात आनंद से भर देता है क्योंकि फिर कुछ पाने को नहीं रह जाता है। वह सब जो भी पाने जैसा है, पाया जाता है, कि पाया ही हुआ है।
अभाव स्वरूप नहीं है, स्वरूप है आनंद। और इसलिए स्वयं के प्रति सचेत होना ही आनंद को पा लेना है। और आनंद मिलते ही आनंद वितरित होने लगता है। आनंद की किरणों को बिखेरता चित्त ही धर्म में प्रतिष्ठित चित्त है। और ऐसे चित्त के हाथों में विज्ञान की शक्ति स्वर्ण में सुगंध है। विज्ञान और धर्म का ऐसा मिलन चिरप्रतीक्षित है।
मेरे मित्रो, क्या आप वह सेतु बनोगे जो कि इस सम्मिलन को ला सके? मनुष्य को ही तो सेतु बनना है। प्रत्येक को ही तो सेतु बनना है। क्योंकि ऐसे सेतु से ही धरा पर प्रतीक्षित स्वर्ण-युग का अवतरण होगा जो कि अतीत में आकर चला नहीं गया है, वरन भविष्य में है और अभी आने को है।

शिक्षा में क्रांति
तीसरा प्रवचन

शिक्षा और धर्म

मेरे प्रिय!
एक फकीर बहुत अकेला था। स्वप्न में उसे परमात्मा के दर्शन हुए तो उसने पाया कि परमात्मा तो उससे भी अकेला है। निश्चय ही वह बहुत हैरान हुआ और उसने भगवान से पूछा, क्या आप भी इतने अकेले हैं? लेकिन आपके तो इतने भक्त हैं, वे सब कहां हैं? यह सुन कर भगवान ने उससे कहा था, मैं तो सदा से अकेला ही हूं और इसलिए ही जो नितांत अकेले हो जाते हैं वे ही केवल मेरा अनुभव कर पाते हैं। रही भक्तों और तथाकथित धार्मिकों की बात, सो वे मेरे साथ कब थे? उनमें से कोई राम के साथ है, कोई कृष्ण के, कोई मोहम्मद के और कोई महावीर के। उनमें से मेरे साथ तो कोई भी नहीं है। मैं तो सदा का ही अकेला हूं। और इसलिए जो किसी के भी साथ नहीं है, बस अकेला ही है वही केवल मेरे साथ है।
वह फकीर आधी रात ही घबड़ाहट में जाग गया था और भागा हुआ मेरे पास आया था। आते ही उसने मुझे उठाया और कहाः मेरे इस स्वप्न का क्या अर्थ है? मैंने कहाः स्वप्न होता तो मैं अर्थ भी करता, लेकिन यह तो सत्य ही है। और सत्य का भी क्या अर्थ करना होगा? आंखें खोलो और देखो। धर्म के नाम पर जो हिंदू है, मुसलमान है, बौद्ध है, या ईसाई, वह धार्मिक ही नहीं है। क्योंकि धर्म तो एक ही है--या जो एक है, वही धर्म है। धार्मिक चित्त के लिए मनुष्य निर्मित सीमाएं सत्य नहीं हैं। सत्य के अनुभव में संप्रदाय कहां, शास्त्र कहां, संगठन कहां? उस असीम में सीमा कहा? उस निःशब्द में सिद्धांत कहां? उस शून्य में मंदिर कहां, मस्जिद कहां? और फिर जो शेष रह जाता है, वही तो परमात्मा है।
और इसके पहले कि मैं शिक्षा और धर्म पर आपसे कुछ कहूं, यह कह देना अत्यंत आवश्यक है कि धर्म से मेरा अर्थ धर्मों से नहीं। धार्मिक होना हिंदू और मुसलमान होने से बहुत अलग बात है। सांप्रदायिक होना धार्मिक होना तो है ही नहीं, उलटे, वही धार्मिक होने में सबसे बड़ी बाधा है। जब तक कोई हिंदू है या मुसलमान है, तब तक उसका धार्मिक होना असंभव है। और जितने लोग धर्म और शिक्षा के लिए विचार करते हैं और जो शिक्षा से धर्म को जोड़ना चाहते हैं, धर्म से उनका अर्थ या तो हिंदू होता है या मुसलमान होता है या ईसाई। ऐसी धार्मिक शिक्षा धर्म को नहीं लाएगी, वह मनुष्य को और अधिक अधार्मिक जरूर बना सकती है। इस तरह की शिक्षा तो कोई चार-पांच हजार वर्ष से मनुष्य को दी जाती रही है। लेकिन उससे कोई बेहतर मनुष्य पैदा नहीं हुआ, उससे कोई अच्छा समाज पैदा नहीं हुआ। लेकिन हिंदू, मुसलमान और ईसाई के नामों पर जितना अधर्म, जितनी हिंसा और जितना रक्तपात हुआ है उतना किसी और बात से नहीं हुआ है।
यह जान कर बहुत हैरानी होती है कि नास्तिकों के ऊपर, उनके ऊपर जो धर्म
के विश्वासी नहीं हैं, बड़े पापों का कोई जिम्मा नहीं है। बड़े पाप उन लोगों के नाम पर हैं जो आस्तिक हैं। नास्तिकों ने न तो कोई मंदिर जलाए हैं और न लोगों की हत्याएं की हैं। हत्याएं की हैं उन लोगों ने जो आस्तिक हैं। मनुष्य को मनुष्य से विभाजित भी उन लोगों न किया है जो आस्तिक हैं। जो अपने को धार्मिक समझते हैं उन्होंने ही मनुष्य और मनुष्य के बीच दीवालें खड़ी की हैं। शब्दों, सिद्धांतों और शास्त्रों ने मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बना दिया है। वादों और पक्षों ने अलंघ्य खाइयां खोद दी हैं और मनुष्य जाति को अपने ही हाथों से निर्मित छोटे-छोटे द्वीपों पर कैद कर दिया है।
धर्म के नाम पर ऐसी शिक्षा आगे भी दिए चले जाना अत्यंत खतरनाक है। यह शिक्षा न धार्मिक है, न कभी धार्मिक रही है और न आगे ही हो सकती है। क्योंकि ये बातें जिन लोगों को सिखाई गईं, वे लोग कोई अच्छे मनुष्य सिद्ध नहीं हुए। और इन बातों के नाम पर जो संघर्ष खड़े हुए उन्होंने मनुष्य के पूरे चित्त को रक्तपात और हिंसा, क्रोध और घृणा से भर दिया है। इसलिए सबसे

पहली बात तो मैं यह कहना चाहता हूं कि धर्म की शिक्षा से मेरा प्रयोजन किसी संप्रदाय, उसकी धारणाओं, उसके सिद्धांतों की शिक्षा से नहीं है। यदि हम चाहते हैं कि शिक्षा और धर्म संबंधित हों तो हमें चाहना होगा कि हिंदू, मुसलमान और ईसाई शब्दों से धर्म का संबंध टूट जाए, तो ही शिक्षा और धर्म संबंधित हो सकते हैं। लेकिन धर्म के नाम पर संप्रदायों का संबंध तो शिक्षा से कभी भी न होना चाहिए। उससे तो अधार्मिक होना ही बेहतर है। क्योंकि अधार्मिक के धार्मिक होने की संभावना तो सदा ही जीवंत होती है। जब कि तथाकथित धार्मिक व्यक्ति के चित्त के द्वार तो सदा के लिए ही बंद हो जाते हैं। और जिसके चित्त के द्वार बंद हैं वह तो धार्मिक कभी हो ही नहीं सकता है। सत्य की खोज में चित्त का मुक्त और खुला हुआ होना तो अत्यंत अनिवार्य है।
यदि एक धार्मिक सभ्यता पैदा करना हो तो वह सभ्यता हिंदू नहीं होगी, वह सभ्यता मुसलमान भी नहीं हो सकती, वह सभ्यता पूर्व की भी नहीं होगी और वह सभ्यता पश्चिम की भी नहीं होगी। वह सभ्यता अखंड मनुष्य की होगी, सबकी होगी और समग्र की होगी। इसलिए एक अंश और एक खंड की वह सभ्यता नहीं हो सकती, क्योंकि जब तक हम मनुष्यता को खंडित करेंगे, तब तक हम द्वंद्व और युद्ध से मुक्त नहीं हो सकते। जब तक मैं और आपके बीच की दीवाल होगी तब तक उसके निर्माण में बहुत कठिनाई है।
मनुष्य को मनुष्य से तोड़ने वाली भित्तियों के रहते हम एक ऐसे समाज को कैसे निर्मित कर सकेंगे जो प्रेम और आनंद में जीए? अभी तक हमने जो समाज निर्मित किया है वह तो प्रेम का समाज नहीं है। तीन हजार वर्षों में पंद्रह हजार युद्ध जमीन पर हुए हैं। तीन हजार वर्षों में पंद्रह हजार युद्ध! यह कल्पना ही कितनी अप्रीतिकर है! और केवल तीन हजार वर्षों में पंद्रह हजार युद्ध अकारण ही नहीं हो सकते हैं? प्रतिवर्ष पांच युद्ध हो रहे हों तो इसका क्या अर्थ है? तीन हजार वर्षों के इतिहास में केवल तीन सौ वर्ष का एक छोटा सा टुकड़ा है, जब युद्ध नहीं हुए हैं। वह भी तीन सौ वर्ष इकट्ठे नहीं-- कभी एक दिन, कभी दो दिन, कभी दस दिन, जमीन पर युद्ध बंद रहा है। ऐसे सब मिला कर शांति के तीन सौ वर्ष बीते हैं।
तीन सौ वर्ष शांति और तीन हजार वर्ष युद्ध! निश्चय ही ऐसी शांति भी सच्ची नहीं हो सकती है। वह भी नाममात्र की ही शांति है। अभी भी जो शांति चलती है वह भी झूठी है। वस्तुतः जिन्हें हम शांति क्षण कहते हैं वे शांति के क्षण नहीं हैं बल्कि नये युद्ध की तैयारी के दिन हैं।
मैं तो मनुष्य के आज तक के इतिहास को दो हिस्सों में बांटता हूं-- युद्ध का काल और युद्ध की तैयारी का काल। अभी तक शांति का कोई काल हमने नहीं जाना है। और ऐसी जो मनुष्य-जाति की स्थिति है, उसमें उसके खंड-खंड में विभाजित होने का आधारभूत हाथ है। और किसने मनुष्य विभाजित किया है? ... किसने? क्या धर्मों ने नहीं? क्या आइडियालॉजी, विचारवाद, सिद्धांत और संप्रदायों ने नहीं? क्या राष्ट्रों, राष्ट्रीयताओं और सीमित बनाने वाली धारणाओं ने ही नहीं? मनुष्यता को खंड-खंड में तोड़ने वाले धर्म ही हैं। समस्त द्वंद्व और कलह के पीछे वाद हैं। फिर चाहे वे वाद धर्म के हों
या राजनीति के, वाद-विवाद पैदा करते हैं और विवाद अंततः युद्धों में ले जाते हैं। आज भी सोवियत साम्यवाद और अमरीकी लोकतंत्र, दो धर्म बन कर खंड हो गए हैं। उनकी भी लड़ाई दो धर्मों की लड़ाई हो गई है। लेकिन मैं पूछता हूं कि क्या यह नहीं हो सकता कि हम विचार के आधार पर मनुष्य के विभाजन को समाप्त कर दें? क्या यह उचित है कि विचार जैसी बहुत हवाई चीज के लिए हम मनुष्य की हत्या करें? क्या यह उचित है कि मेरा विचार और आपका विचार, मेरे हृदय और आपके हृदय को शत्रु बना दें?
लेकिन अब तक यही हुआ है। और अब तक धर्मों के या राष्ट्रों के नाम पर खड़े हुए संगठन हमारे प्रेम के संगठन नहीं हैं। बल्कि वे हमारी घृणा के संगठन हैं। और इसलिए आपको ज्ञात होगा कि घृणा का जहर जोर से फैला दिया जाए तो किसी को भी संगठित किया जा सकता है। संभवतः एडोल्फ हिटलर ने कहीं कहा है कि यदि किसी कौम को संगठित करना हो तो किसी दूसरी कौम के प्रति घृणा

पैदा कर देनी आवश्यक है। उसने यह कहा ही हो सो नहीं, उसने यह किया भी और इसे कारगर भी पाया।
पृथ्वी को विषाक्त करने वाले सारे उपद्रवी लोग इसे सदा से ही कारगर पाते रहे हैं। इस्लाम खतरे में है, ऐसा नारा देकर मुसलमानों को इकट्ठा किया जा सकता है। हिंदू धर्म खतरे में बताया जाए तो हिंदू इकट्ठे हो जाते हैं। खतरा भय पैदा करता है। और जिससे भय है उसके प्रति घृणा पैदा हो जाती है। ऐसे सारे संगठन और एकताएं भय और घृणा पर ही खड़ी होती हैं। इसलिए सारे धर्म प्रेम की बातें तो जरूर करते हैं, लेकिन चूंकि उन्हें संगठन चाहिए इसलिए अंततः वे घृणा का ही सहारा लेते हैं। और तब प्रेम कोरी बातचीत रह जाती है और घृणा उनका आधार बन जाती है।
इसीलिए जिस धर्म की मैं बात कर रहा हूं वह संगठन नहीं है। वह है साधना। वह है व्यक्ति-व्यक्ति की अनुभूति। भीड़ इकट्ठा करने से उसे प्रयोजन नहीं है। मूलतः धर्मानुभूति तो अत्यंत वैयक्तिक है। और हमारे ये सारे संगठन जिनको हम धर्म कहते हैं किसी की घृणा पर खड़े हुए हैं। और घृणा का धर्म से क्या संबंध हो सकता है? मेरे और आपके बीच जो चीज घृणा लाती है वह धर्म नहीं हो सकती है। मेरे और आपके बीच जो प्रेम लाती है वही धर्म हो सकती है।
यह स्मरण रखें कि जो चीज मनुष्य को मनुष्य से तोड़ देती है वह मनुष्य
को परमात्मा से कैसे जोड़ सकेगी? मनुष्य को मनुष्य से तोड़ देने वाली कोई बात मनुष्य को परमात्मा से जोड़ने वाली बात कभी भी नहीं बन सकती है। लेकिन जिन्हें हम धर्म कहते हैं वे हमें तोड़ देते हैं। यद्यपि वे सभी प्रेम की बातें करते हैं कि हम सबके बीच एकता, भ्रातृत्व और ब्रदरहुड हो, लेकिन हैरानी की बात है, उनकी सारी बातें, बातें ही रह जाती हैं। और वे जो भी काम करते हैं उससे घृणा फैलती है और शत्रुता फैलती है। क्रिश्चिएनिटी बातें करती है प्रेम की, लेकिन जितनी हत्या ईसाइयों ने की है उतनी हत्या शायद ही किसी ने की हो। इस्लाम शांति का धर्म है लेकिन अशांति लाने का उससे ज्यादा सफल प्रयोग किसने किया है?
शायद अच्छी बातें केवल बुरे कामों को छिपाने का मार्ग बन जाती हैं। यदि लोगों को मारना हो तो प्रेम के नाम पर मारना बहुत आसान है। अगर हिंसा करनी हो तो अहिंसा की रक्षा के लिए हिंसा करना बहुत आसान है। और अगर मुझे आपकी जान लेनी हो तो आपके ही हित में ऐसा करना आसान होगा, क्योंकि तब आप मरेंगे भी और मैं दोषी भी नहीं होऊंगा! तब आप मरेंगे भी, मारे भी जाएंगे और शिकायत भी नहीं कर सकेंगे।
कहते हैं कि मनुष्य बुद्धि वाला प्राणी है, इसलिए स्वभावतः वह हर कार्य के लिए कोई न कोई बुद्धिमत्ता का मार्ग खोज ही लेता है। संभवतः शैतान ने मनुष्य को बहुत पहले यह समझा दिया है कि अगर कोई बुरा काम करना हो तो नारा अच्छा चुनना। जितना बुरा काम हो उतना अच्छा नारा होना चाहिए तो बुरा काम छिप जाता है। यह जो धर्मों के नाम पर संगठन हैं, न तो उनका परमात्मा से कोई संबंध है और न प्रेम से, न प्रार्थना से, न धर्म से। हमारे भीतर वह जो घृणा है, ईर्ष्या है, सब उसी का संगठन है। अन्यथा यह कैसे हो सकता है कि मस्जिदें तोड़ी जाएं, मंदिर जलाए जाएं, मूर्तियां तोड़ी जाएं, और आदमी मारा जाए? यह सब कैसे हो सकता है? लेकिन यह हुआ है, होता है और हो रहा है! यह सब धर्म है तो मैं पूछता हूं कि फिर अधर्म क्या है?
सांप्रदायिक चित्तता धर्म नहीं है। वह तो अधर्म का ही प्रच्छन्न रूप है।
इसलिए धार्मिक शिक्षा के लिए पहली शर्त है धर्म की संप्रदायों से पूर्ण मुक्ति। लेकिन तथाकथित धार्मिक लोग बच्चों को जो कुछ पिलाना चाहते हैं, वह धर्म की आड़ में सांप्रदायिक विष ही है। और ऐसा वे क्यों करना चाहते हैं? धर्म में उनकी इतनी उत्सुकता क्यों है? क्या वस्तुतः वे धर्म में उत्सुक हैं? नहीं, बिल्कुल नहीं, धर्म में नहीं... उनकी उत्सुकता "उनके" धर्म में है। और यह उत्सुकता ही अधार्मिक है। क्योंकि धर्म जहां "मेरा" और "तेरा" है वहीं वह धर्म नहीं है। धर्म तो वहां है जहां न "मेरा" है न "तेरा" है। वहीं वह प्रारंभ है जो कि परमात्मा का है।

धार्मिक कहे जाने वाले लोगों का धर्म की शिक्षा में, उत्सुकता में, कुछ और ही स्वार्थ है। उस स्वार्थ की गहरी और पुरानी जड़ें हैं। उन पर ही बहुत प्रकार का शोषण निर्भर है। क्योंकि यदि नई पीढ़ियां उन घेरों के बाहर हो गईं जिनमें कि अब तब मनुष्य को कैद रखा गया है। तो समाज के जीवन में एक आमूल क्रांति संभावित है। उस क्रांति के चतुर्मुखी परिणाम होंगे। उसमें सभी प्रकार के न्यस्त स्वार्थों को चोट पहुंचेगी और जो केवल मनुष्य को मनुष्य से लड़ा कर जीते हैं, उनकी तो आजीविका ही छिन जाएगी। और वे सारे लोग भी बेकार हो जाएंगे जिन्होंने कि धर्मों के जाल को ही अपना व्यवसाय बनाया हुआ है। फिर वर्गीय शोषण और स्वार्थ भी असुरक्षित हो जाएंगे क्योंकि तथाकथित धर्मों ने अनेक रूपों में उन्हें सुरक्षा दी है।
धर्म-शिक्षा की आड़ में पुरानी पीढ़ी अपने अज्ञान, अपने अंधविश्वास, अपनी जड़ता, अपने रोग और शत्रुताएं, सभी नई पीढ़ियों को दे जाना चाहती है। ऐसे उसके अहंकार की तृप्ति होती है। यही अहंकार रुग्ण घेरों से मनुष्य को मुक्त नहीं होने देता है। विकास के मार्ग में इससे बड़ी और कोई बाधा नहीं है। क्योंकि विकास तो वहीं है जहां विद्रोह है। और विद्रोह को पुरानी पीढ़ी का अहंकार स्वीकार नहीं कर पाता है, वह तो चाहता है--विश्वास, आज्ञानुपालन और अनुशासन। इसी में वह नई पीढ़ी को दीक्षित करता है। और उसके भीतर से उन सभी संभावनाओं को नष्ट कर देना चाहता है जो कि उसे, पुराने के त्याग और नये के अनुसंधान में प्रवृत्त कर सकती है। लेकिन यह भ्रूण हत्या अत्यंत ही अप्रकट और परोक्ष रूप से की जाती है। शायद करने वाले भी उसकी संपूर्णता से परिचित नहीं होते हैं। यह एक अचेतन प्रक्रिया ही है, क्योंकि उनके पिता और गुरु की पीढ़ी ने भी उनके साथ यही किया था। और अनजाने ही वे भी अपने बेटों और शिष्यों के साथ यही करते रहते हैं। यह दुष्चक्र बहुत पुराना है। लेकिन इसे तोड़ना है, क्योंकि यही जीवन को धर्म के सत्य से संयुक्त नहीं होने दे रहा है। इस दुष्चक्र का केंद्र क्या है? केंद्र है-- विचार के जागरण के पूर्व ही विश्वास के बीज नन्हे बच्चों में डाल देना, क्योंकि विश्वासी चित्त फिर विचार करने में असमर्थ हो जाता है।
विश्वास और विचार की दिशाएं विरोधी हैं। विश्वास है अंधापन, और विचार
है स्वयं की आंखों को पा लेना। बच्चों को विश्वास के अंधेपन से भर कर उनकी स्वयं की आंखों से उन्हें सदा के लिए वंचित किया जाता रहा है। और इस अमंगलकारी कृत्य के लिए ही तथाकथित धार्मिक लोग धर्म की शिक्षा दिलाने के लिए इतने उत्सुक हैं। यह उत्सुकता शुभ नहीं है। वस्तुतः तो विचार की हत्या से बड़ा कोई पाप नहीं है। लेकिन बच्चों के साथ मां-बाप निरंतर ही यह पाप करते रहे हैं और यही वह आधारभूत कारण है, जिसके कारण कि धर्म का जन्म नहीं हो पाया है।
विश्वास नहीं, सिखाना है विचार। श्रद्धा नहीं, सिखाना है सम्यक तर्क।
और तब धर्म एक अंधविश्वास नहीं वरन बन जाता है परम विज्ञान, और ऐसे विज्ञान से ही शिक्षा का संबंध शुभ हो सकता है। अंधविश्वासों से नहीं, वरन विचार और विवेक की कसौटी पर कसे हुए वैज्ञानिक सत्यों से ही मनुष्य का मंगल हो सकता है।
क्या आपको यह ज्ञात नहीं है कि विश्वास के अंधेरे में जीने वाले लोग धीरे-धीरे विचार के आलोक में आने में असमर्थ ही हो जाते हैं? फिर उनकी आंखें अंधेरे के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देख पाती हैं। और स्वयं को कहीं अंधा न मानना पड़े इसलिए वे अपने बच्चों को भी अंधेरे में ही दीक्षित कर देते हैं। ऐसे स्वयं को ही ठीक मानने की सुविधा उन्हें हो जाती है। और जब कभी कोई बच्चा किसी भांति उनके सामूहिक षडयंत्र से स्वयं की आंखों को बचाने में समर्थ हो जाता है तो सर्वविदित ही है कि वे उसके साथ क्या करते हैं? ... वही जो वे सुकरात के साथ करते हैं, या क्राइस्ट के साथ करते हैं! इसलिए, धर्म की शिक्षा के संबंध में सोचते हुए यह ध्यान में रखना अति आवश्यक है कि कहीं हम आलोक के नाम पर अंधेरे की ही दीक्षा तो नहीं दे रहे हैं? स्मरण रहे कि आंखें देने के नाम पर आज तक आंखें फोड़ी ही जाती रही हैं। विश्वास-मात्र अज्ञान है। और विश्वास-मात्र अंधकार है।

इसलिए बच्चों को विश्वासों से बचाना है। और यह बचाव तभी हो सकता है जब
कि उनमें विचार की तीव्र क्षमता हो। इसलिए उनमें विचार की शक्ति जाग्रत करें, उन्हें विचार करना सिखाएं--विचार न दें, विचार की शक्ति दें। क्योंकि विचार देना तो विश्वास देना ही है। विचार तो आपके हैं लेकिन विचार की शक्ति उनकी स्वयं की है, वह शक्ति ही विकसित करनी है। उसका पूर्णतम विकास ही उन्हें जीवन के सत्य के उदघाटन में समर्थ बनाता है। विचार मार्ग है। विश्वास भटकाव है।
इसीलिए मैं कहता हूं, जो कहीं भी विश्वास से बंधा है वह सोच नहीं सकता है। जो हिंदू है, वह नहीं सोच सकता है। जो जैन है, वह नहीं सोच सकता है। जो कम्युनिस्ट है, वह नहीं सोच सकता है। उसका विश्वास ही उसका बंधन है। चूंकि सोचने में विश्वास टूट भी सकता है इसलिए विश्वासी न सोचने को ही वरण कर लेता है। वह उसका सुरक्षा-कवच बन जाता है, लेकिन वह सुरक्षा-कवच वस्तुतः तो आत्महत्या ही है।
क्या विश्वास, विचार की हत्या नहीं है?
लेकिन यह हत्या जाने-अनजाने की जाती रही है। हिंदू बाप अपने बच्चे को हिंदू बनाना चाहता है, मुसलमान बाप मुसलमान। और यह भी तब जब कि बच्चा छोटा है और स्वयं सोचने-समझने में असहाय है। यह दुष्कार्य इसी समय ही किया भी जा सकता है, बाद में फिर यह करना अति कठिन है। जहां विचार और तर्क का जन्म हो चुका फिर आंखों में धूल नहीं झोंकी जा सकती है। तर्क की शक्ति व्यक्ति की आत्मरक्षा बन जाती है। इसलिए तथाकथित धार्मिक व्यक्ति तर्क के विरोध में हो तो कोई आश्चर्य नहीं है! वस्तुतः तो वे बुद्धि मात्र के विरोध में हैं।
क्योंकि जहां बुद्धि है, विचार है, तर्क है, वहां विद्रोह है--विद्रोह यानी जीवन के नये रास्तों की खोज; विद्रोह यानी ज्ञात से अज्ञात की यात्रा; विद्रोह यानी उन सीमा-रेखाओं का अतिक्रमण जहां कि प्रत्येक पुरानी पीढ़ी नई को छोड़ जाती है।
मेरे देखे तो विद्रोह की क्षमता धार्मिक चित्त की आत्मा है। क्योंकि धर्म से बड़ी कोई और क्रांति नहीं है। धर्म तो जीवन का आमूल परिवर्तन है। वह तो जड़-मूल से रूपांतरण है। इसलिए धर्म की शिक्षा अबुद्धि और अंधेपन की शिक्षा नहीं हो सकती है। वह तो गहरे से गहरी विचारणा की शिक्षा है। वह तो तीव्रतम तर्क है। वह तो ज्वलंत बुद्धिमत्ता है। और इसलिए अबोध बच्चों को बुद्धि-विरोधी मान्यताओं और धारणाओं से नहीं बांधना है। बल्कि उनकी बुद्धि को इतनी तीव्रता और गहराई देनी है कि वे सदा अपने विचार को जाग्रत और स्वतंत्र रख सकें और किसी भी मूल्य पर कभी उसे बेचने और बांधने को राजी न हों। ऐसी स्वतंत्र चेतनाएं ही उस द्वार को खोल पाती हैं जो कि सत्य का है।
स्वतंत्रता ही तो वस्तुतः सत्य का द्वार है।
इसलिए बच्चों को स्वतंत्रता दें, स्वतंत्रता का सम्मान उनके मन में जगाएं और परतंत्रता के प्रति--मन और चेतना की सभी प्रकार की दासताओं के प्रति उन्हें सचेत और सावधान करें। धर्म की शिक्षा, वास्तविक धर्म की शिक्षा यही हो सकती है।
लेकिन धर्मों की शिक्षा ऐसी नहीं है। वह तो ठीक इसके विपरीत है। वह तो दासता का ही प्रशिक्षण है। क्योंकि वह विचार की नहीं, विश्वास की पोषक है। वह आंखों की नहीं, अंधेपन की ही समर्थक है। क्योंकि वह आत्मचेतना पर नहीं, वरन परानुगमन पर ही आधृत है।
धर्मों को विचार से इतना भय क्यों है? निश्चय ही वह भय अकारण नहीं है।
उसके लिए बहुत ठोस कारण हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण तो यही है कि यदि विचार जाग्रत और सक्रिय हों तो बहुत दिनों तक बहुत धर्म नहीं रह सकते हैं।
धर्म तो बचेगा लेकिन धर्मों का अस्तित्व खतरे में पड़ जाना सुनिश्चित है।
क्योंकि विचार भी सहज प्रवृत्ति सार्वलौकिक, यूनिवर्सल सत्य की ओर है।
जैसे नदियां सागर की ओर बहती हैं ऐसे ही विचार भी सार्वलौकिकता की ओर प्रवाहित होता है। विचार के निष्पक्ष अन्वेषण में जो सत्य है अंततः वही शेष रह जाता है। और सत्य अनेक नहीं हो सकते हैं, सत्य तो सदा एक है।

विज्ञान ने विचार का अनुसरण किया, इसीलिए हिंदू का और ईसाई का गणित अलग-अलग नहीं है। नहीं तो विश्वास के आधार पर तो उनके एक होने की कोई संभावना ही नहीं थी। विश्वास के डबरे बहना बंद कर देते हैं। वे अपने आप में बंद हो जाते हैं। सागर की ओर उनकी गति न होने से वे कभी एक तक नहीं पहुंच पाते हैं। स्वयं में बंद होने से ही वे अनेक हो जाते हैं।
विचार है प्रवाह। विश्वास है कुंठा।
विचार निरंतर ही स्वयं का अतिक्रमण है। विश्वास है स्वयं में बंद होना। इसलिए विचार कहीं से भी प्रारंभ हो अंततः केंद्रीय और आत्यंतिक सत्य तक ले जाता है। और विश्वास सदा ही वहां तक पहुंचने से रोक लेता है। मैंने सुना है कि जैन-भूगोल जैसी चीजों का भी अस्तित्व रहा है, और धर्मों में ऐसी हास्यापद बातें रही हैं। क्या भूगोल भी अलग-अलग हो सकते हैं? जी हां, हो सकते हैं, यदि विश्वास उनका आधार हो। विचार जहां नहीं है, वहां है कल्पना, अनुसरण, अंधविश्वास। और ये तो प्रत्येक व्यक्ति के अलग-अलग हो सकते हैं। सत्य तो एक है लेकिन स्वप्न तो प्रत्येक के अलग-अलग ही होते हैं। यदि दो व्यक्ति चाहें भी तो भी एक ही स्वप्न को साथ-साथ नहीं देख सकते हैं।
सत्य सदा ही सार्वजनीन है क्योंकि वह स्वयं में है। वह किसी की कल्पना, स्वप्न या अनुमान नहीं है। उसे पाने के लिए व्यक्ति के पास पात्रता चाहिए। उसे देख पाने के लिए खुली और स्वस्थ आंखें चाहिए। और विचार की पूर्णता पर, विवेक के प्रकाश में ही ऐसी आंखें उपलब्ध होती हैं। इसलिए मैं बार-बार कह रहा हूं कि बच्चों को सत्य देना है, तो विचार दो। विश्वास से मुक्त करो और विवेक दो। विचार की जाग्रत ऊर्जा ही बनेगी उनकी पात्रता, वही बनेगी उनका दर्शन। वही उन्हें ले जाएगी सत्य के उस सागर तक जो कि एक है और अद्वय है।
क्या आपको ज्ञात है कि अरस्तू जैसे व्यक्ति ने भी लिखा है कि स्त्रियों के दांत पुरुषों से कम होते हैं? यह वह कैसे लिख सका? क्या कोई स्त्री उसे उपलब्ध न थी कि वह उसके दांत गिन सकता? स्त्रियों की क्या कमी है, लेकिन उसने तो बस प्रचलित धारणा पर विश्वास कर लिया और तब खोज का प्रश्न ही न रहा। ऐसे उसकी एक नहीं दो-दो पत्नियां थीं। और नंबर एक या नंबर दो श्रीमती अरस्तू से वह मुंह खोलने को कह सकता था और दांत गिन सकता था। लेकिन नहीं, उसने संदेह ही नहीं किया तो विचार कैसे करता? और पुरुषों की इस अंधी धारणा को चुपचाप मान लिया कि स्त्रियों के दांत पुरुषों से कम होते हैं। असल में पुरुषों का अहंकार यह बात मानने को कभी राजी ही नहीं रहा है कि स्त्रियां किसी भी बात में उसके बराबर हो सकती हैं। फिर चाहे यह सवाल दांतों का ही क्यों न हो! और जब अरस्तू ने ही संदेह न किया तो और कौन संदेह करता? जब कि संदेह समस्त खोज का प्रारंभ है।
सम्यक संदेह सत्य की खोज में सिखाई जाने वाली पहली सीढ़ी है। धर्म की शिक्षा का शुभारंभ इससे ही होना चाहिए। श्रद्धा नहीं, संदेह ही धर्म का वास्तविक आधार है। संदेह आरंभ है, श्रद्धा तो अंत है। संदेह खोज है, श्रद्धा तो प्राप्ति है। इसलिए जो संदेह से प्रारंभ करता है, वह तो कभी न कभी श्रद्धा पर पहुंच ही जाता है। लेकिन जो श्रद्धा से प्रारंभ करता है वह तो कभी भी कहीं नहीं पहुंचता है। उसके पहुंचने का सवाल भी नहीं है क्योंकि उसने तो बैलों के आगे गाड़ी बांध रखी है। प्रारंभ ही से प्रारंभ संभव है। अंत आरंभ कैसे बन सकता है?
जहां संदेह नहीं है, वहां विचार नहीं है। जहां विचार नहीं है, वहां विवेक नहीं है। और जहां विवेक नहीं है, वहां सत्य नहीं है।
धर्मों ने सिखाया है विश्वास करो, संदेह नहीं। खोजो नहीं, मानो। लेकिन धर्म सिखाएगा संदेह करो, विचार करो और खोजो। क्योंकि ऐसी स्वयं की खोज से ही जो पाया जाता है, वही स्वयं को बदलता है और वही सत्य है।
सत्य एक खोज है... सतत खोज! वह अत्यंत जागरूक अन्वेषण है। सत्य कोई अन्य किसी को नहीं दे सकता है, उसे तो स्वयं ही पाना होता है। सत्य उधार नहीं मिल सकता है, वह तो स्वयं का साकार हुआ श्रम ही है। और ऐसे सत्य की खोज की तैयारी ही धर्म की शिक्षा है।

इसलिए, जब तक धर्म का संबंध विश्वास से है तब तक धर्म की कोई शिक्षा नहीं हो सकती है। और धर्म का नाम भले लिया जाए, वह हिंदू की शिक्षा होगी या मुसलमान की या ईसाई की। ऐसी शिक्षा धार्मिक नहीं है, क्योंकि इस तरह के शिक्षित व्यक्ति संकीर्ण हो जाते हैं। इस भांति हृदय विराट नहीं बनते हैं। और इस तरह से शिक्षित व्यक्ति पक्षपातों से भर जाता है। और विवेक उसका मुक्त नहीं होता बल्कि मृत होता है। वह चित्त से बूढ़ा हो जाता है, जब कि किसी भी खोज के लिए चित्त युवा और ताजा चाहिए। और युवा तो वही है जो पक्षपातों से मुक्त है। और युवा तो वही है जो कि अपनी चेतना को संस्कारों की कारा में बंधने से बचा सका है। संस्कारित चित्त बूढ़ा हो जाता है, वह जितना संस्कारित होता है, उतना ही जड़ हो जाता है।
संस्कार धर्म नहीं है। संस्कार-मात्र से मुक्त और अतीत चेतना ही धर्म में प्रवेश करती है। धर्म तो स्वभाव है। धर्म तो स्वरूप है। और संस्कार आते हैं बाहर से, वे बाह्य हैं। जैसे धूल दर्पण को ढांक लेती है, ऐसे ही वे भी चेतना को ढांक लेते हैं। चेतना के दर्पण को धर्म के नाम पर परंपराओं, संस्कारों, रूढ़ियों, मान्यताओं और आदर्शों से ढांक नहीं देना है, वरन उसे मुक्त होना सिखाना है। धर्म की वास्तविक शिक्षा, साधना और मुक्ति की ऐसी दिशा में ही अग्रसर करती है।
चित्त को समस्त ग्रंथियों से मुक्ति की ओर ले जाने वाला उपाय धर्म ही है। लेकिन बाजार में जो धर्म बिकता है वह यह नहीं कर सकता है। और इसलिए इसके पूर्व कि शिक्षा में धर्म आए, धर्म को पुराने वस्त्र और आवास छोड़ देने होंगे। वह एक नई आत्मा लेकर ही नई पीढ़ियों की आत्मा बन सकता है। धर्म को जीवन में लाना है, जरूर ही लाना है। उसके बिना जीवन अत्यंत पंगु, अधूरा और असंतुलित है।
बाह्य के संबंध में ही हम चिंतन करेंगे तो आंतरिक रिक्त रह ही जाएगा।
और केवल पदार्थ पर ही हमारी दृष्टि रही तो परमात्मा से हम वंचित रह ही जाएंगे और यह सौदा बहुत महंगा है, यह कौड़ियों के लिए हीरों को खो देना है। बाह्य, आंतरिक के समक्ष क्या है? जगत की संपदा उस संपदा के समक्ष क्या है, जो कि परमात्मा की है? उसे तो जानना ही है जो कि समस्त का केंद्र और प्राण है और उसकी खोज को केंद्रीय भी बनाना है। क्योंकि केंद्र की खोज को केंद्रीय बनाए बिना कभी पूरा नहीं किया जा सकता है।
इसलिए मैं तो धर्म को शिक्षा से मात्र संबंधित ही नहीं देखना चाहता हूं, क्योंकि वह अपर्याप्त है। मैं तो धर्म को शिक्षा का केंद्र बना हुआ देखना चाहता हूं। क्योंकि जो जीवन का केंद्र है, वह शिक्षा का केंद्र भी हो यह अत्यंत आवश्यक है। दृश्य पर ही जीवन समाप्त नहीं है। वस्तुतः तो, अदृश्य ही आधार है। उससे परिचित हुए बिना जीवन में न तो अर्थ होता है, न अभिप्राय। और जहां अर्थ ही नहीं है, वहां आनंद कहां? आनंद तो अर्थवत्ता की उपलब्धि में ही है।
विज्ञान उपयोगिता की खोज है, धर्म अर्थ की। विज्ञान अधूरा है और धर्म
भी अधूरा है। उन दोनों के संतुलन और समन्वय में ही मंगल है और पूर्णता है। एक जगत मनुष्य के बाहर है। लेकिन वही सब कुछ नहीं है। एक जगत भीतर भी है। और बाहर की खोज भीतर के लिए ही है। बाहर की खोज में भीतर को नहीं भूल जाना है। क्योंकि तब शक्ति तो आती है, लेकिन शांति नहीं। और संपदा तो मिलती है लेकिन आत्मा खो जाती है। और आत्मा को खोकर सारे जगत को पा लेने का भी क्या मूल्य है? वह तो जीत कर भी हार जाना है।
एक फकीर स्त्री थी, राबिया। एक दिन सुबह-सुबह ही उसके एक मित्र ने उससे कहाः राबिया बाहर आओ। बहुत सुंदर सूरज उग रहा है, बड़ी सुंदर सुबह है। आओ... बाहर आओ! राबिया ने उत्तर में कहाः मेरे मित्र तुम्हें आमंत्रण देती हूं कि तुम्हीं भीतर आ जाओ। क्योंकि तुम जिस सूरज को देख रहे हो और जिस सुबह को, मैं उसके बनाने वाले को भीतर देख रही हूं। क्या यह अच्छा न होगा कि तुम्हीं भीतर आ जाओ? मैंने तो बाहर का सौंदर्य भलीभांति देखा है लेकिन तुम शायद उससे अपरिचित ही हो, जो कि भीतर है।
एक बाहर की दुनिया है। निश्चित ही बहुत सुंदर है वह। और वे लोग नासमझ हैं जो बाहर की दुनिया के विरोध में मनुष्य को खड़ा करना चाहते हैं। बहुत

सुंदर है बाहर की दुनिया। और वे लोग मनुष्य के मंगल के विरोध में हैं जो कि उस दुनिया की निंदा करते हैं। वह सच में ही बहुत सुंदर है। वह तो सुंदर है, लेकिन एक और बड़ी दुनिया भी भीतर है और उसके सौंदर्य की कोई सीमा ही नहीं है। और बाहर की दुनिया पर ही जो रुक जाता है वह अधूरे पर ही रुक जाता है। उससे बहुत जल्दी ही पड़ाव डाल लिया है। वह मार्ग को ही मंजिल समझ गया है। वह द्वार को ही महल समझ गया है और सीढ़ियों पर रुक गया है। उसे जगाना है, उसे चेताना है। उसकी आंखें उस ओर उठानी हैं जहां कि मंजिल है। और फिर तो वह स्वयं ही चल पड़ेगा। बच्चों को मंजिल का यह बोध सदा बना रहे और वे बीच में ही न ठहर जाएं, यही धर्म-शिक्षा का लक्ष्य है।
यह जानना जरूरी है कि विज्ञान जो बाहर है, केवल उसकी ही खोज है। और अकेली बाहर की खोज अधूरी है। भीतर की खोज से शिक्षा जरूर ही संबंधित होनी चाहिए। लेकिन जिन धर्मों को हम जानते हैं उनकी खोज भी भीतर की खोज नहीं है। वे बातें तो आंतरिक की करते हैं, लेकिन वे बातें एकदम झूठी मालूम पड़ती हैं। क्योंकि उनके मंदिर भी बाहर ही बनते हैं, और उनकी मस्जिदें भी बाहर ही बनती हैं, और उनकी मूर्तियां भी बाहर ही खड़ी होती हैं। उनके शास्त्र भी बाहर हैं, और उनके सिद्धांत भी बाहर हैं और इन बाहर की चीजों पर वे लड़ते भी देखे जाते हैं। उनका आग्रह भी बाहर पर ही है और इसलिए वे भी मनुष्य को भीतर नहीं ले जाते हैं।
एक नीग्रो एक चर्च के द्वार पर एक दिन सुबह-सुबह गया और उसने प्रार्थना की उस चर्च के पुरोहित से कि मुझे भीतर जाने दो। लेकिन नीग्रो, काली चमड़ी का आदमी, सफेद चमड़ी वाले लोगों के मंदिर में कैसे जा सकता था? ये जो भीतर की बातें करते हैं वे भी चमड़ी को देखते हैं कि वह काली है या गोरी। ये जो परमात्मा की बातें करते हैं वे भी देखते हैं कि आदमी ब्राह्मण है या शूद्र। उस चर्च के पादरी ने कहाः मित्र क्या करोगे मंदिर में आकर। जब तक मन शांत नहीं, शुद्ध नहीं, तब तक यहां आकर भी क्या करोगे?
जमाना बदल गया है इसलिए पुरोहित ने अपनी भाषा बदल ली। पहले भी रोकता
था वह। लेकिन पहले वह कहता था कि हट शूद्र! यहां कहां तुझे प्रवेश? लेकिन अब जमाना बदल गया है इसलिए उसे अपनी भाषा भी बदलनी पड़ी। लेकिन हृदय उसका नहीं बदला है। रोकता है वह अब भी। उसने यह नहीं कहा कि तू शूद्र है, अपवित्र है, यहां से हट। उसने कहा कि मित्र, क्या करोगे यहां आकर? जब तक मन ही शांत नहीं, शुद्ध नहीं, तो परमात्मा को कैसे जानेगा? इसलिए, जा और पहले मन को पवित्र कर! यह बात उसने नीग्रो से कही।
लेकिन सफेद चमड़ी के लोग जो आते थे उनमें से किसी को उसने यह कहीं कहा था। जैसे उन सबों के मन शांत ही थे। वह सीधा-सादा नीग्रो वापस चला गया। पुरोहित हंसा होगा, अपने मन में। सोचा होगा, उससे न होगा मन पवित्र, न आएगा दुबारा यहां। और सच ही वह दुबारा नहीं आया लेकिन इसलिए नहीं कि उसका मन शांत न हो सका बल्कि इसलिए कि उसका मन शांत हो गया था।
दिन आए और गए। वर्ष बीतने को आ गया था। तब एक दिन वह नीग्रो चर्च के पास से पुरोहित को गुजरता हुआ दिखाई पड़ा। वह तो आदमी जैसे दूसरा ही हो गया था। उसकी आंखों में अलौकिक आलोक आ गया था और उसके आस-पास जैसे शांति और संगीत का प्रभामंडल बन गया था। पुरोहित ने सोचा कि शायद वह चर्च में आ रहा है। और वह डरा भी। लेकिन नहीं, उसका भय निराधार था। उसने तो चर्च की ओर आंख उठा कर भी नहीं देखा था और वह आगे निकल गया था। तब पुरोहित दौड़ा और उसे रोक कर उसने पूछाः मित्र, फिर तुम दिखाई नहीं पड़े? वह नीग्रो हंसने लगा और बोला, मेरे मित्र और मार्गदर्शक, तुम्हें बहुत-बहुत धन्यवाद! तुम्हारी सलाह मान मैंने यह पूरा वर्ष बिताया है। मैं प्रतीक्षा में था कि मन शांत हो तो मैं दुबारा तुम्हारे द्वार पर जाऊं। लेकिन बीती रात्रि स्वप्न में मुझे स्वयं प्रभु दिखाई पड़े और कहने लगे, पागल! उस चर्च में किसलिए जाना चाहता है? ... मुझसे मिलने! तो मैं तुझे बताए देता हूं कि दस साल से मैं स्वयं ही उस चर्च में प्रवेश की कोशिश कर रहा हूं लेकिन वह पादरी मुझे भीतर घुसने ही नहीं देता है। और जहां मैं नहीं जा सका हूं वहां तू जा सकेगा, यह असंभव है!

और मैं आपसे कहता हूं कि उस मंदिर में ही नहीं, परमात्मा किसी भी मंदिर में कभी प्रवेश नहीं पा सका है। क्योंकि आदमी के बनाए हुए मंदिर आदमी से बड़े नहीं हो सके हैं। वे मंदिर इतने छोटे हैं कि परमात्मा के लिए उनमें अवकाश ही नहीं है। वस्तुतः जिनके मन ही मंदिर नहीं है, उनके बनाए सब मंदिर व्यर्थ हैं। वस्तुतः तो जिन्होंने उसे भीतर ही नहीं पा लिया है, वे उसे बाहर कभी भी नहीं पा सकते हैं।
वह सबसे पहले उदघाटित होता है स्वयं में, और फिर सर्व में। स्वयं के अतिरिक्त सर्व के लिए न कोई मार्ग है, न सेतु है। स्वयं ही है स्वयं के सर्वाधिक निकट। इसीलिए दूर खोजने के पूर्व वहीं खोज लेना आवश्यक है। और जो उसे निकट में ही नहीं पाता है, वह उसे दूर में कैसे पा सकेगा? इसलिए मंदिरों में नहीं, मन में ही वह जाना गया है और जाना जाता है।
इसलिए मंदिर और मस्जिद तो शिक्षा से नहीं ज.ुड सकते हैं, न जुड़ने ही चाहिए। वैसा आग्रह ही बाहर का आग्रह है। और बाहर के समस्त आग्रह भीतर जाने में बाधा बनते हैं।
मैं सुनता हूं विद्यापीठों में मंदिरों के बनाए जाने की बातें तो मुझे हंसी आती है। क्या मनुष्य इतिहास से कोई भी सबक नहीं सीखता है? मंदिर, मस्जिद वाले धर्मों ने क्या किया है और क्या नहीं किया है, क्या हमें यह ज्ञात नहीं है?
नहीं, धर्म के बाह्य क्रियाकांडों की जरा भी जरूरत नहीं है। वे व्यर्थ ही होते तो भी चल सकता था। वे तो अनर्थ भी हैं। धर्म बाह्य में नहीं है। इसलिए बाह्य की किसी भी भांति की प्रतिष्ठा अधर्म है।
यह सत्य दो और दो चार जैसा बिल्कुल स्पष्ट हो जाना अत्यंत आवश्यक है। परमात्मा का भी मंदिर है, लेकिन वह ईंट-पत्थरों से नहीं बनता है। और ईंट-पत्थरों से जो बनता है, वह हिंदू का हो सकता है, या ईसाई का या जैन का, या बौद्ध का, लेकिन परमात्मा का नहीं। जो "किसी का" है वह इस कारण ही "उसका" नहीं है। उसके मंदिर की कोई सीमा नहीं हो सकती है क्योंकि वह असीम है। और उसके मंदिर का कोई विशेषण नहीं हो सकता है क्योंकि वह सर्व है।
निश्चय ही ऐसा मंदिर चेतना का ही हो सकता है। वह मंदिर आकाश में नहीं, आत्मा में है। और उसे बनाना भी नहीं है। वह तो है, सदा से है। बस, उसे उघाड़ना ही है।
इसलिए, शिक्षा से संबंधित धर्म, मंदिर-मस्जिद बनाने वाला धर्म नहीं
हो सकता है। वह तो होगा स्वयं में छिपे मंदिर के उदघाटन का धर्म। अंतस में जो है उसे ही जानना है। क्योंकि उसका जानना ही जीवन में एक आमूल क्रांति बन जाती है।
सत्य को जानना ही जीवन का रूपांतरण है।
सत्य का, अंतस के सत्य का या परमात्मा का उदघाटन न करने वाली शिक्षा एकदम अधूरी और घातक है। आज तक की शिक्षा की असफलता का कारण भी यही अधूरापन है। जिस युवक को हम अभी विश्वविद्यालयों के बाहर भेजते हैं वह बिल्कुल ही अधूरा होता है। उसे जीवन में जो केंद्रीय है, उसका कोई पता ही नहीं होता है। जीवन में जो भी सत्य है, शिव है, सुंदर है, उससे उसकी कोई भी पहचान नहीं होती है। वह केवल क्षुद्र को ही सीख कर आता है और उसमें ही जीता है। निश्चय ही ऐसा जीना आनंद नहीं लाता है और क्रमशः एक अर्थहीनता और रिक्तता और व्यर्थता चित्त को घेरने लगती है। जीवन की धारा इस व्यर्थता के मरुस्थल में खो जाती है और परिणाम में पीछे एक अंधा क्रोध सबके प्रति छूट जाता है। इस क्रोध को ही मैं अधार्मिक मन का परिणाम कहता हूं। धार्मिक मन का फल है, धन्यता और धन्यवाद का भाव। वह समस्त के प्रति कृतज्ञता है। लेकिन वह तो तभी हो सकता है जब जीवन आनंद को पा सके और पूर्णता को। और यह पूर्णता और यह आनंद स्वयं को जाने और पाए बिना असंभव है।
इसलिए, सम्यक शिक्षा धर्मविहीन नहीं हो सकती है। क्योंकि जीवन का आधार जो चेतना है, जो अंतःकरण है, जो आत्मा है, उसे जानना, उससे परिचित होना, जीवन को उसकी पूर्णता तक ले जाने के लिए अपरिहार्य है।
धर्म क्या है?
मनुष्य के अंतःकरण की शिक्षा ही तो धर्म है।

फिर हम क्या सिखाएं? क्या हम धर्मशास्त्र पढ़ाएं? धर्म-सिद्धांत सिखाएं? क्या हम बच्चों को बताएं कि ईश्वर है, आत्मा है, स्वर्ग है, नरक है, मोक्ष है?
नहीं, बिल्कुल नहीं। ऐसी कोई भी शिक्षा धर्म की शिक्षा नहीं है। ऐसी शिक्षा भी मनुष्य को भीतर नहीं ले जाती है। ऐसी शिक्षा भी मनुष्य का पक्षपात ही बन जाती है। ऐसी शिक्षा भी शब्दों-मात्र की सिखावन है। और इससे उस झूठे ज्ञान का जन्म होता है जो कि अज्ञान से भी ज्यादा खतरनाक है। ज्ञान तो केवल वही है जो कि स्वानुभूति से आता है। दूसरों से सीखा ज्ञान, ज्ञान नहीं है। सीखा हुआ ज्ञान, ज्ञान का भ्रम है। और यह भ्रम अज्ञान को छिपा देता है और ज्ञान की खोज बंद हो जाती है। अज्ञान का स्पष्ट बोध शुभ है क्योंकि वह ज्ञान की खोज में ले जाता है। और सीखे हुए ज्ञान को ज्ञान जान लेना बहुत खतरनाक है। क्योंकि उससे मिली तृप्ति पैरों को बांध लेती है और आगे की यात्रा अवरुद्ध हो जाती है।
मैं एक अनाथालय में गया था। वहां कोई सौ बच्चे थे। व्यवस्थापकों ने मुझसे कहा कि हम यहां धर्म की शिक्षा भी देते हैं। और फिर उन्होंने बच्चों से प्रश्न भी पूछे। पूछा गया, ईश्वर है?--तो उन छोटे-छोटे बच्चों ने हाथ उठा कर हिलाए और कहाः ईश्वर है!--पूछा गया, ईश्वर कहां है?--तो उन्होंने आकाश की ओर इशारे किए! और आत्मा कहां है?--तो उन्होंने अपने हाथ अपने हृदयों पर रखे और कहाः यहां! मैं यह सब नाटक देखता था। व्यवस्थापक बड़े प्रसन्न थे। उन्होंने कहाः आप भी कुछ पूछिए! मैंने एक छोटे बच्चे से पूछाः हृदय कहां है? वह यहां-वहां देखने लगा और फिर बोलाः यह तो हमें बताया ही नहीं गया है।
धर्म की भी क्या ऐसी कोई शिक्षा हो सकती है? और सीखी हुई बातें दुहराना भी क्या जानना है? काश! बात इतनी आसान ही होती तो क्या दुनिया कभी की धार्मिक न हो गई होती?
मैंने उस अनाथालय के व्यवस्थापकों और शिक्षकों से कहा था कि आप इन बच्चों को जो सिखा रहे हैं, वह धर्म तो है ही नहीं, उलटे उसके कारण ये जीवन भर के लिए रटे-रटाए तोते बन जाएंगे। और जो व्यक्ति यांत्रिक रूप से किन्हीं बातों को दुहराना सीख जाता है, उसकी बुद्धि को सांघातिक नुकसान पहुंचता है। फिर जीवन जब भी इनके सामने प्रश्न खड़े करेगा--ऐसे प्रश्न जो इन्हें सत्य की खोज में ले जानेवाले हो सकते थे तो वे सीखे हुए उत्तर दुहरा लेंगे और चुप हो जाएंगे। आपकी सिखावन इनकी जिज्ञासा की हत्या है। ये न आत्मा को जानते हैं और न परमात्मा को। और इनके हृदय पर गए हाथ कितने झूठे हैं! और इस झूठ की शिक्षा को आप धर्म की शिक्षा कहते हैं?
फिर मैंने उनसे यह भी पूछा था कि आपका स्वयं का जानना भी तो ऐसा ही जानना नहीं है? आप भी तो कहीं सीखी हुई बातें ही नहीं दोहरा रहे हैं? और वे भी वैसे ही यहां-वहां देखते रह गए थे, जैसा कि वह छोटा सा बच्चा हृदय के संबंध में पूछने पर रह गया था। आह! पीढ़ी दर पीढ़ी हम थोथे शब्द सिखाए चले जाते हैं, और उसे ज्ञान समझते हैं। सत्य भी क्या सिखाया जा सकता है? सत्य भी क्या दुहराया जा सकता है।
पदार्थ के जगत में तो सिखाई हुई बातों का कुछ मूल्य है, क्योंकि जो बाहर है उसके संबंध में सूचनाओं से ज्यादा ज्ञान संभव नहीं है। लेकिन, परमात्मा के जगत में उनका कोई भी अर्थ और मूल्य नहीं है, क्योंकि वह जगत सूचनाओं का नहीं, अनुभूतियों का है।
अनुभूति की जा सकती है, उसमें हुआ और जिया जा सकता है, लेकिन उसे सीखा नहीं जा सकता है। उसे सीखना तो मात्र अभिनय बन जाता है। प्रेम क्या कोई सीख सकता है? और यदि कोई सीख कर करे तो वह प्रेम नहीं, बस प्रेम का अभिनय ही तो कर सकेगा। परमात्मा के संबंध में सीखी गई बातें, सिद्धांत, पूजा और प्रार्थना--सब इसलिए अभिनय बन गए हैं। जब प्रेम ही नहीं सीखा जा सकता है तो प्रार्थना कैसे सीखी जा सकती है? प्रार्थना तो प्रेम का ही गहनतम रूप है। और जब प्रेम ही नहीं सीखा जा सकता है तो परमात्मा कैसे सीखा जा सकता है? प्रेम की पूर्णता ही तो परमात्मा है।

सत्य अज्ञात है और इसलिए जो ज्ञात है--सिद्धांत, शास्त्र, शब्द उन सबसे उस तक नहीं पहुंचा जा सकता है।
अज्ञात में प्रवेश के लिए तो ज्ञात को छोड़ ही देना पड़ता है। ज्ञात से मुक्त होते ही वह सामने आ जाता है जो कि अज्ञात है। इसलिए धर्म सीखने की बजाय अन-सीखना ही ज्यादा है। वह स्मरण की बजाय विस्मरण ही ज्यादा है। चित्त पर कुछ लिखना नहीं है, वरन सब लिखा हुआ पोंछ देना है। क्योंकि चित्त जहां शब्दों से शून्य होता है, वहीं वह सत्य के लिए दर्पण बन जाता है। चित्त को सिद्धांतों का संग्रह नहीं, सत्य का दर्पण बनाना है। और तब निश्चय ही धर्म-शिक्षा का अर्थ शिक्षा कम और साधना ज्यादा हो जाता है। धर्म-साधना की तैयारी ही धर्म की शिक्षा है। धर्म की शिक्षा, और विषयों की शिक्षा जैसी नहीं है। इसलिए उसकी परीक्षा भी नहीं हो सकती है। उसकी परीक्षा तो होगी जीवन में, जीवन ही उसकी परीक्षा है।
एक गुरुकुल से तीन युवक शिक्षा लेकर वापस लौटते थे। उनकी सभी विषयों में परीक्षा ले ली गई थी। केवल "धर्म" रह गया था। और वे हैरान थे कि धर्म की परीक्षा क्यों नहीं ली गई? और अब तो परीक्षा का कोई सवाल ही नहीं था। वे उत्तीर्ण भी घोषित कर दिए गए थे। वे गुरुकुल से थोड़ी दूर ही गए होंगे कि सूर्य ढलने लगा था और अब रात्रि उतर रही थी। एक झाड़ी के पास पगडंडी पर बहुत से कांटे पड़े थे। पहला युवक छलांग लगा कर कांटों को पार कर गया। दूसरा युवक पगडंडी छोड़ किनारे से निकल कर उनके पार हो गया। लेकिन तीसरा रुक गया। और उसने कांटों को बीन कर झाड़ी में डाला और तब आगे बढ़ा। शेष दो ने उससे कहा कि यह क्या करते हो, रात बढ़ रही है और हमें शीघ्र ही वन के पार हो जाना है। वह हंसा और बोला, इसलिए इन्हें दूर करता हूं कि रात उतरने को है और हमारे बाद जो भी इस राह पर आएगा उसे कांटे दिखाई नहीं पड़ सकेंगे। वे यह यह बात करते ही थे कि उनके आचार्य झाड़ी के बाहर आ गए। वे झाड़ी में छिपे थे। और उन्होंने तीसरे को कहाः मेरे बेटे, तू जा! तू धर्म की परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो गया है। और शेष दो युवकों को लेकर वे गुरुकुल वापस लौट गए। उनकी धर्म की शिक्षा अभी पूरी नहीं हुई थी।
जीवन की क्या परीक्षा है सिवाय जीवन के? और धर्म तो जीवन ही है। इसलिए
जो मात्र परीक्षाएं पास करके समझते हैं कि वे शिक्षित हो गए, वे भूल में हैं। वस्तुतः तो जहां परीक्षाएं समाप्त होती हैं, वहीं असली शिक्षा शुरू होती है क्योंकि वहीं जीवन शुरू होता है।
फिर धर्म की शिक्षा के लिए हम क्या करें?
धर्म का बीज तो प्रत्येक में है, क्योंकि सत्य प्रत्येक में है, क्योंकि जीवन प्रत्येक में है। इस बीज के विकास के लिए अवसर जुटाने हैं और उस विकास-पथ की बाधाएं दूर करनी हैं। यह हो सके तो फिर बीज तो स्वयं अपनी शक्ति से, अपनी जीवंतता से अंकुर बन जाता है। उसे अंकुर बनाना थोड़े ही पड़ता है। और अंकुर पौधा बन जाता है। और पौधा पत्तों से, फूलों से, फलों से भर जाता है। हम सिर्फ अवसर जुटा देते हैं और फिर शेष सब अपने आप हो जाता है।
धर्म की शिक्षा क्या होगी? हां, धर्म का बीज विकसित हो सके--शिक्षालय इसके लिए अवसर अवश्य ही जुटा सकते हैं। और उस बीज के विकास-पथ की बाधाएं दूर कर सकते हैं। इस अवसर जुटाने में तीन तत्व बड़े महत्वपूर्ण हैं।
पहला तत्व तो है, साहस। व्यक्ति में अदम्य साहस चाहिए। सत्य की खोज में या परमात्मा के आरोहण में साहस अत्यंत प्राथमिक है। हिमालय चढ़ने में या प्रशांत की गहराइयों में जाने के लिए जो साहस चाहिए, परमात्मा की खोज में उससे भी बड़े और गहरे साहस की जरूरत है। क्योंकि न तो उससे ऊंचा कोई शिखर है और न उससे गहरा कोई सागर है।
लेकिन तथाकथित धार्मिक व्यक्ति साहसी नहीं होते हैं। वस्तुतः उनकी धार्मिकता उनकी भीरुता का ही आवरण होती है। उनके धर्म और उनके भगवान के पीछे उनका भय ही होता है।
और मैं कहना चाहता हूं कि भयभीत चित्त कभी धार्मिक हो ही नहीं सकता है क्योंकि अभय तो धर्म का प्राण है।

साहस आता है अभय से। इसलिए पहली बात--भय न सिखाएं, किसी भी भांति का भय
न सिखाएं। और दूसरी बात--अभय में दीक्षा दें। आह! अभय कैसी शक्ति है, अभय कैसी दीप्ति है, अभय कैसा तेज है? अभय की चट्टान पर ही तो धर्म का भवन खड़ा होता है।
लेकिन हमारे तथाकथित धर्म भय का ही शोषण करते रहे हैं और इसीलिए तो आज
तक धर्म का भवन खड़ा नहीं हो पाया है। भय की रेत पर भी कहीं भवन बने हैं? और बन भी जावें तो वे कितनी देर टिक सकते हैं?
मैं मंदिरों में, मस्जिदों में, गिरजों में जाकर देखता हूं तो पाता हूं कि वहां भय से कांपते हुए लोग इकट्ठे हैं। उनकी प्रार्थनाएं उनके भय के ही साकार रूप हैं। और जिस भगवान के सामने वे घुटने टेके खड़े होते हैं, वह उनके भीतर के भय का ही प्रक्षेपण है। इसीलिए दुख में आदमी भगवान की तरफ भागता है क्योंकि तब वह ज्यादा भयभीत होता है। बुढ़ापे में आदमी भगवान की तरफ भागता है क्योंकि तब नजदीक आती मृत्यु उसे बहुत भयभीत करती है। मंदिरों में जाकर देखिए, चर्चों में जाकर खोजिए, वहां आपको ऐसे व्यक्ति ही दिखाई पड़ेंगे जो कि या तो मर गए हैं या मरने के करीब हैं।
ऐसा भय हमें नहीं सिखाना है। सिखाना है अभय। और तभी धर्म जीवितों का धर्म हो सकता है। अभय सिखाने में भय क्या है? एक भय है कि कहीं युवक ईश्वर को ही इनकार न कर दें। यह भय इसीलिए है कि हमारा ईश्वर भय पर ही खड़ा है। किंतु ऐसे ईश्वर को अस्वीकार कर देने में बुराई क्या है? वस्तुतः तो उसे स्वीकार करना ही बुरा है।
मैं तो अभय को उस सीमा तक लाने के लिए ही उत्सुक हूं कि उस परमात्मा को
भी अस्वीकार किया जा सके जिसे कि हम नहीं जानते हैं। असत्य का अस्वीकार जहां नहीं है, वहां अभय ही नहीं है। और जहां असत्य का अस्वीकार नहीं है, वहां सत्य की खोज भी कैसे हो सकती है?
अभय से आई नास्तिकता को मैं आस्तिकता का ही दूसरा पहलू कहता हूं। ऐसी नास्तिकता सच्ची आस्तिकता की अनिवार्य सीढ़ी बनती है। जो व्यक्ति नास्तिक ही नहीं बन सकता, वह आस्तिक भी कैसे बनेगा? आस्तिकता तो नास्तिकता से बहुत कठिन है। और जो नास्तिक होने से भयभीत है, उसकी आस्तिकता भी झूठी ही होगी। वह नास्तिक न हो जाए, इसी भय से ही आस्तिक होता है। ऐसी आस्तिकता का मूल्य ही क्या हो सकता है?
मैं भय पर आधारित आस्तिकता से अभय पर प्रतिष्ठित नास्तिकता का ही आदर करता हूं। क्योंकि जहां भय है, वहां धर्म कभी भी नहीं हो सकता है और जहां अभय है, वहां धर्म का द्वार है। अभय से जन्मी नास्तिकता से गुजरना एक आनंद है, एक अनुभव है। उससे आत्मा निश्चित ही बलवान होती है। और जो नास्तिक होने के पहले ही आस्तिक हो जाता है, उसकी आस्तिकता इसीलिए झूठी होती है क्योंकि उसके भीतर का नास्तिक सदा के लिए ही भीतर छिपा रह जाता है। लेकिन जो अपने नास्तिक को जी लेता है वह उसका अतिक्रमण भी कर जाता है और उससे मुक्त भी हो जाता है।
नास्तिकता का अर्थ हैः अस्वीकार का काल। यदि समाज ईश्वर और धर्म विरोधी है, तो इसके अस्वीकार से गुजरना भी नास्तिकता है। स्वीकृत और माने हुए के अस्वीकार से गुजरना नास्तिकता है। व्यक्तित्व की प्रौढ़ता के लिए यह काल अत्यंत मूल्यवान और लाभप्रद है। जो इससे नहीं गुजरता है, वह सदा के लिए अप्रौढ़ रह जाता है। यह गुजरना साहस और अभय से ही हो सकता है।
और सबसे बड़ा साहस क्या है? सबसे बड़ा साहस है, झूठे ज्ञान को अस्वीकार करने का साहस। यदि आपको ज्ञात नहीं है कि ईश्वर है तो मानने को राजी मत होना। चाहे कोई कितना ही झुकाए, स्वर्ग जाने का प्रलोभन दे, या नर्क जाने के भय से भयभीत करे, तो भी उसे मानने को राजी मत होना जो कि आपको ज्ञात नहीं है। स्वर्ग खोने या नर्क जाने को राजी होना अच्छा है, लेकिन भयभीत होना अच्छा नहीं। और जिसमें इतना साहस होता है, वही और केवल वही सत्य को खोजने में समर्थ हो पाता है। भयभीत चित्त कर ही क्या सकता है? वह तो अपने भय के कारण ही कुछ भी मानने को राजी हो जाता है। आस्तिक समाज में वह आस्तिक हो जाता है। और सोवियत रूस में हो, तो नास्तिक हो जाता है। वह तो समाज का एक

मृत अंग ही होता है। वह जीवंत व्यक्ति नहीं होता है। क्योंकि व्यक्तित्व में जीवंतता तो केवल अभय से ही आती है।
एक व्यक्ति कल ही मुझे मिले थे। वे कहने लगे, मैं तो आत्मा की अमरता में विश्वास करता हूं। और उनके चेहरे पर सब तरह से मृत्यु का भय लिखा हुआ था! मैंने उनसे कहा, यह विश्वास कहीं मृत्यु के भय के कारण ही तो नहीं है? क्योंकि जो लोग मृत्यु से भयभीत हैं, उन्हें यह जान कर बड़ी सांत्वना मिलती है कि आत्मा अमर है। यह सुन वे कुछ परेशान हो आए और पूछने लगे थे कि क्या आत्मा अमर नहीं है? मैंने कहाः नहीं, यह सवाल नहीं है? आत्मा की अमरता, न अमरता का सवाल नहीं है। सवाल यह है कि जो मृत्यु से भयभीत है, क्या वह आत्मा को खोज या जान सकता है? सत्य की खोज के लिए अभय अत्यंत आवश्यक है। यही में आपसे भी कहना चाहता हूं। जो व्यक्ति मृत्यु से जितना भयभीत होता है, वह आत्मा की अमरता में उतना ही विश्वास करने लगता है। इस विश्वास का अनुपात और तीव्रता उतनी ही होती है जितना कि उसका भय होता है। और ऐसा व्यक्ति क्या जीवन के सत्य के प्रति आंखें खोलने को राजी हो सकता है? सत्य का मार्ग अभय के अतिरिक्त और कहीं से भी नहीं जाता है। आत्मा अमर्त्य है, यह भयभीत चित्त का विश्वास नहीं, वरन पूर्ण अभय चेतना का साक्षात्कार है। भयभीत चित्त सत्य नहीं, सुरक्षा चाहता है।
भयभीत चित्त सत्य नहीं, संतोष चाहता है।
और तब जो धारणा भी सुरक्षा और संतोष देती मालूम पड़ती है, वह उसे ही पकड़ लेता है।
और धारणाएं, कोरी मान्यताएं, अन-अनुभूत विश्वास भी क्या सुरक्षा दे सकते हैं, संतोष दे सकते हैं? सत्य के अतिरिक्त और कोई सुरक्षा नहीं है, संतोष नहीं है, शांति नहीं है। और सत्य को पाने के लिए जरूरी है कि चित्त झूठी सुरक्षाओं और संतोषों को छोड़ने का साहस कर सके। इसलिए साहस को मैं सबसे बड़ा धार्मिक गुण कहता हूं।
एक धर्मगुरु कुछ बच्चों को साहस के संबंध में समझा रहा था। बच्चों ने कहाः कोई उदाहरण दें। वह धर्मगुरु बोलाः मान लो, एक पहाड़ी सराय के एक ही कमरे में बारह बच्चे ठहरे हुए हैं। रात्रि बहुत सर्द है। और जब वे दिन भर की यात्रा के बाद थके-मांदे सोने जाते हैं, तो ग्यारह बच्चे तो कंबल ओढ़ कर अपने-अपने बिस्तर में घुस जाते हैं, लेकिन एक लड़का उस सर्द रात्रि में भी दिवसांत की अपनी प्रार्थना करने को कमरे के एक कोने में घुटने टेक कर बैठ जाता है। इसे मैं साहस कहता हूं। क्या यह साहस नहीं है? और तभी एक बच्चा उठा और उसने कहाः मान लें, एक सराय में बारह पादरी ठहरे हुए हैं। ग्यारह पादरी रात्रि में सोने के पहले घुटने टेक कर प्रार्थना करने बैठ गए हैं, लेकिन एक पादरी कंबल ओढ़ कर अपने बिस्तर में सो जाता है! क्या यह भी साहस नहीं है?
मैं नहीं जानता की उस पादरी पर फिर क्या गुजरी... या उसने क्या कह कर उन बच्चों से अपनी जान छुड़ाई। लेकिन एक बात मैं अवश्य ही जानता हूं कि स्वयं होने की शक्ति का नाम ही साहस है। भीड़ से मुक्त व्यक्ति होने की क्षमता का नाम ही साहस है।
व्यक्ति को व्यक्ति बना देना ही, उसे साहस देना है। साहस स्वयं पर विश्वास है। साहस आत्मविश्वास है। और साहस के साथ सिखाएं--विवेक, जागरूकता। धर्म-शिक्षा में वह दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है। विवेक न हो तो साहस खतरनाक भी हो सकता है। फिर वह आत्म-विश्वास न होकर विक्षिप्त अहंकार भी हो सकता है। साहस शक्ति है, विवेक आंख है। साहस चलाता है, विवेक देखता है।
सुनी है न वह अंधे और लंगड़े की कहानी। जंगल में लग गई थी आग। और एक अंधे और लंगड़े को भाग कर अपना जीवन बचाना था। अंधा भाग सकता था, लेकिन देख नहीं सकता था। और आग लगे जंगल में बिना आंखों के भागने का मृत्यु के अतिरिक्त और क्या अर्थ था? लंगड़ा देख सकता था, लेकिन भाग नहीं सकता था। और बिना पैरों के देखने वाली आंखों का मूल्य ही क्या था? और तभी उन्हें एक तरकीब सूझी और वे दोनों मृत्यु से बच सके। क्या थी उनकी तरकीब? बहुत सरल, एकदम सीधी। अंधे ने लंगड़े को अपने कंधे पर बैठा लिया था।

वह कथा अंधे और लंगड़े की नहीं, साहस और विवेक की ही कथा है। अज्ञान के अग्नि लगे जंगल से जीवन को बचाना है तो साहस के कंधों पर विवेक को बैठाना जरूरी है।
साधारणतः मनुष्य मूर्च्छित ही जीता है--जैसे वह एक नींद में हो। यह नींद स्व-विस्मरण की है। स्व-स्मरण से, स्वयं के प्रति सचेतन और जागरूक होने से वह नींद टूटती है और विवेक का जन्म होता है। स्व-स्मरण, स्वयं के प्रति सम्यक स्मृति, आत्म-बोध की दिशा में बच्चों को शिक्षित किया जा सकता है।
चेतना का तीर सामान्यतः बाहर की ओर है। वह जो स्वयं के बाहर है उसके प्रति ही केवल हम जाग्रत हैं, इस तीर को स्वयं की ओर भी किया जा सकता है। तब जिसका बोध है वही हमारी सत्ता है। और उसके बोध के साथ ही वह घटना घटित होती है, जो कि अंधेरे के निद्रित जीवन से चैतन्य के जाग्रत में ले जाती है। लेकिन धर्म के नाम पर जो प्रार्थनाएं और भजन, कीर्तिनादि चलते हैं, वे स्व-स्मरण तो नहीं, उलटे आत्म-विस्मृति लाते हैं। उनका सुख निद्रा और बेहोशी का सुख है, वे सब मानसिक मादकताएं हैं।
मैं निद्रा, बेहोशी या तंद्रा में नहीं, वरन परिपूर्ण होश और जागृति
को ही धर्म की साधना कहता हूं। इस होश के लिए विद्यापीठ भूमिका और अवसर बन सकते हैं। शरीर के तल पर, मन के तल पर और आत्मा के तल पर जागरूकता सिखाई जा सकती है। प्रत्येक कार्य को सतत होश से करने की विधि क्रमशः जीवन को चेतना से भर देती है। और प्रत्येक मानसिक प्रक्रिया के प्रति सचेत और साक्षी रहने की साधना चित्त को अपूर्व रूप से जाग्रत करने वाली है। और प्रतिपल उसका भी बोध जो कि मैं हूं, अंत में आत्म-जागरण बन जाता है।
और तीसरा सूत्र हैः मौन!
शब्द, शब्द और शब्द चित्त को बहुत अशांति और तनाव से भर देते हैं। विचार, विचार और विचार और मन सारा विश्राम खो देता है।
मौन का अर्थ हैः मन का विश्राम।
मौन को जानने और जीने से ही मन सदा ताजा और युवा बना रहता है। और मौन में, पूर्ण मौन में ही चित्त एक दर्पण बन जाता है जिसमें कि सत्य प्रतिफलित होता है।
अशांत चित्त तो जान ही क्या सकता है? वह तो खोज ही क्या सकता है? वह तो स्वयं में ही इस भांति उलझ जाता है कि किसी और दिशा में उन्मुख ही नहीं हो सकता है। सत्य के लिए तो चाहिए गहरी शांति, समग्र मौन, निर्विचार चित्त की पूर्ण विश्राम स्थिति। ऐसी चित्तदशा का नाम ही ध्यान है।
बच्चों को चित्त-विश्राम की दिशा में अग्रसर किया जा सकता है। चित्त-विश्राम का आधारभूत नियम है--चित्त को समग्ररूप से शिथिल और मुक्त छोड़ देना। जैसे कोई नदी में बहता हो--तैरता नहीं, बहता हो--ऐसे ही चित्त की लहरों पर बहना, बस बहना! तैरना जरा भी नहीं, ऐसा प्रयासरहित प्रयास उस शांति में ले जाता है जिससे कि मनुष्य बिल्कुल ही अपरिचित है। जीवन में जो भी अर्थ और आनंद छिपा है, वह सब इस शांति में प्रकट हो जाता है। और जीवन में जो भी सत्य है, वह उपलब्ध हो जाता है। वस्तुतः तो वह उपलब्ध ही था लेकिन अशांति में दिखाई नहीं पड़ता था और शांति में अनावृत होकर स्वयं के समक्ष आ जाता है।
धर्म की शिक्षा--साहस, विवेक और शांति की शिक्षा है।
धर्म की शिक्षा--अभय, जागरूकता और निर्विचार मौन की शिक्षा है।
और ऐसी शिक्षा निश्चय ही एक नई मनुष्यता की आधारशिला बन सकती है।
मैं आशा करता हूं कि मैंने जो कहा है उस पर आप सोचेंगे। मेरी बातें मान नहीं लेना है, उन पर चिंतन और मनन करना है। उन पर निष्पक्ष विचार करना है। और उन्हें प्रयोग की कसौटी पर कस कर देखना है। सत्य तो हर अग्नि- परीक्षा से और भी स्वर्ण होकर बाहर निकल आता है।

शिक्षा में क्रांति
चौथा प्रवचन

शिक्षक, समाज और क्रांति

मेरे प्रिय आत्मन्!
शिक्षक और समाज के संबंध में कुछ थोड़ी सी बातें जो मुझे दिखाई पड़ती हैं, वह मैं आपसे कहूं। शायद जिस भांति आप सोचते रहे होंगे उससे मेरी बात का कोई मेल न हो। यह भी हो सकता है कि शिक्षाशास्त्री जिस तरह की बातें कहता है उस तरह की बातों से मेरा विरोध भी हो। न तो मैं कोई शिक्षाशास्त्री हूं और न ही समाजशास्त्री। इसलिए सौभाग्य है थोड़ा कि मैं शिक्षा और समाज के संबंध में कुछ बुनियादी बातें कह सकता हूं। क्योंकि जो शास्त्र से बंध जाते हैं उनका चिंतन समाप्त हो जाता है। जो शिक्षाशास्त्री हैं उनसे शिक्षा के संबंध में कोई सत्य प्रकट होगा, इसकी संभावना अब करीब-करीब समाप्त मान लेनी चाहिए। क्योंकि पांच हजार वर्ष से वे चिंतन करते हैं लेकिन शिक्षा की जो स्थिति है, शिक्षा का जो ढांचा है, उस शिक्षा से पैदा होने वाले मनुष्यों की जो रूप-रेखा है वह इतनी गलत, इतनी अस्वस्थ और भ्रांत है कि यह स्वाभाविक है कि शिक्षाशास्त्रियों से निराशा पैदा हो जाए। समाजशास्त्री भी, जो समाज के संबंध में चिंतन करता है वह भी अत्यंत रुग्ण और अस्वस्थ है। अन्यथा मनुष्य-जाति, उसका जीवन, उसका विचार बहुत अलग और अन्यथा हो सकते थे। मैं दोनों में से कोई भी नहीं हूं इसलिए कुछ ऐसी बातें संभव हैं, आपसे कह सकूं जो सीधी समस्याओं को देखने से पैदा होती हैं।
जिन लोगों के लिए भी शास्त्र महत्वपूर्ण हो जाते हैं उनके लिए समाधान महत्वपूर्ण हो जाते हैं और समस्याएं कम महत्व की हो जाती हैं। मुझे चूंकि कोई भी पता नहीं शिक्षाशास्त्र का इसलिए मैं सीधी समस्याओं पर आपसे बात करना चाहूंगा।
सबसे पहली बात और जिस आधार पर आगे मैं आपसे कुछ कहूं, वह यह है कि शिक्षक का और समाज का संबंध अब तक अत्यंत खतरनाक सिद्ध हुआ है। संबंध क्या है शिक्षक और समाज के बीच आज तक? संबंध यह है शिक्षक गुलाम है, समाज मालिक है। और शिक्षक से काम समाज कौन सा लेता है? शिक्षक से समाज काम यह लेता है कि उसकी पुरानी ईर्ष्याएं, उसके पुराने द्वेष, उसके पुराने विचार वह सब जो हजारों वर्ष की लाशें हैं मनुष्य के मन पर, शिक्षक नये बच्चों के मन में उनको प्रविष्ट करा दे। मरे हुए लोग, मरते जाने वाले लोग जो वसीयत छोड़ गए हैं, चाहे वह ठीक हो चाहे गलत, उसे वह नये बच्चों के मन में प्रवेश करा दे। समाज शिक्षक से यह काम लेता रहा है और शिक्षक इस काम को करता रहा है, यह आश्चर्य की बात है! इसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षक के ऊपर बहुत बड़ी, बहुत बड़ी लांछना है।
बहुत बड़ी लांछना यह है कि हर सदी जिन बीमारियों से पीड़ित होती है उन बीमारियों को शिक्षक आगे आने वाली सदी में संक्रमित कर देता है। समाज चाहता है यह। इसलिए चाहता है कि समाज का ढांचा, समाज के ढांचे से जुड़ गए स्वार्थ, समाज के ढांचे के साथ जुड़ गए अंधविश्वास, कोई भी मरना नहीं चाहते। कोई भी समाप्त नहीं होना चाहते। इस कारण समाज शिक्षक का आदर भी करता है, आदर करने की प्रवृत्ति दिखलाता है। क्योंकि बिना शिक्षक की खुशामद किए, बिना शिक्षक को आदर दिए शिक्षक से कोई काम लेना असंभव है। इसलिए कहा जाता है कि शिक्षक जो है वह गुरु है, आदरणीय है, उसकी बात मानने योग्य है, उसका सम्मान किया जाने योग्य है। क्यों? क्योंकि जो समाज अपने बच्चों में अपने मन की सारी धारणाओं को छोड़ जाना चाहता है, इसके सिवाय उसे कोई मार्ग नहीं है। जैसे हिंदू बाप अपने बेटे को भी हिंदू बना कर ही मरना चाहता है, मुसलमान बाप अपने बेटे को मुसलमान बना कर मरना चाहता है। हिंदू बाप का मुसलमान से जो झगड़ा था वह भी अपने बच्चे को दे जाना चाहता है। यह कौन देगा? यह कौन संक्रमित करेगा? यह शिक्षक करेगा। पुरानी पीढ़ी की जो-जो अंधश्रद्धाएं हैं वे सारी अंधश्रद्धाएं पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी पर थोप जाना

चाहती है। अपने शास्त्र, अपने गुरु सब थोप जाना चाहती है। यह कौन करेगा? ... यह काम वह शिक्षक से लेती है और इसका परिणाम क्या होगा?
इसका परिणाम यह होता है कि दुनिया में भौतिक समृद्धि तो विकसित होती जाती है लेकिन मानसिक शक्ति विकसित नहीं हो रही है। मानसिक शक्ति विकसित हो ही नहीं सकती जब तक कि हम अतीत के भार और विचार से बच्चों को मुक्त न करें। एक छोटे से बच्चे के मस्तिष्क पर पांच-दस हजार साल के संस्कारों का भार है। उस भार के नीचे उसके प्राण दबे जाते हैं। उस भार में उसकी चेतना की ज्योति, उसके खुद का व्यक्तित्व, निजी व्यक्तित्व उठना असंभव है।
तो दुनिया में भौतिक समृद्धि बढ़ती है, क्योंकि भौतिक समृद्धि को हम जहां हमारे मां-बाप छोड़ते हैं, उससे आगे ले जाते हैं। लेकिन मानसिक समृद्धि नहीं बढ़ती है क्योंकि मानसिक समृद्धि में हम अपने मां-बाप से आगे जाने को तैयार नहीं। आपके पिता जो मकान बना गए थे, लड़का उसको दो मंजला बनाने में संकोच अनुभव नहीं करता, बल्कि खुश होता है। बल्कि बाप भी खुश होगा कि मेरे लड़के ने मेरे मकान को दो मंजिल किया, तीन मंजल किया। लेकिन महावीर, बुद्ध, राम और कृष्ण जो वसीयत छोड़ गए हैं उनके मानने वाले इस बात से बहुत मुश्किल में पड़ जाएंगे कि किसी व्यक्ति ने गीता के आगे विचार किया, कि गीता के एक मंजिले झोपड़े को दो मंजिल का मकान बनाया है। नहीं, मन के तल पर जो मकान बाप छोड़ गए हैं उसके भीतर ही रहना जरूरी है, उससे बड़ा मकान नहीं बनाया जा सकता है। और इस बात की हजारों साल से चेष्टा चलती है कि कोई बच्चा बाप के आगे न निकल जाए।
इसकी कई तरकीबें हैं, कई व्यवस्थाएं हैं। इसीलिए दुनिया में समृद्धि बढ़ती है--भौतिक, लेकिन मानसिक दीनता बढ़ती चली जाती है। और जब मन छोटा हो और भौतिक समृद्धि ज्यादा हो तो खतरे पैदा हो जाते हैं। जिस भांति हम भौतिक जगत में अपने मां-बाप से आगे बढ़ते हैं, जरूरी है कि बच्चे मानसिक और आध्यात्मिक विकास में भी अपने मां-बाप को पीछे छोड़ दें। इसमें मां-बाप का अपमान नहीं, बल्कि इसी में सम्मान है। ठीक-ठीक पिता वही है, ठीक-ठीक पिता का प्रेम वही है कि वह चाहे कि उसका बच्चा हर दृष्टि से उसे पीछे छोड़ दे।... हर दृष्टि से उसे पीछे छोड़ दे!
लेकिन अगर किसी भी तल पर बाप की यह इच्छा है कि बच्चा उसके आगे न निकल जाए तो यह इच्छा खतरनाक है और शिक्षक अब तक इसमें सहयोगी रहा है। अब तक सहयोग रहा है उसका। इसमें हम अपमान समझेंगे कि अगर हम कृष्ण से आगे विचार करें या महावीर से आगे विचार करें या मोहम्मद से आगे विचार करें--इसमें मोहम्मद का अपमान है, महावीर का अपमान है, कितने पागलपन का खयाल है! और इस कारण सारी शिक्षा अतीत की ओर उन्मुख है, जब कि शिक्षा भविष्य की ओर उन्मुख होनी चाहिए। विकासशील कोई भी सृजनात्मक प्रक्रिया भविष्य की ओर उत्सुक होती है, अतीत की ओर नहीं।
हमारी सारी शिक्षा अतीत की ओर उत्सुक है। हमारे सारे सिद्धांत, हमारी सारी धारणाएं, हमारे सारे आदर्श अतीत से लिए जाते हैं। अतीत का मतलब है जो मर गया, जो बीत गया। हजार-हजार वर्ष जिसे बीते हो गए, वह सारी धारणाएं हम उस बच्चे के मन पर थोपना चाहते हैं। न केवल थोपना चाहते हैं, बल्कि उसी बच्चे को हम आदर्श कहेंगे जो उन धारणाओं के अनुकूल अपने को सिद्ध कर लेता है। यह कौन करता रहा है? यह काम शिक्षक से लिया जाता रहा है और इस भांति शिक्षक का शोषण समाज के ठेकेदारों ने भी किया है, धर्म के ठेकेदारों ने भी किया है और राज्य के ठेकेदारों ने भी किया है, और शिक्षक को यह भुलावा दिया गया है कि वह ज्ञान का प्रसारक है।
वह ज्ञान का प्रसारक नहीं है। जैसे उसकी स्थिति है वह उस ज्ञान का स्थापित, स्थायी रखने वाला है। जो उत्पन्न हो चुका है, और जो हो सकता है उसमें बाधा देने वाला है। वह हमेशा अतीत के घेरे से बाहर नहीं उठने देना चाहता है। और इसका परिणाम यह होता है कि हजार-हजार साल तक न मालूम किस-किस प्रकार की नासमझियां, न मालूम किस-किस तरह के अज्ञान चलते चले जाते हैं। उनको मरने नहीं दिया जाता, उनको मरने का मौका नहीं दिया जाता। राजनीतिज्ञ भी यह समझ गया है, इसलिए शिक्षक का शोषण राजनीतिज्ञ भी करता है। और सबसे आश्चर्य की बात है कि इसका शिक्षक को कोई बोध नहीं है कि उसका शोषण होता है

सेवा के नाम पर, कि वह समाज की सेवा करता है, उसका शोषण होता है--इसका शिक्षक को कोई बोध नहीं है! किस-किस तरह का शोषण होता है?
अभी मैं गया, अभी कुछ ही दिन पहले शिक्षकों की एक बड़ी विराट सभा में बोलने। शिक्षक-दिवस था। तो मैंने उनसे कहा कि एक शिक्षक यदि राष्ट्रपति हो जाए तो इसमें शिक्षक का सम्मान क्या है? इसमें कौन से शिक्षक का सम्मान है? मेरी समझ में आए, एक राष्ट्रपति शिक्षक हो जाए तब तो शिक्षक का सम्मान समझ में आता है लेकिन एक शिक्षक राष्ट्रपति हो जाए इसमें शिक्षक का सम्मान कौन सा है! एक राष्ट्रपति शिक्षक हो जाए और कह दे कि यह व्यर्थ है और मैं शिक्षक होना चाहता हूं और शिक्षक होना आनंद है, तब तो हम समझेंगे कि शिक्षक का सम्मान हुआ। लेकिन एक शिक्षक राष्ट्रपति हो जाए, इसमें शिक्षक का सम्मान नहीं है, राजनीतिज्ञ का सम्मान है। इसमें राजनेता का सम्मान है। और जब एक शिक्षक सम्मानित होता हो राष्ट्रपति होकर तो फिर बाकी शिक्षक भी अगर हेडमास्टर होना चाहें, स्कूल इंस्पेक्टर होना चाहें, एजुकेशन के मिनिस्टर होना चाहें, तो कोई गलती है?
सम्मान तो वहां है जहां पद है, और पद वहां है जहां राज्य है। लेकिन सारा ढांचा हमारे चिंतन का ऐसा है कि सब पीछे है, और सबके ऊपर राज्य है, सबके ऊपर राजनीति है। राजनीतिज्ञ जाने-अनजाने शिक्षक के द्वारा अपनी विचार-स्थिति को, अपनी धारणाओं को बच्चों में प्रवेश करवाता रहता है। धार्मिक भी करता रहा है--यही! धर्म-शिक्षा के नाम पर यही चलता रहा है... कि हर धर्म यह कोशिश करता है, बच्चों के मन में अपनी धारणाओं को प्रवेश करा दे, चाहे वे सत्य हों, चाहे असत्य हों। और उस उम्र में प्रवेश करवा दे जब कि बच्चे में कोई सोच-विचार नहीं होता है। इससे घातक अपराध मनुष्य-जाति में कोई दूसरा नहीं है और न हो सकता है। एक अबोध और अनजान बालक के मन में यह भाव पैदा कर देना कि कुरान में जो है वह सत्य है या गीता में जो है वह सत्य है या भगवान हैं तो मोहम्मद हैं या भगवान हैं तो महावीर हैं या कृष्ण हैं... ये सारी बातें एक अबोध, अनजान, निर्दोष बच्चे के मन में प्रविष्ट करा देना... ! इससे बड़ा कोई घातक अपराध नहीं हो सकता। लेकिन इसी भांति राजनीतिज्ञ भी कोशिश करता है।
अभी हिंदुस्तान का मामला था। आजादी की लड़ाई थी तो हिंदुस्तान के राजनीतिज्ञ कहते थे, शिक्षक और विद्यार्थी दोनों राजनीति में भाग लें क्योंकि देश की आजादी का सवाल है। फिर वे ही राजनीतिज्ञ हुकूमत में आ गए, सत्ता में आ गए तो वे कहते हैं, शिक्षक और विद्यार्थी राजनीति से दूर रहें। कम्युनिस्ट हैं, सोशलिस्ट हैं, वे विद्यार्थी और शिक्षक से कहते हैं कि नहीं, दूर रहने की कोई जरूरत नहीं है, तुम्हें राजनीति में भाग लेना चाहिए। शिक्षक और विद्यार्थी राजनीति में भाग लें। कल कम्युनिस्ट आ जाएं हुकूमत में, वे कहेंगे कि अब तुम्हें इस राजनीति में भाग लेने की कोई भी जरूरत नहीं! क्यों! जो जिस राजनीतिज्ञ के हित में है वही सत्य हो जाता है, जब जिस मौके पर... और शिक्षक और विद्यार्थी को वही सत्य है, यह समझाने की कोशिश की जाती है।
मेरी दृष्टि में कोई भी व्यक्ति ठीक अर्थों में शिक्षक तभी हो सकता
है जब उसमें विद्रोह की एक अत्यंत ज्वलंत अग्नि हो। जिस शिक्षक के भीतर विद्रोह की अग्नि नहीं है वह केवल किसी न किसी निहित, स्वार्थ का, चाहे समाज, चाहे धर्म, चाहे राजनीति, उसका एजेंट होगा। शिक्षक के भीतर एक ज्वलंत अग्नि होनी चाहिए विद्रोह की, चिंतन की, सोचने की। लेकिन क्या हममें सोचने की अग्नि है और अगर नहीं है तो आप भी एक दुकानदार हैं। शिक्षक होना बड़ी और बात है। शिक्षक होने का मतलब क्या है? क्या हम सोचते हैं--आप बच्चों को सिखाते होंगे, सारी दुनिया में सिखाया जाता है बच्चों को, बच्चों को सिखाया जाता है, प्रेम करो! लेकिन कभी आपने विचार किया है कि आपकी पूरी शिक्षा की व्यवस्था प्रेम पर नहीं, प्रतियोगिता पर आधारित है। किताब में सिखाते हैं प्रेम करो और आप की पूरी व्यवस्था, पूरा इंतजाम प्रतियोगिता का है।
जहां प्रतियोगिता है वहां प्रेम कैसे हो सकता है। जहां काम्पिटीशन है, प्रतिस्पर्धा है, वहां प्रेम कैसे हो सकता है। प्रतिस्पर्धा तो

ईर्ष्या का रूप है, जलन का रूप है। पूरी व्यवस्था तो जलन सिखाती है। एक बच्चा प्रथम आ जाता है तो दूसरे बच्चों से कहते हैं कि देखो तुम पीछे रह गए और यह पहले आ गया। आप क्या सिखा रहे हैं? आप सिखा रहे हैं कि इससे ईर्ष्या करो, प्रतिस्पर्धा करो, इसको पीछे करो, तुम आगे आओ। आप क्या सिखा रहे हैं? आप अहंकार सिखा रहे हैं कि जो आगे है वह बड़ा है जो पीछे है वह छोटा है। लेकिन किताबों में आप कह रहे हैं कि विनीत बनो और किताबों में आप समझा रहे हैं कि प्रेम करो; और आपकी पूरी व्यवस्था सिखा रही है कि घृणा करो, ईर्ष्या करो, आगे निकलो, दूसरे को पीछे हटाओ और आपकी पूरी व्यवस्था उनको पुरस्कृत कर रही है। जो आगे आ रहे हैं उनको गोल्ड मेडल दे रही है, उनको सर्टिफिकेट दे रही है, उनके गलों में मालाएं पहना रही है, उनके फोटो छाप रही है; और जो पीछे खड़े हैं उनको अपमानित कर रही है।
तो जब आप पीछे खड़े आदमी को अपमानित करते हैं तो क्या आप उसके अहंकार
को चोट नहीं पहुंचाते कि वह आगे हो जाए? और जब आगे खड़े आदमी को आप सम्मानित करते हैं तो क्या आप उसके अहंकार को प्रबल नहीं करते हैं? क्या आप उसके अहंकार को नहीं फुसलाते और बड़ा करते हैं? और जब ये बच्चे इस भांति अहंकार में, ईर्ष्या में, प्रतिस्पर्धा में पाले जाते हैं तो यह कैसे प्रेम कर सकते हैं। प्रेम का हमेशा मतलब होता है कि जिसे हम प्रेम करते हैं उसे आगे जाने दें। प्रेम का हमेशा मतलब है, पीछे खड़े हो जाना।
एक छोटी सी कहानी कहूं, उससे खयाल में आए।
तीन सूफी फकीरों को फांसी दी जा रही थी और दुनिया में हमेशा धार्मिक आदमी संतों के खिलाफ रहे हैं। तो धार्मिक लोग उन फकीरों को फांसी दे रहे थे। तीन फकीर बैठे हुए थे कतार में। जल्लाद एक-एक का नाम बुलाएगा और उनको काट देगा। उसने चिल्लाया कि नूरी कौन है, उठ कर आ जाए। लेकिन नूरी नाम का आदमी तो नहीं उठा, एक दूसरा युवक उठा और वह बोला कि मैं तैयार हूं, मुझे काट दें। उसने कहाः लेकिन तेरा तो नाम यह नहीं है। इतनी मरने की क्या जल्दी है? उसने कहाः मैंने प्रेम किया और जाना कि जब मरना हो तो आगे हो जाओ और जब जीना हो तो पीछे हो जाओ। मेरा मित्र मरे, उसके पहले मुझे मर जाना चाहिए। और अगर जीने का सवाल हो तो मेरा मित्र जीए, उसके पीछे मुझे जीना चाहिए। प्रेम तो यही कहता है, लेकिन प्रतियोगिता क्या कहती है? प्रतियोगिता कहती है, मरने वाले के पीछे हो जाना और जीने वाले के आगे हो जाना। और हमारी शिक्षा क्या सिखाती है? प्रेम सिखाती है या प्रतियोगिता सिखाती है? और जब सारी दुनिया में प्रतियोगिता सिखाई जाती हो और बच्चों के दिमाग में काम्पिटीशन और एंबीशन का जहर भरा जाता हो तो क्या दुनिया अच्छी हो सकती है? जब हर बच्चा हर दूसरे बच्चे से आगे निकलने के लिए प्रयत्नशील हो, और जब हर बच्चा हर बच्चे को पीछे छोड़ने के लिए उत्सुक हो, बीस साल की शिक्षा के बाद जिंदगी में वह क्या करेगा? यही करेगा, जो सीखेगा वही करेगा।
हर आदमी हर दूसरे आदमी को खींच रहा है कि पीछे आ जाओ। नीचे के चपरासी
से लेकर ऊपर के राष्ट्रपति तक हर आदमी एक-दूसरे को खींच रहा है कि पीछे आ जाओ। और जब कोई खींचते-खींचते चपरासी राष्ट्रपति हो जाता है तो हम कहते हैं, बड़ी गौरव की बात हो गई। हालांकि किसी को पीछे करके आगे होने से बड़ा हीनता का, हिंसा का कोई काम नहीं है। लेकिन यह वायलेंस हम सिखा रहे हैं, यह हिंसा हम सिखा रहे हैं और इसको हम कहते हैं, यह शिक्षा है। अगर इस शिक्षा पर आधारित दुनिया में युद्ध होते हों तो आश्चर्य कैसा! अगर इस शिक्षा पर आधारित दुनिया में रोज लड़ाई होती हो, रोज हत्या होती हो तो आश्चर्य कैसा! अगर इस शिक्षा पर आधारित दुनिया में झोपड़ों के करीब बड़े महल खड़े होते हों और उन झोपड़ों में मरते लोगों के करीब भी लोग अपने महलों में खुश रहते हों तो आश्चर्य कैसा! इस दुनिया में भूखे लोग हों और ऐसे लोग हों जिनके पास इतना है कि क्या करें, उनकी समझ में नहीं आता। यह इस शिक्षा की बदौलत है, यह इस शिक्षा का परिणाम है। यह दुनिया इस शिक्षा से पैदा हो रही है और शिक्षक इसके लिए जिम्मेवार है, और शिक्षक की नासमझी इसके लिए जिम्मेवार है। वह शोषण का हथियार बना हुआ है। वह हजार तरह के स्वार्थों का हथियार बना हुआ है, इस नाम पर कि वह शिक्षा दे रहा है, बच्चों को शिक्षा दे रहा है!

अगर यही शिक्षा है तो भगवान करे कि सारी शिक्षा बंद हो जाए तो भी आदमी इससे बेहतर हो सकता है। जंगली आदमी शिक्षित आदमी से बेहतर है। उसमें ज्यादा प्रेम है और कम प्रतिस्पर्धा है, उसमें ज्यादा हृदय है और कम मस्तिष्क है; लेकिन इससे बेहतर वह आदमी है। लेकिन हम इसको शिक्षा कह रहे हैं! और हम करीब-करीब जिन-जिन बातों को कहते हैं कि तुम यह करना, उनसे उलटी बातें हम, पूरा सरंजाम हमारा, उलटी बातें सिखाता है!
आप क्या कहते हैं? आप सिखाते हैं उदारता, सहानुभूति। लेकिन प्रतियोगी मन, काम्पिटिटिव माइंड कैसे उदार हो सकता है? कैसे सहानुभूतिपूर्ण हो सकता है? अगर प्रतियोगी मन सहानुभूतिपूर्ण हो तो प्रतियोगिता कैसे चलेगी? प्रतियोगी मन कठोर होगा, हिंसक होगा, अनुदार होगा--होना ही पड़ेगा उसे। और हमारी व्यवस्था ऐसी है कि हमें पता भी नहीं चलेगा, हमें खयाल में भी नहीं आएगा कि यह हिंसक आदमी है, जो सारी भीड़ को हटा कर आगे जा रहा है। यह क्या है? यह हिंसक आदमी है और हम इसे सिखाए जा रहे हैं, हम इसे तैयार किए जा रहे हैं।
फैक्ट्रियां बढ़ती जा रही हैं इस तरह की शिक्षा की, उनको हम स्कूल कहते हैं, विद्यालय कहते हैं; यह सरासर झूठ है। ये सब फैक्ट्रियां हैं जिनमें एक बीमार आदमी तैयार किया जा रहा है और वह बीमार आदमी सारी दुनिया को गड्ढे में लिए जा रहा है। हिंसा बढ़ती जाती है, प्रतिस्पर्धा बढ़ती जाती है। एक-दूसरे के गले पर एक-दूसरे का हाथ है। आप यहां बैठे हैं, कहेंगे कि हमारा किसके गले पर हाथ है। लेकिन जरा गौर से देखें, हर आदमी का हाथ हर दूसरे आदमी के गले पर है और एक-एक गले पर हजार-हजार हाथ हैं और हर आदमी का हाथ दूसरे की जेब में है और एक-एक जेब में हजार-हजार हाथ हैं और यह बढ़ता जा रहा है। यह कहां जाएगा, यह कहां टूटेगा, यह कब तक चल सकता है, यह एटम और हाइड्रोजन बम कहां से पैदा हो रहे हैं?--प्रतियोगिता से, प्रतिस्पर्धा से! वह चाहे प्रतिस्पर्धा दो आदमियों की हो, चाहे दो राष्ट्रों की, कोई फर्क थोड़े ही है। वह रूस की हो या अमरीका की, कोई फर्क थोड़े ही है। प्रतिस्पर्धा है, आगे होना है। अगर तुम एटम बम बनाते हो तो हम हाइड्रोजन बम बनाते हैं, तुम हाइड्रोजन बनाते हो तो हम कुछ और बनाएंगे, सुपर हाइड्रोजन बम बनाएंगे। लेकिन पीछे हम नहीं रह सकते। पीछे रहना हमें कभी सिखाया नहीं गया है। हमें आगे होना है। अगर तुम दस मारते हो हम बीस मारेंगे। अगर तुम एक मुल्क मिटाते हो तो हम दो मिटा देंगे। यानी हम इस तक के लिए राजी हो सकते हैं कि हम सबको मिटाने के लिए राजी हो सकते हैं, क्योंकि हम पीछे नहीं रह सकते। यह है और यह कौन पैदा कर रहा है! यह कहां से सारी बात आ रही है! यह शिक्षा से सारी बात आ रही है।
लेकिन हम अंधे हैं और हम यह देखते नहीं कि मामला क्या है। बच्चों को
हम क्या सिखाते हैं? उनको सिखाते हैं, लोभी मत बनो, भयभीत मत बनो, लेकिन करते क्या हैं? हम पूरे वक्त लोभ सिखाते हैं, पूरे वक्त भय सिखाते हैं। पुराने जमाने में नरक के भय थे, स्वर्ग के पुरस्कार का प्रलोभन था। वह हजारों साल तक सिखाया गया। पूरे प्राण ढीले कर दिए गए आदमी के। भय और लोभ के सिवाय उसमें कुछ भी नहीं बचा। भय है कि कहीं नरक न चला जाऊं और लोभ लगा है कि किसी भांति स्वर्ग पहुंच जाऊं। हम क्या करते हैं? जहां भी दंड और पुरस्कार है, वहां भय है और वहां लोभ है। लेकिन बच्चों को हम कैसे सिखाते हैं, सिखाने का रास्ता क्या है? सिखाने का रास्ता है या तो भय या लोभ। या तो मारो और सिखाओ, या फिर प्रलोभन दो कि हम यह-यह देंगे, गोल्ड मेडल देंगे, इज्जत देंगे, नौकरी देंगे, समाज में स्थान मिलेगा, ऊंचा पद देंगे, नवाब बना देंगे।
मैं जब पढ़ता था तो वे कहते थे कि पढ़ोगे लिखोगे होगे नवाब, तुमको नवाब बना देंगे, तुमको तहसीलदार बनाएंगे। तुम राष्ट्रपति हो जाओगे। ये प्रलोभन हैं और ये प्रलोभन हम छोटे-छोटे बच्चों के मन में जगाते हैं। हमने कभी उनको सिखाया क्या कि तुम ऐसा जीवन बसर करना कि तुम शांत रहो, आनंदित रहो! नहीं। हमने सिखाया, तुम ऐसा जीवन बसर करना कि तुम ऊंची से ऊंची कुर्सी पर पहुंच जाओ। तुम्हारी तनख्वाह बड़ी से बड़ी हो जाए, तुम्हारे कपड़े अच्छे से अच्छे हो जाएं, तुम्हारा मकान ऊंचे से ऊंचा हो जाए, हमने यह सिखाया है।

हमने हमेशा यह सिखाया है कि तुम लोभ को आगे से आगे खींचना, क्योंकि लोभ ही सफलता है। और जो असफल है उसके लिए कोई स्थान है?
इस पूरी शिक्षा में असफल के लिए जब कोई स्थान नहीं है, असफल के प्रति कोई जगह नहीं है और केवल सफलता की धुन और ज्वर हम पैदा करते हैं तो फिर स्वाभाविक है कि सारी दुनिया में जो सफल होना चाहता है वह जो बन सकता है, करता है। क्योंकि सफलता आखिर में सब छिपा देती है। एक आदमी किस भांति चपरासी से राष्ट्रपति बनता है! एक दफा राष्ट्रपति बन जाए तो फिर कुछ पता नहीं चलता कि वह कैसे राष्ट्रपति बना, कौन सी तिकड़म से, कौन सी शरारत से, कौन सी बेईमानी से, कौन से झूठ से? किस भांति से राष्ट्रपति बना, कोई जरूरत अब पूछने की नहीं है! न दुनिया में कभी कोई पूछेगा, न पूछने का कोई सवाल उठेगा। एक दफा सफलता आ जाए तो सब पाप छिप जाते हैं और समाप्त हो जाते हैं। सफलता एकमात्र सूत्र है। तो जब सफलता एकमात्र सूत्र है तो मैं झूठ बोल कर क्यों न सफल हो जाऊं, बेईमानी करके क्यों न सफल हो जाऊं! अगर सत्य बोलता हूं, असफल होता हूं, तो क्या करूं?
तो हम एक तरफ सफलता को केंद्र बनाए हैं और जब झूठ बढ़ता है, बेईमानी बढ़ती है तो हम परेशान होते हैं कि यह क्या मामला है। जब तक सफलता, सक्सेस एकमात्र केंद्र है, सारी कसौटी का एकमात्र मापदंड है, तब तक दुनिया में झूठ रहेगा, बेईमानी रहेगी, चोरी रहेगी। यह नहीं हट सकती, क्योंकि अगर चोरी से सफलता मिलती है तो क्या किया जाए? अगर बेईमानी से सफलता मिलती है तो क्या किया जाए? बेईमानी से बचा जाए कि सफलता छोड़ी जाए, क्या किया जाए? जब सफलता एकमात्र माप है, एकमात्र मूल्य है, एकमात्र वैल्यू है कि वह आदमी महान है जो सफल हो गया तो फिर बाकी सब बातें अपने आप गौण हो जाती हैं। रोते हैं हम, चिल्लाते हैं कि बेईमानी बढ़ रही है, यह हो रहा है। यह सब बढ़ेगी, यह बढ़नी चाहिए। आप जो सिखा रहे हैं उसका फल है यह, और पांच हजार साल से जो सिखा रहे हैं उसका फल है।
सफलता की वैल्यू जानी चाहिए, सफलता कोई वैल्यू नहीं है, सफलता कोई मूल्य नहीं है। सफल आदमी कोई बड़े सम्मान की बात नहीं है। सफल नहीं सुफल होना चाहिए आदमी--सफल नहीं सुफल! एक आदमी बुरे काम में सफल हो जाए, इससे बेहतर है कि एक आदमी भले काम में असफल हो जाए। सम्मान काम से होना चाहिए, सफलता से नहीं। लेकिन सफलता मूल्य है और सारा सारा, इंतजाम उसके केंद्र पर घूम रहा है। सिखा रहे हैं, कुछ सत्य सिखा रहे हैं?
एजुकेशन कमीशन बैठा था अभी। उसके चेयरमैन ने मुझसे कहा कि हम अपने बच्चों को कहते हैं कि तुम सत्य बोलो। सब तरह समझाते हैं, लेकिन फिर भी कभी-कभी झूठ बोलते हैं! मैंने उनसे कहा कि क्या आप पसंद करेंगे कि आपका लड़का सड़क पर भंगी हो जाए, बुहारी लगाए, या एक स्कूल में चपरासी हो जाए? पसंद करेंगे? या कि आपका दिल है कि लड़का भी आपकी भांति एजुकेशन कमीशन का चेयरमैन हो। हिंदुस्तान के बाहर एंबेसेडर हो, धीरे-धीरे चढ़े सीढ़ियां! ... और ऊपर आकाश में बैठ जाए, आखिर में भगवान हो जाए! क्या चाहते हैं? क्या आप राजी हैं इस बात के लिए कि आपका लड़का सड़क पर बुहारी लगाए? तो आपको कोई तकलीफ न हो... ! उन्होंने कहा कि नहीं, तकलीफ तो होगी! तो मैंने कहा अगर तकलीफ होगी तो फिर आप लड़के से चाहते नहीं हैं कि वह सत्य हो, ईमानदार हो। जब तक चपरासी अपमानित है और राष्ट्रपति सम्मानित है तब तक दुनिया में ईमानदारी नहीं हो सकती क्योंकि चपरासी कैसे बैठा रहे चपरासी की जगह पर, और जिंदगी इतनी बड़ी नहीं है कि सत्य का सहारा लिए बैठा रहे। और जब असत्य सफलता लाता हो तो कौन पागल होगा उसे छोड़ दे! और न केवल आप मानते हैं बल्कि मामला कुछ ऐसा है कि आपने जिस भगवान को बनाया हुआ है, जिस स्वर्ग को, वह भी इन सफल लोगों को मानता है। चपरासी मरता है तो नरक ही जाने की संभावना है। राष्ट्रपति कभी नरक नहीं जाते, वे सीधे स्वर्ग चले जाते हैं। वहां भी सिक्के यही लगा कर रखे हुए हैं, वहां भी जो सफल है वही!--तो फिर क्या होगा? सफलता का केंद्र खत्म करना होगा। अगर बच्चों से आपको प्रेम है और मनुष्य-जाति के लिए आप कुछ करना चाहते हैं तो बच्चों के लिए सफलता के केंद्र को हटाइए, सुफलता के केंद्र को पैदा करिए। अगर मनुष्य-जाति के लिए कोई भी आपके हृदय में प्रेम है और आप सच में चाहते हैं कि एक नई दुनिया, एक

नई संस्कृति और नया आदमी पैदा हो जाए तो यह सारी पुरानी बेवकूफी छोड़नी पड़ेगी, जलानी पड़ेगी, नष्ट करनी पड़ेगी और विचार करना पड़ेगा कि क्या विद्रोह हो, कैसे हो सकता है इसके भीतर से। यह सब गलत है इसलिए गलत आदमी पैदा होता है।
शिक्षक बुनियादी रूप से इस जगत में सबसे बड़ा विद्रोही व्यक्ति होना चाहिए। तो वह, तो वह पीढ़ियों को आगे ले जाएगा। और शिक्षक सबसे बड़ा दकियानूस है, सबसे बड़ा ट्रेडिशनलिस्ट वही है, वही दोहराए जाता है पुराने कचरे को। क्रांति शिक्षक में होती नहीं है। आपने कोई सुना है कि शिक्षक कोई क्रांतिपूर्ण हो। शिक्षक सबसे ज्यादा दकियानूस, सबसे ज्यादा आर्थाडाक्स है, और इसलिए शिक्षक सबसे खतरनाक है। समाज उससे हित नहीं पाता, अहित पाता है। शिक्षक को होना चाहिए विद्रोही--कौन सा विद्रोह है? मकान में आग लगा दें आप, या कुछ और कर दें या जाकर ट्रेनें उलट दें या बसों में आग लगा दें। उसको नहीं कह रहा हूं, कोई गलती से वैसा न समझ ले। मैं यह कह रहा हूं कि हमारे जो मूल्य हैं, हमारी जो वैल्यूज हैं--उनके बाबत विद्रोह का रुख, विचार का रुख होना चाहिए कि हम विचार करें कि यह मामला क्या है!
जब आप एक बच्चे को कहते हैं कि तुम गधे हो, तुम नासमझ हो, तुम बुद्धिहीन हो, देखो उस दूसरे को, वह कितना आगे है! तब आप विचार करें, तब आप विचार करें कि यह कितने दूर तक ठीक है और कितने दूर तक सच है! क्या दुनिया में दो आदमी एक जैसे हो सकते हैं? क्या यह संभव है कि जिसको आप गधा कह रहे हैं कि वैसा हो जाए जैसा कि जो आगे खड़ा है। क्या यह आज तक संभव हुआ है? हर आदमी जैसा है, अपने जैसा है, दूसरे आदमी से कंपेरिजन का कोई सवाल ही नहीं। किसी दूसरे आदमी से उसकी कोई कंपेरिजन नहीं, कोई तुलना नहीं है।
एक छोटा कंकड़ है, वह छोटा कंकड़ है; एक बड़ा कंकड़ है वह बड़ा कंकड़ है! एक छोटा पौधा है, वह छोटा है; एक बड़ा पौधा है, वह बड़ा पौधा है! एक घास का फूल है, वह घास का फूल है; एक गुलाब का फूल है, वह गुलाब का फूल है! प्रकृति का जहां तक संबंध है, घास के फूल पर प्रकृति नाराज नहीं है और गुलाब के फूल पर प्रसन्न नहीं है। घास के फूल को भी प्राण देती है उतनी ही खुशी से जितने गुलाब के फूल को देती है। और मनुष्य को हटा दें तो घास के फूल और गुलाब के फूल में कौन छोटा है, कौन बड़ा है--है कोई छोटा और बड़ा! घास का तिनका और बड़ा भारी चीड़ का दरख्त... तो यह महान है और यह घास का तिनका छोटा है? तो परमात्मा कभी का घास के तिनके को समाप्त कर देता, चीड़-चीड़ के दरख्त रह जाते दुनिया में। नहीं, लेकिन आदमी की वैल्यूज गलत हैं।
यह आप स्मरण रखें कि इस संबंध में मैं आपसे कुछ गहरी बात कहने का विचार रखता हूं। वह यह कि जब तक दुनिया में हम एक आदमी को दूसरे आदमी से कम्पेयर करेंगे, तुलना करेंगे तब तक हम एक गलत रास्ते पर चले जाएंगे। वह गलत रास्ता यह होगा कि हम हर आदमी में दूसरे आदमी जैसा बनने की इच्छा पैदा करते हैं; जब कि कोई आदमी किसी दूसरे जैसा न बना है और न बन सकता है।
राम को मरे कितने दिन हो गए, या क्राइस्ट को मरे कितने दिन हो गए? दूसरा क्राइस्ट क्यों नहीं बन पाता और हजारों-हजारों क्रिश्चिएन कोशिश में तो चौबीस घंटे लगे हैं कि क्राइस्ट बन जाएं। और हजारों हिंदु राम बनने की कोशिश में हैं, हजारों जैन, बुद्ध, महावीर बनने की कोशिश में लगे हैं, बनते क्यों नहीं एकाध? एकाध दूसरा क्राइस्ट और दूसरा महावीर पैदा क्यों नहीं होता? क्या इससे आंख नहीं खुल सकती आपकी? मैं रामलीला के रामों की बात नहीं कह रहा हूं, जो रामलीला में बनते हैं राम। न आप समझ लें कि उनकी चर्चा कर रहा हूं, कई लोग राम बन जाते हैं। वैसे तो कई लोग बन जाते हैं, कई लोग बुद्ध जैसे कपड़े लपेट लेते हैं और बुद्ध बन जाते हैं। कोई महावीर जैसा कपड़ा लपेट लेता है या नंगा हो जाता है और महावीर बन जाता है। उनकी बात नहीं कर रहा। वे सब रामलीला के राम हैं, उनको छोड़ दें। लेकिन राम कोई दूसरा पैदा होता है?
यह आपको जिंदगी में भी पता चलता है कि ठीक एक आदमी जैसा दूसरा आदमी कहीं हो सकता है? एक कंकड़ जैसा दूसरा कंकड़ भी पूरी पृथ्वी पर खोजना कठिन है, एक जड़ कंकड़ जैसा--यहां हर चीज यूनिक है, हर चीज अद्वितीय है। और जब तक हम प्रत्येक की अद्वितीय प्रतिभा को सम्मान नहीं देंगे तब तक दुनिया में

प्रतियोगिता रहेगी, प्रतिस्पर्धा रहेगी, तब तक दुनिया में मार-काट रहेगी, तब तक दुनिया में हिंसा रहेगी, तब तक दुनिया में सब बेईमानी के उपाय करके आदमी आगे होना चाहेगा, दूसरे जैसा होना चाहेगा। और जब हर आदमी दूसरे जैसा होना चाहता है तो क्या फल होता है? फल यह होता है--अगर एक बगीचे में सब फूलों का दिमाग फिर जाए या बड़े-बड़े आदर्शवादी नेता वहां पहुंच जाएं या बड़े-बड़े शिक्षक वहां पहुंच जाएं और उनको समझाएं कि देखो, चमेली का फूल चंपा जैसा हो जाए, चमेली का फूल चंपा जैसा, चंपा का फूल जुही जैसा, क्योंकि देखो, जुही कितनी सुंदर है... और सब फूलों को अगर पागलपन आ जाए, हालांकि आ नहीं सकता! क्योंकि आदमी से पागल फूल नहीं है।
आदमी से ज्यादा जड़ता उनमें नहीं है कि वे चक्कर में पड़ जाएं। शिक्षकों के, उपदेशकों के, संन्यासियों के, साधुओं के, आदर्शवादियों केचक्कर में कोई फूल नहीं पड़ेगा। लेकिन फिर भी समझ लें, कल्पना कर लें कि कोई आदमी पहुंच जाए और समझाए उनको और वे चक्कर में आ जाएं और चमेली का फूल चंपा का फूल होने लगे तो क्या होगा उस बगिया में। उस बगिया में फूल फिर पैदा नहीं होंगे, उस बगिया में फिर फूल पैदा ही नहीं हो सकते। उस बगिया में फिर पौधे मुरझा जाएंगे, मर जाएंगे। क्यों? क्योंकि चंपा लाख उपाय करे तो चमेली नहीं हो सकती, वह उसके स्वभाव में नहीं है, वह उसके व्यक्तित्व में नहीं है, वह उसकी प्रकृति में नहीं है। चमेली तो चंपा हो ही नहीं सकती। लेकिन क्या होगा? चमेली होने की कोशिश में वह चंपा भी नहीं हो पाएगी। वह जो हो सकती थी, उससे भी वंचित रह जाएगी।
मनुष्य के साथ यह दुर्भाग्य हुआ है। यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य है, अभिशाप है जो मनुष्य के साथ हुआ है कि हर आदमी किसी और जैसा होना चाह रहा है और कौन सिखा रहा है यह? यह षडयंत्र कौन कर रहा है? यह हजार-हजार साल से शिक्षा कर रही है। वह कह रही राम जैसे बनो, बुद्ध जैसे बनो। या अगर पुरानी तस्वीरें जरा फीकी पड़ गईं, तो गांधी जैसे बनो, विनोबा जैसे बनो। किसी न किसी जैसे बनो लेकिन अपने जैसा बनने की भूल कभी मत करना, किसी जैसे बनना, किसी दूसरे जैसे बनो क्योंकि तुम तो बेकार पैदा हुए हो। असल में तो गांधी मतलब से पैदा हुए। तुम्हारा तो बिल्कुल बेकार है, भगवान ने भूल की जो आपको पैदा किया। क्योंकि अगर भगवान समझदार होता तो राम और गांधी और बुद्ध ऐसे कोई दस पंद्रह आदमी के टाइप पैदा कर देता दुनिया में। या अगरबहुत ही समझदार होता, जैसा कि सभी धर्मों के लोग बहुत समझदार हैं, तो फिर एक ही तरह के "टाइप" पैदा कर देता। फिर क्या होता?
अगर दुनिया में समझ लें कि तीन अरब राम ही राम हों तो कितनी देर दुनिया चलेगी? पंद्रह मिनट में सुसाइड हो जाएगा। टोटल, यूनिवर्सल सुसाइड हो जाएगा। सारी दुनिया आत्मघात कर लेगी। इतनी बोर्डम पैदा होगी राम ही राम को देखने से। सब मर जाएगा एक दम, कभी सोचा? सारी दुनिया में गुलाब ही गुलाब के फूल हो जाएं और सब पौधे गुलाब के फूल पैदा करने लगें, क्या होगा? फूल देखने लायक भी नहीं रह जाएंगे। उनकी तरफ आंख करने की भी जरूरत नहीं रह जाएगी। नहीं, यह व्यर्थ नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व है। यह गौरवशाली बात है कि आप किसी दूसरे जैसे नहीं हैं और यह कंपेरिजन कि कोई ऊंचा है और आप नीचे हो, नासमझी का है। कोई ऊंचा और नीचा नही है! प्रत्येक व्यक्ति अपनी जगह है और प्रत्येक व्यक्ति दूसरा अपनी जगह है। नीचे-ऊंचे की बात गलत है। सब तरह का वैल्युएशन गलत है। लेकिन हम यह सिखाते रहे हैं।
विद्रोह का मेरा मतलब है, इस तरह की सारी बातों पर विचार, इस तरह की सारी बातों पर विवेक, इस तरह की एक-एक बात को देखना कि मैं क्या सिखा रहा हूं इस बच्चे को। जहर तो नहीं पिला रहा हूं? बड़े प्रेम से भी जहर पिलाया जा सकता है और बड़े प्रेम से शिक्षक, मां-बाप जहर पिलाते रहे हैं, लेकिन यह टूटना चाहिए।
दुनिया में अब तक धार्मिक क्रांतियां हुई हैं। एक धर्म के लोग दूसरे धर्म के लोग हो गए। कभी समझाने-बुझाने से हुए, कभी तलवार छाती पर रखने से हो गए लेकिन कोई फर्क नहीं पड़ा। हिंदू मुसलमान हो जाए तो वैसे का वैसा

आदमी रहता है, मुसलमान ईसाई हो जाए तो वैसा का वैसा आदमी रहता है, कोई फर्क नहीं पड़ा धार्मिक क्रांतियों से।
राजनैतिक क्रांतियां हुई हैं। एक सत्ताधारी बदल गया, दूसरा बैठ गया। कोई जरा दूर की जमीन पर रहता है, वह बदल गया, तो जो पास की जमीन पर रहता है, वह बैठ गया। किसी की चमड़ी गोरी थी वह हट गया तो किसी की चमड़ी काली थी वह बैठ गया, लेकिन भीतर का सत्ताधारी वही का वही है।
आर्थिक क्रांतियां हो गई हैं दुनिया में। मजदूर बैठ गए, पूंजीपति हट गए। लेकिन बैठने से मजदूर पूंजीपति हो गया। पूंजीवाद चला गया तो उसकी जगह मैनेजर्स आ गए। वे उतने ही दुष्ट, उतने ही खतरनाक! कोई फर्क नहीं पड़ा। वर्ग बने रहे। पहले वर्ग था, जिसके पास धन है--वह, और जिसके पास धन नहीं है--वह। अब वर्ग हो गया--जिसमें धन वितरित किया जाता है--वह और जो धन वितरित करता है--वह। जिसके पास ताकत है, स्टेट में जो है वह, राज्य में जो है वह, और राज्यहीन जो है वह। नया वर्ग बन गया, लेकिन वर्ग कायम रहा।
अब तक इन पांच-छह हजार वर्षों में जितने प्रयोग हुए हैं मनुष्य के लिए, कल्याण के लिए, सब असफल हो गए। अभी तक एक प्रयोग नहीं हुआ है, वह है शिक्षा में क्रांति। वह प्रयोग शिक्षक के ऊपर है कि वह करे। और मुझे लगता है, यह सबसे बड़ी क्रांति हो सकती है। शिक्षा में क्रांति सबसे बड़ी क्रांति हो सकती है। राजनीतिक, आर्थिक या धार्मिक कोई क्रांति का इतना मूल्य नहीं है जितना शिक्षा में क्रांति का मूल्य है। लेकिन शिक्षा में क्रांति कौन करेगा? वे विद्रोही लोग कर सकते हैं जो सोचें, विचार करें--हम यह क्या कर रहे हैं! और इतना तय समझ लें कि जो भी आप कर रहे हैं वह जरूर गलत है क्योंकि उसका परिणाम गलत है। यह जो मनुष्य पैदा हो रहा है, यह जो समाज बन रहा है, यह जो युद्ध हो रहे हैं, यह जो सारी हिंसा चल रही है, यह जो सफरिंग इतनी दुनिया में है, इतनी पीड़ा, इतनी दीनता, दरिद्रता है, यह कहां से आ रही है। यह जरूर हम जो शिक्षा दे रहे हैं उसमें कुछ बुनियादी भूलें हैं। तो यह विचार करें, जागें। लेकिन आप तो कुछ और हिसाब में पड़े रहते होंगे।
शिक्षकों के सम्मेलन होते हैं तो वे विचार करते हैं, विद्यार्थी बड़े अनुशासनहीन हो गए, इनको डिसिप्लिन में कैसे लाया जाए! कृपा करें, इनको पूरा अनुशासनहीन हो जाने दें, क्योंकि आपके डिसिप्लिन का परिणाम क्या हुआ है, पांच हजार साल से--डिसिप्लिन में तो थे, क्या हुआ? और डिसिप्लिन सिखाने का मतलब क्या है? डिसिप्लिन सिखाने का मतलब है कि हम जो कहें उसको ठीक मानो। हम ऊपर बैठें, तुम नीचे बैठो, हम जब निकलें तो दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम करो या और ज्यादा डिसिप्लिन हो तो पैर छुओ और हम जो कहें उस पर शक मत करो, हम जिधर कहें उधर जाओ, हम कहें बैठो तो बैठो, हम कहें उठो तो उठो। यह डिसिप्लिन है? डिसिप्लिन के नाम पर आदमी को मारने की करतूतें हैं, उसके भीतर कोई चैतन्य न रह जाए, उसके भीतर कोई होश न रह जाए, उसके भीतर कोई विवेक और विचार न रह जाए।
मिलिटरी में क्या करते हैं? एक आदमी को तीन-चार साल तक कवायद करवाते हैं--लेफ्ट टर्न, राइट टर्न। कितनी बेवकूफी की बातें हैं कि आदमी से कहो कि बाएं घूमो, दाएं घूमो। घुमाते रहो तीन-चार साल तक, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाएगी। एक आदमी को बाएं-दाएं घुमाओगे, क्या होगा? कितनी देर तक उसकी बुद्धि स्थिर रहेगी। उससे कहो बैठो, उससे कहो खड़े होओ, उससे कहो दौड़ो और जरा इनकार करे तो मारो। तीन-चार वर्ष में उसकी बुद्धि क्षीण हो जाएगी, उसकी मनुष्यता मर जाएगी। फिर उससे कहो, राइट टर्न, तो वह मशीन की तरह घूमता है। फिर उससे कहो, बंदूक चलाओ, तो वह मशीन की तरह बंदूक चलाता है। आदमी को मारो, तो वह आदमी को मारता है। वह मशीन हो गया, वह आदमी नहीं रह गया--यह डिसिप्लिन है? और यह है डिसिप्लिन, हम चाहते हैं कि बच्चों में भी हो। बच्चों में मिलिट्राइजेशन हो... उनको भी एन.सी.सी. सिखाओ, मार डालो दुनिया को, एन.सी.सी. सिखाओ, सैनिक शिक्षा दो, बंदूक पकड़वाओ, लेफ्ट-राइट टर्न करवाओ, मारो दुनिया को। पांच हजार साल में आदमी को... मैं नहीं समझता कि कोई समझ भी आई हो कि चीजों के क्या मतलब है? डिसिप्लिनड आदमी डेड होता है।
जितना अनुशासित आदमी होगा उतना मुर्दा होगा।

तो क्या मैं यह कह रहा हूं कि लड़कों को कहो कि विद्रोह करो, भागो, दौड़ो, कूदो क्लास में, पढ़ने मत दो। यह नहीं कह रहा हूं। यह कह रहा हूं कि आप प्रेम करो बच्चों को। बच्चों के हित, भविष्य की मंगलकामना करो। उस प्रेम और मंगलकामना से एक डिसिप्लिन आनी शुरू होती है जो थोपी हुई नहीं है, जो बच्चे के विवेक से पैदा होती है। एक बच्चे को प्रेम करो और देखो कि वह प्रेम उसमें एक अनुशासन लाता है। वह अनुशासन लेफ्ट-राइट टर्न करने वाला अनुशासन नहीं है। वह उसकी आत्मा से जगता है, प्रेम की ध्वनि से जगता है, थोपा नहीं जाता है, उसके भीतर से आता है। उसके विवेक को जगाओ, उसके विचार को जगाओ, उसको बुद्धिहीन मत बनाओ। उससे यह मत कहो कि हम जो कहते हैं वही सत्य है।
सत्य का पता है आपको? लेकिन दंभ कहता है कि मैं जो कहता हूं वही सत्य है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि आप तीस साल पैदा पहले हो गए, वह तीस साल पीछे हो गया तो आप सत्य के जानकार हो गए और वह सत्य का जानकार नहीं रहा। जितने अज्ञान में आप हो उससे शायद हो सकता है वह कम अज्ञान में हो क्योंकि अभी वह कुछ भी नहीं जानता है, और आप न मालूम कौन-कौन सी नासमझियां, न मालूम क्या-क्या नॉनसेंस जानते होंगे, लेकिन आप ज्ञानी हैं क्योंकि आपकी तीस साल उम्र ज्यादा है। क्योंकि आप ज्ञानी हैं, आपके हाथ में डंडा है इसलिए आप उसको डिसिप्लिनड करना चाहते हैं। नहीं, डिसिप्लिनड कोई किसी को नहीं करना चाहिए, न कोई किसी को करे तो दुनिया बेहतर हो सकती है। प्रेम करें, प्रेम आपका हक है। आप प्रेमपूर्ण जीवन जीयें। आप मंगल कामना करें उसकी, सोचें उसके हित के लिए कि क्या हो सकता है, वैसा करें। और वह प्रेम, वह मंगल कामना असंभव है कि उसके भीतर अनुशासन न ला दे, आदर न ला दे!
फर्क होगा। अभी जो जितना चैतन्य बच्चा है वह उतना ही ज्यादा इनडिसिप्लिन में होगा और जो जितना ईडियट है, जो जितना जड़बुद्धि है वह उतना डिसिप्लिन में होगा। जिस बात को में कह रहा हूं अगर प्रेम के माध्यम से अनुशासन आए तो जो जितना ईडियट है उसमें कोई अनुशासन पैदा न होगा; जो जितना चैतन्य है उसमें उतना ज्यादा अनुशासन पैदा होगा। अभी अनुशासन में वह है जो डल है, जिसमें कोई जीवन नहीं है, स्फुरणा नहीं है। अभी वह अनुशासनहीन है--जिसमें चैतन्य है, विचार है, अगर प्रेम हो तो वह अनुशासनबद्ध होगा, जिसमें विचार है और चैतन्य है, और वह अनुशासनहीन होगा जो जड़ है।
जड़ता के अनुशासन का कोई मूल्य है? नहीं, चैतन्यपूर्वक जो अनुशासन है उसका मूल्य है क्योंकि चैतन्यपूर्वक अनुशासन का अर्थ यह होता है कि वह विचारपूर्वक अनुशासन में है और अगर आप गलत अनुशासन की मांग करेंगे तो वह इनकार कर देगा। अगर पाकिस्तान-हिंदुस्तान के युवक विवेकपूर्वक अनुशासन में हों तो क्या यह संभव है कि पाकिस्तान की हुकूमत उनसे कहे कि जाओ, और हिंदुस्तान के लोगों को मारो या हिंदुस्तान के युवक, अगर अनुशासन में विवेकपूर्वक हों तो क्या यह संभव है कि कोई राजनीतिज्ञ उनसे कहे कि जाओ और पाकिस्तान के लोगों को मारो! ... तो वह कहेंगे कि यह बेवकूफी की बातें बंद करो। हम समझते हैं कि क्या विवेकपूर्ण है, यह हम नहीं कर सकते, लेकिन अभी तो जड़बुद्धियों को अनुशासन सिखाया गया है, उनसे कहा है जाए--मारो, फिर वे बिल्कुल नहीं देखते, क्योंकि अनुशासन ही सत्य है, उसको ही मानना है। दुनिया में राजनीतिज्ञों ने, धर्म पुरोहितों ने खूब शिक्षा दी है कि अनुशासित होना चाहिए। क्यों? क्योंकि अनुशासित आदमी में कोई विद्रोह नहीं होता, कोई विवेक नहीं होता, कोई विचार नहीं होता। उनकी तो पूरी कोशिश है, सारी दुनिया मिलिटरी कैंप हो जाए। कोई आदमी कोई गड़बड़ न करे, उनकी कोशिश चल रही है हजार-हजार ढंग से।
शायद आपको पता हो या न पता हो, अब तक बहुत से रास्ते अख्तियार किए गए हैं। अब रूस में उन्होंने माइंड-वॉश निकाल लिया है, एक मशीन बना ली है। जिस आदमी के दिमाग में विद्रोह होगा, विचार होगा उसके दिमाग को वह मशीन के द्वारा साफ कर देंगे, उसके विचार को खत्म कर देगें। क्योंकि विद्रोही आदमी खतरनाक है, वह हुकूमत के खिलाफ बोल सकता है, लड़ सकता है, लोगों को भड़का सकता है कि यह गलत है, यह जो व्यवस्था है, इसलिए उसके दिमाग को ठंडा कर दो। पहले अनुशासन की तरकीब लगाते थे, वह पूरी कारगर नहीं हुई। फिर भी कुछ

विद्रोही पैदा हो जाते हैं। बहुत कम होते हैं, लेकिन फिर भी कुछ हो ही जाते हैं। अब उन्होंने नई से नई तरकीब निकाली है कि जिस बच्चे के दिमाग में ऐसा लगे कि शक-शुबहा है इसके दिमाग को ही ठीक कर दो। बिजली की जोरदार करंट इसके दिमाग में पहुंचाओ, इसके दिमाग को शिथिल कर दो। ये बड़े खतरनाक मामले हैं जो सारी दुनिया में चल रहे हैं। एटम बम, हाइड्रोजन बम से भी ज्यादा खतरनाक ईजाद यह है।
लेकिन क्या शिक्षक इसमें सहयोगी होगा? मैं इस प्रश्न पर ही अपनी चर्चा को आप पर छोड़ना चाहूंगा कि क्या आप इस दुनिया से सहमत हैं? क्या इस मनुष्य से सहमत हैं जैसा आज आदमी है? क्या इस इंतजाम से सहमत हैं आप, इन युद्धों से, हिंसा से, बेईमानी से सहमत हैं? अगर सहमत नहीं हैं तो पुनर्विचार करिए, आपकी शिक्षा में कहीं बुनियादी भूल है। आप जो दे रहे हैं, वह गलत है।
शिक्षक एक विद्रोही हो, विवेक और विचारपूर्ण उसकी जीवन दृष्टि हो तो
वह समाज के लिए हितकर है, भविष्य में नये से नये समाज के पैदा होने में सहयोगी है। और अगर यह नहीं है तो वह केवल पुराने मुर्दों को नये बच्चों के दिमाग में भरने के अतिरिक्त उसका और कोई काम नहीं है। इस काम को करता चला जाए।
एक क्रांति होनी चाहिए, एक बड़ी क्रांति होनी चाहिए कि शिक्षा का आमूल ढांचा तोड़ दिया जाए और एक नया ढांचा पैदा किया जाए और उस नये ढांचे के मूल्य अलग हों। सफलता उसका मूल्य न हो, महत्वाकांक्षा उसका मूल्य न हो, आगे और पीछे होना सम्मान-अपमान की बातें न हों। एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की कोई तुलना न हो। प्रेम हो, प्रेम से बच्चों के विकास की चेष्टा हो। तो एक नई, बिल्कुल एक अदभुत सुवास से भरी हुई दुनिया पैदा की जा सकती है।
यह थोड़ी सी बातें मैंने आपसे कहीं, इस खयाल से कहीं कि कोई नींद में हो
तो थोड़ा-बहुत तो जागे। लेकिन कई की नींद इतनी गहरी होती है कि वह सिर्फ यही समझ रहे होंगे कि क्या गड़बड़ चल रहा है, नींद सब खराब किए दे रहे हैं। लेकिन अगर थोड़ा-बहुत भी जागें, थोड़ा-बहुत आंख खोल कर देखें तो जो मैंने कहा है, शायद उसमें से कोई बात उपयोगी लगे, ठीक लगे।
यह मैं नहीं कहता हूं कि मैंने जो कहा है वह सच है और ठीक है। क्योंकि
यह तो पुराना शिक्षक कहता था। यह तो आप कहते हैं। मैं तो यह कह रहा हूं कि मैंने अपनी दृष्टि आपको बताई, वह बिल्कुल ही गलत हो सकती है। हो सकता है, उसमें कणमात्र भी सत्य न हो इसलिए मैं यह नहीं कहता कि मैंने जो कहा है उसको आप विश्वास कर लें। मैं कहता हूं, उस पर विचार करना। थोड़ा सा विचार करना और अगर कुछ उसमें से ठीक लगे तो वह मेरी बात नहीं होगी। वह आपका अपना विचार होगा, उस कारण आप मेरे अनुयायी नहीं बन जाएंगे। उस कारण आपने मेरी बात स्वीकार की ऐसा समझने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि वह आपने अपने विवेक से जानी और पहचानी, वह आपकी बन गई है। यह थोड़ी सी बातें कहीं ताकि आप कुछ विचार करें। दुनिया में इस वक्त बहुत धक्के देने की जरूरत है ताकि कुछ विचार पैदा हो। लोग करीब-करीब सो गए हैं, करीब-करीब मर ही गए हैं और सब चला जा रहा है। भगवान करे थोड़ा-बहुत धक्का कई तरफ से लगे और आंखें खुलें और थोड़ा सोचें।
और शिक्षक की सबसे बड़ी जिम्मेवारी है, राजनीतिज्ञों से बचे, राष्ट्रपतियों से, प्रधानमंत्रियों से बचे। इन्हीं नासमझों की वजह से तो दुनिया में परेशानी है सारी, इसी पॉलिटिशियन की वजह से तो सारा उपद्रव है। इनसे बचे। और बच्चों में पॉलिटिशियंस पैदा न होने दें, लेकिन वह पैदा कर रहा है एम्बिशन। नंबर एक आओ, तो फिर आगे क्या होगा। फिर आगे कहां जाएंगे। फिर नंबर एक तो केवल पॉलिटिक्स में ही आ सकते हैं, और तो कोई आता नहीं। और किसी की अखबार में फोटो नहीं छपती, नाम नहीं छपता। फिर तो वहीं आ सकते हैं, फिर तो वह वहीं जाएगा।।
बच्चों में प्रतिस्पर्धा पैदा न होने दें। प्रेम जगाएं, जीवन के प्रति आनंद जगाएं, जीवन के प्रति उल्लास जगाएं--प्रतियोगिता नहीं, प्रतिस्पर्धा नहीं। क्योंकि जो दूसरों से जूझता है, वह धीरे-धीरे जूझने

में समाप्त हो जाता है। और जो अपने आनंद को खोजता है, अपने आनंद को, दूसरे से प्रतियोगिता को नहीं, उसका जीवन एक अदभुत फूल की भांति हो जाता है-- जिसमें सुवास होती है, सौंदर्य होता है।
परमात्मा करे, यह बुद्धि आप में आए। परमात्मा करे, यह विद्रोह आपमें आए, इसकी कामना करता हूं।

मेरी बातों को आपने इतनी शांति से सुना है, उसके लिए बहुत-बहुत अनुगृहीत हूं। और सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं। मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

शिक्षा में क्रांति
पांचवां प्रवचन

प्रेम-विवाह और बच्चे

(प्रश्न का ध्वनि-मुद्रण स्पष्ट नहीं।

जो अनुभव है परमात्मा का अनुभव है। सारे मनुष्य का अनुभव शरीर का अनुभव है। सारे योगी का अनुभव सूक्ष्म शरीर का अनुभव है। परम योगी का अनुभव परमात्मा का अनुभव है। परमात्मा एक है, सूक्ष्म शरीर अनंत है। स्थूल शरीर अनंत है। जो सूक्ष्म शरीर है, वह है--कॉ.जल बॉडी। वह जो सूक्ष्म है, वह नये स्थूल शरीर ग्रहण करता है। हम यहां देख रहे हैं कि बहुत से बल्ब जले हुए हैं। विद्युत तो एक है, विद्युत बहुत नहीं हैं। वह ऊर्जा, वह शक्ति, वह इनर्जी एक है लेकिन दो अलग बल्बों से वह प्रकट हो रही है। बल्ब का शरीर अलग-अलग है, उसकी आत्मा एक है। हमारे भीतर से जो चेतना झांक रही है, वह चेतना एक है, लेकिन है एक सूक्ष्म उपकरण ही, सूक्ष्म देह है! दूसरा उपकरण है--स्थूल देह। हमारा अनुभव स्थूल देह तक ही रुक जाता है। यह जो स्थूल देह तक रुक गया अनुभव है, यही मनुष्य के जीवन का सारा अंधकार और दुख है। लेकिन कुछ लोग सूक्ष्म शरीर पर भी रुक सकते हैं। जो लोग सूक्ष्म शरीर पर रुक जाते हैं, वे ऐसा कहेंगे कि आत्माएं अनंत हैं, लेकिन जो सूक्ष्म शरीर के भी आगे चले जाते हैं, वे कहेंगे परमात्मा एक है, आत्मा एक है, ब्रह्म एक है।
मेरी इन दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है। मैंने जो आत्मा के प्रवेश के लिए कहा, उसका अर्थ है--वह आत्मा जिसका अभी सूक्ष्म शरीर गिर नहीं गया है। इसलिए हम कहते हैं कि जो आत्मा परम मुक्ति को उपलब्ध हो जाती है उसका जन्म-मरण बंद हो जाता है। आत्मा का तो कोई जन्म-मरण है ही नहीं, वह न तो कभी जन्मी है और न कभी मरेगी। वह जो सूक्ष्म शरीर है वह भी समाप्त हो जाने पर कोई जन्म-मरण नहीं रह जाता है, क्योंकि सूक्ष्म शरीर ही कारण बनता है नये जन्मों का। सूक्ष्म शरीर का अर्थ है--हमारे विचार, हमारी कामनाएं, हमारी वासनाएं, हमारी इच्छाएं, हमारे अनुभव, हमारे ज्ञान--इन सबका जो संग्रहीभूत, जो इंटिग्रेटेड सीड है। इन सबका जो बीज है वह हमारा सूक्ष्म शरीर है, वही हमें आगे की यात्रा पर ले जाता है। लेकिन जिस मनुष्य के सारे विचार नष्ट हो गए, जिस मनुष्य की सारी वासनाएं क्षीण हो गईं, जिस मनुष्य की सारी इच्छाएं विलीन हो गईं, जिसके भीतर अब कोई भी इच्छा शेष न रही उस मनुष्य को जाने के लिए कोई जगह नहीं बचती, जाने का कोई कारण नहीं रह जाता। जन्म की कोई वजह नहीं रह जाती।
रामकृष्ण के जीवन में एक अदभुत घटना है। रामकृष्ण को जो लोग बहुत निकट से परमहंस जानते थे, उन सबको यह बात जान कर अत्यंत कठिनाई होती थी कि रामकृष्ण जैसा परमहंस, रामकृष्ण जैसा समाधिस्थ व्यक्ति भोजन के संबंध में बहुत लोलुप था। रामकृष्ण भोजन के लिए बहुत आतुर होते थे और भोजन के लिए इतनी प्रतीक्षा करते थे कि कई बार उठ कर चौका में पहुंच जाते और पूछते शारदा को, बहुत देर हो गई, क्या बन रहा है आज? ब्रह्म की चर्चा चलती और बीच में ब्रह्म-चर्चा छोड़ कर पहुंच जाते किचन में और पूछने लगते, क्या बना है आज और खोजने लगते। शारदा ने भी उन्हें कहा, आप क्या करते हैं? लोग क्या सोचते होंगे कि ब्रह्म की चर्चा छोड़ कर एकदम अन्न की चर्चा पर आप उतर आते हैं। रामकृष्ण हंसते और चुप रह जाते। उनके शिष्यों ने भी उनको बहुत बार कहा कि इससे बहुत बदनामी होती है। लोग कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति क्या ज्ञान को उपलब्ध हुआ होगा, जिसकी अभी रसना, जिसकी अभी जीभ इतनी लालायित होती है भोजन के लिए।
एक दिन शारदा ने बहुत कुछ भला बुरा कहा, रामकृष्ण की पत्नी ने। तो रामकृष्ण ने कहा कि तुझे पागल, पता नहीं, जिस दिन मैं भोजन के प्रति अरुचि प्रकट करूं, तू समझ लेना कि अब मेरे जीवन की यात्रा केवल तीन दिन और शेष रह गई। बस तीन दिन से ज्यादा फिर मैं जिऊंगा नहीं। जिस दिन भोजन के प्रति मेरी उपेक्षा हो, तू समझ लेना कि तीन दिन बाद मेरी मौत आ गई है। शारदा कहने

लगी, इसका अर्थ? रामकृष्ण कहने लगे, मेरी सारी वासनाएं क्षीण हो गईं, मेरी सारी इच्छाएं विलीन हो गईं, मेरे सारे विचार नष्ट हो गए हैं, लेकिन जगत के हित के लिए मैं रुका रहना चाहता हूं। मैं एक वासना को जबरदस्ती पकड़े हुए हूं, जैसे किसी नाव की सारी जंजीरें खुल गई हों और एक जंजीर से नाव अटकी रह गई हो और एक जंजीर और टूट जाए तो नाव अपनी अनंत यात्रा पर निकल जाएगी। मैं चेष्टा करके रुका हुआ हूं।
किसी की समझ में शायद यह बात नहीं आई लेकिन रामकृष्ण की मृत्यु के तीन दिन पहले शारदा थाली लगा कर रामकृष्ण के कमरे में गई। वे बैठे हुए देख रहे थे। उन्होंने थाली देख कर आंखें बंद कर लीं, लेट गए और पीठ कर ली शारदा की तरफ। उसे एकदम से खयाल आया कि उन्होंने कहा था कि तीन दिन बाद मौत हो जाएगी जिस दिन जीवन के प्रति अरुचि करूं। उसके हाथ से थाली झन्ना कर गिर गई, वह सिर पीट कर रोने लगी। रामकृष्ण ने कहा, रोओ मत, तुम जो कहती थी वह बात भी अब पूरी हो गई। ठीक तीन दिन बाद रामकृष्ण की मृत्यु हो गई। एक छोटी सी वासना को प्रयास करके वे रोके हुए थे। उतनी छोटी सी वासना जीवन यात्रा का आधार बनी थी, वह वासना भी चली गई तो जीवन यात्रा का सारा आधार समाप्त हो गया। जिसे तीर्थंकर कहते हैं, जिसे हम ईश्वर के पुत्र कहते हैं, जिसे हम अवतार कहते हैं, उनकी भी एक ही वासना शेष रह गई होती है। और उस वासना को वे शेष रखना चाहते हैं करुणा के हित, मंगल के हित, सर्वमंगल के हित, सर्व लोक के हित। जिस दिन वह वासना भी क्षीण हो जाती है उसी दिन जीवन की यात्रा समाप्त और अनंत की अंतहीन यात्रा शुरू होती है। उसके बाद जन्म नहीं है, उसके बाद मरण नहीं है, उसके बाद न एक है, न अनेक है। उसके बाद तो जो शेष रह जाता है, उसे संख्या में गिनने का कोई उपाय नहीं।
इसलिए जो जानते हैं वे यह भी देखते हैं कि ब्रह्म एक है, परमात्मा एक है। क्योंकि एक कहना व्यर्थ है जब कि दो की गिनती न बनती हो। एक कहने का कोई अर्थ नहीं जब कि दो और तीन नहीं कहे जा सकते हों। एक कहना तभी तक सार्थक है जब तक कि दो-तीन-चार भी सार्थक होते हैं। संख्याओं के बीच की एक सार्थकता है, इसलिए जो जानते हैं वे यह भी नहीं कहते कि ब्रह्म एक है। वे कहते हैं, ब्रह्म अद्वैत है, दो नहीं है, बहुत अदभुत बात कहते हैं। वे कहते हैं, परमात्मा दो नहीं है, वे यह कहते हैं कि परमात्मा को संख्या में गिनने का उपाय नहीं है। एक कह करके भी हम संख्या में गिनने की कोशिश करते हैं, वह गलत है। लेकिन उस तक पहुंचना दूर, अभी तो हम स्थूल पर खड़े हैं--उस शरीर पर जो अनंत है, अनेक है। उस शरीर के भीतर हम प्रवेश करेंगे तो एक और शरीर उपलब्ध होगा--सूक्ष्म शरीर। उस शरीर को भी पार करेंगे तो वह उपलब्ध होगा जो शरीर नहीं है, अशरीर है, जो आत्मा है।
मैंने जो कल कहा उसमें जरा भी विरोध नहीं है, उसमें कोई विरोधाभास नहीं है।

एक और मित्र ने पूछा हैः आत्मा शरीर के बाहर चली जाए तो क्या दूसरे मृत शरीर में भी प्रवेश कर सकती है?

कर सकती है। लेकिन दूसरे मृत शरीर में प्रवेश करने का कोई अर्थ और प्रयोजन नहीं रह जाता। क्योंकि दूसरा शरीर इसीलिए मृत हुआ है कि उस शरीर में रहने वाली आत्मा अब उस शरीर में रहने में असमर्थ हो गई थी। वह शरीर व्यर्थ हो गया था इसीलिए छोड़ा गया है, कोई प्रयोजन नहीं है उस शरीर में प्रवेश का। लेकिन इस बात की संभावना है कि दूसरे शरीर में प्रवेश किया जा सके। लेकिन यह प्रश्न पूछना मूल्यवान नहीं है कि हम दूसरे के शरीर में कैसे प्रवेश करें, अपने ही शरीर में हम कैसे बैठे हुए हैं इसका भी हमें कोई पता नहीं। हम दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की व्यर्थ की बातों पर विचार करने से क्या फायदा उठा सकते हैं! हम अपने ही शरीर में कैसे प्रविष्ट हो गए हैं इसका भी हमें कोई पता नहीं। हम अपने शरीर में कैसे जी रहे हैं इसका भी कोई पता नहीं, हम अपने ही शरीर से पृथक होकर अपने को देख सकें इसका भी कोई अनुभव नहीं। दूसरे के शरीर में प्रवेश का प्रयोजन भी नहीं है, लेकिन

वैज्ञानिक रूप से यह कहा जा सकता है कि दूसरे के शरीर में प्रवेश संभव है, क्योंकि शरीर न ही दूसरे का है, न अपना है। सब शरीर दूसरे हैं।
जब मां के पेट में एक आत्मा प्रविष्ट होती है तब भी वह शरीर में प्रवेश हो रही है, बहुत छोटे शरीर में प्रवेश हो रही है, एटामिक बॉडी में प्रवेश हो रही है, लेकिन शरीर तो है! वह जो पहले दिन अणु बनता है मां के पेट में वह अणु आपके शरीर की रूपाकृति अपने में छिपाए हुए है। पचास साल बाद आपके बाल सफेद हो जाएंगे, यह संभावना भी उस छोटे से बीज में छिपी हुई है। आपकी आंख का रंग कैसा होगा, यह संभावना भी उस बीज में छिपी हुई है। आपके हाथ कितने लंबे होंगे, आप स्वस्थ होंगे कि बीमार, आप गोरे होंगे कि काले, कि बाल घुंघराले होंगे, ये सारी बातें उस छोटे बीज में पोटेंशियली छिपी हुई हैं। वह छोटी देह है, वह एटामिक बॉडी है, अणु शरीर है, उस अणु शरीर में आत्मा प्रविष्ट होती है। उस अणु शरीर की जो संरचना है, उस अणु शरीर की जो स्थिति है, जो सिचुएशन है, उसके अनुकूल आत्मा उसमें प्रविष्ट होती है।
और दुनिया में जो मनुष्य-जाति का जीवन और चेतना रोज नीचे गिरती जा रही
है उसका एकमात्र कारण है कि दुनिया के दंपति श्रेष्ठ आत्माओं के जन्म लेने की सुविधा पैदा नहीं कर रहे हैं। जो सुविधा पैदा की जा रही है, वह अति निकृष्ट आत्माओं के पैदा होने की सुविधा है। आदमी के मर जाने के बाद जरूरी नहीं है कि उस आत्मा को जल्दी जन्म लेने का अवसर मिल जाए। साधारणतया आत्माएं, जो न बहुत श्रेष्ठ होती हैं, न बहुत निकृष्ट होती हैं तेरह दिन के भीतर नये शरीर की खोज कर लेती हैं; लेकिन निकृष्ट आत्माएं भी रुक जाती हैं, क्योंकि उतना निकृष्ट अवसर मिलना मुश्किल होता है। उन निकृष्ट आत्माओं को ही हम प्रेत और भूत कहते हैं। बहुत श्रेष्ठ आत्माएं भी रुक जाती हैं, क्योंकि उतने श्रेष्ठ अवसर का उपलब्ध होना मुश्किल होता है। उन श्रेष्ठात्माओं को ही हम देवता कहते हैं। पहली पुरानी दुनिया में भूत-प्रेत की संख्या बहुत कम थी और देवताओं की संख्या बहुत ज्यादा। आज की दुनिया में भूत-प्रेतों की संख्या बहुत ज्यादा हो गई है और देवताओं की संख्या कम, क्योंकि देवता-पुरुषों का अवसर पैदा होने का कम हो गया है, भूत-प्रेत पैदा होने का अवसर बहुत तीव्रता से उपलब्ध हुआ है।
तो जो भूत-प्रेत रुके रह जाते हैं मनुष्य के भीतर प्रवेश करने से वे सारे मनुष्य-जाति में प्रविष्ट हो गए। इसलिए आज भूत-प्रेतों का दर्शन मुश्किल हो गया है क्योंकि उसके दर्शन की कोई जरूरत नहीं। आप आदमी को ही देख लें और उसके दर्शन हो जाते हैं। और देवता पर हमारा विश्वास कम हो गया, क्योंकि देव-पुरुष ही जब दिखाई नहीं पड़ते हों, तो देवता पर विश्वास करना बहुत कठिन है। एक जमाना था कि देवता उतनी ही वास्तविकता थी, उतनी ही एक्चुअलिटी थी जितना कि हमारे और जीवन के दूसरे सत्य हैं। अगर हम वेद के ऋषियों को पढ़ें तो ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि वे देवताओं के संबंध में जो बात कह रहे हैं वह किसी कल्पना के देवता के संबंध में बात कह रहे हैं। नहीं, वे ऐसे देवता की बात कर रहे हैं जो उनके साथ गीत गाता है, हंसता है, बात करता है। वे एक ऐसे देवता की बात कर रहे हैं, जो पृथ्वी पर चलता है, उनके अत्यंत निकट।
हमारा देवता से सारा संबंध विनष्ट हुआ है क्योंकि हमारे बीच ऐसे पुरुष नहीं जो सेतु बन सकें, जो ब्रिज बन सकें, जो देवताओं और मनुष्यों के बीच में खड़े होकर घोषणा कर सकें कि देवता कैसे होते हैं और इनका सारा जिम्मा मनुष्य जाति के दांपत्य की जो व्यवस्था है उस पर निर्भर है। मनुष्य-जाति की दांपत्य की सारी की सारी व्यवस्था कुरूप, अग्ली और परवर्टेड है।
पहली तो बात यह है कि हमने हजारों साल से प्रेमपूर्ण विवाह बंद कर दिए हैं और विवाह हम बिना प्रेम के कर रहे हैं। जो विवाह प्रेम के बिना होगा उस दंपति के बीच कभी भी वह आध्यात्मिक संबंध उत्पन्न नहीं होता जो प्रेम से संभव था। उन दोनों के बीच कभी भी वह हार्मनी, कभी भी वह एकरूपता और संगीत पैदा नहीं हो सकता जो एक श्रेष्ठ आत्मा के जन्म के लिए जरूरी है। उनका प्रेम केवल था, रहने की वजह से पैदा हो गया, एक साहचर्य होता है। उनके प्रेम में वह आत्मा का आंदोलन नहीं होता जो दो प्राणों को एक कर देता है।

प्रेम के बिना जो बच्चे पैदा होते हैं पृथ्वी पर, वे बच्चे प्रेमपूर्ण नहीं हो सकते, वे देवता जैसे नहीं हो सकते, उनकी स्थिति भूत-प्रेत जैसी होगी, उनका जीवन घृणा भर देगा और हिंसा का ही जीवन होगा। जरा सी बात फर्क पैदा करती है, अगर व्यक्तित्व की बुनियादी हार्मनी, अगर व्यक्तित्व की बुनियादी लयबद्धता नहीं है... तो अदभुत परिवर्तन होते हैं!
शायद आपको पता नहीं होगा, स्त्री पुरुषों से ज्यादा सुंदर क्यों दिखाई पड़ती है? शायद आपको खयाल न होगा, स्त्री के व्यक्तित्व में एक राउंडनेस, एक सुडौलता क्यों दिखाई पड़ती है? वह पुरुष के व्यक्तित्व में क्यों नहीं दिखाई पड़ती? शायद आपको खयाल में न होगा कि स्त्री के व्यक्तित्व में एक संगीत, एक नृत्य, एक इनर डांस, एक भीतरी नृत्य क्यों दिखाई पड़ता है जो पुरुष में दिखाई नहीं पड़ता है। एक छोटा सा कारण, बहुत बड़ा कारण नहीं है। एक छोटा सा, इतना छोटा है कि आप कल्पना भी नहीं कर सकते। इतने छोटे से कारण पर व्यक्तित्व का इतना भेद पैदा हो जाता है। मां के पेट में जो बच्चा निर्मित हो जाता है, उस पहले अणु में चौबीस जीवाणु पुरुष के होते हैं और चौबीस जीवाणु स्त्री के होते हैं। अगर चौबीस-चौबीस के दोनों जीवाणु मिलते हैं तो अड़तालीस जीवाणुओं का पहला सेल निर्मित होता है। अड़तालीस सेल से जो प्राण पैदा होता है वह स्त्री का शरीर बन जाता है। उसके दोनों बाजू चौबीस-चौबीस सेल के होते हैं, बैलेंस, संतुलित। पुरुष का जो जीवाणु होता है वह सैंतालीस जीवाणुओं का होता है। एक तरफ चौबीस होते हैं, एक तरफ तेईस। बस यह बैलेंस टूट गया, वहीं से व्यक्तित्व का। संतुलन टूट गया वहीं से व्यक्तित्व का--हार्मनी टूट गई।
स्त्री के दोनों पलड़े व्यक्तित्व के बराबर संतुलन के हैं। उससे सारा स्त्री का सौंदर्य, उसकी सुडौलता, उसकी कला, उसके व्यक्तित्व का रस, उसके व्यक्तित्व का काव्य पैदा होता है। और पुरुष के व्यक्तित्व में जरा सी कमी है, तो उसका एक तराजू चौबीस जीवाणुओं से बना हुआ है। मां से जो जीवाणु मिलता है वह चौबीस का बना हुआ है और पुरुष से जो मिलता है वह तेईस का बना हुआ है।
पुरुष के जीवाणुओं में दो तरह के जीवाणु होते हैं, चौबीस कोष्ठधारी
और तेईस कोष्ठधारी। तेईस कोष्ठधारी जीवाणु अगर मां के चौबीस कोष्ठधारी जीवाणु से मिलता है तो पुरुष का जन्म होता है। इसलिए पुरुष में एक बेचैनी जीवन भर बनी रहती है, एक इंटेंस डिसकंटेंट बना रहता है। क्या करूं... क्या करूं, एक चिंता, एक बेचैनी, यह कर लूं, यह कर लूं, वह कर लूं। पुरुष की जो बेचैनी है वह एक छोटी सी घटना से शुरू होती है और वह घटना है कि उसके एक पलड़े पर एक अणु कम है। उसका बैलेंस, व्यक्तित्व कम है। स्त्री का बैलेंस है, स्त्री की हार्मनी पूरी है, उसकी लयबद्धता पूरी है।
इतनी सी घटना इतना फर्क लाती है। हालांकि इससे स्त्री सुंदर तो हो सकी लेकिन स्त्री विकासमान नहीं हो सकी, क्योंकि जिस व्यक्तित्व में समता है वह विकास नहीं करता, वह ठहर जाता है। पुरुष का व्यक्तित्व विषम है। विषम होने के कारण वह दौड़ता है, विकास करता है, एवरेस्ट चढ़ता है, पहाड़ पार करता है, चांद पर जाएगा, तारों पर जाएगा, खोज बीन करेगा, सोचेगा, ग्रंथ लिखेगा, धर्म निर्माण करेगा। स्त्री यह कुछ भी नहीं करेगी। न वह एवरेस्ट जाएगी, न वह चांद-तारों पर जाएगी, न वह धर्मों की खोज करेगी, न ग्रंथ लिखेगी, न विज्ञान की शोध करेगी। वह कुछ भी नहीं करेगी। उसके व्यक्तित्व में एक संतुलन उसे पार होने के लिए तीव्रता से नहीं भरता है। पुरुष ने सारी सभ्यता विकसित की, एक छोटी सी बात के कारण, उसमें एक अणु कम है। और स्त्री ने सारी सभ्यताएं विकसित नहीं की, उसमें एक अणु पूरा है। उतनी सी घटना व्यक्तित्व का भेद ला सकती है। मैं इसीलिए यह कह रहा हूं कि यह तो बायोलॉजिकली है, यह तो जीव शास्त्र कहेगा, इतना सा फर्क, इतने भिन्न व्यक्तित्वों को जन्म दे देता है और गहरे फर्क हैं और इतने डिफरेंस हैं। तो पुरुष और स्त्री के मिलने पर जिस बच्चे का जन्म होता है वह उन दोनों व्यक्तियों में कितना गहरा प्रेम है, कितनी आध्यात्मिकता, कितनी पवित्रता है, कितने प्रेयरफुल, कितने प्रार्थनापूर्ण हृदय से वे एक दूसरे के पास आए हैं इस पर निर्भर करेगा कि कितनी ऊंची आत्मा उनकी तरफ आकर्षित

होती है, कितनी विराट आत्मा उनकी तरफ आकर्षित होती है, कितनी महान दिव्य चेतना उस घर में अपना आवास बनाती है, यह इस पर निर्भर करेगा।
मनुष्य-जाति क्षीण और दीन, दरिद्र और दुखी होती चली जा रही है। उसके बहुत गहरे में कारण मनुष्य-दांपत्य का विकृत होना है और जब तक हम मनुष्य के दांपत्य जीवन को स्वीकृत नहीं कर लेते, जब तक उसे हम स्प्रिचुअलाइज नहीं कर लेते तब तक हम मनुष्य के भविष्य में सुधार नहीं कर सकते। और इस दुर्भाग्य में उन लोगों का भी हाथ है जिन लोगों ने गृहस्थ जीवन की निंदा की है और संन्यास जीवन का बहुत ज्यादा शोरगुल मचाया है, उनका हाथ है। क्योंकि एक बार जब गृहस्थ जीवन कंडेम्ड हो गया, निंदित हो गया तो उस तरफ हमने विचार करना छोड़ दिया। नहीं, मैं आपसे कहना चाहता हूं, संन्यास के रास्ते से बहुत थोड़े लोग ही परमात्मा तक पहुंच सकते हैं। बहुत थोड़े से लोग, कुछ विशिष्ट तरह के लोग, कुछ अत्यंत भिन्न तरह के लोग संन्यास के रास्ते से परमात्मा तक पहुंचते हैं। अधिकतम लोग गृहस्थ के रास्ते से और दांपत्य के रास्ते से ही परमात्मा तक पहुंचते हैं। और आश्चर्य की बात यह कि गृहस्थ के मार्ग से पहुंच अत्यंत सरल और सुलभ है, लेकिन उस तरफ कोई ध्यान नहीं दिया गया।
आज तक सारा धर्म संन्यासियों के अति प्रभाव से पीड़ित है। आज तक का पूरा धर्म गृहस्थ के लिए विकसित नहीं हो सका और अगर गृहस्थ के लिए धर्म विकसित होता तो हमने जन्म के पहले चरण में विचार किया होता कि कैसी आत्मा को आमंत्रित करना है, कैसी आत्मा को पकड़ना है, कैसी आत्मा को प्रवेश देना है जीवन में। अगर धर्म की ठीक-ठीक शिक्षा हो सके और एक-एक व्यक्ति को धर्म का विचार, कल्पना और भावना दी जा सके तो बीस वर्षों में आने वाले मनुष्य की पीढ़ी को बिल्कुल नया बनाया जा सकता है।
वह आदमी पापी है जो आने वाली आत्मा के लिए प्रेमपूर्ण आमंत्रण भेजे बिना भोग में उतरता है। वह आदमी अपराधी है, उसके बच्चे नाजायज हैं, चाहे उसने बच्चे विवाह के द्वारा पैदा किए हों। जिन बच्चों के लिए उसने अत्यंत प्रार्थना और पूजा से और परमात्मा को स्मरण करके नहीं बुलाया है, वह आदमी अपराधी है, वह अपराधी रहेगा। कौन हमारे भीतर प्रविष्ट होता है इस पर निर्भर करता है सारा भविष्य। हम शिक्षा की फिकर करते हैं, हम वस्त्रों की फिकर करते हैं, हम बच्चों के स्वास्थ्य की फिकर करते हैं, लेकिन बच्चे की आत्मा की फिकर हम बिल्कुल ही छोड़ दिए हैं। इससे कभी भी कोई अच्छी मनुष्य-जाति पैदा नहीं हो सकती। इसलिए यह बहुत फिकर न करें कि दूसरे के शरीर में कैसे प्रवेश करें। इस बात की फिकर करें कि आप इस शरीर में ही कैसे प्रवेश कर गए।

इस संबंध में भी एक मित्र ने पूछा है कि क्या हम अपने अतीत जन्मों को जान सकते हैं?

निश्चित ही जान सकते हैं। लेकिन अभी तो आप इस जन्म को भी नहीं जानते, अतीत के जन्मों को जानना तो फिर बहुत कठिन है। निश्चित ही मनुष्य जान सकता है अपने पिछले जन्मों को, क्योंकि जो भी एक बार चित्त पर स्मृति बन गई है वह नष्ट नहीं होती। वह हमारे चित्त के गहरे तलों में, अनकांशस हिस्सों में सदा मौजूद रहती है। हम जो भी जानते हैं उसे कभी नहीं भूलते हैं। अगर मैं आपसे पूछूं कि उन्नीस सौ पचास में एक जनवरी को आपने क्या किया था तो शायद आप कुछ भी नहीं बता सकेंगे। आप कहेंगे, मुझे क्या याद है! ... मुझे कुछ भी याद नहीं है। एक जनवरी उन्नीस सौ पचास कुछ भी खयाल नहीं आता कि मैंने कुछ किया, लेकिन अगर आपको सम्मोहित किया जा सके, हिप्नोटाइज किया जा सके और सरलता से किया जा सकता है और आपको बेहोश करके पूछा जाए कि एक जनवरी उन्नीस सौ पचास को आपने क्या किया तो आप सुबह से सांझ तक का ब्योरा इस तरह बता देंगे जैसे अभी वह एक जनवरी आपके सामने गुजर रही है। आप यह भी बता देंगे कि एक जनवरी को सुबह जो मैंने चाय पी थी उसमें शक्कर थोड़ी कम थी। आप यह भी बता देंगे कि इस आदमी ने मुझे चाय दी थी। उस आदमी के शरीर से पसीने की बदबू आ रही थी। आप इतनी छोटी बातें बता देंगे कि जो जूता मैं पहने हुए था वह मुझे

पैर में काट रहा था। सम्मोहित अवस्था में आपके भीतर की स्मृति को बाहर लाया जा सकता है। मैंने उस दिशा में बहुत से प्रयोग किए हैं, इसलिए आपसे कहता हूं और जिस मित्र को भी इच्छा हो अपने पिछले जन्मों में जाने की उसे ले जाया जा सकता है। लेकिन पहले उसे इसी जन्म में पीछे लौटना पड़ेगा। इस जन्म की ही स्मृतियों में पीछे लौटना पड़ेगा। वहां तक पीछे लौटना पड़ेगा जहां वह मां के पेट में कंसीव हुआ, गर्भ धारण हुआ और उसके बाद फिर दूसरे जन्म की स्मृतियों में प्रवेश किया जा सकता है।
लेकिन ध्यान रहे, प्रकृति ने पिछले जन्मों को भुलाने की व्यवस्था अकारण नहीं की है। कारण बहुत महत्वपूर्ण है। और पिछले जन्म तो दूर हैं, अगर आप को एक महीने की ही सारी बातें याद रह जाएं तो आप पागल हो जाएंगे। एक दिन की नींद में अगर सुबह से शाम तक की सारी बातें याद रह जाएं तो आप जिंदा नहीं रह सकेंगे। तो प्रकृति की सारी व्यवस्था यह है कि आपका मन जितना तनाव झेल सकता है उतनी ही स्मृति आपके भीतर शेष रहने दी जाती है। शेष सब अंधेरे गर्त में डाल दी जाती हैं। जैसे घर में एक कबाड़ होता है। बेकार चीजें आप कबाड़ घर में डाल कर दरवाजा बंद कर देते हैं, वैसे ही स्मृति का एक कलेक्टिव हाउस, एक अनकांशस घर है, एक अचेतन घर है, जहां स्मृति में जो बेकार होता चला जाता है, जिसे चित्त में रखने की जरूरत नहीं है वह संगृहीत होता रहता है। वहां जन्म-जन्मों की स्मृतियां संगृहीत हैं। लेकिन अगर कोई आदमी अनजाने, बिना समझे हुए उस घर में प्रविष्ट हो जाए तो तत्क्षण पागल हो जाएगा। इतनी ज्यादा हैं वे संस्मृतियां।
एक महिला मेरे पास प्रयोग करती थीं। उनको बहुत इच्छा थी कि वे पिछले जन्मों को जानें। मैंने उनको कहा कि यह हो सकता है लेकिन आगे की जिम्मेवारी समझ लेनी चाहिए, क्योंकि हो सकता है पिछले जन्म को जानने से आप बहुत चिंतित और परेशान हो जाएं। उन्होंने कहा कि नहीं, मैं क्यों परेशान होऊंगी। पिछला जन्म तो हो चुका है अब। क्या फिकर की बात है। उन्होंने प्रयोग शुरू किया। वे एक कालेज में प्रोफेसर थीं। बुद्धिमान थीं, समझदार थीं, हिम्मतवर थीं... प्रयोग शुरू किया और जिस भांति मैंने कहा, उन्होंने गहरे से गहरे मेडिटेशन किए, गहरे से गहरा ध्यान किया। धीरे-धीरे स्मृति के नीचे पर्तों को उघाड़ना शुरू किया। और एक दिन जिस पहली बार उन्हें पिछले जन्म में प्रवेश मिला वह भागती हुई आई। उनके हाथ-पैर कंप रहे थे। आंखों से आंसू बह रहे थे। एकदम छाती पीट-पीट कर रोने लगीं और कहने लगीं कि मैं भूलना चाहती हूं उस बात को जो मुझे याद आ गई। मैं उस पिछले जन्म में अब आगे नहीं जाना चाहती। मैंने कहाः अब मुश्किल है--जो याद आ गई उसे भूलने में फिर बहुत वक्त लग जाएगा। लेकिन इतनी घबड़ाहट क्या है! उन्होंने कहाः नहीं-नहीं, पूछिए ही मत! मैं तो सोचती थी कि मैं बहुत पतिव्रता हूं, बहुत सच्चरित्र हूं, लेकिन पिछले जन्म में एक मंदिर में वेश्या थी, दक्षिण की। मैं देवदासी थी और मैंने हजारों पुरुषों के साथ संभोग किया और मैंने अपने शरीर को बेचा। नहीं, मैं उसे भुलाना चाहती हूं। मैं उसे एक क्षण भी याद नहीं रखना चाहती। मैंने कहाः अब इतना आसान नहीं है! याद करना बहुत आसान है, भूल जाना बहुत मुश्किल है।
पिछले जन्म में जाया जा सकता है और जिसकी मर्जी हो उसके रास्ते हैं, मैथडोलॉजी है! महावीर और बुद्ध दोनों मनुष्यों ने मनुष्य-जाति को बड़े से बड़ा दान दिया है, वह उनकी अहिंसा-वहिंसा का सिद्धांत नहीं है। वह सबसे बड़ा दान है--जाति-स्मरण का सिद्धांत, वह है पिछले जन्मों की स्मृति में उतरने की कला। महावीर और बुद्ध दोनों पहले आदमी हैं पृथ्वी पर, जिन्होंने प्रत्येक साधक के लिए यह कहा कि तब तक तुम आत्मा से परिचित नहीं हो सकोगे जब तक तुम पिछले जन्मों में नहीं उतरते हो। और उन्होंने प्रत्येक साधक को पिछले जन्म में ले जाने की फिकर की। और एक बार कोई आदमी अपने पिछले जन्मों की स्मृतियों में जाने की हिम्मत जुटा ले, वह दूसरा आदमी हो जाएगा। क्योंकि उसे पता चलेगा कि जिन बातों को मैं हजारों बार कर चुका हूं, उन्हीं को फिर कर रहा हूं! कैसा पागल हूं, कितनी बार मैंने संपत्ति इकट्ठी की है; कितनी बार मैंने करोड़ों के अंबार लगा दिए; कितनी बार मैंने महल खड़े किए, कितनी बार इज्जत, ज्ञान और पद और कितनी बार दिल्ली के सिंहासनों की

यात्रा कर ली है, कितनी बार, कितनी अनंत बार, और फिर मैं वही कर रहा हूं! और हर वह यात्रा असफल हो गई है। वह यात्रा इस बार भी असफल हो जाएगी। तत्क्षण उसकी संपत्ति की दौड़ बंद हो जाएगी, तत्क्षण उसके पदों का मोह नष्ट हो जाएगा। वह आदमी जानेगा, मैंने हजारों-हजारों वर्षों में कितनी स्त्रियां भोगी, स्त्रियां जानेंगी कि मैंने हजारों-हजारों वर्षों में कितने पुरुष भोगे और न किसी पुरुष से तृप्ति मिली और न किसी स्त्री से तृप्ति मिली, और अब भी मैं यही सोच रहा हूं कि इस स्त्री को भोगूं, उस स्त्री को भोगूं, इस पुरुष को भोगूं, उस पुरुष को भोगूं, यह करोड़ बार हो चुका है।
एक बार स्मरण आ जाए इसका तो फिर यह दुबारा नहीं हो सकता। क्योंकि इतने बार जब हम कर चुके हों और कोई फल न पाया हो तो फिर आगे उसे दोहराए जाने का उपाय नहीं है, कोई अर्थ नहीं है। बुद्ध और महावीर दोनों ने जाति-स्मरण के गहरे प्रयोग किए अतीत जन्मों की स्मृति के। और जो साधक एक बार उस स्मृति से गुजर गया, वह आदमी दूसरा हो गया, ट्रांसफार्म हो गया, बदल गया। जिन मित्र ने पूछा है, उनको जरूर कहूंगा कि अगर उनकी इच्छा हो तो उन्हें पिछली स्मृति में ले जाया जा सकता है। लेकिन सोच-समझ कर ही उस प्रयोग में जाया जा सकता है। इस जिंदगी की चिंताएं ही काफी हैं, इस जिंदगी की परेशानियां ही बहुत हैं। इस जिंदगी को भुलाने के लिए आदमी शराब पीता है, सिनेमा देखता है, ताश खेलता है, जुआ खेलता है। इस जिंदगी को भी भूलने के लिए, दिन भर को भूलने के लिए रात शराब पी लेता है।
जो आदमी आज के दिन भर को याद नहीं रख सकता, इतना साहस नहीं है कि जिंदगी को हंस कर ले, वह आदमी कैसे पिछले जन्मों को याद करने की हिम्मत जुटा पाएगा। यह जान कर आपको हैरानी होगी कि सारे धर्मों ने शराब का विरोध किया है और यह सारे बिल्कुल न समझने वाले नेतागण जो दुनिया को समझाते हैं कि शराब का इसलिए विरोध किया है कि उससे चरित्र नष्ट हो जाता है, कि उससे घर की संपत्ति नष्ट हो जाती है, कि आदमी लड़ने-झगड़ने लगता है--ये सब बेवकूफी की बातें हैं।
धर्मों ने शराब का विरोध सिर्फ इसलिए किया है कि जो आदमी शराब पीता है, वह अपने को भुलाने का उपाय कर रहा है और जो आदमी अपने को भुलाने का उपाय कर रहा है, वह अपनी आत्मा से कभी भी परिचित नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा से परिचित होने के लिए तो अपने को जानने का उपाय करना है। इसलिए शराब और समाधि दो विरोधी चीजें बन गईं। उनका इससे कोई मतलब नहीं है, क्योंकि सच तो यह है... और यह बात बहुत समझ लेने जैसी हैः आमतौर से लोग समझते हैं कि शराबी आदमी बुरा होता है। मैं शराबियों को भी जानता हूं और उनको भी जो शराब नहीं पीते हैं! मैंने आज तक हजारों अनुभव में यह पाया है कि शराब पीने वाला न पीने वाले से कई अर्थों में अच्छा होता है। मैंने शराब पीने वालों में जितनी दया और करुणा देखी, उतनी मैंने शराब न पीने वालों में नहीं देखी। मैंने शराब पीने वालों में जितनी विनम्रता देखी--जितनी ह्युमिलिटी, उतनी मैंने शराब नहीं पीने वालों में नहीं देखी। जितनी अकड़ मैंने देखी शराब न पीने वालों में उतनी अकड़ शराब पीने वालों में दिखाई नहीं पड़ी। लेकिन इन सारी बातों से नहीं किया है विरोध धर्म ने और यह जो सारे नेतागण समझाते फिरते हैं कि इसलिए विरोध किया है--इसलिए विरोध नहीं किया है, विरोध किया है इसलिए कि जो आदमी अपने को भुलाने का उपाय करता है वह अपने साहस को छोड़ रहा है, याद करने के, रिमेंबरिंग के, स्मृति के!
और जो आदमी इसी जन्म को भुलाने की फिकर में लगा है वह पिछले जन्मों को याद कैसे कर सकेगा। और जो पिछले जन्मों को याद नहीं कर सकता वह इस जन्म को बदलेगा कैसे! फिर एक अंधा रिपिटिशन चलता रहेगा। जो हमने बार-बार किया है, वही हम बार-बार करते चले जाएंगे। अंतहीन है यह प्रक्रिया और जब तक हमें स्मरण नहीं होगा, हम बार-बार जन्मेंगे और उन्हीं बेवकूफियों को बार-बार करेंगे जिन्हें हमने बार-बार किया है... और इसका कोई अंत नहीं! इस बोर्डम का, इसशृंखला का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि बार-बार हम फिर मर जाएंगे, फिर भूल जाएंगे, फिर वही शुरू हो जाएगा। एक सर्किल की तरह, कोल्हू के बैल की तरह हम घूमते रहेंगे। जिन लोगों ने इस जीवन को संसार कहा--संसार का आप मतलब समझते हैं? संसार का मतलबः व्हील, एक घूमता हुआ चाक, जिसमें स्पोक जो हैं

वे फिर ऊपर चले जाते हैं, फिर नीचे, फिर ऊपर चले जाते हैं, फिर नीचे चले आते हैं।
वह जो हिंदुस्तान के राष्ट्रीय ध्वज पर व्हील बना हुआ है, वह पता नहीं हिंदुस्तान के सोचने-समझने वालों ने किस वजह से वहां रख दिया। शायद उन को पता नहीं, वे न मालूम क्या सोचते होंगे! अशोक ने उस चक्र को इसीलिए खुदवाया था अपने स्तूपों पर ताकि आदमी को पता रहे कि जिंदगी एक घूमता हुआ चाक है, कोल्हू का बैल है। उसमें हर चीज घूमकर फिर वहीं आ जाती है। फिर घूमनी शुरू हो जाती है। वह जो व्हील है, संसार का प्रतीक है। वह व्हील किसी विजय यात्रा का प्रतीक नहीं है। वह जिंदगी के रोज हार जाने का प्रतीक है। वह इस बात का प्रतीक है कि जिंदगी जो है वह एक रिपीटीटिव बोर्डम है, वह बार-बार दोहराया जाने वाला चाक है। लेकिन हर बार हम भूल जाते हैं, इसलिए दुबारा फिर बड़े रसलीन होकर दोहराने लगते हैं।
एक युवक एक युवती की तरफ बढ़ रहा हो प्रेम करने को, उसे पता नहीं कि वह कितनी बार बढ़ चुका है, कितनी युवतियों के पीछे दौड़ चुका है, लेकिन अब फिर बढ़ रहा है और सोचता है कि जिंदगी में पहली दफा यह घटना घट रही है। यह अदभुत घटना है, यह अदभुत घटना बहुत दफे घट चुकी है। और अगर उसे ही पता चल जाए तो उसकी हालत वैसी हो जाएगी, जैसे किसी आदमी की एक फिल्म को दस-पच्चीस दफा देख कर हो जाती है। अगर आप आज फिल्म देखने गए हैं तो बात और है, कल भी आपको ले जाया जाए तो आप बरदाश्त कर लेंगे। तीसरे दिन आप कहने लगेंगे, क्षमा करिए, अब मैं नहीं जाना चाहता हूं। लेकिन आपको मजबूर किया जाए, कोई पुलिसवाले पीछे लगे हैं, ये आपको ले ही जाएंगे और पंद्रह दिन वही फिल्म, तो सोलहवें दिन आप गर्दन दबा कर मरने की कोशिश करेंगे कि अब इस फिल्म को मैं नहीं देखना चाहता हूं... यह हद हो गई! पंद्रह दिन देख चुका हूं और अब कब तक देखता रहूंगा लेकिन वह पुलिस वाला पीछे लगना चाहता है कि नहीं, यह तो देखनी ही पड़ेगी। लेकिन अगर रोज फिल्म देखने के बाद अफीम खिला दी जाए और भूल जाएं आप कि मैंने फिल्म देखी थी तो दूसरे दिन फिर आप टिकट लेकर उसी फिल्म में मौजूद हो सकते हैं और बड़े मजे से देख सकते हैं।
आदमी हर बार जब शरीर को बदलता है तब उस शरीर में संजोई गई स्मृतियों
का द्वार क्लोज हो जाता है, बंद हो जाता है। फिर नया खेल शुरू हो जाता है, फिर वही खेल, फिर वही बात, फिर सब वही जो बहुत बार हो चुका है। जाति स्मरण से यह स्मरण आता है कि यह तो बहुत बार हो चुका है। यह कहानी तो बहुत बार देखी जा चुकी है। यह गीत तो बहुत बार गाए जा चुके हैं। यह तो बरदाश्त के बाहर हो गई है बात। जाति-स्मरण से पैदा होती है विरक्ति, जाति-स्मरण से पैदा होता है वैराग्य, और किसी तरह वैराग्य उत्पन्न नहीं होता। वैराग्य उत्पन्न होता है जाति स्मरण से, रिमेंबरिंग ऑफ दि पास्ट, वह जो बीत गए जन्म हैं उनकी स्मृति से। और इसलिए दुनिया में वैराग्य कम हो गया है क्योंकि पिछले जन्मों का कोई स्मरण नहीं, कोई उपाय नहीं।
जिन मित्रों ने कहा है, उन्हें मैं कहूंगा कि मेरी तैयारी पूरी है। मैं जो भी कह रहा हूं उसे सिर्फ इसलिए नहीं कह रहा हूं कि मेरे लिए वह कोई सिद्धांत है। मैं जो भी कह रहा हूं एक-एक शब्द पर जिद्द के साथ प्रयोग करने की मेरी तैयारी है। और कोई भी आदमी की तैयारी हो तो मुझे बहुत खुशी होगी। कल मैंने आमंत्रण दिया था कि जो लोग संकल्प करने की हिम्मत रखते हैं, दो- चार मित्रों के पत्र आए और मुझे बहुत खुशी हुई। उन्होंने खबर दी है कि हम बहुत उत्सुक हैं और हम प्रतीक्षा में थे कि कोई हमें बुलाए और आपने पुकार दी तो हम राजी हैं। वे राजी हैं तो मुझे बहुत खुशी है। और मेरा द्वार उनके लिए खुला है, मैं उन्हें जितनी दूर ले चलना चाहूं, वे जितना चलना चाहें, उतनी दूर उन्हें ले जाया जा सकता है। इस बार जरूरत पड़ गई दुनिया को कि कम से कम थोड़े से लोग प्रबुद्ध हो सकें, अगर थोड़े से लोग भी प्रबुद्ध हो सके, तो हम मनुष्य-जाति के सारे के सारे अंधकार को तोड़ सकते हैं।
हिंदुस्तान में दो प्रयोग चलते थे पिछले पचास सालों में, शायद आपको खयाल में भी नहीं होगा कि हिंदुस्तान में दो विपरीत ढंग के प्रयोग पचास सालों में चले। एक प्रयोग गांधी ने किया, एक प्रयोग श्री अरविंद करते थे। गांधी ने एक-एक मनुष्य के चरित्र को ऊपर उठाने का प्रयोग किया। उसमें

गांधी सफल होते हुए दिखाई पड़े। लेकिन बिल्कुल असफल हो गए और गांधी के पीछे जिन लोगों को गांधी ने सोचा था कि इनका चरित्र मैंने उठा लिया वे बिल्कुल मिट्टी के पुतले साबित हुए। जरा पानी गिरा और सब रंग-रोगन बह गया। बीस साल में रंग-रोगन बह गया, वह हम सब देख रहे थे। दिल्ली में उसके नंगे शरीर खड़े हुए हैं, उनका सब रंग-रोगन बह गया। कहीं कोई रंग-रोगन नहीं है अब। वह जो गांधी ने पोतपात कर तैयार किया था वह वर्षा में बह गया। जब तक पद की वर्षा नहीं हुई थी तब तक उनकी शक्लें बहुत शानदार मालूम पड़ती थीं और उनके खादी के कपड़े बहुत धुले हुए दिखाई पड़ते थे और उनकी टोपियां ऐसी लगती थीं कि मुल्क को ऊपर उठा लेंगी। लेकिन आज वे ही टोपियां इस योग्य हो गई हैं कि गांव-गांव में उनकी होली जलाई जाए क्योंकि वह बुर्जुआ... क्योंकि वह मुल्क के भ्रष्टाचार की प्रतीक बन गई हैं। गांधी ने एक प्रयोग किया था जिसमें मालूम हुआ कि वे सफल हो रहे हैं लेकिन बिल्कुल असफल हो गए! गांधी जैसा प्रयोग बहुत बार किया गया और हर बार असफल हो गया।
श्री अरविंद एक प्रयोग करते थे जिसमें वे सफल होते हुए नहीं मालूम पड़े, नहीं सफल हो सके। लेकिन उनकी दिशा बिल्कुल ठीक थी। वे यह प्रयोग कर रहे थे कि क्या यह संभव है कि थोड़ी सी आत्माएं इतने ऊपर उठ जाएं कि उनकी मौजूदगी, उनकी प्रेजेंस दूसरी आत्माओं को ऊपर उठाने लगे और पुकारने लगे और दूसरी आत्माएं ऊपर उठने लगें? क्या यह संभव है कि एक मनुष्य की आत्मा ऊपर उठे और उसके साथ पूरी मनुष्य की आत्मा का स्तर ऊपर उठ जाए? यह न केवल संभव है बल्कि केवल वही संभव है, दूसरी आज कोई बात सफल नहीं हो सकती।
आज आदमी तो इतने नीचे गिर चुका है कि अगर हमने यह फिकर की कि हम एक-एक आदमी को बदलेंगे तो शायद यह बदलाहट कभी नहीं होगी, बल्कि जो आदमी उनको बदलने जाएगा उनके सत्संग में उसके खुद के बदल जाने की संभावना ज्यादा है। उसके बदल जाने की संभावना है कि वह भी उनके साथ भ्रष्ट हो जाएगा। आप देखते हैं जितने जनता के सेवक, जनता की सेवा करने जाते हैं, थोड़े दिन में पता चलता है कि वे जनता के जेब काटने वाले सिद्ध होते हैं। वे गए थे सेवा करने, वे गए थे लोगों को सुधारने, थोड़े दिन में पता चलता है कि वे जनता के जेब काटने वाले सिद्ध होते हैं। वे गए थे सेवा करने, वे गए थे लोगों को सुधारने, थोड़े दिन में पता चलता है कि लोग उनको सुधारने का विचार करते हैं। नहीं, यह नहीं हो सकता है।
दुनिया का, मनुष्य-जाति की चेतना का इतिहास यह कहता है कि दुनिया की चेतना किन्हीं कालों में एकदम ऊपर उठ गई। आपको शायद अंदाज न हो--पच्चीस सौ वर्ष पहले हिंदुस्तान में बुद्ध पैदा हुए, प्रबुद्ध कात्यायन हुआ, मक्खली गोशालक हुआ, संजय वेलट्ठी पुत्त हुआ। यूनान में सुकरात हुआ, प्लेटो हुआ, अरस्तू हुआ, प्लोटिनस हुआ। चीन में लाओत्सु हुआ, कनफ्यूशियस हुआ, च्वांगत्से हुआ। पच्चीस सौ साल पहले सारी दुनिया में कुल दस पंद्रह लोग इतनी कीमत के हुए कि उन एक सौ वर्षों में दुनिया की चेतना एकदम आकाश छूने लगी। सारी दुनिया का स्वर्ण युग आ गया, ऐसा मालूम हुआ। इतनी प्रखर आत्मा मनुष्य की कभी प्रकट नहीं हुई थी।
महावीर के साथ पचास हजार लोग दीये की तरह जल गए और गांव-गांव घूमने लगे। बुद्ध के साथ दस हजार भिक्षु खड़े हो गए और उनकी रोशनी और उनकी ज्योति गांव-गांव को जगाने लगी। जिस गांव में बुद्ध अपने दस हजार भिक्षुओं को लेकर पहुंच जाते, तीन दिन के भीतर उस गांव की हवा के अणु बदल जाते। जिस गांव में वे दस हजार भिक्षु बैठ जाते, जिस गांव में वे दस हजार भिक्षु प्रार्थना करने लगते उस गांव से जैसे अंधकार मिट जाता, जैसे उस गांव में रोशनी छा जाती, जैसे उस गांव के हृदय में कुछ फूल खिलने लगते जो कभी नहीं खिले थे।
कुछ थोड़े से लोग उठे ऊपर और उनके साथ ही नीचे के लोगों की आंखें ऊपर उठीं। नीचे के लोगों की आंखें तभी ऊपर उठती हैं जब ऊपर देखने जैसा कुछ हो। ऊपर देखने जैसा कुछ भी नहीं है, नीचे देखने जैसा बहुत कुछ है। जो आदमी जितना नीचे उतर जाता है वह उतनी बड़ी तिजोरी बना लेता है। जो आदमी जितना नीचे उतर जाता है वह उतनी बढ़िया केडिलक खरीद लाता है। तो नीचे देखने जैसा बहुत कुछ है। दिल्ली बिल्कुल गड्ढे में बस गई है, बिल्कुल नीचे। वहां नीचे

देखो, पाताल में दिल्ली है। तो जिसको भी दिल्ली पहुंचना हो उसको पाताल में उतरना चाहिए, नीचे-नीचे उतरते जाना चाहिए। ऊपर देखने जैसा कुछ भी नहीं है। किसकी तरफ देखेंगे, कौन है ऊपर! और इससे बड़ा दुर्भाग्य क्या हो सकता है कि ऊपर देखने जैसी आत्माएं नहीं हैं जिनकी तरफ देख कर प्राणों में आकर्षण उठता है; जिनकी तरफ देखकर प्राणों में पुकार उठती है, जिनकी तरफ देख कर प्राण धिक्कारने लगते हैं अपने को कि यह दीया तो मैं भी हो सकता था, यह फूल तो मेरे भीतर भी खिल सकते थे, यह गीत तो मैं भी गा सकता था। यह बुद्ध और यह महावीर और यह कृष्ण और क्राइस्ट मैं भी हो सकता था।
एक बार यह खयाल आ जाए कि मैं भी हो सकता था। यहां लेकिन कोई हो तो जिसे देख कर यह खयाल आ जाए तो प्राण ऊपर की यात्रा शुरू कर देते हैं। और स्मरण रहे, प्राण हमेशा यात्रा करते हैं, अगर ऊपर की नहीं करते हैं तो नीचे की करते हैं। प्राण रुकते कभी नहीं हैं, या तो ऊपर जाएंगे या नीचे, रुकने जैसी कोई चीज नहीं है। ठहराव जैसी कोई चीज नहीं है। स्टेशन जैसी कोई जगह नहीं है चेतना के जगत में कि जहां आप रुक जाएं और विश्राम कर लें--या ऊपर या नीचे! जीवन प्रतिक्षण गतिमान है। ऊपर की तरफ चेतनाएं खड़ी करनी हैं।
मैं सारी दुनिया में एक आंदोलन चाहता हूं--बहुत ज्यादा लोगों का नहीं, थोड़े से हिम्मतवर लोगों का जो प्रयोग करने को राजी हों। अगर सौ लोग हिंदुस्तान में प्रयोग करने को राजी हों और सौ लोग तय कर लें इस बात की कि हम अब आत्मा को उन ऊंचाइयों तक ले जाएंगे जहां आदमी का जाना संभव है, तो बीस वर्ष में हिंदुस्तान की पूरी शक्ल बदल सकती है। विवेकानंद ने मरते वक्त कहा था कि मैं पुकारता रहा सौ लोगों को, सौ लोग आ जाओ, लेकिन वे सौ लोग नहीं आए और मैं हारा हुआ मर रहा हूं। सिर्फ सौ लोग आ जाते तो मैं देश को बदल देता, लेकिन विवेकानंद पुकारते रहे, सौ लोग नहीं आए!
और मैंने तय किया है कि मैं पुकारूंगा नहीं, गांव-गांव खोजूंगा, आंख-आंख में झाकूंगा कि वह कौन आदमी है, जो आदमी अगर पुकारने से नहीं आता है तो खींच कर लाना पड़ेगा। अगर सौ लोगों को भी लाया जा सके! तो यह मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि सौ लोगों की उठती हुई आत्माएं एक एवरेस्ट की तरह, एक गौरीशंकर की तरह खड़ी हो जाएंगी। पूरे मुल्क के प्राण उस यात्रा पर आगे बढ़ सकते हैं।
जिन मित्रों को मेरी चुनौती ठीक लगती हो और जिनको साहस और बल मालूम पड़ता हो कि जाने की हिम्मत है उस रास्ते पर जो बहुत अपरिचित है, उस रास्ते पर, उस समुद्र में जिसका कोई नक्शा नहीं है हमारे पास, तो उसमें जाने की जिसकी भी हिम्मत हो, जिसका भी साहस हो, उसे समझ लेना चाहिए कि उसमें इतनी हिम्मत और साहस सिर्फ इसलिए है कि बहुत गहरे में परमात्मा ने उसको पुकारा होगा, नहीं तो इतना साहस और इतनी हिम्मत नहीं हो सकती थी।
मिस्र में कहा जाता था कि जब कोई परमात्मा को पुकारता है तो उसे जान लेना चाहिए कि उससे बहुत पहले परमात्मा ने उसे पुकार लिया होगा अन्यथा पुकार ही पैदा नहीं होती। जिनके भीतर भी पुकार है उनके ऊपर एक बड़ा दायित्व है आज जगत के लिए। आज तो जगत के कोने-कोने जाकर कहने की यह बात है कि कुछ थोड़े से लोग बाहर निकल आएं और सारे जीवन को समर्पित कर दें, ऊंचाइयां अनुभव करने के लिए।
जीवन के सारे सत्य, जीवन के आज तक के सारे अनुभव असत्य हुए जा रहे हैं। जीवन की आज तक की जितनी ऊंचाइयां थीं, जो छुई गईं थीं, वे सब काल्पनिक हुई जा रही हैं। पुराण कथाएं हुई जा रही हैं। सौ दो सौ वर्ष बाद बच्चे इनकार कर देंगे कि बुद्ध और महावीर और क्राइस्ट जैसे लोग कहीं हुए, ये सब कहानियां हैं। एक आदमी ने तो पश्चिम में एक किताब लिखी है और उसने लिखा है कि क्राइस्ट जैसा आदमी कभी नहीं हुआ है। यह सिर्फ एक पुराना ड्रामा है। जो धीरे-धीरे लोग भूल गए कि ड्रामा है और लोग समझने लगे कि हिस्ट्री है। अभी हम रामलीला खेलते हैं। हम समझते हैं, राम कभी हुए और इसलिए हम रामलीला खेलते हैं। सौ वर्ष बाद बच्चे कहेंगे कि रामलीला लिखी जाती रही और लोगों में भ्रम पैदा हो गया कि राम कभी हुए--रामलीला एक नाटक रहा होगा! बहुत दिनों से चलता रहा, क्योंकि जब हमारे सामने राम और बुद्ध और क्राइस्ट जैसे

आदमी दिखाई पड़ने बंद हो जाएंगे तो हम कैसे विश्वास कर लें कि ये लोग कभी हुए।
फिर आदमी का मन कभी यह मानने को राजी नहीं होता कि उससे ऊंचे आदमी भी
हो सकते हैं। आदमी का मन यह मानने को कभी भी राजी नहीं होता कि मुझसे ऊंचा भी कोई है। हमेशा उसके मन में एक मानने का मन यह होता है कि सबसे ऊंचा आदमी हूं। अपने से ऊंचे आदमी को तो बहुत मजबूरी में मानता है, नहीं तो कभी मानता नहीं है। हजार कोशिश करता है खोजने की कि कोई भूल मिल जाए, कोई खामी मिल जाए, तो बता दूं कि यह आदमी भी नीचा है। तृप्त हो जाऊं कि नहीं, यह बात गलत थी। कोई पता चल जाए तो जल्दी से घोषणा कर दूं कि पुरानी मूर्ति खंडित हो गई, वह पुरानी मूर्ति अब मेरे मन में नहीं रही, वह खंडित हो गई क्योंकि इस आदमी में यह गलती मिल गई। खोज इसी की चलती थी कि कोई गलती मिल जाए। नहीं मिल जाए तो ईजाद कर लो ताकि तुम निश्चिंत हो जाओ अपनी मूढ़ता में और तुम्हें लगे कि मैं बिल्कुल ठीक हूं।
आदमी धीरे-धीरे सबको इनकार कर देगा क्योंकि उनके प्रतीक, उनके चिह्न कहीं भी दिखाई नहीं पड़ते। पत्थर की मूर्तियां कब तक बताएंगी कि बुद्ध हुए थे, और महावीर हुए थे? और कागज पर लिखे गए शब्द कब तक समझाएंगे कि क्राइस्ट हुए थे? और कब तक तुम्हारी गीता बता पाएगी कि कृष्ण थे? नहीं, ज्यादा दिन यह नहीं चलेगा। हमें आदमी चाहिए जीसस जैसे, कृष्ण जैसे, बुद्ध जैसे, महावीर जैसे। अगर हम वैसे आदमी आने वाले पचास वर्षों में पैदा नहीं करते हैं तो मनुष्य-जाति एक अत्यंत अंधकारपूर्ण युग में प्रविष्ट होने को है। उसका कोई भविष्य नहीं है।
जिन लोगों को भी लगता हो कि जीवन के लिए वे कुछ कर सकते हैं उनके लिए
एक बड़ी चुनौती है। और मैं तो गांव-गांव यह चुनौती देते हुए घूमूंगा और जहां भी मुझे कोई आंखें मिल जाएंगी कि लगेगा कि ये दीया बन सकती हैं, इनमें ज्योति जल सकती है तो मैं अपना पूरा श्रम करने को तैयार हूं। मेरी तरफ से पूरी तैयारी है। देखना है कि मरते वक्त मैं भी कहीं यह न कहूं कि सौ आदमियों को खोजता था, वे मुझे नहीं मिले।

मेरी बातों को इतने प्रेम और शांति से सुना, उसके लिए बहुत अनुगृहीत हूं। और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं। मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

शिक्षा में क्रांति
छठवां प्रवचन

युक्रांद क्या है?

मेरे प्रिय आत्मन्!
युवक क्रांति दल, युक्रांद की इस पहली बैठक को संबोधित करते हुए मैं अत्यंत आनंदित हूं। युवक क्रांति दल के संबंध में पहली बात तो यह समझ लेनी जरूरी है कि मैं युवक किसे कहता हूं। युवक क्रांति दल की दृष्टि में युवक होने का संबंध उम्र और आयु से नहीं है। युवक से अर्थ हैः ऐसा मन जो सीखने को सदा तत्पर है--ऐसा मन जिसे यह भ्रम पैदा नहीं हो गया है कि जो भी जानने योग्य था, वह जान लिया गया है--ऐसा मन जो बूढ़ा नहीं हो गया है और स्वयं को रूपांतरित और बदलने को तैयार है। बूढ़े मन से अर्थ होता है ऐसा मन जो अब आगे इतना लोचपूर्ण नहीं रहा है कि नये को ग्रहण कर सके, नये का स्वागत कर सके। बूढ़े मन का अर्थ हैः पुराना पड़ गया मन। उम्र से उसका भी कोई संबंध नहीं है। आदमी के शरीर की उम्र होती है, मन की कोई उम्र नहीं होती है। मन की दृष्टि होती है, धारणा होती है।
इस देश में युवक हजारों वर्षों से पैदा होने बंद हो गए हैं। इस देश में बचपन आता है और बुढ़ापा आता है; युवक कभी भी पैदा नहीं होता है। वह बीच की कड़ी खो गई है, इसलिए तो देश इतना पुराना पड़ गया है, इतना जरा-जीर्ण हो गया है, इतना बूढ़ा हो गया है। जिस देश में युवक होते हों, उस देश में इतना बुढ़ापा आने का कोई भी कारण नहीं था। हम से ज्यादा बूढ़ा देश पृथ्वी पर और कहीं नहीं है। हमारी पूरी आत्मा बूढ़ी और पुरानी पड़ गई है। हमारी सारी तकलीफ और पीड़ा के पीछे बुनियादी कारण यही है कि हमारे पास युवा चित्त, यंग माइंड नहीं है।
युवक क्रांति दल इस देश में युवा चित्त को पैदा करना चाहता है। युवा- चित्त! युवा-चित्त का अर्थ हैः जो सख्त नहीं हो गया, कठोर नहीं हो गया, पत्थर नहीं हो गया, अभी बदल सकता है, रूपांतरित हो सकता है, अभी सीख सकता है--उसने सब कुछ सीख नहीं लिया।
स्वामी रामतीर्थ की उम्र मुश्किल से तीस वर्ष थी और वे हिंदुस्तान के बाहर गए। पहली बार उन्होंने जापान की यात्रा की। वे जिस जहाज पर सवार थे उस जहाज के डेक पर एक जर्मन बूढ़ा जिसकी उम्र कोई नब्बे वर्ष होगी; जिसके हाथ-पैर कंपते थे, जिसे चलने में तकलीफ होती थी, जिसकी आंखें कमजोर पड़ गई थीं, वह चीनी भाषा सीख रहा था।
चीनी भाषा जमीन पर बोली जाने वाली कठिनतम भाषाओं में से एक है। चीनी भाषा को सीखना सामान्यतया बहुत श्रम की बात है। कोई दस-पंद्रह-बीस वर्ष ठीक से मेहनत करे तो चीनी भाषा में ठीक से निष्णात हो सकता है। बीस वर्ष जिसके लिए मेहनत करनी पड़े, नब्बे वर्ष का बूढ़ा उसे अ ब स से सीखना शुरू कर रहा हो, पागल है। कब सीखेगा वह? कब सीख पाएगा? कौन सी आशा है उसको बच जाने की कि वह बीस साल बचेगा? और अगर बीस साल बच भी जाए और निष्णात भी हो जाए चीनी भाषा में तो उसका उपयोग कब करेगा? जिस चीज को सीखने में पंद्रह-बीस वर्ष खर्च करने पड़ें उसके उपयोग के लिए भी तो दस, पच्चीस-पचास वर्ष हाथ में होने चाहिए। यह उपयोग कब करेगा? रामतीर्थ परेशान हो गए उसको देख-देख कर, परेशान हो गए और वह सुबह से शाम तक सीखने में लगा हुआ है। नहीं, बरदाश्त के बाहर हुआ तो उन्होंने तीसरे दिन उससे पूछा कि क्षमा करें, आप इतने वृद्ध हैं, नब्बे वर्ष पार कर गए मालूम पड़ते हैं, आप यह भाषा सीख रहे हैं, यह कब सीख पाएंगे? कब बच पाएंगे आप सीखने के बाद, कब इसका उपयोग करेंगे?
उस बूढ़े आदमी ने आंखें ऊपर उठाईं और उसने कहाः तुम्हारी उम्र कितनी है? रामतीर्थ ने कहाः मेरी उम्र कोई तीस वर्ष होगी। वह बूढ़ा हंसने लगा और उसने कहा, मैं तब समझ पाता हूं कि हिंदुस्तान इतना कमजोर, इतना हारा हुआ क्यों हो गया है। उस बूढ़े ने कहाः जब तक मैं जिंदा हूं और मर नहीं गया हूं और जब तक जिंदा हूं तब तक कुछ न कुछ सीख ही लेना है; नहीं, तो जीवन व्यर्थ हो जाएगा। मरना तो एक दिन है, वह तो जिस दिन मैं पैदा हुआ उसी दिन से तय है कि मरना एक दिन है। अगर मैं मृत्यु पर ध्यान रखता तो शायद कुछ भी नहीं सीख

पाता क्योंकि एक दिन मरना है, क्योंकि एक दिन मरना है। लेकिन जब तक मैं जिंदा हूं, मैं पूरी तरह जिंदा रहना चाहता हूं। और पूरी तरह जिंदा वही रह सकता है जो जीते-जी एक-एक पल का, एक-एक क्षण का, नया कुछ सीखने में उपयोग कर रहा है।
जीवन का अर्थ हैः नये का रोज-रोज अनुभव। जिसने नये का अनुभव बंद कर दिया है वह मर चुका है, उसकी मृत्यु कभी की हो चुकी। उसका अब अस्तित्व पोस्थूमस है, वह मरने के बाद अब किसी तरह जी रहा है। उस बूढ़े आदमी ने कहा कि मैं सीखूंगा, जब तक जीता हूं, और परमात्मा से एक ही प्रार्थना है जब मैं मरूं तो मृत्यु के क्षण में भी सीखता हुआ ही मरूं ताकि मृत्यु भी मुझे मृत्यु जैसी न मालूम पड़े। वह भी जीवन प्रतीत हो।
सीखने की प्रक्रिया है--जीवन। ज्ञान की उपलब्धि है--जीवन। लेकिन इस देश का दुर्भाग्य है कि हमने सीखना तो हजारों साल से बंद कर दिया है। हम नया कुछ भी सीखने को उत्सुक और आतुर नहीं हैं। हमारे प्राणों की प्यास ठंडी पड़ गई है, हमारी चेतना की ज्योति ठंडी पड़ गई है, हमें एक भ्रम पैदा हो गया है कि हमने सब सीख लिया है, हमने सब पा लिया, हमने सब जान लिया। जानने को अनंत शेष है। आदमी का ज्ञान कितना ही ज्यादा हो जाए, उस विस्तार के सामने ना-कुछ है जो सदा जानने को शेष रह जाता है। ज्ञान तो थोड़ा सा है, अज्ञान बहुत बड़ा है। उस अज्ञान को जिसे तोड़ना है उसे सीखते ही जाना होगा, सीखते ही जाना होगा, सीखते ही रहना होगा।
लेकिन भारत में यह सीखने की प्रक्रिया और युवा होने की धारणा ही खो गई है। यहां हम बहुत जल्दी सख्त हो जाते हैं, कठोर हो जाते हैं, लोच खो देते हैं। बदलाहट की क्षमता, रिसेप्टिविटी, ग्राहकता सब खो देते हैं। एक जवान आदमी से भी यहां बात करो तो वह इस तरह बात करता है जैसे उसने अपनी सारी धारणाएं सुनिश्चित कर ली हैं। उसका सब ज्ञान ठहर गया है, उसकी आंखों में इंक्वायरी नहीं मालूम होती, उसके व्यक्तित्व में जिज्ञासा नहीं मालूम होती, खोज नहीं मालूम होती। ऐसा लगता है, उसने पा लिया, जान लिया, सब ठीक है। आगे अब कुछ करने को शेष नहीं रह गया है। प्राण इस तरह बूढ़े हो जाते हैं, व्यक्तित्व इस तरह जराजीर्ण हो जाता है और हजारों वर्षों से इस देश का व्यक्तित्व जरा-जीर्ण है।
युवक क्रांति दल इस जराजीर्ण व्यक्तित्व को तोड़ देना चाहता है। आकांक्षा यह है कि हम भारत की युवा-चेतना को जन्म दे सकें। युवा-चेतना का दूसरा लक्षण है--साहस। भारत से साहस भी खो गया है, सीखना भी खो गया है, जिज्ञासा भी खो गई है, साहस भी खो गया है। हम तो अंधेरे में जाने से भी भयभीत होते हैं; अनजान रास्तों पर जाने से भयभीत होते हैं; सागर में उतरने से भयभीत होते हैं; पहाड़ चढ़ने से भयभीत होते हैं; और ये तो बहुत छोटी चीजें हैं। जो इन अनजान चीजों से भयभीत होता है वह चेतना के अनजान लोकों में, अननोन में कैसे प्रवेश करेगा! वहां तो वह डर कर लौट आएगा, वहीं बैठा रहेगा जहां है। हमने जीवन की कुछ अनजान गहराइयां-ऊंचाइयां हैं, उनकी यात्रा भी बंद कर दी है। हमने कुछ सूत्र याद कर लिए हैं, हम उन्हीं सूत्रों को याद करके चुपचाप बैठे रह जाते हैं।
व्यक्तित्व हमारी एक साहसपूर्ण, एक एडवेंचरस खोज नहीं है, न तो बाहर
के जगत में... हिमालय पर चढ़ने के लिए बाहर से यात्री आते रहे, सैंकड़ों यात्री आते रहे, प्रतिवर्ष उनके दल के दल आते रहे। वे मरते रहे, टूटते रहे, पहाड़ों से गिरते रहे, खोते रहे, लेकिन उनके दलों के आने में कमी नहीं हुई, वे आते रहे। हिमालय पर चढ़ना था, एक अज्ञात शिखर बाकी था जहां मनुष्य के पैर नहीं पहुंचे थे। लेकिन हम, हम सोचते रहे कि पागल हैं, क्या जरूरत है एवरेस्ट पर जाने की, क्या प्रयोजन है? क्यों अपनी जान जोखिम में डालते हैं? हम हंसते रहे कि ये पागल हैं, नासमझ हैं, क्यों अपनी जान जोखिम में डालते हैं? हम, जिनका एवरेस्ट है उन्होंने उस पर चढ़ने की कोई तीव्र आकांक्षा प्रकट नहीं की। यह सवाल एवरेस्ट पर चढ़ने का और हिंद महासागर की गहराइयों में उतर जाने का ही नहीं है। इससे हमारे व्यक्तित्व का पता चलता है कि हम अज्ञात के प्रति आतुर नहीं हैं कि उसका पर्दा उघाड़ लेंगे कि उसे

हम जानने में लग जाएंगे, फिर जीवन में बहुत कुछ अज्ञात है। पदार्थ का अज्ञात लोक है, साइंस उसे खोजती है, हमने कोई साइंस विकसित नहीं की।
तीन हजार वर्ष के लंबे इतिहास में हमने कोई साइंस विकसित नहीं की। क्यों? एक ही उत्तर हो सकता है कि हमें अज्ञात की पुकार सुनाई नहीं पड़ती। वह जो अननोन है, वह जो चारों तरफ से घेरे हुए है वह हमें बुलाता है, लेकिन हमें सुनाई नहीं पड़ता। हम बहरे हो गए हैं, हमें तो जो ज्ञात है हम उसी के घेरे में बैठ कर जी लेते हैं और समाप्त हो जाते हैं। क्यों हमें अज्ञात की पुकार सुनाई नहीं पड़ती? अज्ञात का आह्वान हमारे प्राणों को आंदोलित नहीं करता, क्यों? सिवाय इसके कि हमारे भीतर करेज, साहस नहीं है क्योंकि अज्ञात में जाने के लिए साहस चाहिए। ज्ञात में, नोन में जीने के लिए किसी साहस की जरूरत नहीं है।
इसीलिए तो भारत कभी भारत के बाहर नहीं गया। भारत के युवकों ने कभी भारत के बाहर जाकर अभियान नहीं किए। उन्होंने कोई लंबी यात्राएं नहीं कीं, उन्होंने पृथ्वी की कोई खोज-बीन नहीं की। वे नहीं गए दूर-दूर उत्तर ध्रुवों तक, न ही दक्षिण ध्रुव तक। न ही आज वे चांद-तारों पर जाने की आकांक्षा से भरे हैं। साहस नहीं है। साहस की कमी होती है तो हम वहीं रहना चाहते हैं जहां परिचित लोग हैं, जहां जाना माना है उसी रास्ते पर चलते हैं, जिस पर बहुत बार चल चुके हैं। क्योंकि अनजान रास्तों पर कांटे हो सकते हैं, गढ्ढे हो सकते हैं, भटकना हो सकता है, अनजान रास्ते पर भूल हो सकती है, अनजान रास्ते पर हम खो सकते हैं। यह सारा भय हमें इतना पकड़ लिया है कि हम ज्ञात पर ही चलते हैं, कोल्हू के बैल की तरह हम चक्कर लगाते रहते हैं। लकीर है जानी हुई, उसी को पीटते रहते हैं।
ऐसे कभी इस देश की आत्मा का उदय हो सकेगा? ऐसे भयभीत होकर कभी इस देश
के प्राण जागरूक हो सकेंगे? ऐसे डरे-डरे हम जगत की दौड़ में साथ खड़े हो सकेंगे? जहां चेतनाएं दूर की यात्रा कर रही हों, जहां रोज अज्ञात की पुकार सुनी जाती हो, जहां रोज अज्ञात की दिशा में कदम रखे जाते हों, जहां जीवन के एक-एक रहस्य में प्रवेश करने की सारी चेष्टा की जा रही हो। उन सारे दुनिया के युवकों के मुल्क, युवकों के सामने, युवक-मुल्कों के सामने हमारा बूढ़ा और पुराना देश खड़ा रह सकेगा? हम जी सकेंगे उनके साथ? नहीं, हम नहीं जी सकेंगे। और फिर हमारे नेता कहते हैं कि हमारा युवक सिर्फ नकल करता है। नकल नहीं करेगा तो क्या करेगा? अपनी तो कोई खोज नहीं कर सकता है इसलिए जो खोज करते हैं उनकी नकल करने के सिवाय हमारे पास कुछ भी नहीं बचा है, हमारा पूरा व्यक्तित्व इमीटेशन है, पश्चिम का।
हम पश्चिम की नकल कर रहे हैं। करेंगे हम, क्योंकि उनके साथ खड़े होने
का इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। हमारी तो अपनी कोई खोज नहीं है, हमारा तो अपना कोई उदघाटन नहीं, अन्वेषण नहीं, हमारी तो अपनी कोई शोध नहीं, हमारे तो अपने कोई रास्ते नहीं हैं। हमें उनकी नकल करनी ही पड़ेगी। और ध्यान रहे, एक बार जब हम बाहर के जगत में नकल करना शुरू करते हैं तो भीतर हमारी आत्मा मरनी शुरू हो जाती है। क्यों? क्योंकि आत्मा कभी भी नकल नहीं बन सकती है। आत्मा कार्बनकापी नहीं बन सकती है। आत्मा का अपना व्यक्तित्व है, अनूठा, यूनिक। और जब भी हम बाहर से नकल करना शुरू करते हैं तभी भीतर हमारे प्राण सिकुड़ जाते हैं, तभी भीतर हमारे प्राण मुरझा जाते हैं क्योंकि उन प्राणों की अपनी प्रतिभा थी, अपना द्वार होता है, अपना मार्ग होता है। बाहर से नकल करने वाले लोग भीतर से मर जाते हैं लेकिन हम हमेशा नकल करते रहे हैं।
आप कहेंगे पश्चिम की नकल तो हमने अभी-अभी शुरू की है। पहले? पहले हम अतीत की नकल करते थे, अब हम पश्चिम की नकल कर रहे हैं, इतना फर्क पड़ा है और कोई फर्क नहीं पड़ा है! पहले हम वह जो बीत चुका था उसकी नकल करते थे। जो हो चुका था, जा चुका था, उस इतिहास की जो पीछे था हमारे, उसकी हम नकल करते थे, क्योंकि कंटेम्प्रेरी जगत का हमें कोई भी पता नहीं था। तो हमारे सामने एक ही जगत था, बीता हुआ और हम थे। तो हम बीते की नकल करते थे। राम की, कृष्ण की, बुद्ध की, महावीर की, हम नकल करते थे। हम अतीत की नकल करके जीते थे। अब हमारे सामने कंटेम्प्रेरी वर्ल्ड खुल गया है। अब इतिहास धुंधला मालूम होता है। चारों तरफ फैली हुई दुनिया आज हमें ज्यादा स्पष्ट दिखाई पड़ती

है। हम उसकी नकल कर रहे हैं। लेकिन हम हजारों साल से नकल ही कर रहे हैं, चाहे बीते हुए लोगों की और चाहे हमसे दूर जो आस-पास खड़ा हुआ जगत है उसकी। लेकिन हमने अपनी आत्मा को विकसित करने की हिम्मत खो दी है, साहस खो दिया है।
युवक क्रांति दल साहस को पुनरुज्जीवित करना चाहता है बाहर के जगत-जीवन में भी, और अंतस के जगत और जीवन में भी। साहस जुट सके, वह कारा टूट सके, दीवालें टूट सकें और साहस की धारा बह सके भीतर से, उसकी फिकर करना चाहता है। लेकिन हमारी सारी धारणाएं साहस के विरोध में हैं। अगर साहस करना है तो संदेह करना पड़ेगा और अगर साहस नहीं करना है तो विश्वास कर लेना हमेशा अच्छा है। साहस करना है तो डाउट चाहिए और अगर साहस नहीं करना है तो फेथ, बिलीफ, श्रद्धा, विश्वास चाहिए।
हमारा सारा देश विश्वास करने वाला देश है। मान लेना है, हमें जो कहा जाता है उस पर सोचना नहीं है, विचार नहीं करना है, क्योंकि सोचने और विचार करने में फिर खतरा है। हो सकता है, हम मानी हुई मान्यताओं से विपरीत जाना पड़े हमें। हो सकता है, मानी हुई मान्यताएं तोड़नी पड़ें, हो सकता है जो स्वीकृत है, जो पक्ष है हमारा वह गलत सिद्ध हो, यह हम सहने को राजी नहीं हैं, इसलिए उसकी तरफ आंख ही नहीं खोलनी है। शुतुरमुर्ग निकलता है और अगर दुश्मन उसका आ जाए तो वह रेत में मुंह गड़ा कर खड़ा हो जाता है। आंख बंद हो जाती है। रेत में तो शुतुरमुर्ग को दिखाई नहीं पड़ता है कि दुश्मन है, वह खुश हो जाता है, वह मान लेता है जो नहीं दिखाई पड़ता है, वह नहीं है। शुतुरमुर्ग को क्षमा किया जा सकता है, आदमी को क्षमा नहीं किया जा सकता। लेकिन भारत शुतुरमुर्ग के तर्क का उपयोग कर रहा है आज तक। वह कहता है, जो चीज नहीं दिखाई पड़ती है, वह नहीं है। इसलिए विश्वास का अंधापन ओढ़ लेता है और जीवन को देखना बंद कर देता है।
जीवन में नग्न सत्य हैं; जिन्हें देखने में पीड़ा हो सकती है, लेकिन वे हैं। चाहे उनकी कितनी ही पीड़ा हो, उन्हें आंख खोल कर देखना पड़ेगा। क्योंकि आंख खोल कर देखने पर ही हम उन्हें रूपांतरित करने में, बदलने में, ट्रांसफर करने में भी सफल हो सकते हैं। आंख बंद कर लेने से हम अंधे हो सकते हैं लेकिन तथ्य बदल नहीं जाते। हम सारे तथ्यों को छिपा कर जी रहे हैं। क्योंकि विश्वास की एक गैर-साहसपूर्ण धारणा हमने पकड़ ली है। संदेह की साहसपूर्ण यात्रा हमारी नहीं है। इस वजह से कि साहस कम हो गया है, अकेले होने की हिम्मत हमारी कम हो गई है।
और ध्यान रहे, युवक का अनिवार्य लक्षण है, अकेले होने की हिम्मत, दि करेज टु स्टैंड अलोन। वह युवक होने का एक अनिवार्य लक्षण है। हम भीड़ के साथ खड़े हो सकते हैं। जहां सारे लोग जाते हैं वहां हम जा सकते हैं। हम वहां नहीं जा सकते जहां आदमी को अकेला जाना पड़ता है। नई जगह तो आदमी को सदा अकेला जाना पड़ता है। किसी एक व्यक्ति को अकेले चलने की हिम्मत करनी पड़ती है। क्योंकि भीड़ तो पहले प्रतीक्षा करेगी कि पता नहीं, कि रास्ता कैसा है। अकेले आदमी को हिम्मत जुटानी पड़ती है। हमने अकेले होने की हिम्मत कब खो दी, पता नहीं, हम अकेले हो ही नहीं सकते। हमें भीड़ चाहिए हमेशा साथ, तो ही हम खड़े हो सकते हैं। फिर हम युवा नहीं रह जाते। फिर हम युवा नहीं रह जाते। फिर वह जो यंग माइंड है वह हममें पैदा नहीं हो पाता।
युवक क्रांति दल चाहता है, अकेले होने का साहस--एक-एक युवक में पैदा होना चाहिए। जिस दिन एक-एक युवक अकेला खड़े होने की हिम्मत करता है, उस दिन पहली बार उसकी आत्मा प्रकट होनी शुरू होती है, उसकी प्रतिभा प्रकट होनी शुरू होती है। जब वह कहता है कि चाहे सारी दुनिया यह कहती हो लेकिन जब तक मेरा विवेक नहीं मानता, मैं अकेला खड़ा रहूंगा। मैं सारी दुनिया के प्रवाह के विपरीत तैरूंगा। नदी इस तरफ जाती है पूरब--मुझे नहीं प्रतीत होता, मुझे नहीं तर्क कहता, नहीं विवेक कहता कि पूरब जाऊं! मैं पश्चिम की तरफ तैरूंगा टूट जाऊंगा, नदी की धार में; लेकिन कोई फिकर नहीं, धार के साथ तभी तैरूंगा जब मेरा विवेक मेरे साथ होगा। जिस दिन कोई व्यक्ति जीवन की धार के विपरीत अपने विवेक के अनुकूल तैरने की कोशिश करता है, पहली बार उसके जीवन में कोई चुनौती आती है, वह चैलेंज! वह संघर्ष आता है, वह स्ट्रगल आती है, जिससे

संघर्ष और चुनौती में से गुजर कर उसकी आत्मा निखरती है, साफ होती है। आग से गुजर कर पहली दफे उसकी आत्मा कुंदन बनती है, स्वर्ण बनती है; लेकिन वह हमने खो दिया। अकेले होने की हमने हिम्मत खो दी है।
मैंने सुना है, एक स्कूल में एक पादरी कुछ बच्चों को समझाने गया था।
वह उन्हें करेज, मॉरल-करेज, नैतिक साहस के बाबत समझाता था। उस पादरी से एक बच्चे ने पूछा कि आप कोई छोटी कहानी से समझा दें तो शायद हमें समझ में आ जाए। तो उस पादरी ने कहा कि तुम जैसे तीस बच्चे अगर पहाड़ पर घूमने गए हों, दिन भर के थके-मांदे वापस लौटे हों, ठंडी हो रात, थकान हो, हाथ-पैर टूटते हों, बिस्तर निमंत्रण देता हो, बढ़िया बिस्तर हों, अच्छे कंबल हों, उनमें सोने का मन होता हो, उनतीस लड़के शीघ्र जाकर अपने-अपने बिस्तरों में सो गए हैं, सर्दी की रात में। लेकिन एक बच्चा एक कोने में बैठ कर घुटने टेक कर अपनी रात्रि की अंतिम प्रार्थना कर रहा है। तो उस पादरी ने कहाः उस बच्चे को मैं कहता हूं कि उसमें साहस है। जब कि उनतीस बच्चे सोने के लिए चले गए हैं, रात सर्द है, दिन भर का थका हुआ है। उनतीस बच्चों का टेंपटेशन है। भीड़ के साथ होने की सुविधा है। कोई कुछ कहेगा नहीं, कुछ कहने की बात नहीं है। लेकिन नहीं, वह अपनी रात्रि की अंतिम प्रार्थना पूरी करता है उस सर्द रात में थके हुए। इसे मैं साहस कहता हूंः नैतिक साहस, अकेले होने का साहस, उस पादरी ने कहा।
महीने भर बाद वह फिर आया उस स्कूल में और उसने कहा कि पिछली बार मैंने नैतिक साहस की बात कही थी और एक कहानी सुनाई थी। क्या तुम भी कोई बता सकते हो, नैतिक साहस की कोई कहानी सुना कर। एक बच्चा खड़ा हुआ। और उसने कहा कि मैंने बहुत सोचा, और मुझे याद आया कि उससे भी बड़े नैतिक साहस की एक घटना हो सकती है। उस पादरी ने कहा, खुशी से तुम कहो। उस बच्चे ने कहा, आप जैसे तीस पादरी पहाड़ पर गए हुए हैं। दिन भर के थके-मांदे, भूखे-प्यासे, रात सर्द है, वापस लौटे हैं। तीसों पादरी हैं, दिन भर की थकान, ठंडी रात, आधी रात। उनतीस पादरी प्रार्थना करने बैठ गए हैं हाथ जोड़ कर और एक पादरी बिस्तर पर जाकर सो गया है। उस बच्चे ने कहा कि यह पहले करेज से ज्यादा बड़ा करेज है, ज्यादा बड़ा साहस है! क्योंकि हो सकता है कि पहला बच्चा यह सोच रहा हो कि मैं धार्मिक हूं और ये सब नास्तिक, अधार्मिक सो रहे हैं--सो जाओ, नरक में सड़ोगे, यह सोच सकता है वह बच्चा।
अक्सर धार्मिक और प्रार्थना करने वाले लोग इसी भाषा में सोचते हैं कि दूसरों को कैसे नरक में सड़वा दें। सारा चिंतन सारा... जितना वह बेचारे प्रार्थना करते हैं, उपवास करते हैं, उतना ही क्रोध दुनिया के ऊपर उनका बढ़ता चला जाता है। वे कहते हैं, एक-एक को नरक में डलवा देंगे। सड़क पर जिसको भी देखते हैं कि कुछ अच्छे चमकदार और रंगीन, खूबसूरत कपड़े पहने हुए हैं, मन ही में सोचते हैं, नरक में सड़ोगे। जिसको थोड़ा मुस्कुराते देखते हैं, सोचते हैं सड़ोगे, सड़ोगे, नरक में सड़ोगे। वह अपनी उदास सूरत का बदला तो लेंगे किसी से। वह अपनी गमगीन और रोती हुई आत्मा का बदला तो लेंगे किसी से।
तो हो सकता है, उस बच्चे ने कहा कि वह बच्चा यह मजा ले रहा हो कि कोई फिकर नहीं, आज मैं अकेला हूं तो कोई फिकर नहीं है, जब नरक की अग्नि में सड़ोगे तो मैं अकेला खड़ा देखूंगा, उनतीस सड़ते होओगे। इसलिए वह साहस बहुत बड़ा नहीं भी हो सकता है, लेकिन दूसरा साहस उसने कहा, बहुत बड़ा है। उनतीस पादरी जब स्वर्ग जाने की व्यवस्था किए ले रहे हैं, तब एक बेचारा नरक जाने की तैयारी कर रहा है। तब उसे कोई कंसोलेशन भी नहीं है, कोई सांत्वना भी नहीं है कि इनको नरक भेज दूंगा। तब उसे कोई सांत्वना नहीं है, तब टेंपटेशन बड़ा है कि उनतीस। तब उसे यह भी पता है कि यह उनतीस दुनिया में जाकर कल सुबह क्या कहेंगे। हो सकता है, रात भी न सो पाए।
धार्मिक आदमी बड़े खतरनाक होते हैं। हो सकता है, आधी रात में पड़ोसी को जाग कर कह आएं कि पता है, उस पादरी की अब फिकर मत करना, वह आदमी भ्रष्ट हो गया है, उसने आज प्रार्थना नहीं की है। लेकिन कुछ भी हो, चाहे पहला साहस रहा हो चाहे दूसरा, लेकिन साहस का अर्थ हमेशा "अकेले" होने का साहस है। क्या आप युवक हैं? अगर युवक हैं तो जीवन में अकेले खड़े होने की हिम्मत जुटानी पड़ती है और ध्यान रहे, अकेले खड़े होने का अर्थ होता है, विवेक को

जगाना। क्योंकि जो विवेक को न जगा सके वह अकेला खड़ा नहीं हो सकता है। इसलिए तीसरी बात युवक क्रांति दल चाहता है इस देश में, व्यक्ति-व्यक्ति के भीतर विवेक, बोध, समझ, अंडरस्टैंडिंग को जगाने की कोशिश। क्योंकि अकेला आदमी तभी अकेला हो सकता है, चाहे दुनिया उसके साथ न हो, उसके पास विवेक साथ है। उसकी आंख में स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है कि जो वह कर रहा है, वह ठीक है। उसका तर्क उसके प्राण उससे कह रहे हैं कि वह जो कर रहा है, वह ठीक है, चाहे सारी दुनिया विपरीत हो।
जीसस को जिस दिन सूली पर लटकाया होगा, जीसस जवान आदमी रहा होगा। ऐसे उम्र से भी वह जवान ही थे, तैंतीस वर्ष ही उम्र थी लेकिन वे सत्तर वर्ष के भी होते तो कोई फर्क नहीं पड़ता था। जीसस युवा आदमी था। सारी दुनिया उसके विपरीत थी। एक लाख आदमी इकट्ठे थे उसे सूली पर लटकाने को। वह चाहता तो माफी मांग सकता था, माफी उसे जरूर मिल जाती। वह चाहता तो कह सकता था कि मुझसे गलती हो गई, यह मैंने क्या पागलपन कर दिया। वह मुक्त हो जाता। एक गांव में बैठ कर बढ़ईगिरी का काम करता, उसकी शादी होती, बच्चे पैदा होते और मजे से मर जाता। लेकिन नहीं, उस आदमी ने अकेले खड़े होने की हिम्मत की, सूली पर भी।
लेकिन वह अकेला खड़ा होकर किसी को नरक नहीं भेज रहा है, अकेला खड़ा होकर किसी के सड़ाने का आयोजन नहीं कर रहा है। किसी के प्रति क्रोध नहीं है उसके मन में। अकेला खड़ा है अपने विवेक के कारण, किसी के प्रति क्रोध के कारण नहीं। सूली पर लटकते हुए उसने अंतिम प्रार्थना की और कहा, हे परमात्मा! इन सब लोगों को माफ कर देना क्योंकि इन्हें पता नहीं कि ये क्या कर रहे हैं। लेकिन उसे पता है कि वह क्या कर रहा है। उसे दिखाई पड़ रहा है कि वह क्या कर रहा है, उसे ज्ञात है कि वह जो कर रहा है, ठीक है। क्योंकि पूरे प्राणों से सोच कर, विचार कर, अनुभव से, उसकी पूरी बुद्धि की सलाह से, उसने यह किया है, वह जानता है!
और जिस दिन मेरा विवेक मेरे साथ होता है, तुम्हारा विवेक तुम्हारे साथ होता है, उस दिन सारी दुनिया दो कौड़ी की हो जाती है, उस दिन तुम अकेले खड़े हो सकते हो। विवेक की शक्ति इतनी बड़ी है कि सारी दुनिया की शक्ति क्षीण हो जाती है। इसलिए तीसरी बात युवक क्रांति दल चाहता है, विवेक कैसे विकसित हो, बुद्धिमत्ता कैसे विकसित हो।
ज्ञान विकसित हो जाना एक बात है और बुद्धिमत्ता विकसित होनी बिल्कुल दूसरी बात है। नॉलेज आना एक बात है वि.जडम आना बिल्कुल दूसरी बात है। नॉलेज और ज्ञान तो स्कूल, कॉलेज और विद्यालय दे देते हैं लेकिन वि.जडम कौन देगा? सूचनाएं, इनफर्मेशन तो कॉलेज और विश्वविद्यालय दे देते हैं युवकों को, और उनको दे-दे कर जवानी में ही उनको बूढ़ा कर देते हैं। क्योंकि जितना उनको भ्रम पैदा हो जाता है कि हम जानते हैं, उतने ही जानने की जिज्ञासा कम हो जाती है। विश्वविद्यालय के मंदिर से निकलते वक्त युवक को ऐसा नहीं लगता कि वह जानने की एक नई यात्रा पर जा रहा है। अब उसे ऐसा लगता है, अब जानने का काम हुआ बंद, यह सर्टिफिकेट मिल गया, अब बात हो गई समाप्त, अब मुझे जानना नहीं है।
ठीक विश्वविद्यालय तो तब होगा जब विश्वविद्यालय हमें विद्या का मंदिर नहीं मालूम पड़ेगा, विद्या के मंदिर की सिर्फ सीढ़ियां मालूम पड़ेगा। विश्वविद्यालय वहां छोड़ता है, जहां सीढ़ियां समाप्त होती हैं और असली ज्ञान का मंदिर शुरू होता है। लेकिन उस ज्ञान का नाम नॉलेज नहीं है। उस ज्ञान का नाम वि.जडम है, उसका नाम है समझ, उसका नाम है बुद्धिमत्ता।
युवक क्रांति दल, चौथी बातः बुद्धिमत्ता, वि.जडम पैदा करने के प्रयोग करना चाहता है। और इसलिए भी कि सारे जगत में ही... हिंदुस्तान में तो, क्योंकि अभी तो काम यहां है, युवक के पास, सारी बुद्धिमत्ता ऐसा लगता है, पैदा ही नहीं हो पा रही है। वह जो भी कर रहा है, बुद्धिहीन है। उसका सारा उपक्रम बुद्धिहीन है, उसका विद्रोह बुद्धिहीन है, उसकी बगावत बुद्धिहीन है। मैं बगावत का विरोधी नहीं हूं। मुझसे ज्यादा बगावत का प्रेमी खोजना मुश्किल है। मैं विद्रोह का विरोधी नहीं हूं। मैं तो विद्रोह को धार्मिक कृत्य मानता हूं। रिबेलियन को मनुष्य का अधिकार मानता हूं। लेकिन जब

विद्रोह बुद्धिहीन हो जाता है तो विद्रोह से किसी का कोई हित नहीं होता है सिवाय अहित के। और जब विद्रोह अर्थहीन होता है और जब विद्रोह एक विवेकपूर्ण कृत्य नहीं होता, तो वह दूसरे को तो नुकसान कम पहुंचाता है, विद्रोही को ही नष्ट कर डालता है।
हिंदुस्तान का युवक एक विद्रोह की गति पर जा रहा है, एक दिशा पर जहां बुद्धिमत्ता बिल्कुल नहीं है। युवक क्रांति दल एक बुद्धिमत्ता जगाने की चेष्टा करना चाहता है। बुद्धिमत्ता जगाने के उपाय हैं। बुद्धिमत्ता जगाने की विधियां हैं। जिस तरह ज्ञान पैदा होता है--सूचनाएं इकट्ठी करने से, जिस तरह ज्ञान इकट्ठा होता है--अध्ययन से, मनन से, चिंतन से। उसी तरह बुद्धिमत्ता उत्पन्न होती है; ध्यान से, मेडिटेशन से। युवक क्रांति दल ध्यान का एक आंदोलन चलाना चाहता है पूरे भारत में। एक-एक युवक के पास ध्यान की क्षमता होनी चाहिए। एक-एक युवक के पास मेडिटेशन की विधि होनी चाहिए। वह जब चाहे तब अपने गहरे से गहरे प्राणों में प्रवेश कर सके। वह जब चाहे तब अंतर के द्वार खोल सके और अंतर के मंदिर में प्रविष्ट हो सके। जिस दिन कोई व्यक्ति अपनी आत्मा के जितने निकट पहुंच जाता है उतना ही बुद्धिमान हो जाता है। बुद्धिमत्ता का संबंध, बुद्धिमत्ता का संबंध हैः कौन व्यक्ति अपनी आत्मा के कितने निकट है उतना ही वाइज, उतना ही वि.जडम उसके पास होती है। जो आदमी अपनी आत्मा से जितना दूर है, उतना ही कम बुद्धिमान होता है। बुद्धिमत्ता आती है ध्यान से।
जैसे ज्ञान नालेज आता है अध्ययन से, मनन से, शिक्षण से; उसी तरह बुद्धिमत्ता आती है ध्यान से। इस देश के युवक को ध्यान की प्रक्रिया में ले जाने का एक बड़ा मूवमेंट, "मूवमेंट फॉर मेडिटेशन"... सारे देश के कोने- कोने में बच्चे-बच्चे तक ध्यान की खबर पहुंचानी है और ध्यान की प्रक्रिया पहुंचानी है। वह युवक क्रांति दल करना चाहता है।
ध्यान व्यक्ति को उपलब्ध हो तो व्यक्ति शांत हो जाता है और जितना शांत व्यक्ति होगा उतने सुंदर समाज के सृजन का घटक बन जाता है। जितना शांत व्यक्ति होगा, उतने सत्य, उतने साहस, उतने अकेले होने की हिम्मत, उतने अज्ञात की तरफ जाने की कामना और उतना जोखिम उठाने की व्यक्तित्व में मजबूती आ जाती है। जितना शांत व्यक्ति होगा उतना कम भयभीत होता है। जितना शांत व्यक्ति होगा उतना स्वस्थ होता है। जितना शांत व्यक्ति होगा उतना जीवन को झेलने और जीवन का सामना करने की शक्ति उसके पास होती है।
हमारा युवक जीवन के सामने बैंकरप्ट, दिवालिया की तरह खड़ा हो जाता है। उसके पास कुछ भी नहीं है। कुछ सर्टिफिकेट हैं, कागज के कुछ ढेर हैं। उनका वह पुलिंदा बांध कर जिंदगी के सामने खड़ा हो जाता है। उसके पास भीतर और कुछ भी नहीं है। यह बड़ी दयनीय अवस्था है। यह बहुत दुखद है और फिर इस स्थिति में फ्रस्ट्रेशन पैदा होता है, विषाद पैदा होता है, तनाव पैदा होता है, क्रोध पैदा होता है। और इस क्रोध में वह समाज को तोड़ने में लग जाता है, चीजें नष्ट करने में लग जाता है।
आज सारे मुल्क का बच्चा-बच्चा क्रोध से भरा हुआ है। क्रोध में वह कुर्सियां तोड़ रहा है, फर्नीचर तोड़ रहा है, बस जला रहा है। नेता हैं मुल्क के, वे कहते हैं कुर्सियां मत तोड़ो, बस मत जलाओ, मकान मत मिटाओ, खिड़कियां मत तोड़ो। लेकिन नेता भी जानते हैं कि वे भी नेता कुर्सियां तोड़ कर, बसें जला कर और कांच फोड़ कर हो गए हैं। उनको पक्का पता है, उनकी सारी नेतागिरी इसी तरह की तोड़-फोड़ पर निर्भर, खड़ी हो गई है। यह बच्चे भी जानते हैं कि नेता होने की तरकीब यही है कि कुर्सियां तोड़ो, मकान तोड़ो, आग लगाओ।
इसलिए वे पुराने नेता जो कल यही करते रहे थे, आज ये ही दूसरे को समझाएंगे। वह समझ में आने वाली बात नहीं है। फिर उन नेताओं को यह भी पता नहीं है कि कुर्सियां तोड़ी जा रही हैं। यह सिर्फ सिंबालिक है। कुर्सियों से बच्चों को क्या मतलब हो सकता है? किस आदमी को कुर्सी तोड़ने से मतलब हो सकता है! बस जलाने से किसको मतलब हो सकता है? बस से किसकी दुश्मनी है? ऐसा पागल आदमी खोजना मुश्किल है जिसकी बस से और दुश्मनी हो, कि कांच तोड़ने में कुछ रस आता हो। नहीं, यह सवाल नहीं है। यह सवाल ही नहीं है। यह बिल्कुल असंगत है। इससे कोई संबंध नहीं है। युवक है भीतर अशांत, पीड़ित और परेशान।

और परेशान आदमी कुछ भी चीज तोड़ लेता है तो थोड़ी सी राहत मिलती है। थोड़ा रिलैक्सेशन मिलता है। कुछ भी तोड़ ले।
एक मनोवैज्ञानिक के पास एक बीमार को लाया गया था। वह एक दफ्तर में नौकर था। उस दफ्तर में उसका मालिक उसे कभी बुरा शब्द बोलता, कभी अपमानित कर देता। मालिक के खिलाफ वह कुछ कर नहीं सकता था। लेकिन भीतर क्रोध तो आता था। क्रोध आता था तो घर जाकर पत्नी पर टूट पड़ता था। क्रोध आता था तो कभी गुस्से में अपनी ही चीजें तोड़ लेता था। लेकिन फिर खयाल में आता था, यह क्या पागलपन है! फिर क्रोध बढ़ता चला गया। फिर उसके मन में ऐसा होने लगा कि होगा, जो कुछ होगा, एक दिन जूता निकाल कर मालिक की सेवा कर दी जाए। हाथ उसके जूते पर जाने लगे तो वह बहुत घबड़ाया कि यह तो बहुत खतरनाक बात हुई जा रही है। अगर जूता मैंने मार दिया तो मुश्किल में पड़ जाऊंगा। फिर वह जूता घर छोड़ कर आने लगा। क्योंकि किसी भी दिन खतरा हो सकता था। लेकिन जूता घर छोड़ कर आने से क्या संबंध था! वह जूता तो केवल प्रतीक था। बात और तरह होने लगी। वह टेबल से डंडे उठाने लगा, वह स्याही की दवात उठा कर फेंकने का खयाल करने लगा। तब उसे घबड़ाहट आई और उसने घर जाकर अपने मित्रों को कहा कि मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गया हूं। बस कुछ भी मिल जाए, तो मैं मालिक को मारना चाहता हूं।
वह एक मनोवैज्ञानिक के पास उसे ले गया। मनोवैज्ञानिक ने कहाः कुछ मत करो। मालिक की एक तस्वीर घर में बना लो और रोज सुबह पांच जूते बिल्कुल रिलिजिअसली तस्वीर को मारो। बिल्कुल इसमें भूल-चूक न हो। जैसे कि पुजारी पूजा करता है और माला फेरने वाले माला फेरते हैं, ऐसा रिलिजिअसली। इसको बिल्कुल पांच जूते मारो फिर दफ्तर जाओ। दफ्तर से लौट कर पहला काम, इसको पांच जूते मारो फिर दूसरा काम करो।
वह आदमी हंसा। उसने कहाः इससे क्या होगा। लेकिन यह सुन कर भी उसके चेहरे पर जो भाव आया वह एक रिलैक्सेशन का था, एक शांति का था। उस मनोवैज्ञानिक ने कहाः होगा। तुम फिकर मत करो। कल से यह कार्य शुरू करो। उसने पांच जूते सुबह ही उठ कर मारे। बड़ी जल्दी रही। रात में कई दफा नींद खुली कि जल्दी सुबह हो जाए। सुबह हुई। उसने पांच जूते मारे। पांच जूते मार कर वह बड़ा हैरान हुआ। मन उसका बड़ा हलका सा लगा, और मालिक जो कि जूता खाए हुए सामने पड़े थे उन बड़ी पर दया मालूम हुई।
वह दफ्तर गया। उस दिन तो उसका व्यवहार भिन्न था। पंद्रह दिन रोज जूते मारता रहा और दफ्तर में वह दूसरा आदमी हो गया। उसका मालिक उससे पूछने लगा, क्या हो गया तुम्हें। तुम बिल्कुल बदल गए। तुम इतने शांत हो गए हो, तुम इतनी कुशलता से काम कर रहे हो। उसने कहाः मालिक वह पूछें ही मत कि क्या तरकीब से काम कर रहे हैं। उसमें नौकरी जाने का खतरा है।
इस आदमी को क्या हुआ? इसके भीतर तोड़ने-फोड़ने की, मिटाने की, किसी को नीचा दिखाने की तीव्र भावना काम कर रही थी। वह भावना किसी भी रूप में निकल सकती थी। वह टेबल तोड़ सकती थी, कांच फोड़ सकती थी। घर में पत्नियां जानती हैं भलीभांति कि पति से झगड़ा होता है, बर्तन बेचारे टूट जाते हैं। माताएं जानती हैं भलीभांति, पति से झगड़ा होता है, बच्चे पिट जाते हैं। क्रोध यहां- वहां से निकलना शुरू होता है।
युवक के पास क्रोध तो बहुत है, शांति बिल्कुल नहीं है। इसलिए सारा उपद्रव हो रहा है। उपद्रव बढ़ेगा, उपद्रव गहरा होगा। अभी वे मकान तोड़ रहे हैं, कल वह मकान जलाएंगे। अभी वह बसें जला रहे हैं, कल वह आदमियों को जलाएंगे। पचास साल के भीतर, आदमी जलाए जाएंगे, अगर युवक का क्रोध इसी तरह गति करता रहा, और उसे शांति की दिशा में ले जाने का कोई उपाय नहीं मिल सका। मैंने सुना है, हालैंड में मेरे एक मित्र थे। और उन्होंने मुझे वहां
से लिखा कि यहां एक अजीब बात हो गई है। युवकों और विद्यार्थियों का एक नया आंदोलन है, वह सटरडे नाइट मूवमेंट कहलाता है--शनिवार की रात को सड़कों पर लड़के और लड़कियां निकल आते हैं, शोरगुल करते हैं, पत्थर फेंकते हैं, अकारण। कोई कारण नहीं है। सटरडे नाइट मूवमेंट ही है वह। सत्य से कोई संबंध नहीं है। सड़कों पर नाचते हैं, गालियां बकते हैं, शराब पीते हैं, मेस्कलीन, लिसर्जिक एसिड, मारिजुआना का उपयोग करते हैं और फिर चौकट्टों पर इकट्ठे

होकर विचार करते हैं कि हम आज ऐसा क्या करें कि पुलिस हमें जेल भेज सके। इसका विचार करते हैं चौकट्टों पर खड़े होकर। अब हम आज की रात क्या करें कि पुलिस हमें जेल भेज सके। कोई कारण नहीं है, कोई झगड़ा नहीं है, कोई फीस कम नहीं करवानी है, कुछ और मामला नहीं है, लेकिन क्रोध इतना इकट्ठा है कि उसको रिलीज चाहिए। उसे कहीं से निकलना होगा।
नेता चिल्लाते रहेंगे, कुछ नहीं हो सकता है। क्योंकि नेता खुद अशांत
और पीड़ित और परेशान हैं। राजनीतिज्ञों से ज्यादा अशांत आदमी पृथ्वी पर और कौन हो सकते हैं? तो वे बेचारे कहते हैं कि शांति रखो, शांति रखो। लेकिन भीतर उनके इतनी अशांति चलती है, उनकी शांति का काई अर्थ नहीं। उन्हें पता भी नहीं है कि क्या हो रहा है, मनुष्य की चेतना में। मनुष्य की चेतना ने ज्ञान तो अर्जित कर लिया है, बुद्धिमत्ता अर्जित नहीं की। मनुष्य की चेतना ने सूचनाएं तो इकट्ठी कर ली हैं, लेकिन चेतना ज्ञानवान नहीं हो पाई है। मनुष्य ने महत्वाकांक्षा तो सीख ली है, एंबीशन तो सीख ली है। सारी शिक्षा का एक ही फल हुआ है कि आदमी को महत्वाकांक्षी बना दिया है, लेकिन शांति उसके पास बिल्कुल नहीं है।
तो युवक क्रांति दल ध्यान के माध्यम से शांति का एक आंदोलन चलाना चाहता है। व्यक्ति को चाहिए शांति और समाज को चाहिए क्रांति। ये दो बातें युवक क्रांति दल के बुनियादी आधार हैं--व्यक्ति को चाहिए शांति और समाज को चाहिए क्रांति। व्यक्ति हो इतना शांत कि उसके भीतर कोई पीड़ा, कोई दुख, कोई क्रोध न रह जाए। और समाज है गलत, समाज है रुग्ण, समाज है अग्ली, समाज है कुरूप। हजारों साल की बेवकूफियों के आधार पर समाज हमारा निर्मित है। उन सब को आग लगा देनी है, उन बेवकूफियों को, उन सबको जिनके आधार पर हम खड़े हैं। अभी आज हिंदुस्तान में शूद्र हैं। आज भी बीसवीं सदी में! मनु महाराज
ने तीन हजार वर्ष पहले जिन शूद्रों को खड़ा किया था, वे अब भी खड़े हैं। करोड़ों-करोड़ों लोगों को मनुष्यों की, आज भी जीवन-स्थिति उपलब्ध नहीं है। उसे तोड़ देना पड़ेगा। हजारों वर्षों से स्त्रियों को गुलाम की तरह खड़ा किया गया है। आज नामचारे को वे स्वतंत्र मालूम पड़ती हैं लेकिन आज भी वे स्वतंत्र नहीं हैं। आज भी शिष्ट से शिष्ट नगर में किसी लड़की का रात अकेले निकलना असंभव है। यह कोई स्वतंत्रता है? यह कोई स्वतंत्रता है? बूढ़ी से बूढ़ी स्त्री निकलती हो तो छोटे से छोटे बच्चे गाली बकेंगे, पत्थर फेंकेंगे, धक्का मार जाएंगे, यह कोई स्वतंत्रता है? स्त्री की यह कोई स्थिति है?
सोचना है फिर से कि इन तीन हजार वर्षों में जो हमने किया है उसमें हमारा जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण है--वह गलत रहा होगा। अन्यथा स्त्री और पुरुषों के बीच ऐसा दुर्भाव नहीं हो सकता था जैसा दुर्भाव है। स्त्री और पुरुष दो अलग जाति के प्राणी मालूम होते हैं, एक ही जाति के प्राणी नहीं मालूम होते। ऐसा मालूम होता है, यह स्पेसीज ही अलग हैं। यह अलग ही दो तरह की कौमें हैं। ये साथ-साथ किसी तरह जीते हैं, लेकिन साथ-साथ हैं नहीं। इतनी लंबी दीवाल खड़ी की है आदमी और औरत के बीच। उस आदमी और औरत के बीच जितनी बड़ी दीवाल उठाई गई है उतना ही मुश्किल होता चला गया है। क्योंकि जितनी बड़ी रुकावट डाली जाती है उतना ही आकर्षण तीव्र हो जाता है। स्त्री और पुरुषों के बीच जितना फासला पैदा करने की कोशिश की गई है, स्त्री और पुरुष को उतना ही सेक्सुअल, कामुक बनाया गया है। वे सारे फासले तोड़े जाने जरूरी हैं। स्त्री और पुरुष को निकट लाना जरूरी है ताकि यह संभव न रह जाए कि कोई स्त्री को धक्का दे। यह तभी तक संभव है जब तक स्त्री और पुरुष बहुत निकट नहीं हैं। उन्हें साथ खेलना है बचपन से, साथ पढ़ना है।
आज भी युनिवर्सिटी की क्लास में भी जाओ, लड़कियां अलग बैठी हैं, लड़के अलग बैठे हैं। क्या बेहूदगी है। युनिवर्सिटी के तल पर लड़कियां अलग बैठी हैं एक कोने में, लड़के एक तरफ अलग बैठे हुए हैं और शिक्षक का कुल काम एक पहरेदारी का काम है कि वह देखता रहे कि लड़के-लड़कियां कहीं पास तो नहीं आ जाते हैं। ये पुलिसवाला बनाए हुए हैं प्रोफेसर को, उसको आदमी बनने दो। वह दूसरे काम से यहां आया हुआ है, उस बेवकूफी में पड़ने को नहीं। लेकिन एक ही भय है कि कहीं स्त्री पुरुष के पास न आ जाए। यह भय क्या है?

हमारी सेक्स के प्रति जो धारणाएं हैं, वह नासमझी की हैं, अवैज्ञानिक हैं। स्त्री और पुरुषों को निकट लाने की जरूरत है, करीब लाने की जरूरत है। जब हम उनको करीब नहीं ला पाते तो फिर वे करीब आने की परवरटेड कोशिश करते हैं, फिर विकृत कोशिश करते हैं। फिर बेचारे दूर से ही एक कंकड़ मार कर स्पर्श करने की कोशिश करते हैं। जब हाथ से स्पर्श नहीं करने दोगे तो कंकड़ से, फ्लाइंग-किस... अजीब है बात! फ्लाइंग-किस भी हो सकता है? लेकिन होता है, और होगा; निकट आने की सारी संभावना हमने क्षीण कर दी है। उसकी वजह से इतना परवर्शन है, इतनी सेक्सुअलिटी है, इतनी कामुकता है।
उसे मिटाना है। समाज में क्रांति चाहिए--एक सेक्सुअल रिवोल्यूशन! काम
के प्रति एक क्रांतिकारी दृष्टिकोण और परिवर्तन चाहिए तो हम स्वस्थ हो सकेंगे, नहीं तो ऊपर से ब्रह्मचर्य की बातें चलती रहेंगी और गीता में कोई गंदी किताब छिपा कर पढ़ता रहेगा। ये दोनों बातें एक साथ चलेंगी। जल्दी पिताजी आएंगे तो गीता दिखाई पड़ने लगेगी, पिता जी गए कि भीतर से न मालूम क्या निकल आएगा। गंदी तस्वीरें होंगी, तब तक नंगी तस्वीरें होंगी सड़कों पर। सड़कों पर नंगी तस्वीरें किस बात का सबूत हैं? सड़कों पर नंगी तस्वीरें इस बात का सबूत हैं कि स्त्री और पुरुष को एक दूसरे को नग्न देखने की इच्छा पूरी नहीं हो पाती। बचपन से ही जिज्ञासा है। स्त्री का शरीर कैसा है, पुरुष का शरीर कैसा है। वह जिज्ञासा पूरी नहीं हो पाती।
आदिवासी समाज में नहीं किसी को जिज्ञासा है। हमें क्यों जिज्ञासा है इतनी? हमने शरीर को भी इस तरह छिपाया है। इस तरह उसमें जिज्ञासा पैदा कर दी है उसके चारों तरफ कि उसे देखने की आकांक्षा है। फिर उसके देखने की आकांक्षा से फिल्म बनती है। नंगी तस्वीर बनती है, नंगा उपन्यास बनता है। उस पर हम रोक लगाते हैं कि यह नहीं होना चाहिए। तब वह नंगा उपन्यास अंडरग्राउंड चला जाता है, तब वह नीचे से बिकता है। तब वह हर दुकान पर मिलता है, उसके ज्यादा पैसे चुकाने पड़ते हैं, उसके ऊपर नाम कुछ होता है, भीतर कुछ होता है। नंगी तस्वीरें बिकती हैं और आदमी रुग्ण होता चला जाता है।
नहीं, छोटे बच्चे नग्न होने चाहिए। जितनी देर तक संभव हो सके, पांच वर्ष, छह वर्ष, घर में जितनी देर तक वे नंगे खेल सकें, खेलने देना चाहिए ताकि वे जान लें कि शरीरों में कुछ भी नहीं है। शरीर में कुछ है नहीं जिसके लिए परेशान हैं जिंदगी भर। अगर थोड़े से बोधपूर्वक, पांच-सात वर्ष के बच्चे अगर बोधपूर्वक हों और नग्न रहें, कभी नग्न खेल सकें, नग्न स्नान कर सकें तो उनकी जिज्ञासा हमेशा को समाप्त हो जाएगी।
अभी हालत यह है कि सत्तर वर्ष के बूढ़े की जिज्ञासा भी शांत नहीं होती।
वह सत्तर वर्ष का बूढ़ा भी स्त्री को देखता है तो उसकी आंखें उसके कपड़ों के भीतर प्रवेश करने लगती हैं। उदाहरण के लिए मैंने कहा कि हमें एक कामुक, काम के प्रति एक क्रांति से गुजरने की जरूरत है, अर्थ के प्रति एक क्रांति से गुजरने की जरूरत है। क्या बात है कि इतना बड़ा मुल्क गरीब होता चला जाए और कुछ थोड़े-से लोगों के पास पैसे इकट्ठे होते चले जाएं! यह बरदाश्त करने के बाहर है कि सारी संपदा एक तरफ इकट्ठी हो जाए और सारा मुल्क नंगा, दीन-हीन, दुखी और पीड़ित हो जाए। नहीं, इस मुल्क को इकोनॉमिक रिवोल्यूशन की जरूरत है। संपत्ति का समान वितरण जरूरी है। संपत्ति सब तक पहुंचनी चाहिए-- सबकी है, जैसे आकाश सबका है, पृथ्वी सबकी है--संपत्ति भी सबकी है। सब उसे संयुक्त मिल कर पैदा करते हैं, सब उसके मालिक होने के हकदार हैं। संपत्ति राष्ट्र की हो; समाज की हो; व्यक्ति की नहीं। व्यक्तिगत संपत्ति से मुक्त हुए बिना इस देश के जीवन में कभी सुख का उदय नहीं हो सकता है।
कितना ही हम चिल्लाएं कि भ्रष्टाचार न हो, चोरी न हो, बेईमानी न हो--वह होगी, क्योंकि जब तक संपदा एक तरफ इकट्ठी होगी, एक तरफ शोषक होंगे, दूसरी तरफ शोषितों का बड़ा समाज होगा। तब तक चोरी कैसे बंद होगी, बेईमानी कैसे बंद होगी, भ्रष्टाचार कैसे बंद होगा? नहीं बंद होगा। चाहे ऋषि-मुनि कितना ही समझाएं, ऋषि-मुनि कितना ही कहें कि धैर्य रखो, संतोष रखो, चोरी मत करो, कितना ही समझाएं वे, कोई सुनेगा नहीं। उनके चिल्लाने से कुछ भी नहीं होगा। वे चिल्लाते रहेंगे और कुछ भी नहीं होगा। उनके चिल्लाने से सिर्फ एक फर्क

पड़ता है, वे सच्चा आदमी तो पैदा नहीं कर पाते, पाखंडी आदमी जरूर पैदा कर देते हैं।
पाखंडी आदमी का मतलब यह कि वह कहता है कि मैं कहां चोरी करता हूं! मैं
तो अणुव्रती हूं। मैं तो अणुव्रत का पालन करता हूं। मैं तो मानता हूं कि कम से कम में संतोष रखना चाहिए। मैं तो धार्मिक आदमी हूं। मैं कहां चोरी करता हूं! ऊपर से वह एक चेहरा बनाएगा, जिस पर तिलक लगा हुआ है, चोटी बंधी हुई है, और पीछे एक दूसरा ही आदमी होगा जो दिखाई पड़ जाए तो आप पहचान ही नहीं सकेंगे कि क्या यह वही सज्जन हैं। वह भीतर जो आदमी छिपा हुआ है वह बिल्कुल दूसरा है। रोशनी में वह दूसरा दिखाई पड़ता है, अंधेरे में वह आदमी बिल्कुल दूसरा है। रोशनी में वह बड़ा धार्मिक मालूम पड़ता है, मंदिर में पूजा करता दिखाई पड़ता है। अंधेरे में! अंधेरे में लोगों की जेबें काट रहा है, उनकी गर्दनें काट रहा है। यह पाखंडी आदमी पैदा हो गया है, यह हिपोक्रेट ह्युमिनिटी पैदा हो गई है।
यह कैसे पैदा हो गई है? यह पैदा हो गई है कि जहां जिंदगी का असली सवाल
है उनको बदलना नहीं चाहते और झूठी बातें बदलने की बातें करते हैं। कहते हैं, भ्रष्टाचार मिटाएंगे, चोरी मिटाएंगे, झूठ मिटाएंगे। जब तक शोषण है तब तक यह कुछ भी नहीं मिट सकता। शोषण मिटेगा तो यह सब मिट जाएगा। शोषण के मिटते ही चोरी समाप्त हो जाती है। जब तक व्यक्तिगत संपत्ति है दुनिया में तब तक चोरी जारी रहेगी। न तुम्हारी अदालतें रोक सकती हैं, न तुम्हारे जज रोक सकते हैं, न तुम्हारी पुलिस रोक सकती है। सिर्फ इतना ही होगा कि पुलिस भी चोरी करेगी, अदालत भी चोरी करेगी, जज भी चोरी करेगा, नेता भी चोरी करेंगे। कुछ भी नहीं रुकने वाला है। व्यक्तिगत संपत्ति के जाते ही चोरी जाएगी क्योंकि व्यक्तिगत संपत्ति की बाई-प्रॉडक्ट है चोरी। वह उससे पैदा रही है, वह उसके साथ ही जा सकती है, उसके बिना नहीं जा सकती।
तो देश को एक आर्थिक क्रांति की जरूरत है। देश को और बहुत तलों पर क्रांति की जरूरत है--पारिवारिक क्रांति की जरूरत है, शैक्षणिक क्रांति की जरूरत है। उस सबके विस्तार में आज तो नहीं जा सकूंगा, इतना ही कहना चाहूंगा कि देश को आमूल क्रांति की जरूरत है, पूरा देश... पूरी जड़ें बदलने की जरूरत है। युवक क्रांति-दल समाज में एक क्रांति लाना चाहता है, खबर पहुंचाना चाहता है गांव-गांव, देहात-देहात तक, एक-एक व्यक्ति तक--कि सोचो, विचार करो--जिंदगी कहां-कहां बदलने जैसी है, उसे बदलना है।
व्यक्ति में चाहिए शांति और समाज में चाहिए क्रांति, यह युवक दल का खयाल है और योजना है। जो युवक उससे संबंधित होंगे वे एक वैचारिक वातावरण, एक रिनांसां, एक पुनर्जागरण पैदा करने की कोशिश करेंगे। उनका कोई आज राजनीतिक सवाल नहीं है, न कोई लक्ष्य है। राजनीति से उन्हें कुछ सीधा लेना नहीं है।
इस मुल्क में अभी तो जरूरत है एक मानसिक परिवर्तन की, एक मेंटल चेंज की। तो युवक क्रांति-दल का कोई राजनीतिक सवाल नहीं है। उसका सवाल है कि वह मुल्क की आत्मा को क्रांति के लिए तैयार करने की हवा दे सके। उस हवा से अपने आप राजनीति भी बदल जाएगी, अपने आप उसे बदलना पड़ेगा। अभी तो देश की आत्मा को सब पहलुओं पर क्रांति की दृष्टि, सिर्फ दृष्टि काफी है... अभी तो एक थिंकिंग, एक विचार काफी है।
तो अभी युवक क्रांति दल की योजना एक सांस्कृतिक क्रांति की हवा, एक कल्चरल रिवोल्यूशन की हवा, एक वातावरण, एक साइकिक एटमास्फिअर पैदा करने का है। उसके बाद जो आज युवक हैं, विश्वविद्यालय में पढ़ते हैं, स्कूल में पढ़ते हैं, कल वे जिंदगी में जाएंगे, वे राजनीति में जाएंगे, वे अधिकार पद पर होंगे, तब आज जो उनके चित्त में हवा पैदा हो जाएगी तो कल जब उनके हाथ में सत्ता होगी, वे समाज को आमूल बदलने में समर्थ हो सकेंगे।
युवकों का अभी यह जो युवक क्रांति दल है यह इस चेष्टा में संलग्न रहेगा कि युवक जब शक्ति में पहुंचें उसके पहले उनके व्यक्तित्व का आमूल रूपांतरण हो जाए। भीतर वे शांत हो जाएं और उनका मस्तिष्क जीवन को बदलने की तेज आग से भर जाए, जीवन को बदलने की तीव्र पीड़ा उन्हें पकड़ ले। तो कल जो आज युवक हैं, युवा हैं, बच्चे हैं, कल, कल उनके हाथ में होगा देश। हम चाहें तो

बीस साल में इस देश की पूरी काया पलट कर सकते हैं क्योंकि बीस साल में एक पीढ़ी बदल जाती है। बीस साल में नई पीढ़ी के हाथ में ताकत आ जाती है।
युवकों ने अगर इस पर नहीं सोचा तो यह देश रोज अंधेरे से अंधेरे में उतरता चला जाएगा। इस देश के पास बचाने का और कोई उपाय नहीं है। न कोई नेता बचा सकता है इसे, न कोई गुरु बचा सकता है इसे, और न परमात्मा से की गई प्रार्थनाएं बचा सकती हैं इसे। इसे बचाया जा सकता है तो एक ही हालत में, वह जो युवा आत्मा है, वह जो यंग माइंड है, उसका जन्म हो सके तो इस देश को हम बचा सकते हैं।

ये थोड़ी सी बातें मैंने कहीं, मेरी बातों को इतने प्रेम और शांति से सुना, उससे अनुगृहीत हूं। और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं। मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

शिक्षा में क्रांति
सातवां प्रवचन

नारी और क्रांति

मेरी प्यारी बहनो!
मनुष्य के इतिहास में नारी-जाति के साथ जो अत्याचार और अनाचार हुआ है,
उस संबंध में थोड़ी सी बात प्रारंभ में ही कहना चाहूंगा और नारी के साथ जो हुआ है, उसके परिणाम में पूरी मनुष्य-जाति के जो अहित हुए हैं, उस संबंध में थोड़ी बात कहना चाहूंगा।
मनुष्य की पूरी जाति, मनुष्य का पूरा समाज, मनुष्य की पूरी सभ्यता और संस्कृति अधूरी है क्योंकि नारी ने उस संस्कृति के निर्माण में कोई भी दान, कोई भी कंट्रिब्यूशन नहीं किया। नारी कर भी नहीं सकती थी। पुरुष ने उसे करने का कोई मौका ही नहीं दिया। हजारों वर्षों तक स्त्री पुरुष से नीची और छोटी और हीन समझी जाती रही है। कुछ तो देश ऐसे थे जैसे चीन, चीन में हजारों वर्षों तक यह भी माना जाता रहा कि स्त्रियों के भीतर कोई आत्मा नहीं होती। हीन ही नहीं, स्त्रियों की गिनती जड़ पदार्थों के साथ ही की जाती रही। आज से सौ बरस पहले तक चीन में अपनी पत्नी की हत्या पर किसी पुरुष को, किसी पति को कोई भी दंड नहीं दिया जा सकता था क्योंकि पत्नी उसकी संपदा थी। वह उसे जीवित रखे या मार डाले, इससे कानून को और राज्य को कोई संबंध नहीं था।
भारत में भी स्त्री को पुरुष के समान, पुरुष की समानता में कोई अवसर
और जीने का कोई मौका नहीं मिला। पश्चिम में भी वही बात थी। चूंकि सारे शास्त्र और सारी सभ्यता और सारी शिक्षा पुरुषों ने निर्मित की है इसलिए पुरुषों ने अपने आप को बिना किसी से पूछे श्रेष्ठ मान लिया है, स्त्री के लिए श्रेष्ठता देने का कोई कारण नहीं समझा है। स्वभावतः इसके परिणाम हुए, घातक परिणाम हुए।
सबसे बड़ा घातक परिणाम तो यह हुआ कि स्त्रियों के जो भी गुण थे वे सभ्यता के विकास में सहयोगी नहीं बन सके। सभ्यता अकेले पुरुषों ने विकसित की। अकेले पुरुषों के हाथ से जो सभ्यता विकसित होगी उसका अंतिम परिणाम युद्ध के सिवाय और कुछ भी नहीं हो सकता है। अकेले पुरुष के गुणों पर जो जीवन निर्मित होगा वह जीवन हिंसा के अतिरिक्त और कहीं नहीं ले जा सकता है। पुरुष की प्रवृत्ति में, पुरुष के चित्त में ही हिंसा का, क्रोध का, युद्ध का कोई अनिवार्य हिस्सा है।
नीत्शे ने पीछे, आज से कुछ ही बीसी पहले यह घोषणा की कि बुद्ध और क्राइस्ट स्त्रैण रहे होंगे, क्योंकि उन्होंने करुणा और प्रेम की इतनी बातें कही हैं, वे बातें पुरुषों के गुण नहीं हैं। नीत्शे ने क्राइस्ट को और बुद्ध को स्त्रैण, स्त्रियों जैसा कहा है। एक अर्थ में शायद उसने ठीक ही बात कही है। वह इस अर्थ में कि जीवन के जो भी कोमल गुण हैं, जीवन के जो भी माधुर्य से भरे संबंध हैं, जीवन की जो भी सुंदर और शिव की कल्पना और भावना है वह स्त्री का अनिवार्य स्वभाव है। मनुष्य की सभ्यता माधुर्य और प्रेम और सौंदर्य से नहीं भर सकी, क्रूर और परुष हो गई, कठोर और हिंसक हो गई और अंतिम परिणामों में केवल युद्ध लाती रही।
इसके पीछे दो बातों का ही हाथ है। एक तो स्त्री के गुणों को कोई सम्मान नहीं दिया गया और दूसरा स्त्री ने कभी अपने गुणों को विकसित करने की कोई चेष्टा और कोई सक्रिय उपाय नहीं किया। यह जान कर आपको हैरानी होगी, अगर कोई स्त्री पुरुषों के गुणों में आगे हो जाए जैसे जोन ऑफ आर्क या रानी लक्ष्मी बाई... तो सारे जगत में इस बात की प्रशंसा होती है कि रानी लक्ष्मी बाई बहुत बहादुर, बहुत सम्मान योग्य स्त्री है। लेकिन क्या कभी आपने यह सुना है कि कोई पुरुष स्त्रियों के गुणों में विकसित हो जाए तो उसका कहीं भी कोई सम्मान होता हो? अगर कोई पुरुष स्त्रियों जैसा प्रतीत हो तो उसका अपमान होगा और कोई स्त्री पुरुष जैसी प्रतीत हो तो उसका सम्मान होगा और चौरस्तों के ऊपर उसकी मूर्तियां खड़ी की जाएंगी।

पुरुष ने अपने गुणों को अनिवार्य रूप से श्रेष्ठ स्वीकार कर लिया है
और स्त्रियों ने भी इस पर स्वीकृति दे दी, यह बहुत आश्चर्य की बात है! स्त्रियों ने कभी सोचा भी नहीं कि उनके व्यक्तित्व की भी अपनी कोई गरिमा, अपना कोई स्थान, अपनी कोई प्रतिष्ठा है। इस तीन-चार हजार बरस की गुलामी के बाद एक विद्रोह, एक प्रतिक्रिया, एक रिएक्शन पैदा होना शुरू हुआ और स्त्रियों ने यह घोषणा करनी शुरू की कि हम पुरुषों के समान हैं और हम बराबर हैसियत, बराबर अधिकार मांगती हैं लेकिन फिर दोबारा भूल हुई जा रही है, जिसका आपको शायद पता न हो। उस भूल के संबंध में भी समझ लेना जरूरी है। मैं कहना चाहता हूं कि स्त्रियां न तो पुरुषों से हीन हैं और न समान हैं। स्त्रियां पुरुषों से भिन्न हैं, वे बिल्कुल भिन्न हैं। न उनके नीचे होने का सवाल है, न उनके समान होने का सवाल है, स्त्रियां पुरुषों से बिल्कुल भिन्न हैं और जब तक स्त्रियां अपनी भिन्नता की भाषा में, अपने अलग व्यक्तित्व की भाषा में सोचना शुरू नहीं करेंगी तब तक या तो वे पुरुष की दास होंगी या पुरुष की अनुयायी होंगी, और दोनों स्थितियां खतरनाक हैं। पश्चिम में स्त्रियों ने एक बगावत की है, एक विद्रोह किया है और परिणाम यह हुआ है कि स्त्रियां पुरुषों जैसे होने की दौड़ में, होड़ में पड़ गईं। जो पुरुष करते हैं और जैसे पुरुष हैं वैसे ही स्त्रियों को भी हो जाना चाहिए। जो शिक्षा पुरुष को मिलती है वही स्त्री को भी मिलनी चाहिए। अगर पुरुष युद्ध के मैदान पर लड़ने जाते हैं तो स्त्रियों को भी युद्ध के मैदान पर सैनिक बन कर उपस्थित होना चाहिए।
इस बात की कल्पना भी नहीं है आपको कि पुरुषों की नकल में स्त्रियां हमेशा द्वितीय कोटी की होंगी, प्रथम कोटि की कभी भी नहीं हो सकतीं। क्योंकि जिन गुणों में वे प्रतिस्पर्धा करने जा रही हैं वे पुरुष के लिए सहज गुण हैं और स्त्रियों के लिए असहज धर्म है। वैसी स्थिति में स्त्रियां एकदम कुरूप, अपने स्वभाव से च्युत, जो हो सकती थीं उससे वंचित हो जाएंगी और परिणाम, परिणाम बड़े घातक होंगे, जिनकी हमें कोई धारणा नहीं, कोई सपना भी नहीं।
जो शिक्षा पुरुषों को मिलती है वही शिक्षा स्त्रियों को देना अत्यंत भ्रांत है, एकदम गलत है। उचित है कि पुरुष गणित सीखें, उचित है कि पुरुष विज्ञान सीखें। लेकिन बहुत उचित होगा कि स्त्री कुछ और सीखे जो पुरुष नहीं सीखते। उसे जीवन में कुछ और करना है। उसके ऊपर जीवन ने कोई और दायित्व दिया है, कोई दूसरी रिस्पांसिबिलिटी है उसके ऊपर। उसके ऊपर प्रेम का, सृजन का कोई दूसरा भार है।
गणित से, गणित सीख लेने से दुकानें चल सकती होंगी, बच्चे नहीं बड़े किए
जा सकते। साइंस से फैक्ट्रियां चलती होंगी लेकिन परिवार नहीं चल सकते और परिणाम यह हुआ है, स्त्री को पुरुष जैसी दीक्षा और शिक्षा और समानता के भाव ने स्त्रियों से जो भी उनका महत्वपूर्ण मातृत्व था वह सब छीन लिया है। उनके जीवन में जो भी गौरवपूर्ण पत्नीत्व था वह सब छीन लिया है। उनके भीतर जो भी स्त्रैण था वह सब नष्ट किया जा रहा है। वे करीब-करीब पुरुष की नकल में निर्मित की जा रही हैं और वे बहुत प्रसन्न भी मालूम हो रही हैं। इस प्रसन्नता के लिए बहुत हजार-हजार आंसू आज नहीं कल स्त्रियों को तो रोने ही पड़ेंगे, पुरुषों को भी रोने पड़ेंगे।
शायद हमें इस बात का खयाल नहीं कि स्त्री और पुरुष के चित्त में बुनियादी भेद है, भिन्नता है और यह भिन्नता अर्थपूर्ण है। पुरुष और स्त्री का सारा आकर्षण उसी भिन्नता पर निर्भर है। वे जितनी भिन्न हों, वे जितने दूर हों, उनके भीतर पोलेरिटी हो, उत्तर और दक्षिण धु्रवों की तरह उनमें भिन्नता हो, उतना ही उनके बीच कशिश, आकर्षण, ग्रेविटेशन होगा। उतना ही उनके बीच प्रेम का जन्म होगा--जितना उनका फासला हो, उनकी भिन्नता हो, जितने उनके व्यक्तित्व अनूठे और अलग हों, जितने वे एक-दूसरे जैसे नहीं बल्कि एक-दूसरे के परिपूरक, कांप्लिमेंटरी हों।
अगर पुरुष गणित जानता हो और स्त्री भी गणित जानती हो तो ये दोनों बातें उन्हें निकट नहीं लातीं। ये दोनो बातें उन्हें दूर ले जाएंगी। अगर पुरुष गणित जानता हो और स्त्री काव्य जानती हो, संगीत जानती हो, नृत्य

जानती हो तो वे ज्यादा निकट आएंगे। वे जीवन में ज्यादा साथी, गहरे साथी बन सकेंगे और जब एक स्त्री पुरुषों जैसी दीक्षित हो जाती है तो ज्यादा से ज्यादा वह पुरुष को स्त्री होने का साथ भर दे सकती है लेकिन उसके हृदय के उस अभाव को जो स्त्री के लिए प्यासा और प्रेम से भरा होता है, उस अभाव को पूरा नहीं कर सकती।
पश्चिम में परिवार टूट रहा है, भारत में भी परिवार टूटेगा और परिवार टूटने के पीछे आर्थिक कारण उतने नहीं हैं जितना स्त्रियों का पुरुषों के जैसा शिक्षित किया जाना है। पुरुष की भांति शिक्षित होकर स्त्री एक नकली पुरुष बन जाती है, असली स्त्री नहीं बन पाती। भिन्नता का लेकिन हमें कोई खयाल नहीं है और भिन्न शिक्षा और दीक्षा का हमें कोई विचार नहीं है।
यह बात सारे जगत की स्त्रियों को कह देने जैसी हैं कि उन्हें अपनी स्त्री होने को बचाना है। कल तक पुरुष ने उन्हें हीन समझा था, नीचा समझा था और इसलिए नुकसान पहुंचाया, आज पुरुष अगर राजी हो जाएगा कि तुम हमारे समान हो, तुम हमारी दौड़ में सम्मिलित हो जाओ--इस दौड़ में स्त्रियां कहां पहुंचेंगी और सवाल यही नहीं है कि स्त्रियों को नुकसान होगा, सवाल यह है कि पूरा जीवन नष्ट होगा।
सी.एम. जोड ने, पश्चिम के एक विचारक ने एक बड़ी अदभुत बात लिखी। उसने लिखा कि जब में पैदा हुआ था तो मेरे देश में घर थे, होम्स थे, लेकिन अब जब मैं बूढ़ा होकर मर रहा हूं तो मेरे देश में होम जैसी कोई चीज नहीं है, घर जैसी कोई चीज नहीं है, केवल मकान, केवल हाउसेस रह गए हैं। होम और हाउस में कुछ फर्क है? घर में और मकान में कोई भेद है? होटल में और घर में कोई फर्क है? अगर कोई भी फर्क है तो वह सारा फर्क स्त्री के ऊपर निर्भर है और किसी के ऊपर निर्भर नहीं है।
एक हाउस होम बन सकता है, एक मकान घर बन जाता है अगर उसके बीच में केंद्र पर कोई स्त्री हो। लेकिन स्त्री अगर पुरुष जैसी हो जाती है तो घर में मकान रह जाता है, घर निर्मित नहीं हो पाता। दो साथ रहने वाले लोग होते हैं लेकिन पति और पत्नी नहीं होते। बच्चे पैदा होते हैं लेकिन नर्स और बच्चों का संबंध होता है, मां का और बेटे का और बेटियों का कोई संबंध नहीं होता। क्योंकि वह जो स्त्री थी, जो मां बन सकती थी उसके विकास के लिए हमने कुछ भी नहीं किया है।
हमारे स्कूल और कालेज क्या सिखा रहे हैं? स्त्रियों के लिए क्या दे रहे हैं? वे, वे ही उपाधियां दे रहे हैं जो पुरुषों को दी जा रही हैं। वे उन्हीं परीक्षाओं में से उन्हें निकाल रहे हैं जिनमें से पुरुषों को निकाला जा रहा है। वे उसी भांति की कवायद, उसी भांति के खेल खिला रहे हैं स्त्रियों को जो पुरुष खेल रहे हैं।
और बड़े आश्चर्य की बात है कि इस सदी में जब कि हम मनुष्य के शरीर और फिजियोलॉजी के संबंध में बहुत कुछ जानते हैं, हमें इतना भी पता नहीं है कि वही कवायद, वही एक्सरसाइज पुरुष और स्त्री को नहीं करवाई जा सकती है। स्त्री के शरीर के नियम, स्त्री के शरीर की बनावट बहुत भिन्न है। उसे अगर वही कवायद करवाई जाती है और उसे भी एन.सी.सी. में वही लेफ्ट-राइट करवाया जाता है जो पुरुष सैनिक सीख रहे हैं तो हम स्त्री के भीतर किसी बुनियादी तत्व को तोड़ देंगे जिसका हमें कोई पता ही नहीं, जिसका हमें खयाल ही नहीं है।
अतीत के लोग नासमझ नहीं थे। पुरुषों के लिए उन्होंने व्यायाम खोजे, स्त्रियों के लिए नृत्य खोजा। कोई अर्थ था, कोई कारण था। नृत्य में एक रिदम है, नृत्य में एक लययुक्तता है जो स्त्री के शरीर के हार्मोंस को, उसके शरीर के रासायनिक तत्वों को एक और तरह की गतिमयता और संगीत से भरती है। कवायद बात दूसरी है। कवायद के अर्थ और प्रयोजन भिन्न हैं। कवायद मनुष्य के भीतर जो क्रोध है उसे सजग करती है, मनुष्य के भीतर जो लड़ने की प्रवृत्ति है उसे तीव्र करती है। मनुष्य के भीतर जो दूसरे के साथ हिंसक होने का भाव है उसे मजबूत करती है, उसे बलवान करती है।
कवायद अगर स्त्रियों को सिखाई गई तो घर नष्ट हो जाने वाले हैं, इसका हमें कोई खयाल ही नहीं। हम उनके पूरे शरीर को नुकसान पहुंचा रहे हैं। यहां

तक आप हैरान होंगी, जिन मुल्कों में स्त्रियों को पुरुषों जैसी सैन्य-शिक्षा दी जा रही है वहां जवान लड़कियों को भी ओंठों पर मूंछ आनी शुरू हो जाती है। यह बहुत आसान है, कठिन नहीं है।
अगर ठीक पुरुषों जैसी कवायद करवाई जाए बच्चियों को तो उनके ओंठों पर मूंछों के बाल आने शुरू हो जाएंगे। शरीर के हार्मोंस अलग तरह से काम करना शुरू करते हैं। शरीर की जो व्यवस्था है वह अलग तरह से काम करती है। छोटी- छोटी बात से फर्क पड़ता है। शरीर को भी हम पुरुषों के जैसे स्त्रियों का ढालने की कोशिश कर रहे हैं और अब तो हम पुरुषों जैसे कपड़े पहनाने की भी सारी दुनिया में व्यवस्था कर रहे हैं। शायद हमें इस बात का कोई भी विचार नहीं है कि जीवन की छोटी-छोटी बात सारे जीवन को प्रभावित करती है।
पूरब के लोग ढीले कपड़े पहनते रहे हैं। पश्चिम के लोग चुस्त कपड़े पहनते रहे हैं। चुस्त कपड़े आदमी को लड़ने के लिए तत्पर बनाते हैं, ढीले कपड़े आदमी को शांत करते हैं, मौन करते हैं। आज तक दुनिया में किन्हीं साधुओं की किसी भी परंपरा ने चुस्त कपड़े नहीं पहने। यह ऐसे ही व्यर्थ नहीं था। ढीला कपड़ा व्यक्तित्व को एक शिथिलिता और शांति देता है, कसे हुए कपड़े व्यक्तित्व को एक तेजी और चुस्ती देते हैं इसलिए हम सैनिकों को और नौकरों को चुस्त कपड़े पहनाते हैं, लेकिन मालिक दुनिया में कभी चुस्त कपड़े नहीं पहनते रहे हैं। अगर आप चुस्त कपड़े पहने हुए सीढ़ियां चढ़ती हों तो आप दो सीढ़ियां एक साथ छलांग लगा जाएंगी। आपको पता भी नहीं चलेगा कि कपड़े आपको दो सीढ़ियां इकट्ठी चढ़वा रहे हैं और अगर आप ढीले और कपड़े पहने हुए हैं तो आप एक गरिमा से, एक डिग्निटी से सीढ़ियों को पार करेंगी और चढ़ेंगी।
स्त्रियों के कपड़े पुरुषों जैसे कभी भी नहीं होने चाहिए। स्त्रियों
के जीवन में हम कुछ और अपेक्षा किए हुए हैं। उनसे घर में किसी एक शांत वातावरण की अपेक्षा है। उनसे घर में एक प्रेमपूर्ण झरने की, एक शांत झील बन जाने की अपेक्षा है। उन्हें चुस्त कपड़े नहीं पहनाए जा सकते हैं और अगर वे पहनती हों तो वे भूल में पड़ रही हैं और इस भूल के लिए बहुत महंगी कीमत चुकानी पड़ेगी।
कपड़े तक प्रभावित करते हैं तो शिक्षा तो प्रभावित करेगी ही। मन की ट्रेनिंग हम जो सीखते हैं वह हमारे सारे व्यक्तित्व को निर्मित करता है। हम जो सोचते हैं वह हमारे पूरे जीवन को प्रभावित करता है, हम जो विचारते हैं, हम वैसे ही हो जाते हैं। हमें क्या सिखाया जा रहा है और क्या विचार करने के लिए हमें सामग्री दी जा रही है? स्त्रियों को कौन सी बातें सिखाई जा रही हैं--वे सारी बातें, गणित में जो आदमी दीक्षित होता है, विज्ञान में जो आदमी दीक्षित होता है उसकी जीवन के प्रति पकड़ दूसरी होती है। संगीत में और काव्य में जो दीक्षित होता है उसकी जीवन के प्रति पकड़ दूसरी होती है। और छोटी सी पकड़ से सब कुछ भिन्न हो जाता है।
गांधी जी के आश्रम में एक आदमी आना शुरू हुआ था। कुछ लोगों ने शिकायत
की गांधी को कि यह आदमी अच्छा नहीं है। इस आदमी को आश्रम में आने देना उचित नहीं है, इस आदमी का चरित्र ठीक नहीं है। इसके गलत जीवन के बाबत बहुत खबरें आश्रम में सुनी जाती हैं। गांधी ने कहाः अगर आश्रम में बुरे आदमी नहीं आ सकेंगे तो आश्रम किसके लिए है, फिर आश्रम किसके लिए निर्मित किया गया है? बुरे आदमी आते हैं, हम उनका स्वागत करेंगे। लेकिन एक दिन तो बात बहुत आगे बढ़ गई और कुछ लोगों ने आकर गांधी को कहा कि अब तो सीमा के बाहर बात चली गई है। जिस व्यक्ति को हम रोकने को कहते थे वह आज शराबघर में बैठा हुआ शराब पी रहा है, हम आंखों से देख कर आए हैं और आप चल कर देख ले सकते हैं। खादी पहने हुए वह आदमी शराबखाने में बैठा हो तो बड़ा अपमानजनक है यह आश्रम के लिए। गांधी की आंखों में खुशी के आंसू आ गए और गांधी ने कहा, अगर में उस आदमी को वहां शराबखाने में देखता तो मेरा हृदय आनंद से भर जाता। मैं इसलिए आनंदित हो उठता कि अच्छे दिन मालूम होते हैं, आने शुरू हो गए। शराब पीने वाले लोगों ने भी खादी पहननी शुरू कर दी है। वे लोग जो खबर लाए थे, वे खबर लाए थे कि खादी पहने हुए आदमी शराब पी रहा है यह बहुत बुरी खबर है, लेकिन गांधी ने कहाः मेरा हृदय खुशी से भर जाएगा अगर मुझे यह पता चल जाए कि शराब पीने वाले लोगों ने भी खादी पहननी शुरू कर दी है।

यह जीवन को दो तरफ से देखना है। जिन मित्रों ने गांधी को आकर कहा था, उनकी जीवन की देखने की जो दृष्टि है वह एक अदालत की दृष्टि है, वह एक वकील की दृष्टि है। गांधी ने जिस तरफ से देखा, वह एक मां की दृष्टि है, वह एक स्त्री की दृष्टि है--वह एक वकील की, और एक अदालत की, और कानून की दृष्टि नहीं है। क्या फर्क है दोनों दृष्टियों में? पहली दृष्टि में कंडेमनेशन है उस आदमी का, उस आदमी की निंदा है, उस आदमी को छोड़ देने का आग्रह है, उस आदमी से अलग हट जाने की बात है। दूसरी दृष्टि में उस आदमी के भीतर किसी शुभ के दर्शन की कोशिश है, उस आदमी के भीतर भी सुंदर को खोजने का खयाल है, उस आदमी के संबंध में भी आशा है अभी। दूसरे विचार में वह आदमी समाप्त नहीं हो गया है, उसके बदल जाने की अभी गुंजाइश स्वीकृत है। मां का एक बेटा बिगड़ता चला जाए, बिगड़ता चला जाए, बिगड़ता चला जाए, सारी दुनिया आकर उसको कहे कि लड़का छोड़ देने जैसा हो गया है, यह लड़का बिगड़ गया है, यह घर में घुसने जैसा नहीं है। लेकिन मां कहेगी अभी बहुत आशा है।
मैं एक छोटे से स्टेशन पर रुका हुआ था। मेरी गाड़ी के आने में देर थी,
और एक छोटे से देहात का स्टेशन था और एक स्त्री को, एक बूढ़ी स्त्री को कुछ लोग लाए, उसके सिर पर पट्टियां बंधी थी। शायद किसी ने उसको लकड़ियों से चोट की थी। दो-तीन स्त्रियां भी उसके साथ थीं। वे बाहर बड़े नगर में अस्पताल में उसे ले जाने को लाए थे। मैंने पूछा कि इस स्त्री को किसने मार दिया है? उसके साथ की स्त्रियों ने कहा कि इसका एक ही लड़का है और उसी लड़के ने इसको लकड़ी से चोट पहुंचाई है, इसके सिर को लहूलुहान कर दिया, यह बेहोश हो गई थी, अभी-अभी होश में आई है। हम इसे अस्पताल ले जा रहे हैं। दूसरी स्त्री ने जो उसी के साथ थी, उसने कहा कि ऐसे लड़के तो पैदा ही न हों तो अच्छा है। लेकिन उस बूढ़ी ने, जिसके सिर से खून बह रहा था, उसने उस दूसरी स्त्री के मुंह पर हाथ रख दिया और कहाः ऐसा मत कहो, अगर लड़का न होता तो आज मुझे मारता भी कौन! लड़का है तो उसने मार भी दिया लेकिन लड़का नहीं होता तो मुझे मारता भी कौन? लड़के का होना ही बहुत है। उसने मारा है यह तो बहुत छोटी सी बात है और फिर वह बूढ़ी कहने लगी, लड़के ही हैं, अभी समझ कितनी है। मार दिया है, कल समझ वापस आ जाएगी।
यह एक मां का हृदय है जो गणित में नहीं सोचता, जो कानून में नहीं सोचता। जो किसी प्रेम और आशा से सोचता है।
स्त्रियों की शिक्षा एकदम भिन्न होनी चाहिए ताकि उनकी दृष्टि भिन्न हो। वे जीवन को किन्हीं और ढंगों से सोचने में समर्थ हो सकें। लेकिन नहीं, यह नहीं हो रहा है। हम उन्हें उन्हीं दृष्टियों में, उन्हीं दर्शनों में, उन्हीं विचारों में दीक्षित कर रहे हैं जिनमें पुरुष दीक्षित हैं और पुरुष ने जो दुनिया बनाई वह गलत सिद्ध हो चुकी है। इसे कुछ कहने की जरूरत नहीं है। पिछले तीन हजार वर्षों में पुरुषों की दुनिया में पंद्रह हजार युद्ध हुए हैं। शायद ही कोई दिन ऐसा हो जब जमीन पर युद्ध नहीं हो रहा हो। प्रतिदिन युद्ध हो रहा है। प्रतिक्षण युद्ध हो रहा है। प्रतिक्षण आदमी काटे जा रहे हैं और मारे जा रहे हैं। यह अकेले पुरुष की बनाई हुई दुनिया है, यह हार चुकी है, असफल हो चुकी है, यह प्रयोग हो चुका है।
क्या हम एक प्रयोग नहीं करेंगे कि स्त्रियां भी इस दुनिया के बनाने में कोई महत्वपूर्ण हिस्सा बटाएं? वे एक नई दुनिया को बनाने के लिए कोई आधार रखें या कि वे भी पुरुष की नकल करेंगी और आज नहीं कल सैनिकों के वस्त्र पहन कर नगरों पर एटम बम गिराएंगी? पुरुष बड़ी प्रशंसा करेंगे आपकी जिस दिन आप एटम बम गिराने में समर्थ हो जाएंगी और तब पुरुष कहेंगे कि बहुत अच्छी स्त्रियां हैं। अब ठीक हो गया है सब। जब आप युद्ध के मैदान पर बंदूकें लेकर खड़ी हो जाएंगी तो पुरुष आपको बहुत तगमे बाटेंगे, पद्मश्री और भारत-भूषण की उपाधियां देंगे, और महावीर-चक्र देंगे और कहेंगे अब स्त्रियां ठीक हो गई हैं। बहुत बहादुर हो गईं।
पुरुष अपनी ही भाषा में सोचता है, अपनी ही भाषा में स्त्रियों को भी निर्मित कर लेना चाहता है, बिना इस बात को जाने हुए कि पुरुष खुद बहुत गलत है। उस गलत पुरुष की और संख्या बढ़ाने की कोशिश मत करिए। अकेले पुरुष ही काफी हैं दुनिया को नष्ट करने के लिए और अगर आप भी पुरुषों जैसा व्यवहार

करती हैं तो केवल मनुष्य-जाति का अंत और निकट आ सकता है और कुछ भी नहीं हो सकता। लेकिन अगर स्त्रियां चाहें तो सारे जगत में एक बड़ी क्रांति ला सकती हैं, अगर स्त्रियां चाहें तो पृथ्वी से युद्ध होने बंद हो सकते हैं, अगर स्त्रियां चाहें तो पृथ्वी से सारी बेवकूफियां बंद की जा सकती हैं, सारी हिंसा बंद की जा सकती है, सारा क्रोध बंद किया जा सकता है। लेकिन उसके लिए बिल्कुल और तरह की स्त्री को जन्म देना जरूरी है। पुरुष की नकल नहीं, स्त्री अपने ही गुणों में परिपूर्ण गरिमा को उपलब्ध हो, इसकी दिशा में कुछ काम करना जरूरी है। पुरुषों ने जो स्थिति बना ली है--मैं एक छोटी सी कहानी से आपको समझाने की कोशिश करूंगा।
ईश्वर बहुत घबड़ा गया है पुरुष की इस दुनिया को देख कर, बहुत परेशान हो गया है। आदमी ने जो किया है आदमी के साथ, उसकी कथा इतनी दर्दपूर्ण, इतनी दुखभरी है कि जिसका कोई हिसाब नहीं है। कितनी हत्याएं हुई हैं। हमारी तो स्मृति बहुत कमजोर है इसलिए हम हिसाब भूल जाते हैं। तैमूरलंग ने, नादिरशाह ने, चंगीज खां ने और अभी-अभी स्टैलिन और हिटलर ने क्या किया है, हमें, उसकी कल्पना ही हमें नहीं है। अकेले स्टैलिन ने रूस में साठ लाख लोगों की हत्या करवाई। अकेले हिटलर ने पांच सौ लोग, जब तक वह हुकूमत में रहा, रोज के हिसाब से मारे। प्रतिदिन पांच सौ की संख्या पूरी की। और अब तो इन पुरुषों ने बहुत बड़ी ईजाद कर ली है, एटम और हाइड्रोजन बम बना लिया है। और आज नहीं कल वे सारी दुनिया को नष्ट करने के आयोजन में संलग्न हैं। उनकी तैयारी पूरी है कि आदमी को नहीं बचने देंगे।
तो ईश्वर बहुत घबड़ा गया होगा। उसने दुनिया के तीन बड़े राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को अपने पास बुलाया, रूस को और ब्रिटेन को और अमरीका को। और उन प्रतिनिधियों से कहा ईश्वर ने कि मैं बहुत चिंतित हो गया हूं, ऐसे तो जब से मैंने आदमी को बनाया तब से नींद मुझे नहीं आ सकी। रात मेरी बेचैनी में गुजरती है कि यह आदमी पता नहीं कब, क्या कर ले और जब से मैंने आदमी को बनाया, तुम्हें पता होगा, उसके बाद मैंने फिर कुछ भी नहीं बनाया; क्योंकि आदमी को बना कर मैं इतना घबड़ा गया कि फिर मैंने सृष्टि का सारा काम ही बंद कर दिया और जब से मैंने सृष्टि बंद कर दी है, तब से आदमी ने चीजें बनानी शुरू कर दीं और आदमी ने आखिर में एटम और हाइड्रोजन बम बनाए हैं। अब तो बहुत घबड़ाहट हो गई है। हां, मैं पूछता हूं, तुम चाहते क्या हो, तुम्हारी मंशा क्या है, तुम्हारे इरादे क्या हैं?
इतनी हत्या का आयोजन किसलिए, इतना श्रम किसलिए? अरबों डालर रोज खर्च किया जा रहा है। सारी जमीन पर आदमी भूखा मर रहा है, और बम बनाने में रुपये खर्च किए जा रहे हैं। आदमी भूखे मरे जा रहे हैं, बिना वस्त्रों के हैं, बिना दवाइयों के हैं और दूसरी तरफ हम आदमी की दुनिया को मिटा करसारी संपत्ति नष्ट कर रहे हैं! पृथ्वी की आधी संपत्ति हमेशा युद्धों में लगती रही है, आधी। अगर युद्ध नहीं होते तो आदमी आज कितना खुशहाल होता? इसे कहना बहुत कठिन है।
ईश्वर ने पूछा उनसे, तुम चाहते क्या हो? मैं तुम्हें वरदान दे दूं और तुम्हारी इच्छा पूरी कर दूं। तुम एक-एक वरदान मांग लो। अमरीका के प्रतिनिधि ने कहाः हे प्रभु, हमारी एक ही आकांक्षा है और फिर कभी कोई युद्ध न होंगे। फिर हमारे प्रति कोई शिकायत न होगी। पृथ्वी तो रहे लेकिन पृथ्वी पर रूस का कोई निशान न रह जाए तो हमारी आकांक्षा पूरी हो जाएगी। ईश्वर ने बहुत वरदान दिए हैं लेकिन कभी कल्पना भी नहीं की थी, कोई ऐसा वरदान मांगेगा। उसने बहुत भय से रूस की तरफ देखा। जब अमरीका ही यह कहता है तो रूस क्या कहेगा इसकी तो कल्पना ही की जा सकती है।
रूस के प्रतिनिधि ने कहाः महानुभाव, हमें तो विश्वास ही नहीं है कि ईश्वर कहीं होता भी है। मुझे तो डर लगता है कि शायद मैं ज्यादा शराब पी गया हूं और आप दिखाई पड़ रहे हैं, या हो सकता है मैं कोई सपना देख रहा हूं और आप दिखाई पड़ रहे हैं। क्योंकि रूस में आपको पता है, पचास साल से हमने तय कर लिया है कि ईश्वर है ही नहीं और सारे मुल्क ने तय कर लिया है एक मत से कि ईश्वर नहीं है, फिर आप हो कैसे सकते हो? और यह तो लोकतंत्र का जमाना है, जनता जो तय कर लेती है वही होता है। हमने तय कर लिया है कि ईश्वर नहीं है,

आप हो कैसे सकते हो? जरूर मैं कोई सपना देख रहा हूं या आज ज्यादा शराब पी ली है, लेकिन फिर भी कोई हर्ज नहीं है।
हो सकता है कि हम आपकी पूजा फिर से शुरू कर दें और अपने चर्च में आपकी मूर्तियां फिर बिठा दें, लेकिन एक इच्छा हमारी पूरी हो जाए। जमीन का नक्शा तो हो, पृथ्वी का भूगोल तो हो, लेकिन उस नक्शे में हम अमरीका के लिए कोई रंग, कोई रेखा नहीं देखना चाहते हैं। बस इतना हो जाए फिर सब ठीक है, फिर हमारा कोई विरोध आपसे भी नहीं। हम आपकी भी पूजा करेंगे। हमने, पहले आपके मंदिर थे वहां कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर खोल दिए हैं। अब जहां-जहां कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर हैं, हम फिर से मंदिर बना देंगे। हमें कोई कठिनाई नहीं है, लेकिन इतनी हमारी इच्छा पूरी हो जानी चाहिए! भगवान ने बहुत घबड़ा कर ब्रिटेन की तरफ देखा और ब्रिटेन ने जो कहा वह खयाल में रख लेने जैसा है। ब्रिटेन के प्रतिनिधि ने भगवान के चरणों पर सिर रख कर कहा कि हे महाप्रभु, हमारी अपनी कोई आकांक्षा नहीं। इन दोनों की आकांक्षा एक साथ पूरी हो जाए, तो हमारी आकांक्षा पूरी हो जाए। हम कुछ और नहीं मांगते हैं, इन दोनों ने जो मांगा, पूरा कर दें, फिर हमें कुछ भी नहीं चाहिए।
यह आदमी ने जो दुनिया बनाई है, पुरुष ने जो दुनिया बनाई है, वह यहां ले
आई है। स्त्रियों का इस दुनिया की बनावट में अब तक कोई हाथ नहीं है। क्या स्त्रियां चुपचाप देखती रहेंगी पुरुष की इस दुनिया को? या कि वे कोई भाग लेंगी? कुछ कंट्रिब्यूट करेंगी?
मैं सोचता हूं, स्त्रियों के पास एक महान शक्ति सोई हुई पड़ी है। दुनिया की आधी से बड़ी ताकत उनके पास है। आधी से बड़ी कहता हूं। आधी से बड़ी इसलिए कहता हूं कि स्त्रियां आधी तो हैं ही दुनिया में, आधी से बड़ी इसलिए कि बच्चे-बच्चियां उनकी छाया में पलते हैं और वे जैसा चाहें उन बच्चों और बच्चियों के जीवन को परिवर्तित कर सकती हैं। पुरुष के हाथ में कितनी ही ताकत हो, लेकिन पुरुष एक दिन स्त्री की गोद में होता है, वहीं से वह अपनी यात्रा शुरू करता है और चाहे वह कितना ही बड़ा हो जाए और चाहे वह वृद्ध ही क्यों न हो जाए, वह अपनी पत्नी के सान्निध्य में, अपनी पत्नी की निकटता में निरंतर अपनी मां को अनुभव करता ही है, निरंतर अपनी मां की छाया देखता ही है। मां की छाया में बड़ा होता है। मां बचपन से उसके जीवन में छाए रहती है। अगर एक बार स्त्रियों की पूरी शक्ति जाग्रत हो जाए और वे निर्णय कर लें कि किसी प्रेम की दुनिया को निर्मित करेंगी जहां युद्ध नहीं होंगे, जहां हिंसा नहीं होगी, जहां राजनीति नहीं होगी, जहां पोलिटिशियंस नहीं होंगे, जहां जीवन में कोई बीमारियां नहीं होंगी।
अगर एक ऐसी दुनिया तय कर लें स्त्रियां, बनाना, तो बहुत कठिन नहीं है
कि वे एक नई दुनिया बना कर खड़ी कर दें और वह दुनिया पुरुषों की बनाई दुनिया से बहुत बेहतर होगी। आज भी जगत में जिन लोगों ने कुछ महत्वपूर्ण दिया है उन सारे लोगों में स्त्रियों के गुण अदभुत थे। गांधी के ऊपर तो एक स्त्री ने किताब भी लिखी है, "बापू माई मदर"--"गांधी मेरी मां।" गांधी के पास बहुत लोगों को लगा कि उनके मन में मां जैसे बहुत कुछ गुण हैं। बुद्ध के पास जाकर लोगों को लगता था, क्राइस्ट के पास जाकर लोगों को लगता था कि शायद इन आदमियों के भीतर, इन पुरुषों के भीतर भी स्त्रियों की अदभुत क्षमता है। जहां भी प्रेम है, जहां भी करुणा है, जहां भी दया है वहां स्त्री मौजूद है। इसलिए मैं कहता हूं कि स्त्री के पास आधी से भी ज्यादा बड़ी ताकत है और वह पांच हजार वर्षों से बिल्कुल सोई हुई पड़ी है, बिल्कुल सुप्त पड़ी है। नारी की शक्ति का कोई, कोई उपयोग नहीं हो सका है। भविष्य में यह उपयोग हो सकता है। उपयोग होने का एक सूत्र तो यही है कि स्त्रियां यह तय कर लें कि उन्हें पुरुषों जैसा नहीं हो जाना है।
दूसरी बातः वे पुरुषों से भिन्न हैं, इस बात को अनुभव कर लें। उनका व्यक्तित्व, उनका शरीर, उनका मन, उनकी चेतना किन्हीं अलग रास्तों से जीवन में गति करती है, किन्हीं अलग मार्गों से जीवन की खोज करती है। उनकी चेतना, उनकी कांशसनेस पुरुष की चेतना से बहुत भिन्न है। इस भिन्नता का बोध स्पष्ट होना चाहिए।

और तीसरी बातः उनकी शिक्षा, उनके वस्त्र, उनका चिंतन, उनका विचार, उनकी दीक्षा सब भिन्न होनी चाहिए, पुरुषों जैसी नहीं, तो हम नारी की शक्ति का मनुष्य की संस्कृति में उपयोग कर सकते हैं और वह उपयोग अत्यंत मंगलदायी सिद्ध हो सकता है।
यह कौन करेगा? यह बात पुरुषों पर नहीं छोड़ी जा सकती, स्त्रियों को अपने ही हाथ में ले लेनी होगी। उन्हें खुद ही सोचना होगा, खुद ही विचार करना होगा, खुद ही रास्ते खोजने होंगे। उन्होंने विचार करना शुरू किया है लेकिन वह विचार बिल्कुल पुरुषों का अनुकरण है और नकल है। उसमें उनका कोई अपना चिंतन, कोई अपनी दृष्टि नहीं है। उसमें कोई उनकी अपनी समझ नहीं है। यह प्रार्थना करने के लिए ये थोड़ी सी बातें मैंने कहीं कि आप सोचें, विचारें! नारी की शक्ति का अपव्यय हुआ है या उपयोग ही नहीं हुआ है। या उपयोग हुआ है तो गलत दिशाओं में हुआ है। और अब इतने जोर से नारी दीक्षित की जा रही है पुरुष की नकल में, पुरुष के कॉलेज.ेज में, पुरुष के स्कूलों में-- इतने जोर से उसे ढांचों में ढाला जा रहा है--कि यह हो सकता है, सौ वर्ष बाद दो तरह के पुरुष पृथ्वी पर हों, लेकिन स्त्रियां नहीं रह जाएं। दो तरह के पुरुष पृथ्वी पर हों, स्त्रियां न रह जाएं--यह हो सकता है। उससे बड़ा कोई दुर्भाग्य नहीं हो सकेगा। मनुष्य ने बहुत दुर्भाग्य जाने हैं लेकिन अगर सारी स्त्रियां पुरुषों जैसी हो जाएं तो इससे बड़ा दुर्भाग्य नहीं हो सकेगा। जीवन का सारा आनंद और जीवन का सारा आकर्षण होगा नष्ट और जीवन भरेगा विषाद से और पीड़ा से। और विषाद और पीड़ा में सिवाय आत्मघात के कोई विकल्प नहीं रह जाता... क्या आदमी अपने को नष्ट कर ले और समाप्त कर दे!
ये थोड़ी सी बातें मैंने कहीं इस आशा में कि हो सकता है मेरी बात आपके हृदय की वीणा पर कहीं कोई तार छू ले। कोई चिंतन का वहां जन्म हो जाए, कोई चीज आपको दिखाई पड़ने लगे, कोई चीज आपके जीवन में सक्रिय हो जाए! और आपके जीवन में अगर कोई चीज सक्रिय हो जाती है, एक स्त्री के जीवन में अगर कोई चीज सक्रिय हो जाती है तो फिर एक पूरे परिवार के प्राणों में परिवर्तन होना शुरू हो जाता है। एक स्त्री को बदल लेना पचास पुरुषों कोबदलने के बराबर है। इतनी बड़ी शक्ति जिनके हाथ में हो, इतनी बड़ी जिनके हाथ में सामर्थ्य हो, इतने जीवन को बदलने का जिनके लिए अवसर हो वे अगर जीवन के लिए कुछ भी नहीं करती हों तो निश्चित अपराधी हैं।
स्त्री अपराधी है, उसने जीवन को कुछ भी नहीं दिया है। उसने जीवन को बनाने के लिए कोई बुनियाद ही नहीं रखी। लेकिन ये बुनियादें रखी जा सकती हैं। मेरी बातों को इतने प्रेम और शांति से सुना, उससे मैं अत्यंत आनंदित और अनुगृहीत हूं। और अंत में परमात्मा से यही प्रार्थना करता हूं कि ये पुरुष की जो गाड़ी है सभ्यता की, यह बिल्कुल एक चाक से भागी जा रही है। इससे बड़े एक्सीडेंट होते रहे हैं और बड़े एक्सीडेंट होने की आगे संभावना है। दूसरा चाक बिल्कुल जाम है या गाड़ी से अलग ही निकल कर पड़ा हुआ है। परमात्मा करे कि मनुष्य की इस संस्कृति को पूर्णता दे दे। स्त्री भी अपना दान, अपने प्रेम, अपने आनंद, अपने काव्य, अपने संगीत को जोड़ दे। इस दुनिया में जो अकेले गणित ने, फिजिक्स और केमिस्ट्री ने खड़ी की है, स्त्री भी जोड़ दे अपनी प्रार्थना को--उस राजनीति में जो अकेले पुरुषों ने केवल महत्वाकांक्षा के आधार पर खड़ी की है! स्त्री भी जोड़ दे अपनी थोड़ी-सी पंक्तियों को उस गीत में जो पुरुष अब तक अपने क्रोध और युद्ध के आवेश में अकेला ही गाता रहा है तो शायद एक ज्यादा सर्वांगीण, ज्यादा इंटीग्रेटेड, ज्यादा अखंड सभ्यता का जन्म हो सकता है और अगर वह सभ्यता नहीं जन्मी तो यह सभ्यता मरने के करीब है। इसे मरने से कोई भी नहीं बचा सकेगा। या तो दूसरी सभ्यता जन्मेगी या पूरे मनुष्य के अंत का क्षण करीब आ गया है। मनुष्य के बचने की बहुत ज्यादा संभावना नहीं है।

अंत में आप सबके भीतर बैठे हुए परमात्मा को प्रणाम करता हूं। मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

शिक्षा में क्रांति
आठवां प्रवचन

अज्ञात के नये आयाम

नई कला (माडर्न आर्ट) बिल्कुल ही अजूबा हो गई है। इसमें कलाकार क्या अभिव्यक्त करना चाहता है?

असल में अगर ठीक से हम देखें तो सारी कलाएं जैसे-जैसे सत्य को बताने
की दिशा में आगे बढ़ेंगी, वैसे-वैसे सत्य को बताने में तो समर्थ न होंगी; जो कुछ बता पा रही थीं उसको भी बताने में असमर्थ हो जाएंगी। वैसे हुआ है, हो रहा है। नई मूर्ति है या नई पेंटिंग है या नई कविता या नया संगीत है, चेष्टा है इस बात की कि व जो फार्म बाधा डालता है, वह जो आकार और वह आकृति और वह जो मीडियम बाधा डालता है, उससे हम मुक्त होकर इतना ट्रांसपेरेंट हो सकें कि वह बाधा न डाले, बल्कि मार्ग बन जाए। लेकिन परिणाम क्या होता है? परिणाम यह होता है कि वह बाधा डालता है। अगर उससे हम मुक्त होने की कोशिश करते हैं तो हम मुक्त तो हो जाते हैं, लेकिन तब वह ट्रांसपेरेंसी ही रह जाती है, उससे कुछ आगे आर-पार कुछ दिखाई नहीं पड़ता; क्योंकि वह जो दिखाई पड़ता था वह आकार ही था। मैं इस तरह के शब्दों का उपयोग कर सकता हूं जो बाधा न डालें। मगर वे सब शब्द अर्थहीन होंगे, "ओम्" जैसे शब्द होंगे, उनका कोई मतलब नहीं है। हमने बहुत पहले इसका प्रयोग किया था इसीलिए कि यह अर्थहीन है। इसका उपयोग करो, क्योंकि जितने अर्थहीन शब्द हैं सब उपयोग में आकर झंझट में डाल देते हैं और फिर उनसे झंझट नहीं सुलझती। अब यह "ओम्" है, इसका उच्चारण कर दो, इसका कोई अर्थ नहीं है, इससे कुछ इंगित नहीं होता और इससे हम यह इंगित कर रहे हैं कि कुछ है, जो शब्दों के बाहर है। उसके लिए हमने यह शब्द चुना, लेकिन उससे भी क्या फर्क पड़ता है, कितने ही "ओम्" कहते रहो, उससे भी कुछ फर्क नहीं पड़ता, उसका भी इंगित कहीं नहीं हो पाता।

लेकिन वह मंत्र-शास्त्री कहेंगे कि इसका कोई और कारण है उपयोग का?

वह मंत्र-शास्त्री से बात करनी चाहिए। मैं तो यहां यह कह रहा हूं कि
नई कलाएं इस तरह के उपयोग कर रही हैं जो एब्सर्ड हैं। इस तरह की मूर्तियां बन रही हैं जिनको आप किसी की मूर्ति नहीं कह सकते। अगर आदमी की मूर्ति बनानी है तो ऐसी ही बनानी पड़ेगी कि उसमें किसी का चेहरा न आए, क्योंकि किसी का भी आ जाएगा तो वह किसी का हो जाएगा। आदमी का नहीं रह जाएगा।
अब आदमी की अगर मूर्ति बनानी है तो उसमें मेरा चेहरा नहीं होना चाहिए, आपका चेहरा नहीं होना चाहिए, उसमें किसी का चेहरा नहीं होना चाहिए। उसमें कोई पर्टीकुलर चेहरा हुआ कि वह किसी आदमी का हो जाएगा, आदमियत का न रह जाएगा। तो हम एक ऐसी मूर्ति बनाएं, जिसमें किसी का चेहरा न हो--बन जाएगी ऐसी मूर्ति, लेकिन हम सोचते थे कि वह आदमियत की बन जाएगी, लेकिन वह एक आदमी की भी न रह जाएगी। जो मैं कह रहा हूं वह यह कह रहा हूं कि आदमियत की तो बनेगी नहीं, वह जो एक आदमी की बन सकती थी, वह भी नहीं बनेगी अब, अब वहां से भी विदा हो जाएगी, वह फेसलेस हो जाएगी। आदमियत की बनाने में सिर्फ चेहरा खो जाएगा और ऐसे ही हुआ है।
इसलिए नई कला के सारे के सारे प्रयोग फेसलेसनेस की तरफ हैं। सब चेहरे
खो गए हैं वहां और सब हमारी समझ के बाहर हो गया है। और जो लोग कहते हैं कि हमारी समझ में आ रहा है, वे या तो फैशन की वजह से कहते हैं या इस वजह से कहते हैं कि वे नहीं तो बुद्धिहीन मालूम पड़ेंगे। बाकी नई कला के सारे आयाम, सारे डाइमेन्शंस ऐसे हैं कि वे आपको समझ में नहीं आ रहे हैं, न आना चाहिए। कोशिश यह है कि समझ में आ गए, तो अर्थ पकड़ में आ गया आपके और अर्थ अगर पकड़ में आ गया आपके, तो आकार पकड़ में आ गया, फार्म हो गया, बात खत्म हो गई। नहीं, जो समझ में नहीं आ रहा है, यही तो सारी चेष्टा है कि समझ में आपके न आ जाए, लेकिन समझ में आने वाले शब्द से भी नहीं बता पाते थे, नासमझ में आने वाले शब्द से क्या बता पाएंगे? यानी मैं यह कह रहा हूं कि जब समझ में आने वाला

शब्द ही नहीं बता पाता तो समझ में न आने वाला शब्द भी नहीं बता पाएगा। इसका मेरा मतलब क्या है?
मेरा मतलब यह है कि यदि हमें बुद्धि की पूरी की पूरी असमर्थता का बोध
हो जाए, उसमें जरा भी आशा नहीं रह जाए! "होपिंग अगेंस्ट होप" चल रही है, बहुत दिनों से वह चलती जाती है। कुछ लोग छिटक जाते हैं रास्ते के किनारे और वे कह देते हैं होपलेस हो गया मामला, उनकी बात अलग है। लेकिन आमतौर से हम आशा बांधे चले जाते हैं कि कोई रास्ता खोज लेंगे। अगर कालिदास नहीं खोज पाए तो इजरा खोज लेंगे। अगर हमारे मूर्तिकार पुराने नहीं खोज पाए, तो पिकासो खोज लेगा। हम कोशिश में लगे हैं कि कोई न कोई रास्ता खोज लेंगे कि जो न कह जाने जैसा वह है, वह हम कह देंगे।
मैं यह कह रहा हूं कि जिस दिन किसी व्यक्ति को यह समझ में आ जाता है कि
यह मामला "ए.ज सच एब्सर्ड है", यानी यह सवाल नहीं है कि हम और किसी तरकीब से कह देंगे, सवाल यह है कि कहा ही नहीं जा सकता। यह सवाल नहीं है कि हम कोई और अच्छे शब्द खोज लेंगे--अच्छी आकृति, अच्छी कविता, अच्छी पेंटिंग--नहीं, यह सवाल नहीं है। जो है, वह कहा जाने योग्य भी नहीं है। ऐसा नहीं है कि आज तक नहीं कहा गया, आगे कहा जा सकेगा। नहीं, वह कहा ही नहीं जा सकता। वह जो रियलिटी जिसको आप कह रहे हैं वह कही नहीं जा सकती। तब इसका मतलब यह है कि वह सिर्फ जानी जा सकती है और तब जानने और कहने के फर्क और फासले को समझ लेना उपयोगी होगा। वह जो नहीं कहा जा सकता वह भी माना जा सकता है।
हमारी क्या तकलीफ है कि हम यह कोशिश में लगे हैं कि जो जाना जा सकता है
वह कहा भी जाना चाहिए। हमारी जो सारी तकलीफ है वह इसी वजह से है। जैसे बुद्ध कहते हैं, मैंने जाना निर्वाण। तो हम यह पूछते हैं कि कहो, क्या है निर्वाण? एक आदमी कहता है, मैंने ईश्वर को जाना, तो हम यह पूछते हैं कि बोलो, फिर क्या है ईश्वर? अगर वह नहीं बोल पाता तो हम हंसते हैं, हम कहते हैं, फिर जाना ही नहीं होगा, क्योंकि अगर जाना हो तो बोलो और अगर नहीं बोल सकते हो, तो स्वीकार कर लो कि नहीं जाना, क्योंकि जो जाना गया है वह बोला क्यों नहीं जा सकता है!
मैं यह कह रहा हूं, यह बात जरूर सच है। एक मानवीय जरूरत है, एक बुनियादी जरूरत है कि जो हमने जाना है वह हम कहना चाहते हैं, क्योंकि जो हमने जाना है उसमें हम दूसरे को साझीदार बनाना चाहते हैं। अगर मैं घर के पीछे गया और वहां एक फूल खिला देखा है, जिससे मैं नाचने लगा और आनंदित हो गया, तो मैं लौट कर मित्रों से कह देना चाहता हूं कि पीछे एक फूल खिला है, वह बहुत आनंदकर है यानी आनंद का एक हिस्सा बांटना भी है। दुख का एक हिस्सा न बांटना भी है। अगर मैं दुखी हूं तो चाहूंगा कोई न आए। दुख सिकोड़ देता है। और अगर मैं आनंदित हुआ हूं, तो मैं बांट देना चाहता हूं, फैल जाना चाहता हूं, और दस लोगों को खबर कर देना चाहता हूं। बिल्कुल स्वाभाविक है कि जो आदमी जाने वह उसे कहने जाए, वह उसकी एक बेसिक जरूरत है, लेकिन हमारी सब जरूरतें जरूरी नहीं हैं कि पूरी हों। हमारी बुनियादी जरूरतें भी पूरी हों यह भी जरूरी नहीं है।
हम जानते हैं और हम कहना भी चाहते हैं और कहने की कोशिश में हम सिंबल्स भी खोजते हैं, क्योंकि बिना उसके तो कोई उपाय नहीं कहने का। हम सिंबल्स खोजते हैं। प्रतीक जो है, वह हमारी चेष्टा है उसको बताने की, जो हमने जाना, लेकिन हमारी चेष्टा सफल नहीं हो पाती। कला असफल है, काव्य असफल है, मूर्ति असफल है, सब असफल है और जितना बड़ा मूर्तिकार होगा उतनी बड़ी असफलता अनुभव करेगा और जितना बड़ा कवि होगा उतनी असफलता अनुभव करेगा और जितना बड़ा संत होगा उतनी असफलता अनुभव करेगा। छोटा होगा तो उतनी असफलता अनुभव नहीं करेगा। अगर उधार अनुभव को दोहराना है तो बराबर शब्द कह सकते हैं; लेकिन आपका ही अगर अनुभव हुआ है तो आप पहली दफा पाएंगे कि कोई शब्द ही नहीं है, क्योंकि वह अनुभव आपका है और आप पहली दफा हुए हैं जमीन पर और कोई शब्द नहीं है, क्योंकि आप जैसा अनुभव किसी को कभी नहीं हुआ है। हां, अगर कोई उधार अनुभव हुआ है कि अगर स्त्री के चेहरे में आपको भी चांद दिखा है, तो कालिदास से लेकर सब उसको कहते रहे हैं चांद देखने को। आप भी एक कविता बना सकते हैं, जिसमें स्त्री के चेहरे में चांद दिख जाए, लेकिन वह अनुभव

बहुत अधूरा, बासा और सेकेंड हैंड है। हजार हाथ से गुजरा हुआ अनुभव है। आप कह पाते हैं और दूसरा भी समझ पाता है, क्योंकि वह सबका अनुभव है।
लेकिन जितना अनुभव निजी होता जाएगा और जितना गहरा होगा उतना निजी होगा। और परमात्मा का अनुभव चूंकि आत्यंतिक चरम अनुभव है, उससे गहरा कोई अनुभव नहीं है। यह नितांत निजी है, यानी वह पहली दफा आपको ही हो रहा है आपके जैसा, वैसे पहले कभी किसी को नहीं हुआ। उस गहराई में आप कोई शब्द नहीं पाते हैं और कोई सिंबल नहीं पाते हैं, बनाने की कोशिश करते हैं। जब आप बनाने की कोशिश करते हैं तभी उपद्रव शुरू होता है, क्योंकि आप कहते हैं, समझा कुछ और जाता है, आप बताते कुछ हैं और सुना कुछ जाता है और तब एक उपद्रव शुरू हो जाता है जो हजारों साल तक चलता है। जैसे कृष्ण की गीता है। अभी टीका चल रही है। उसका मतलब यह है कि जो उन्होंने कहा था वह अभी तक नहीं समझा गया। टीका की अब कोई जरूरत नहीं है। सैकड़ों-हजारों टीकाएं लिखी गई हैं और अभी टीकाएं लोग लिखे चले जा रहे हैं, यानी मामला यह है कि बेचारे महापुरुष जो बोले थे वह अभी तक उपद्रव में पड़ा है कि वे क्या बोले थे! इस पर टीका चल रही है कि वे यह बोले थे।
गांधी कहते थे, वे यह बोले; तिलक कहते, वे यह बोले; विनोबा यह कहते हैं... ! हजारों लोग बता रहे हैं कि वे क्या बोले थे। और मजा यह है कि जब वे बोले और हम नहीं समझ पाए, तो विनोबा या गांधी या तिलक के कहने से हम क्या समझेंगे? और उन पर टीकाएं चलेंगी कि तिलक बोले, उसका क्या मतलब है; और इसका कोई अंत नहीं है। फिर भी शब्द से ज्यादा गहराई में दूसरे सिंबल्स पहुंचते हैं। जैसे, हो सकता है कि मैं आपसे एक बात न कह पाऊं, लेकिन मैं उठूं और आपको गले से लगा लूं। और कोई बात कह नहीं सकता क्योंकि शरीर जो है, स्पर्श जो है वह शब्द से बहुत पुराना है।
शब्द बहुत बाद की चीज है और मेरे शब्द, आपके शब्द अलग हो सकते हैं; लेकिन मेरे शरीर का स्पर्श और आपके शरीर का स्पर्श अलग नहीं हो सकता है। यह हो सकता है कि जो मैं शब्द में न कह सकूं और उठाऊं एक तंबूरा और नाचने लगूं और यह कहना चाहूं कि मैं बहुत खुश हूं और न कह पाऊं, क्योंकि आप पूछें कि खुशी यानी क्या? खुशी कैसी है आपको? तो शायद मैं नाचूं और मेरे नाचने से आपको खुशी की एक झलक मिल जाए, लेकिन फिर भी ये सिंबल्स ही हैं, फिर भी वह नहीं कह पाता हूं जो मैं कहना चाह रहा हूं। मैं जब थक जाऊंगा और आपकी तरफ देखूंगा और आपकी ताली सुनूंगा, तो मैं समझूंगा कि आप कुछ समझे। मेरे बाह्य आयाम का थोड़ा सा फल हुआ। लेकिन जो मैं कहता था वह नहीं पहुंचा। मैं शायद उदास चला जाऊंगा, वह नहीं पहुंचाया जा सका, वह जो कहना था। नाच से भी, कला से भी, चित्र से भी कुछ कहने की कोशिश की गई है, सब तरफ कोशिश की गई है।
मैं यह कह रहा हूं कि सिंबल्स से कहने की तो कोशिश की गई है, लेकिन सिंबल्स असफल हो गए हैं। यह हमें अब तक पूरा बोध नहीं हो पाया और अब सिंबल्स असफल हो गए हैं और मैं यह नहीं कह रहा हूं कि सिर्फ असफल ये सिंबल्स हो गए हैं। मैं यह कहता हूं, सिंबल्स असफल होने को बाध्य हैं। उसका कारण यह है कि सिम्बल रियलिटी तो नहीं है, कुछ और है।
मैंने एक सूरज को उगते देखा सुबह और एक आनंद से भर गया। फिर मैंने एक चित्र बनाया, कुछ रेखाएं खींची और एक सूरज बनाया। एक पेंटिंग बना कर लाकर आपको दिखाई और आपसे कहा कि बड़ा ही आनंद आया। आपने देखा, आपने कहा, ठीक है, और रख दी। क्योंकि आखिर रेखाएं रेखाएं हैं; सूरज नहीं है! और रंग, रंग हैं, सूरज के रंग नहीं हैं! और मैंने कितनी ही कोशिश की, तब भी एक छोटे से कागज पर मैंने जो खींच लिया है वह हजार मील दूर की ध्वनि है। वह, वह बात नहीं है जो वहां थी।
कितना ही सफल हो जाए सिम्बल वह रियलिटी तो नहीं बनता। वह सूरज नहीं बन जाएगा। यानी सिम्बल इसलिए असफल होने को बाध्य है कि उसकी पेंटिंग कभी भी सूरज नहीं बन पाएगी, वह सूरज नहीं बन सकती। हां, लेकिन एक खतरा है सिंबल्स के साथ और वह खतरा भी काफी काम का है। वह खतरा यह है कि हो सकता है आप कभी घर के बाहर ही न निकलें, क्योंकि आप समझें कि पेंटिंग घर में लटकी है, तो सूरज घर में लटका है, बाहर जाने की जरूरत क्या है! घर में तो सूरज लटका हुआ है और आप उसी पेंटिंग से उलझे रह जाएं और सूरज को कभी न जान पाएं।

सिंबल्स ने अब तक तो कम्युनिकेट किया नहीं, लेकिन हिंड्रेंस डाल ली। गीता पकड़े बैठे हैं। वह सूरज घर का किताब वाला सूरज है। वह घर बैठा, कुरान पकड़े बैठा है। कोई महावीर को, कोई बुद्ध को पकड़े बैठा है। यह सब लोग थे, क्योंकि महावीर हमारे लिए क्या हैं, सिर्फ सिम्बल! जो वह बोले, वही रह गया हमारे पास। कृष्ण हमारे लिए क्या हैं, वह जो बोले, अगर कृष्ण का बोला हुआ खो जाए तो कृष्ण खो जाएंगे। न मालूम कितने महापुरुष खो गए जो कि नहीं बोले, या बोले और फिर नहीं पकड़ा जा सका, तो खो गए! सिम्बल पकड़ जाता है, यानी जिन्होंने कोशिश की थी उन्होंने तो चाहा था कि इस प्रतीक के द्वारा आपको कुछ कह देंगे और कठिनाई ऐसी हो गई कि अगर... आज वह मुर्दा हैं, कहीं वापस लौट सकें तो पहला काम यह करेंगे कि आपसे धार्मिक ग्रंथ-शास्त्र कैसे छुड़ा लें! क्योंकि सोचा तो, कुछ कह देंगे और कुछ कह तो नहीं पाए और ये लोग जा सकते थे खुद भी खोजने, तो यह भी नहीं गए, क्योंकि उन्होंने समझा कि हमारे पास तो उपलब्ध हो गई है किताब।
कला असफल हो गई है, दर्शन असफल हो गया है, शास्त्र असफल हो गए हैं, गुरु असफल हो गए हैं और असफलता का कारण यह है कि सत्य को प्रतीक कभी बनाया ही नहीं जा सकता। सत्य, सत्य है और आपको जानना है, तो आपको आमने-सामने खड़ा होना पड़ेगा। बीच में प्रतीक लाने का कोई उपाय नहीं है। लेकिन कम्युनिकेशन में प्रतीक आ जाते हैं, इसलिए कम्युनिकेशन और रियलाइजेशन अलग-अलग बातें हैं।
कम्युनिकेशन एक काम भर अगर कर दे... जो मेरी समझ है--आप मुझसे पूछ सकते हैं कि फिर मैं क्यों मेहनत कर रहा हूं, जब मैं मानता हूं कि बोल कर कुछ कहा नहीं जा सकता, तो फिर मैं क्यों बोल रहा हूं? तो मेरा कुल कहना इतना है कि बोलने से केवल इतनी हालत पैदा की जा सकती है कि आपको एक दिन लगे कि बोलना एब्सर्ड है, बेकार है। कुछ नहीं हुआ, न बोलने से कुछ हुआ, न सुनने से कुछ हुआ। इतने निगेटिव अर्थ में ही कम्युनिकेशन का उपयोग है कि हम सिर खपाते रहें, खपाते रहें, फिर आपका भी सिर पक जाएगा और मैं कहूं, बकवास बंद और आप कहें कि चुप हो जाइए, अब मुझे कुछ नहीं सुनना है। एक घड़ी ऐसी आ जाए और घबड़ा जाएं और आप कहें कि नहीं जाना जा सकता है, तो शायद आप घर के बाहर निकल जाएं, पेंटिंग को यहीं छोड़ जाएं, वहां सूरज है! हमारे संवाद करने, न करने का कोई सवाल ही नहीं है।
रवींद्रनाथ के जीवन में एक बहुत अच्छा उल्लेख है। एक रात सौंदर्य पर
एक किताब पढ़ रहे हैं। रात दो बज गए हैं, पढ़ते-पढ़ते थक गए हैं। फिर क्रोध से किताब पटक दी है, दीया बुझा दिया है और फिर खड़े होकर नाचने लगे हैं, क्योंकि जब तक वे किताब पढ़ रहे थे, तब तक उन्हें पता ही नहीं था कि बाहर पूर्णिमा की रात है और जैसे ही किताब पटकी है और दीया बुझाया है, चांद की सब किरणें भीतर भर गई हैं। बजरे के अंदर जहां नाव पर वे थे और चांद बाहर था, जब तक दीया भीतर जल रहा था। वह भीतर आ गए तो नाचने लग गए हैं और उन्होंने कहाः मैं भी कैसा पागल था, आधी रात गंवा दी, किताब पढ़ता रहा जानने को कि सौंदर्य क्या है और सौंदर्य बाहर खड़ा ही था और वह पूरे वक्त दरवाजे पर ठोकर दे रहा था कि तुम दीया तो बुझाओ, तुम किताब बंद करो, तो मैं आ जाऊं; लेकिन अब मुझे मिलने का उपाय नहीं!
अगर मैं रवींद्रनाथ को मिल सकता, तो उनसे कहता कि हो सकता था कि सांझ
आप सो गए होते और चांद फिर भी बाहर खड़ा रहता। आधी रात तक किताब पढ़ने में कम से कम एक विपरीत हालत पैदा की कि सब बेकार है, इससे कुछ समझ में नहीं आता। किताब पटक सके आप, तो ही देख सके चांद। किताब तो नहीं बता सकी कि सौंदर्य क्या है; लेकिन किताब का पटकना एक स्थिति है मन की, जिसके बिना हो सकता है सौंदर्य न जाना जा सकता।
यानी मैं यह कह रहा हूं कि दर्शन का एक ही उपयोग है कि वह इतना परेशान
कर डाले कि एक दिन आप किताब पटक सकें। उस थकी-मांदी, सर्वहारा दशा में जब कोई मार्ग नहीं, कोई दिशा नहीं, कोई आशा नहीं तब शायद आपकी आंख उसको देख ले, जो है! वह तो है ही, उससे कोई सवाल नहीं। अगर मेरे कम्युनिकेट करने पर उसका होना निर्भर होता तो कोई खतरा था, यानी मेरे संवादित करने पर उसके होने में कोई फर्क नहीं पड़ता, वह है ही। खतरा तब है, जब कि हम ऐसा समझ कर चलें कि

संवाद हो जाए। संवाद एक अर्थ में असंभव है, बौद्धिक संवाद तो असंभव है, यानी वह असंभावना का ही नाम है। फिर क्या और कोई संवाद हो सकता है?--और कोई संवाद नहीं तो और क्या संवाद करिएगा? हम चुप बैठ सकते हैं, लेकिन जब हम चुप बैठेंगे तो मेरे और आपके बीच बात नहीं होगी। जब हम चुप बैठेंगे तो मेरी भी जो रियलिटी है उससे बात होगी और आपकी भी रियलिटी से बात होगी।
अगर इसको मैं ऐसा कहूं कि शब्द जो हैं वह हमें एक-दूसरे की तरफ अभिमुख
कर देते हैं, मौन जो है वह हमें सत्याभिमुख कर देता है। जब हम बातचीत करते होते हैं तो आप मेरी तरफ देखते हैं और मैं आपकी तरफ देखता हूं कि दोनों आपस में उलझे हुए हैं। जब शब्द बीच में खो जाते हैं तो न मैं आपकी तरफ देखता हूं और न आप मेरी तरफ देखते हैं, तब मजबूरी जो है उसको हमें देखना पड़ता है। एक घड़ी आनी चाहिए जिंदगी में जब सब व्यर्थ हो जाए। मगर यह आएगी नहीं जब तक शब्द के साथ श्रम न चले, व्यायाम न चले।

सत्य का स्वभाव है सच्चिदानंद। ऐसा विवेकानंद जी ने भी कहा है। वह सत्य नहीं है जिसमें सत्-चित्-आनंद न हो!

सत्य की कोई परिभाषा नहीं हो सकती। यह हमारी आकांक्षा की परिभाषा है, सत्य की नहीं। हमारी आकांक्षा है कि सत्य ऐसा हो, सच्चिदानंद हो--सत भी हो, चित भी हो, आनंद भी हो--यह हमारी आकांक्षा है। यह आदमी की आकांक्षा है कि सत दुख न हो, नहीं तो मर गए। यहां संसार दुख है और सत्य भी दुख है, मोक्ष भी दुख है तो फिर हम कहां जाएंगे। तो मोक्ष ऐसा हो जहां दुख बिल्कुल न हो, मोक्ष ऐसा हो कि जहां अज्ञान बिल्कुल न हो, ज्ञान ही ज्ञान हो। मोक्ष ऐसा हो जहां अंधेरा बिल्कुल न हो, प्रकाश ही प्रकाश हो।
यह सच्चिदानंद जो है यह सत्य की परिभाषा नहीं है, यह हमारी आकांक्षा
है और हमारी आकांक्षाएं हमें बड़ी प्रीतिकर लगती हैं। इसलिए जिस शास्त्र में यह लिखा है उस शास्त्र को भी हम बड़ा प्रेम करेंगे और अगर विवेकानंद यह कहेंगे तो वह भी बड़े गुरु हो जाएंगे। उसका कुल कारण इतना है कि हमारी आकांक्षाओं को तृप्ति मिल रही है। अगर कोई गुरु आए और कहे कि सत्य बड़ा दुखद है और एकदम अंधकारपूर्ण है और अज्ञान ही अज्ञान है तो आप कहेंगे कि आपकी क्या जरूरत है। आप यहां कैसे? हम तो काफी अज्ञान झेल रहे हैं, काफी दुख झेल रहे हैं और मोक्ष में भी यही होगा, तो फिर तो कोई उपाय नहीं। हमारी आकांक्षाएं हैं ऐसी कि आत्मा अमर है, कभी न मरें, हमें सुख ही सुख हो, दुख न हो।
लेकिन सत्य की यह परिभाषा नहीं है। मेरी तो अपनी समझ यह है कि जहां आनंद होगा वहां दुख के भी बड़े नये आयाम होंगे, होने ही चाहिए। अभी जिस दुख को हम जानते हैं वह बहुत छिछला है क्योंकि जिस सुख को जानते हैं वह भी बड़ा छिछला है। असल में इनकी मात्रा बराबर होती है। जिस दिन आनंद इतना गहरा होगा कि रोआं-रोआं कंप जाएगा, इस भूल में मत पड़ना कि उस दिन दुख भी उतना गहरा नहीं होगा, उस दिन दुख भी उतना गहरा होगा कि रोआं-रोआं कंप जाएगा। हमारी संवेदनशीलता बराबर बढ़ती है। एक आदमी को अगर सौंदर्य का बहुत बोध हो तो उसे कुरूपता का भी उतना ही बोध हो जाता है। यह असंभव है कि एक आदमी को सौंदर्य का ही सिर्फ बोध हो जाए और कुरूपता का बोध न हो। एक साथ ही बढ़ेगा। अगर एक आदमी को स्वच्छ रहने का बड़ा आनंद है तो उसे अस्वच्छ होने की पीड़ा बढ़ जाएगी उसी मात्रा में।
लेकिन हमारी आकांक्षा चाहती है कि ऐसी दुनिया हो जहां अंधेरा न हो, रोशनी ही रोशनी हो। हालांकि भगवान हमारी आकांक्षाएं पूरी नहीं करता, नहीं तो हम बड़ी मुश्किल में पड़ जाएं। अगर रोशनी ही रोशनी हो तो रोशनी बहुत घबड़ाने वाली हो जाए। रोशनी में भी सुबह जो हमें सुख मालूम पड़ता है उस सुख को पाने का अर्जन भी रात के अंधेरे में ही हमने किया है। और सुबह जब किसी के प्रेम में आनंद आता है तो वह किसी की घृणा में झेले गए दुख का भी उसमें हाथ है। यह अकेला नहीं है।
सत्य तो इतना बड़ा होगा कि उसमें दुख भी होगा, आनंद भी होगा, अंधेरा भी होगा और प्रकाश भी होगा और उसमें परमात्मा भी होगा और शैतान भी होगा।

चूंकि सत्य तो पूरे को घेरेगा, उसमें अमरता भी होगी तो उसमें मृत्यु भी होगी, उसमें पूर्ण मृत्यु भी होगी। सत्य तो सब घेर लेगा जो है और हम जो हैं, पूरे को नहीं देखना चाहते हैं क्योंकि हम खुद ही घबड़ाते हैं कि पूरा दिखाई न पड़े, क्योंकि पूरा दिखाई पड़ने का बड़ा एक और ही मतलब होगा।
अभी मैं बात कर रहा था। कोई आया तो मैंने उससे कहा कि आ जाओ। किसी ने पूछा कि आप दोनों बातें एक साथ कर रहे हैं--आओ भी और जाओ भी। तो मैंने उसको कहा कि जिंदगी में तो दोनों साथ ही हैं, जहां आना है, वहां जाना जुड़ा हुआ है। आने का मतलब ही है, जाने की शुरुआत। और जवान होने का मतलब है, बूढ़ा होना। और जन्म लेने का मतलब है, मरने की तैयारी। पूरे सत्य को अगर हम देखने जाएंगे तो उसमें सब है अपनी पूर्णता में। लेकिन हमारी न तो उतनी हिम्मत है कि हम उतनी पूर्णता को देख सकें, हम तो काट कर च्वाइस करेंगे। तो वह जो परिभाषाएं हैं वे सब हमारे चुनाव हैं, हमारी आकांक्षाएं हैं।
अब ऋषि कहते हैं कि हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो। अब इसमें ऋषि भगवान के खिलाफ बड़ी शिकायत कर रहा है। वह यह कह रहा है कि अंधकार क्यों? प्रकाश ही चाहिए। यानी वह कह रहा है कि तुमने बड़ी भूल की जो अंधकार दिया। सिर्फ प्रकाश चाहिए, मुझे तो प्रकाश की ओर ले चलो। सत्य तो अंधकार भी है और प्रकाश भी। वह जीवन भी है और मृत्यु भी, ये दोनों जो हमें विरोधी लगते हैं, जब हमें एक ही चीज के छोर दिखाई पड़ेंगे तभी हम जान जाएंगे कि क्या है! जब हम ऐसे विरोध को एक साथ जान पाएंगे तो हमारे चित्त से सब खंड विदा हो जाएंगे, फिर हमारी कोई आकांक्षा न रह जाएगी क्योंकि आकांक्षा का कोई मतलब नहीं। फिर अंधेरा होगा तो हम जानेंगे कि यह प्रकाश के आने की तैयारी है और प्रकाश होगा तो हम जानेंगे कि यह अंधेरे की तैयारी है और दुख होगा तो हम जानेंगे कि आस-पास कहीं सुख है और सुख होगा तो हम जानेंगे कि तैयार रहो, दुख आता है। वह हमारी तैयारी होगी और हम जानेंगे कि यह जीवन है। लेकिन अभिलाषाएं सुख देती हैं बहुत और धर्म के नाम पर बहुत कुछ तो हमारी मनोवांछनाएं हैं, इच्छाएं हैं जो चलती हैं और दुखी हम हैं, पीड़ित हम हैं! बर्ट्रेंड रसल ने एक बहुत बढ़िया बात कही है। उसने कहा है कि अगर दुनिया सच में सुख हो जाए तो धर्मगुरुओं का क्या होगा? क्योंकि दुखी लोग सुख की तलाश में निकलते हैं। अगर सच में दुनिया सुखी हो जाए तो कौन... कभी आपने भी खयाल किया है कि जब आप किसी क्षण में आनंद में होते हैं तो न तो "क्यों" उठता है कि दुनिया क्यों है, मैं क्यों पैदा हुआ, यह भगवान ने क्यों बनाया है इसको? नरक है कि स्वर्ग है, कि नहीं! कुछ क्यों नहीं उठता? जब आप आनंद में होते हैं तो सब स्वीकार होता है--जो है, वह है! उसके होने में जरा भी कोई, कहीं जरा सा भी प्रश्न नहीं लगता। लेकिन जब आप दुख में होते हैं तब सब प्रश्न उठने शुरू हो जाते हैं। जब प्रश्न उठने शुरू हो जाते हैं तो उत्तर चाहिए। तो जो हमारे मन में अनुकूल होते हैं, उनको हम धर्म बना लेते हैं।
सच्चे उत्तर का धर्म नहीं बन पाता, मनोनुकूल उत्तर का धर्म बन जाता है। और सच्चा उत्तर जरूरी नहीं कि मनोनुकूल हो क्योंकि आवश्यक नहीं है कि आपके मन के अनुकूल सत्य चलता हो। हां, सत्य के अनुकूल आप चाहें तो चल सकते हैं। लेकिन सत्य को कोई बंधन आपके अनुकूल चलने का नहीं है। लेकिन मनोनुकूल उत्तर धर्म बन जाता है। जो उत्तर हमारे मन को भा जाता है और लगता है कि ठीक है, हमारी तृप्ति कर दी! हमारा प्रश्न, हमसे हल होता है।
मैं नहीं कहता कि इन बातों में कुछ रस है और विवेकानंद की बात आपको अच्छी लगती है वह इसलिए नहीं कि सच है, वह इसलिए कि आपके मन के अनुकूल है। अनुकूल नहीं है तो अच्छी नहीं लगती है।

क्या जीवन में केवल सुख ही सुख नहीं चाहा जा सकता?

यह हमने कल्पना कर ली है। लेकिन हमारी कल्पनाओं से कुछ हल नहीं होता
है और हम कितने ही चाहें कि हम सुख-सुख को ही वरण कर लें और दुख को इंकार कर दें, हम यह समझ ही नहीं पा रहे हैं कि सुख को वरण करने में दुख हुआ जा रहा है और ऐसे जैसे एक सिक्का है और मैं उसका एक पहलू फेंक देना चाहता हूं। अब मैं

पागल हो जाऊंगा, क्योंकि मैंने एक ऐसा काम शुरू किया है जो पूरा हो नहीं सकता है। एक हिस्सा फेंक देना चाहता हूं एक सिक्के का और एक हिस्सा बचा लेना चाहता हूं। अब ज्यादा से ज्यादा इतना ही हो सकता है कि जिस हिस्से को मैं बचा लेना चाहता हूं उसे ऊपर कर लूं और जिसे फेंक देना चाहता हूं उसे नीचे कर लूं। बस इससे ज्यादा कोई सफलता नहीं मिल सकती लेकिन कितनी देर ऊपर नीचे करूंगा। जिसको मैंने नीचे किया है उससे थोड़ी देर में मैं ऊब जाऊंगा क्योंकि तब तक उसे देखता रहूंगा और बड़े मजे की बात है कि दुख उतना उबाने वाला नहीं होता है जितना सुख उबाने वाला हो जाता है।
असल में दुखी आदमी कभी बोर नहीं होता। सिर्फ सुखी आदमी बोर होते हैं। बोर्डम जो है वह सुखी आदमी का गुणधर्म है। इसलिए आप हैरान होंगे कि जितना जो दुखी होता है उतनी आत्महत्या कम होती है। लेकिन कम परेशान नजर आते हैं, कम चिंता घेरती है, क्योंकि दुखी आदमी को बोर होने की फुर्सत नहीं है। वह अपने काम में लगा हुआ है। बदलने में लगा हुआ है कि सिक्का उलटा कर ले। लेकिन जब सिक्का उलटा हो जाएगा तब क्या करिएगा। एक दफा दुख को नीचे दबा दिया और सुख को ऊपर कर लिया, फिर क्या करिएगा और अब अगर सिक्के को उलटाया तो नीचे दुख है। तो जैसे ही एक आदमी सुखी हुआ कि उसकी मुसीबत शुरू हो गई। देवताओं को अगर दुनिया में कोई दुख होगा तो बोर्डम का होगा। मोक्ष में भी अगर कोई दुख होगा तो बोर्डम का तो होगा और बोर्डम इतनी हो गई होगी कि मैं नहीं समझता कि मोक्ष में अब कोई एक भी बचा होगा, सब भाग गए होंगे। उनकी बोर्डम की तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते क्योंकि जहां सुख बिल्कुल उपलब्ध हो वहां करिएगा क्या? वह तो दुख से लड़ने में रस है, सुख मिलता नहीं, उसके पाने की आकांक्षा में सारा मजा है और जब मिल जाता है तो थोड़ी देर बाद हम पाते हैं कि अब क्या करें! तब आप हैरान होंगे कि सुखी आदमी अपने हाथ से दुख भी खोजने लगता है। तो वह ऐसी तरकीबें करता है जिनसे अब दुख आए।
एक फकीर हुआ नसरुद्दीन। उसकी कहानी कहता रहता हूं। वह एक गांव के बाहर बैठा हुआ है। सांझ का वक्त है, अंधेरी रात है और एक आदमी आकर घोड़े से उतरा है। उस आदमी ने नसरुद्दीन के सामने एक बहुत बड़ी थैली रख दी और कहा कि इसमें करोड़ों के हीरे-जवाहरात हैं और मैं इसे किसी को भी देने को तैयार हूं, मुझे जरा सा सुख मिल जाए। मैं गांव-गांव खोज रहा हूं, मुझे सुख नहीं मिल रहा है। मैं एकदम परेशान हो गया हूं, मैं मर जाऊं या क्या करूं? सब है मेरे पास, एक सुख नहीं है। तो किसी ने मुझसे कहा, एक फकीर है नसरुद्दीन उसके पास चले जाओ। तुम्हीं हो? मैं तुम्हारे पास आया हूं? फकीर खड़ा हो गया और उसने कहा कि मैं ही हूं। उसने कहा, तू सुख चाहता है? उस आदमी ने कहा, सुख चाहिए, सब खोने को तैयार हूं, एक क्षण के लिए भी सुख मिल जाए।
उस फकीर ने इतनी बात पूछी और वह थैली लेकर फकीर भाग गया। वह आदमी चिल्लाया कि यह क्या कर रहे हो? मैं तो सोचता था तुम ब्रह्मज्ञानी हो, लेकिन जब वह नहीं रुका तो वह आदमी उसके पीछे भागा। गांव फकीर का तो जाना- माना था। वह गली-कूचे चक्कर देने लगा। गांव इकट्ठा हो गया है। वह चिल्ला रहा है कि मुझे लूट लिया, मैं मर गया, मेरी जिंदगी खराब हो गई। मेरी जिंदगी भर की कमाई है उस थैली में और यह आदमी चोर निकला। यह ब्रह्मवादी नहीं है, इसे पकड़ो और मुझे बचाओ, मैं मरा! सारे गांव के चक्कर लगा कर फकीर उस जगह वापस आ गया और उसने थैली पटक दी और झाड़ के पास खड़ा हो गया। वह अमीर आदमी आया, उसने थैली छाती से लगाई और कहाः हे भगवान, धन्यवाद! उस फकीर ने कहाः कुछ सुख मिला? यह भी एक रास्ता है सुख पाने का। अब तुम्हारे लिए यही रास्ता बचा है। तुम्हारे लिए दूसरा रास्ता नहीं है, क्योंकि तुम क्या करोगे!
हम जो चाहते हैं, सुख ही सुख बच जाए, वह संभव नहीं है। अगर बच भी गया तो सुख भी दुख देने लगेगा। तब जिसको मैं कहता हूं, जो जीवन को उसकी सच्चाई में देखता है, आकांक्षाओं में नहीं। दो रास्ते हैं--एक तो मैं आकांक्षाओं से जीवन को देखने जाऊं। जब मैं कहता हूं, सुख ही सुख चाहिए तब मैं जीवन की फिक्र नहीं कर रहा हूं। मैं यह कह रहा हूं, मुझे चाहिए, लेकिन मैं यह नहीं पूछता कि जीवन में मेरी फिकर है कुछ। मैं नहीं था और जीवन था और मैं नहीं रहूंगा, जीवन रहेगा और रत्ती भर कहीं कोई पत्ता नहीं हिलेगा, कोई लहर नहीं

कंपेगी। कहीं कुछ भी नहीं होगा। मेरे होने न होने से जीवन को क्या फिकर है! मैं इधर दो क्षण के लिए हूं तो कहता हूं, ऐसा चाहिए, ऐसा चाहिए। जब मैं यह देखता हूं कि मैं नहीं था और सब था और मैं नहीं रहूंगा, सब होगा तब उचित है कि मैं कहूं कि क्या होना चाहिए।
तो जब मैं देखूंगा कि क्या है तब मुझे पता चलेगा कि दुख और सुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और जब दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं तो किसको बचाना और किसको छोड़ना। जब मैं राजी हूं, सुख आया तो सुख के लिए, दुख आए तो दुख के लिए। और यह जो राजी होना है, यह जो एक्सेप्टेबिलिटी है, यह एक ऐसे आनंद में उतार देती है जिसका हमें कुछ भी पता नहीं है। वह आनंद दुख विरोधी नहीं है, वह आनंद दुख में भी रहेगा, वह आनंद सुख का पर्यायवाची नहीं है क्योंकि सुख चला जाएगा तब भी वह रहेगा। उसको आनंद शब्द कहने से भी थोड़ी भूल हो जाती है इसलिए जो और थोड़ी समझपूर्वक बुद्धि का प्रयोग किया तो बुद्ध ने आनंद का उपयोग नहीं किया, शांति का उपयोग किया क्योंकि आनंद में कहीं न कहीं सुख का खयाल है। हम कितने ही उसको बचाने की कोशिश करें, आनंद में कहीं न कहीं सुख का भाव है। एक शांत मन रह जाता है--सुख हो या दुख हो, और वह तभी रह सकता है जब दोनों एक से स्वीकार हो गए हैं क्योंकि दोनों हैं और स्वीकार करने की चेष्टा हमें नहीं करनी है। मतलब अस्वीकार करने का कोई अर्थ ही नहीं है, यह हमें दिखाई पड़ जाए तो बात खत्म हो गई!
लेकिन हम आकांक्षाएं आरोपित कर रहे हैं, इसलिए हमने इस तरह के धर्म खड़े कर लिए हैं, गुरु भी खड़े कर लिए हैं जो हमारी आकांक्षाओं की तृप्ति के रास्ते बता रहे हैं। वे हमसे कहते हैं कि हम परम आनंद में पहुंचा देंगे, हम पहुंचाने की कोशिश करते हैं। हम कभी पूछते भी नहीं कि होने की आकांक्षा ही दुखी आदमी का लक्षण है और दुखी आदमी कैसे परम आनंदित हो सकता है?--मंत्र पढ़ने से? इतनी सस्ती तरकीब काम कर सकती है कि परम आनंद मिल जाए, कि हम सोचते हैं कि परम आनंद मिल जाएगा उपवास करने से, कि रात खाना न खाने से, सिगरेट न पीने, कि चाय न पीने से परम आनंद मिल जाएगा। अगर इतना ही फासला है तो दुखी और परम आनंदित आदमी में कोई फर्क नहीं है। सिगरेट, पान आदि का फर्क है, ऐसा कमजोरी का फर्क है कि कोई हिम्मत का आदमी जाना नहीं चाहेगा। वह सस्ता सा फर्क मोक्ष में और पृथ्वी पर अगर है कि मोक्ष में लोग सिगरेट नहीं पीते, चाय नहीं पीते और सिनेमा नहीं देखते--इतना ही अगर फर्क है तो कौन मोक्ष जाना चाहेगा? इसका कोई मतलब नहीं रह गया। फर्क कुछ ज्यादा रेडिकल होना चाहिए। यह कोई फर्क ही नहीं होगा।
फर्क का मतलब है कि हम जहां हैं उसमें हमारी दो तरह की जिंदगी हो सकती है। आकांक्षाओं को आरोपित करने वाली और यथार्थ को स्वीकार करने वाली। बस दो तरह की जिंदगी होती है। आकांक्षाओं को आरोपित करने वाला आदमी है और यथार्थ को स्वीकार करने वाला है। आकांक्षाओं को आरोपित करने वाला, चाहे कुछ भी करे, दुख में रहेगा। ऐसा नहीं कि जो आकांक्षाओं को आरोपित नहीं करता उसको दुख नहीं आएगा। यह मैं नहीं कह रहा हूं। दुख तो आएंगे लेकिन वह दुख में नहीं रहेगा।
आकांक्षा है ही! हम क्या कर रहे हैं? हम उनको भी नहीं देख रहे हैं। उनके अनुकूल जगत को देखने की कोशिश में लगे हैं। आकांक्षाएं तो रियलिटी का हिस्सा हैं। यह तो यथार्थ है कि मुझमें है और मुझमें है और मुझमें इच्छा है कि मैं अमर रहूं, यह मुझे जानना चाहिए लेकिन बजाय इसके जानने के मैं वह शास्त्र पकड़ लूंगा जिसमें लिखा है कि हां--अमर रहना है, पक्का है, और जो हमारे पक्ष में हैं वे अमर रह जाएंगे, जो हमारे पक्ष में नहीं हैं वे मर जाएंगे!
मैं यह कह रहा हूं कि आदमी दुखी है, इसलिए सुख खोजना चाहता है और चूंकि सुख खोजता ही रहेगा और कभी यह न देखेगा कि सुख और दुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं इसलिए कितना ही सुख खोजें दुखी रहेंगे और सुख खोजते रहेंगे। जो कह रहा हूं वह यह कह रहा हूं कि मूलतः उसको दिखाई नहीं पड़ रहा है कि सुख की खोज नहीं है। एक बुनियादी भूल हो रही है। वह भूल यह हो रही है कि वह दुख को अस्वीकार करके सुख को खोज रहा है, जब कि सुख दुख का ही हिस्सा है--यानी मैं जन्म खोज रहा हूं और मरना नहीं चाहता, जवानी खोज रहा हूं और बूढ़ा नहीं होना

चाहता, तो बड़ी मुश्किल बात है। जवान होना चाह रहा हूं तो बूढ़ा होना उसका हिस्सा ही होगा, वह उतरती हुई जवानी का नाम है। पूर आ गया तो उतरेगा ही, सुबह हो गई तो सांझ होगी। अब सुबह तो मैं खोज रहा हूं और सांझ से बचना चाहता हूं और जब मैंने सुबह खोजी तभी मैंने सांझ का इंतजाम कर दिया, अब सांझ होगी। अब अगर मैं सिर्फ सुबह को ही खोजूं तो फिर शाम को दुख होगा और रातभर फिर सुबह की खोज करूंगा, फिर सुबह आएगी और फिर सांझ की तैयारी शुरू होगी, मैं फिर दुखी होऊंगा।
और मजा यह है कि न तो आपकी खोज से सुबह आ रही है, न सांझ हो रही है। सुबह अपने आप आ रही है, सांझ अपने से आ रही है। आपकी जो परेशानी है वह यह है कि एक पर आप आरोप लगा रहे हैं कि बस यही रह जाए और एक को आप कह रहे हैं कि यह न हो और उनको दोनों से, आपसे कोई मतलब नहीं है कि आप हो या नहीं हो, वह होते रहेंगे!
जिंदगी में सुख और दुख घूम रहे हैं, सब घूम रहा है। आप उसमें जब चुनाव करने लगते हैं कि हम यह चुन कर रहेंगे तब आपने दुख शुरू कर दिया, वह दुख का रास्ता हो गया। जब दुखी हो गए तब और जोर से सुख खोजेंगे और जितने जोर से सुख खोजेंगे उतने जोर से दुखी होंगे। तब एक विसियस सर्किल है जिससे बचाव मुश्किल हो जाएगा, इसको देखना पड़ेगा और हमारी क्या तकलीफ है कि अगर हम पूछते भी हैं कि हम दुखी क्यों हैं तो हम कुछ कारण खोज लेना चाहते हैं दुख के। हमने कोई बुरा काम किया होगा इसलिए दुखी हैं, कि हमने कुछ पाप किया होगा इसलिए दुखी हैं। दूसरा आदमी सुखी है, उसने कोई पुण्य किया होगा। सुखी और दुखी होना, न तो पुण्य और पाप से संबंधित है, सुखी और दुखी होना हमारी आकांक्षाओं के आरोपण से संबंधित है, कितने जोर से आरोपित करने की आकांक्षा में रहे! लेकिन किसी दिन डिसइलुजनमेंट आता है। पता चलता है कि कुछ आरोपण से नहीं होता है--सुबह आती है और आती है, सांझ आती है और आती है। तब भी सुबह आएगी, कुछ ऐसा नहीं है कि नहीं आएगी, तब भी सांझ आएगी लेकिन दंश चला जाएगा, पीड़ा चली जाएगी और तब जितनी सुबह ठीक से जी ली है, कोई कारण नहीं कि सांझ ठीक से क्यों न जी लें! मामला यह है कि ठीक से जिसने सुबह को पूरी तरह जी लिया है, वह तो खुद ही दोपहर होते-होते कहेंगे कि अब सांझ हो जाए। जो आदमी ठीक से जवान रह लिया है, उसके भीतर बुढ़ापे की आकांक्षा आ जाएगी। जो आदमी ठीक से जवान रह लिया है, उसके भीतर बुढ़ापे की आकांक्षा आ जाएगी। जो आदमी ठीक से जी लिया है वह मरना भी चाहता है।
नीत्शे ने बहुत अच्छी बात कही है। उसने कहा है कि जब फल पक जाता है तो गिरना चाहता है। एक दफे पक भर जाए और जब फल पक जाता है तो गिरना ही चाहता है। सिर्फ कच्चे फल घबड़ाते हैं कि कहीं गिर न जाएं और चूंकि हम जिंदगी भर कच्चे रह जाते हैं इसलिए मरने से डरते हैं। अब इस तरह चक्कर पर चक्कर पैदा होते चले जाते हैं। मरने से डरते हैं तो उस सिद्धांत को पकड़ते हैं जो कह दे कि मरोगे नहीं। मैं नहीं कह रहा हूं कि मर जाएंगे आप। मैं यह कह रहा हूं कि हम अपनी आकांक्षाएं आरोपित न करके, जो है उसे जानने की फिक्र कर लें तो बात पूरी हो जाएगी, नहीं तो नहीं पूरी होगी।

व्यक्ति के तल पर तो यह ठीक है कि हम स्वीकार कर लें, लेकिन समाज के तल
पर कैसे स्वीकार लें?

गरीबी है, बीमारी है, दुख है, शोषण है, उस सबमें भी स्वीकार कर लें। यह बहुत बढ़िया बात है, और मैं इधर जितना सोचता हूं, बहुत अजीब अनुभव करता हूं। पहली बात तो यह है कि यह कंट्राडिक्ट्री दिखाई पड़ेगा, लेकिन ऐसा है! जो व्यक्ति स्वयं के तल पर सुख-दुख को स्वीकार नहीं करता वह समाज के तल पर सब बीमारियों को स्वीकार करने वाला होता है। जैसे हमारा मुल्क है। हमने व्यक्ति के तल पर सुख-दुख कभी स्वीकार नहीं किया है। हम मोक्ष की खोज निरंतर कर रहे हैं, जहां सुख-दुख से छुटकारा हो जाए। लेकिन समाज के तल पर हमने सब स्वीकार कर लिया है। अगर यह बात दिखाई पड़े तो इससे उलटा भी सत्य है कि जो व्यक्ति स्वयं के तल पर सब स्वीकार कर लेगा वह समाज के तल पर तो कुछ स्वीकार नहीं करेगा। जो स्वयं के तल पर सब स्वीकार कर लेगा वही

क्रांतिकारी हो सकता है, क्योंकि क्रांतिकारी होने में भी दुख झेलने की संभावना है निरंतर, क्योंकि क्रांति का सुख तो किसी और को मिलेगा। क्रांति का सुख क्रांतिकारी को तो मिलता नहीं। तो क्रांति सिर्फ वही कर सकता है जो दुख को स्वीकार कर सकता है।
जब एक व्यक्ति सब तरह के सुख-दुख में जैसा है वैसा स्वीकार कर लेता है
तो चेष्टा नहीं करनी पड़ती है उसे कि वह समाज के तल पर अस्वीकार करे। न, उस व्यक्ति का सहज वर्तन यह हो जाता है कि समाज के तल पर यह स्वीकार नहीं कर सकता है। यानी मैं यह नहीं कह रहा हूं कि वह स्वीकार नहीं करेगा या नहीं करना चाहिए। न, ऐसा वर्तन हो जाता है।
जो व्यक्ति स्वयं के तल पर टोटल एक्सेप्टेबिलिटी में जीता है वह समाज
के तल पर टोटल रिजेक्शन में जीता है। और जो व्यक्ति समाज के तल पर स्वीकार में जीता है वह अपने तल पर रिजेक्शन में जीता है, और अपने तल पर कहता है, मैं यह दुख में हूं, यह नहीं सुनूंगा, यह नहीं करूंगा, वह समाज के तल पर सब स्वीकार कर लेता है। उसका कारण है कि जो व्यक्ति, व्यक्ति के लिए सब कुछ करने की चिंता में रत है उसके लिए समाज का बोध ही पैदा नहीं होता है--यानी समाज की जो धारणा है, कांशसनेस जो है वह उसको पैदा होती है जो व्यक्ति के तल पर निपट गया--यानी अब इधर कुछ करने का मामला बचा नहीं, इधर बात खत्म हो गई, इधर मैंने मान लिया है कि जो है, है! तब मैं क्या करूंगा, आखिर मैं कुछ तो करूंगा। व्यक्ति के तल पर तो करने से मुक्त हो गए। तो वह जो सृजन की, निर्माण की, विध्वंस की ऊर्जा जो भी है मेरे पास वह जाएगी कहां! वह कहीं सक्रिय हो जाएगी।
व्यक्ति के केंद्र पर जहां ऊर्जा का काम समाप्त हो गया है वहां वह समाज के चारों तरफ फैल कर काम में लग जाती है। ऐसा नहीं है कि वह लगता है, वह मैं नहीं कह रहा हूं। हां, इट हैपंस! और अगर सारी ऊर्जा इसी में लगी हुई हो कि मेरा अगला जन्म कैसे शुद्ध रहे और मैं स्वर्ग कैसे जाऊं, मैं पुण्य कैसे करूं और मैं पाप से कैसे बचूं और यह खाऊं कि न खाऊं, यह पीऊं कि न पीऊं। अगर सारी चेतना यहां उलझी है तो समाज की तो धारणा ही पैदा नहीं होगी। तो हमें पता भी नहीं चलता है कि हमारे अलावा भी कोई है।
जो कौम, जो व्यक्ति, जो समाज ऐसा व्यक्तिवादी होगा, वह तो यहां तक कहेगा कि न तो तुम्हारी कोई पत्नी है, न तुम्हारी कोई मां है, न तुम्हारा कोई पिता है, न कोई भाई है, न कोई बेटा है, यह सब भ्रम है। हो तो तुम्हीं सब सत्य, बाकी सब भ्रम है, सब माया है। इससे तुम बचो, इसके तुम चक्कर में मत पड़ जाना। न कोई मौत में साथ देंगे, न कोई पुण्य में साथ देंगे, न पाप में साथ देंगे। तुम अकेले हो निपट, अपनी फिक्र करो। इसकी भी फिक्र मत करना कि औरत अगर भूखी मर रही हो तो मर रही है, वह अपने पिछले जन्म का पाप का फल भोग रही है। तुम्हारा क्या लेना-देना है। तुम्हारा बच्चा अगर सड़क पर भीख मांग रहा हो तो मांग रहा होगा क्योंकि उसको मांगनी पड़ेगी, उसके अपने कर्म फल हैं, तुम अपनी फिक्र करो।
यह जो व्यक्तिवादी दृष्टि थी, अगर कोई सब स्वीकार कर ले तो व्यक्ति रह
ही नहीं जाता। अगर गौर करें, वह जो ईगो है व्यक्ति की, वह पैदा होती है रेजिस्टेंस से। वह जितना "मैं" लड़ता है, यह नहीं चाहिए और यह चाहिए--इसी के संघर्ष में मेरा "मैं" पैदा होता है कि "मैं हूं।" च्वाइस "मैं" पैदा करती है, च्वाइसलेस ईगो नहीं हो सकती है। फिर वह बचने का उपाय नहीं रह जाती है। "मैं हूं", इसका क्या मतलब है? सुबह सूरज निकलता है, सांझढलता है--मैं कहां हूं? यानी मैं कहता हूं, सुबह ही होनी चाहिए और सांझ नहीं! आठ-दस घंटे तो सूरज को ढलने में लगेंगे। आठ-दस घंटे मैं अपने मैं को मजबूत करूंगा कि अभी तक नहीं ढलने दिया, अभी तक सूरज को रोके हुए हूं, अभी तक सुबह है। जब ढल जाएगा तब मैं सोचूंगा जरूर कि पिछले जन्मों का कर्मों का फल बाधा डाल रहा है--और सूरज अपने आप ढल रहा है और अपने आप उग रहा है। उससे कुछ लेना-देना नहीं है। इधर मेरी ईगो मजबूत होती चली जाएगी, लेकिन जब मैंने मान लिया कि ऐसा हो रहा है, तब अचानक मेरी सारी ऊर्जा और सारी शक्ति चारों तरफ फैल कर काम करने में लग जाती है।

यानी मेरी दृष्टि में क्रांतिकारी पैदा होता है सर्व स्वीकार से। उल्टा लगता है क्योंकि क्रांतिकारी निषेध करता है। और जिंदगी के दो हिस्से जिसको हम विधायक और निषेध, निगेटिव और पाजिटिव कहें--अगर मैं अपने तईं पाजिटिव हूं तो समाज की तरफ निगेटिव रहूंगा क्योंकि वह दूसरा हिस्सा है--क्योंकि अगर मैं अपनी तरफ निगेटिव हो गया तो समाज की तरफ पाजिटिव हो जाऊंगा। वह मेरा दूसरा हिस्सा है, मैं कहीं एक हिस्सा रहूंगा। अगर समाज को अच्छा करना हो तो व्यक्ति के तल पर स्वीकृति होनी चाहिए और समाज को अगर सड़ाना हो तो व्यक्ति के तल पर अस्वीकृति होनी चाहिए। इसलिए मेरी बात में निरंतर विरोध रहता है।
मुझे कई लोग आकर कहते हैं कि आप सुबह के ध्यान में सिखाते हैं, सब स्वीकार कर लो और सांझ की सभा में कहते हैं कि सब अस्वीकार कर लो--अब मैं क्या करूं? सुबह सूरज उगता है, सांझढलता है, इसमें मैं क्या कर सकता हूं! अब सूरज से हम नहीं कहते कभी जाकर कि सुबह उगते हो, सांझ ही ढलते हो--विरोध है दोनों में। सुबह उगते हो तो सांझढलते क्यों हो? नहीं, सुबह मैं यही कहता हूं कि स्वीकार कर लो, सांझ यही कहता हूं कि अस्वीकार कर लो। वह दोनों ही जिंदगी के हिस्से हैं। एक और सवाल किसी ने पूछा है, इसको आखिरी मान लें।

पूछा हैः मानव आज रुग्ण है और मैं यह मानता हूं कि जब मनुष्य पैदा हुआ
था करोड़ों वर्ष पहले तब आदमी अवश्य ही स्वस्थ रहा होगा। तब फिर मनुष्य का वह कौन सा अचेतन मन है जिसने बीमारी के जंतुओं को आने दिया और वह जंतु और वह बीज कौन से हैं जिसने मनुष्य को अमानवीयता की शुरुआत होने दी?

ऐसी सब कल्पनाएं हैं। असल में कई करोड़ों वर्ष पहले आदमी सुखी था, ऐसे खयाल में पड़ने की कोई जरूरत नहीं है। और कोई आदमी को दुखी होना अनिवार्य है ऐसी भी कोई बात नहीं है। कुछ लोग समझ लेते हैं, वे सदा सुखी हैं इस अर्थ में कि वे दुख को भी स्वीकार कर लेते हैं। जो नहीं समझते हैं, वे सदा दुखी हैं, इस अर्थ में कि वे दुख के अस्वीकार में ही दुखी होते चले जाते हैं। और ऐसा नहीं है कभी कि सारी मनुष्यता सुखी थी और सारी मनुष्यता कभी दुखी हो गई है। और ऐसा भी नहीं है कि कभी स्वीकार था और अब सब अस्वीकार हो गया है। ऐसा कभी नहीं था। हर युग की अपनी बीमारियां होती हैं, अपने दुख होते हैं-- बदल जाते हैं।
नये युग नई बीमारियां पैदा कर लेते हैं, नये दुख पैदा कर लेते हैं लेकिन सदा दुख है, सदा बीमारी है, सदा परेशानी है और सदा रहेगी। हम लड़ते रहेंगे और एक तरफ से बचाएंगे और दूसरी तरफ से पैदा हो जाएगा। अभी लुइचसा व वैज्ञानिकों ने इतनी मेहनत की, अब अगर लुइचसा लौट आए तो शायद घबड़ा जाएगा, क्योंकि उसने आदमी को बचाने की कोशिश की कि बच्चे मर न जाएं। अब बच्चे ज्यादा हो गए हैं, अब उन्हें पैदा न होने दें और पैदा हो जाएं तो उनको मारने का उपाय करें। तो भ्रूण हत्या के लिए और गर्भपात के लिए विचार करना पड़ता है। और कोई आश्चर्य नहीं है कि अगर संख्या बढ़ती चली जाए तो जिस तरह हम जन्म निरोध की बात कर रहे हैं उस तरह हम एक उम्र के बाद बूढ़े आदमी को मारने के लिए मजबूर करेंगे, यह दूसरा हिस्सा है उसका--यह होगा!
अगर यह रुकता है मामला, अगर हम बच्चों को नहीं रोक पाते हैं, नहीं रोक
पा रहे हैं तो दूसरा उपाय एक ही है कि जैसे हम अट्ठावन में, पचपन की आयु में रिटायर करते हैं, हम सत्तर साल में कहेंगे कि जीवन से सब रिटायर हो जाएं, क्योंकि बच्चे आए चले जा रहे हैं और अब कोई बचाव का उपाय नहीं है। अब वैज्ञानिक, जिसने कि बीमारियां बचाईं और दस बच्चों में से आठ बच्चे मर जाते थे उनको बचा लिया, अब बड़ी झंझट की बात हो गई। अब कौन कहे कि वह ठीक हुआ!--क्योंकि अब हमको आठ मारने पड़ेंगे या रोकने पड़ेंगे या कुछ करना पड़ेगा।
इधर से हम इंतजाम करते हैं, उधर से कुछ बिखर जाता है, यानी मेरा मानना
यह है कि पूर्ण इंतजाम कभी नहीं हो सकता। क्योंकि पूर्ण इंतजाम का कोई मतलब नहीं हो सकता। हम हमेशा ही एक तरफ इंतजाम करते हैं, दूसरी तरफ ठीक उसके विपरीत चीज खड़ी हो जाती है। क्योंकि जीवन जो है वह सदा विपरीत को

पैदा कर लेता है इसलिए संतुलन में, अगर तौल हम कभी खोज सकें तो बराबर इतना ही रहेगी जितनी कभी थी। उसमें कोई फर्क नहीं पड़ेगा। यानी यह हो सकता है कि एक आदमी के पास आज फियेट कार है और आज से हजार साल पहले उसके बाप के पास बैलगाड़ी थी। बगल वाले के पास एक रथ था, अभी बगल वाले के पास एक इम्पाला है। दोनों का फासला उतना ही है जितना बैलगाड़ी और रथ का था, जितना फियेट और इम्पाला का है। वह जो अनुपात है वह उतना का उतना ही खड़ा है। रथ वाले को देख कर जितना बैलगाड़ी वाला दुखी होता था उतना इम्पाला वाले को देख कर फियेट वाला दुखी होता है। इम्पाला आ गई, बैलगाड़ी हट गई है, रथ हट गया है, लेकिन वह जो मामला है वह अपनी जगह खड़ा है।
अनुपात वही है और अनुपात में बड़ी भूल हो जाती है। आपके पास दस रुपये हैं और मेरे पास सौ रुपये हैं तो आप गरीब हैं और मैं अमीर हूं। कल आपके पास सौ हो जाते हैं, मेरे पास हजार हो जाता है, फासला उतना ही होता चला जाता है, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता।
मेरी अपनी समझ यह है कि जिंदगी जैसी सदा थी वैसी ही है, उसके रूप बदलते हैं, आकार बदलते हैं। सब मामला वैसे ही है। उस सारे मामले में इतना फर्क पड़ सकता है कि कोई व्यक्ति इसको स्वीकार करे या अस्वीकार करे--और उस दिन भी वही था और आज भी वही है। उस दिन जो बैलगाड़ी वाला था, अगर उसने स्वीकार कर लिया होता कि अच्छा है कि तुम्हारे पास रथ है, हमारे पास बैलगाड़ी और चल पड़ा होता अपनी बैलगाड़ी में तो जितना सुखी हो जाता, उतना ही आज फियेट वाला इम्पाला वाले को देख कर... कि अच्छा, तुम्हारे पास इम्पाला है, हमारे पास फियेट है, चल पड़ता है, उतना ही वही रस उपलब्ध हो जाएगा जो उसको हुआ था, वह उसको उपलब्ध हो जाएगा।
जिंदगी वैसी ही है, सदा वैसी ही है... रुख क्या हम लेते हैं, इस पर निर्भर करता है और दो तरह के रुख हैं जैसा मैंने कहा--एक तो है कि हम निरंतर आकांक्षाओं को आरोपित करते चले जाएं और एक है कि जो है उसे हम जान लें, उसे हम पहचान लें, हम देख लें। और जैसे ही हम उसको देखते हैं, अनिवार्यरूपेण उसकी स्वीकृति हो जाती है क्योंकि सवाल ही नहीं इसको अस्वीकार करने का। ऐसे स्वीकृति-उपलब्ध व्यक्ति को ही मैं धार्मिक कहता हूं और जब इतनी स्वीकृति होती है तो शांति अपने आप भर जाती है और उस शांति में हम बहुत कुछ देख पाते हैं जो हमने अशांति में कभी भी नहीं देखा था।
और पहली बात आपको दोहरा दूं अंत में कि उस शांति में जो हमें दिखाई पड़ता है वह कम्युनिकेबल नहीं है, उसको कहा नहीं जा सकता। उस शांति में हम कुछ जानते हैं जो कि शब्द में नहीं बंधता है। तो तड़प सकते हैं, परेशान हो सकते हैं, चिल्ला सकते हैं मगर उससे कुछ होता नहीं। हां, इतना ही हो सकता है, शायद हमारी तड़प को, पीड़ा को, समझाने की कोशिश को कोई पकड़ कर सोचे... जरूर इस आदमी ने कुछ देखा है! जैसे एक गूंगा आदमी आ जाए और हमारे में चिल्लाने लगे, जोर से हाथ-पैर पटकने लगे और बताने लगे तो हमें कुछ समझ में तो न आए लेकिन इतना समझ में आ जाए कि इस आदमी को कुछ हुआ है। और अगर हाथ पकड़ कर बताने लगे, बाहर या कहीं ले जाने लगे तो वह नहीं कर पाए, लेकिन इतना कम्युनिकेट कर दे कि कम्युनिकेट नहीं कर पा रहा हूं और कुछ है... बस इतना अगर हो जाए तो शायद हम चले जाएं, इतनी ही मेरी चेष्टा है! उससे ज्यादा मेरा भरोसा नहीं है। यानी मैं शब्द का विश्वासी नहीं हूं, संवाद का विश्वासी हूं, बुद्धि का विश्वासी नहीं हूं।
लेकिन मेरे साथ दिक्कत इसलिए होती है कि मैं दिन-रात तो समझाता हूं कि विचार करो, बिना विचार के मत मानो, विश्वास मत करो और फिर मैं कहता हूं कि मैं बुद्धिवादी नहीं हूं और मैं यह सब इसलिए कहता हूं कि इसको थका डालो बुद्धि को, खूब सोच लो, खूब तर्क कर लो, आर्ग्यु कर लो और यह थक जाए! एक दफे यह थक जाए और गिर जाए, तुम इसके बाहर हो जाओ, सांप की केंचुल की तरह पड़ी रह जाए और सांप बाहर निकल जाए। और यह निकलेगी नहीं, अगर विश्वास कर लिया क्योंकि वह फटेगी नहीं। यह निकलेगी नहीं अगर किसी को आस्था कर लें तो। क्योंकि यह थकेगी नहीं, यह निकलेगी नहीं, अगर आस्था कर लिया तो... क्योंकि इसका थकना जरूरी है इसके निकल जाने के लिए।

एक तो वह विश्वास है जो हम बुद्धि का बिना उपयोग किए ही पकड़ लेते हैं।
वह बिलो इंटलेक्ट है और एक वह श्रद्धा है जो बुद्धि के थकान पर उपलब्ध होती है, बियांड इंटलेक्ट है और दोनों बिल्कुल अलग बातें हैं, मगर दोनों एक सी मालूम पड़ सकती हैं।
इसलिए कभी-कभी महाज्ञानी महामूढ़ मालूम पड़ सकता है, इसमें कोई ऐसी कठिनाई नहीं। क्योंकि वह दोनों छोर हैं, एक बुद्धि के नीचे है, एक बुद्धि के पार है।

क्या विचारों के पार अस्तित्व के जगत में, शून्य में होने की कोई व्यावहारिक प्रक्रिया है?

इसमें कोई संदेह नहीं कि विचारों का क्रम सदा चलता रहता है लेकिन विचार अपने में तब तक शक्तिहीन हैं, जब तक कि मेरा उन्हें सहयोग न मिले, जब तक कि मैं उनको शक्ति न दूं। इसलिए अभ्यास केवल इतना ही करना है कि विचार को मैं अपनी तरफ से शक्ति न दूं, वे आएं तो आने दें; जाएं तो जाने दें। आप विचार के साथ किसी तरह का तादात्म्य, किसी तरह की मैत्री कायम न करें। इतना ही होश रखें कि मैं केवल देखने वाला भर हूं। ये आएं और जाएं। आप धीरे- धीरे पाएंगे कि जो विचार आएगा, उसे आपने कोई भी सहयोग नहीं दिया, वह बिल्कुल निष्प्राण होकर मर जाएगा। और इस तरह सतत प्रयोग करने पर अचानक आप पाएंगे कि उसका आना भी बंद हो गया है।
इसी साक्षी के माध्यम से हमारे भीतर जो विचार संगृहीत हैं, उनकी भी निर्जरा हो जाएगी। वे आएंगे, उठेंगे, पूरे रूप से खड़े होंगे लेकिन हम अगर चुप रहें और कोई सहयोग न दें तो सिवाय इसके कि वे विसर्जित हो जाएं, उनका और कोई रास्ता नहीं है। कितनी ही चिंता पकड़ती हुई मालूम हो, चुपचाप देखते रहें। यह भाव मत करिए कि मैं चिंतित हो रहा हूं। क्योंकि तब सहयोग शुरू हो जाएगा। केवल इतना ही भाव करिए कि मैं देख रहा हूं कि चिंता है। मैं चिंतित हूं, यह तो खयाल ही मत करिए। यह विचार तो... फिर सहयोग हो गया। असहयोग का अर्थ है कि मैं एक भेद मान कर चल रहा हूं चिंता में और अपने में, विचार में और अपने में जो हो रहा है उसमें, और मैं जो देख रहा हूं उसमें, एक भेद मान रहा हूं। इसी भेद को साधते चले जाना है कि जो भी मेरे भीतर हो रहा है उससे मैं भिन्न हूं।
जो भी मुझसे बाहर हो रहा है उससे मैं भिन्न हूं। इस बोध को साधते चले जाना है। एक सीमा आएगी कि जो-जो, जिस-जिस से मैं भिन्न हूं वह विलीन हो जाएगा और अंततः केवल वही शेष रह जाएगा जिससे मैं अभिन्न हूं। भिन्न के विलीन हो जाने से जो अभिन्न है वह शेष रह जाएगा। उसी शेष सत्ता का जो अनुभव है वही स्व-अनुभव है। तो उससे किसी तरह का तादात्म्य न करें, किसी तरह का संबंध न जोड़ें।
वस्तुतः दो ही स्थितियां हैं--पहली तो यह है कि हम देख रहे हैं और कुछ दीख रहा है और दूसरी है कि हम देख रहे हैं और कुछ नहीं दीख रहा है। अभी हम जब भी देखेंगे भीतर तो कुछ दिखाई पड़ेगा। कुछ दिखाई पड़ेगा--वही विचार है। किंतु एक सीमा आएगी देखते-देखते कि हम देखते रहेंगे और कुछ दिखाई नहीं पड़ेगा। जब कुछ दिखाई नहीं पड़ेगा तब जो अनुभूति होगी, वह विचार की न होकर चैतन्य की होगी क्योंकि अब तो वहां कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा। जब कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा--तो देखने की जो क्षमता है, वह जो ज्ञान की शक्ति है, वह जो अभी तक किसी-किसी को देखती रही थी, अब चूंकि वहां कोई भी नहीं है कि जिसको देखें, इसलिए सिवाय अपने को देखने के इसके पास और कोई मार्ग नहीं रह जाएगा।
हमारे पास जो ज्ञान है उस ज्ञान से उसके ऑब्जेक्ट छीन लेने हैं, ताकि उसके पास देखने को कुछ न रह जाए। जब उसके पास देखने को कुछ न रह जाएगा तब भी देखने की क्षमता तो रहेगी। और जब कुछ देखने को नहीं रहेगा तो वह देखने की क्षमता किसे देखेगी? उस अंतिम क्षण में, जब चैतन्य देखने को कुछ नहीं पाता है तो अपने को देखता है। इसी अपने को देखने को आत्मज्ञान कहते हैं।

अतः एक ही साधना है कि हम किसी तरह से अपनी चेतना के जो लक्ष्य, जो कंटेंट हैं, कांशसनेस से उनको छीनते चले जाएं, उनको विरल करते चले जाएं, उन्हें विलीन करते चले जाएं। एक सीमा आएगी कि कंटेंट कुछ है, तब कांशसनेस दूसरे की है। मगर जब कंटेंट कुछ नहीं होगा, तब कांशसनेस--सेल्फ-कांशसनेस हो जाएगी। जब तक हम किसी को देख रहे हैं तब तक अपने को नहीं देख रहे हैं। जब हमें कुछ भी देखने को शेष नहीं रह जाएगा तब किसको हम देखेंगे, वह हम स्वयं हैं। इतनी साधना है कि हम चेतना के सामने से उसके सारे विषय, जिन-जिन पर चेतना रुकती और ठहर जाती है--और जिनकी वजह से अपने पर नहीं लौट पाती है, इनको धीरे-धीरे क्षीण कर दें।
क्षीण करने का रास्ता है कि हम असहयोग करें। अभी हम उनके बनाने वाले हैं, यानी हम ही उनको बनाए हुए हैं। जब खाली बैठते हैं तो कुछ न कुछ विचार चल रहे हैं। क्योंकि हमारे बिना सहयोग के वे चल नहीं सकते हैं। जो-जो विचार चल रहे हैं, उनसे सहयोग को खींच लें और कुछ न करें, बस इसी को सामायिक, इसी को ध्यान समझें। अगर सारे विचार विलीन हो जाएं तो आप में कोई ईगो, और कोई व्यक्ति नहीं मालूम होगा। आपको मालूम होगा केवल होना। केवल बीइंग मालूम होगा, जिसमें यह भेद मालूम नहीं होगा कि मैं व्यक्ति हूं या समष्टि हूं। केवल होना मात्र रह जाएगा। प्योर एक्झिस्टेंस मात्र होगा। वास्तव में उस प्योर एक्झिस्टेंस में जो विचार हमारे इकट्ठे हैं उन विचारों के कारण हम एक व्यक्ति मालूम होते हैं।
यह जो हमें लगता है कि मैं "अ" हूं, आप "ब" हैं, आप "स" हैं। यह जो "अ" "ब"
"स" हमने चिपकाया हुआ है, यह हमारी विचार-शक्ति है। प्रायः हम कहते हैं कि "मैं मुक्त हो जाऊंगा"--यह बात बहुत ठीक नहीं है। "मैं मुक्त हो जाऊंगा", इससे तो यह धारणा है कि मुक्त होकर भी "मैं" रहूंगा, यानी "मैं" की तरह--यह बात नहीं है। मैं, की मुक्ति "मैं" से भी मुक्ति है। जो शेष रह जाएगा उसमें इस "मैं" जैसी चीज को खोज पाना संभव नहीं है। क्योंकि यह "मैं" जो था, यह जो अहंकार था, यह जो बोध था व्यक्ति होने का, वह उन्हीं विचारों के इकट्ठे गूंज होने की वजह से था। उन्हीं विचारों का इकट्ठा रूप का नाम मैं था। जब विचार खिसक जाएंगे तो मैं भी खिसक जाएगा।
एक बौद्ध भिक्षु हुआ है, नागसेन। वह बड़ा अदभुत भिक्षु हुआ और बड़ी मीठी कथा है। नीनांगन नाम के यूनानी सेनापति ने, जिसको सिकंदर भारत छोड़ गया था, नागसेन को आमंत्रण दिया राज-दरबार में, चर्चा करने को। वह बड़ा उत्सुक था धार्मिक चर्चा में। स्वागत के लिए लोग पहुंचे गांव के बाहर और नागसेन भिक्षु को रथ पर लेकर आए। पांच सौ भिक्षु और साथ थे। महल के बाहर आकर नीनांगन ने नमस्कार किया नागसेन को। नागसेन रथ से उतरा। नीनांगन ने कहाः नागसेन भिक्षु का हम स्वागत करते हैं। उस नागसेन ने कहाः हम स्वागत को स्वीकार करते हैं, यद्यपि भिक्षु नागसेन जैसा कोई है नहीं। नीनांगन बोलाः यह क्या कहते हैं? फिर स्वीकार कौन करता है? नागसेन ने कहाः कामचलाऊ है, ताकि आपको बुरा न लगे, लेकिन सच ही भिक्षु नागसेन जैसा कोई नहीं है। नीनांगन ने कहाः फिर यह कौन आया? आप आए, आप मेरे सामने खड़े हैं, आप कौन हैं? तो उसने एक बहुत अदभुत बात कही। उसने कहाः यह जो रथ है, यह रथ है न? नीनांगन ने कहाः निश्चित ही रथ है। तो उसने कहाः इसके पहियों को निकाल कर अगर तुमसे पूछें कि यह रथ है? तो तुम क्या कहोगे! तुम कहोगे, यह रथ नहीं है, ये पहिए हैं। हम एक-एक हिस्सा इसका निकाल कर तुम से पूछें कि यह क्या है, तो तुम क्या कहोगे? तुम कहोगे कि ये पहिए हैं, यह आगे का डंडा है, यह पीछे का डंडा है, फलां है, ढिकां है। सारे रथ के अंग हम निकाल लेंगे, तो किसी को भी रथ नहीं कहते, तो फिर रथ कहां है?--रथ केवल जोड़ है! अगर सारे अंग खींच लिए जाएं तो जोड़ नहीं बच रहेगा। रथ केवल जोड़ है--नागसेन ने कहा कि जैसे रथ जोड़ है वैसे ही नागसेन नाम का जो व्यक्ति है, यह केवल जोड़ है। इसके हट जाने पर नागसेन नहीं रह जाएगा। जो रह जाएगा उसको नागसेन कहना कठिन है।
जैनों ने इसको अहंकार विसर्जन कहा, अहंकार विसर्जन और आत्म-उपलब्धि कहा। वह आत्मा जो है वह व्यक्ति नहीं है, अहंकार नहीं है। बौद्धों ने इसे अनात्म भी कह दिया। उन्होंने कहा, वह आत्मा ही नहीं है। कुछ फर्क नहीं है

दोनों में। जो शेष रह जाता है उसको मैं की सत्ता का संस्कार देना नासमझी है।
जैसे-जैसे मैं अपने भीतर चलता हूं वैसे-वैसे "मैं" विलीन होता चला जाता है। यह समझने जैसी बात है। जैसे जैसे मैं बाहर चलता हूं, "मैं" सघन होता चला जाता है। वह जो "मैं" है, एक्सटेंशन होता चला है। जैसे-जैसे भीतर चलिएगा--"मैं" जो है, विरल होता चलेगा। जो आदमी अपने से जितना बाहर चला गया है उतना उसका "मैं" मजबूत पाइएगा और जो आदमी अपने जितने भीतर चला गया है उतना ही उसमें "मैं" नहीं पाइएगा। और हम जो बाहर चलते हैं, अगर बहुत गौर से देखें तो उसको "मैं" को ही मजबूत होने का सुख है, और कोई सुख नहीं है। वे जो बड़ा भवन खड़ा कर लेते हैं उसमें सुख लेते हैं, वे जो बड़े पंडित या बड़े साधु बन जाते हैं उसमें भी सुख लेते हैं। वह सब "मैं" का सुख है। जितना हम इस तरह की चीजें इकट्ठी करते हैं उतना "मैं" जो है, भर जाता है, और वजनी हो जाता है। कुछ मालूम होने लगता है। क्योंकि फिर हम कह पाते है कि "मैं"! मैं कोई साधारण आदमी नहीं हूं। "मैं" उतना ही ज्यादा ठोस और वजनी हो जाता है। दुनिया में दो ही दौड़ें हैं और दो ही तरह के आदमी हैं--एक दौड़ है कि "मैं" को मजबूत करो, और एक दौड़ है कि "मैं" को विसर्जित करो। एक तरह का आदमी है जो उस दिशा में चल रहा है जहां और घना "मैं" होता चला जाएगा। जितना घना "मैं" होगा, आत्मा से उतनी ही दूरी हो जाएगी। जितना प्रगाढ़ "मैं" का बोध होगा उतने ही हम आत्मा से फासले पर चले जाएंगे। यानी अगर ठीक से समझें तो "मैं" की प्रगाढ़ता आत्मा से दूरी नापने का यंत्र है। और जितना "मैं" विरल होता चला जाएगा उतना ही वह अपने करीब आने लगेगा। और जिस क्षण हम बिल्कुल अपने में आएंगे, हम पाएंगे "मैं" नहीं है।
यानी वास्तविक "मैं" को पाते ही, जिसको हम "मैं" करके जानते रहे हैं वह नहीं रह जाएगा।

सारे लोग चित्त-शांति की दिशा में जाने लगेंगे, तो कर्मठता नहीं खो जाएगी?

दुनिया में जो तकलीफ है वह अगर सारे लोग चित्त-शांति को उपलब्ध हो जाएं तो समस्या विलीन हो जाएगी और कर्म बेहतर ही होगा। क्योंकि चित्त-शांत व्यक्ति जितना बेहतर कर्म कर सकता है, एक अशांत और विक्षिप्त आदमी नहीं कर सकता। शांति का कर्म से विरोध नहीं है। अशांति का कर्म से विरोध है। अशांत आदमी जो भी कर्म करेगा, वह अकुशल होगा। क्योंकि अशांति उसके कर्म में बाधक होगी।
शांत आदमी जो भी कर्म करेगा वह उसमें कुशल हो जाएगा क्योंकि शांति कर्म में सहयोगी है। तो मेरी दृष्टि में अगर दुनिया में शांत लोग बढ़ते हैं तो दुनिया की कुशलता बढ़ेगी। जैसे कबीर था, कपड़े बुनता रहा। तो कबीर के बाबत कहा जाता रहा कि वैसे कपड़े कभी किसी बुनकर ने नहीं बुने और जब वह अपने कपड़े को लेकर बाजार में बेचने जाता था तो लोग पागल की तरह टूट पड़ते थे। कबीर का कपड़ा खरीदना ही सुख की बात है। कबीर से लोग कहते हैं कि ऐसे कपड़े कभी किसी ने बुने नहीं, तो कबीर कहता, इतनी शांति से भगवान के लिए कपड़े किसी ने नहीं बुने, मैं क्या करूं? मैं तुम्हारे लिए नहीं बुनता, भगवान के लिए बुनता हूं। क्योंकि तुम्हारे भीतर जो भगवान है मैं उसको जानता हूं, वह पहनेगा और उसके लिए तो कोई गलत चीज बुनी नहीं जा सकती और जब बुनता हूं तो भगवान में भरा हुआ बुनता हूं। तो भूल-चूक की तो गुंजाइश नहीं है। तो कबीर ने जो कपड़े बुने थे वे कपड़े अर्थ रखते हैं और ही तरह का।
एक गोरा कुम्हार हुआ, वह भी एक फकीर था। उसने जो घड़े बनाए, अदभुत थे। दुनिया में अब तक जो भी काम श्रेयस्कर हुआ है वह शांत लोगों ने किया है, अशांत लोगों ने नहीं। अशांत लोगों की वजह से परेशानियां हैं, उनकी वजह से श्रेष्ठ कर्म नहीं होता। शांत लोगों की वजह से होगा।
इतना ही स्मरण रखिए कि यह जो हमारे चित्त में धारणा घर कर गई है, शांत लोग छोड़कर भाग खड़े होते हैं, यह गलत है। अशांत लोग भाग खड़े होते हैं, अशांति में, घबड़ाहट में। शांत लोग तो फिर वापस लौट आते हैं। महावीर और

बुद्ध जंगल में भाग गए थे, तब वे अशांत थे। जब वे शांत हुए तो वापस लौट आए। अभी तक ऐसे किसी आदमी के बाबत सुना है जो शांत होकर वापस बस्ती में नहीं लौट आया है। अशांत आदमी बस्ती से बाहर गया जंगल में। लेकिन जब वह शांत हुआ तो वापस बस्ती में लौट आया। और उसके बाद की जिंदगी... कोई खाली हाथ बैठे थोड़े ही रहे! महावीर अपनी उपलब्धि के बाद चालीस वर्ष तक सतत सक्रिय हैं। बुद्ध मरते क्षण तक सक्रिय हैं, मर रहे हैं जिस घड़ी बुद्ध, अंतिम घड़ी
है और उन्होंने अपने शिष्यों से कहा कि अब तो मैं छोड़ता हूं देह। तो आनंद ने कहाः अब हम किसी को आने नहीं देंगे। अब हम बाहर रुकते हैं, अब कोई आए नहीं। वह समाधि में लीन हो रहे हैं और तभी दूर से भागता हुआ एक युवक आया। और उसने आकर आनंद से कहा कि फिर तथागत मुझे कहां मिलेंगे, अगर यह घड़ी मैं चूकता हूं। मुझे अंदर जाने दें। मुझे तो उनसे वचन सुन लेना है जो मेरे जीवन को बदल दें। लेकिन आनंद ने कहाः अब तो बहुत देर हो गई। उसका नाम था सुभद्र, उससे कहा, सुभद्र, अब बहुत देर हो गई। अब तो वे लीन हो रहे हैं। अब तो वे एक चरण नीचे उतर गए। अब तो वे देह को छोड़ रहे हैं, घड़ी भर में देह छूट जाएगी। लेकिन सुभद्र बोलाः तुम तो ठीक कह रहे हो, लेकिन फिर मुझे कब, किस जन्म में ऐसा आदमी मिलेगा? तो बुद्ध ने अंदर से कहाः सुभद्र को रोको मत, उसे अंदर आने दो, कोई यह न कहे कि तथागत पर एक पाप कलंक रह गया। कलंक रह जाए कि सुभद्र खड़ा कहता था कि मैं प्यासा हूं, मुझे दो और उन्होंने नहीं दिया। थोड़ी घड़ी भर रुक सकता हूं। सुभद्र को अंदर आने दो। मरते समय भी बुद्ध सुभद्र को समझा रहे हैं कि शांति और आनंद कैसे पाए जा सकते हैं।
बुद्ध की मृत्यु का कारण था एक गरीब लोहार। उसने बुद्ध को भोजन के लिए आमंत्रित किया अपने घर। बिहार में कुकुरमुत्ते जो वर्षा में उग आते हैं, उनको सुखा कर रख लेते हैं गरीब लोग सब्जी बनाने के लिए। तो उस गरीब लोहार ने कुकुरमुत्ते की सब्जी बनाई और बुद्ध को खिला दी। उसमें कभी-कभी जहर होता है। उस जहर से बुद्ध को शरीर में पीड़ा व्याप्त हुई। जब वे अपने आवास पर लौटे तो उन्होंने देखा कि शरीर में विष व्याप्त हो रहा है। तो उन्होंने कहा कि जाओ, उस लोहार को कहना, कि तू अत्यंत धन्यभागी है कि तथागत ने अंतिम अन्न तेरा ग्रहण किया। ऐसा सौभाग्य बहुत मुश्किल से उपलब्ध होता है। इसलिए जाकर कहो कि कहीं लोग मेरे मरने के बाद उसे जाकर परेशान न करें कि इसका भोजन खाने के कारण मेरी मृत्यु हो गई। उसको जाकर कहो और सारे गांव में यह ढिंढोरा पीट दो कि वह आदमी अत्यंत धन्यभागी है कि तथागत ने अंतिम अन्न उसका ग्रहण किया। ऐसा सौभाग्य कल्पों में कभी किसी को मिलता है।
यह शांत आदमी का लक्षण है जो अपने मरने के बाद भी किसी को परेशान नहीं करना चाहता। इसको अपनी मौत की परेशानी नहीं है। यह आदमी मर रहा है उसकी चीज खाकर किंतु इसको परेशानी इसकी है कि मेरे मरने के बाद कहीं लोग उसको परेशान न करें कि तुम्हारे भोजन से उसकी मौत हो गई। अशांत आदमी दूसरी तरह की व्यवस्था करता है।
मैंने एक कहानी पढ़ी है कि एक वृद्ध आदमी मर रहा है। उसके सात जवान लड़के थे, उसने उन सबको बुलाया। और उनसे कहा कि मुझे एक खास बात कहनी है। अगर तुम वायदा करो तो मैं कहूं। बड़े लड़के तो कोई उठे नहीं, छोटा लड़का नासमझ था, वह उठ कर उसके पास गया। बाप ने उसके कान में कहा कि मेरी एक ही प्रार्थना है, इतना तू कर देना, मैं तो मर ही रहा हूं। मर जाऊं तो मेरी लाश के टुकड़े बगल वाले के घर में डाल देना। तो जब मैं पकड़े हुए पड़ोसी को राजा के कर्मचारी द्वारा जेल में ले जाते देखूंगा, तब मेरी आत्मा उसको देखेगी तो मैं बड़ा परितृप्त हो जाऊंगा। मैं तो मर ही रहा हूं, उसको सजा हो जाएगी! अशांति चारों ओर अशांति को पैदा करती है। शांति चारों तरफ शांति को पैदा करती है। शांत मनुष्य से इस जगत का कोई अहित असंभव है। हित ही हो सकता है। अशांत आदमी से इस जगत का कोई हित असंभव है। अहित ही हो सकता है।
तो मुझे धार्मिक साधना जगत की विरोधी नहीं दिखाई पड़ती। धार्मिक साधना में ही जगत का हित और साध्य दिखाई पड़ता है। कर्मठता कम हुई है, अशांति से शायद। शायद शांति हो तो कर्म श्रेष्ठ हो जाएं। शांत लोग सब कुछ व्यवस्थित कर सकेंगे।

पूर्व-प्रकाशित "अज्ञात के नये आयाम" पुस्तिका से संगृहीत एक प्रश्नोत्तर-चर्चाः 1968-69

शिक्षा में क्रांति
नौवां प्रवचन

प्रेम-केन्द्रित शिक्षा

मेरे प्रिय!
मैं बहुत आनंदित हुआ कि युवकों और विद्यार्थियों के बीच थोड़ी सी बात कहने को मिलेगी। युवकों के लिए जो सबसे पहली बात मुझे खयाल में आती है वह यह है, और फिर उस पर ही मैं और कुछ बातें विस्तार से आज आपसे कहूंगा।
जो बूढ़े हैं उनके पीछे दुनिया होती है, उनके लिए अतीत होता है, जो बीत गया वही होता है। बच्चे भविष्य की कल्पना और कामना करते हैं, बूढ़े अतीत की चिंता और विचार करते हैं। जवान के लिए न तो भविष्य होता है और न अतीत होता है, उसे केवल वर्तमान होता है। यदि आप युवक हैं तो आप केवल वर्तमान में जीने की सामर्थ्य से ही युवक होते हैं। यदि आपके मन में भी पीछे का चिंतन चलता है तो आपने बूढ़ा होना शुरू कर दिया। अगर अभी भी भविष्य की कल्पनाएं आपके मन में चलती हैं तो अभी आप बच्चे हैं।
युवा अवस्था बीच का एक संतुलन बिंदु है। मन की ऐसी अवस्था है, जब न कोई भविष्य होता है, और न कोई अतीत होता है। जब हम ठीक-ठीक वर्तमान में जीते हैं तो चित्त युवा होता है, यंग होता है, ताजा होता है, जीवित होता है, लिविंग होता है। सच यह है कि वर्तमान के अतिरिक्त और किसी की कोई सत्ता नहीं है। न तो अतीत की कोई सत्ता है, न भविष्य की कोई सत्ता है, सत्ता है तो वर्तमान की है। वह जो मौजूद क्षण है, उसकी है।
कितने लोग हैं जो मौजूद क्षण में जीते हों? जो मौजूद क्षण में जीता है, उसे मैं युवा कहता हूं। जो मौजूद क्षण में जीने की सामर्थ्य को उपलब्ध हो जाता है, उसका मस्तिष्क युवा है; बूढ़ा नहीं है, बच्चा नहीं है। लेकिन अक्सर यह होता है कि लोग बच्चे से सीधे बूढ़े हो जाते हैं, युवा बहुत कम लोग हो पाते हैं। जरूरी नहीं है कि युवक होना... आवश्यक नहीं है कि आप युवा अवस्था से गुजरें ही--यह अनिवार्य बात नहीं है। और बड़े मजे की बात है, जो एक बार युवा हो जाता है वह बूढ़ा नहीं होता। क्योंकि जिसे युवक होने का राज और सीक्रेट पता चल जाता है उसे बूढ़े होने की कोई जरूरत नहीं रह जाती। शरीर बूढ़ा होगा, आएगा और जाएगा लेकिन चित्त एक सतत यौवन में, सतत जवान, सतेज और युवक बना रह सकता है।
तो पहली बात यह कहूं कि केवल इस कारण अपने को युवक मत समझ लेना कि उम्र बूढ़े और बच्चे के बीच में है। इससे कोई युवा नहीं होता। युवा होना बड़ी गहरी बात है। उसके संबंध में कुछ थोड़ी सी बात कहूंगा। और यह भी कहा कि आप विद्यार्थी हैं, यह भी मुझे नहीं दिखाई पड़ता। अगर दुनिया में विद्यार्थी हों तो ज्ञान तो बहुत बढ़ जाना चाहिए, लेकिन विद्यार्थी तो बढ़ते जाते हैं, ज्ञान तो बढ़ता नहीं। बल्कि अज्ञान घना होता चला जाता है। विद्यार्थी तो बढ़ते चले जाते हैं, विद्यापीठ बढ़ते चले जाते हैं, लेकिन दुनिया रोज बुरी से बुरी होती चली जाती है। अगर ज्ञान विकसित होता तो परिणाम में दुनिया बेहतर होनी चाहिए। अगर मुझे कोई किसी बगिया में ले जाए और कहे कि हमने खूब फूल लगाए हैं, फूल के पौधे बढ़ते चले जाते हैं, फूल लगते चले जाते हैं और बगिया में बदबू बढ़ती चली जाए, गंदगी बढ़ती चली जाए, सुगंध की जगह दुर्गंध बढ़ने लगे तो हैरानी होगी। और हमें पूछना पड़ेगा कि ये फूल और ये पौधे, ये किस भांति बढ़ रहे हैं? यहां दुर्गंध तो बढ़ती चली जाती है!
विद्यापीठ बढ़ते हैं, पुस्तकें बढ़ती हैं, मैं सुनता हूं कि कोई पांच हजार ग्रंथ प्रति सप्ताह छप जाते हैं। सारी दुनिया में पांच हजार ग्रंथ प्रति सप्ताह छप जाते हैं! पांच हजार ग्रंथ जिस दुनिया में प्रति सप्ताह बढ़ते हों, रोज-रोज विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती चली जाती हो, शिक्षा बढ़ती चली जाती हो, लेकिन वह दुनिया तो नीचे गिरती चली जाती हो! वहां तो युद्ध और घातक से घातक हुए चले जाते हैं, वहां तो घृणा और व्यापक हुई जाती है, ईर्ष्या और जलन तीव्र हुई जाती है तो जरूर कहीं कोई बुनियाद में खराबी है। और इस तरह खराबी का जिम्मा और किसी पर इतना ज्यादा नहीं है जितना उन पर, जिनका शिक्षा से संबंध है--चाहे वे शिक्षक हों, चाहे शिक्षार्थी हों।

दुनिया इधर पांच हजार वर्षों में बहुत सी क्रांतियां करके देख ली। उसने आर्थिक क्रांतियां की हैं और राजनीतिक क्रांतियां की हैं, लेकिन अब तक शिक्षा में कोई बुनियादी क्रांति नहीं हुई। और यह विचारणीय हो गया है कि क्या शिक्षा में कोई बुनियादी क्रांति हुए बिना मनुष्य की संस्कृति में कोई क्रांति हो सकती है? नहीं हो सकती है!--क्योंकि शिक्षा आपके मस्तिष्क के ढांचे को निर्धारित कर देती है और फिर उस ढांचे से छूटना करीब-करीब कठिन और असंभव हो जाता है। पंद्रह या बीस साल एक युवक शिक्षा लेगा, पंद्रह बीस साल में उसके मस्तिष्क का ढांचा निर्णीत हो जाएगा, फिर जीवन भर भी उस ढांचे से छूटना बहुत कठिन है। जिनमें साहस है, जिनमें थोड़ी हिम्मत है वे छूट सकते हैं; लेकिन सामान्यतया छूट न सकेंगे।
यह ढांचा कहीं गलत तो नहीं है, जो शिक्षा हमें देती है? निश्चित ही यह ढांचा गलत होना चाहिए क्योंकि परिणाम गलत हैं। और परिणाम ही परीक्षा देते हैं, परिणाम ही बताते हैं कि हम जो कर रहे हैं वह ठीक है या गलत है।
ये बच्चे जो शिक्षित होकर निकलते हैं, ये विकृत मनुष्य होकर निकलते हैं। ऐसा न सोचें कि इसका यह अर्थ है कि मैं आपसे यह कहता हूं कि पीछे पुराने दिनों में जो शिक्षा थी, वह अच्छी थी; उस पर लौट आना चाहिए। ये सब नासमझी की बातें हैं। पीछे लौटना कभी दुनिया में नहीं होता। और पीछे भी कोई बुनियादी रूप से ठीक शिक्षा नहीं है। अन्यथा यह गलत शिक्षा पैदा नहीं होती। क्योंकि ठीक से गलत कभी पैदा नहीं होता। गलत से ही गलत पैदा होता रहता है। पीछे भी गलत था, आज भी गलत है।
गलती के कौन से आधार हैं, वह थोड़ी सी मैं आपसे बात करूं।
यह हमारी पूरी की पूरी शिक्षा किस केंद्र पर घूमती है, वह केंद्र ही गलत है। उस केंद्र के कारण सारी तकलीफ पैदा होती है। वह केंद्र है, एंबीशन। हमारी यह सारी शिक्षा एम्बिशन के केंद्र पर घूमती है, महत्वाकांक्षा के केंद्र पर घूमती है।
आपको क्या सिखाया जाता है? हमको क्या सिखाया जाता है? हमें सिखाई जाती है महत्वाकांक्षा। हमें सिखाई जाती है एक दौड़, कि आगे हो जाओ; दूसरों से आगे हो जाओ। छोटा सा बच्चा, के.जी. में पढ़ने जाता है, उसे भी, एक छोटे से बच्चे को भी हम एंग्जाइटी पैदा कर देते हैं--प्रथम होने की एंग्जाइटी! इससे बड़ी कोई एंग्जाइटी नहीं है, इससे बड़ी कोई चिंता नहीं है दुनिया में। दुनिया में एक ही चिंता है कि मैं दूसरे से आगे कैसे हो जाऊं, दूसरों को कैसे पीछे छोड़ दूं!
छोटा सा बच्चा है, छोटे से स्कूल में पढ़ने जाता है। उसके मन में भी हम चिंता का भूत सवार कर देते हैं, उसे भी आगे होना है। वह भी पुरस्कृत होगा, अगर आगे आएगा। अपमानित होगा अगर द्वितीय आएगा। अपमानित होगा, अगर असफल होगा। सफल होगा तो सम्मानित होगा। शिक्षक आदर करेंगे, घर में आदर मिलेगा। हम उसके भीतर प्रतियोगिता पैदा कर रहे हैं। और प्रतियोगिता एक तरह का ज्वर है, एक तरह का बुखार है। जरूर ज्वर में ताकत आ जाती है। अगर आप बुखार में हैं तो आप ज्यादा तेजी से दौड़ सकते हैं। अगर आप बुखार में हैं तो आप ज्यादा तेजी से गालियां बक सकते हैं। अगर आप बुखार में हैं तो आप ऐसी बातें कर सकते हैं जो कि आप सामान्यतया नहीं कर सकते। बुखार में, एक ज्वर में त्वरा आ जाती है, एक शक्ति आ जाती है।
इस सारी शिक्षा की दौड़ को हमने बुखार पर आधारित किया है। हम कहते हैं
कि दूसरे से आगे निकलो। अहंकार को चोट लगती है बच्चों के। वे दूसरों से आगे होने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। जब वे दूसरों से आगे होना चाहते हैं तो श्रम करते हैं, मेहनत करते हैं, अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं, अपने पूरे प्राण जुटा देते हैं।
लेकिन किसलिए? इसलिए कि उन्हें दूसरों से आगे होना है। एक प्रतिस्पर्धा है, एक काम्पिटीशन है। फिर यह काम्पिटीशन का ज्वर उनको पकड़ जाता है। जब वे शिक्षा के जगत से बाहर आते हैं, पढ़-लिख कर बाहर निकलते हैं तब भी ये ज्वर उन्हें पकड़े रहता है। उन्हें दूसरे से बड़ा मकान बनाना है, उन्हें दूसरे से बड़ी दुकान खोलनी है, उन्हें दूसरे से बड़े पद पर पहुंचना है, छोटे क्लर्क को बड़ा क्लर्क होना है, अध्यापक को प्रधान अध्यापक होना

है, डिप्टी मिनिस्टर को मिनिस्टर होना है, किसी को राष्ट्रपति होना है, किसी को कुछ होना है। एक पागलपन की दौड़ पकड़ती है। फिर जिंदगी भर प्रत्येक को कुछ न कुछ होने का पागलपन सवार रहता है। और इस पागलपन की दौड़ में उनके जीवन की सारी शांति, सारी शक्ति, सारा सामर्थ्य नष्ट हो जाता है।
आखिर में वे क्या पाते हैं? आखिर में वे कहीं भी नहीं पहुंचते। क्योंकि वे कहीं भी पहुंच जाएं, जहां भी पहुंच जाएंगे, हमेशा उनसे आगे उन्हें दिखाई पड़ेंगे। और जब तक उनके कोई भी आगे है तब तक उन्हें शांति नहीं मिल सकती। और इस दुनिया में अब तक कोई ऐसा आदमी नहीं हुआ जिसे ऐसा अनुभव हुआ हो कि मैं सबके आगे आ गया हूं, क्योंकि कुछ लोग हमेशा उससे आगे हैं। यह दुनिया बड़ी है और हम सब एक गोल घेरे में खड़े हैं। अगर हम एक गोल वृत्त में खड़े हो जाएं, तो कौन आगे है, कौन पीछे है? हरेक के हर कोई आगे है। और तब दौड़ चलती चली जाती है, दौड़ चलती चली जाती है। कभी कोई आदमी सबसे आगे आया है अब तक? आज तक कोई न कोई आगे आ जाता। हम जरूर चक्कर में खड़े हैं। एक सर्किल में घूम रहे हैं। उसमें कोई न कोई हमारे आगे है हमेशा। दुनिया में अब तक कोई आदमी आगे नहीं आ सका। लेकिन फिर भी हम बच्चों को सिखा रहे हैं कि तुम आगे आ जाओ। हम उनको पागलपन सिखा रहे हैं। हम एक ऐसी गलत बात सिखा रहे हैं कि उस दौड़ में वे पड़ जाएंगे। उस दौड़ में वे अपना जीवन नष्ट कर देंगे। सारी शिक्षा ईर्ष्या पर खड़ी हुई है। हम लोगों से कहते हैं, ईर्ष्या मत करो, हिंसा मत करो, जलन मत करो, लेकिन हमारी पूरी शिक्षा ईर्ष्या पर खड़ी है। एक बच्चे को दिखा कर हम दूसरे बच्चे से कहते हैं देखो, यह कितना बुद्धिमान है और तुम कितने बुद्धिहीन हो। इस जैसे बनो। हम ईर्ष्या जगा रहे हैं, हम उसके भीतर जलन पैदा कर रहे हैं। उसे भी उसके जैसा होना है। उसे भी इसके आगे निकलना है।
हम उसके भीतर क्या पैदा कर रहे हैं? हम जहर डाल रहे हैं उसके भीतर ईर्ष्या का। जब भी हम किसी बच्चे से कहते हैं, दूसरे बच्चों से आगे हो जाओ तो हम जहर डाल रहे हैं; तो हम उस बच्चे को प्रेम नहीं करते। यह जहर जीवन भर उसकी नसों में घूमता रहेगा, उसके मन में घूमता रहेगा। यह हमेशा आगे होना चाहेगा। हमेशा एक आगे होने की दौड़ उसको पकड़े रहेगी। लेकिन बड़ा मजा यह है कि कभी कोई आगे हुआ है? और क्या किसी दूसरे से आगे होने में कोई आनंद मिल सकता है? आनंद से किसी के आगे खड़े होने का कौन सा वास्ता है? शांति का किसी के आगे खड़े होने से कौन सा संबंध है? नहीं, यह बुनियादी रूप से गलत बात है। यह एंबीशन और उसके केंद्र पर घूमती हुई शिक्षा गलत है और अगर हमें एक
नई दुनिया बनानी हो तो हमें इस केंद्र को बदलना होगा और कोई नया केंद्र पैदा करना होगा।
कौन सा नया केंद्र इसकी जगह हो सकता है? मैं आपसे कहना चाहता हूं, प्रतिस्पर्धा शिक्षा का केंद्र नहीं हो सकता; न होना चाहिए। शिक्षा का केंद्र प्रेम होना चाहिए।
प्रेम से मेरा क्या अर्थ है? हम यहां इतने लोग बैठे हैं, अगर हम सारे लोग संगीत सीखना चाहें, तो एक तो सीखने का रास्ता यह है कि हम दूसरों से आगे निकलने की कोशिश में, त्वरा में पड़ जाएं, तो हम संगीत सीख सकेंगे उस ज्वर में? दूसरे हमें पीछे न छोड़ दें, अपमानित न कर दें, हम कहीं बेइज्जत न हो जाएं, हमारा कहीं असम्मान न हो जाए, हम कहीं असफल सिद्ध न हो जाएं, कहीं हम दुनिया में नो-बडी सिद्ध न हो जाएं--समबडी हमें होना है, आगे होना है, किसी से कुछ होकर दिखलाना है--हम इस दौड़ में संगीत सीखेंगे! लेकिन क्या वह संगीत का प्रेम होगा, या कि अहंकार का प्रेम होगा? और जब अहंकार का प्रेम होगा तो संगीत कैसे सीखा जा सकता है? जहां अहंकार का प्रेम होगा वहां संगीत कैसे सीखा जा सकता है?
सीखने के लिए तो विनम्रता चाहिए। और यह शिक्षा पूरी की पूरी अहंकार सिखाती है, विनम्रता सिखाती नहीं। हालांकि शिक्षक नाराज है, वह कहता है विद्यार्थियों में विनम्रता नहीं है। विनम्रता उसमें कैसे हो सकती है? जब हम विद्यार्थियों को यह सिखाते हैं कि तुम दूसरों से आगे हो जाओ तो हम उसे अहंकार सिखाते हैं, इगो सिखाते हैं। तो उसमें विनम्रता कैसे हो सकती है? झूठी बात है। उसमें विनम्रता कभी नहीं हो सकती है, न होनी चाहिए। क्योंकि

हम सिखा रहे हैं उसको अहंकार--दूसरों से आगे हो जाओ। जब वह दूसरों से आगे होता है तभी उसकी विनम्रता नष्ट हो जाती है और वह अहंकार से पीड़ित हो जाता है। फिर जब सारे लोग अहंकार से पीड़ित होकर लगेंगे, संगीत नहीं सीख सकते, दुनिया में कुछ भी नहीं सीख सकते।
सीखने का सूत्र है, विनम्रता, ह्युमिलिटी। सीखने का सूत्र है, निर-अहंकारिता। लेकिन इन सबके अहंकार तो उकसाए जा रहे हैं। इनके तो अहंकार को आग लगाई जा रही है कि तुम आगे निकलो, तुम्हें विश्वविद्यालय में स्वर्ण-पदक लाने हैं। तुम्हें भारतरत्न बनना है, किसी को राष्ट्रपति बनना है, किसी को कुछ बनना है। सारे लोगों के मन में ईर्ष्या की आग को जलाया जा रहा है, अहंकार को उत्तेजित किया जा रहा है। संगीत कैसे ये सीखेंगे, गणित कैसे ये सीखेंगे क्योंकि कुछ भी सीखने के लिए... जीवन का तत्व ये कैसे सीखेंगे? कुछ भी सीखने के लिए विनम्रता चाहिए। कुछ भी सीखने के लिए अप्रतियोगी, नॉन-एंबीशस माइंड चाहिए।
हां, सीखने का दूसरा सूत्र भी हो सकता है और वह सूत्र है, संगीत से प्रेम। संगीतज्ञ से प्रतिस्पर्धा नहीं, संगीत से प्रेम। निकट के विद्यार्थी से प्रतियोगिता नहीं, बल्कि जिस विषय को हम सीखना चाहते हैं उसके प्रति तल्लीनता, उसके प्रति आनंद, उसके प्रति प्रेम। उचित है कि हम गणित के प्रति प्रेम सिखाएं, दूसरे गणित सीखने वाले के प्रति प्रतियोगिता न सिखाएं। उचित है, हम संगीत के प्रति प्रेम को जन्माएं, दूसरे संगीत सीखने वाले के प्रति प्रतिस्पर्धा को न जन्माएं। जरूर संगीत सीखा जा सकता है संगीत के प्रेम के कारण। और तभी संगीत सीखा जा सकता है। और तभी सब कुछ सीखा जा सकता है, जब हम किसी चीज को प्रेम करते हैं, तभी सीखना संभव है। सब सीखना प्रेम का अनुसरण करना है। लेकिन प्रेम तो हमारे भीतर सिखाया नहीं जाता। हमारी शिक्षा का प्रेम से कोई संबंध नहीं है।
इसलिए अक्सर यह होता है कि अगर आपने साहित्य पढ़ा है विश्वविद्यालय में और विश्वविद्यालयों से निकलने के बाद आप फिर कभी साहित्य को उठाकर न देखेंगे, क्योंकि विश्वविद्यालय आपको साहित्य से इतना उबा देंगे, इतना बोर कर देंगे, इतना घबड़ा देंगे कि फिर साहित्य उठाकर देखने वाले नहीं हैं। अगर आपने विश्वविद्यालय में कविताएं पढ़ी हैं तो आपका जीवन भर के लिए कविता का प्रेम और आनंद नष्ट हो जाएगा। इसलिए नष्ट हो जाएगा कि वह अहंकार की दौड़ में पढ़ी गई थीं, परीक्षाएं पास करने के लिए पढ़ी गई थीं, आगे निकलने के लिए पढ़ी गई थीं। काव्य से कोई प्रेम पैदा नहीं हुआ था।
और इसलिए अक्सर यह होता है कि हमारी सारी शिक्षा प्रतिभा को नष्ट कर देती है। इमर्सन ने एक युवक की तारीफ में एक बात कही थी। वह गांव का पहला ग्रेजुएट था। इमर्सन से लोगों ने कहा कि आप भी उसके सम्मान में दो शब्द कहें। उन्होंने कहाः मैं महीने भर उस युवक को जांचूं, परखूं, फिर कुछ कह सकता हूं। महीने भर बाद वे उस समारोह में सम्मिलित हुए और उन्होंने कहाः मुझे यह युवक बहुत पसंद आया। और मैं इसकी तारीफ करता हूं। यह अदभुत है। और क्यों तारीफ करता हूं? उन्होंने कहाः इसलिए तारीफ करता हूं कि यह विश्वविद्यालय की शिक्षा के बावजूद भी यह अपनी प्रतिभा को बचाने में समर्थ हो सका है--इसलिए मैं इसकी तारीफ करता हूं। और हालत ऐसी ही है। अदभुत हैं वे लोग जो विश्वविद्यालय के घनचक्कर से बाहर निकल जाएं और उनकी प्रतिभा शेष रह जाए। वह नष्ट हो जाएगी, वह नष्ट कर दी जाएगी। सारे के सारे आधार शिक्षा के बुनियादी रूप से गलत हैं। और फिर जब इस तरह की शिक्षा होगी, यह प्रतिस्पर्धा की, प्रतियोगिता की, एंबीशन की होगी, लड़ाइयों की, युद्धों की, संघर्षों की होगी। ये बच्चे भी बड़े होंगे कल। ये बड़े होकर लड़ेंगे। समूह की तरह लड़ेंगे, समाज की तरह लड़ेंगे, संप्रदाय की तरह लड़ेंगे, राष्ट्र की तरह लड़ेंगे क्योंकि इनको आगे निकलना है, इनको सबसे आगे निकलना है। मुल्क की तरह लड़ेंगे। दुनिया भर के मुल्क लड़ रहे हैं।
क्यों लड़ रहे हैं? क्योंकि जिन बच्चों को शिक्षा दी गई है उन सबको सिवाय लड़ने को और कुछ भी नहीं सिखाया गया है। उन्हें प्रेम सिखाया नहीं गया, उन्हें ईर्ष्या सिखाई गई, जलन सिखाई गई। दो महायुद्ध हुए इन थोड़े से दिनों में--दस करोड़ लोगों की हत्या हुई। यह शिक्षा जरूर गलत होनी चाहिए।

ऐसी कैसी शिक्षा है यह कि दुनिया दस-पांच वर्षों में करोड़ों लोगों की हत्या करे! ये विश्वविद्यालय से निकले लड़के किस भांति के हैं, इनका मस्तिष्क कैसा रुग्ण है! यह कैसे संभव है कि रोज दुनिया में लड़ाई चलती रहे और विश्वविद्यालय भी बनते रहें, यह कैसे संभव है?
अगर विश्वविद्यालय सच्चे हैं, अगर शिक्षा वास्तविक है तो दुनिया से लड़ाई विलीन हो जानी चाहिए। युद्ध दुनिया में नहीं होना चाहिए, क्योंकि शिक्षित व्यक्ति लड़ेगा? सुसंस्कृत व्यक्ति लड़ेगा? सभ्य व्यक्ति लड़ेगा? हत्या करेगा? एक दो लोगों की नहीं, करोड़ों लोगों की हत्या करेगा? लेकिन हम यह कर रहे हैं और यह हमारा सुशिक्षित व्यक्ति लड़ेगा, युद्ध में जाएगा! और इसे युद्ध की कोई भी तरकीब का कोई पता नहीं चलता, नहीं चल सकता है। क्योंकि इसके भीतर भी लड़ाई के ही बीज डाले गए हैं। हर दूसरे से लड़ने के बीज डाले गए हैं। बल्कि इसे लड़ाई में रस आएगा, सुख आएगा।
आप देखते हैं, जब भी लड़ाई होती है, आप प्रफुल्लित हो जाते हैं। यह जरूर बीमार स्थिति है। जब लड़ाई होती है तब लोगों के चेहरों पर रौनक दिखाई पड़ती है। लोग कुछ आनंद में, उत्साह में मालूम पड़ते हैं। हिंदुस्तान से पाकिस्तान लड़ता हो, हिंदुस्तान से चीन लड़ता हो या कहीं और कुछ बेवकूफी होती हो, कहीं कोई और नासमझी होती हो तो लोग कितने खुश मालूम होते हैं। रातें और दिन उनके ताजगी से भर जाते हैं। सुबह से अखबार पढ़ते हैं, रेडियो सुनते हैं, चर्चा करते हैं। उनके चेहरे की रौनक देखिए, जैसे बहुत खुशी का कोई मौका आ गया है। उनको लड़ाई के लिए तैयार किया गया है। चौबीस घंटे लड़ाई के सिवाय उन्हें और किसी बात में रस नहीं है।
रास्ते पर जाते हों, दो आदमी लड़ रहे हों, हजार जरूरी काम छोड़ कर सैकड़ों लोग देखने लगेंगे। क्या पागलपन है! दो आदमियों को लड़ते देखना किसी कुरूप चित्त का लक्षण है, किसी सुसंस्कृत चित्त का लक्षण नहीं है। एक अग्ली माइंड का लक्षण है दो आदमियों को लड़ते देख कर रस अनुभव करना। लेकिन लोग सारी दुनिया में यही कर रहे हैं, किसी एक मुल्क में नहीं। हमारे मन की तैयारी ऐसी है। जब एक आदमी हार जाता है और जो आदमी जीत जाता है, हम जीते हुए आदमी के गले में मालाएं पहनाते हैं और हारे आदमी को उपेक्षित कर देते हैं। यह कुरूप चित्त का लक्षण है। यह दुष्ट और हिंसक चित्त का लक्षण है। आखिर इसमें क्या बात हो गई कि जो आदमी जीत गया है उसके गले में आप मालाएं पहनाएं, और जो आदमी हार गया है उसकी उपेक्षा कर दें? क्या इसको... आपके भीतर बीमार आदमी का आपको दर्शन नहीं होता? क्या हारे हुए के प्रति दया और प्रेम आना चाहिए या नहीं, या कि जीते हुए के प्रति सम्मान उमड़ना चाहिए!
अगर शिक्षा उचित होगी तो जो पराजित है उसके प्रति दया और सम्मान उमड़ेगा। जो जीत गया है, उसके प्रति हैरानी होगी कि कैसा दुष्ट आदमी है कि उसने जीतना चाहा, उसने किसी को पराजित करना चाहा। कैसा हिंसक वृत्ति का व्यक्ति है!
किसी को हराने में हिंसा है। किसी को हराने में घृणा है। किसी को हराने की चेष्टा ही विकृत मन का सबूत है, बीमार मन का सबूत है।
लेकिन हम जो जीत जाता है उसका आदर करते हैं। जो हार जाता है उसे उपेक्षित करते हैं। क्यों? इसलिए कि हम भी भीतर जीतने को उत्सुक हैं और हम भी उसके समर्थक हैं जो जीत गए हैं, क्योंकि हम भी जीतना चाहते हैं। हमारे मन में भी वही रस काम कर रहा है कि हम भी जीतें। हम भी दूसरों की छाती पर बैठ जाएं, यह रस हमारे मन में काम कर रहा है। इसलिए जो किसी की छाती पर बैठ जाता है उसे हम फूल पहनाते हैं, जो नीचे जमीन पर गिर पड़ता है उसे हम भूल जाते हैं। उसकी कीमत नहीं है। यह जरूर गलत है, वह बुनियादी रूप से गलत है। और स्मरण रखें महत्वाकांक्षा क्यों है हमारे भीतर? कौन सा कारण है कि
हम इतने पागल होकर दौड़ रहे हैं? कारण है! जितनी जिस मनुष्य के भीतर हीनता होती है, उसके भीतर उतनी ही महत्वाकांक्षा पैदा हो जाती है। जितनी हीनता होती है, जितनी इनफिरिआरिटी अनुभव होती है, जितना भीतर लगेगा कि मैं कुछ भी नहीं हूं उतनी ही कठिनाई, उतनी महत्वाकांक्षा पैदा हो जाएगी। क्यों? महत्वाकांक्षा के द्वारा, वह अपनी आंखों में और दुनिया की आंखों में वह सिद्ध करना चाहता है कि भूल में मत रहना कि मैं हीन आदमी हूं।

एक छोटी सी घटना आपको कहूं, उससे समझ में आपको आए। तैमूरलंग का नाम आपने सुना होगा। एक राज्य को उसने जीत लिया। उस राज्य का जो बादशाह था बैजल, उसने उसको बंदी बना लिया। फिर तैमूर के खेमे में बैजल को हथकड़ियां पहना कर लाया गया। जब बैजल आकर खड़ा हुआ, हारा हुआ बादशाह, तैमूर अपने तख्त पर बैठा था, उसके दरबारी बैठे थे, उसके सैनिक-सिपाही खड़े थे। तैमूर बैजल को देख कर हंसने लगा। स्वाभाविक है कि बैजल को गुस्सा आ जाए। हार गया तो भी क्या, आखिर तो बादशाह था! उसने भी गरूर से सिर उठा कर कहा कि तैमूर, नासमझी मत करो। जो दूसरों की पराजय पर हंसता है, एक दिन उसे फिर अपनी पराजय पर भी आंसू गिराने पड़ते हैं। लेकिन तैमूर ने कहाः नहीं, इसलिए नहीं हंसता हूं। इतना नासमझ नहीं कि इस छोटी सी जीत पर मैं हंसूं। हंसता मैं किसी और बात पर हूं। हंसता मैं इसलिए हूं कि मैं हूं लंगड़ा--तैमूर लंगड़ा था और बैजल काना था--उसने कहा, हंसता मैं इसलिए हूं कि मैं हूं लंगड़ा और तुम हो काने। और यह भगवान भी कैसा है, लंगड़े काने को बादशाहतें देता है।
अगर मैं उसकी जगह मौजूद होता तो मैं तैमूर को कहता कि लंगड़ों और कानों
के सिवाय भगवान से बादशाहत कोई मांगता ही नहीं। कोई स्वस्थ व्यक्ति बादशाह नहीं होना चाहेगा। कोई स्वस्थ व्यक्ति राजनीतिज्ञ नहीं होना चाहेगा। कोई स्वस्थ व्यक्ति किसी के ऊपर बैठने की आकांक्षा नहीं करता है। कोई स्वस्थ व्यक्ति किसी को पैरों में नहीं डालना चाहता। कोई स्वस्थ व्यक्ति किसी का मालिक नहीं होना चाहता। यह हमारे भीतर जो रुग्ण, बीमार, हीन आदमी बैठा हुआ है, उसकी दौड़ है।
लंगड़े और काने--हीन चित्त की जो हमारी स्थितियां है, हमारे भीतर जो कमजोरियां हैं, उनको छिपाने के लिए हम दौड़ते हैं, उनको छिपाने के लिए हम दौड़ करते हैं और हम सिद्ध कर देना चाहते हैं कि गलत है दुनिया। हम ठीक हैं, हम उचित हैं। हमने यह करके दिखला दिया। हम दूसरों को अपने सामने यह स्थापित कर लेना चाहते हैं कि हम हीन नहीं हैं। यह हीन मन की दौड़ है। महत्वाकांक्षा पर आधारित शिक्षा मूलतः हिंसा पर आधारित शिक्षा है।
वह व्यक्तित्व की गरिमा नहीं है उसमें, व्यक्तित्व की हीनता है। दुनिया में हरेक व्यक्ति को यह भय होता है कि कहीं मैं "नो-बडी" न हो जाऊं, कहीं "ना-कुछ" न हो जाऊं! मुझे कुछ न कुछ होना चाहिए--मेरा नाम होना चाहिए। मेरा पद होना चाहिए, मेरी प्रतिष्ठा होनी चाहिए, मेरा मकान होना चाहिए। मुझे कुछ होना चाहिए।
यह पागलपन कौन पैदा करता है? यह हमारी शिक्षा पैदा करती है। उचित है
वह शिक्षा, जो प्रत्येक व्यक्ति को यह कह सके कि तुम जो हो वह काफी हो, पर्याप्त हो। तुम जो हो वह काफी हो और पर्याप्त हो। तुम्हें कुछ और होने की आवश्यकता नहीं है। तुम जो हो वह पर्याप्त है। और अपनी पूरी संभावनाओं को खोलो और आनंद को अनुभव करो। तुम किसी के साथ दौड़ में मत पड़ो। किसी के साथ दौड़ने का कोई कारण नहीं है। कोई भी कारण नहीं है! अगर शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति को इस बोध को करा सके कि वह जो है, पर्याप्त है और उस पर्याप्त होने के आनंद को अनुभव करा सके--जो उसके पास है, उसके पूरे विकास की सुविधाएं जुटा सके--महत्वाकांक्षा की नहीं, विकास की; प्रतियोगिता की नहीं, प्रेम की; दूसरों के साथ संघर्ष की नहीं, वरन स्वयं के आत्म-जागरण की; और चैतन्य की अगर आयोजना कर सके तो शिक्षा सारे जगत में एक मूलभूत क्रांति को लाने में समर्थ हो सकती है। और जब तक शिक्षा ऐसी नहीं होगी तब तक शिक्षा मनुष्य के हित में नहीं है, वरन मूलतः वह मनुष्य के अहित में है, मनुष्य को विषाक्त करती है।
जो हमारे पास है और आपके पास, कौन सी कमी है? प्रत्येक व्यक्ति के पास कौन सी कमी है? अगर वह महत्वाकांक्षा से न भर जाए तो दुनिया में कोई भी कमी नहीं है। अगर वह महत्वाकांक्षा के पागलपन से रुग्ण न हो जाए तो उसके पास बहुत है, लेकिन वह दिखाई नहीं पड़ सकता। वह दिखाई कैसे पड़ेगा? हमें तो वह दिखाई पड़ता है जो दूसरों के पास है। जो आदमी महत्वाकांक्षी है उसे सदा दूसरों के पास है, वही दिखाई पड़ता है। जो उसके पास है, वह नहीं दिखाई पड़ता है। और मजा यह है, जो दूसरों के पास है वह उसे दिखाई पड़ता है, अगर कल उसे मिल जाए तो उसे दिखाई पड़ना बंद हो जाएगा। उसे फिर वह दिखाई पड़ने लगेगा जो

दूसरों के पास है। आप विचार करें, खुद देखें--क्या यह सच नहीं है? आपके पास दो आंखें हैं, हाथ हैं, पैर हैं, श्वास चलती है, शरीर है, बड़ी संपदा है--इस बड़ी संपदा से बहुत कुछ पैदा हो सकता है।
एक बादशाह हुआ। वह बड़ा बेचैन था, बहुत परेशान था। आत्महत्या का उसने विचार किया और घोड़े पर बैठा और जंगल की तरफ गया। वहां उसने एक गड़रिए को भेड़ चराते, एक नौजवान को बांसुरी बजाते देखा। उसके स्वर में कुछ ऐसा जादू था कि उसने घोड़े को रोक लिया और उस युवक से पूछा कि तुम इतनी मस्ती से गीत गा रहे हो, जैसे तुम्हें कोई बादशाहत मिल गई हो। उस युवक ने कहाः भगवान से दुआ करें मेरे लिए कि और कोई भी--चाहे मैंने कोई भी अपराध किया हो, कितने ही पाप किए हों, भगवान से दुआ करें मेरे लिए कि कभी कोई बादशाहत मुझे न दे दे! बादशाह ने पूछाः तू बड़ा पागल मालूम होता है। आखिर तुझे बादशाहत से क्या घबड़ाहट है? उसने कहाः जब तक बादशाहत नहीं होती है, तभी तक आदमी बादशाह होता है और जब बादशाहत आ जाती है, तभी गुलाम हो जाता है।
आज तक दुनिया में किसी ने किसी बादशाह को बादशाह नहीं देखा। हालांकि बहुत से नंगे लोग देखे हैं दुनिया ने जो बादशाह थे। और जिनकी खुशी का कोई ठिकाना न था। जिनके आनंद की कोई सीमा न थी और जिनके अंदर ऐसा संगीत पैदा हुआ कि हजारों साल बीत जाते हैं, वह संगीत फिर भी सुना जाता है। दुनिया में किसी बादशाह के भीतर से कोई संगीत और आनंद उत्पन्न होते नहीं देखा। उसके कपड़े चमकते हैं, उसकी आत्मा बिल्कुल ही जंग खाई हुई होती है। उसका ताज चमकता है, उसकी खोपड़ी के भीतर कोई चमक नहीं होती--कभी नहीं होती, कभी हो नहीं सकती। क्योंकि उसका आग्रह बताता है कि नहीं हो सकती। अगर उसके भीतर चमक होती मस्तिष्क में तो सोना सिर पर रखने का पागलपन उस पर सवार नहीं हो सकता था। जिसके मस्तिष्क में सोना होता है वह सोने के मुकुट पहनने को उत्सुक नहीं रह जाता। कौन पागल पत्थर को ढोएगा? लेकिन जिसके भीतर स्वर्ण नहीं होता, रद्दी सामान भरा होता है वह फिर सोने का मुकुट उस रद्दी सामान को ढांक देता है, सोना पहनने को उत्सुक हो जाता है।
उस युवक ने कहाः क्षमा करें, और भगवान से दुआ करें कि कभी मुझे बादशाह
न बनाए। वह बादशाह और भी हैरान हुआ। उसने कहाः मैं देखता हूं कि तुम्हारे पास फटे कपड़े हैं, काम तुम्हारा इन भेड़ों को चराना है। फिर तुम्हारी खुशी का राज क्या है? उसने कहाः खुशी का राज तो इससे कोई संबंध नहीं रखता कि आपके पास क्या है? जो आपके पास है उसका आप कैसे उपयोग करते हैं, खुशी का राज तो इससे संबंध रखता है। आपके पास क्या है, इससे खुशी का कोई संबंध नहीं; जो आपके पास है उसका आप कैसे उपयोग करते हैं, खुशी का तो इससे संबंध है!
उसने कहाः मेरे पास आंखें हैं, मैं प्रकृति के सौंदर्य को देखता हूं
और आनंदित हो जाता हूं। और मेरे पास ये भेड़ें हैं, इनको प्रेम करता हूं और मेरा हृदय आनंद से भर जाता है। और मेरे पास कौन सी कमी है? मेरे पास स्वस्थ हाथ पैर हैं और मैं दो रोटी कमा लेता हूं। और मैं दिन रात... चांद तारे हैं, जंगल हैं, पहाड़ हैं--मेरे पास कौन सी कमी है। हां, एक ही बात की मेरे पास कमी है जो बादशाहों के पास होती है। मेरे पास चिंताएं नहीं हैं। मैं रात गहरी नींद में सो जाता हूं।
उस बादशाह ने कहाः जा, तू ठीक कहता है। अपने गांव में भी लोगों से जाकर
कह देना कि अचानक इस देश के बादशाह से मेरा मिलना हो गया और उसने भी इस बात की गवाही दी है कि जो यह युवक कहता है, ठीक कहता है। क्योंकि मैं आत्महत्या करने इस जंगल में आया हूं, मैं इस देश का बादशाह हूं। और भगवान करे कि तुझे कभी बादशाहत न दे।
और भगवान करे, मैं आपसे कहता हूं, दुनिया में कभी किसी आदमी को बादशाहत पाने का खयाल ही पैदा न हो। जिसको पैदा हो जाता है, वह बीमार हो जाता है, रुग्ण हो जाता है। उसका जीवन नष्ट हो जाता है। लेकिन हम सब बादशाहत की दौड़ में पड़े हुए हैं। इससे फर्क नहीं पड़ता कि आप क्या होना चाहते है। जब तक आप कुछ भी होने की दौड़ में हैं तब तक आप बादशाह होने की दौड़ में हैं। छोटे-मोटे होना चाहते हैं, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। बुनियादी बात है उसे पहचानना, उसमें आनंदित होना। उसकी जो संभावना है, उसे प्रेम से

विकसित करना। तो जीवन बहुत-बहुत खुशी से भर सकता है। प्रत्येक आदमी का जीवन खुशी से भर सकता है। जैसा उस गड़रिए ने कहा--जो हमारे पास है, उसके उपयोग पर निर्भर करता है।
एक और छोटी कहानी कहूं। जापान में दो फकीर थे। सांझ अपने झोपड़े पर लौटते थे। वर्षा के दिन थे, अभी वर्षा आई-आई थी। आकर उन्होंने देखा, उनके झोपड़े का आधा हिस्सा हवा उड़ा कर ले गई है। एक तो फौरन भगवान के प्रति क्रोध से भर गया और उसने कहाः यह क्या हुआ? अब क्या होगा? वर्षा आ गई, वर्षा सिर पर है, आकाश में बादल मंडराते हैं और हम फकीरों का झोपड़ा हवाएं उड़ा कर ले गईं। आधा झोपड़ा नष्ट हो गया। अब हम कैसे रहेंगे, क्या करेंगे? और उसने कहाः इन्हीं क्षणों में तो भगवान पर शक आ जाता है कि यह है भी या नहीं! पापियों के बड़े-बड़े महल खड़े हैं, उनको उड़ाने का खयाल नहीं आता, गरीबों का झोपड़ा था, उसको उड़ा कर ले गए।
लेकिन दूसरा फकीर... यह पहला फकीर हैरान हुआ--दूसरा फकीर हाथ जोड़े आकाश
की तरफ आंखें बंद किए खड़ा है और भगवान से कह रहा है कि तू धन्य है, तेरी कृपा धन्य है। आंधियों का क्या भरोसा था, पूरा झोपड़ा भी उड़ा कर ले जा सकती थीं। तूने तो आधा बचा दिया। आंधियों का कोई भरोसा है? अंधी होती हैं आंधियां, वह तो पूरा उड़ा कर ले जा सकती थीं, लेकिन तूने आधा बचा दिया। हम फकीरों की तुझे इतनी स्मृति है। हम कितनी कृतज्ञता अनुभव करते हैं।
और रात उसने एक गीत लिखा। रात उसने एक गीत लिखा, कि आज तक हमें पता नहीं था इस आनंद का, जो आधे छप्पर वाले लोगों को मिलता है। आधे छप्पर में हम सोए थे, आधे छप्पर में चांद भी था, वह भी दिखाई पड़ता था। आधा खुला हुआ छप्पर, आधे छप्पर में हम सोए हैं। रात जब भी आंख खुली तो बाहर देखा कि तारे आकाश में हैं, उनका दर्शन किया और शांति से सो गए। आज सुबह मैं जितने आनंद में हूं, कभी भी नहीं उठा। अगर एक सपना भी दे दिया होता भगवान ने, हम खुद ही आधा छप्पर अलग कर देते। आंधियों को अलग करने की जरूरत क्या थी! लेकिन इसका कोई पता नहीं था, उसने कहा।
चीजों को हम कैसे लेते हैं, जो हमारे पास है उसे हम कैसे मन से स्वीकार करते हैं, इस पर सब कुछ निर्भर है। यह शिक्षा हमें गलत मन शुरू से पैदा कर देती है। चीजों की स्वीकृति नहीं आती, बल्कि दौड़ आती है। दूसरों के पास जो है वह खयाल आता है। खुद के पास जो है, उसका कोई बोध नहीं आता। और तब जीवन एक गलत ढर्रे पर शुरू हो जाता है। फिर मृत्यु ही आकर इस दुख से छुटकारा दिला पाती है। फिर इस दुख का कोई छुटकारा नहीं है। यह गलत शिक्षा का परिणाम है। ठीक-ठीक शिक्षा व्यक्तित्व में व्यक्ति के पास जो है उसके विकास को सिखाएगी और कम्पेरिजन को कभी नहीं सिखाएगी। क्योंकि जहां कम्पेरिजन आया वहीं सारी कठिनाई शुरू हो जाती है। लेकिन हमारी सारी दुनिया अभी कंपेरिजन पर खड़ी है।
एक आदमी चमार है, उसका कोई जन्म-दिन नहीं मनाता, लेकिन एक आदमी राजनीतिज्ञ है, उसका जन्म-दिन मनाया जाता है--क्यों? इस राजनीतिज्ञ में क्या खूबियां हैं? कौन सी वजह है? दुनिया का कौन सा हित इससे हो रहा है जिसकी वजह से आप इतने परेशान हैं? नहीं, यह बड़े पदों पर है। इसकी कुर्सी ऊंची है, इसके बराबर की कोई कुर्सी नहीं है। हमने चीजों को गलत ढंग से कंपेयर करके सारा विकृत कर दिया है।
लिंकन का आपने नाम सुना होगा। लिंकन का बाप तो चमार था। अब्राहम जब प्रेसिडेंट हो गया अमरीका का तो कई लोगों को दिल में बड़ा कष्ट हुआ होगा। हमारे मुल्क में कोई चमार हो जाएगा तो हमको बड़ा कष्ट होगा। अब्राहम लिंकन जब प्रेसिडेंट हो गया और जब वह पहले दिन सीनेट में बोलने खड़ा हुआ तो एक आदमी के बरदाश्त के बाहर हो गया। बरदाश्त के तो सबके बाहर था, लेकिन जो शिष्ट थे, सुसंस्कृत थे, वे अपने को जरा दबाए बैठे रहे। एक आदमी ने खड़े होकर कहा कि जनाब, आप अकड़ कर मत बोलो। याद रखो, तुम्हारा बाप जूते सीता था। स्वाभाविक, जूता सीना इतनी बुरी बात है, हालांकि जूते सभी लोग पहनते हैं। पहनना बुरी बात नहीं है, लेकिन सीना बुरी बात है। यह दुनिया जरूर गड़बड़ है। अगर जूता सीना बुरी बात है तो पहनने वाले और बदतर हैं। लेकिन जूते सभी लोग पहनते हैं, लेकिन सीना बुरी बात है। कैसा पागलपन है यह।

लिंकन ने क्या कहा? लिंकन बड़े सोच का आदमी मालूम होता है। लिंकन ने कहा कि जहां तक मैं याद करता हूं, बहुत ठीक मौके पर आपने मुझे मेरे पिता की याद दिला दी। जहां तक मैं याद करता हूं, मेरे पिता इतना बढ़िया जूता सीते थे, जितना बढ़िया जूता सीते मैंने बहुत कम लोगों को देखा। और मुझे खयाल है कि जिन सज्जन ने यह कहा है, उनके घर पर भी मेरे पिता ही जूता सीते थे, क्या मैं पूछ सकता हूं कि उन्होंने कभी गलत जूते सीए? या उनके सीए जूते जल्दी फट गए, या कि उनके जूते झूठे थे, कमजोर थे? नहीं, उन्होंने कहा कि मुझे याद है कि मेरे वक्त मेरे पिता इतने आनंद से जूते सीते थे कि जो भी उनका जूता ले जाता था, वह बहुत खुश होता था। मेरे पिता जितने अच्छे चमार थे, उतना अच्छा प्रेसिडेंट होना मुझे मुश्किल है। उसने कहा, मेरे पिता जितने अच्छे चमार थे उतना अच्छा प्रेसिडेंट होना मेरे लिए मुश्किल है।
अगर शिक्षा ठीक-ठीक हो, सम्यक हो तो चीजों के साथ, कामों के साथ जो पद
और प्रतिष्ठा जुड़ी है, वह विलीन हो जानी चाहिए। एक आदमी जूते सीता है, एक आदमी रोटी बनाता है, एक आदमी मकान... राजगीर है, ईंटें बनाता है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। ये सारे लोग जिंदगी को मिल-जुल कर बना रहे हैं। जिंदगी में सब जरूरी है। इसमें ईंटें बनाने वाले लोग जरूरी हैं, इसमें सड़क साफ करने वाले लोग जरूरी हैं, इसमें एक मुल्क के हुकूमत करने वाले लोग जरूरी हैं। और कोई किसी से कम नहीं है और कोई का ओहदा किसी से नीचा नहीं है। किसी का कोई स्टेटस नहीं है। सारे लोग मिल कर एक सहयोगी जिंदगी को पैदा कर रहे हैं। जिंदगी एक सहयोग है, एक को-आपरेशन है। इसमें कोई ऊपर नहीं है, कोई नीचे नहीं है। एक चपरासी उससे नीचे नहीं है। प्रेसिडेंट से एक चपरासी नीचे नहीं है, और न होना चाहिए। और जब तक चपरासी और प्रेसिडेंट, ऊंचे-नीचे का खयाल रहेगा तब तक मनुष्य के मन को शांति मिलनी बहुत कठिन है। क्योंकि चपरासी तब प्रेसिडेंट होना चाहेगा--स्वाभाविक है, होना चाहेगा! अगर वह खुद न होना चाहेगा, वह अपने बच्चों को बनाना चाहेगा--स्वाभाविक है, वह बनाना चाहेगा।
लेकिन जिस दिन हम कामों की महत्ता को, समग्र जीवन के प्रति उनके सहयोग
और दान के भाव को देख कर स्वीकार कर लेंगे, जिस दिन हमारी शिक्षा कामों से पदों को, प्रतिष्ठाओं को नहीं जोड़ेगी--एक संगीतज्ञ का जो मूल्य है, जूते सीने वाले का भी उतना ही मूल्य है, कपड़े सीने वाले का भी उतना ही मूल्य है। सवाल यह नहीं है कि कौन क्या करता है, सवाल यह है कि कौन, कैसे, क्या करता है।
कबीर था, जुलाहा था, कपड़े सीता था, कपड़े बनाता था। लोगों ने उससे कहाः कपड़े बनाना बंद कर दो, संन्यासी को शोभा नहीं देता। उसने कहा कि नहीं, जब संन्यासी को कपड़े पहनना शोभा देता है तो बनाना शोभा क्यों नहीं देता? सिर्फ फर्क इतना ही हो सकता है कि पहले मैं कपड़े बनाता था तो सोचता था कितना मनुष्य से छीन लूं, कपड़ा बना कर कितना पैसा छीन लूं, ऐसा सोचता था। वह संन्यासी के लिए शोभा की बात नहीं थी। अब जब मैं कपड़े बनाता हूं तो मेरे मन में यही भाव चलता रहता है कि कितना कम लूं और कितना ज्यादा दे दूं। मैं मजबूत कपड़ा बनाता हूं और मेरे मन में वैसे ही आनंद भरा होता है, जैसे कि राम खुद कपड़ा खरीदने आने वाले हैं। वे नाचते हुए अपने कपड़े को लेकर बाजार में जाते थे और नाचते हुए बुलाते थे कि कौन राम आज मेरी इस मेहनत को स्वीकार करेगा, मेरी प्रार्थना को स्वीकार करेगा। जो आदमी उनसे कपड़ा पहनता था उसके पैर छू लेते थे और उसको कपड़ा पहना देते थे कि भगवान, थोड़ा सम्हल कर पहनना। बनाया मैंने बहुत मेहनत से, बहुत प्रेम से, बहुत प्रार्थनाओं से इसको बुना है।
लेकिन कपड़ा बुनना क्या कोई बुरी बात है? जुलाहा होना क्या कोई बुरी बात है? जिंदगी के लिए कोई बात बुरी नहीं हैं, जिंदगी के लिए ये बातें जरूरी हैं, काम जरूरी हैं। कामों के साथ स्टेटस नहीं होना चाहिए, कामों के साथ पद नहीं होना चाहिए। लेकिन शिक्षा बिल्कुल ही गलत है। एकदम ही गलत है! स्कूल में जो चपरासी है उसकी कोई इज्जत नहीं है। फिर बच्चे चपरासी क्यों होना चाहिए? यह युवकों के ऊपर है कि क्रांति लाएं, सारी दृष्टि बदलें। जब

तक यह स्थिति बनी रहेगी, हम चीजों को इन-इन भाषाओं में, इन-इन शब्दों में सोचते रहेंगे, ऊंचे-नीचे की तरह सोचते रहेंगे।
अभी मैं गया, शिक्षक दिवस हुआ। वहां किसी ने मुझे भूल से बोलने बुला लिया। वहां मैं गया, तो उन्होंने कहा कि यह शिक्षक का बहुत सम्मान है कि एक शिक्षक राष्ट्रपति हो गया। मैंने कहा, यह बिल्कुल गलत बात है। शिक्षक का सम्मान शिक्षक के अच्छे होने में है। शिक्षक का सम्मान राष्ट्रपति हो जाने में नहीं है। लेकिन सब शिक्षक राष्ट्रपति होने की दौड़ में पड़ जाएंगे तो बड़ी कठिनाई हो जाएगी। वह दौड़ चल रही है। नहीं राष्ट्रपति हो सकेंगे तो किसी स्टेट के एजुकेशन मिनिस्टर हो जाएंगे, नहीं तो वाइस चांसलर हो जाएंगे, नहीं तो कुछ और हो जाएंगे! यह बात गलत है।
शिक्षक का सम्मान अच्छा शिक्षक होने में है। और अगर एक अच्छा शिक्षक राष्ट्रपति होने में जाता है तो यह शिक्षक का असम्मान है, सम्मान नहीं है। यह तो समझ में आ सकता है कि एक राष्ट्रपति राष्ट्रपति का पद छोड़ दे और शिक्षक हो जाए। यह समझ में बिल्कुल नहीं आता कि शिक्षक शिक्षक का पद छोड़ दे और राष्ट्रपति हो जाए। यह समझ में आने वाली बात नहीं है। क्योंकि शिक्षक और राजनीतिज्ञ में क्या मुकाबला? एक शिक्षक का पतन है यह, कि वह राजनीतिज्ञ हो जाए। एक राजनीतिज्ञ का विकास होगा यह, कि वह शिक्षक हो जाए। शिक्षक एक सरलतम व्यवसाय है, सरलतम वृत्ति है। जीवन की बहुत आधारभूत बात है। शिक्षक कोई व्यवसाय ही नहीं है, बल्कि एक आनंद है, एक सेवा है, एक सृजन है, एक साधना है। उसे छोड़ कर जब भी कोई कहीं भागता है तो सम्मानित नहीं होगा, न सम्मानित होना चाहिए। लेकिन हमारे मन में तो हर तरफ राजनीति और पद महत्वपूर्ण है। हम तो बहुत अजीब लोग हैं। एक छोटे स्टूल पर बैठा हुआ आदमी छोटा हो जाता है।
हमारे एक परिचित थे, उन्होंने एक घटना मुझे बताई। बहुत दिन पहले मद्रास में एक मजिस्ट्रेट थे। कुछ थोड़ा सा सनकी रहा होगा। ऐसे तो सभी लोग सनकी हैं। तय करना मुश्किल है, कौन सनकी, कौन नहीं है। फिर वह कुछ थोड़ा ज्यादा रहा होगा। वह जिस अदालत में बैठता था, बाकी अदालत खाली थी। जब भी कोई आदमी आता तो उसकी स्टेटस देख कर, उसकी स्थिति देख कर, उसका ओहदा और पद देख कर, उसके पास धन, उसकी जेब की गर्मी देख कर वह कुर्सियां बुलवाता। उसने सात नंबर की कुर्सियां बगल के कमरे में रख कर छोड़ी थीं--एक से लेकर सात नंबर तक। एक नंबर का एक छोटा स्टूल था, मोढ़ा था। दरिद्र कोई आदमी आ जाए, आमतौर से तो ऐसे आदमी को बैठने के लिए कहने की जरूरत नहीं होती थी। ऐसे ही टाल देता था। लेकिन फिर भी अगर कोई ऐसा आ जाए कि बैठालना ही पड़े तो वह नंबर एक का मोढ़ा बुलाता था, फिर नंबर दो का था, नंबर तीन का था, फिर कुर्सी थी, फिर और अच्छी कुर्सी थी, फिर और उससे अच्छी कुर्सी थी। ऐसे सात नंबर की कुर्सियां थीं।
एक दफा एक आदमी आया, वह देखने-दाखने में गरीब मालूम पड़ता था तो उसने, पहले तो टाल देना चाहा कि खड़े-खड़े बात कर ले, लेकिन उसने आते ही कहा कि फलां गांव का मालगुजार हूं। उसने जल्दी से अपने चपरासी को कहा कि नंबर दो ले आओ। वह चपरासी भीतर गया, नंबर दो को लेकर आता ही था कि तभी उस आदमी ने कहा कि मुझे रायबहादुर की पदवी दी है गवर्नमेंट ने। फिर बीच में चपरासी को कहा कि रुक-रुक, नंबर छह की ले आ। उस मालगुजार ने कहाः आप क्यों परेशान करते हैं? मुझे पता है, आप नंबर सात की ही बुला लें, क्योंकि अभी और भी कई बातें हैं जो मुझे आपको बतानी हैं। अभी आगे भी मेरा वार फंड में और रुपया देने का विचार है। आप नंबर सात की ही बुला लें।
इस आदमी पर हमें हंसी आती है, लेकिन हम सब भी इसी तरह के आदमी हैं। हमारे मन में मनुष्य का कोई आदर नहीं है। है मनुष्य का आदर हमारे मन में? नहीं, हमारे मन में राष्ट्रपति का आदर है, प्रधानमंत्री का आदर है, गर्वनर का आदर है। मनुष्य का कोई आदर है हमारे मन में? निपट मनुष्य का हमारे मन में कोई प्रेम है? खाली मनुष्य, जिसके पास कोई पद, कोई नाम, कोई पदवी, कोई सर्टिफिकेट, कुछ भी नहीं, जिसके खीसे खाली हैं--निपट मनुष्य का हमारे मन में कोई आदर है? और अगर निपट मनुष्य का हमारे मन में कोई भी आदर नहीं है तो

स्मरण रखें, हमारे मन में कोई भी आदर नहीं है, किसी का कोई आदर नहीं है। यह सब ऊंची-नीची कुर्सियों का आदर है।
लेकिन यही शिक्षा हमें सिखाती है! यह शिक्षा हमें सिखाती है इन सारी बातों को। यह सारी शिक्षा जला देने योग्य है। सारा शिक्षा का सर-अंजाम गलत है। तो फिर से पूरे के पूरे नये आधार रखने की जरूरत है। और वे आधार होंगे कि हमें प्रेम सिखाया जाए, प्रतियोगिता नहीं। मनुष्य के प्रति, निपट मनुष्य के प्रति सम्मान सिखाया जाए--पदों, ओहदों के प्रति आदर नहीं। जरूरी है कि कामों के साथ प्रतिष्ठा न जोड़ी जाए। समग्र जीवन सभी लोगों का सामूहिक योगदान है, यह भाव पैदा किया जाए।
और तब इस सारी भाव-भूमि के साथ हमारे व्यक्तित्व में क्या संभावनाएं हैं--बिना किसी कंपेरिजन के, बिना किसी दूसरे से तुलना किए? जैसा मैंने सुबह कहा कि किसी दूसरे से तुलना करने की जरूरत नहीं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में अनूठा है। कोई कहने की जरूरत नहीं है कि तुम फलां आदमी से कमजोर हो या फलां आदमी से बुद्धिमान हो या फलां आदमी से कम सुंदर हो। ये सब तुलनाएं खतरनाक हैं, वायलेंट हैं। इनकी वजह से गड़बड़ पैदा होती है। प्रत्येक व्यक्ति जैसा वह है, हमें स्वीकृत है। उसमें जो संभावनाएं हैं वे विकसित हों।
गुलाब गुलाब है, चमेली चमेली है। एक दरख्त ऊंचा हो जाता है, एक दरख्त छोटा है। एक घास का पौधा है जिसमें घास का छोटा सा फूल खिलता है, लेकिन उसकी भी अपनी गरिमा है, अपना गौरव है, अपना आनंद है। रहस्यपूर्ण और महत्वपूर्ण यह है कि घास का पूरा फूल खिल जाए, अधखिला न रह जाए। यह सवाल नहीं है कि गुलाब के फूल से उसकी तुलना की जाए। गुलाब के फूल का अपना आनंद है खिलने में, घास के फूल का अपना आनंद है खिलने में। एक छोटा सा पक्षी अपना गीत गाता है, एक बड़ा पक्षी अपना गीत गाता है। सवाल यह नहीं है कि कौन ने बेहतर गीत गाया। सवाल यह है कि अपने प्राणों को भर गीत कोई गा सका या नहीं गा सका। किसी से किसी दूसरे की कोई तुलना नहीं है।
प्रत्येक व्यक्ति अनूठी कृति है परमात्मा की, और उसकी हमें स्वीकृति होनी चाहिए। और यह ध्यान होना चाहिए कि हमारी पूरी शिक्षा, हमारी पूरी संस्कृति और सभ्यता उसके भीतर जो भी छिपा है, उसे निकाल कर बाहर ले आए, उसके भीतर कुछ छिपा न रह जाए। और यह ज्वर के द्वारा नहीं, बीमारी के द्वारा नहीं, प्रतिस्पर्धा के द्वारा नहीं, बल्कि सहज प्रेम और आनंद के द्वारा उसके भीतर के सारे फूल खिल जाएं।
जब व्यक्ति की पूरी क्षमताएं विकसित होकर खिलती हैं तो वह आनंद से भर जाता है। तब उसमें फूल आ जाते हैं, तब उसमें सुगंध निकलती है, तब उसमें शांति उत्पन्न होती है। और ऐसा व्यक्ति ही फिर परमात्मा को, सत्य को खोज सकता है, जान सकता है। ऐसा मन ही फिर सत्य की कोई अनुभूति को उपलब्ध हो सकता है। इस जीवन में जो शांत है वही, और प्रगाढ़तर गहरे जीवन में प्रविष्ट हो सकता है। इस जीवन में जो अशांत है और जो प्रतिस्पर्धा में है, वह अशांत होगा ही। जो इस जीवन में शांत है, जिसका मन अपने को स्वीकार करता है, जिसका मन अपने फूलों को खिला कर आनंद और सुगंध से भर रहा है, धीरे-धीरे उसे परमात्मा की खबर खुद ही आने लगेगी, उसके आस-पास सब तरफ परमात्मा का दिग्दर्शन होने लगेगा। दुखी मनुष्य कभी भी परमात्मा को नहीं जान सकता। जब भीतर सारे... सारे आनंद के द्वार खिलते हैं, तभी व्यक्ति को चारों तरफ परमात्मा की अनुभूति होनी शुरू होती है।
शिक्षा का अंतिम आधार तो यही होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा की पूर्णता तक, अपनी आत्मा की अनुभूति तक पहुंच जाए। लेकिन अभी तो हालत यह है कि वह संसार में शांति और सुख भी अनुभव नहीं कर पाता। परमात्मा तो बहुत दूर की मंजिल और यात्रा हो जाती है। फिर अशांति के कारण, परेशान होने के कारण मंदिरों में जाता है, भगवान को पैसे चढ़ाता है, पुजारियों के पैर पड़ता है। यह सब व्यर्थ है, यह सब कोई मतलब नहीं है। अशांति से बचने के लिए भगवान का सहारा लेता है। इलेक्शन में हार जाता है तो फिर भगवान का सहारा लेता है। सफलता नहीं मिलती है तो फिर ताबीज बनवाता है। फिर रेसकोर्स की फिकर करता है, साधु-संन्यासियों के पैर पड़ता है।

मुझसे कोई कल कह रहा था कि आप भी घोड़ों के नंबर बताते हैं कि नहीं? हमारे मुल्क में सभी साधु-संन्यासी बताते हैं। तो मैंने कहाः मैं बड़ा ही कमजोर आदमी हूं और मैं न साधु हूं और न संन्यासी हूं। कैसे घोड़ों के नंबर बताते हैं? साधु-संन्यासी हैं, जो बड़े-बड़े असली महात्मा हैं, जो घोड़ों के नंबर बताते हैं। और अगर परमात्मा से आपकी मुलाकात हो जाए तो वह भी कोई पक्का नंबर घोड़ों का आपको बता दें! मेरी मजबूरी है, मैं तो न ही साधु- संन्यासी हूं, कोई महात्मा नहीं हूं इसलिए कैसे घोड़ों का नंबर बताऊं? लेकिन यह सब दौड़ चलती है। फिर घोड़ों के नंबर हैं और इलेक्शन में जीतने की तरकीबें हैं। वे सब साधु और महात्मा दिल्ली के आस-पास घूमते हैं क्योंकि वहां सब हारे हुए, जीते हुए सब उनके चरण छूते हैं, उपाय पूछते हैं, आगे फिर... ?
अशांत, दुखी, प्रतिस्पर्धा में हारे-जीते, भयग्रस्त लोग, ये सारे के सारे लोग फिर धर्म की शरण में जाते हैं। वह धर्म झूठा हो जाता है। इन सबके वहां पहुंचने का कारण ही अधार्मिक है। धर्म के निकट वही पहुंच सकता है जिसने मन को सब भांति शांत किया हो, जिसका मन सब भांति द्वंद्व-शून्य हो, जिसके मन में कोई संघर्ष न हो, जिसके मन में सबके प्रति समादर और प्रेम हो, जिसके मन में सबके प्रति करुणा हो, ईर्ष्या नहीं। ऐसा व्यक्ति धीरे-धीरे ही अपने आप धर्म के करीब पहुंचने लगता है, उसे किसी मंदिर में जाने की जरूरत नहीं होती। एक दिन परमात्मा खुद उसके मकान पर आ जाता है। एक दिन परमात्मा उसके कंधे पर हाथ रखता है। उसे खोजने की परमात्मा की कोई भी जरूरत नहीं होती। वास्तविक शिक्षा धार्मिक शिक्षा है। लेकिन धार्मिक शिक्षा का यह मतलब नहीं है कि आपको गीता रटवाई जाए और कुरान रटवाई जाए। इन सबसे तो खूब अधर्म दुनिया में फैला। अब इन सब को रटवाने से कुछ भी होने को नहीं है।
अब धार्मिक शिक्षा का मतलब है ऐसा मन, ऐसा माइंड पैदा करना जो नॉन-काम्पिटिटिव हो, नॉन-जेलेस हो, नॉन-वायलेंट हो, हिंसक न हो, ईर्ष्यालु न हो, प्रतियोगी न हो, प्रेमपूर्ण हो, करुणा से भरा हो। ऐसे मन की व्यवस्था देना धार्मिक शिक्षा का अर्थ है। ऐसी धार्मिक शिक्षा फिर आपको हिंदू नहीं बनाएगी, मुसलमान नहीं बनाएगी, जैन नहीं बनाएगी। ये सब तो पागलपन हैं, ये सब तो बीमारियां हैं। कोई स्वस्थ व्यक्ति न हिंदू होता है, न जैन होता है, न मुसलमान होता है--धार्मिक होता है। अगर आप ठीक-ठीक सच में युवा होना चाहते हैं, जिस भांति आपका मन शांत होगा, युवा होगा। ज्ञान को उपलब्ध करना चाहते हैं, इस भांति आपके जीवन में शांति आएगी, ज्ञान आएगा।
ये थोड़ी सी बातें मैंने कहीं, और अगर इनकी भूमिका पर थोड़ा विचार करेंगे, थोड़ा स्वयं व्यक्तित्व को समझेंगे और खुद ही अपने भीतर कि क्या सच में मैं काम्पिटीशन में पडूं, ईर्ष्या में पडूं, या कि शांति के, आनंद के किसी मार्ग को खोजूं, अपने भीतर कोई संभावनाएं जगाऊं, जहां से आनंद की सुगंध फैले? तो आप ठीक-ठीक अर्थों में विद्यार्थी हो सकेंगे। विद्यापीठ तो गलत है, शिक्षा की व्यवस्था गलत है। अब किस पर हम आशा रखें? शिक्षक गलत हैं, शिक्षा की व्यवस्था गलत है--हम किसकी तरफ आंखें उठाएं? कौन यह काम करेगा?
युवक कर सकते हैं। उनमें थोड़ी विद्रोह की अग्नि होती है, थोड़ी चिंगारी होती है--हिंदुस्तान में बहुत बुझी-बुझी है। हजारों साल से यहां युवक पैदा नहीं हुए। यहां विद्रोह की भावना बहुत कम है, यहां रिबेलियन की स्प्रिट नहीं है, राख ही राख है, लेकिन फिर भी युवकों से थोड़ी आशा होती है। कहीं राख में थोड़ी बहुत चिंगारी दबी होगी। उसे थोड़ा झाड़ें, पहचानें, अपने युवक विद्रोह करते हैं, इस सारी व्यवस्था से, इस सारी शिक्षा के सर-अंजाम से, इस सारे ढांचे को तोड़ने के लिए तैयार होते हैं, तो आशा की जा सकती है कि आज नहीं कल हम युद्ध वाली दुनिया को समाप्त कर देंगे, देशों वाली दुनिया को समाप्त कर देंगे। यह सीमाएं, हिंदुस्तान और पाकिस्तान, ये सब मूढ़ताएं हैं, समाप्त कर देंगे। यह हिंदू और जैन की दीवालें गिरा देंगे। एक मनुष्य की संस्कृति का जन्म हो सकता है, लेकिन युवक के ऊपर सवाल है। उसे विद्रोही होना पड़ेगा। उसे बहुत क्रांति का, बहुत बड़ी क्रांति का भार उसके ऊपर है।

शायद मनुष्य के इतिहास में इतने महत्वपूर्ण क्षण कभी भी नहीं आए थे जब युवकों के ऊपर इतनी बड़ी जिम्मेवारी रही हो।
सोचें, क्या उस जिम्मेवारी को हम उठा सकते हैं? अगर हम उठा सकते हैं तो मनुष्य को बचाया जा सकता है। अगर नहीं उठा सकते तो बात सड़ गई है, बात खत्म हो गई है। खबर भर देने की है कि आदमी मर गया। कोई ज्यादा देर नहीं है। डुंडी भर पीटने की है कि आदमी मर गया। राम नाम सत होने में ज्यादा देर नहीं है आदमी के। सारा इंतजाम है आदमी की हत्या का। कभी भी हम खत्म हो सकते हैं, सारी तैयारी है। कोई पचास हजार एटम बम सारी दुनिया में, हाइड्रोजन बम तैयार हैं। इस जमीन को मिटाने के लिए बहुत ज्यादा हैं। इस तरह की सात जमीनें हों, उनको मिटाने के लिए काफी है। तीन अरब आदमी बहुत कम हैं, जितने बम हमारे पास हैं। इक्कीस अरब आदमियों को मारने के लिए काफी हैं।
क्या होगा? एक-एक आदमी को सात-सात बार मारें तो भी हमारे पास इंतजाम ज्यादा है। यह इंतजाम तैयार है। और एक भी राजनीतिज्ञ का दिमाग बिगड़ जाए और दिमाग उनके पचास प्रतिशत पागल हैं। किसी भी क्षण सारी मनुष्यता को वे अपने साथ लेकर डूब सकते हैं। कौन उसको बचाएगा, किसके ऊपर जिम्मेवारी है? मैं नहीं जानता, आपने यह अपेक्षा की होगी--आपके मंडल ने, कि मैं ये बातें आपसे कहूंगा। शायद आप सोचते होंगे, आपको परीक्षा में पास होने की तरकीबें बताऊं, आगे कैसे आप जाएं, कैसे बड़े-बड़े पदों पर पहुंचें, कैसे सफल हो जाएं, सक्सेस कैसे मिले, इसकी कोई तरकीबें बताऊंगा। वे मैं नहीं बताऊंगा। वे काफी बताई जा चुकी हैं। उनकी वजह से हम भोग रहे हैं, बहुत कष्ट भोग रहे हैं।
भगवान करे, आप सफल न हों। सच्चे आदमी बनें। सक्सेस कोई मूल्य नहीं है। भगवान करे, आप किसी पद पर न पहुंचें, आप अपने प्राणों में पहुंचें। वहां कुछ है। भगवान करे, आपके जीवन में किसी दूसरे से कोई स्पर्धा न हो। अपने व्यक्तित्व से प्रेम पैदा हो, उसे जगाएं। भगवान करे, एक नई संस्कृति के बनाने में आप भी एक ईंट बन सकें, इसकी कामना करता हूं।

मेरी बातों को इतने प्रेम और शांति से सुना, उसके लिए बहुत-बहुत अनुगृहीत हूं। उस नये मनुष्य के लिए, जो हम सबके भीतर है, प्रणाम करता हूं। उस भगवान के लिए मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

"युवा और क्रांति" विषय पर विद्यार्थियों के बीच एक प्रवचनः 1968-69

शिक्षा में क्रांति
दसवां प्रवचन

विषबुझी महत्वाकांक्षा

मेरे प्रिय आत्मन्!
एक छोटी सी कहानी से मैं अपनी इस चर्चा को शुरू करना चाहूंगा।
एक सम्राट के द्वार पर बहुत भीड़ लगी हुई थी। और भीड़ सुबह से लगनी शुरू हुई और बढ़ती ही चली गई थी। दोपहर आ गई थी और करीब-करीब सारा नगर वहां इकट्ठा हो गया था। जो आदमी भी आकर खड़ा हो गया, उसने हटने का नाम नहीं लिया। उस सम्राट के द्वार पर कोई बड़ी अनहोनी घटना घट गई थी। सांझ होते-होते तो दूर-दूर के गांव से भी लोग आ गए थे। क्या हो गया था वहां!--और सभी मंत्रमुग्ध खड़े थे!
सुबह ही सुबह एक भिखारी ने आकर भिक्षा मांगी थी सम्राट से। और कहा था,
कि मैं एक ही शर्त पर भिक्षा लेना स्वीकार करता हूं--मेरा जो भिक्षापात्र है, उसे पूरा भर दोगे न! अधूरा भिक्षापात्र लेकर मैं किसी द्वार से जाता नहीं हूं। सम्राट हंस पड़ा था। शायद इस भिखारी को पता नहीं कि वह किस शक्तिशाली सम्राट के सामने खड़ा है। इस पागल को यह शर्त रखने की जरूरत नहीं है कि मैं इसके भिक्षापात्र को भर दूंगा या नहीं भर दूंगा। उसने अपने वजीरों को कहा कि अन्न से नहीं, स्वर्ण-अशर्फियों से इसके भिक्षापात्र को भर दो। उस भिखारी ने दुबारा कहा, लेकिन मेरी शर्त सुन ली है आपने? मैं अधूरा भिक्षापात्र लेकर हटूंगा नहीं। मेरा भिक्षापात्र पूरा ही भर सकते हों तो भिक्षा दें, अन्यथा मैं कोई दूसरा द्वार खोज लूं। सम्राट के अहंकार को बड़ी चुनौती थी। उसने अपने वजीरों को कहा, जाओ, और हीरे-जवाहरातों से इसके भिक्षापात्र को भर दो। और जब तक हीरे-जवाहरात पात्र के बाहर न गिरने लगें, तब तक रुकना मत।
वे वजीर गए। उस सम्राट के पास संपदा की कोई कमी न थी। उसके पास अटूट खजाने थे। एक भिक्षापात्र... हीरे-जवाहरातों से कुछ कम हो जाने को नहीं था। उसने सारी पृथ्वी को लूटा था और अपने खजानों में भर लिया था। लेकिन भिक्षापात्र जैसे ही भरा गया, वैसे ही राजा को भूल पता चल गई थी, वह गलत दांव में पड़ गया था। यह लड़ाई दो सम्राटों के बीच होती तो वह जीत जाता। एक भिखारी से लड़ाई हो गई थी और बड़ी कठिनाई में पड़ गया। जैसे ही उसके वजीरों ने लाकर हीरे-जवाहरातों से उस भिक्षापात्र को भरा, वे हैरान रह गए! हीरे- जवाहरात गिरते ही पात्र में कहीं विलीन हो गए, पात्र खाली का खाली ही रहा। तब एक दौड़ शुरू हुई, वजीर दौड़-दौड़ कर लाने लगे खजानों से हीरे-जवाहरात, और उस भिक्षापात्र में वे सब विलीन होने लगे। इसीलिए भीड़ इकट्ठी हो गई थी और बढ़ती चली गई थी। कोई भी हट न रहा था कि क्या होगा! क्या आज सम्राट एक भिखारी के सामने हार जाएगा?
और सांझ होते-होते सम्राट को समझ में आ गया कि हारने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है। सूरज के डूबने के साथ सम्राट उस भिखारी के पैरों पर गिर पड़ा और कहा, मुझे क्षमा कर दो, भूल हो गई। मैं भूल ही गया इस बात को कि भिखारियों के पात्र को कौन सम्राट कब भर सका है? भूल हो गई! क्षमा कर दो मुझे, मैं हार गया और पराजित तुम्हारे चरणों में पड़ा हूं। लेकिन जाने के पहले एक बात बताते जाना, यह पात्र किन मंत्रों से सिद्ध है? इस पात्र में पड़ी हुई संपत्ति खो कैसे गई? यह पात्र भरता क्यों नहीं है? यह छोटा सा दिखने वाला पात्र, सारी पृथ्वी की संपदा को पी जाएगा क्या? उस भिखारी ने कहाः न तो कोई मंत्रों से सिद्ध है, न कोई रहस्य है इस पात्र का। एक छोटा सा सूत्र है--इस पात्र को मैंने मनुष्य के हृदय से बनाया है। न मनुष्य का हृदय कभी भरता है, न यह पात्र कभी भर सकता है। यह पता नहीं, कहानी कहां तक सच है और सच होने से कोई वास्ता भी नहीं है।
मैं उस शिक्षा को वास्तविक शिक्षा कहता हूं, जो मनुष्य के हृदय के पात्र को भरने की कला में दीक्षित कर दे। बाकी सब शिक्षा अधूरी और भ्रांत और खतरनाक है। आज तक शिक्षा इस कसौटी पर पूरी उतर नहीं सकी है। बल्कि शिक्षित व्यक्ति का पात्र और बड़ा हो जाता है, अशिक्षित से। उसे भरना और

कठिन हो जाता है, और मुश्किल हो जाता है। जितनी शिक्षा बढ़ती है दुनिया में, उतने भिखारी बढ़ते जाते हैं। जितनी शिक्षा बढ़ती है दुनिया में, उतनी महत्वाकांक्षा का, एंबीशन का पात्र बड़ा होता जाता है। वह सारी पृथ्वी की संपदा से भी भरा नहीं जा सकता है। तो शिक्षा मनुष्य को आनंद दे रही है या पीड़ा, तनाव? शांति दे रही है या अशांति? यह आज की शिक्षा का सवाल नहीं है, आज तक की शिक्षा का सवाल है।
यह कोई पुरानी और नई शिक्षा का भेद नहीं है--शिक्षा मात्र पृथ्वी के किसी भी कोने पर और किसी भी युग में मनुष्य को महत्वाकांक्षा सिखाने का ही मार्ग रही है। अब तक शिक्षा ने नॉन-एंबीशस माइंड, महत्वाकांक्षा से शून्य मन पैदा नहीं किया है। महत्वाकांक्षा का ज्वर, फीवर कितना हम भर दें, उतना ही हम व्यक्ति को शिक्षित मान लेते हैं। पहली कक्षा से इस बीमारी की शिक्षा शुरू होती है और अंतिम विश्वविद्यालय की कक्षाओं तक चलती है। पहली ही कक्षा से एक ही पाठ में दीक्षा दी जाती है--महत्वाकांक्षा के पाठ में। और क्या आपको पता है, मनुष्य के मन को जो बीमारियां घेर सकती हैं, महत्वाकांक्षा उनमें सबसे बड़ी है? और क्या आपको पता है, जो आदमी महत्वाकांक्षा के घेरे में घिर जाता है और जिसके प्राणों में महत्वाकांक्षा का ज्वर समाविष्ट हो जाता है, उस जगत में पूरे जीवन दौड़ कर भी कभी शांति और आनंद को उपलब्ध नहीं होता है? क्या आपको पता है कि महत्वाकांक्षा से बड़ा जहर, पाय.जन अब तक नहीं खोजा जा सका है?
लेकिन महत्वाकांक्षा के सिवाय हम और क्या सिखाते हैं? और जो भी हम सिखाते हैं, वह सब महत्वाकांक्षा के केंद्र पर ही खड़ा होता है। बुनियाद में महत्वाकांक्षा होती है। पहले ही वर्ष से बच्चों को हम क्या सिखाते हैं? हम सिखाते हैं दौड़, हम सिखाते हैं आगे निकलने की होड़, हम सिखाते हैं प्रतिस्पर्धा, काम्पिटीशन। हम सिखाते हैं, तुम पीछे मत रुकना, आगे निकल जाना और सबसे प्रथम खड़े हो जाना। ये उपदेश बड़े मीठे मालूम पड़ते हैं। ये उपदेश बड़े मधुर मालूम पड़ते हैं। बाल-बुद्धि के ऊपर इनका प्रभाव भी गहरा होता है। लेकिन, प्रथम आने की दौड़ मनुष्य को विक्षिप्त करती रही है, यह हमें खयाल भी नहीं है।
जीसस क्राइस्ट ने एक अदभुत बात कही है। बहुत सोचने जैसी बात कही है। शायद बहुत कम लोगों के खयाल में यह बात कभी आई होगी। और जीसस के अनुयायियों के खयाल में भी यह बात नहीं आई। क्योंकि जो भी महत्वपूर्ण है, अनुयायी उसे छोड़ देने में, आंख से अलग कर देने में बड़े होशियार होते हैं। जीसस क्राइस्ट ने कहा है, धन्य हैं वे लोग, जो अंतिम खड़े होने में समर्थ हैं। यह सूत्र बड़ा अदभुत है। हम तो उस आदमी को धन्य कहते हैं, जो प्रथम खड़े होने में सफल हो जाता है। हम तो उस आदमी को धन्य कहते हैं, जो सबके आगे पहुंचने में उत्तीर्ण हो जाता है। लेकिन जीसस क्राइस्ट कहते हैं, धन्य हैं वे लोग जो अंतिम खड़े होने में समर्थ हैं। क्योंकि प्रभू का राज्य उन्हीं का होगा। क्या मतलब है अंतिम खड़े होने की सामर्थ्य का? कौन खड़ा होता है अंतिम? और प्रथम खड़े होने की दौड़ का क्या अर्थ होता है? प्रथम खड़े होने की दौड़ ही महत्वाकांक्षा है। छोटी कुर्सियों से बड़ी कुर्सियों पर, बड़ी कुर्सियों से और बड़ी कुर्सियों पर। बड़ौदा से अहमदाबाद, अहमदाबाद से दिल्ली। सारे जगत को एक ही ज्वर में, एक ही बुखार में प्रवेश दिलवाते हैं हम--दौड़ो और आगे निकल जाओ।
राधाकृष्णन शिक्षक से राष्ट्रपति हो गए थे तो सारे हिंदुस्तान के शिक्षकों ने कहा, यह बहुत महान घटना घट गई। शिक्षक-दिवस मनाना शुरू किया। शिक्षकों का बड़ा सम्मान हो गया है। भूल से मुझे भी दिल्ली में एक शिक्षक सम्मेलन में बुला लिया किन्हीं लोगों ने। मैंने उनसे कहा, जिस दिन कोई राष्ट्रपति शिक्षक हो जाए, उस दिन शिक्षक-दिवस मनाना। एक शिक्षक के राष्ट्रपति हो जाने से शिक्षक-दिवस मनाने का कोई भी कारण नहीं है। यह शिक्षक का सम्मान नहीं है, राजनीतिज्ञ का सम्मान है। यह शिक्षक का सम्मान नहीं है, यह पदों की ही महिमा है। तो किसी दिन कोई राष्ट्रपति छोड़ दे अपना पद और कहे, बड़ौदा के न्यू एरा हाई स्कूल में चलो हम शिक्षक हुए जाते हैं। तो उस दिन मना लेना शिक्षक-दिवस। लेकिन उसके पहले रोने के दिन हैं, ऐसे दिन

उत्साह एवं उत्सव मनाने के नहीं। क्यों शिक्षक सम्मानित हो गया किसी के राष्ट्रपति हो जाने से। राष्ट्रपति होना कोई मूल्य है?
लेकिन हम प्रथम खड़े होने का अगर मूल्य मानते हैं तो फिर राष्ट्रपति होने में मूल्य है, क्योंकि वह सारे मुल्क में प्रथम खड़ा हो गया है वह आदमी। हम पहले दिन से ही यह दीक्षा दे रहे हैं कि प्रथम खड़े हो जाओ। अगर पहली कक्षा में तीस बच्चे हैं तो जो प्रथम खड़ा हो जाता है, वह धन्यभागी हो जाता है। जो पीछे छूट जाते हैं वे दुखी, विपन्न हो जाते हैं, हीन हो जाते हैं। क्या आपको पता है दुनिया में इतनी इनफिरिआरिटी कांप्लेक्स, इतनी हीनता किसने पैदा की है? आपके प्रथम खड़े होने की शिक्षा ने। जो कि तीस बच्चों में एक बच्चा प्रथम आ सकेगा, उनतीस बच्चे पीछे छूट जाएंगे। एक बच्चे को प्रथम लाने के लिए उनतीस बच्चों की आत्माओं का घात किया जा रहा है। एक बच्चे को सम्मान देने के लिए उनतीस बच्चे विपन्न किए जा रहे हैं, निराश किए जा रहे हैं, उदास किए जा रहे हैं। एक बच्चे को गौरव देने के लिए उनतीस बच्चों की कुर्बानी हो रही है, यह आपको दिखाई पड़ता है, नहीं दिखाई पड़ता है?
ये जो सफल लोग हैं थोड़े से, इनके पीछे कितने असफल लोगों की पंक्तियां खड़ी हो जाती हैं, इसका कोई बोध है? और ये सफल दस-पांच लोग दुनिया नहीं बनाते हैं, दुनिया बनाते हैं वे सब जो पीछे रह गए और असफल हो गए हैं। उन उदास लोगों से यह दुनिया बनेगी तो यह स्वर्ग नहीं बन सकती है, यह नर्क ही बनना निश्चित है। उन हारे हुए लोगों से यह दुनिया बनेगी तो यह दुनिया अच्छी नहीं हो सकती है।
और जो शिक्षा और जो समाज और जो संस्कृति बहुत बड़े वर्ग को हारा हुआ और पराजित सिद्ध कर देती है, वह संस्कृति स्वागत के योग्य नहीं है, वह शिक्षा भी आदर के योग्य नहीं है। लेकिन हम उस एक को देखते हैं जो सफल हो गया, उनतीस को देखता कौन है जो असफल हो गए हैं। वे अंधेरे में खड़े हो जाएं, वे अपने मुंह छुपा लें। उन्हें देखने की जरूरत क्या? उन पर रोशनी डालने का कारण कहां है? भूल है उनकी, हार गए हैं जो।
लेकिन मैं आपसे कहता हूं, वे उनतीस कितनी ही कोशिश करें, उन तीस में एक
ही प्रथम हो सकता है। उनतीस तो कभी भी प्रथम नहीं हो सकते हैं। उन तीस में से एक ही जीत सकता है, उनतीस तो हारेंगे ही। चाहे वह एक कोई भी हो, इससे फर्क नहीं पड़ता है। वे उनतीस जो हार गए हैं, आपको पता है, उनके मन को कितने बुनियादी घाव आपने पहुंचा दिए? उनके प्राणों की ऊर्जा को आपने शुरू से ही थका हुआ साबित कर दिया। वे शुरू से ही जिंदगी के प्रति आशा से भरे हुए नहीं हैं। निराशा, अपमान से भरे हुए, हताशा से भरे हुए प्रवेश करेंगे। फिर अगर ये हारे हुए लोग क्रोध से भर जाएं और जिंदगी को तोड़ने लगें, और जगह-जगह तोड़-फोड़ करने लगें, और जगह-जगह इनका क्रोध प्रकट होने लगे तो कौन जिम्मेवार है? कौन इसकी जिम्मेवारी लेगा? शिक्षा और शिक्षा की व्यवस्था। और कौन इसके लिए जिम्मेवार होगा?
यह दुनिया में आपको पता है, जिस दिन से शिक्षा बढ़ गई है, उस दिन से युवकों के मन में गहरा विध्वंस का, डिस्ट्रक्शन का भाव पैदा हो गया है? लोग कहते हैं, पहले के लोग बड़े अच्छे थे, वे विध्वंस नहीं करते थे। उसका कुल कारण इतना था कि वे अशिक्षित थे, शिक्षित नहीं थे। और कोई कारण नहीं था। आज भी दुनिया में जहां अशिक्षा है, वहां का युवक शांत है।
क्या मैं यह कह रहा हूं, कि शांति बनाए रखने के लिए दुनिया में अशिक्षा बनाई रखी जाए? नहीं, मैं यह नहीं कह रहा हूं। मैं यह कह रहा हूं कि यह शिक्षा गलत है, हमें कोई और शिक्षा खोजनी चाहिए। आज नहीं कल, इस संबंध में सोचना ही पड़ेगा। नहीं सोचेंगे तो यह शिक्षा ही हमारे आत्मघात का कारण बन सकती है। इसमें पहला स्वर, इस शिक्षा में जो भूल भरा है, वह महत्वाकांक्षा का, एंबीशन का है।
एंबीशन या महत्वाकांक्षा कहां पहुंचाती है मनुष्य के मन को? जब कोई व्यक्ति प्रथम आने के लिए कोशिश में संलग्न होता है तो आपको पता है, वह क्या सीख रहा है? वह क्या कर रहा है? उसके भीतर क्या गुजर रहा है? उसका मन

किस प्रक्रिया से पार हो रहा है, उसके मन में क्या निर्मित हो रहा है? उसको जो खुशी मिलती है प्रथम आकर, आपको पता है कि वह खुशी किस बात पर खड़ी है?
वह प्रथम आने की खुशी नहीं है, वह दूसरों को दुखी करने का सुख है। वह स्वयं के प्रथम आने की खुशी है ही नहीं, वह दूसरों को दुखी करने का आनंद है। जो पीछे छूट गए हैं और जिनकी आंखें आंसुओं से भरी हैं, उन्हीं से वह मुस्कुराहट निर्मित होती है जो प्रथम आने वाले की थी।
महत्वाकांक्षा इसलिए अनिवार्य रूप से हिंसा सिखाती है, वायलेंस सिखाती है। महत्वाकांक्षा हिंसा का गहरे से गहरा परिणाम है। महत्वाकांक्षा के केंद्र पर हिंसा है, वायलेंस है। और फिर जब एक बार युवा होते-होते तक चित्त इसमें दीक्षित हो जाता है, तो फिर जीवन भर इसी दौड़ में दौड़ता है और जीता है। फिर किनके कंधों पर पैर रखने पड़ते हैं, किनकी लाशों को सीढ़ियां बनाना पड़ता है, फिर इसका कोई ध्यान नहीं दिया जा सकता है। जिंदगी छोटी है और प्रथम पहुंचना बहुत जरूरी है। बहुत जरूरी है कि हम प्रथम पहुंच जाएं। क्योंकि जगत उनका गुणगान करता है, जो प्रथम पहुंच जाते हैं। फिर वह यह पूछता ही नहीं कि वह प्रथम पहुंचे कैसे? उनके प्रथम पहुंचने के पीछे क्या-क्या हुआ, यह फिर कोई भी नहीं पूछता! सफलता से कोई प्रश्न ही पूछे नहीं जाते! प्रश्न सिर्फ असफलता से पूछे जाते हैं। असफल आदमी से लोग पूछते हैं, आप असफल कैसे हो गए? सफल आदमी से कोई भी नहीं पूछता कि किन सीढ़ियों को, किन सैनियों को, किन पुलों को पार करके आप पहुंचे हैं। कहीं उन सब सीढ़ियों पर खून के निशान तो नहीं हैं, कहीं उन सब मंजिलों पर लाशें तो नहीं रखी हैं? यह कोई भी नहीं पूछता! सफलता सफल होते ही महिमावंत हो जाती है। तो फिर दौड़ को आदमी दौड़ता रहता है, दौड़ता रहता है। और इसको हम सिखाना शुरू कर देते हैं पहले दिन से!
यह मैं क्यों कह रहा हूं कि प्रथम आने का सुख खुद के प्रथम आने का सुख नहीं है!
एक छोटे से गांव में मेरे एक मित्र रहते हैं। उन्होंने उस गांव में एक बहुत बड़ा आलीशान भवन बनाया था। वे खूब खुश थे जब मैं उनके गांव गया। वे बहुत प्रसन्न थे अपने मकान के बाबत। तीन दिन वहां था तो बार-बार बात करते थे, कैसा आपको लगा? फिर दो वर्ष बाद मैं उनके गांव गया। उनका मकान उतना ही अच्छा था, लेकिन एक गड़बड़ हो गई थी। पड़ोस में उससे भी बड़ा एक मकान खड़ा हो गया था। फिर वे मुझसे बिल्कुल भी नहीं पूछते थे कि इस मकान के बाबत आपका क्या खयाल है? बल्कि बहुत उदास मालूम पड़ते थे। मैंने उनसे पूछा, आप कुछ खिन्न-खिन्न, कुछ उदास-उदास मालूम होते हैं, बात क्या है? उन्होंने कहा, जब से यह बड़ा मकान पड़ोस में बन गया, न मालूम कैसी उदासी मन में छा गई? तो मैंने उनको कहा कि क्या मैं निवेदन करूं, वह जो खुशी थी आपकी, अपने मकान के कारण नहीं थी, बगल में जो झोपड़ियां खड़ी थीं, उनके कारण थी। क्योंकि बगल का महल उदास करने लगा। आपका मकान तो वैसा का वैसा है, उसमें कोई भी फर्क नहीं पड़ा। अगर उसके ही कारण खुशी थी तो खुशी आज भी होती। लेकिन वह खुशी विलीन हो गई। पास में बड़ा मकान खड़ा हो गया। पास में झोपड़ियां थीं, मन बड़ा खुश था।
अमीर आदमी की खुशी अमीरी में नहीं, आस-पास के गरीबों में होती है। सुंदर आदमी की खुशी सौंदर्य में नहीं, पास-पड़ोस छिपे हुए कुरूप चेहरों में होती है, जीते हुए आदमी की खुशी जीत में नहीं, हारे लोगों की कतार में और पंक्तियों में होती है। लेकिन यही हम सिखाते हैं। यही हम कोशिश करते हैं। यही हम श्रम करते हैं। इसके लिए ही हम इतना उपाय और आयोजन करते हैं और अंत में हम यह सिखाते हैं।
और क्या आपको पता है कि जो आदमी प्रथम पहुंच जाता है--थोड़े से लोग ही सही--क्या वे भी सच में आनंदित हो जाते हैं? क्योंकि जिनका आनंद दूसरों के दुख पर खड़ा हो, वे ज्वालामुखी के ऊपर बैठे हुए हैं, वे वस्तुतः आनंदित हो नहीं सकते हैं। और फिर एक बड़ा मजा है। प्रथम होने की यह जो दौड़ है, इसमें आप कितने भी प्रथम हो जाएं, आप अंतिम रूप से प्रथम कभी भी नहीं हो पाते। आज तक दुनिया में एक भी आदमी ऐसा नहीं हुआ, जिसने यह कहा हो, मैं बिल्कुल प्रथम हो गया हूं, अब मुझसे आगे कोई भी नहीं। हुआ है कोई आदमी? सिकंदर, नेपोलियन,

या हिटलर या स्टैलिन की आत्माओं से पूछें? वे पहुंच गए वहां जिसके आगे कोई भी न हो? आज तक एक भी आदमी नहीं पहुंचा।
क्या आपको मालूम है, सिकंदर से मरते वक्त किसी ने कहा था, आपने तो सारी दुनिया जीत ली, आप तो प्रसन्न होंगे! सिकंदर ने कहाः जैसे ही मैं पूरी दुनिया जीतने के करीब पहुंचा, मेरे मन में एक उदासी घिरने लगी कि एक ही दुनिया है केवल, फिर अब आगे क्या करूंगा, दूसरी दुनिया नहीं है। ठीक कहा उसने। एक दुनिया जीत नहीं पाते कि दूसरी दुनिया जीतने को चाहिए। और कोई आदमी प्रथम नहीं हो पाता, इससे आपको कुछ पता चलता है? फेरिये करके एक वैज्ञानिक था जो छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों पर शोध करता था। एक जाति के कीड़े होते हैं, जो हमेशा कतारबद्ध चलते हैं, नेता-कीड़े के पीछे चलते हैं। आदमी जैसी प्रवृत्ति उनकी भी होती होगी। एक नेता होता है, वह आगे चलता है, पीछे कतार बांध कर कीड़े चलते हैं। उस फेरिये ने क्या किया? एक गोल थाली में नेता-कीड़े को चला दिया और पीछे दस पांच कीड़े छोड़ दिए। अब वे गोल थाली में चक्कर लगाना शुरू किए, शुरू किए। अब वे लगाते जाते हैं, नेता चलता जाता है। पीछे उसके वे चलते जाते हैं। कोई अंत आता नहीं, क्योंकि गोल का कोई अंत होता नहीं। गोल चक्कर का कोई अंत हो नहीं सकता। वे चलते जाते हैं। आखिर, तब तक चलते रहते हैं कि फेरिये भी थक गया और वे कीड़े भी थक-थक कर मरने लगे। लेकिन वे चलते जा रहे हैं, वे चलते जा रहे हैं।
आदमी भी किसी गोल चक्कर में चल रहा है, इसलिए कोई कभी पहला नहीं हो पाता। हमेशा पीछे भी कोई होते हैं, आगे भी कोई होते हैं। गोल चक्कर है, उसमें पहले कोई हो ही नहीं सकता। उसमें कितने ही चलते चले जाएं आप, आप पाएंगे कि फिर भी आगे लोग मौजूद हैं। पीछे लोग मौजूद हैं। कोई कभी पहला नहीं हो पाता। और धन्यता हम सिखाते हैं उसको, जो पहला हो जाएगा। तो धन्यता तो नहीं आती, आ जाता है विषाद, आ जाता है फ्रस्ट्रेशन, आ जाती है चिंता, आ जाता है हारा हुआ पन। तो यह तो पहला सूत्र है, जिसके इर्द-गिर्द आज तक की सारी शिक्षा गलत हो गई है।
दूसरा सूत्र, जिसके कारण शिक्षा जीवनदायी नहीं हो पाती, वह है कि हम आदर्श तो सिखाते हैं, लेकिन अब तक व्यक्ति को आत्मनिष्ठ नहीं बना पाए! क्या मतलब है मेरा आत्मनिष्ठता से? शायद आपको खयाल में भी न हो, शायद आपने कभी सोचा भी न हो?
अब तक मनुष्य इस स्थिति में नहीं पहुंच पाया कि वह किसी व्यक्ति को कह सके कि तुम जैसे हो, वैसे ही बन जाओ। हम हर बच्चे से कहते हैं, राम जैसे बन जाओ, कृष्ण जैसे बन जाओ, बुद्ध जैसे बन जाओ। और पुरानी तस्वीरें फीकी पड़ गई हों तो रामकृष्ण जैसे बन जाओ, विवेकानंद जैसे बन जाओ, गांधी जैसे बन जाओ। जैसे कि हर आदमी कोई और बनने को पैदा हुआ है!
कोई आदमी किसी और जैसा बनने को पैदा नहीं हुआ। लेकिन हम आज तक भी यह नहीं कह पाए कि तुम अपने जैसे बन जाओ। यह साहस शिक्षा अब तक नहीं जुटा पाई। इसके घातक परिणाम हुए हैं। जिनकी हमें कल्पना भी नहीं हो सकती, उतने घातक परिणाम हुए हैं। क्योंकि कुछ मनुष्य के जीवन के विज्ञान को समझे बिना यह बात होती रही है। कोई मनुष्य लाख कोशिश करे, तो भी किसी जैसा नहीं बन सकता है। आज तक एक जैसे दो आदमी पैदा नहीं हुए। राम को हुए कितने दिन हो गए, क्राइस्ट को हुए कितना समय बीत गया, बुद्ध को मरे हुए कितना समय हुआ? कितने लोगों ने कोशिश की है कि हम बन जाएं राम जैसे, बुद्ध जैसे, क्राइस्ट जैसे--कोई दूसरा आदमी बन सका है? रामलीला के राम को खयाल में मत ले लेना आप। रामलीला के राम बन सकते हैं आप, लेकिन राम नहीं। और रामलीला का राम एक कुरूपता है, एक अग्लीनेस है। क्योंकि रामलीला का राम झूठा आदमी है। वह अभिनय है, वह आत्मा नहीं है। तो अगर कोशिश करें आप, तो ज्यादा से ज्यादा सफलता इतनी मिल सकती है कि रामलीला के राम बन जाएं। लेकिन तब एक पाखंड में आप गिरेंगे। अपनी आत्मा को खो देंगे, आत्मच्युत हो जाएंगे।
जब भी कोई आदमी किसी दूसरे जैसे बनने की कोशिश करता है तो आत्मच्युत
हो जाता है, अपनी आत्मा के केंद्र से गिर जाता है। इसलिए गिर जाता है कि यह संभव ही नहीं है कि कोई आदमी किसी जैसा बन जाए। प्रत्येक आदमी अद्वितीय, बेजोड़ और यूनिक है। एक-एक आदमी बेजोड़ है। आदमी की तो बात अलग, अगर बड़ौदा की

सड़कों पर से हम एक पत्थर उठा लें और सारी पृथ्वी में खोजें उस जैसा दूसरा पत्थर, तो नहीं मिल सकेगा। एक जैसे दो पत्थर भी नहीं हैं इस बड़ी पृथ्वी पर, एक जैसे दो आदमियों का तो कोई सवाल नहीं। हां, फोर्ड की कारें मिल सकती हैं एक जैसी। मशीनें हो सकती हैं एक जैसी। मनुष्य नहीं हो सकते हैं।
और अभागा होगा वह दिन, जिस दिन हम एक जैसे मनुष्य बनाने में समर्थ हो जाएंगे। उससे बड़े दुर्भाग्य की कोई घटना ही नहीं घट सकती, क्योंकि उस दिन, जिस दिन हम एक जैसे मनुष्य बनाने में सफल हो गए, उसी दिन मनुष्य की आत्मा समाप्त हो जाएगी और मनुष्य एक मशीन हो जाएगा। मनुष्य की विभिन्नता में उसकी मनुष्यता है और जितने विभिन्न मनुष्य इस पृथ्वी पर हो सकें, उतनी ही गरिमा है। लेकिन अब तक हम यह कोशिश करते रहे हैं कि एक ढांचे में आदमी ढल जाए, एक पैटर्न में ढल जाए, एक जैसे आदमी हो जाएं। राम बहुत अच्छे हैं, कृष्ण बहुत प्यारे हैं, गांधी का अपना होने का अलग मजा है। लेकिन कोई दूसरा आदमी उन जैसा होने की कोशिश करे, तो गलती में पड़ता है।
क्यों गलती में पड़ता है?
इसलिए गलती में पड़ता है--कि समझ लें मैं किसी बगीचे में चला जाऊं और वहां जाकर चमेली को कहूं कि चमेली, तू गुलाब हो जा और गुलाब को कहूं गुलाब, तू कमल हो जा। पहली तो बात यह है, बगीचे के फूल मेरी बिल्कुल भी नहीं सुनेंगे। कोई आदमियों जैसे नासमझ नहीं हैं कि हर किसी की सुनने को इकट्ठे हो जाएं। लेकिन यह भी हो सकता है कि आदमी के साथ रहते-रहते कुछ फूल बिगड़ गए हों। सोहबत का असर पड़ता है। जंगल में जो जानवर होते हैं, उनको वे बीमारियां नहीं होतीं, जो आदमियों के साथ रहने वाले जानवरों को होने लगती हैं। सोहबत का असर पड़ता है। और बुरी सोहबत का असर तो जरूर ही पड़ता है। सो आदमी से ज्यादा बुरी सोहबत फूलों को, पशु-पक्षियों को नहीं मिल सकती है। हो सकता है, कुछ फूल बिगड़ गए हों और मेरी बात मानने को राजी हो जाएं, तो उस बगिया में क्या होगा, पता है?
उस बगिया में फूल पैदा होने बंद हो जाएंगे। क्योंकि चमेली अगर गुलाब होने की कोशिश करेगी और गुलाब कमल होने की, तो एक बात निश्चित है, चमेली गुलाब हो नहीं सकती। चमेली के गुलाब होने की कोई संभावना नहीं है। लेकिन चमेली गुलाब होने की कोशिश में चमेली भी नहीं हो पाएगी। सारी ऊर्जा और सारी शक्ति लग जाएगी गुलाब होने के लिए और जो हो सकती थी, वह होने से वंचित रह जाएगी।
आदमियों की बगिया में भी फूल आने बंद हो गए हैं। कभी भूल-चूक से कोई एकाध आदमी के जीवन में फूल लगते हैं। बाकी लोग बिना फूलों के जीते हैं और मर जाते हैं। और इसका जिम्मा किस पर है? इसका जिम्मा है उस शिक्षा पर, उस संस्कृति पर, उस सभ्यता पर, उन सिखावनों पर, जो आदमी को कहती हैं कि तुम फलां जैसे बन जाओ। तुम गांधी जैसे बन जाओ, तुम बुद्ध जैसे बन जाओ। कोई आदमी किसी दूसरे जैसा न बनने को पैदा हुआ है, न बन सकता है, न बनने की जरूरत है। प्रत्येक व्यक्ति को वही बनना है, जो वह बन सकता है। इसलिए शिक्षा चाहिए ऐसी, जो व्यक्ति की छिपी हुई संभावनाओं को खोजने में सहयोगी बने--उसके ऊपर किसी आदर्श को थोपने में नहीं, उसके भीतर जो छिपा है उसे प्रकट करने में, उसे अभिव्यक्ति देने में--उसके भीतर जो है राज, उसके भीतर जो हैं बीज, उनको अंकुरित करने में।
अभी तो शिक्षा पैटर्न है एक, एक ढांचा है। इसलिए बड़ी हैरानी की बात है, इमर्सन ने एक युवक को जो विश्वविद्यालय से शिक्षा पाकर स्नातक होकर निकला था, उसके गांव का पहला युवक था, वह स्नातक होकर आया था, तो इमर्सन भी उसके स्वागत में गया था। गांव के लोगों ने उसके स्वागत में बड़ी-बड़ी बातें कहीं। इमर्सन ने जो बात कही, बड़ी खयाल रखने की है। इमर्सन ने कहाः मैं इस युवक का स्वागत करता हूं, इसलिए नहीं कि यह विश्वविद्यालय की उपाधि लेकर आया है, बल्कि इसलिए कि विश्वविद्यालय से अपनी प्रतिभा बचा कर घर वापस आ गया है। मैं इसका स्वागत करता हूं। विश्वविद्यालय से अपनी प्रतिभा बचा कर लौटना बहुत कठिन मामला है।
पंद्रह-बीस वर्षों की यांत्रिक व्यवस्था से गुजरने पर मिडियाकर आदमी पैदा होते हैं--प्रतिभाशाली नहीं, मिडियाकर! बिल्कुल मध्यवर्गीय

मस्तिष्क पैदा होता है। प्रतिभा नहीं पैदा होती है, बल्कि प्रतिभा कुचल जाती है और दब जाती है, और मर जाती है। और इसको दबने और मरने का और कुचल जाने का कुल कारण इतना है, कुल कारण इतना है कि अब तक हम यह स्वीकार ही नहीं कर सके कि प्रत्येक मनुष्य को स्वयं होने का अधिकार है।
तो पहली बात मैं कहना चाहता हूं, एक ऐसी शिक्षा चाहिए जो महत्वाकांक्षा न सिखाती हो। लेकिन फिर हम क्या सिखाएं, अगर महत्वाकांक्षा न सिखाएं? क्योंकि हम तो एक ही तरकीब जानते हैं कि आदमी को भर दो बुखार कि दूसरे से तुझे आगे निकलना है और नहीं निकला तो पिट जाएगा तू। तो वह भागे, दौड़े और सब लोगों को दौड़ता देखे, उसे कुछ समझ में न आए। भीड़ में दौड़ना पड़े उसे, क्योंकि खड़ा हो तो गिर जाए, तो दब जाए। तो दौड़ना ही पड़े। तो उसे सबकी भीड़ में दौड़ना सिखाएं। तो हम सोचते हैं, ऐसे ही वह कुछ सीख सकेगा। अगर हमने दौड़ न सिखाई तो वह कुछ भी न सीख सकेगा।
मैंने सुना है, काशी से एक कुत्ता दिल्ली की यात्रा किया। और आदमियों
को दिल्ली की तरफ जाते देख कर कुत्तों के दिमाग में भी यह भनक पड़ गई होगी कि दिल्ली चलना चाहिए। तो जो कुत्तों का नेता था, कुत्तों ने उससे कहा कि तुम दिल्ली जाओ। बिना दिल्ली जाए कुछ भी नहीं हो सकता। जमाने बदल गए जब दिल्ली के लोग काशी आते थे, अब तो काशी के लोग दिल्ली जाने लगे हैं--तुम जाओ। उन्होंने बड़ी सभा, समारोह किया, फूलमालाएं पहनाईं और कुत्ता रवाना हुआ। कुत्तों ने खबर कर दी दिल्ली के कुत्तों को कि हमारा नेता आता है, सर्किट हाउस, वहां रिजर्वेशन कर रखना। एक महीना लग जाएगा पहुंचने में, लंबी यात्रा है। लेकिन तय कर लिया है कि दिल्ली पहुंच कर रहेंगे। पहुंचेगा नेता हमारा, व्यवस्था वहां कर रखना।
लेकिन बड़ा मुश्किल हो गया। महीने भर बाद पहुंचने की बात थी, वह नेता
जो कुत्तों का था, सात दिन में ही दिल्ली पहुंच गया। दिल्ली के कुत्ते बहुत हैरान हुए। ऐसे उन्होंने बहुत नेता देखे थे, लेकिन इतनी तेजी से आता कोई नहीं देखा था। सात दिन में आ गया! तो उन्होंने पूछा कि तुम सात दिन में कैसे आ गए, महीने भर का रास्ता, सात दिन में कैसे पार कर लिया! हांफ रहा था वह कुत्ता। उसने कहा कि बताता हूं। काशी से चला था तो यही सोचा था कि महीने भर, शायद और भी ज्यादा दिन लग जाएं। लेकिन काशी के कुत्ते जहां छोड़ कर गए थे, दूसरे गांव के कुत्तों ने वहीं से मेरा पीछा किया। वे कुत्ते मुझे दूसरे गांव तक पहुंचा गए। वहां से दूसरे कुत्ते मिल गए, उन्होंने मेरा पीछा किया। मुझे विश्राम का मौका ही नहीं मिला। कहीं ठहर ही नहीं सका। महीने भर की यात्रा सात दिन में पूरी हो गई। लेकिन मेरे मित्रो, यह यात्रा मेरी बिल्कुल ही पूरी हुई जाती है, इतना कहते-कहते वह कुत्ता मर गया। पहुंच तो गया दिल्ली, लेकिन लाश पहुंची दिल्ली, मरा हुआ पहुंचा दिल्ली, तेजी से तो पहुंच गया!
हम भी आदमी को दौड़ सिखा देते हैं और बाकी सारे आदमी उसके पीछे पड़ जाते हैं। कोई उसको विश्राम करने नहीं देता जिंदगी में। पहले मां-बाप पीछे पड़े रहते हैं, फिर पत्नी पड़ जाती है, फिर लड़के-बच्चे पड़ जाते हैं। उसको दौड़ाते रहते हैं। एक दिन दिल्ली पहुंच जाता है बेचारा। लेकिन लाश ही पहुंचती है दिल्ली, कोई जिंदा आदमी नहीं पहुंचता। वहां जाकर श्वास टूट जाती है। दौड़ तो हम सिखा देते हैं, लेकिन पहुंच कोई नहीं पाता इस दौड़ में कहीं भी। दौड़ो और दौड़ो और पहुंचना कहीं भी नहीं है।
क्या इसको हम सम्यक शिक्षा कहें? लेकिन हमारे सामने और शिक्षकों के सामने यही सवाल है कि अगर महत्वाकांक्षा न सिखाएं तो फिर तो कोई चलेगा ही नहीं। सब जड़ हो जाएंगे अपनी-अपनी जगह, कोई गति ही नहीं करेगा। नहीं, मनुष्य और तरह से भी गति कर सकता है। और जीवन में जिन लोगों ने कभी भी गति की है गति, सीधी और सहज--दूसरे की प्रतिस्पर्धा में नहीं, बल्कि अपने आनंद में-- उन लोगों ने गति और तरह से की है। विनसेंट वानगॉग से, एक डच पेंटर से उसके मित्रों ने पूछाः तू किसलिए चित्र बनाता है? क्या इसलिए कि दूसरे चित्रकारों से तू आगे निकल जाए? वानगॉग ने कहाः दूसरे चित्रकार! मुझे आज तक खयाल नहीं आया उनका। मैं चित्र बनाता हूं इसलिए कि चित्र बनाना मेरा

आनंद है। और किसी दूसरे से आगे निकलने का सवाल कहां? अपने से ही आगे निकलता जाऊं रोज, तो काफी है।
बड़ी अदभुत बात कही। अपने से ही आगे निकलता जाऊं रोज तो काफी है। दूसरे
से क्या तुलना, दूसरे से क्या प्रतिस्पर्धा; दूसरे से क्या नाता, दूसरे से क्या संबंध? दूसरा दूसरा है, मैं मैं हूं। कहां तुलना, कहां संबंध, कहां नाता; कौन सी प्रतिस्पर्धा? दूसरा दूसरा होगा, मैं मैं हो पाऊंगा। हर आदमी वही हो पाएगा, जो हो सकता है। दूसरे से लेना-देना कहां है? वानगॉग ने कहाः अपने से आगे निकलता जाऊं, काफी है। और अपने आनंद से चित्रित करता हूं। क्या यह नहीं हो सकता कि गणित कोई इसलिए सीखे और सिखाया जाए कि गणित सीखना उसका आनंद है? क्या यह नहीं हो सकता कि कोई काव्य इसलिए सीखे कि काव्य उसका आनंद है? कोई संगीत इसलिए सीखे कि संगीत उसका आनंद है, उसकी खुशी है? और रोज अपने को अतिक्रमण करने के लिए आगे बढ़ता चला जाए कि कल मैं जहां था, और कल के सूरज ने जहां मुझे छोड़ा, आज का उगता सूरज मुझे वहां न पाए? मैं आगे निकल जाऊं। अपने से ही रोज-रोज स्वयं को अतिक्रमण और ट्रांसेंड करता चला जाऊं, क्या यह नहीं हो सकता? क्या इस भांति की गैर-प्रतिस्पर्धी शिक्षा नहीं हो सकती? आप शायद कहेंगे, हो भी सकती है, लेकिन तब इतने लोग गणित नहीं सीखेंगे, इतने लोग संगीत नहीं सीखेंगे। क्योंकि बहुत से लोग इसलिए गणित सीख रहे हैं कि प्रतिस्पर्धा में बिना गणित के खड़े नहीं हो सकते। निश्चित ही, लेकिन जरूरत क्या है कि बहुत लोग गणित सीखें ही। जो जिनका आनंद हो वे वही सीखें।
अब्राहम लिंकन प्रेसिडेंट हो गया अमरीका का। चमार का लड़का था। अनेक लोगों के मन को बड़ी पीड़ा हुई। चमार का लड़का और प्रेसिडेंट हो गया। जिस दिन, पहले दिन पहला उसने अपना व्याख्यान दिया संसद में, तो एक आदमी ने खड़े होकर कहा कि महाशय अब्राहम, यह मत भूल जाना कि आपके बाप मेरे घर जूते सुधारा करते थे, जूते बनाया करते थे। सारे संसद के लोग हंस पड़े। यह हतप्रभ करने को लिंकन को कहा गया था कि एक चमार का लड़का है, सबको याद दिला दिया जाए, लोग भूल न गए हों। लिंकन ने क्या कहा, मालूम है? लिंकन ने कहा, कि मेरे मित्र ने मेरे पिता की याद दिला दी। ऐसे अवसर पर पिता की याद से मेरा हृदय गदगद हो उठा है। और मैं यह कह देना चाहता हूं कि मेरे पिता जितने अच्छे चमार थे, उतना अच्छा प्रेसिडेंट मैं नहीं हो सकूंगा। वे बड़े लाजवाब आदमी थे। और जिन मित्र ने यह कहा है कि उनके घर के जूते मेरे पिता सुधारा करते थे। मैं उनसे पूछना चाहूंगा, मेरे पिता ने कभी गलत तो नहीं सुधारे जूते, कमजोर तो नहीं सुधारे। उनके जूतों की लोग तारीफ करते थे, वे बड़े कुशल कारीगर थे। और मुझे कोई आशा नहीं कि मैं उतना अच्छा प्रेसिडेंट हो सकूं, जितना अच्छे वे चमार थे।
सवाल यह नहीं है कि आप प्रेसिडेंट हो जाएं या चमार न हों। सवाल यह है,
आप जो भी हो जाएं, वह आपके पूरे प्राणों का आनंद हो--चाहे चमार ही हो जाएं, चाहे एक सड़क झाड़ने वाले हो जाएं, चाहे एक कपड़ा बुनने वाले हो जाएं। कपड़े बुनने की अपनी कुशलता और अपनी कला है, कविताएं बनाने की ही नहीं। और जूते बनाने की अपनी कला है, मूर्तियां बनाने की ही नहीं।
जीवन में जिसका जो आनंद हो, वह उस तरफ चला जाए और उस आनंद में पूरा डूब जाए। और रोज अपने को अतिक्रमण करता जाए।
क्या कभी भविष्य में ऐसी शिक्षा निर्मित नहीं हो सकती? कोई कारण नहीं
है कि क्यों निर्मित न हो? और तब हम एक-एक व्यक्ति को उसका व्यक्तित्व दे सकेंगे। और उसे ज्वर से मुक्त कर सकेंगे। उसे दौड़ से बचा सकेंगे। उसे प्रतिस्पर्धा और हिंसा से बचा सकेंगे। और उसे आत्मनिष्ठ बनाने के लिए दूसरा सूत्र भी हम दे सकेंगे--कि वह स्वयं जैसे होने का!
एक ही जीवन की साधना है कि जो आप हैं, जो छिपा है आपके भीतर, वह आप हो जाएं, तो उसको फुलफिलमेंट उपलब्ध होता है, उसको आप्त-कामता उपलब्ध होती है। जो वही हो पाता है, जो होने को पैदा हुआ है। जब बीज अंकुर बन जाता है और अंकुर जब फूल में खिल जाता है और हवाओं में, सूरज की रोशनी में जब फूल नाचता है, तो उसकी खुशी देखी? क्या है उसकी खुशी? उसकी खुशी है कि वह फूल पूरा खिल सका, फ्लॉवरिंग हो गई, पूरा खिलना हो गया--फिर चाहे वह फूल घास का

फूल क्यों न हो, या कमल का फूल क्यों न हो! आपको पता है, कमल के फूल पर सूरज ज्यादा देर रोशनी नहीं फेंकता कि तुम कमल के फूल हो, बड़े ब्राह्मण हो। वह घास के फूल को यह कह कर अलग नहीं हट जाता कि हट शूद्र रास्ते से, तू भी कहां बीच में आ गया, हम कमल के फूलों को रोशनी देने जा रहे थे। न तो परमात्मा की हवाएं घास के फूल पर कम ठहरती हैं, न सूरज की रोशनी, न आकाश से गिरता हुआ पानी। घास के फूल का अपना अर्थ है इस विराट जगत में और कमल के फूल का अपना अर्थ है। और दोनों के अर्थों में कोई नीचा-ऊपर नहीं है। घास का फूल जब अपनी पूरी मौज में खिल जाता है, तो वह किसी कमल के फूल से छोटा और नीचा नहीं होता। पूरी तरह कमल का फूल खिल जाए और पूरी तरह घास का फूल खिल जाए, तो दोनों पौधों के प्राणों को एक सा आनंद उपलब्ध हो जाता है।
आनंद का संबंध कमल होने और घास के फूल होने से नहीं है। आनंद का संबंध पूरे फ्लॉवरिंग से, पूरे खिल जाने से है।
हर आदमी पूरा खिल सके, आत्म-केंद्रित हो सके; वह जो है, वह हो सके, तो दो सूत्र खयाल में रखें।
एक तो महत्वाकांक्षा से शिक्षा को मुक्त करना जरूरी है और दूसरा, आदर्शों से। दूसरे व्यक्तियों के अनुकरण से, दूसरे लोगों के पीछे जाने से प्रत्येक व्यक्ति को बचाना आवश्यक है, ताकि हरेक अपनी नियति को, अपनी डेस्टिनी को उपलब्ध हो सके। और जिस दिन भी हम ऐसी शिक्षा विकसित करने में समर्थ हो सकेंगे, उसी दिन मनुष्य-जाति के ऊपर एक बिल्कुल नये भाग्य का सूर्योदय हो सकता है। आज तक हम बहुत अंधेरी रात में जीए हैं। और आज तक हम बहुत रुग्ण और विक्षिप्त जीए हैं। और आज तक हमारी स्थिति बिल्कुल पागलों जैसी है। लेकिन, स्वस्थ हो सकता है मनुष्य का चित्त, विकसित हो सकता है, पूरे फूल की तरह खिल सकता है।
शिक्षा के जगत में इन दो सूत्रों पर बुनियादी क्रांति हो जाए तो यह हो सकता है। अन्यथा जो होता रहा है उससे और बड़े परिमाण में पागलपन बढ़ेगा, क्योंकि शिक्षा बढ़ेगी और जिस दिन पूरी पृथ्वी शिक्षित हो जाएगी, उस दिन पूरी पृथ्वी एक बड़े पागलखाने की शक्ल ले ले, तो आश्चर्य नहीं है। आपको पता है? आज जो सर्वाधिक शिक्षित मुल्क हैं, उनमें सर्वाधिक पागल हैं! आज अमरीका पागलों में अग्रणी है। अमरीका में प्रति दिन तीस लाख लोग अपने मानसिक अस्वास्थ्य के लिए चिकित्सा लेते हैं--प्रतिदिन! और यह सरकारी आंकड़े हैं और आप जानते हैं, सरकारी आंकड़े कभी भी सच नहीं होते। और फिर पागलों के संबंध में तो सरकार कभी सच आंकड़े नहीं दे सकती है। बहुत बड़ी संख्या होगी इससे। न्यूयार्क में तीस प्रतिशत लोग बिना नींद की दवाइयां लिए नहीं सो सकते हैं--तीस प्रतिशत! न्यूयार्क के मनोवैज्ञानिकों का कहना है, इस सदी के पूरे होते-होते न्यूयार्क का कोई निवासी बिना दवा लिए नहीं सो सकेगा।
जो न्यूयार्क में इस सदी में होगा, अगली सदी में भारत में हो जाएगा। कोई ज्यादा दिन तक हम पीछे थोड़े रहेंगे। हमारे नेता मानते ही नहीं, वे कहते हैं हमें मुकाबला करना है, पीछे हमको रहना ही नहीं। सबके साथ खड़े होना है, सबके साथ चलना है। कब तक हम पीछे रहेंगे? हमारे नेता मानने को राजी नहीं हैं पीछे रहने को। वे बहुत जल्दी हमें उनके साथ खड़े कर देंगे। उन जैसे मकान हमने बना लिए हैं, उन जैसी मशीनें हम बना रहे हैं। उन जैसा आदमी बनाने में भी बहुत देर हम नहीं करेंगे। वह बहुत जल्दी हो जाएगा। सारी पृथ्वी पर यह होगा।
सभ्यता के बढ़ने के साथ-साथ पागलपन बढ़ा है। होना चाहिए था उलटा, सभ्यता
के साथ-साथ पागलपन कम होता। आदमी ज्यादा सौम्य, आदमी ज्यादा शांत, आदमी ज्यादा सुस्थिर, आदमी ज्यादा अपने में ठहरा हुआ उपलब्ध होता। वह नहीं है। आदमी पागल की तरह अपने से बाहर भटकता हुआ पैदा हो रहा है। और यह रोज बढ़ता चला जा रहा है। इसके परिणाम अंतिम क्या होंगे, कहना कठिन है। खतरा मुझे नहीं दिखाई पड़ता हाइड्रोजन बम से, एटम बम से। उनके बहुत खतरे नहीं हैं। खतरा मुझे नहीं दिखाई पड़ता कि कोई और दुर्घटना मनुष्य का अंत कर देगी। खतरा मुझे यह दिखाई पड़ता है कि मनुष्य इतना अस्वस्थ होता चला जा रहा है कि उसके अंतिम परिणाम क्या होंगे, नहीं कहा जा सकता!

टॉयनबी ने पीछे एक वक्तव्य दिया, और वह बहुत महत्वपूर्ण है। उसने कहा, पिछली सभ्यताएं बाहर के आक्रमणों से नष्ट हो गई थीं। सारी पिछली सभ्यताएं बाहर के, विदेशियों के आक्रमण से नष्ट हो गईं थीं। लेकिन आने वाली और हमारी सभ्यता भीतर से नष्ट हो जाएगी। बाहर से आक्रमण का कोई डर नहीं है। लेकिन भीतर से आदमी जैसा होता चला जा रहा है, रोगग्रस्त, उससे नष्ट हो सकता है। शिक्षा के अतिरिक्त इस रोग को दूर करने के लिए कोई दिशा नहीं है। इसलिए मैंने ये दो छोटी सी बातों पर आपसे अपना खयाल दिया।
नहीं कहता कि मेरी बात आप मान लें। मैं कोई शिक्षक नहीं हूं कि आपको कहूं कि मान ही लें मेरी बात--नहीं तो फेल हो जाएंगे, असफल हो जाएंगे। मैं तो निवेदन कर सकता हूं कि मैंने जो कहा, उस पर आप सोचेंगे, थोड़ा विचार करेंगे। हो सकता है, मेरी बात में कोई सच्चाई मालूम पड़े। और अगर सच्चाई कोई मेरी बात में मालूम पड़ जाए, आपके अपने सोचने-विचारने और मंथन से, तो वह बात मेरी नहीं रह जाती, वह आपकी अपनी हो जाती है। और जो सत्य अपना हो जाए, वही सार्थक है। उसके अतिरिक्त कुछ भी सार्थक नहीं है।

ये मैंने थोड़ी सी बातें कहीं। मेरी बातों को इतने प्रेम और शांति से सुना, उससे बहुत-बहुत आनंदित और अनुगृहीत हूं। और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं। मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

प्राचार्य और शिक्षकों के बीच "शिक्षा व महत्वाकांक्षा" विषय पर
न्यू एरा हाईस्कूल, बडौदाः 10 जनवरी 1968

शिक्षा में क्रांति
ग्यारहवां प्रवचन

अशांति का बीजमंत्र

मेरे प्रिय आत्मन्!
वही विद्या है, जो विमुक्त करे--"सा विद्या या विमुक्तये।"
इस संबंध में ही थोड़ी सी बात आज की सुबह मुझे आपसे कहनी है। बड़ा अदभुत
है यह वचन। बड़ी मौलिक है यह परिभाषा। विद्या की परिभाषा भी यही है और विद्या की कसौटी भी यही है। जो मुक्त करे, वही विद्या है। लेकिन शायद, इसके दूसरे पहलू का आपको कोई खयाल न हो? हम तो मुक्त नहीं हैं। तो जो विद्या हमने पाई है, वह विद्या नहीं होगी, वह अविद्या होगी। हमारे जीवन ने तो कोई मुक्ति नहीं जानी। तो जिन विद्यालयों में हम पढ़े, वे विद्यालय न होंगे, अविद्यालय होंगे। विद्या की तो कसौटी और परिभाषा यही है कि जीवन मुक्ति के आनंद को उपलब्ध हो जाए।
लेकिन जिस विद्या से यह आनंद उपलब्ध न होता हो, उस विद्या को क्या कहें? सारे जगत में विद्या तो बढ़ती जाती है, विद्यालय बढ़ते जाते हैं, विद्यापीठ बढ़ते जाते हैं, विश्वविद्यालय बढ़ते जाते हैं, लेकिन मनुष्य कोई मुक्त होता दिखाई नहीं पड़ता है। वरन मनुष्य और भी बंधता जाता है, और भी जकड़ता जाता है, और भी नीचा गिरता जाता है।
तो बढ़ती हुई यह विद्या, कहीं हम कोई बुनियादी भूल तो नहीं कर लिए हैं?
यह बढ़ती हुई विद्या, कहीं अविद्या तो नहीं है? और, मैं आपसे कहना चाहूंगा, यह अविद्या है। मुझे कोई शक नहीं है कि यह अविद्या है। मुझे निश्चित खयाल है कि जिसे हम विद्या समझ कर सारी दुनिया में प्रचारित कर रहे हैं, वह अविद्या है। क्योंकि उससे मनुष्य की आत्मा मुक्त होती दिखाई नहीं पड़ती, मनुष्य और बंधता हुआ, कारागृह में बंद होता हुआ दिखाई पड़ता है। मनुष्य की जीवन-चेतना ऊपर उठती हुई नहीं मालूम पड़ती है, और नीची जाती हुई मालूम पड़ती है। मनुष्य के प्राण ऊर्जा में बहते हुए, दिव्यता की तरफ गतिमान होते हुए दिखाई नहीं पड़ते हैं। बल्कि और नीचे उतरते हुए, पशुता की तरफ पहुंचते हुए मालूम पड़ते हैं।
ऐसी विद्या में दीक्षित लोगों को हम विद्यावान कहें! जहां यह सारी विद्या फैलाई जा रही है और हम उसके लिए अथक श्रम कर रहे हैं--और बहुत अच्छी भली मंशा से! सारी दुनिया में भले लोग श्रम कर रहे हैं--विद्यापीठ बढ़ें, विद्यालय बढ़ें, छात्रावास बढ़ें, शिक्षा बढ़े, मनुष्य ज्ञानवान हो। लेकिन पिछले दो हजार वर्ष का अनुभव कुछ और कहता है!
एक तरफ ज्ञान बढ़ता है, दूसरी तरफ मनुष्य घटता हुआ मालूम पड़ता है। एक तरफ विद्या बढ़ती है, दूसरी तरफ जीवन की क्षीणता होती मालूम पड़ती है। एक तरफ मनुष्य की बुद्धि विकसित होती है, तो दूसरी तरफ उसकी आत्मा टूटती हुई मालूम पड़ती है। कहीं कोई बुनियादी भूल हो रही है। कहीं कोई आधारभूत गलती हो रही है। कहीं हमारी गति और हमारी यात्रा प्रारंभ से ही भूल भरी हो गई है। तो फिर जिस दिशा में हम जाते हैं, वह दिशा हमें आनंद नहीं ला रही है। आज सारे जगत में पिछली किसी भी सदी से ज्यादा विद्या है, ज्यादा शिक्षा है, ज्यादा विद्यालय हैं। लेकिन आज सारे जगत में पिछली किसी भी सदी से ज्यादा अशांति है, ज्यादा दुख है, ज्यादा पीड़ा है। मनुष्य का जीवन हानि उठाया है, जिसे हम विद्या कहते हैं उससे। हम बहुत भली इच्छा से अपने बच्चों को पढ़ाते हैं, लिखाते हैं, बड़ा बनाते हैं। हमारी कामनाएं, हमारे सपने होते हैं कि वे ऊपर उठें, लेकिन लिखा-पढ़ा कर हम पाते हैं कि वे नीचे उतर गए हैं। अपनी आंखों के सामने हम यह देख रहे हैं और फिर उसी तरह की विद्या को, उसी तरह के विद्यालयों को, उसी तरह के छात्रावासों को हम निर्मित भी करते चले जाते हैं! आदमी से ज्यादा अंधा भी कोई हो सकता है, यह खयाल करना कठिन है; आदमी से ज्यादा भी नासमझ कोई हो सकता है, यह खयाल करना कठिन है। और आदमी ने अपने अतीत के अनुभवों से कोई निष्कर्ष नहीं लिए, कोई परिणाम नहीं निकाले।

एक छोटी-सी घटना मुझे याद आती है। एक गांव में बुद्ध का आगमन हुआ था। जिस सुबह वे गांव में आए, उस गांव में एक गरीब चमार था, सुदास। वह सुदास सुबह ही उठा था। सूरज निकला था और सुदास ने अपनी झोपड़ी के पीछे जाकर देखा, उसकी छोटी-सी तलैया में कमल का फूल खिला था, बेमौसम। अभी ऋतु न थी कमल के खिल जाने की। सुदास ने सोचा, इस फूल को अगर मैं बाजार में ले जाऊं, तो आज जरूर मुझे एक रुपया देने वाला कोई न कोई हिम्मतवर ग्राहक मिल जाएगा-- बेमौसम का कमल का फूल है, कोई न कोई खरीद लेगा। वह इस फूल को तोड़ कर बाजार की तरफ चला, सोचा था, अगर एक रुपया मिल जाए तो मैं धन्य हो जाऊं।
रास्ते पर ही था कि नगर के सेठ का रथ, नगर-सेठ का रथ, रास्ते पर गुजरता दिखाई पड़ा। फूल को देख कर ही नगर-सेठ ने रथ रोक लिया और सुदास को कहा, कितने में दोगे सुदास? सुदास की हिम्मत न पड़ी कहने की कि एक रुपये में दूंगा। इतना ही कहा उसने, बेमौसम का फूल है, जो भी आप दे दें। नगर-सेठ ने कहा, पांच सौ स्वर्ण-मुद्राएं मैं तुम्हें देता हूं लेकिन किसी और को मत बेच देना। फूल दे दो! नगर-सेठ यह कह भी नहीं पाया था कि पीछे से राजा का जो सेनापति था, उसका घोड़ा आकर रुक गया। और उसने सुदास को कहाः सुदास, फूल मैंने खरीद लिया है। और नगर-सेठ जितने पैसे देते होंगे, उससे दस गुना ज्यादा मैं दे दूंगा।
सुदास ने कहाः पागल हो गए हैं आप लोग, मैं तो एक रुपया कहने की हिम्मत
न जुटा पाता था, नगर-सेठ पांच सौ स्वर्ण-मुद्राएं देते हैं, आप दस गुने ज्यादा देंगे! माना कि बेमौसम का फूल है, लेकिन इतना कौन देगा? आप दस गुनी मुद्राएं देंगे, पांच सौ स्वर्ण-मुद्राएं नगर-सेठ देते हैं। यह बात ही चलती थी कि राजा का रथ भी आ गया। और राजा ने कहाः फूल खरीद लिया गया। सेनापति जितने देते होंगे उससे दस गुना ज्यादा मैं दूंगा।
सुदास बोलाः बात क्या है! हो क्या गया है आप लोगों को! जिनसे एक रुपया छूटने की भी मुझे आशा न थी, वे इतना दे सकते हैं एक फूल के लिए! कारण क्या है? राजा ने कहा, तुम्हें पता नहीं, बुद्ध का आगमन होता है गांव में। हम उनके स्वागत को जाते हैं। मैं ही इस फूल को उन्हें चढ़ाना चाहूंगा, बेमौसम का फूल है। उनकी कल्पना भी नहीं हो सकती कि कमल का फूल भी आज कोई चरणों में रखेगा। यह फूल मैं ही चढ़ाना चाहता हूं।
सुदास ने कहाः फिर बेचने का सवाल नहीं, फूल मैं ही चढ़ा दूंगा। यह फूल मैं ही लिए जाता हूं। राजा ने कहा, पागल हो गए हो सुदास! अब तक सुदास सोचता था, राजा पागल हो गया, नगर-सेठ पागल हो गया, सेनापति पागल हो गया। वे तीनों बोले, पागल हो गए हो? जन्म-जन्म की दरिद्रता मिट जाएगी तुम्हारी आने वाली पीढ़ियों की, फूल बेच दो! सुदास ने कहाः मिट गई जन्म-जन्म की दरिद्रता--इस फूल को हम ही चढ़ा देंगे।
वह पैदल ही बुद्ध के आगमन की प्रतीक्षा में नगर के बाहर चला। राजा पहले पहुंच गए, सेनापति पहले पहुंच गए, नगर-सेठ पहले पहुंचे। उन सबने जाकर बुद्ध को कहा कि आज बड़े आश्चर्य की घटना घट गई है। गांव के एक दरिद्रतम चमार ने किसी भी मूल्य पर एक कमल का फूल बेचने से इनकार कर दिया! और उसने कहा कि मैं ही चढ़ा दूंगा। फिर सुदास भी आया, उसने बुद्ध के चरणों में वह फूल रखा।
बुद्ध ने कहाः पागल सुदास, तूने बेच क्यों न दिया? तेरी पीढ़ियों तक की दरिद्रता मिट जाती।
सुदास ने कहाः प्रभु, प्रेम से पैसा बड़ा नहीं होता है। और रुपये में आत्मा नहीं बेची जा सकती। जब तक यह फूल था, तब तक बेचने को तैयार था। जब से आपके चरणों का खयाल आया, बेचने का सवाल ही नहीं रह गया। मैं खुद ही चढ़ा दूंगा। दरिद्र भी तो प्रेम कर सकते हैं? दरिद्र भी तो आदर कर सकते हैं? दरिद्र भी तो श्रद्धा दे सकते हैं? दरिद्रों के पास भी तो कोई आत्मा है? इस फूल को स्वीकार कर लें!
बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को कहाः भिक्षुओ, सुदास पढ़ा-लिखा नहीं है, लेकिन विद्यावान है, शिक्षित है। भिक्षुओ, शिक्षित है सुदास, पढ़ा-लिखा नहीं है। अपठित है, लेकिन विद्यावान है। एक भिक्षु ने पूछाः विद्यावान का आपका अर्थ क्या है? बुद्ध ने कहाः जिसे जीवन में श्रेष्ठतर मूल्यों का बोध

है, जो निम्न मूल्यों को श्रेष्ठ मूल्यों के लिए समर्पित कर सके, वही विद्यावान है और सुदास ने प्रेम के लिए पैसे को ठुकरा दिया।
क्या हम आज के लोगों को विद्यावान कह सकते हैं, जो पैसे के लिए प्रेम
को ठुकरा देते हों? क्या हम आज के लोगों को शिक्षित कह सकते हैं, जिनकी सारी शिक्षा श्रेष्ठतर मूल्यों की हत्या करती हो और निम्नतर मूल्यों को आगे रखती हो? जो क्षुद्र के लिए विराट को खोने को सदा तैयार हों? जो शरीर के लिए आत्मा बेच सकते हों? जिनके लिए धन के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं है। जिनकी आंखों में पद के अतिरिक्त जीवन की कोई यात्रा नहीं है। जिनके जीवन में, जिनके चित्त में व्यर्थ के अतिरिक्त सार्थक का कोई ध्यान नहीं, उन सारे लोगों को विद्यावान कहा जा सकता है?
और ऐसी विद्या मुक्त कर सकती है? ऐसी विद्या मुक्त नहीं करती है। लेकिन वही हमारे सामने है। हम विद्यावान बनाएं लोगों को--इंजीनियर बनाएं, डाक्टर बनाएं, रसज्ञ बनाएं, गणितज्ञ बनाएं। लेकिन ये कोई भी विद्या नहीं हैं। ये सब आजीविका के साधन और उपाय हैं, विद्या नहीं हैं। रोटी और रोजी कमा लेने की व्यवस्था है, विद्या नहीं। और हम इन बच्चों को यूरोप भेजें और अमरीका भेजें और हम सोचते हों, हम बहुत बड़ा काम कर रहे हैं? हम केवल रोटी कमाने की कुशलता उन्हें सिखा रहे हैं, और कुछ भी नहीं। हम उन्हें विद्या नहीं दे रहे हैं। विद्या से हम उनका कोई नाता नहीं जोड़ रहे हैं। विद्या का नाता है, जीवन में श्रेष्ठतर मूल्यों का जन्म, हायर वैल्यूज क्या हैं जीवन में, उनका जन्म? उनका अगर जन्म होता है तो मनुष्य जरूर मुक्त होता है। उनका अगर जन्म होता है तो मनुष्य जरूर आनंद से भरता है। जितना जीवन ऊंचा उठता है, उतना ही मुक्त होता है। जितना जीवन श्रेष्ठ की ओर गति करता है, उतने ही बंधन गिरते चले जाते हैं।
बंधन हैं क्या? नीचाइयों के बंधन हैं।
जंजीरें हैं क्या? नीचाइयों की जंजीरें हैं।
मुक्ति क्या है? ऊंचाई पर यात्रा मुक्ति है, ऊंचे से ऊंचे उठ जाने की, रोज स्वयं को अतिक्रमण कर जाने की, रोज स्वयं को ट्रांसेंड कर जाने की।
ऊंचाई की यात्रा विद्या है।
लेकिन हम स्वयं के अतिक्रमण को सिखाते हैं? हम सिखाते हैं, स्वयं के
भर लेने को, हम सिखाते हैं स्वार्थ को। हम सिखाते हैं सेल्फिशनेस, हम सिखाते हैं शोषण। हम सिखाते हैं, अपने मन को भर लेना किसी तरह, अपनी आकांक्षाओं को पूरा कर लेना, अपनी वासनाओं को कुशलता से सिद्ध कर लेना। और हम सोचते हैं, हम विद्या दे रहे हैं। इससे ज्यादा व्यर्थ और कोई धारणा नहीं हो सकती।
एक बहुत पुराने गुरुकुल में तीन विद्यार्थी अंतिम परीक्षा उत्तीर्ण
कर लिए थे। लेकिन उनका गुरु बार-बार कहे जाता था, तुम्हारी एक परीक्षा शेष रह गई है। फिर अंतिम दिवस आ गया, दीक्षांत समारोह हो गया, उन तीनों युवकों को उनकी उपाधियां दे दी गईं। फिर वे सोचने लगे, अंतिम परीक्षा शेष रह गई, क्या शेष ही रह जाएगी? अंतिम परीक्षा हुई नहीं और उपाधियां भी दे दी गईं! पर उन्होंने चुप ही रह जाना ठीक समझा। शायद गुरु भूल गए। शायद हम एक परीक्षा से बच गए हैं। फिर वे अपनी चटाइयां, अपनी लंगोटी, अपनी किताबें लेकर सांझ गुरु के चरणों में सिर रख कर विदा हो गए।
रास्ते में वे सोचने लगे, लेकिन अंतिम परीक्षा क्या हुई? सांझ घिरने लगी, सूरज नीचे उतरने लगा। रात और घना जंगल, वे तेजी से भागे जा रहे हैं। रात होने के पहले उन्हें गांव में पहुंच जाना है। खतरनाक है, बीहड़ है रास्ता। जंगली जानवर हैं, सूरज ढल गया है, बिल्कुल अंधेरा उतरने लगा है, और तभी एक झाड़ी के पास पगडंडी पर बहुत कांटे पड़े हैं।
एक युवक छलांग लगा कर बाहर निकल गया, दूसरा युवक रास्ते से नीचे उतर
कर पार कर गया। लेकिन तीसरे ने अपनी किताबें नीचे रख दीं और उन कांटों को बीन कर फेंकने लगा। उसके दो मित्रों ने कहाः पागल हुए हो! रात उतरती है, सांझ हो गई है, अंधेरा उतर आएगा और हमें जल्दी गांव पहुंच जाना है। यह समय कांटों के बीनने का नहीं है। यह अवसर नहीं, उठो और चलो। देर हो गई तो खतरा हो सकता है। उस तीसरे युवक ने कहाः मित्रो, अगर सूरज होता और दिन होता तो

बीनने की कोई बहुत फिक्र नहीं थी, जो भी आते, वे भी देख लेते कि रास्ते पर कांटे हैं। लेकिन अब हमारे बाद जो भी इस रास्ते से गुजरेगा, कांटे उसे दिखाई पड़ने वाले नहीं हैं। और हम देखते हुए कांटों को निकल जाएं, तो सारी शिक्षा व्यर्थ हो गई। मैं कांटे बीनता हूं, तुम चलो।
उन दो को पता भी नहीं था, कि झाड़ी से गुरु निकल आएगा। झाड़ी में गुरु छिप कर बैठा था। वे कांटे बिखराए गए थे, यह अंतिम परीक्षा थी। उस गुरु ने कहाः बेटो, तुम जो दो पार करके निकल गए हो, वापस लौट चलो, तुम अंतिम परीक्षा में असफल हो गए हो। और जिसने कांटे बीने हैं, वह जाए।
जीवन के रास्तों पर कांटे बीनने की कला जिसे आ गई, वह शिक्षित हो गया,
वह विद्यावान हो गया। और जो दूसरों के रास्तों से कांटे बीनेगा एक न एक दिन वह दूसरों के रास्तों पर फूल बिछाने की क्षमता को भी उपलब्ध हो जाता है। और जो आदमी दूसरों के रास्तों पर कांटे देख कर आंख बचा कर निकल जाता है, एक न एक दिन वह दूसरों के रास्तों पर कांटे बिछाने की पात्रता भी उपलब्ध कर लेता है।
वापस लौट चलो दोनों। तीसरे युवक को कहा कि तू उत्तीर्ण हो गया है, तू जा! उनकी कल्पना में भी न रहा होगा कि अंतिम परीक्षा यह होगी!
अंतिम परीक्षा हमेशा प्रेम की परीक्षा है। अंतिम मूल्य हमेशा प्रेम
का मूल्य है। जीवन की श्रेष्ठतम ऊंचाइयां प्रेम की ऊंचाइयां हैं। जीवन के हिम-शिखर, जीवन के गौरीशंकर, जीवन के एवरेस्ट प्रेम के एवरेस्ट हैं। जिसे हम विद्या कहते हैं, वह प्रेम सिखाती है? कोई प्रेम का पता नहीं है हमारी विद्या को। विद्या प्रेम नहीं सिखाती, उल्टा अहंकार सिखाती है। अहंकार और प्रेम, दो विरोधी मूल्य हैं।
जहां अहंकार है वहां प्रेम नहीं, जहां प्रेम है वहां अहंकार नहीं। विद्या सिखाती है अहंकार और बचपन से ही अहंकार को तीव्र करने के हम सब आयोजन करते हैं! पहली कक्षा में ही बच्चे भर्ती होते हैं और हम कहते हैं, प्रथम आ जाना। जो प्रथम आ जाता है, वह पुरस्कृत होता है। जो अंतिम रह जाते हैं, वे अपुरस्कृत हैं। वे जीवन के रास्ते पर उपेक्षित पड़े रह जाते हैं। तीस बच्चे होंगे पहली कक्षा में तो एक बच्चा प्रथम आएगा, और उनतीस--उनतीस पीछे रह जाएंगे। उनतीस की उदासी पर, उनतीस के दुख पर एक का सुख खड़ा होगा। यह हम विद्या सिखा रहे हैं! उनतीस की पीड़ा पर, उनतीस की दीनता और हीनता पर, उनतीस के फ्रस्ट्रेशन पर, उनतीस के हारे हुए होने पर एक की विजय खड़ी होगी-- यह हम विद्या सिखा रहे हैं!
और जो प्रथम आ गया है, उसका आनंद यह नहीं होता है कि मैं प्रथम आ गया हूं, उसका आनंद यही होता है कि मैंने दूसरों को प्रथम नहीं आने दिया है, पीछे छोड़ दिया है। हम वायलेंस सिखा रहे हैं, हिंसा सिखा रहे हैं। हम हिंसा सिखा रहे हैं! हिंसा का एक ही अर्थ होता है--दूसरे के दुख में सुख अनुभव करने के सिवाय हिंसा का कोई अर्थ नहीं होता है। न तो पानी छान कर पीने से कोई हिंसा से बचता है और न रात भोजन न करने से कोई हिंसा से बचता है। हिंसा का एक ही अर्थ है मौलिक--हिंसा का अर्थ है, दूसरे के दुख में सुख।
और हम क्या सिखाते हैं बच्चों को? हम सिखाते हैं दूसरों के दुख में सुख अनुभव करना। अगर एक कक्षा में एक ही विद्यार्थी हो और वह प्रथम आ जाए, तो उसे कोई खुशी नहीं होती। उस कक्षा में तीस विद्यार्थी हों तो खुशी बहुत बढ़ जाती है, उनतीस को पीछे छोड़ने की, दुखी करने की। उस कक्षा में तीन हजार विद्यार्थी हों, खुशी और बढ़ जाती है। उस कक्षा में तीन लाख विद्यार्थी हों तो खुशी का कोई ठिकाना नहीं। उस कक्षा में तीन करोड़ हों तब तो बहुत ही आनंद उपलब्ध होता है। राष्ट्रपति बन जाने से भी वही आनंद उपलब्ध होता है--चालीस करोड़ में प्रथम हो जाने का आनंद। राजनीति इसीलिए तो हिंसा है, क्योंकि राजनीति है प्रथम होने की दौड़।
धर्म बिल्कुल दूसरी ही दिशा है, विद्या बिल्कुल दूसरी ही दिशा है।
जीसस क्राइस्ट ने कहा है, धन्य हैं वे लोग जो अंतिम खड़े होने में समर्थ हैं। बड़ी अजीब बात है। या तो जीसस क्राइस्ट पागल हैं, या हम सब पागल हैं--हम सब जो विद्यालय चलाते हैं और विद्या पढ़ाते हैं, और शिक्षक हैं!

जीसस क्राइस्ट कहते हैं, धन्य हैं वे लोग जो अंतिम खड़े होने में समर्थ हैं और हम सिखाते हैं, धन्य हैं वे लोग जो प्रथम खड़े होने में समर्थ हैं! प्रथम होने की दौड़ सिखाते हैं हम! प्रथम होने की दौड़ कभी किसी को मुक्त नहीं कर सकती, क्योंकि कुछ बुनियादी कारण हैं। पहली तो बात यह है कि जो प्रथम होने की दौड़ में पड़ता है, वह द्वंद्व में पड़ता है, वह कांफ्लिक्ट में पड़ता है, वह संघर्ष में पड़ता है, वह युद्ध की शुरुआत कर रहा है। वह दूसरों से शत्रुता ले रहा है। जो शत्रुता ले रहा है, वह कभी मुक्त नहीं हो सकता, शत्रुओं से बंधा रह जाता है। केवल वही मुक्त होता है जो सबका मित्र है। और सबका मित्र वही हो सकता है जो किसी की प्रतिस्पर्धा में नहीं है, किसी के काम्पिटीशन में नहीं है।
मित्रता का और क्या अर्थ है कि मैं किसी की प्रतिस्पर्धा में नहीं हूं! शत्रुता का और क्या अर्थ है कि मैं प्रतिस्पर्धी हूं! मेरी विजय, या तुम्हारी विजय, यही विकल्प हैं। या तो मैं, या तुम! दोनों के साथ होने का कोई अर्थ नहीं है।
हम प्रतिस्पर्धा सिखाते हैं! बचपन से ही जहर डालते हैं प्रतिस्पर्धा का, हिंसा का, महत्वाकांक्षा का, एंबीशन का! और फिर हम सोचते हैं, ये विद्यालय हैं! ये अविद्यालय हैं, अविद्या के केंद्र हैं। यहीं मनुष्य के मन में पाय.जन, जहर डाला जाता है। यहीं मनुष्य के मन को बचपन से विकृत और विक्षिप्त किया जाता है। यहीं पर इनसेनिटी सिखाई जाती है और फिर वह जीवन भर पागल की तरह दौड़ता है। फिर उसकी दौड़ कुछ भी हो--चाहे वह दौड़ धन में आगे निकल जाने की हो, चाहे वह दौड़ पद में आगे निकल जाने की हो, चाहे वह दौड़ दिल्ली पहुंच जाने की हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन हम दौड़ सिखाते हैं, दौड़ का फीवर, दौड़ का ज्वर सिखाते हैं। ज्वर से कभी कोई स्वस्थ नहीं हो सकता।
मैंने सुना है, काशी के एक कुत्ते को दिल्ली की यात्रा का खयाल पैदा
हो गया। आदमियों को रोज-रोज दिल्ली की तरफ जाते देख कर कुत्तों को भी खयाल पैदा हो जाए तो कोई आश्चर्य तो नहीं। जमाने बदल गए, जब दिल्ली से लोग काशी आया करते थे। अब तो सब काशी से दिल्ली की तरफ जाते हैं! तो कुत्तों ने सोचा कि हम भी अपने प्रतिनिधि, अपने नेता को भेज दें दिल्ली। और उन्होंने अपने एक कुत्ते को दिल्ली भेजने का निर्णय किया। और दिल्ली के कुत्तों को खबर की कि हमारा यह कुत्ता दिल्ली आता है, वहां सर्किट हाउस में रिजर्वेशन कर रखना। एक महीना लग जाएगा कुत्ते को दिल्ली की पैदल यात्रा करने में। कुत्ता कोई भारतीय दिमाग का रहा होगा, पुराने ऋषि-मुनियों की गति से चलता होगा? पैदल ही चलता था। एक महीना लग जाएगा।
दिल्ली के कुत्ते इंतजार करते रहे। वैसे भी उनको नेताओं के स्वागत की पुरानी आदत है। रोज-रोज का अनुभव है। और अब अपना ही नेता आता था तो उन्होंने बड़ा समारोह, बड़ा आयोजन किया। लेकिन वह कुत्ता सात दिन में ही पहुंच गया। दिल्ली के कुत्ते तो बहुत हैरान हुए! नेता उन्होंने आते देखे थे, लेकिन इतनी तीव्रता से कोई नेता दिल्ली नहीं पहुंचता कि सात दिन में ही पहुंच जाए! बड़ी लंबी यात्रा है, दिल्ली बहुत दूर है! जीवन के अंत-अंत तक आदमी दिल्ली पहुंच पाते हैं। इसलिए तो दिल्ली कब्र बन जाती है। वहां से लौटने का मौका मुश्किल से ही किसी को मिलता है। लेकिन कुत्ता सात दिन में आ गया! आदमियों से भी ज्यादा चालाक मालूम होता है। वे सब हैरान थे, उन्होंने पूछाः तुम सात दिन में कैसे आ गए?
उस कुत्ते ने कहाः मत पूछो यह, हमारे जाति भाइयों ने सात दिन में यात्रा पूरी करवा दी। काशी के कुत्तों ने जहां मुझे छोड़ा, दूसरे गांव के कुत्ते मेरे पीछे पड़ गए। उन्होंने दूसरे गांव तक छोड़ा, दूसरे गांव के कुत्ते मेरे पीछे पड़ गए। मुझे विश्राम का मौका ही नहीं मिला। मैं कहीं ठहरने की सुविधा नहीं पा सका। मैं सीधा ही, बिना रुके, नॉन-स्टॉप दिल्ली पहुंच गया हूं। लेकिन इतना कहते-कहते ही उस कुत्ते के प्राणांत भी हो गए। क्योंकि नॉन-स्टॉप जो यात्रा करता है, वह मृत्यु में ही जाता है, जीवन में नहीं। लेकिन कुत्ते ने यात्रा पूरी कर ली--ज्वर दौड़ने का, और दौड़ाने वाले लोग चारों तरफ!

हम बच्चों के साथ यही करते हैं। उनसे कहते हैं, दिल्ली जाओ। और फिर सारे लोग उनके पीछे पड़ जाते हैं। बचपन में मां-बाप पीछे पड़े रहते हैं। बड़े होते हैं तो पत्नी पीछे पड़ जाती है। बूढ़े होते हैं तो लड़के-बच्चे पीछे पड़ जाते हैं--कि आगे जाओ, आगे जाओ, आगे जाओ! दिल्ली पहुंचना बिल्कुल जरूरी है। दिल्ली बिना पहुंचे कोई जीवन का अर्थ नहीं है। एक ज्वर पैदा करते हैं हम बच्चों के आस-पास। ज्वर में दीक्षा देते हैं। फीवर पैदा करते हैं। और ज्वर जितना तीव्र हो बच्चा उतने ही पागलपन से दौड़ना शुरू कर देता है। इसको हम जीवन की गति कहते हैं!
यह गति जीवन को मुक्त करेगी? यह गति मृत्यु में ले जा सकती है, मुक्ति में नहीं। और हममें से अधिक लोग मरते हैं, मुक्त नहीं होते हैं। मुक्त होने का मार्ग बिल्कुल दूसरा है। वह विद्या मुक्त करेगी, जो महत्वाकांक्षा से शून्य और रिक्त हो, जो नॉन-एंबीशस हो, जो महत्वाकांक्षा पैदा न करती हो। लेकिन हम कहेंगे कि अगर महत्वाकांक्षा पैदा न करे विद्या तो फिर आदमी आगे कैसे बढ़ेगा?
पहली तो बात यह है कि आगे बढ़ना कोई मूल्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि आगे बढ़ने के और भी सूत्र, और भी मार्ग हैं--एक तो आगे बढ़ना होता है, दूसरे से आगे बढ़ना। और एक आगे बढ़ना होता है, अपने से आगे बढ़ना। मैं जहां कल था, उससे आज आगे निकल जाऊं। यह प्रतिस्पर्धा मेरी मुझसे है, आपसे नहीं। कल जहां सूरज डूबा और मुझे छोड़ गया, आज सुबह उगे सूरज, तो मुझे वहीं न पाए। मैं अपने से आगे बढ़ जाऊं, सेल्फ-ट्रांसेंडिंग हो जाऊं, अपना अतिक्रमण कर जाऊं।
वह विद्या मनुष्य को मुक्त करती है, जो स्वयं से अतिक्रमण, स्वयं के
पार होने की कला सिखाती है। वह विद्या मुक्त नहीं करती है, जो दूसरों से प्रतिस्पर्धा और दूसरों को पार करने की कला सिखाती है।
स्मरण रहे, दूसरों को पार करने में जो पड़ जाता है वह जीवन भर दौड़ता रहता है, और कहीं नहीं पहुंचता। क्योंकि दूसरे हमेशा आगे मौजूद होते हैं, जिनको पार करना शेष रह जाता है। अगर कोई मनुष्य अपने को पार करने की गति में, अपने को पार करने की दिशा में संलग्न हो, तो एक दिन वहां पहुंच जाएगा, जहां पार करने को फिर कुछ शेष नहीं रह जाता--महावीर वहां पहुंच जाते हैं, बुद्ध वहां पहुंच जाते हैं, जीसस क्राइस्ट वहां पहुंच जाते हैं, कृष्ण वहां पहुंच जाते हैं--जहां स्वयं को पार करने की चरम-अवस्था उपलब्ध हो जाती है; उस चरम-अवस्था का नाम ही परमात्म-अनुभव है, आत्म-अनुभव है, मोक्ष है--जिसके आगे कोई गति नहीं, जिसके आगे कोई दिशा नहीं, जिसके आगे कोई पहुंचना नहीं।
वह अंतिम मंजिल का नाम मोक्ष है। अंतिम मंजिल का नाम मुक्ति है। जब एक व्यक्ति अपने को सब भांति अतिक्रमण कर जाता है और कुछ भी शेष नहीं बचता आगे, तब--तब उपलब्ध होती है मुक्ति!
लेकिन जो लोग दूसरों को पार करने में लगते हैं, वे कभी पार करने की अंतिम मंजिल पर नहीं पहुंच पाते हैं। क्यों? क्योंकि दूसरे बहुत हैं--वे जो "दि अदर" हैं, वे बहुत हैं। उनको पार करना आसान नहीं, संभव नहीं। आज तक कोई आदमी पार नहीं कर पाया है। और कुछ राज हैं, कुछ रहस्य हैं, जिनकी वजह से कभी कोई पार नहीं कर पाता है। क्या आपको पता है, आज तक किसी आदमी ने यह कहा हो कि मैं प्रथम आ गया, अब मेरे आगे कोई भी नहीं? कोई नेपोलियन, कोई सिकंदर, कोई नेहरू यह कहने की हिम्मत कर सकता है कि मैं आगे आ गया, मेरे आगे कोई भी नहीं? कोई भी यह हिम्मत नहीं कर सकता है। कुछ राज है!
एक फूरिये नाम का वैज्ञानिक था। वह गुबरीले जाति के कुछ कीड़ों पर प्रयोग करता था। वे कीड़े बड़े अदभुत हैं। वे कीड़े हमेशा अपने नेता के पीछे चलते हैं और जब तक नेता चलता जाता है, वे रुकते नहीं। उनकी आदत भी आदमियों जैसी है। आदमी के कई रोग दूसरे कीड़े-मकोड़ों में भी हैं, जैसे नेता के पीछे चलना। तो वे कीड़े आदमियों जैसे हमेशा लीडर के पीछे चलते हैं। फूरिये ने एक तरकीब लगाई। उसने एक गोल थाली में दस-पंद्रह कीड़े छोड़ दिए। वे कीड़े अपने नेता के पीछे चक्कर लगाने लगे। थाली थी गोल, उसका कहीं अंत आने वाला नहीं था। गोल-गोल चक्कर काटते गए, काटते गए। जब तक नेता न रुके, तब तक अनुयायी नहीं रुक सकते। और जब तक अनुयायी चल रहे हैं, तब तक नेता क्या अपनी बेशर्मी

करे रुक कर? नेता भी चलता जाता है, कीड़े भी चलते जाते हैं। सिकंदर, नेपोलियन भी चलते हैं, अनुयायी भी चलते हैं। आखिर हालत यह हो गई, कि चौबीस घंटे कीड़े चक्कर ही लगाते रहे, रुके नहीं! क्योंकि नेता रुके तो पीछे के कीड़े कहें कि नेता नाकामयाब हो गया, दूसरा नेता चुनो। अगर पीछे के अनुयायी रुक जाएं तो नेता चिल्लाएगा कि कैसे काहिल, कैसे सुस्त! आखिर कीड़े थक-थककर गिरने लगे और मरने लगे। लेकिन उन कीड़ों को यह समझ में न आ सका कि इस यात्रा का कोई अंत नहीं होगा, यह गोल चक्कर में यात्रा चल रही है।
आदमी को अगर हम गौर से देखें, तो आज तक कोई आदमी यात्रा के अंत पर नहीं पहुंचा है। इससे यह पता चलता है कि शायद किसी गोल थाली में हमारी यात्रा चल रही है, जिसमें हम चक्कर लगाते जाते हैं, लगाते जाते हैं। फिर भी आगे कोई होता है, पीछे कोई होता है। न कभी हम पूरी तरह आगे हो पाते हैं, न पूरी तरह पीछे हो पाते हैं। हमेशा आगे भी कोई, पीछे भी कोई--और यात्रा चलती रहती है, और हम थक-थक कर मर जाते हैं। फूरिये के कीड़े ही नहीं, आदमी भी इसी तरह थक-थक कर मर जाते हैं। दूसरे चलने वाले रास्ते से हटा देते हैं उन्हें और अपनी यात्रा शुरू कर देते हैं। लेकिन जो गिर पड़े हैं, कोई भी गौर से नहीं देखता कि कहीं हम भी तो उसी गिरने के मार्ग पर नहीं चलते चले जा रहे हैं। आज तक कोई आदमी होड़ में, काम्पिटीशन में, प्रतिस्पर्धा में प्रथम नहीं हो सका है--कभी हो भी नहीं सकेगा। उस यात्रा का कोई अंत नहीं है। वह गोल चल रही है।
लेकिन एक और यात्रा भी है। और मंजिल आ जाए तो ही कोई मुक्त होता है, जहां यात्रा समाप्त होती है, वहीं मुक्ति आती है। एक और यात्रा भी है--वह स्वयं को अतिक्रमण करने की, स्वयं को निरंतर पार करने की। स्वयं से निरंतर ऊपर उठ जाने की और आगे चले जाने की। किसी दूसरे से उसका कोई भी संबंध नहीं है। किसी दूसरे से उसका कोई भी नाता नहीं है।
विद्या मैं उसे कहता हूं जो दूसरों से आगे बढ़ना न सिखाए, बल्कि स्वयं
का अतिक्रमण, स्वयं से आगे बढ़ना सिखाए।
और जिस दिन कोई आदमी स्वयं से आगे बढ़ने में दीक्षित हो जाता है, उसके जीवन में आनंद के बिल्कुल नये द्वार खुल जाते हैं, जिनका उसे पता भी नहीं था। और जो आदमी दूसरों से आगे होने में दीक्षित हो जाता है, उसके जीवन में रोज-रोज दुख, तनाव और पीड़ा और अशांति के नये-नये मार्ग स्पष्ट होते चले जाते हैं।
स्मरण रहे, दूसरे को पीछे करना, दूसरे को दुख देना है। और जो दूसरों को दुख देता है, वह कभी भी आनंद को उपलब्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि जो हम दूसरों को देते हैं, वही हम पर वापस लौट आता है। जीवन बड़ा अदभुत है, इसमें जो हम जीवन को देते हैं, उसी की प्रतिध्वनियां हमें सुनाई पड़नी शुरू हो जाती हैं।
मैं एक पहाड़ी पर था। और वहां एक ईको-पॉइंट था। जहां आवाज हम करें, तो सात बार आवाज गूंज कर वापस लौटती थी। एक मित्र मेरे साथ उस ईको-पॉइंट पर गए थे। वे मित्र उस ईको-पॉइंट पर कुत्तों के जैसे भौंकने लगे। पहाड़ियां कुत्तों की आवाज से भर गईं। सात गुनी आवाज वापस लौटने लगी। मैंने उन मित्र को कहा, कि क्या उचित न होगा--अगर चिल्लाना ही है, तो क्या उचित न होगा कि कोई गीत गाओ? क्या उचित न होगा--अगर गीत भी नहीं गाना है, तो कोयल की कोई वाणी बोलो? क्या कुत्ते की आवाज करनी ही जरूरी है? और फिर उन्होंने एक गीत गाया और घाटियां गीत की प्यारी ध्वनियों से गूंज उठीं और गीत वापस आने लगा।
फिर मैंने उन मित्र को कहा कि न केवल इस ईको-पॉइंट पर, बल्कि जीवन, पूरा का पूरा जीवन एक ईको-पॉइंट है--जहां हम अगर गालियां बकते हैं तो गालियां वापस लौट आती हैं और अगर गीत गाते हैं तो गीत वापस लौट आते हैं। और अगर हम कांटे फेंकते हैं तो कांटे वापस आ जाते हैं। और अगर फूल बरसाते हैं तो फूल लौट आते हैं।
जीवन एक बड़ी प्रतिध्वनि का केंद्र है--जीवन के भवन में जो हम चिल्लाते हैं, वही वापस आ जाता है। तो अगर हम सिखा रहे हैं, दूसरों को दुख देना, दूसरों को पीछे छोड़ना, दूसरों को उदास करना, दूसरों को पराजित करना; तो

स्मरण रहे, यही सब हम पर वापस लौट आएगा, और जीवन के अंत में यही हमारी संपदा होगी।
यह संपदा कैसे मुक्ति को निकट ला सकती है? यह तो नरक को निकट लाएगी, दुख को निकट लाएगी, पीड़ा को, बंधन को निकट लाएगी।
यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अगर हम किसी के रास्ते पर कांटे फेंकें
तो हम बंधते हैं और अगर हम फूल फेंकें तो हम नहीं बंधते हैं। बंधने का मतलब केवल इतना है कि जब कांटे हम पर लौटते हैं तो दुख लाते हैं और जब फूल हम पर लौटते हैं तो दुख का कोई कारण नहीं रह जाता।

ब्लावट्स्की ने सारी दुनिया में यात्रा की--सारी जगह। उसकी एक अजीब आदत थी। हाथ में एक झोला लिए रहती और बार-बार, चाहे ट्रेन में बैठी हो, चाहे गाड़ी में बैठी हो, झोले में हाथ डाल कर कुछ बाहर फेंकती रहती। लोग पूछते, यह क्या है, क्या फेंकती हैं? ब्लावट्स्की कहती, फूलों के कुछ बीज हैं, रास्ते के किनारे फेंकती हूं। वर्षा आने को है, फिर इन बीजों में अंकुर निकल आएंगे और ये पौधे बड़े हो जाएंगे। और वर्षा में इनके फूल खिल जाएंगे। तो लोग पूछते, बड़ी पागल हो तुम! जिन रास्तों से तुम्हें दुबारा नहीं निकलना, उन रास्तों पर बीज फेंकने का प्रयोजन? और अगर फूल आएं भी तो उनसे मतलब? ब्लावट्स्की कहती कि नहीं, जिन रास्तों से मैं गुजर रही हूं, उन पर किन्हीं दूसरे लोगों के फेंके गए बीजों के फूल आए हैं और उनसे मैं आनंदित हो रही हूं। उनका ऋण हो गया मेरे ऊपर। उस ऋण को मैं कैसे चुकाऊं? उन रास्तों पर बीज फेंक दूं; जिनसे मैं तो नहीं निकलूंगी, लेकिन कभी कोई निकलेगा और आनंदित होगा। और फिर मुझे इससे फर्क नहीं पड़ता कि कौन देखेगा उन फूलों को और कौन आनंदित होगा? मैं तो कल्पना भी करती हूं, कि फूल आ गए हैं और कोई आनंदित हो रहा है तो मेरा प्राण गदगद हो उठता है, मैं आनंद से भर जाती हूं।
कभी आपने कल्पना की है इस बात की कि क्या आपके द्वारा किसी को आनंद उपलब्ध हो रहा है? कल्पना में भी अगर आपको खयाल आ जाए कि किसी के प्राण आपके कारण आनंद से भर रहे हैं, किसी के अंधकारपूर्ण हृदय में आपके कारण प्रकाश का दीया जल रहा है, तो उसकी कल्पना से भी आपके प्राण आनंदित हो उठेंगे। वस्तुतः जब ऐसा होता है तब तो जीवन बड़े आनंद में प्रतिष्ठित हो जाता है। लेकिन हम तो दिन-रात दूसरे के दुख की, दूसरे की पराजय की, दूसरे को हरा देने की योजना और कामना में लगे रहते हैं। परिणाम में हमारा दिल, हमारी आत्मा, हमारा हृदय अगर दुख और अंधकार से भर जाता हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यह तो सीधा गणित है। यह तो दो और दो चार जैसी सीधी बात है, यह तो होगा ही।
मैं किसे विद्या कहूं? कौन सी विद्या है--जो मुक्त करती है? वह विद्या
जो मनुष्य को आत्मा के निकट ले जाती है, सत्य के निकट ले जाती है। और कौन ले जाएगा सत्य के निकट? कोई दूसरा आपको ले जाएगा? नहीं, कोई दूसरा नहीं ले जा सकता। आपको ही अपना सतत परिष्कार करना होगा। रोज-रोज निखारना होगा अपने भीतर के सोने को। रोज-रोज अग्नि से गुजरना होगा, ताकि कचरा जल जाए और स्वर्ण शेष रह जाए। आत्म-परिष्कार, आत्म-साधना स्वयं से निरंतर ऊंचे उठते जाना है--जो विद्या यह सिखा देती है, वह विद्या मुक्तिदायी बन जाती है।
ये थोड़ी सी बातें मैंने कही, अंत में एक बात और कहूं और अपनी चर्चा पूरी करूंगा।
मनुष्य के जगत में जो भी दुख, जो भी अंधकार, जो भी घृणा और हिंसा पैदा हुई है, वह अविद्या को विद्या समझ लेने से पैदा हुई है। और अगर मनुष्य के जीवन को परिवर्तित करना है तो स्पष्ट भेद करना होगा--क्या है अविद्या और क्या है विद्या?
जो आजीविका सिखाती है, जो लिविंग देती है, रोटी-रोजी देती है, वह है अविद्या।
और जो जीवन सिखाती है, लाइफ देती है--लिविंग नहीं, लाइफ; आजीविका नहीं, जीवन--वह है विद्या।

और हमें अविद्यालय भी खोलने चाहिए और विद्यालय भी खोलने चाहिए। अविद्यालय खोलने चाहिए कि वहां लोग रोटी-रोजी कमाना सीख सकें। क्योंकि आदमी बिना रोटी के नहीं जी सकता है। लेकिन अकेली रोटी से भी आदमी नहीं जी सकता है। हमें अविद्यालय भी खोलने चाहिए और हमें विद्यालय भी खोलने चाहिए। अभी तो हम सभी अविद्यालयों को विद्यालय कहते हैं और महावीर जैसा प्यारा नाम भी लगा लेते हैं, कहते हैं कि महावीर विद्यालय! अभी महावीर के नाम लगाने लायक कोई विद्यालय जमीन पर नहीं है--अभी देर है बहुत! अभी सब विद्यालय आदमियों के हैं। अभी महावीर का कोई विद्यालय नहीं है। लेकिन हो सकता है, अगर हम चाहें तो जरूर हो सकता है। किसी दिन हो सकें--महावीर के विद्यालय, बुद्ध के, क्राइस्ट के, उनके जिन्होंने जाना और जीवन को जीया और पाया। वे हो सकें किसी दिन, इसकी परमात्मा से और आपसे प्रार्थना करता हूं।

मेरी बातों को इतने प्रेम और शांति से सुना, उससे बहुत अनुगृहीत हूं।
और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं। मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

"सा विद्या या विमुक्तये" विषय पर
बिड़ला क्रीड़ा केंद्र, बंबईः 23 सितंबर 1968

शिक्षा में क्रांति
बारहवां प्रवचन

विद्रोह की आग

मेरे प्रिय आत्मन्!
जरथुस्त्र एक पहाड़ से नीचे उतर रहा था। वह बहुत तेजी में था, जैसे कोई बहुत जरूरी खबर पहाड़ के नीचे ले जानी हो। भागता हुआ और हांफता हुआ वह बाजार में पहुंचा, मैदान में नीचे। बाजार की भीड़ में चिल्ला कर उसने पूछा कि तुम्हें कुछ पता चला? हैव यू गाट दि न्यूज, तुम्हें खबर मिली? लोग पूछने लगे, कौन-सी खबर? तो जरथुस्त्र हैरान हो गया--इतनी बड़ी घटना घट गई है और तुम्हें पता नहीं! तुम्हें खबर नहीं मिली कि ईश्वर मर गया है! लोग बहुत हैरान हुए। फिर जरथुस्त्र को लगा कि शायद वह जल्दी आ गया है, लोगों तक अभी खबर नहीं पहुंची है। मैं यह घटना पढ़ रहा था और मुझे लगा कि लोगों तक कोई भी महत्वपूर्ण खबर कभी भी नहीं पहुंचती है। और जो भी खबर लाते हैं, उन सभी को ऐसा लगता है कि शायद वे समय से पहले आ गए हैं, जल्दी आ गए हैं।
मैं भी आपसे पूछना चाहता हूं, क्या आपको पता है? खबर मिली कि भारत मर गया है? शायद आप भी चौंकेंगे और कहेंगे यह कैसी खबर? आपको भी पता नहीं चला होगा कि भारत मर गया है। लेकिन, शायद हजारों साल हो गए मरे हुए इसलिए पता नहीं चलता है। शायद यह बात इतनी पुरानी हो गई है, इतनी लंबी घटना घट गई है, इस बात को हुए कि अब कोई याद नहीं आती। लेकिन मैं आपसे यह कहना चाहता हूं कि भारत बहुत पहले मर गया है।
इकबाल ने गीत गाया है कि "कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।" मैं
उस गीत को पढ़ रहा था तो मुझे लगा कि हस्ती भी हो, तो मिट सकती है। और हस्ती मिट ही गई हो और मिटने को कुछ न बचा हो तो अब क्या मिट सकता है? आखिर आदमी जिंदा हो तो मर सकता है और मर ही गया हो, तो फिर मरने का कोई उपाय नहीं है। आदमी के पास बुद्धि हो तो विक्षिप्त हो सकता है। पागल होने के लिए भी बुद्धि होनी जरूरी है। बुद्धि न हो तो आदमी पागल भी नहीं हो सकता है। आदमी स्वस्थ हो तो बीमार पड़ सकता है, लेकिन स्वास्थ्य ही पास न हो, तो बीमारी कैसी!
कहीं ऐसा तो नहीं है कि भारत की हस्ती नहीं मिटती, इसका असली कारण यही
हो कि भारत की हस्ती बहुत पहले मिट चुकी है, अब मिटने को भी हमारे पास कुछ नहीं बचा है! इस खबर से ही अपनी बात शुरू करना चाहता हूं।
यह देश हजारों साल से एक मरा हुआ देश है और इस देश को पुनरुज्जीवन, नया जीवन, नई आत्मा खोजनी है। निश्चित ही शिक्षक इस खोज में सहयोगी बन सकता था, लेकिन आज तक बना नहीं है, वह भी जान लेना जरूरी है। बन सकता है, बना नहीं है। अब तक तो शिक्षक मशालची सिद्ध नहीं हुआ है नई जिंदगी का। अब तक तो वह पुराने मुर्दा समाज का ही एजेंट रहा है। वह जो मर गया समाज है, वह जो मर गई परंपराएं हैं, वह जो सड़ गई दुनिया है अतीत की, शिक्षक उसको ही, उस दुनिया को ही नई पीढ़ी के मस्तिष्क में डालने का अब तक साधन, मीडियम और माध्यम रहा है। शिक्षक नये जगत, नये जीवन, नई मनुष्यता के जन्म का माध्यम बन सकता है, लेकिन बना नहीं है। अब तक नहीं बना है। शिक्षक की इस सचाई को पहले समझ लेना जरूरी है।
शिक्षक का आज तक का काम क्या रहा है? समाज ने शिक्षक से आज तक कौन सा काम लिया है?
कहता समाज यही है कि शिक्षक से हम बच्चों को शिक्षा और ज्ञान देने का काम लेते हैं। लेकिन बहुत गहरे में समाज पुरानी सारी बीमारियों, सारे अज्ञान, सारे अंधविश्वास को भी शिक्षक के माध्यम से नई पीढ़ी के भीतर डाल देने का काम लेता है। समाज बरदाश्त नहीं करता कि शिक्षक क्रांतिकारी हो। समाज चाहता है कि शिक्षक कभी भी क्रांतिकारी न हो। क्योंकि जिस दिन शिक्षक क्रांतिकारी होगा, उसी दिन समाज रूपांतरित हो जाएगा, नया समाज पैदा हो जाएगा। शिक्षक का क्रांतिकारी होना, पूरे समाज के बदल जाने का बुनियादी कारण बन सकता है। इसलिए शिक्षक को हमेशा प्रतिक्रियावादी, प्रतिगामी और रिएक्शनरी बनाए रखने की चेष्टा की गई है। उसे बहुत सम्मान

दिया जाता है, यह सच है, लेकिन सम्मान भी शिक्षक को समाज तभी तक देता है, जब तक उसमें क्रांति की कोई किरण नहीं दिखाई पड़ती। क्रांति की किरण दिखाई पड़ेगी कि समाज शिक्षक की गर्दन दबाना शुरू कर देगा।
यह जान कर आपको हैरानी होगी कि दुनिया में शिक्षक के जगत से न कभी कोई क्रांतिकारी विचार पैदा हुआ है, न कोई नया दृष्टिकोण, न कोई नई दृष्टि पैदा हुई है। शिक्षक के पूरे समूह को--जो कि एक बड़ा समूह है और सबसे ज्यादा सबल, सबसे ज्यादा शक्तिशाली समूह है, क्योंकि उसके हाथ में नई पीढ़ी का सारा मस्तिष्क और पूरी आत्मा है--शिक्षक के इस पूरे समूह को सदा क्रांतिकारी होने से बचाने की चेष्टा समाज ने की है, कि क्रांतिकारी न हो जाए। यह क्रांतिकारी होगा तो पुराने समाज और नये समाज के बीच एक दरार पड़ जाएगी, क्योंकि शिक्षक ही हस्तांतरण करता है पुराने समाज को नये समाज तक। शिक्षक बीच की कड़ी है जिससे अतीत भविष्य में प्रवेश करता है। शिक्षक के हाथ में बहुत कुछ है, कि वह क्या करे; लेकिन शायद उसे क्रांति का अग्रवाहक होने का खयाल भी नहीं है।
अब तक तो शिक्षक ने नई पीढ़ी के मस्तिष्क को पुरानी पीढ़ी के साथ समायोजित करने की चेष्टा में ही सारा श्रम लगाया है और पुरानी पीढ़ी की जो मान्यताएं हैं, दृष्टि है, विश्वास है, वह नई पीढ़ी के मन में प्रविष्ट कर देने की कोशिश की है। पुरानी पीढ़ी के विचार नई पीढ़ी के खून में पहुंच जाएं, इसकी चेष्टा की है। पुरानी पीढ़ी शिक्षक को इसीलिए सम्मान देती है। यह आदर और सम्मान इसीलिए है कि शिक्षक ही आधारभूत बनता है, कारण बनता है पुराने अतीत को बचाने में। जिस दिन शिक्षक विद्रोही होगा, उस दिन दुनिया में हर रोज नया समाज पैदा हो सकता है। हर पीढ़ी नई जिंदगी की तरफ आंखें उठा सकती है।
लेकिन शिक्षक विद्रोही नहीं है। और मेरी दृष्टि में जो शिक्षक विद्रोही नहीं है, वह शिक्षक ही नहीं है, उसने शिक्षक होने का अधिकार ही खो दिया है। क्योंकि कोई शिक्षक, शिक्षक कैसे हो सकता है, जो विद्रोही न हो! विद्रोही हुए बिना ज्ञान की दिशा में आंखें ही नहीं खुलती हैं। विद्रोही हुए बिना मनुष्य की आत्मा अपनी खोल को तोड़ कर कभी बाहर ही नहीं आती है। विद्रोही हुए बिना कोई जीवन के साथ कभी पैर मिला कर चलने में समर्थ ही नहीं होता है।
और जो ज्ञान, जो शिक्षा व्यक्ति की स्वतंत्र आत्मा को जन्म न दे सकती
हो उसे शिक्षा कहें, उसे ज्ञान कहें? वह बोझ होगी, जानकारी होगी, इनफर्मेशन होगी, लर्निंग होगी, लेकिन शिक्षा नहीं है। शिक्षा तो आविष्कार बनना चाहिए आत्मा का, लेकिन वह नहीं होता। अब तक शिक्षक ने विद्रोही का रुख अख्तियार नहीं किया है। इसलिए पुराना सड़ा-गला समाज चला जाता है, जिंदा बना रहता है, जिंदा बना रहता है। जो मर चुका है, वह भी किसी न किसी रूप में जिंदा बना रहता है।
भारत में तो यह घटना बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण हो गई है। भारत ने तो अपने वस्त्र ही नहीं बदले, आत्मा को नया करने की तो बात ही दूर है। भारत का तो सारा इतिहास क्रांति-शून्यता का इतिहास है। कोई क्रांति नहीं, कोई परिवर्तन नहीं। और जब कोई समाज क्रांति से नहीं गुजरता, तो उस समाज की जिंदगी एक बहती धारा नहीं रह जाती है, एक बंद डबरा हो जाती है, जो सड़ता है, गंदा होता है। कीचड़ मचती है, दुर्गंध फैलती है, लेकिन बहाव, प्रवाह कोई भी नहीं है। एक जिंदगी तो होती है नदी की तरह, दौड़ती हुई सागर की तरफ, अज्ञात सागर की तरफ--पहाड़ों को चीरती हुई, घाटियों को पार करती हुई, अनजान मैदानों को लांघती हुई। एक तो नदी की जिंदगी होती है सागर की तरफ और एक तालाब की जिंदगी भी होती है अपने में बंद, कहीं न जाती हुई।
भारत के समाज की जिंदगी एक तालाब की जिंदगी हो गई है। एक नदी की जिंदगी नहीं है। हां, तालाब की जिंदगी एक अर्थों में सुरक्षित होती है, सिक्योर होती है--न कहीं जाना है, न कोई तकलीफ है; न रास्ते की अड़चने हैं, न अनजान रास्तों की भटकने हैं; न पहाड़ों को पार करना है, न अज्ञात सागर, जो मिलेगा या नहीं मिलेगा, उसके सपने देखने हैं--अपनी जगह बंद, अपनी जगह निश्चिंत। तालाब का अपना सुख है। भारत तालाब का सुख भोग रहा है, सरिता का

संघर्ष नहीं है। और इस सुख भोगने के हम इतने आदी हो गए हैं कि हमने अब किसी भी तरह के खतरे को उठाना हजारों साल से बंद कर दिया है।
लेकिन ध्यान रहे, जो समाज खतरों को उठाना बंद कर देता है, वह समाज धीरे-धीरे अपनी ज्योतिशिखा को क्षीण कर लेता है। खतरों के मुकाबले में ही ज्योति जगती है भीतर की। नीत्शे अपनी टेबल पर एक तख्ती रखे हुए था। उस तख्ती पर दो शब्द लिखे हुए थे। और जब भी कोई उससे पूछता कि तुम्हारी जिंदगी का सारभूत, तुम्हारी जिंदगी का सार आ जाए, ऐसी कोई बात क्या है? तो वह तख्ती को बता देता। उस तख्ती पर लिखा हुआ था--लिव डेंजरसली, खतरे में जीओ।
सच बात तो यह है कि खतरे में जीने पर ही जीवन का पता चलता है। सुरक्षा में जीने पर जीवन का पता ही नहीं चलता। और इसलिए कब्र में जो रहते हैं, वे बहुत सुरक्षित जीते हैं। वहां कोई खतरा नहीं है। तालाब की जिंदगी खतरे से बचने की जिंदगी है। लेकिन तालाब सड़ता है, पुराना पड़ता है, नष्ट होता है, गंदा होता है। भारत में भी सैकड़ों वर्षों से सुरक्षा की एक जिंदगी चुन ली है। अपनी खोल बना लिए हैं, उसके भीतर हम बैठ गए हैं। न हमें दुनिया के विस्तार में प्रवेश करना है, न हमें चांद-तारों की यात्राएं करनी हैं, न हमें कहीं जाना है। हम अपने घर से बंधे हुए हैं। हम आदमी कम, वृक्षों की तरह ज्यादा हैं, जिनकी जड़ें जमीन से बंधी हैं। और जो वहीं अटके रह गए हैं, वहां से हिलते-डुलते भी नहीं हैं। और हर बेटा अपने बाप की जगह पकड़ लेता है। पीढ़ी दर पीढ़ी यह जगह पकड़ते चले जाते हैं। पुनरुक्ति होती चली जाती है। आदमी बदलते चले जाते हैं, लेकिन समाज वैसा का वैसा है, जैसा था।
अगर हजार साल पहले का कोई आदमी आज भी भारत के गांव में आ जाए तो उसे कोई अड़चन नहीं होगी। कोई तबदीली उसे मालूम नहीं होगी--वही सब, वैसा सब, जैसा था। और हम इससे बहुत सुखी भी होते हैं। हम कहते हैं, हमारे नेतागण कहते हैं कि रोम मर गया, यूनान मर गया, इजिप्त मर गया। सीरिया कहां है अब, बेबीलोन कहां है? लेकिन हम? हम हैं। यह हमारी थिरता को हम बहुत सम्मान देते हैं। यह थिरता सम्मान की बात नहीं है, यह थिरता बहुत अपमानजनक है। यह थिरता यह कहती है कि हमारे भीतर परिवर्तन की क्षमता खो गई है। वह परिवर्तन की जो पात्रता है हमारे भीतर, वह खो गई है। हम थिर हो गए हैं। एक पत्थर पड़ा हो गुलाब के फूल के पास। सुबह गुलाब का फूल खिलता है, नाचता है सूरज की रोशनी में, आकाश में उठने की कोशिश करता है, सांझ होते-होते कुम्हला जाता है और गिर जाता है। पास सुबह जो पत्थर पड़ा था, वह जैसा सुबह पड़ा था, वैसा ही सांझ भी पड़ा रहा। वह पत्थर अपने मन में जरूर सोचता होगा--मिट गया फूल, हम जैसे हैं, वैसे ही हैं। कई फूल आए और गए लेकिन हम? हम जैसे हैं वैसे हैं। बड़ा प्रसन्न होता होगा वह पत्थर। लेकिन पत्थर को पता नहीं कि फूल होने का आनंद क्या है! पत्थर को यह भी पता नहीं कि परिवर्तन की पुलक क्या है! पत्थर को यह भी पता नहीं कि जिंदा होना, खिलना, कुम्हलाना और गिर जाना, इसका भी अर्थ है, और राज है, और इसका भी रहस्य है। और पत्थर को यह भी पता नहीं कि मुर्झाते केवल वे ही हैं जो खिलते हैं। और गिरते केवल वे ही हैं जो उठते हैं। और पत्थर को यह भी पता नहीं है कि मरते केवल वे ही हैं जो जीते हैं। अगर मरने से बचना है तो जीने से बच जाओ। अगर गिरने से बचना है तो उठने से बच जाओ। अगर मुर्झाने से बचना है तो खिलना ही मत। लेकिन पत्थर को क्या पता है?
मैंने सुना है, एक बगीचे में एक दिन सुबह बड़ी अजीब घटना घट गई। पत्थरों की दीवाल में दबे हुए घास के कुछ छोटे-छोटे फूल थे। वे दीवाल के पत्थरों की आड़ में ही दब कर जीते थे। न उन्हें तूफानों का पता चलता था, क्योंकि दीवाल सदा ओट बन जाती थी। न उन्हें सूरज की रोशनी का पता चलता था कि कब सूरज उगा, कब डूबा। वे तो अपनी पत्थर की ओट में, अपनी गुफा में छिपे रहते थे। वर्षा आती थी, तो उन्हें पता नहीं चलता था। रात चांद-तारे खिलते थे, तो उन्हें पता नहीं चलता था। लेकिन वे बड़े सुरक्षित थे, कोई खतरा न था। उन घास के फूलों में से एक फूल का दिमाग खराब हो गया और उसने एक दिन झांक कर बाहर देखा कि एक गुलाब का फूल दीवाल के ऊपर आकाश की तरफ उठा हुआ है। उसके मन में भी एक कामना और एक सपना समाया कि मैं भी नहीं बन सकता हूं

गुलाब, मैं भी नहीं उठ सकता हूं ऐसा ही? उसने रात भगवान से बहुत प्रार्थना की कि मुझे गुलाब बना दो। भगवान ने उसे बहुत समझाया कि पागल, तू बहुत सुरक्षित है। गुलाब सुबह खिलता है, सांझ गिर जाता है। तेरा फूल खिलता है तो महीनों खिला रहता है। लेकिन उस घास के फूल ने कहाः वह मैं समझा। मेरा फूल महीनों इसीलिए खिला रहता है कि सच में मेरा फूल खिलता ही नहीं। घास का फूल पहले से ही सूखा होता है, इसलिए कुम्हलाता भी नहीं। नहीं, मुझे तो खिलना है गुलाब की तरह। मखमली गुलाब की कलियों की तरह मेरी भी कलियां हों। नहीं, मुझे इस पत्थर की ओट में नहीं जीना है। मैं तो खुले आकाश में उठना चाहता हूं। एक क्षण को सही, लेकिन उठूं तो, सिर तो उठाऊं।
नहीं माना घास का फूल। पड़ोस के दूसरे फूलों ने भी समझाया कि पागल हो
गए हो, हमारे कुल-परंपरा में ऐसा कभी नहीं हुआ है। यह तो सदा की रीति चली आई है कि हम यहीं रहते हैं, इसी पत्थर के नीचे दबे रहते हैं। हमारे बापदादों ने कभी ऐसा नहीं सोचा। उनके बापदादों ने भी नहीं सोचा। यह कभी बात ही नहीं सोची गई, हमारे पुराणों में कहीं नहीं लिखी है। यह तो क्या पागलपन की बात है? दिखता है तेरा सिर फिर गया है। दूसरों के सत्संग में दिखता है बिगड़ गया है। अपने भीतर रहो, अपनी सीमा में रहो। अपनी जितनी चादर है उतने पैर फैलाओ। यह बाहर पैर फैलाना खतरनाक है। मर जाओगे, देखते नहीं, गुलाब के फूल को कितनी तकलीफें होती हैं? अभी परसों तूफान आया था, तब गुलाब के फूल जमीन पर पड़े थे, देखा? उस दिन जब वर्षा हो रही थी, तब गुलाब के पत्ते-पत्ते रो रहे थे। और जब तेज हवाएं चलती हैं, तो गुलाब की जड़ें तक कंप जाती हैं। हम सब सुरक्षित और आनंदित हैं। और पता नहीं, सुबह खिलता है गुलाब और सांझ पंखुड़ियां गिरने लगती हैं, जब कि हम महीनों खिले रहते हैं।
लेकिन वह घास का फूल नहीं माना। उसने कहा कि नहीं, मुझे तो एक दिन गुलाब होकर देखना है। नहीं माना। और मत मानिए तो भगवान भी क्या कर सकता है? मान जाइए तो ही कुछ कर सकता है। मत मानिए तो भगवान भी क्या कर सकता है? नहीं माना, तो गुलाब का फूल हो गया। सुबह वह जो घास का फूल था, गुलाब का पौधा हो गया। लेकिन, सूरज निकला, आकाश में बादल घिरे, जोर की हवाएं चलने लगीं; वे जो घास के फूल नीचे थे, वे झांक-झांक कर चिल्लाने लगे कि देखा पागल, अब मरोगे। क्षण भर के सुख के लिए शाश्वत सुख खो दिया। क्षण भर के लिए, गुलाब होने के लिए, वह सुरक्षा खो दी, जो सदा के लिए अपनी थी। बादल गरजने लगे, पानी गिरने लगा, तूफानी हवाएं बहने लगीं। उस गुलाब की पतली शाखाएं आकाश में डोलने लगीं। उसकी पंखुड़ियां गिरने लगीं, उसके पत्ते गिरने लगे, फिर वह पूरा पौधा गिर पड़ा। उसकी जड़ें उखड़ गईं। जब वह दम तोड़ रहा था, तो उसके पास उन घास के फूलों ने झुक कर कहाः मित्र, अब बुद्धि आई कि नहीं? क्षण भर को आकाश में उठ जाने का कितना फल भोगना पड़ा। लेकिन उस मरते गुलाब ने कहाः दोस्तो, उस क्षण में जो जान लिया, वह हजारों वर्ष भी पत्थर की ओट में छिपे हुए नहीं जाना। आकाश में उठना एक क्षण को, तूफानों से जूझ जाना! एक क्षण को सही, आकाश के खुले सूरज के सामने खड़ा होना! कमजोर शाखाएं सही, लेकिन तूफानों से जूझ जाना! थोड़ी ही देर को खिलना, लेकिन खिलना! जो मजा जाना, जो जिंदगी जानी, जो रस जाना! परमात्मा को धन्यवाद। और तुम पर लानत है कि तुम्हें कभी पता नहीं चलेगा। तुम अपनी सुरक्षा की ओट में ही जीयोगे और मर जाओगे। तुम्हारा जीना, जीना भी नहीं है, क्योंकि तुम्हें पता ही नहीं कि तूफान में जीने का क्या अर्थ होता है?
पता नहीं, यह बात कभी हुई या नहीं, लेकिन भारत की जिंदगी में यह बात हुई है, ऐसा मालूम पड़ता है। हम सुरक्षा की ओट में बैठ कर रह गए हैं। धीरे- धीरे सुरक्षा का इतना मोह हो गया है कि खतरे में, किसी भी खतरे में उतरने का साहस ही समाप्त हो गया है। और तब जो पुराना है, वह सुरक्षित है, क्योंकि पुराना परिचित है। अपरिचित--असुरक्षित है, अनजान! भय देता है। बिना पहचान के रास्ते पर जाने में डर लगता है। इसलिए एक रास्ता हमने बना लिया है, कोल्हू के बैल की तरह, हम उसी पर घूमते रहते हैं। बस उसी पर घूम रहे हैं हजारों साल से। और हमारा शिक्षक भी नई पीढ़ी को उसी में दीक्षित कर देता है। उसी कोल्हू के रास्ते पर जहां बाप-दादे और पुरखे घूमते रहे थे, वहीं हम बच्चों को भी दीक्षित कर देते हैं।

नहीं, इस तरह नये भारत का जन्म नहीं हो सकता है। शिक्षक को एक कदम उठाना पड़ेगा। सारे भारत के शिक्षकों को हिम्मत से कदम उठाना पड़ेगा कि हम उस लीक को तोड़ेंगे, जिस पर भारत की चेतना हजारों साल से चक्कर काट रही है। जरूर अनजान का खतरा होगा। लेकिन अनजान के खतरे में डर क्या है?
परिचित सुरक्षा से अपरिचित खतरा बेहतर है, क्योंकि जीने का रस, जीने
की ऊर्जा, जीने की चुनौती, वहां मिलती है।
भारत का शिक्षक अगर यह तय करे कि हम लीक पर बंधे रास्तों से मुक्त करेंगे नई पीढ़ी को, तो भारत की आत्मा का जन्म हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता है। और हम खतरे में दीक्षित करेंगे, सुरक्षा में नहीं। हम आने वाली पीढ़ी के बच्चों को कहेंगे कि तुम जाओ खतरे में। लांघो समुद्रों को, चढ़ो पहाड़ों पर, यात्रा करो आकाश की। लेकिन नहीं, छोटे से अंधेरे में भी जाने में हम बच्चों को रोकते हैं कि अंधेरे में मत चले जाना। रात ज्यादा हो गई है। आई हुई नदी में मत तैर जाना, जिंदगी का खतरा है। समुद्र में मत उतरना, एवरेस्ट पर चढ़ने की जरूरत क्या है? जिनका दिमाग खराब है वे चढ़ते हैं आकर। क्या फायदा है एवरेस्ट पर चढ़ने से? हिंदुस्तान की अपनी चोटी है एवरेस्ट। पश्चिम के लोग आकर सौ वर्षों से चढ़ने की कोशिश करते हैं! हजारों, सैकड़ों यात्री मर गए और हम हंसते थे अपनी गुहा में बैठे हुए कि पागल हो? चढ़ते किसलिए हो? क्या रखा है वहां, सिवाय बर्फ के?
लेकिन हमें पता नहीं कि जिस कौम के बच्चे पहाड़ों पर चढ़ना छोड़ देते हैं, उस कौम की आत्मा चढ़ना ही छोड़ देती है।
वहां हजारों बच्चे एल्पस पर चढ़ते हैं रोज। हर वर्ष सैकड़ों बच्चे मर जाते हैं छुट्टियों में एल्पस पर चढ़ते वक्त। सब जानते हैं कि इस वर्ष भी सैकड़ों बच्चे मरेंगे एल्पस पर चढ़ने में, लेकिन कोई मां-बाप, कोई शिक्षक रोकता नहीं कि पिछले वर्ष इतने बच्चे मर गए थे, तुम मत जाओ, तुम भी मर सकते हो। जहां जवानी है, वहां पर पहाड़ पर चढ़ना भी होगा।
इंग्लिश-चैनल को सैकड़ों लड़के और लड़कियां पार करते हैं। और हम? हम एक छोटे से भी नाले को पार करने की हिम्मत खो दिए हैं। हम सब पता-ठिकाना लगा लेंगे कि नाला कितना गहरा है। पहले नाप-जोख हो जानी चाहिए। और पहले पूर्वज गए हैं इस नाले में से कि नहीं! अगर पूर्वज नहीं गए हों तो हम पीछे चलने वाले हैं, हम कभी अपनी तरफ से सीधे नहीं जा सकते। हम कोई पहल, कोई इनिशिएटिव नहीं ले सकते। कौन खतरे में पड़े? अपनी आराम से जिंदगी गुजर रही है, कौन खतरे में डाले?
यह हमारा जो भयभीत व्यक्तित्व है, यह पुराने को, लाश को पकड़ लेता है और छोड़ता नहीं है। और पुराने की लाश को हम इतने जोर से छाती से चिपकाए हुए हैं कि नये को जन्म कहां से मिले? पुराना जगह खाली करे तो नये का जन्म हो। शिक्षक को एक काम करना है, वह बहुत महत्वपूर्ण है, और वह यह कि वह पुराने के मोह से भारत को मुक्त करवा दे। और शिक्षक को जानना चाहिए कि वह अपराधी है, अगर वह पुराने के मोह को बच्चों में फिर पैदा करने की कोशिश कर रहा है। नये का निमंत्रण, नये का मोह, नये का स्वागत; अपरिचित का आकर्षण, अनजान का बुलावा, वह दूर और अज्ञात जो है, उसकी पुकार को सुनने के लिए बच्चों को तैयार करना है।
रूस और अमरीका के बच्चे चांद-तारों पर बस्तियां बनाने का विचार करते हैं। और भारत के बच्चे? भारत के बच्चे रामलीला देखने के सिवाय और कुछ भी नहीं करते। राम बहुत प्यारे हैं, और रामलीला भी बहुत प्यारी है। लेकिन कब तक देखिएगा? राम भी घबड़ा गए होंगे अब तक। ये दुष्ट क्यों मेरे पीछे पड़े हैं हर साल? वही-वही, वही-वही--क्यों यह जारी किया हुआ है! और भी राम पैदा होंगे भविष्य में, उनकी चिंता नहीं करनी है? और भी रामलीलाएं खेली जाएंगी। इसी पृथ्वी पर ही नहीं, चांद-तारों पर भी, मंगल पर भी। और भी लीलाएं होंगी। भविष्य में और भी राम पैदा होंगे।
लेकिन नहीं, हमारा तो अतीत में सब कुछ हो चुका है, अब भविष्य में कुछ
भी नहीं होना है। भारत का सब कुछ अतीत में हो चुका। हमारा सब काम पूरा हो गया है। इतिहास का हमारा देवता द्वार बंद करके चला गया है। अब आगे कोई इतिहास नहीं है। अब तो एक ही काम है कि हम पुराने इतिहास की जुगाली करते

रहें! जैसेभैंसें बैठ कर चबाए हुए घास को भी चबाती रहती हैं, वैसे ही हम जुगाली करते रहें! जो हो चुका उसको जुगाली करते रहो। कुछ और नहीं होना है, कुछ निर्माण नहीं करना है, कुछ भविष्य को जन्म नहीं देना है? कोई सपने नहीं हैं हमारे प्राणों में कि हम कल को, आने वाले कल को निर्मित करेंगे। और वहां निर्मित करेंगे, जहां किसी पुरखे ने कभी कोई पैर नहीं रखा। क्योंकि जहां पुरखों ने पैर रखे हैं, अगर वहीं हमको भी पैर रखना है, तो हमारे होने का प्रयोजन क्या है?
नहीं, हम उन रास्तों पर पैर रखेंगे, जहां कोई पुरखा कभी नहीं गया। हम
उन सब दृश्यों को देखेंगे, जिनको अतीत में किसी पुरखे ने नहीं देखा। हम सब वे यात्राएं करेंगे, जो कभी नहीं की गईं। हम उन कुवांरे रास्तों पर चलेंगे, जिन पर कभी कोई नहीं चला।
लेकिन नहीं, वह तो हमारी आकांक्षा ही टूट गई है। हम तो पिटी हुई लीक को खोज लेते हैं और उस पर ही चलते चले जाते हैं। इससे भारत में नये का जन्म नहीं हो पाता। और नये का जन्म न हो तो जीवन उदास हो जाता है। जीवन उदास हो गया है। एक-एक आदमी उदास है। एक-एक आदमी हारा हुआ और थका हुआ है। एक-एक आदमी एक ही प्रार्थना करता है भगवान से, कि आवागमन से छुटकारा करवा दो। किसी तरह इस सब जिंदगी से छुटकारा हो जाए। मोक्ष कहां है, मुक्ति कहां है? जीवित आदमी पूछते हैं, मुक्ति कहां है, मोक्ष कहां है, कब छुटकारा होगा इस जीवन से! इतना बदतर बना लिया है जीवन को कि सिवाय छूटने के और कोई प्रार्थना नहीं सूझती!
एकदम सब उदास हो गया है, पूरा देश। उदास हो ही जाएगा। पुराने--निरंतर पुराने के बीच रहने से चित्त उदास हो जाता है। जैसे घर कैलेंडर टंगा हो, तो रोज हम तारीख पुरानी फाड़ कर बाहर कर देते हैं। ऐसे ही रोज पुराने को अलग कर देना चाहिए, ताकि वह जो नई तारीख पीछे छिपी है, वह प्रकट हो जाए। लेकिन भारत के चित्त में नई तारीख प्रकट ही नहीं होती। कैलेंडर कह रहा हूं करोड़ों साल पुराना है। उसमें इतनी तारीखें पुरानी हैं कि नई तारीख का पता ही नहीं चलता है, कि वह कहां है! खोजो तो भी पता नहीं चलता! हमने कभी फाड़ कर फेंका नहीं उस कैलेंडर से कि पुरानी तारीखों को अलग करते चले जाएं, ताकि रोज-रोज नये का उदघाटन, नये का आविष्कार हो सके।
और जब नये का आविष्कार होता है तो प्राण प्रफुल्लित होते हैं नये के स्वागत के लिए, आनंद से नाचते हैं। जीवन में एक नृत्य, एक खुशी छा जाती है। क्योंकि जो अपरिचित है, उसे जानने का एक रस है। जो परिचित है, उसे जान लिया गया है। अब उसे जानने में कोई रस नहीं रह गया है। बेरस हो गया है भारत, और इसलिए मर गया है।
रस है जीवन का लक्षण।
अगर हम चाहते हैं कि भारत पुनरुज्जीवित हो, तो शिक्षक को एक महत्वपूर्ण--शायद इससे महत्वपूर्ण और कोई काम नहीं है, और दूसरा कोई कर भी नहीं सकेगा सिवाय शिक्षक के। समाज का कोई दूसरा वर्ग यह क्रांति नहीं ला सकता है। यह तो शिक्षक को ही खयाल में आ जाए कि नये बच्चों को पुराना मत होने दो। इसके पहले कि वे पुराने हो जाएं, नये बीज बो दो। इसके पहले कि उनकी खोपड़ियों पर भी पुराने का बोझ आ जाए, उन्हें नये का संगीत सुना दो। इसके पहले कि उनके कान पुराने रागों से जड़ हो जाएं, उन्हें नये गीत की आवाज पहुंच जाने दो, कि वे जग जाएं और नये की खोज में संलग्न हो जाएं। हिंदुस्तान के बच्चों को उनके मां-बाप से बचाने की जरूरत है--यह कौन करेगा? यह बड़ी अजीब सी लगेगी मेरी बात। हिंदुस्तान के बच्चों को उनके मां- बाप से बचाने की जरूरत है, अन्यथा उनके मां-बाप उन बच्चों को भी अपनी शक्ल में ही ढाल कर समाप्त होंगे। वे हमेशा यही करते रहे हैं। वे जब तक अपने बच्चों को ढाल नहीं लेते, तब तक विदा नहीं होते। उनको ढाल कर फिर विदा हो जाते हैं। जब पक्का हो जाता है कि लड़का भी आ गया उसी जगह, तब वह विदा होता है। हर पीढ़ी यही कर जाती है। अपनी शक्ल में नई पीढ़ी को ठोक-पीट कर ढाल जाती है। खांचे बने हुए हैं, चौखटे तैयार हैं। हर नये यात्री को उसमें ढाल देने की कोशिश चल रही है। कौन रोकेगा इसे? मां-बाप से बच्चों को कौन बचाएगा? और मां-बाप से बच्चे नहीं बचाए जा सके, तो नये देश का जन्म नहीं होता है।

शिक्षक बचा सकता है। लेकिन शिक्षक को बोध नहीं है, कुछ होश नहीं है।
वह तो मां-बाप का एजेंट है। वह तो उनका काम कर रहा है। मां-बाप उसको तनख्वाह इसीलिए दे रहे हैं कि वह बच्चों को ढालने में सहयोगी हो। इसलिए एक विसियस सर्किल है, एक बड़ा दुष्चक्र है। इसे कैसे तोड़ा जाए? इसे कोई कहीं से हिम्मत करे और तोड़े। कठिनाई होगी। क्योंकि तोड़ने वालों को समाज आदर नहीं देता। लेकिन यह कठिनाई किसी को झेलनी पड़ेगी, अन्यथा इस देश का जन्म ही नहीं हो सकता है।
शिक्षक के अतिरिक्त और किसी की तरफ आंख नहीं जाती है--मेरी आंख नहीं जाती है। राजनीतिक नेताओं से तो कोई भी आशा करनी गलत है। उनसे तो किसी तरह की अपेक्षा करनी गलत है। उनको तो दिन अच्छे आएं, तो उनकी सबकी मानसिक-चिकित्सा का कोई इंतजाम होना चाहिए, वह तो ठीक है। लेकिन और तो कोई उनसे आशा नहीं की जा सकती। जिन-जिन राजधानियों में जितने-जितने राजनीतिज्ञ हैं, अगर एकदम से पकड़ लिए जाएं और उनका इलाज हो जाए, तो दुनिया बिल्कुल दूसरी हो जाए। लेकिन होना बहुत मुश्किल है। मंगल ग्रह के यात्री आएं तो कुछ हो सकता है। इनसे तो कोई आशा नहीं है, क्योंकि वे तो हमारी बीमारियों के प्रतिनिधि हैं। वे तो हमारी बीमारियों का शोषण कर रहे हैं। वे तो हमारी कमजोरियों को सीढ़ियां बना कर पदों पर चढ़ गए हैं। तो उनसे हमारी कमजोरियां मिटाने की आशा नहीं हो सकती, जिनके लिए हमारी कमजोरियां सीढ़ियां बनती हों। हमारी कमजोरियां जिनके लिए सीढ़ियां हैं, हमारी बीमारियां जिनके लिए रास्ते हैं, हमारा अज्ञान, हमारा अंधविश्वास, हमारी मूढ़ताएं जिनके लिए रास्ते पर चढ़ने के पत्थर बन जाती हैं, उनसे आशा नहीं की जा सकती कि इन पत्थरों को वे अलग करेंगे। वे मजबूती से उन पत्थरों को ठोकेंगे।
कौन से आशा की जा सकती है?
साधु-संन्यासियों से? साधु-संन्यासियों से भी कोई आशा नहीं की जा सकती है। एक जमाना था कि साधु-संन्यासी क्रांतिकारी होते थे, लेकिन वह जमाना गया। अब साधु-संन्यासी क्रांतिकारी नहीं होता। एक जमाना था कि बुद्ध जैसा, महावीर जैसा, क्राइस्ट जैसा आदमी होता था, शंकर जैसा आदमी होता था। वह बात गई। अब साधु-संन्यासी समाज के चाकर हैं। समाज उनको दो रोटी देता है और वे समाज का गुणगान किए चले जाते हैं। इससे ज्यादा उनकी कोई स्थिति नहीं रह गई है। उनसे अब कोई आशा नहीं है।
एक वर्ग है, जो अछूता है अब तक, जिसने कभी कोई फिकर नहीं की है। वह है शिक्षकों का वर्ग। और वह बहुत बड़ा वर्ग है, उसकी बड़ी ताकत है। और उसकी सबसे बड़ी ताकत यह है कि आने वाली पीढ़ी उसके हाथ में है। इसके पहले कि नई पीढ़ी बिगड़े, वह नई पीढ़ी को दिशा दे सकता है, बोध दे सकता है। उसके हाथ में इतनी बड़ी शक्ति है, जिसका कोई हिसाब नहीं। और अगर उसके दिमाग में जिंदगी को बदलने के नये सूत्र खयाल में आ जाएं, तो बीस साल में पूरे मुल्क की दशा बदली जा सकती है। क्योंकि बीस साल में पुरानी पीढ़ी हट जाती है और नई पीढ़ी उसकी जगह आ जाती है। हजारों साल के कचरे को बीस साल में अलग किया जा सकता है--सिर्फ बीस साल में। लेकिन शिक्षक यह कर सकता है, और कोई यह नहीं कर सकता।
पर शिक्षक को पहला तो यह बोध होना चाहिए कि वह अपराध कर रहा है, अगर वह पुरानी बीमारियों को संवादित कर रहा है नई पीढ़ियों में। पुरानी पीढ़ियां हिंदू-मुसलमान से पीड़ित थीं। अगर शिक्षक अपने नीचे पढ़ने वाले बच्चों को भी यह सिखा रहा है कि तुम हिंदू और मुसलमान हो, तो वह शिक्षक बहुत बड़ा अपराध कर रहा है। आने वाली पीढ़ी को सिखाया जाना चाहिए कि तुम आदमी हो, हिंदू-मुसलमान नहीं। तो एक नया देश पैदा हो जाएगा। अगर पुरानी पीढ़ी कहती थी कि ब्राह्मण है, शूद्र है। और अगर शिक्षक भी आने वाले बच्चों में यह भाव पैदा कर रहा है कि तू शूद्र है और तू ब्राह्मण है, तो शिक्षक पुरानी पीढ़ियों का एजेंट है। वह फिर बीमारियों को जारी रखेगा। बीमारियों का अंत नहीं होगा। शिक्षक को बीस साल में फिकर करके पोंछ डालना चाहिए कि कोई ब्राह्मण नहीं है, कोई शूद्र नहीं है। आदमी होना काफी है। और अगर नई पीढ़ी से यह भाव मिट जाए तो हजारों साल का रोग बीस साल में नष्ट हो सकता है। कोई

इसे रोक नहीं सकता। लेकिन शिक्षक को पता ही नहीं है, उसे बोध नहीं है, कांशस नहीं है कि वह क्या कर रहा है?
और पुराने का मोह है। पुराने के मोह से तोड़ना चाहिए बच्चे को। बच्चे
को होता भी नहीं पुराने का मोह। बच्चे को तो नये की बड़ी जिज्ञासा होती है। हम ठोक-ठोक कर उसको पुराने के लिए राजी कर देते हैं। उसे नये के लिए राजी किया जाना चाहिए। रोज-रोज नये की दीक्षा होनी चाहिए। साहस और हिम्मत, करेज--एक ही गुण है, अगर हिंदुस्तान की पीढ़ियों को, आने वाली पीढ़ियों को शिक्षक समझा सके। उन्हें साहसी बना सके, दुस्साहसी बना सके तो काम पूरा हो जाएगा।
लेकिन हमने अब तक जैसा ढांचा ढाला है, उसमें क्लीव हो जाता है नया बच्चा। इंपोटेंट हो जाता है सारा का सारा--क्योंकि बेचैनी है। शिक्षक को भी समझ में नहीं पड़ता है कि क्या करे, क्या न करे? विद्यार्थी को भी समझ में नहीं पड़ता। समाज में भी जो लोग सोचते-विचारते हैं, उनको भी समझ में नहीं पड़ता कि क्या करें और क्या न करें। बेचैनी है, लेकिन साफ रास्ता नहीं दिखाई पड़ता है। सोच-विचार किया जाना जरूरी है। कि हम सोचें कि हम क्या कर सकते हैं, क्या हो सकता है?
और मुझे लगता है कि एक बहुत स्वर्ण अवसर हमारे हाथ में है। क्योंकि हिंदुस्तान में बच्चों के मस्तिष्क में जितना विद्रोह आज है, उतना आज तक के इतिहास में कभी भी नहीं था। इन विद्रोही बच्चों को अगर शिक्षक मार्ग दे सके तो हम पुराने कूड़े-करकट को आग लगाने में समर्थ हो जाएंगे। और इस विद्रोह की शक्ति से नये को भी जन्माया जा सकता है।
लेकिन शिक्षक बच्चों में पैदा हुए विद्रोह की क्षमता को भी नहीं समझ
पा रहा है! वह उस विद्रोह की क्षमता का भी उपयोग नहीं कर पा रहा है! बल्कि वह भी भयभीत हो गया है और बच्चों के विद्रोह को तोड़ने की सब तरफ से चेष्टा कर रहा है। उसे पता नहीं है कि वह गलती कर रहा है।
बच्चों के विद्रोह को तोड़ना नहीं है, उसे सम्यक मार्ग देना है। वह जो रिबेलियन की स्पिरिट आई है, वह जो आत्मा पैदा हुई है--पत्थर फेंक रहे हैं बच्चे, खिड़कियां तोड़ रहे हैं, कुर्सियां तोड़ रहे हैं--यह तोड़ने की बड़ी अदभुत क्षमता उनमें आई है, उससे कुछ ढंग की चीजें तुड़वाई जा सकती हैं। और अगर हमने उन पर मेहनत न की तो गलत चीजें तोड़ कर उनका क्रोध व्यर्थ हो जाएगा। कुर्सियां तोड़ने से कोई फायदा नहीं होगा। न कांच तोड़ने से कोई फायदा होगा। लेकिन तोड़ने की क्षमता स्वागत के योग्य है। कुछ और चीजें तोड़ी जा सकती हैं--हिंदू-मुसलमान तोड़ा जा सकता है, शूद्र-ब्राह्मण तोड़ा जा सकता है, स्त्री-पुरुषों के बीच की मूर्खता से भरी हुई दीवालें तोड़ी जा सकती हैं, सड़ी-गली नैतिकता तोड़ी जा सकती है। नई, ज्यादा स्वस्थ, ज्यादा वैज्ञानिक नैतिकता को जन्म दिया जा सकता है।
तोड़ने की एक क्षमता आई है--लेकिन शिक्षक उससे भयभीत है। वह समझता है
कि तोड़ने की क्षमता बहुत बुरी है। कुर्सियां तोड़ी जा रही हैं, कांच तोड़े जा रहे हैं। मैं आपसे कहता हूं, बच्चों को पता नहीं है कि क्या तोड़ना है, इसलिए वे कुर्सियां तोड़ रहे हैं। शिक्षक उनको समझाए कि क्या तोड़ना है, तो वे कुर्सियां कभी नहीं तोड़ेंगे। वे उसको तोड़ना शुरू कर देंगे, जिसका तोड़ना अत्यंत जरूरी हो गया है। लेकिन शिक्षक भयभीत है। वह कहता है तोड़ो मत, अनुशासन मानो।
लेकिन आपको पता नहीं कि अनुशासन तोड़ना भी एक बहुत अदभुत बात है। अनुशासन एक अदभुत बात है, डिसिप्लिन की एक कीमत है। इन-डिसिप्लिन की भी एक कीमत है। डिसिप्लिन की कीमत है, समाज जैसा है, उसको वैसा बनाए रखो। और जब समाज को बदलना हो तो डिसिप्लिन की कीमत नहीं होती है, इन-डिसिप्लिन की कीमत शुरू हो जाती है, समाज को अगर बदलना हो तो। यह बदलने का वक्त है। इस वक्त बच्चों में जो अनुशासनहीनता है, उसका उपयोग कर लें। उसका उपयोग यह हो सकता है कि हम उस सबको तोड़ दें, जो सड़ा-गला है। उस सबको बदल दें, जो जिंदगी पर पत्थर का बोझ हो गया है। यह शिक्षक कर सकता है। क्योंकि शिक्षक बच्चों के एकदम निकट और करीब है। लेकिन वह भी बच्चों को नहीं समझ पा रहा है! उसे भी पता नहीं चल रहा है कि यह क्या हो रहा है!

बच्चों में अच्छा लक्षण प्रकट हुआ है। अगर शिक्षक समझ का उपयोग करे
और अपनी क्रांतिकारी स्थिति से परिचित हो जाए और उसे यह बोध हो जाए कि मेरे हाथ में एक मशाल है क्रांति की, तो शायद ये बच्चे शिक्षक को इतना प्रेम करेंगे, जितना इन्होंने कभी शिक्षक को नहीं किया। और इन बच्चों के लिए एक स्वर्ण भविष्य बनाने में शिक्षक सहयोगी हो जाएगा, जितना वह कभी सहयोगी नहीं रहा है।
ये थोड़े से सवाल शिक्षक मित्रों के सामने मैंने रखे। मैं जो कहता हूं, जरूरी नहीं कि वह ठीक हो। हो सकता है मैं जो कहता हूं, वह सभी गलत हो, इसलिए उसको मान लेने की कोई भी जरूरत नहीं है। लेकिन जो मैं कहता हूं, उस पर आप सोचना, विचार करना। और सारे मुल्क में एक डॉयलाग पैदा करने की जरूरत है कि शिक्षक सोचें और विचारें, बच्चों से बात करें, समझें और कुछ निर्णय लें तो जरूर मुझे आशा बंधती है। बहुत कुछ हो सकता है। हवाएं गर्म हैं, मौका तैयार है, परमात्मा ने अवसर दे दिया है। हमारे हाथ में है कि हम इस संक्रमण की शक्ति का उपयोग कर पाएंगे। या ऐसे ही बैठे देखते रह जाएंगे लीला कि जो हो रहा है, सो देखते रहो! जो हो रहा है, सिर्फ बैठ कर घर में उसकी निंदा करते रहो कि बुरा हो रहा है और कुछ करो मत! हम दर्शक रहेंगे, तमाशबीन! शिक्षक इस आने वाले समाज की जिंदगी में तमाशबीन सिद्ध होगा? वह अपने स्कूल में जाकर वही पढ़ाता रहेगा कि दो और दो चार होते हैं? वह क ख ग की शिक्षा देता रहेगा और राजनीतिज्ञ एटम बम बनाते रहेंगे? वह बच्चों को गणित सिखाता रहेगा, भूगोल पढ़ाता रहेगा और राजनीतिज्ञ सारे भूगोल को मिटाने की तैयारी करते रहेंगे?
नहीं, यह अब बरदाश्त नहीं किया जा सकता है। दो और दो चार होते हैं, वह जरूर सिखाएं। लेकिन उतना ही काम शिक्षक का नहीं है। वह एक क्रांति का जन्मदाता भी बनना चाहिए, तभी वह शिक्षक बनता है। और जिंदगी के चारों तरफ जो हो रहा है, उसके प्रति एक सजगता चाहिए। वे नये बच्चों में जो अंकुर फूट रहे हैं उनका होश चाहिए। और अपना रोल--शिक्षक का रोल क्या है जिंदगी के लिए, उसकी फिकर चाहिए। अगर यह फिकर और चिंता हो तो कोई कारण नहीं है फिर... । भारत के पास अच्छे शिक्षक हैं, लेकिन सोए हुए शिक्षक हैं। भारत के पास बुद्धिमान शिक्षकों का वर्ग है, लेकिन क्रांतिकारी वे नहीं हैं। भारत के पास निष्ठावान, नैतिक शिक्षकों की शक्ति है, लेकिन वह सारी निष्ठा और सारी नैतिकता पुरोगामी है, प्रतिगामी है, रिएक्शनरी है। वह क्रांतिकारी नहीं है, रिवोल्यूशनरी नहीं है। और इसलिए शिक्षक खड़े होकर देख रहा है! उसके हाथ में कुछ नहीं मालूम पड़ता है! वह समाज का उपकरण भर रह गया है!
और सारी दुनिया में--भारत में भी और सारी दुनिया में राजनीतिज्ञों ने शिक्षकों को जिंदगी से काट कर अलग रख दिया है। वे कहते हैं, शिक्षक को जिंदगी के बाबत चिंता नहीं करनी चाहिए, राजनीति के बाबत चिंता नहीं करनी चाहिए। शिक्षक को तो अपना काम स्कूल की दीवालों के भीतर करना चाहिए। राजनीतिज्ञ बहुत होशियार हैं। वे जानते हैं कि शिक्षक अगर जिंदगी के बाबत सक्रिय रूप से चिंतन करेगा, तो शिक्षक के हाथ में इतनी बड़ी ताकत है कि वह सारे समाज को रूपांतरित कर देगा। इसलिए शिक्षकों को बहुत कनिंगनेस से, बहुत चालाकी से सारी जिंदगी से अलग तोड़ कर रख दिया है। और शिक्षक को समझाया गया है, तुम्हें जिंदगी से मतलब नहीं है, तुम्हारा तो बड़ा महान कार्य है कि तुम दो और दो चार होते हैं, यह बच्चों को पढ़ाते रहो--कि टिम्बकटू कहां है। यह बच्चों को समझाते रहो नक्शे पर, टिम्बकटू कहीं भी हो! अब जमीन पर आदमी के बचने की संभावना भी कम होती चली जाती है, और शिक्षक अगर चुपचाप यह देखता है तो उसको मैं शिक्षक कहने को तैयार नहीं हूं। शिक्षक का ज्यादा दायित्व है। वह नई पीढ़ियों की दाई है।
साक्रेटीज ने कहा है शिक्षक की परिभाषा में, कि मैं शिक्षक कहता हूं उसे जो व्यक्ति को नई आत्मा के जन्म देने में दाई का, मिडवाइफ का काम करे। ठीक कहा है साक्रेटीज ने। वह दुनिया के एक अदभुत शिक्षकों में से एक था। उसने ठीक कहा है कि शिक्षक दाई का काम करे। वह नई आत्मा के जन्म देने में सहयोगी बने। अगर वह आप नहीं बन रहे हैं, अगर वह हम नहीं बन रहे हैं तो

शिक्षक कहे जाने का हम कोई हक नहीं रखते हैं। यह थोड़ा सा निवेदन मैं करता हूं।

मेरी बातों को इतने प्रेम और शांति से सुना, उससे बहुत अनुगृहीत हूं।
और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं। मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

शिक्षकों के बीच "नये भारत का जन्म" विषय पर

शिक्षा में क्रांति
तेरहवां प्रवचन

संदेह की ज्योति

मेरे प्रिय आत्मन्!

जैसे व्यक्ति बूढ़ा हो जाता है, वैसे ही समाज भी बूढ़े हो जाते हैं। और जैसे एक व्यक्ति मरता है, वैसे ही समाज और संस्कृतियां भी मरती हैं। लेकिन कोई व्यक्ति न बूढ़े होने से इनकार कर सकता है और न मरने से। लेकिन कोई समाज, कोई संस्कृति, कोई सभ्यता यदि चाहे तो बूढ़े होने और मरने से इनकार कर सकती है। लेकिन जो समाज मरने से इनकार कर देगा, उसका नया जीवन पैदा होना बंद हो जाता है।
मरने से इनकार करना आसान है, लेकिन अगर नया जीवन मिलना बंद हो जाए, तो फिर एक तरह का मरा हुआ जीवन शुरू होता है। ऐसा इस देश में हो गया है। इस देश की संस्कृति और सभ्यता बहुत दिनों से जन्म लेना बंद कर दी है। हजारों साल से हम वैसे ही हैं, जैसे थे! और यदि हममें कोई परिवर्तन भी हुए हैं, तो वे परिवर्तन बाहर से आए हैं, हमारे भीतर से नहीं। यदि हम आगे भी बढ़े हैं, तो वह आगे बढ़ना दूसरों के धक्कों से हुआ है, हमारी अंतरात्मा से नहीं। हम मजबूरी में आगे बढ़े हैं, हमारे प्राण पीछे से ही जकड़े हुए हैं।
यह हमारा समाज करीब-करीब मरा हुआ समाज है और इसमें नये जीवन के अंकुर आने बहुत जमाने हुए, तब से बंद हो गए हैं। लेकिन हम इस बात से न दुखी हैं, न परेशान हैं, बल्कि हम इस बात से बहुत खुश हैं और बहुत सौभाग्यशाली अपने को मानते हैं! हम निरंतर यह कहे चले जाते हैं कि हमसे पुरानी कोई सभ्यता नहीं है! हम यह भी कहे चले जाते हैं कि हमारी किताबों से ज्यादा पुरानी कोई किताबें नहीं हैं! हमारे मंदिरों से ज्यादा पुराने कोई मंदिर नहीं हैं। और हमें कभी यह खयाल नहीं आता कि पुरानेपन का यह शोरगुल इस बात का सबूत है कि हमने नया होना बंद कर दिया है, तभी हम पुराने की इतनी बातें करते हैं। जो नया होने की क्षमता रखता है, वह पुराने को विसर्जित कर देता है और रोज नया हो जाता है। जो नया होने की क्षमता खो देता है, वह पुराने गीत ही गाए चले जाता है और पुरानी कहानियां ही पढ़े चले जाता है--पुराने नाम, पुराने ग्रंथों को ही सिर पर लिए चला जाता है! लेकिन इन सब का बोझ मृत बोझ होता है, डेड वेट होता है, उसके पीछे देश की प्रतिभा और आत्मा दबती है और नष्ट होती है, विकसित नहीं होती। इसलिए हमसे ज्यादा उदास कौम इस समय पृथ्वी पर कोई भी नहीं है। हमारी उदासी ऐसे हो गई है, जैसे किसी पुराने खंडहर की हालत हो जाती है। जैसे कोई मकान बहुत दिनों खंडहर पड़ा हो, धूल जम गई हो, कचरा इकट्ठा हो गया हो--ऐसे ही हमारा मन हो गया है।
नये जीवन की धाराएं जहां बंद हो जाती हैं, वहां जीवन उदास हो ही जाता है। और जहां नये जीवन की धाराएं रुक जाती हैं, वहां सड़ांध और गंदगी भी पैदा हो जाती है। जैसे हम किसी नदी को रोक दें तो फिर नदी सड़ेगी, गंदी होगी। ऐसे ही भारत की चेतना की धारा रुक गई है--सड़ती है, गंदी होती है। इसलिए चारों तरफ, सब तरह से सड़ांध है।
आपके गांव के रास्तों पर ही कूड़ा-करकट और गंदगी भरी है, ऐसा नहीं है। पूरे मुल्क के मन की हालत आपके गांव के रास्तों जैसी हो गई है। लेकिन गांव के रास्ते तो दिखाई पड़ते हैं, मन के रास्ते दिखाई भी नहीं पड़ते। और गांव के रास्ते तो हम आज नहीं कल बदल ही लेंगे, दुनिया इन रास्तों को बरदाश्त नहीं करेगी। लेकिन मन के रास्ते चूंकि दिखाई नहीं पड़ते, कौन बदलेगा, कौन खयाल देगा? और खतरा यह है कि बाहर के रास्ते ठीक हो जाएंगे, और भीतर के रास्ते गंदे ही रहेंगे। तो बाहर के रास्तों के ठीक होने से भी फिर बहुत कुछ नहीं हो सकता है। नई चीजें तो हमारे देश में भी आ गई हैं, मकान नये बन रहे हैं। बच्चे रोज नये पैदा होते हैं, लेकिन दिमाग हमारा पुराना का पुराना ही रहा चला जाता है! और वह पुराना, इतना पुराना हो गया है कि वह साधारण पुराना नहीं है वह, बीता हुआ कल नहीं है, हजारों साल पुराना हो गया है!

अगर हम समाज के नियम उठा कर देखें तो मनु महाराज के बाद हम कहीं आगे नहीं बढ़े! मनु महाराज को हुए कम से कम साढ़े तीन हजार वर्ष तो हो ही गए होंगे। मनु ने जिस शूद्र को जन्म दिया था, वह आज भी जिंदा है! और आज भी शूद्र को मिटाने की बातें क्रांतिकारी समझी जाती हैं! शूद्र को मिटाने की बातें, जब क्रांतिकारी समझी जाती हों तो समझना चाहिए कि शूद्र बहुत मजबूत है। साढ़े तीन हजार वर्ष पहले किसी आदमी ने एक नियम बनाया था, वह अब तक जिंदा है; मिटता नहीं! खत्म नहीं होता!
न मालूम किस अतीत इतिहास में हमने भाग्य का तय किया था कि मनुष्य भाग्य से जीता है! सारी पृथ्वी बदल डाली आदमी ने। सब कुछ बदल डाला। जो-जो चीजें भाग्य से निर्धारित होती थीं, वे सब बदल डालीं। आदमी की उम्र बदल दी, बीमारियां बदल दीं, आदमी का सब बदल डाला, लेकिन हिंदुस्तान अब भी भाग्य के साथ जीए चला जाता है! अब भी भाग्य की वृत्ति में हमारा कोई फर्क नहीं पड़ा! आज भी यह देखने को मिल जाती है घटना कि युनिवर्सिटी में पढ़ने वाला लड़का सड़क के किनारे बैठे हुए किसी ज्योतिषी से चार आने देकर हाथ की रेखाएं दिखवा रहा है! युनिवर्सिटी में पढ़ने वाला विद्यार्थी भी हाथ की रेखाएं दिखवाएगा, तो फिर इस भारत का क्या होगा? नहीं, वह कभी-कभी इनकार भी करता है। वह इन सब बातों को मानने से इनकार करता है, लेकिन परीक्षा के समय विद्यार्थी भी हनुमान जी के मंदिर के सामने हाथ जोड़ कर खड़ा हो जाता है! हमारा चित्त पुराना है। हम ऊपर से नये भी हो जाते हैं। कपड़े हमारे नये
हो गए हैं। कपड़े हमारे वैसे हो गए हैं, जैसे सारी दुनिया में होने चाहिए। लेकिन भीतर हमारा आदमी पुराना है। हमारे पास साधन नये हो गए हैं, लेकिन आदमी पुराना है! सब नया होता जा रहा है--वह हम नया नहीं कर रहे हैं, यह खयाल रहे। वह मजबूरी में, दुनिया के धक्के हमको नया होने के लिए मजबूर कर रहे हैं, तो हमें नया होना पड़ रहा है। लेकिन भीतर, जहां दुनिया हमें धक्के नहीं देती, कोई हमें समझाने नहीं आता, कोई हमें तोड़ने नहीं आता, भीतर हम पुराने ही रहे चले जाते हैं।
मैं कलकत्ते में एक डाक्टर के घर रुका हुआ था। बड़े डाक्टर हैं, एफ.आर.सी.एस. हैं, यूरोप में पढ़े हैं, और कलकत्ते में बड़ी प्रतिष्ठा है। सांझ को मुझे लेकर एक सभा में जा रहे हैं। मैं निकला हूं बाहर, पोर्च में आए हैं, उनकी लड़की को छींक आ गई। उस डाक्टर ने मुझसे कहाः एक मिनट रुक जाएं, लड़की को छींक आ गई है! मैंने उनसे कहाः तुम्हारी लड़की को छींक आए, इससे मेरे रुकने का क्या संबंध है? और तुम्हारी लड़की को छींक आई है, तुम डाक्टर हो, भलीभांति जानते हो कि छींक के आने के कारण क्या हैं। तुम भी मुझे रोकते हो? उन्होंने कहा, वह तो मैं जानता हूं कि छींक आने के कारण क्या हैं, फिर भी रुकने में हर्ज क्या है, एक मिनट बाद चले चलते हैं। मैंने कहा, हर्ज बहुत बड़ा है, तुम्हारी लड़की को छींक आने पर एक मिनट मेरे रुकने का सवाल नहीं है, तुम्हारी लड़की को छींक आने पर रोकने की धारणा, पूरे मुल्क की आत्मा को रोकने का सवाल है। धारणा रोकने की है। धारणा खतरनाक है। एक मिनट नहीं, एक घंटे रुका जा सकता है, वह कोई सवाल नहीं है बड़ा। बड़ा सवाल यह है कि हम अब भी इस भाषा में सोचते हैं इस दुनिया में, बीसवीं सदी में! तो फिर हम रुक जाएंगे, हम आगे नहीं जा सकते। और डाक्टर भी ऐसा सोचता हो, तब बहुत मुश्किल हो जाती है। तब बहुत कठिन हो जाता है।
लेकिन ये हमारे सोचने के ढंग इतने मजबूत हो गए हैं, लोहे के हो गए हैं
कि इन्हें हिलाना भी मुश्किल हो गया है। सच तो यह है कि इनके कारण हमने सोचना ही बंद कर दिया है, हम सोचते ही नहीं। और हमारे देश में हजारों साल से यह भी समझाया जाता है, सोचना मत। सोचने के संबंध में बड़ी खिलाफत है! सोचने वाला आदमी अच्छा आदमी नहीं है! क्योंकि सोचने वाला आदमी किसी न किसी तरह का विद्रोह पैदा करता है। जो नहीं सोचते, वे आदमी कम, भेड़ें ज्यादा हो जाते हैं। वे एक-दूसरे के पीछे चलते चले जाते हैं। आगे वाला चल रहा है, इतना भर मेरे चलने के लिए काफी कारण होता है! आगे वाले को भी यही कारण होता है कि उसके आगे वाला चल रहा है! और पूरी भीड़ ऐसे ही चलती जाती है!
अगर कोई हिंदुस्तानी मस्तिष्क के भीतर घुस कर पूछे कि ऐसा तुम क्यों
कर रहे हो? तो एक ही जवाब मिलेगा कि मेरे पिता ने भी ऐसा ही किया था! यह कोई

जवाब है! यह हमारा तो अपमान है ही, हमारे पिता का भी अपमान है। और अगर हम पिता के भीतर भी घुस सकें तो यही जवाब मिलेगा! हजारों साल पीछे लौट जाएं तो जवाब यही है! क्योंकि ऐसा होता रहा है, इसलिए हम ऐसा कर रहे हैं!
अब दुनिया भलीभांति जानती है कि पानी कैसे गिरता है। यज्ञों से न कभी पानी गिरा है, न गिर सकता है। लेकिन हम यज्ञों से पानी गिराने की कोशिश जारी रखे हुए हैं! सारी दुनिया भलीभांति जानती है कि एक नल में भी पानी नहीं आ रहा हो, तो कितना भी यज्ञ करो, नल की टोंटी से पानी नहीं निकाल सकते-- आकाश से पानी गिराना तो बहुत दूर की बात है। एक कुआं सूख गया हो तो यज्ञ करने से कुएं में भी पानी नहीं आ सकता--आकाश के बादलों से पानी गिरा लेना तो बहुत दूर है! लेकिन जमीन पर आकाश से पानी गिराया जा रहा है! और जमीन पर ऐसे मुल्क हैं, जहां पानी नहीं गिराना चाहते हैं, वहां से बादलों को भी हटा रहे हैं। और जहां पानी लाना चाहते हैं, वहां भी बादल लाए जा रहे हैं। लेकिन यह तभी होगा, जब पुराना खयाल हमारा टूट जाए। हम तो सोचते हैं, बादल वगैरह हटाने की जरूरत नहीं है। हम तो सोचते हैं, आग जला कर कुछ मंत्र पढ़ने की जरूरत है। हम तो सोचते हैं, आग जला कर गेहूं और घी फेंकने की जरूरत है! गेहूं और घी की कमी है--उसी को लाने के लिए यज्ञ किया जा रहा है, उसमें हम गेहूं और घी ही जला रहे हैं! और वह कभी आया नहीं, आज तक तो पता नहीं चला-- नहीं तो हमने इतने यज्ञ किए हैं कि हमसे ज्यादा समृद्ध समाज पृथ्वी पर दूसरा नहीं होना चाहिए था।
अमरीका में सुना नहीं कि कभी कोई यज्ञ हुआ हो, लेकिन धन आकाश से बरस गया है। रूस में तो सुना नहीं कि यज्ञ करने वाले को वे पागलखाने भेजेंगे कि क्या करेंगे, लेकिन रूस की गरीबी मिट गई है। और हम? हम पांच हजार वर्षों से यज्ञ पर यज्ञ किए चले जाते हैं! लेकिन कोई पूछने को राजी नहीं है कि यह क्या पागलपन हो रहा है! अब अगर सरकार कहती भी है गुजरात की कि हम यज्ञ नहीं होने देंगे, तो वह भी जो कारण बताती है, वह यह नहीं कि यज्ञ गलत है और पाप है और अधर्म है--वह भी कारण यह कि गेहूं हमारे पास ज्यादा नहीं है, वह हम खर्चा नहीं करने देंगे? इतनी हिम्मत उनकी भी नहीं होती कि सीधी बात कहें कि यज्ञ नहीं होने देंगे। गेहूं का कोई सवाल नहीं है। गेहूं ज्यादा हो तो भी नहीं होने देंगे। गेहूं कितना ही हो हमारे पास जलाने को, तो भी नहीं होने देंगे। यह हिम्मत उनकी भी नहीं है! वे कहते हैं, राशन की कमी है, इसलिए गेहूं मत जलाइए!
यज्ञ करने वाले बहुत होशियार हैं, वे कहेंगे, हम बिना गेहूं के भी यज्ञ कर लेते हैं! फिर, यज्ञ चलेगा, यज्ञ नहीं रुकेगा। जड़ी बूटी डाल देंगे, मंत्र पढ़ लेंगे, और तरह से काम कर लेंगे--यज्ञ चलेगा! लेकिन जो लोग इनकार करते हैं, उनके भी इनकार करने के कारण में बहुत जान नहीं है भीतर। वे भी सीधी और साफ बात नहीं कहते कि तुम आकर प्रयोगशाला में सिद्ध करके बताओ कि यज्ञ से क्या हो सकता है। तुम कहते हो विश्व शांति हो सकती है यज्ञ से? एक आदमी अशांत हो, उसको शांत करके बता दो, तो भी काफी है। एक पागलखाने में जाकर यज्ञ करके दिखाओ, कितने पागल शांत हो जाते हैं, फिर हम मान लेंगे। और जहां पूरी दुनिया पागल हो गई है, तुम्हारे यज्ञों से शांत हो जाएगी? नहीं, लेकिन फॉल्स, झूठा उपाय। सबसे बड़ा नुकसान यह नहीं करता है कि गेहूं खराब होता है, यह सवाल नहीं है बड़ा। झूठे उपाय में हम जब तक उलझे रहते हैं, तब तक सही उपाय नहीं खोजा जा सकता। जो सबसे बड़ी कठिनाई है, वह यह हो जाती है। अगर कोई आदमी सोचता है, ताबीज बांधने से बीमारियां ठीक हो सकती हैं,
तो फिर दवाई का शास्त्र विकसित नहीं होगा। उतना नुकसान ताबीज से नहीं है, क्योंकि ताबीज से एक आदमी मरेगा, दस आदमी मरेंगे। बड़ा नुकसान जो है-- मेडिकल साइंस विकसित नहीं होगी उस मुल्क में, जो कि भारी नुकसान है। मेडिकल साइंस तो तभी विकसित होगी, जब हम खोजें--कि ताबीजों से नहीं, ओझा से नहीं, पंडित से नहीं, मंत्र से नहीं। इनसे भी कुछ नहीं होता। कुछ और खोजें कि बीमारी का कारण क्या है, बीमारी कहां से आती है। वहां हम बीमारी को तोड़ने की कोशिश करें, बीमारी के कारण को मिटाएं, तो शायद बीमारी मिट सकती है।

आज रूस में, या अमरीका में, या स्वीडन में या स्विटजरलैंड में बीमारियों का प्रतिशत इतना कम हो गया है कि दुनिया में इतना स्वस्थ आदमी कभी भी नहीं था। उम्र इतनी बढ़ गई है, जिसका कोई हिसाब नहीं। रूस में क्रांति हुई उन्नीस सौ सत्रह में, तो उम्र केवल तेईस वर्ष थी, औसत उम्र। आज रूस की औसत उम्र बहत्तर वर्ष है! कहना चाहिए, हर वर्ष, एक वर्ष औसत उम्र भी बढ़ती चली गई है। स्वीडन और स्विटजरलैंड के मुल्कों में औसत उम्र बयासी वर्ष है! और वहां का वैज्ञानिक, विचारक कहता है कि अगर हम चाहें तो कोई कठिनाई नहीं है कि आदमी को हम सौ वर्ष की आम औसत उम्र दे दें। और जिस दिन सौ वर्ष औसत उम्र होगी, उस दिन ढाई सौ वर्ष तक का बूढ़ा मिल सकेगा। क्योंकि अभी हमारे इस मुल्क में समझ लें तीस वर्ष, उनतीस वर्ष औसत उम्र है, तो अस्सी वर्ष का बूढ़ा मिल जाता है। तीस वर्ष की उम्र में अगर नब्बे वर्ष का बूढ़ा मिल सकता है, तीन गुना, तो सौ वर्ष की उम्र में तीन सौ वर्ष का बूढ़ा आसानी से मिल जाएगा। आज भी रूस में कोई एक हजार से ऊपर लोग डेढ़ सौ वर्ष से ऊपर की उम्र के हैं।
सारी दुनिया सब बदलती चली जा रही है, लेकिन हमारे ढांचे तय हैं! हम कहते हैं कि यहां गेहूं की कमी है, खाने की कमी है, कपड़े की कमी है! और कुछ हम इस ढंग से कहते हैं कि जैसे हमारे वश में कुछ भी नहीं है! पांच हजार साल से हम भूखे और नंगे हैं! हमारे ढंग ऐसे हैं कि हम भूखे और नंगे आगे भी पांच हजार सालों तक रहेंगे। इसमें गलती न जमीन की है, न आकाश की है। गलती है तो हमारी है और हमारे सोचने के ढंगों की है। हमारे सोचने के ढंगों की गलती है।
उन्नीस सौ चालीस के बाद रूस ने अपनी ट्रेनों में कोयले की जगह गेहूं जलाया। क्योंकि कोयला ज्यादा कीमती मालूम पड़ा, गेहूं सस्ता मालूम पड़ा। गेहूं जलाना आसान मालूम पड़ा, क्योंकि गेहूं हर साल पैदा हो सकता है। और कोयले को पैदा होने में लाखों साल लग जाते हैं। कोयला बनने में लाखों साल लग जाते हैं, तो कोयला बहुत कीमती चीज है, कोयले को मत जलाओ। एक ही साथ जमीन पर एक मुल्क अपने ट्रेन के इंजनों में गेहूं जलाएगा और दूसरे मुल्क को पेट में जलाने के लिए भी गेहूं नहीं है! तो थोड़ा सोचना पड़ेगा कि बात क्या है? और ऐसा नहीं है कि रूस या अमरीका हमेशा से धनवान थे। इधर पचास-साठ वर्षों में धन पैदा हुआ है। नहीं तो वे भी हमारे ही जैसे गरीब थे। और यह भी ध्यान रहे, अमरीका के जो मूल निवासी हैं, वे आज भी गरीब हैं। तो अमरीका की जमीन की खूबी नहीं है।
काउंट कैसरलिंग नाम का एक जर्मन विचारक हिंदुस्तान से वापस लौटा। उसने अपनी किताब में एक अजीब बात लिखी है। मैं पढ़ रहा था, तो बहुत हैरान हुआ। उसने लिखा है कि इंडिया इज़ ए रिच कंट्री व्हेअर पुअर पिपल लिव! हिंदुस्तान एक अमीर देश है, जहां गरीब आदमी रहते हैं! मैं पूछने लगा अपने मन में कि इस आदमी को क्या हो गया है? अगर देश अमीर है तो गरीब आदमी कैसे रह सकते हैं वहां? और अगर गरीब आदमी रहते हैं तो अमीर देश कहने का मतलब क्या है? लेकिन फिर मुझे लगा कि वह मजाक कर रहा है। वह यह कह रहा है कि देश तो अभी अमीर हो सकता है, लेकिन रहने वाले लोगों की बुद्धि, रहने वालों लोगों का मन, रहने वाले लोगों के सोचने के ढंग, सब गरीबी के हैं। वे अमीर कभी भी नहीं हो सकते हैं। अगर इस देश को अमरीका जैसे लोग रहने को मिल जाएं तो अमरीका गरीब देश हो जाए इस मुल्क के मुकाबले।
सब हमारे पास है, सिर्फ एक हमारे पास सोचने वाला मस्तिष्क नहीं है। और हमारी हजारों साल की आदतें सोचने की नहीं हैं, सोचने से बचने की हैं। जहां सोचने का सवाल आए, वहीं हम बच जाना चाहते हैं! बचने की कोई भी तरकीब मिल जाए, तो हम फौरन हाथ जोड़ कर मंदिर में बचने को निकल जाएंगे। हम सोचेंगे नहीं, विचार नहीं करेंगे कि क्या किया जाए।
मैं अभी बिहार था। बिहार में हजारों अकाल पड़ चुके हैं। बुद्ध के जमाने से लेकर अब तक निरंतर अकाल पड़ता रहा है। लेकिन बिहार के आदमी ने कुछ भी नहीं किया! बिहार की जमीन के नीचे बहुत पानी है, लेकिन उसने कुएं नहीं खोदे। वह हर बार अकाल की प्रतीक्षा करता है, फिर भीख की प्रतीक्षा करता है--और चलता चला जाता है! वह कुछ नहीं करता! जब अकाल आता है, तब स्वीकार कर

लेता है कि भीख दो! जब अकाल चला जाता है, तब अपना फिर जैसा काम चलता था, करने लगता है! अकाल जब आ जाता है तो देश भर के नेता दान मांगने निकल पड़ते हैं। लेकिन जब अकाल चला जाता है, तब कोई फिकर नहीं करता है कि फिर हालत वही है, कल फिर अकाल आ जाएगा। उसमें कोई बदलाहट नहीं होती है।
एक बहुत बड़े अर्थशास्त्री ने एक किताब लिखी है, उन्नीस सौ पचहत्तर किताब का नाम है। और उस किताब में यह घोषणा की है और यह घोषणा सही हो सकती है। उसने लिखा है कि उन्नीस सौ पचहत्तर और उन्नीस सौ अस्सी के बीच हिंदुस्तान में इतने बड़े अकाल के पड़ने की संभावना है, जिसमें दस करोड़ लोगों से लेकर बीस करोड़ लोगों तक की मृत्यु हो सकती है। और उसका कहना है, इतना बड़ा अकाल दुनिया के इतिहास में कभी भी नहीं पड़ा जितना हिंदुस्तान में जल्दी पड़ेगा।
लेकिन हम यह सुन लेंगे और हम जो कर रहे थे, वह करते चले जाएंगे! कि जब उन्नीस सौ अठहत्तर आएगा तब देखेंगे! फिर भगवान तो सदा साथ है--फिर भगवान से प्रार्थना करेंगे, फिर और यज्ञ करेंगे, और बड़े यज्ञ करेंगे! भगवान साथ नहीं है, तो कम से कम साधु-संन्यासी तो भगवान के एजेंट तो साथ हैं ही--उनसे फिर प्रार्थना करेंगे! और हम उन्हीं से प्रार्थना कर रहे हैं! और वे ही हमें गलत बातें सुझा रहे हैं। वे हमें, वही बातें फिर सुझा देते हैं, जो हजार बार हमें सुझाई गई हैं। और जिनका कोई फल नहीं हुआ है। लेकिन हम सोचने को तैयार भी नहीं हैं! जब मुसीबत आती है, तब फिर वे ही गुरु मिल जाते हैं। फिर हम उन्हीं से पूछने चले जाते हैं! हम उन्हीं से पूछते चले गए हैं! हमने कभी कुछ सोचा नहीं कि हम एक बार अपने से सोचें कि यह क्या स्थिति है।
और अब हमें सोचना ही पड़ेगा, अन्यथा। आने वाले भविष्य में न केवल हम गरीब होंगे, भूखे होंगे, बल्कि यह भी हो सकता है कि अंतरिक्ष में जो लोग गति कर गए हैं, उनके मुकाबले हमारी चेतना और आत्मा भी पिछड़ जाए। यह भी हो सकता है। यह बिल्कुल संभावना पक्की होती चली जाती है कि जैसे हम जी रहे हैं, हमारे पास ही जंगल में आदिम आदमी भी जी रहा है। करीब-करीब हम आने वाले पचास वर्षों में उस जगह पहुंच जाएंगे, जो हमारे और आदिम आदमी के बीच में, आदिवासी और हमारे बीच में जो फासला है, वह फासला हमारे और अमरीका, हमारे और रूस, हमारे और यूरोप के बीच में पैदा हो जाएगा।
आज भी सारी दुनिया हमसे बहुत डरी हुई है, क्योंकि वह देखती है कि यह भिखमंगों का भारी जंजाल इतना बड़ा है कि इसे तृप्त करना मुश्किल है। और यह कुछ करने को राजी नहीं हैं! सोचा था उन्होंने बीस साल पहले कि कुछ सहायता हम देंगे तो ठीक हो जाएगा सब। लेकिन उनकी सहायता से सिर्फ हम एक काम करते हैं कि हम और बच्चे पैदा करते हैं! हम अपनी समस्या और बड़ी कर देते। और इतना खतरा उनको पैदा हो गया है कि अगर ये हालतें बनती चली जाती हैं पूरब के मुल्कों की, विशेषकर भारत जैसे मुल्कों की--संख्या बढ़ती चली जाती है, गरीबी बढ़ती चली जाती है, भोजन-कपड़े कम होते चले जाते हैं, सब मुश्किल होता चला जाता है, तो सारी दुनिया का सुख-चैन खतरे में है। क्योंकि इतने बड़े दुख को झेलना भी एक ही साथ जमीन पर बहुत कठिन है।
लेकिन हम क्या कर रहे हैं?
अगर हम अपनी जिंदगी के सवालों को चारों तरफ देखें, अखबार उठा कर देखें, तो मुझे नहीं लगता है कि हम जिंदगी के किसी बड़े मसले पर विचार भी कर रहे हैं। हम किस बात पर विचार करते हैं? हम विचार करते हैं कि नर्मदा का जल मध्यप्रदेश का है कि गुजरात का है! हम जैसे नासमझ लोग खोजने ही मुश्किल हैं। हमारे अखबार क्या विचार करते हैं कि एक जिला मैसूर में रहना चाहिए कि महाराष्ट्र में! इसमें गोली चलेगी! एक कारखाना औरंगाबाद में बने कि अहमदनगर में! गोली चलेगी! हम जिन समस्याओं से बातें करते हैं, वे समस्याएं नहीं हैं, बीमारियां हैं। और जिंदगी के सामने जो समस्याएं मुंह बाकर खड़ी हैं, उनकी तरफ हम विचार ही नहीं करते! उनको हम देखते ही नहीं! जब वे हमें पकड़ लेती हैं गर्दन से, तब हम चिल्लाते हैं, रोते हैं! और फिर एक ही उपाय रह जाता है कि हम भगवान से प्रार्थना करें! क्योंकि जब हम कुछ कर सकते थे, वह समय हम खो देते हैं और जब कुछ भी नहीं किया जा सकता, असहाय हो जाते हैं,

हेल्पलेस हो जाते हैं, तो फिर भगवान से प्रार्थना करने के सिवाय कोई रास्ता नहीं रह जाता।
और ध्यान रहे, भगवान ने अगर कभी किसी की सुनी भी होगी, तो उन लोगों की
तो कभी नहीं सुनी, जो सिर्फ प्रार्थनाएं करते हैं। अगर कभी सुनी भी होगी, तो उन लोगों की सुनी होगी, जो भगवान को भी मजबूर कर देते हैं, जो इतना करते हैं कि भगवान को भी मान ही जाना पड़ता है, कि कुछ करो। अगर कहीं कोई भगवान है, तो वह भी उनको ही मानता है, जो कुछ करते हैं।
स्वामी राम जापान गए थे। रास्ते में जिस जहाज पर सवार थे--एक बूढ़ा जर्मन भी उस जहाज पर था, जिसकी उम्र कोई नब्बे वर्ष होगी। वह नब्बे वर्ष की उम्र में चीनी भाषा सीख रहा था! चीनी भाषा सीखना कठिन मामला है। शायद पृथ्वी पर उतनी कठिन कोई दूसरी भाषा नहीं है। उसका कारण है कि चीनी भाषा के पास कोई वर्णमाला नहीं है, कोई अल्फाबेट नहीं है, कोई ए बी सी डी, क ख ग कुछ भी नहीं है। चीनी भाषा पिक्चोरियल है, चित्रों की भाषा है। एक-एक शब्द के लिए एक-एक चित्र है। अगर झगड़ा लिखना है, लड़ाई लिखनी है, तो लड़ाई के लिए कोई शब्द नहीं है--सिर्फ एक छप्पर के नीचे दो औरतें बैठी हुई हैं। एक छप्पर के नीचे दो औरतों के बैठने का मतलब झगड़ा होता है। तो छप्पर बना है, और प्रतीक में दो औरतें बैठी हैं, यह झगड़ा हो गया। तो इस तरह कम से कम एक लाख शब्द सीखने पड़ें तब कहीं साधारण चीनी का ज्ञान होता है। नब्बे वर्ष का बूढ़ा चीनी भाषा सीख रहा है, पागल हो गया! रामतीर्थ को लगने लगा, इस बूढ़े को क्या हो गया है? वह सुबह से लेकर जहाज के डेक पर जो चीनी भाषा सीखने बैठता है, तो कब सूरज डूब जाता है, उसे पता नहीं चलता है। जब अंधेरा घिर आता है, उसकी बूढ़ी आंखें थक जाती हैं, तब वह अंदर वापस लौटता है!
दो-तीन दिन में रामतीर्थ ने उससे पूछा कि आपको पता है, कि मैंने सुना
है कि चीनी भाषा सीखने में कम से कम दस साल लग जाते हैं। आप कब सीख पाओगे? आपकी कितनी उम्र हो गई है? उस बूढ़े आदमी ने कहा कि उम्र! उम्र का हिसाब भगवान रखता होगा, इस फिजूल काम में मैं नहीं पड़ता। यहां काम से फुरसत कहां है? रामतीर्थ ने कहाः वह तो ठीक है, लेकिन फिर भी दस साल लग जाएंगे सीखने में--और आपके बचने की उम्मीद कम है। उस बूढ़े आदमी ने कहा कि नब्बे साल का मेरा अनुभव कहता है कि नब्बे साल तो मैं बचा। मरने की संभावना रोज थी, कभी भी मर सकता था। जिस दिन से पैदा हुआ, उस दिन के बाद हर रोज मर सकता था। नब्बे साल तो मैंने मरने को धोखा दे दिया। नब्बे साल का अनुभव यह कहता है, अभी तक नहीं मरा--तो जरा विश्वास बढ़ता है कि जी सकता हूं और भी जी सकता हूं। लेकिन तुम्हारी उम्र कितनी है?
रामतीर्थ बहुत मुश्किल में पड़ गए, उनकी उम्र उस समय तीस ही वर्ष थी।
तुम्हारी उम्र कितनी है? रामतीर्थ ने कहाः मेरी उम्र तो तीस ही वर्ष है। उस बूढ़े आदमी ने कहा कि बेटे मैं तुमसे यह कहना चाहता हूं कि तुम्हारा देश क्यों बूढ़ा हो गया है। तुम कुछ भी नहीं करते, तुम सिर्फ मौत की प्रतीक्षा करते हो, तो बूढ़े तो हो ही जाओगे।
फिर उस बूढ़े ने कहा कि मेरा तो खयाल यह है कि अगर भगवान कहीं भी है, तो
इस बूढ़े को देखेगा कि इतना श्रम करता है तो कुछ तो दया करता होगा। और अगर नहीं है, तब उसकी फिकर ही छोड़ देनी चाहिए। और अगर कहीं है, तो इस बूढ़े को बच्चे की तरह मेहनत करते देख कर यह तो सोचता होगा कि अभी इसे और, और, और उम्र दे। और यह हैरानी की मैंने घटना सुनी है कि वह बूढ़ा पंद्रह साल जिंदा रहा। उसने न केवल चीनी भाषा सीखी, बल्कि न केवल चीनी किताबें पढ़ीं, एक चीनी भाषा में किताब भी लिख कर छोड़ गया है! और रामतीर्थ तो दो साल बाद समाप्त हो गए। वह आदमी एक सौ पांच साल जीया।
मैं मानता हूं कि उसके जीने में उसकी जो जीवंत धारणा है, वह बहुत कीमती रूप से हाथ बंटाई होगी। और इतनी जद्दोजहद जो जिंदगी के लिए कर रहा हो, उसके लिए भगवान भी अगर कहीं हो, तो थोड़ा खयाल रखना जरूरी पड़ेगा।
और रूस में उन्होंने सारे रेगिस्तानों को बदल कर खेत बना दिया है, और हमारे सब खेत धीरे-धीरे रेगिस्तान बने जाते हैं! उन्होंने जहां कभी कुछ पैदा नहीं हुआ था, वहां सब पैदा करके बता दिया! जहां कभी पानी की बूंद नहीं गई थी, वहां नदियां पहुंचा दीं उन्होंने! जहां कुछ भी नहीं होता था, वहां

बहुत कुछ करके दिखा दिया! जहां कल बिल्कुल रेगिस्तान था, आदमी जिन जगहों में प्रविष्ट नहीं हुआ था, वहां सुंदर गांव बना दिए! तो भगवान अगर कहीं भी है, तो उनके श्रम की प्रार्थना को सुनता होगा।
हमारी श्रमहीन प्रार्थना कहीं भी नहीं सुनी गई है--आज तक तो नहीं सुनी
गई है। अभी भी हम श्रमहीन प्रार्थना ही किए चले जाते हैं। नहीं, ऐसी इंपोटेंट प्रेयरस, ऐसी नपुंसक प्रार्थनाएं न सुनी गई हैं, न सुनी जा सकती हैं। लेकिन हम सोचने को राजी नहीं हैं! हमने सोचना ही छोड़ दिया है। हमारे बच्चे भी नहीं सोच रहे हैं। हम सिर्फ अंधों की भीड़ की तरह चलते चले जाते हैं।
क्या यह उचित है?
यही सवाल पूरे मुल्क में जगह-जगह मैं लोगों से पूछता हूं, क्या यह उचित है? क्या यह हितकर है कि हम इस तरह अंधों की भांति चलते चले जाएं, या कि हम जिंदगी के संबंध में कोई निर्णय लें, जिंदगी को अच्छा बनाने की कोई कोशिश करें?
नहीं, हमने ऐसी व्याख्याएं तय कर ली हैं, जिनसे जिंदगी को अच्छा बनाने
का सवाल ही खत्म कर दिया है। हमने जिंदगी में इस तरह की तरकीबें खोज ली हैं, जिससे न सोचने की जरूरत है, न काम करने की जरूरत है, न कुछ बदलने की जरूरत है। अगर एक आदमी गरीब है तो हम कहते हैं, वह अपने भाग्य के कारण गरीब है। एक आदमी अमीर है तो हम कहते हैं, अपने भाग्य के कारण अमीर है! तो फिर मानना चाहिए कि हिंदुस्तान में सब भाग्यहीन पैदा होते हैं। और अमरीका पर भगवान की कुछ ज्यादा कृपा है, सब भाग्यवान वहीं पैदा हो जाते हैं। और कोई आदमी गरीब है तो हम कहते हैं, पिछले जन्मों में पाप किए होंगे इसलिए गरीब है। कोई आदमी अमीर है तो पिछले जन्मों में पुण्य किए होंगे। तो फिर भगवान इस मुल्क को क्या कोई नरक समझ रहा है कि सब पापियों को यहीं भेजता चला जा रहा है? एक ही मतलब होगा इसका कि सब पापी यहीं पैदा हो जाते हैं। सब पुण्यात्मा कहीं और पैदा हो जाते हैं। सब पापी यहीं पैदा हो जाते हैं-- क्या यह ठीक मालूम पड़ता है?
नहीं, यह व्याख्या ही गलत है। सच बात यह है कि गरीबी मिटाने के संबंध में हमें चिंतन करना पड़े, इससे हम बच गए। हमने एक एक्सप्लेनेशन खोज लिया है कि गरीब आदमी पिछले जन्मों के कारण होता है। अब सोचने की कोई जरूरत न रही, बात खत्म हो गई। अब अपना अगला जन्म सुधारो, इस जन्म में तो कुछ हो नहीं सकता है, यह तो पिछले जन्म से हुआ है। तो हमने बात टाल दी पीछे। और बात टाल दी आगे। और आज? आज हम कुछ भी करने से बच गए--न सोचने की जरूरत है, न कुछ करने की जरूरत है।
इस तरह की आत्मघाती धारणाएं छोड़नी पड़ेंगी। मैं नहीं कहता हूं कि जो मैं कहूं, वह सही है। मैं कहता यह हूं कि कोई भी कुछ कहे, किसी के कहने से कुछ सही नहीं होता है। हम सबको सामूहिक चिंतन के लिए तैयारी दिखानी चाहिए। और एक-एक सवाल को वापस जगा लेना चाहिए, मुल्क के सामने सारे सवाल खड़े कर देने चाहिए। और मुल्क की आने वाली पीढ़ियों को विश्वास में नहीं ढालना चाहिए। बहुत हो चुका विश्वास। उन्हें विचार की प्रक्रिया में गति देनी चाहिए।
स्कूल और कालेज में भी जो बच्चे पढ़ रहे हैं, उनको भी सिखाने का हमारा ढंग ऐसा ही है कि वे भी वहां से विचारवान होकर वापस नहीं लौटते। वे वहां से विज्ञान सीख कर लौटते हैं लेकिन उनके दिमाग का ढांचा वही है, जो पुराना था। वे विज्ञान को भी पकड़ लेते हैं अंधे की तरह। उनको यह पता नहीं है कि विज्ञान को अंधे की तरह पकड़ना खतरनाक है। क्योंकि विज्ञान रोज बदल जाता है। जब हम विश्वविद्यालय से पढ़ कर आते हैं, जब हम विश्वविद्यालय में पढ़ते हैं, तब तक सच में विज्ञान बदल गया होता है। पकड़ने की कोई जरूरत नहीं है अंधे की तरह, सोचने की जरूरत है, विचारने की जरूरत है, ताकि मैं जिंदगी को सीधा-सीधा हल करने के लिए कुछ कर सकूं।
और अगर एक बड़ा मुल्क सोचने लगे--इतना बड़ा मुल्क है हमारा, अगर यहां विचार की प्रक्रिया मुक्त हो जाए तो शायद हम जीवन को सब तरफ से बदलने में समर्थ हो सकते हैं। अब गरीब रहने की कोई जरूरत नहीं है। सिर्फ अज्ञान गरीब

बनाए हुए है। अब इतनी बीमारियां झेलने की कोई जरूरत नहीं है, सिर्फ अज्ञान बीमारियां बनाए हुए है। अब पृथ्वी को नरक और दुख बनाने की कोई जरूरत नहीं है, विज्ञान ने इतनी शक्तियां मुक्त कर दी हैं कि अगर हमारे मन विचारपूर्ण हों तो हम उन सारी शक्तियों से जमीन को स्वर्ग बना सकते हैं।
लेकिन यह नहीं हो पा रहा है, क्योंकि हमारे मन पुराने हैं और उनका ढांचा बिल्कुल बंद है, क्लोज्ड है। सब दिमाग बंद हैं, जैसे कोई आदमी सब द्वार-दरवाजे बंद करके भीतर अपने मकान में छिप गया हो। वह न द्वार खोलता है, न दरवाजा खोलता है--न सूरज की रोशनी आती है, न हवाएं आती हैं। वह भीतर ही सड़ता और मरता है। ऐसे हम बंद हैं।
नहीं, खुला हुआ मस्तिष्क चाहिए--सब तरफ से खुला हुआ। गीता पर संदेह चाहिए, रामायण पर संदेह चाहिए, कृष्ण पर, गांधी पर, बुद्ध पर, महावीर पर संदेह चाहिए तो मन खुलेगा, तो मन मुक्त होगा। तो हम सोचना शुरू करेंगे। लेकिन हम कहते हैं, महावीर! महावीर सर्वज्ञ थे। उन्होंने जो जान लिया वह हमेशा के लिए सत्य है! और हमारी किताब में जो लिखा है चांद के बाबत, वह सही है। शंकराचार्य भी यह कह रहे हैं! वह यह कह रहे हैं कि पहली तो बात यह है कि चांद पर गए ही नहीं लोग, यह सब झूठी अफवाह है! दूसरा, अगर वे चले भी गए हों, तो यह वह चांद नहीं है, जो हमारे शास्त्रों में लिखा हुआ है! वह चांद बहुत आगे है। हम किस तरह अपने दिमाग को बंद किए हुए बैठे हैं!
एक बूढ़ी औरत ने मुझे आकर कहा कि सुना आपने, शंकराचार्य ने क्या कहा है? मैंने कहाः मैंने सुना है, और अगर मुल्क समझदार होगा तो ऐसे लोगों के मस्तिष्क का इलाज करवाना चाहिए। उस बूढ़ी औरत ने कहाः आप क्या कहते हैं? हमारे वह जगतगुरु हैं, वह जो कहते हैं, वह ठीक कहते हैं। मैंने कहाः वह तुम्हें ठीक लगता है, तुम्हें ठीक लगता रहेगा, क्योंकि तुम्हारा मस्तिष्क भी उतना ही बंद है, जितना उनका है। लेकिन, दुनिया में यह चलेगा नहीं। आज नहीं कल, वह तो पागल सिद्ध होंगे, उनके पीछे चलने वाली पूरी जमातें भी पागल सिद्ध हो जाएंगी। लेकिन हम चले चले जाएंगे! हम चलते चले जाएंगे!
मैं अभी पटना था, शंकराचार्य मेरे साथ थे एक ही मंच पर। उन्होंने वहां
से कहा--उन्होंने कहा कि स्त्रियों को शिक्षा देने की कोई जरूरत नहीं है। क्यों? क्योंकि उन्होंने कहा, हिंदू-धर्म ने स्त्री जाति को इतना आदर दिया है कि अब और शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती! और उन्होंने यह भी बड़े मजे की बात कही--और लोग सुन रहे हैं और कोई इनकार नहीं करता! उन्होंने यह भी कहा कि पश्चिम में अगर किसी स्त्री को डाक्टर होना हो तो डाक्टरी पढ़नी पड़ेगी। हमारा हिंदू धर्म, इतना महान है हमारा देश कि बस डाक्टर से शादी कर लो, स्त्री डाक्टरनी हो जाती है! पढ़ने-लिखने की कोई जरूरत नहीं है! और जो स्त्रियां बैठी थीं, उन्होंने ताली बजाई और उन्होंने प्रशंसा जाहिर की और वे बड़ी खुश हुई कि इतनी सरलता से हिंदुस्तान में डाक्टरनी हो जाती हैं। न पढ़ने की कोई जरूरत है--डाक्टर की औरत हो जाना काफी है।
यह अगर इस भांति हम सोचेंगे तो हम सोच रहे हैं? कि हम सोच ही नहीं रहे हैं?
और इस तरह की बातें हम सुन रहे हैं, सुने चले जा रहे हैं! इस तरह के काम किए चले जा रहे हैं कि सारी दुनिया हम पर हंसती है। सारी दुनिया खयाल करती है कि इस पूरे मुल्क को क्या हो गया है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि पूरा मुल्क, बहुत जमाना हुआ, तब से उसका दिमाग जंग खा गया हो, अब वह सोचता ही नहीं। और ऐसा हो जाता है। अगर आप पैर का बहुत दिन उपयोग न करें, दो साल पैर को बांध लें तो फिर पैर नहीं चल सकेगा। इसमें पैर का कोई कसूर नहीं है। अगर दो साल एक आदमी अंधेरे में रह जाए, आंख बंद कर ले, तो फिर आंख रोशनी में बाहर नहीं आ सकेगी, आएगा तो आंख बंद हो जाएगी। आंख देखने की क्षमता खो देगी, ताकत खो देगी। रोशनी घबड़ाने वाली हो जाएगी। और अगर एक आदमी--हजारों वर्ष से, एक जाति, एक समाज सोचना बंद कर दे, तो सोचना खत्म हो जाता है।
हम जो करते हैं, वही जारी रहता है। हम जो करते हैं, उसमें धार आती चली जाती है। हम जो करते हैं, वह पैना हो जाता है। हम जो करते हैं, वह विकसित होता है। जो हम नहीं करते हैं, वह अविकसित हो जाता है। हमने विचार नहीं किया है, विचार में जंग लग गई है। इसलिए हम किसी चीज में कोई विचार नहीं कर

पाते। निहत्थे, असहाय धारा में खड़े हैं जीवन की, जहां धक्के लग जाएंगे! गुलामी आएगी तो गुलाम हो जाएंगे, आजादी आएगी तो आजाद हो जाएंगे! यह आजादी भी गुलामी जैसी स्वीकृत हो जाती है! इसमें कुछ होता नहीं है हमारे भीतर! अगर कल गुलामी आ जाए, तो हम फिर गुलाम हो सकते हैं! कोई हमें तकलीफ नहीं है! बीमारी आएगी तो राजी हो जाएंगे, गरीबी आएगी, तो ठीक है! मरेंगे, अकाल पड़ेगा, तो ठीक है! बाढ़ आएगी, तो ठीक है! जो भी होगा, हम स्वीकार कर लेंगे!
हम आदमी हैं--कि हम यंत्रों की भांति हो गए हैं कि जो भी होता है, हो जाता है, हम देख लेते हैं? हमारा जिंदगी से कोई संघर्ष नहीं है! हम जिंदगी को बदलने की कोई तत्परता नहीं दिखाते हैं! क्या हमारे भीतर सारी आत्मा खो गई है? और आत्मा की हम निरंतर बात करते हैं! ऐसा लगता है कि आत्मा कोई रेडीमेड चीज है कि आप बाजार में गए और खरीद ली? या किताब पढ़ ली और आत्मा मिल गई? कि राम-राम जप लिया और आत्मा मिल गई? आत्मा सिर्फ उनको उपलब्ध होती है, जो जिंदगी की सारी कुरूपता, सारे दुख, जिंदगी के सारे अज्ञान, अंधकार से लड़ते हैं। सिर्फ उनको आत्मा उपलब्ध होती है।
आत्मा संघर्ष का फल है।
जिनके पास सत्य खो जाते हैं, उनके पास बातें रह जाती हैं। गरीब आदमी
से पूछो तो हमेशा धन की बात करता हुआ मिलेगा। और बीमार आदमी से पूछो तो हमेशा स्वास्थ्य की बात करता मिलेगा। बीमारों के अलावा स्वास्थ्य की कोई बात ही नहीं करता। स्वस्थ आदमी जीता है, बात करने की फुरसत कहां है? बीमार आदमी बैठ कर स्वास्थ्य की बात करता है! नेचरोपैथी की किताब पढ़ता है कि स्वास्थ्य क्या चीज है! स्वस्थ कैसे हुआ जाए, स्वास्थ्य की परिभाषा क्या है? स्वास्थ्य खो गया तो स्वास्थ्य की परिभाषा और डेफिनिशन में वक्त लगाता है! स्वस्थ आदमी स्वास्थ्य को जीता है। फुरसत कहां है कि बैठ कर स्वास्थ्य की किताब पढ़े? आत्मा खो जाए तो मुल्क भर आत्मा की बातें करने लगता है! परमात्मा खो जाए तो परमात्मा की बात शुरू हो जाती है!
जो खो जाता है, उसकी बात होती है।
लेकिन ढंग यह होता है कि हम चूंकि आत्मा की बहुत बातें करते हैं, इसलिए आत्मवादी हैं। नहीं, हम आत्मवादी बिल्कुल भी नहीं हैं। आत्मा पाने का हमने कोई उपाय ही नहीं किया, विचार ही नहीं किया, संघर्ष ही नहीं किया, चुनौती ही नहीं ली--कोई चैलेंज नहीं लिया तो आत्मा कैसे पैदा हो जाएगी। आत्मा पुकारी नहीं गई। सिर्फ बातें कर रहे हैं!
एक छोटी सी घटना और अपनी बात मैं पूरी करूंगा।
एक मित्र ने मुझे अमरीका से एक पत्रिका भेजी। उस पत्रिका में एक लेख था, मजाक का लेख था। उस लेख में, किसी ने सारी दुनिया की जातियों के बाबत कुछ मजाक किए थे। लिखा था कि अगर अंग्रेज को शराब पिला दी जाए तो अंग्रेज बिल्कुल चुप हो जाता है, फिर उससे एक शब्द भी निकलवाना बहुत मुश्किल है। सच में, वैसे भी अंग्रेज चुप रहता है। अगर अंग्रेज के साथ सफर करने को मिल जाए डिब्बे में, ट्रेन की, तो वह आपको स्वीकार भी नहीं करेगा कि आप हैं! चौबीस घंटे भी आप साथ होंगे तो वह ऐसे ही रहेगा, जैसे वह अकेला है अपने में बंद। वह आपसे बातचीत नहीं करेगा। अगर शराब पिला दी जाए तो उसका गुण और पूरे रूप में निखर आता है, फिर वह बात करता ही नहीं। अगर फ्रांसीसी आदमी को शराब पिला दी जाए, तो वह नाचने-गाने लगता है एकदम। वह वैसे ही नाचता-गाता रहता है। और अगर डच को शराब पिलाई जाए, तो वह एकदम भोजन पर टूट पड़ता है। वैसे भी डच आदमी भोजन करने बैठता है, तो उसे टेबल पर से उठाना आसान बात नहीं है।
तो उसमें सारी दुनिया के लोगों के बाबत यह लिखा था। सिर्फ भारत उसमें छूट गया था। तो मेरे एक मित्र ने अमरीका से मुझे वह पत्रिका भेजी और पूछा कि इसमें भारत के बाबत कुछ भी नहीं है। आप मुझे कहें कि अगर भारतीय को शराब पिला दी जाए तो वह क्या करेगा? मैंने कहाः उत्तर जाहिर है। अगर भारतीय को शराब पिला दी जाए तो वह उपदेश देना शुरू कर देगा। वह फौरन आत्मा-परमात्मा की बातें शुरू कर देगा। और गरीबी की वजह से शराब तो मिलती नहीं, इसलिए बिना ही शराब के बातें करनी पड़ती हैं। और शराब मिलना भी तो आसान नहीं है, तो आत्मा-परमात्मा की बात बिना उसके करनी पड़ती है। लेकिन हम सिर्फ बातचीत

करने वाली कौम हैं! हमने करना बंद कर दिया है, जीना भी बंद कर दिया है, क्योंकि हमने सोचना ही बंद कर दिया है।
आदमी की गहरी से गहरी आत्मा का विचार तत्व है, आधार है, बुनियाद है-- थिंकिंग, सोचना आधार है आदमी के जीवन का। सिर्फ सोचने की वजह से आदमी जानवरों से अलग है। और अगर आदमी भी सोचना बंद कर दे तो वह जानवरों जैसा हो जाता है। भारत में करीब-करीब हालत ऐसी हो गई है। अगर किसी छोटे गांव में जाकर देखें तो आदमी भी वहीं सो रहा है, भैंस भी वहीं बंधी है, गाय भी वहीं खड़ी है, बैल भी वहीं खड़ा है--वह आदमी भी वहीं सो रहा है! अगर बहुत गौर से देखें तो उनमें बड़ी समानता मालूम होती है। वह गाय, बैल और वह आदमी में कोई बहुत बुनियादी फर्क नहीं मालूम पड़ता है। वे सब एक साथ खड़े हुए हैं, वे सब चुपचाप जीए जा रहे हैं। फिर गऊ को माता मानने वाले लोग निश्चित ही गऊ के बेटे से ज्यादा हो भी नहीं सकते।
सोचना छोड़ कर हमने मनुष्यता की, संघर्ष की जो यात्रा है, वह छोड़ दी है-- खड़े हो गए हैं पशुओं की तरह। कोई विकास नहीं, कोई गति नहीं, कहीं कोई जाना नहीं--चुपचाप खड़े हैं, स्टैटिक और डेड, रुके हुए और मृत! यह आगे नहीं चलना चाहिए। नहीं चल सकता है, न चलना उचित है। इसे हम तोड़ें। तोड़ने के लिए कोई भीड़ की जरूरत नहीं है। एक-एक आदमी सोचना शुरू कर दे अपनी तरफ से तो हजार चीजें टूटना शुरू हो जाएंगी। सोचेगा तो शायद ताबीज खोल कर फेंक देगा कि यह क्या मैंने नासमझी बांध रखी है। सोचेगा तो शायद पूछेगा--ये पत्थर पर लाल रंग लगा हुआ है, तो इससे ये हनुमान जी हो गए? सोचेगा तो पूछेगा--मंदिर और मस्जिद का झगड़ा अच्छे आदमियों का हो सकता है? सोचेगा तो पूछेगा। सोचेगा तो हजार प्रश्न उठेंगे। और जब प्रश्न उठेंगे तो जवाब खोजने पड़ेंगे। और अगर जवाब नहीं मिलेंगे तो फिर गलत को पकड़ने की बात छोड़नी पड़ेगी। जवाब मिलेंगे तो ठीक हमारे हाथ में आएगा।
सोचना एक कठिन प्रक्रिया है, तकलीफदेह है, आर्डुअस है, मुश्किल है-- क्योंकि सोचना कनवीनिएंट नहीं है, सुविधापूर्ण नहीं है।
न सोचना बहुत सुविधापूर्ण है। कोई और हमारे लिए सोच देता है, हम उसको मान लेते हैं, हमें कुछ भी नहीं करना पड़ता। और हम सब काम दूसरों से लेने के आदी हो गए हैं। और वह भी हम उनसे ले रहे हैं, जो कभी के हो चुके!
अब कृष्ण को हुए कितना जमाना हुआ? अब बेचारे कृष्ण ने सोचा होगा--हम उन्हीं के सोचने से काम चला रहे हैं! हम रोज गीता पढ़ लेते हैं। हमारे बड़े से बड़े महात्मा भी गीता में ही खोजते रहते हैं कि कहां उत्तर मिल जाए! जिंदगी अभी सवाल उठाती है, वह गीता खोल लेते हैं! वह पूछते हैं कि कृष्ण कहीं उत्तर दे दें! तो कृष्ण ने सोचना पूरा कर दिया है? अब हमारा काम यह है कि हम उसी को उधार लेते चले जाएं--बॉरोड, उधार जीते चले जाएं! हम नहीं सोचेंगे तो हमारे भीतर कृष्ण कभी पैदा नहीं हो सकता।
गीता पढ़ने से कृष्ण पैदा नहीं होता--कृष्ण की भांति उतनी ही तीव्रता
से सोचने वाला आदमी कृष्ण जैसी चेतना को, आत्मा को उपलब्ध होता है।
यह मैं इसलिए कहता हूं कि शायद आपके मन पर कहीं चोट पड़ जाए और आप सोचना शुरू कर दें। नहीं कहता, मेरी बात मान लें। जो आदमी ऐसा कहता है, मेरी बात मान लें, वह आदमी सोचने को बल नहीं देता, सोचने को जड़ से काटता है। किसी की बात मत मानना। बहुत दिन हो चुके हमें बहुत लोगों की बातें मानते-मानते। कभी अपनी भी खोजना, और जिंदगी में एक खयाल ले लेना पक्का कि अगर मेरे पास अपना कोई विचार नहीं तो मैं बेकार जीआ। मरने के पहले कम से कम कुछ तो मेरे पास अपना विचार हो, कि मरते वक्त भगवान के सामने खड़ा होऊं तो कह सकूं, यह मैंने भी सोचा था, यह मैंने भी जीआ था, मैं उधार आदमी नहीं हूं। नहीं तो अभी हम भगवान के सामने खड़े होंगे, तो सिवाय उधारी के हमारे पास कुछ भी नहीं होगा। भगवान पूछेगा, तुम्हारा अपना क्या है? तुमने खुद सोचा था कुछ, जीआ था कुछ, तुमने चेतना कितनी विकसित की? हम कहेंगे, नहीं, हम तो गीता पढ़ते थे, रामायण याद करते थे। हम तो गुरुओं को मानते थे, महात्माओं के पीछे चलते थे। हमें सोचने की जरूरत क्या? हमारे मुल्क में बहुत महात्मा हैं, वे सब काम कर देते हैं। वह भगवान कहेगा, मैंने उन महात्माओं को भी पूछा, वे

किन्हीं और महात्माओं के पीछे चलते थे! तुम पीछे ही चलते रहे, तुमने खुद कभी नहीं सोचा?
और जो आदमी खुद नहीं सोचता, वह खुद कभी हो ही नहीं पाता। उसको बीइंग नहीं मिलता, वह आदमी व्यक्ति नहीं बन पाता। और जो आदमी व्यक्ति बनने से बच गया, वह कैसे धार्मिक होगा? वह कैसे सत्य को जानेगा? वह कैसे प्रभु के मंदिर में प्रवेश पा सकता है? उसके मंदिर में प्रवेश पाने की पहली शर्त है व्यक्ति होना, इंडीवीजुअल होना। अपना कुछ लेकर जाना पड़ेगा वहां चढ़ाने को। समर्पण भी वह मांगेगा--तो अपना तो कुछ होना चाहिए।
देने को हमारे पास अपना क्या है? इसे थोड़ा पूछना, खोजना, सोचना, तो शायद एक धारा फूट पड़े। और अगर इस देश में थोड़े से लोग भी सोचने लगें, तो इस देश का पुरानापन मिट जाए, नई आत्मा पैदा हो जाए; इसकी जड़ता टूट जाए, चेतना विकसित होने लगे। धारा खुल जाए तो शायद पृथ्वी पर हम फिर पैर खड़े करने में समर्थ हो जाएं। वे दूसरे लोग चांद पर पैर रख रहे हैं। और हम पृथ्वी पर ही डगमगा रहे हैं कि कब गिर जाएं। वे दूसरे लोग पैर जमा कर चांद पर खड़े हो गए हैं, और हम? हम उस पृथ्वी पर ही खड़े नहीं रह सकते जहां हम हजारों वर्ष से खड़े हैं, पैर डगमगा रहे हैं। वहीं से हम गिर सकते हैं! यह शोभा योग्य नहीं है। लेकिन, हम होशियार लोग हैं। हम यह देखते नहीं, हम तो पुरानी गाथा चिल्लाए चले जाते हैं कि हम जगतगुरु हैं! हम सारी दुनिया के नेता हैं, सारी दुनिया हमारी तरफ देख रही है! कोई नहीं देख रहा है किसी की तरफ। सब अपनी तरफ देख रहे हैं। और इस भ्रम में मत रहना कि सारी दुनिया हमारी तरफ देख रही है। कोई नहीं देख रहा है। कोई नहीं देख रहा है--किसी को देखने की फुर्सत भी नहीं है, जरूरत भी नहीं है किसी की तरफ देखने की। और कोई हमारी प्रतीक्षा नहीं कर रहा है कि हम आएं और उसको बोध दें, और ज्ञान दें।
हमारी हालत बता रही है कि हम अज्ञान की गहरी से गहरी पर्तों में पड़े हैं--हमसे ज्ञान लेने कौन आएगा? हम सबूत हैं न? हमसे कौन पूछेगा? और हमारी देने की सामर्थ्य क्या है? जिन्हें रोटी मांगनी पड़ रही है, वे और कुछ क्या दे सकते हैं?
नहीं, हम धोखा न दें, अपने को झूठी बातों में न डालें। स्थिति को समझें, सोचें। कम से कम नये बच्चों, नई पीढ़ी, नये युवकों, विद्यार्थियों को मैं कहना चाहता हूं, तुम सोचना। तुम अपने पिता की बात मत मान लेना, तुम अपने गुरु की बात मत मान लेना, तुम सोचना। अगर ठीक लगे तो मानना, न ठीक लगे तो लड़ना, मत मानना।
सोरबोन विश्वविद्यालय पर विद्यार्थियों ने एक बड़ी भारी तख्ती लगा दी
है फ्रांस में। अलग करने की कोशिश की गई, लेकिन उन्होंने कहा तख्ती अलग नहीं होगी। तख्ती बड़ी छोटी है, लेकिन बड़ी अदभुत है। तख्ती पर लिखा हुआ हैः प्रोफेसर्स, यू आर ओल्ड। लिखा हैः अध्यापको, आप बूढ़े हो चुके हैं। यह तख्ती सोरबोर्न विश्वविद्यालय की बड़ी बिल्डिंग पर सामने लगी है। बहुत कोशिश की, बहुत झगड़ा हुआ; विद्यार्थियों ने कहाः इसे हम अलग नहीं होने देंगे। इसको प्रत्येक प्रोफेसर को पढ़ कर निकलना चाहिए रोज कि आप बूढ़े हो गए हैं। और कृपा करके ध्यान रखें कि हमको बूढ़े बनाने की कोशिश मत करें। तो थोड़ा सोचना।

मेरी इन बातों को इतनी शांति और प्रेम से सुना, उससे बहुत अनुगृहीत हूं। और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं। मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

विद्यार्थियों को संबोधन

शिक्षा में क्रांति
चौदहवां प्रवचन

साध्य और साधन

प्रश्नः ओशो, टुडे आई वुड लाइक टु आस्क यू अबाउट मीन्स एण्ड एण्ड्स। सर, इनफेक्ट दिस इस्यू हैज बीन वेरी मच कनफ्यूजिंग फॉर दि वर्ल्ड एट लार्ज। मैनी-मैनी स्कॉलर्स फ्रॉम मिडिवियल टु दि प्रेजेंट हैव टेकन दिस इस्यू फ्रॉम मैनी साइड्स गिविंग डिफरेंट डेफिनिशंस एण्ड व्यूज। फॉर इंस्टांस पोलिटिकल फिलॉसफर्स हैव नेम्ड इट फंडामेंटल ट्रूथ एण्ड डिप्लोमेटिक ट्रूथ। सोसियल फिलॉसफर्स हैव यूज्ड इट एज एन इथिकल ट्रूथ एण्ड सोसियल ट्रूथ। सेप्टिकल फिलॉसफर्स हैव यूज्ड इट एज एक्चुअल ट्रूथ एण्ड रिलेटिव ट्रूथ। साइंस फिलॉसफर्स हैव यूज्ड इट एज साइंटिफिक लिविंग एण्ड आर्ट ऑफ लिविंग। बट इफ आई एम नॉट मिस्टेकन सर, दे डील विद आल दि नाइन बेसिक इस्यूज ऑफ लिविंग ईदर सब्जेक्टिवली ऑर ऑब्जेक्टिवली व्हिच आर एज अंडरः
... बट सेकेंड इज़ इग्नोरेंस मीन्स नॉन-कनिंगनेस, थर्ड इज़ फूड, फोर्थ इज़ शेल्टर मीन्स सिक्योरिटी। फिफ्थ इज़ क्लोथिंग मीन्स प्रोटेक्शन। सिक्स्थ इज़ दि सेक्स मीन्स वे ऑफ लिविंग। सेवंथ इज़ सिकनेस। एट्थ इज़ ओल्ड एज एण्ड नाइंथ इज़ डेथ। वुड यू प्लीज एनलाइटन आन दि सब्जेक्ट मैटर?

सबसे पहले तो साध्य और साधन के संबंध में समझना चाहिए। ऐसा हमेशा समझा जाता रहा है कि साधन अलग हैं और साध्य अलग हैं--एण्ड्स एण्ड मीन्स अलग-अलग बातें हैं। यह बुनियादी भ्रांति की बात है। उन्हें अलग मान कर सोचने से कभी भी ठीक नतीजे पर कोई नहीं पहुंच सकता है।
असल में साधन ही विकसित होकर साध्य बन जाता है। मीन्स ही विकसित होकर एंड बन जाता है। ये दो चीजें नहीं हैं, जैसे बीज और वृक्ष दो चीजें नहीं हैं। और जन्म और मृत्यु भी दो चीजें नहीं हैं। एक ही चीज विकसित होती है और दूसरी बन जाती है। लेकिन दोनों के बीच में समय का बड़ा अंतर है। यह टाइम गैप से भ्रांति पैदा होती है कि वे दो चीजें हैं।
और तब ऐसे सवाल उठने लगते हैं कि क्या हम गलत साधनों से ठीक साध्य तक पहुंच सकते हैं? यह प्रश्न इसीलिए उठता है कि हमने साध्य और साधन को अलग स्वीकार कर लिया है। कोई यह नहीं पूछता कि क्या हम कड़वे बीज से मीठे फल तक पहुंच सकते हैं? क्योंकि हमें ज्ञात है कि बीज और फल एक ही यात्रा के दो पहलू हैं, एक ही चीज की दो स्थितियां हैं। बीज एक स्थिति है और फल दूसरी स्थिति है। तो कोई भी यह नहीं पूछता कि हम मुर्गी के अंडे से आदमी तक पहुंच सकते हैं या नहीं पहुंच सकते हैं। मुर्गी के अंडे से हम मुर्गी तक पहुंच सकते हैं, जो उसमें छिपा है, वही प्रकट हो जाएगा। अंडा और मुर्गी में जो फर्क है वह दो चीजों का नहीं है। वह फर्क इतना है कि अंडे में जो छिपा है, मुर्गी में वह प्रकट हो गया है। बीज और वृक्ष में भी वही फर्क है, साधन और साध्य में भी इतना ही फर्क है।
इसलिए गलत साधन कभी ठीक साध्य तक ले जाने वाले नहीं हो सकते हैं, क्योंकि साधन ही यात्रा करते-करते अंत में साध्य बन जाता है। तो कोई यह सोचता हो कि मैं घृणा के साधन उपयोग करके प्रेम के साध्य को पा लूं तो वह गलती में है। वह घृणा के साधनों से चल कर अंततः और बड़ी घृणा पर ही पहुंचेगा। और कोई यह सोचता हो कि मैं हिंसा के साधन का उपयोग करके अहिंसा की दुनिया बना लूं तो वह गलती में है। हिंसा के साधन और बड़ी हिंसा में ही ले जाएंगे।
लेकिन साध्य और साधन के बीच इतना फासला है कि यह भ्रांति अक्सर हो जाती है। और ऐसा लगता है कि हम किन्हीं भी साधनों से किन्हीं भी साध्यों तक पहुंच सकते हैं, यह बिल्कुल ही असंभव है। एक विशिष्ट साधन एक विशिष्ट साध्य तक पहुंचा सकता है। और इसलिए साध्य उतना विचारणीय नहीं है, जितना साधन विचारणीय है। क्योंकि साध्य तो कल होगा, साधन आज है। और जो हम आज चुनेंगे, वही कल प्रकट होगा। वृक्ष और फल उतने विचारणीय नहीं हैं, जितना

बीज विचारणीय है, क्योंकि बीज आज हमें चुनना है, और वृक्ष और फल इसी बीज से विकसित होंगे। इसलिए साधन का प्रश्न अत्यधिक महत्वपूर्ण है।
लेकिन हमेशा मनुष्य-जाति के इतिहास में अधिक लोगों ने साध्य को महत्वपूर्ण समझा है--एण्ड को महत्वपूर्ण समझा है। और वे मानते हैं कि मनुष्य के जीवन में ऊंचा साध्य होना चाहिए, ऊंचा उद्देश्य होना चाहिए, अंतिम लक्ष्य श्रेष्ठ होना चाहिए और उनकी सबकी यह दृष्टि है कि अगर हमने श्रेष्ठ साध्य चुन लिया तो फिर सब ठीक हो जाएगा। यह एंफेसिस, यह जोर ही गलत है। साध्य इतना महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण तो साधन ही है, क्योंकि वह हमें आज चुनना है। और जो हम आज करेंगे, वह हम कल हो जाएंगे। साध्य का मूल्य इतना ही है कि वह हमें साधन चुनने में अर्थपूर्ण होगा।
यदि एक व्यक्ति को अपने जीवन को प्रेम से भरना है--साध्य का इतना ही मूल्य है कि अब वह ऐसे साधन चुने जो प्रेम से शुरू होते हों। असल में प्रेम से ही शुरू होंगे साधन तो प्रेम तक पहुंचा देंगे, नहीं तो नहीं पहुंचा पाएंगे।
पहला कदम ही हमारा अंतिम कदम है। क्योंकि दूसरा कदम पहले कदम से निकलेगा, तीसरा कदम दूसरे कदम से निकलेगा, और अंतिम कदम हमारा पहले कदम की हीशृंखला का हिस्सा होगा।
तो मैं साध्य से भी ज्यादा मूल्यवान साधन को कहता हूं, इसलिए कि साधन
जो हम चुनेंगे वह कल साध्य हो जाएगा। लेकिन मनुष्य ऐसी भूल करता रहा है और पूरा इतिहास इस भूल से भरा हुआ है। कुछ लोग जो दुनिया में धर्म चाहते हैं, वे भी धर्म लाने के लिए अधार्मिक साधन का उपयोग करते हैं। कोई शिक्षक बच्चे को शिक्षा देना चाहता है, लेकिन दंड का, भय का उपयोग करता है। कोई पिता, कोई मां अपने बच्चों को अच्छा बनाना चाहते हैं, लेकिन अच्छा बनाने के लिए जो वे करते हैं, वह चूंकि बुरा है, इसलिए बच्चे अंततः बुरे हो जाते हैं। यह अगर हमें ठीक से खयाल में आ जाए तो साध्य के संबंध में इतनी चिंता करनी जरूरी नहीं रह जाती। जरूरी हो जाता है साधन को हम साधन चुनते वक्त निर्णय करें।
तो पहली तो बात यह है, ध्यान में लेना चाहिए कि साध्य और साधन को मैं
एक ही मानता हूं, इसलिए ऐसा प्रश्न ही नहीं है कि हम गलत साधनों से ठीक साध्य पर पहुंच सकते हैं या नहीं पहुंच सकते हैं।
अब दूसरी बात--जितने लोगों ने भी जीवन को दो हिस्सों में तोड़ दिया है-- सब्जेक्टिव और ऑब्जेक्टिव, जिन लोगों ने कहा है कि एक जीवन भीतर का है और एक जीवन बाहर का है, उन लोगों ने भी नुकसान पहुंचाया है। वस्तुतः जीवन समग्र है, इंटिग्रेटेड है। यहां बाहर और भीतर जैसी दो टूटी हुई चीजें नहीं हैं। जैसे मेरी श्वास बाहर गई, मुझे पता भी नहीं चल पाता है कि वह बाहर गई कि उसका भीतर आना शुरू हो जाता है। और यह बोध मुझे होता है कि श्वास भीतर गई कि मैं पाता हूं कि वह बाहर जानी शुरू हो गई। और जो श्वास भीतर जाती है, वह वही है, जो बाहर थी। और जो भीतर है, वह थोड़ी देर बाद बाहर हो जाएगी। बाहर और भीतर इतने ही जुड़े हुए हैं, जैसे श्वास बाहर और भीतर हो रही है।
असल में, हमारे देखने के ढंग पर निर्भर करता है। बाहर और भीतर एक ही जीवन के दो छोर हैं। एक जीवन भीतर और एक जीवन बाहर है, ऐसे दो जीवन नहीं हैं। जीवन तो एक है। और उस जीवन के दो छोर हैं, उसका फैलाव है यह--भीतर तक और बाहर तक। और यह संयुक्त है और इकट्ठा है। इसलिए अंततः बाहर और भीतर ऐसी दो सीमाएं नहीं हैं, दो खंड नहीं हैं! न सब्जेक्टिव और ऑब्जेक्टिव ऐसे दो खंड हैं! जिन लोगों ने जीवन को इन दो हिस्सों में तोड़ा, उन्होंने भी भारी नुकसान पहुंचाया है। क्योंकि अंततः इस तोड़ने का फल यह हुआ कि कुछ लोगों ने कहा कि असली जीवन बाहर है।
जैसे दुनिया भर के भौतिकवादी हैं, मैटीरियलिस्ट हैं, सुखवादी हैं, हेडोनिस्ट हैं, आज का वैज्ञानिक है--उन सबकी दृष्टि यह है कि बाहर ही जीवन है। भीतर कुछ भी नहीं है। दूसरे कुछ लोग हुए--धार्मिक लोग, योगी, दार्शनिक, मिस्टिक--उन्होंने जोर दिया कि जीवन भीतर है, बाहर कुछ भी नहीं है। और इन दोनों ने ही जीवन को नुकसान पहुंचाया है, क्योंकि जीवन दोनों ही है। जिन्होंने जोर दिया कि भीतर ही जीवन है, उन्होंने कहा, बाहर को छोड़ो और

भीतर को पकड़ो। और बाहर को छोड़ते-छोड़ते वे उस जगह पहुंचे हैं, जहां भीतर पकड़ने को कुछ भी नहीं बचता है। क्योंकि जिसे वे भीतर कहते हैं, वह बाहर से ही जुड़ा हुआ है। और इस तरह बाहर छोड़ते-छोड़ते, छोड़ते-छोड़ते सिवाय मृत्यु के और जड़ हो जाने के और कुछ भी शेष नहीं रह जाता। तो ऐसे लोग सुसाइडल सिद्ध हुए, आत्मघाती सिद्ध हुए। छोड़ने-छोड़ने-छोड़ने में उन्होंने अंततः पाया कि सब चला गया, कुछ भी नहीं बचा। बच ही नहीं सकता, क्योंकि दो चीजें नहीं हैं कि हम एक को छोड़ सकें। जैसे एक रुपये के दो पहलू हैं और मैं कहूं कि मैं एक हिस्से को तो बचाऊंगा और दूसरे हिस्से को फेंक दूंगा। तो मैं दूसरे हिस्से को फेंकूं तो पूरा रुपया फिंक जाएगा और मेरे हाथ में कुछ भी न रह जाएगा।
तो भीतर को बाहर के विरोध में सोचने वाले लोगों ने बाहर को छोड़ने में
सब खो दिया, भीतर भी कुछ न बचा। एक रिक्तता, एक एंप्टीनेस पीछे रह गई--जो जीवन का अभाव है।
दूसरी तरफ वे लोग हैं, जिन्होंने कहा, बाहर ही जीवन है! तो उन्होंने कहा कि भीतर कुछ भी नहीं है, भीतर को छोड़ो। और भीतर को जो जितना छोड़ते चले गए, उन्होंने पाया कि बाहर भी कुछ न बचा, सिर्फ मीनिंगलेसनेस, सिर्फ अर्थहीनता बची। क्योंकि वह जो जीवन है, वह इकट्ठा है, भीतर को अलग करने में, वह बाहर भी अलग हो गया। जीवन बचता है तो पूरा, जाता है तो पूरा।
इसलिए एक इंटिग्रेटेड व्यू चाहिए, जहां ऑब्जेक्टिव और सब्जेक्टिव, बाहर और भीतर दो नहीं हैं, बल्कि एक हैं।
तो इन पुरानी चिंतनाओं के ये दो पहलुओं ने भी बहुत नुकसान पहुंचाया है। इन्होंने इस तरह नुकसान पहुंचाया है कि जीवन को दोनों तरफ से नष्ट किया। एक स्थिति में रिक्तता रह गई, दूसरी स्थिति में अर्थहीनता रह गई। अगर हम पूरब के मुल्कों की, जिन्होंने भीतर को जोर दिया है, सारी किताबें उठा कर देखें तो एक ही बात दिखाई पड़ती है कि जीवन व्यर्थ है, जीवन दुख है, जीवन असार है। और जीवन से कैसे छूटें, बस यही एक कामना दिखाई पड़ती है। सब छोड़ दिया बाहर, उसमें सब जीवन भी छूट गया। अगर आज हम पश्चिम की पूरी मनःस्थिति के भीतर प्रवेश करें तो दिखाई पड़ता है कि जीवन अर्थहीन है। किसी चीज में कोई अर्थ नहीं है, सब एब्सर्ड है। यह करना भी ठीक है, वह करना भी ठीक है; न इस करने में कुछ फायदा है, न उस करने में कुछ फायदा है। सब धन व्यर्थ है, सब शक्ति व्यर्थ है, सब साधन व्यर्थ हैं। पश्चिम ने एक दूसरा प्रयोग करके देख लिया है कि जीवन बाहर है और भीतर को छोड़ दिया तो सब अर्थहीन हो गया।
मेरी दृष्टि में जीवन एक तरलता है, एक लिक्विडिटी है। एक लहर है, जो भीतर और बाहर के दोनों छोरों को छूती रहती है। और जो इसको, दोनों को इकट्ठा पकड़ेगा, वही जीवन के परम साध्य को उपलब्ध हो सकता है। जिन लोगों ने बाहर और भीतर में बांटा, उन्होंने साध्य और साधन को भी बाहर-भीतर में बांट दिया। उन्होंने कहा कि बाहर का जीवन उपलब्ध करना है तो बाहर के साधन हैं, और भीतर का जीवन उपलब्ध करना है तो भीतर के साधन हैं। उन्होंने यह भी कहा कि बाहर के साधनों का भीतर उपयोग नहीं होगा, उन्होंने यह भी कहा कि भीतर के साधनों का बाहर उपयोग नहीं होगा।
अब जिस आदमी को आत्मा को पाना है, उसे भोजन की क्या जरूरत है? क्योंकि भोजन तो बाहर का साधन है। और जिस आदमी को आत्मा को पाना है उसे मकान की क्या जरूरत है? और जिस आदमी को आत्मा को पाना है, उसे कपड़ों की क्या जरूरत है? ये सब तो बाहर की चीजें हैं। जिन लोगों ने भीतर पर जोर दिया, उन्होंने बाहर जो भी है, सबको इनकार कर दिया, चाहे वे कपड़े हों, चाहे मकान हों, चाहे संबंध हों, मित्रता हो, प्रेम हो, समाज हो, सब इनकार कर दिया। वे एक कसौटी मान कर चले कि जो भीतर का नहीं है, उसे जाने दो, उससे क्या लेना-देना है? अंततः उनके हाथ खाली रह गए, भीतर कुछ भी नहीं।
भीतर जैसा कुछ है ही नहीं अलग, बाहर से। भीतर, आइसोलेटेड, बाहर से तोड़ कर, अलग खंड करके कुछ है ही नहीं। इन सारे लोगों ने बाहर की सारी चीजों को छोड़ने पर जोर दिया। स्वभावतः समाज एक बहुत गरीबी, दुख, दरिद्रता और दीनता

में पड़ गया। क्योंकि कपड़े, मकान बाहर हैं, ऐसा कहना गलत है। जब मैंने कहा कि जीवन इकट्ठा है तो जीवन में जो बाहर है और जो भीतर है, वह भी इकट्ठा है। अब जैसे मेरा मानना है कि कपड़े भी एकदम बाहर नहीं हैं, क्योंकि कपड़े
भी हमारा एक्सटेंशन है, वह भी हमारा फैलाव है। कपड़ों के द्वारा भी हमने अपने शरीर को और फैलाया है। अब यह जान कर हैरानी होगी कि जो आदमी नग्न रहता है, और जो आदमी पूरे कपड़े पहनता है, नग्न आदमी को चालीस प्रतिशत भोजन की ज्यादा जरूरत पड़ेगी, क्योंकि नग्न आदमी का शरीर इतनी शक्ति व्यर्थ वायुमंडल में खो देता है। इसलिए उसे चालीस प्रतिशत ज्यादा भोजन की जरूरत है। जो आदमी ठीक से पूरे कपड़े पहने हुए है, उसका कम भोजन में काम चलेगा। और एक और मजे की बात है। जो आदमी ठीक से पूरे कपड़े पहने हुए है, उसे सेक्स की ज्यादा जरूरत पड़ेगी और भोजन की कम। इसलिए पश्चिम में जहां कपड़े बहुत विकसित हुए हैं, सेक्स ज्यादा हो गया है और भोजन की जरूरत कम हो गई है। जरूरत कम हो गई है भोजन की और सेक्स की जरूरत बढ़ गई है। उसका कारण है कि उसके पास इतनी शक्ति इकट्ठी हो जाती है कि उसे सेक्स में उस शक्ति से मुक्ति चाहिए। अब कपड़ा इतनी बाहर की चीज नहीं रह गई, क्योंकि कपड़ा भोजन भी तय करेगा, सेक्स भी तय करेगा। और भोजन और सेक्स मन को भी तय करेगा और मन भीतर घुसता चला जा रहा है। कोई चीज इतनी बाहर नहीं है।
मकान भी जिसे हम कहते हैं, वह भी इतना बाहर नहीं है। सच तो यह है कि अगर व्यक्ति को ठीक बोध हो, किसी व्यक्ति को, वह किसी के भी मकान में जाकर उस आदमी के संबंध में इतना जान सकता है, जितना उस आदमी के भीतर जाकर जान सकना संभव हो सकता है। एक आदमी के मकान में जाकर हम उस आदमी के संबंध में कुछ जानते हैं एकदम, क्योंकि अंततः वह मकान उस आदमी का बड़ा शरीर है। वह उस मकान में गंदगी से रह रहा है तो हम जानते हैं कि वह आदमी भीतर, गंदगी के प्रति उसका कोई विरोध नहीं है। अगर वह आदमी कुरूपता में रह रहा है तो हम जानते हैं, अग्लीनेस और कुरूपता के प्रति उसका कोई विरोध नहीं है। सौंदर्य का कोई भाव उसके भीतर नहीं है। अब सौंदर्य का भाव तो भीतर है और मकान बाहर है। मैं यह कह रहा हूं, ये सब चीजें इतनी अलग नहीं हैं। अगर हम उसके घर में जाते हैं और हम वहां जाकर देखते कि उसने फूल लगा रखे हैं, और हम देखते हैं उसके घर में एक ताजगी है, एक सुगंध है, और हम देखते हैं कि उसके घर में सफाई है, और हम देखते हैं कि उसके घर में दो चित्र लटके हुए हैं, तो वे उस आदमी के बाबत हमें सारी खबर देते हैं। हम जाकर देखते हैं कि उसके घर में क्या है? क्योंकि अंततः वह उसी आदमी ने रखा है। और हमारा कोई एक्ट, हमारी कोई क्रिया हमसे मुक्त नहीं है। और हमारी कोई भी क्रिया हमको प्रकट करती है और खोलती है।
एक घटना मैं कहूं--विवेकानंद अमरीका जाने को थे। रामकृष्ण तो मर गए थे, तो वह शारदा मां से आशीर्वाद लेने गए तो शारदा उस समय अपने चौके में खाना बनाती थी। विवेकानंद ने कहा कि मैं जाता हूं अमरीका, मुझे आशीर्वाद दें। तो शारदा ने पूछा, किसलिए जाते हो? तो विवेकानंद ने कहा कि प्रेम का एक संदेश पहुंचाने। शारदा ने कहा, अच्छा, वह छुरी जो पड़ी है, वह उठा कर मुझे दे दो। विवेकानंद ने छुरी सहज ही उठा कर दे दी। उनकी कल्पना में भी यह न था कि मेरे आशीर्वाद का और छुरी के देने-उठाने से कोई संबंध है। मेरे आशीर्वाद मांगने का इससे कोई संबंध हो सकता है। लेकिन विवेकानंद ने फलक छुरी का हाथ में पकड़ा और डंडा शारदा मां की तरफ किया। शारदा ने हंस कर वह छुरी रखी और कहा कि मेरा आशीर्वाद है, जाओ, तुमसे किसी का अहित नहीं होगा। तब विवेकानंद को एकदम खयाल आया और उन्होंने पूछाः क्या छुरी उठाने से कोई संबंध था? शारदा ने कहाः निश्चित! क्योंकि तुम जो करते हो उसमें तुम मौजूद हो। मैं देखती थी कि तुम छुरी का फलक मेरी तरफ पकड़ाते हो या तुम खुद पकड़ते हो। क्योंकि जिस आदमी के मन में प्रेम हो, वह छुरी का फलक खुद पकड़ेगा कि कहीं दूसरे को चोट न लग जाए।
अब यह बहुत हैरानी की बात है--आमतौर से ही किसी भी आदमी को हम छुरी उठाने को कहेंगे तो वह फलक हमारी तरफ करेगा और डंडा अपने हाथ में पकड़ेगा। यह बिल्कुल सहज है, शायद खयाल में भी उसे नहीं आएगा। न हमें भी खयाल में

आएगा। लेकिन उस आदमी के बाबत खबर मिल रही है। उसके इस छोटे से कृत्य में, इस छुरी के उठाने में भी वह पूरा मौजूद है।
ध्यान रहे कि हमारे छोटे से छोटे कृत्य में भी हम पूरे मौजूद होते हैं--पूरे! उसमें जरा सा भी हिस्सा हमारा पीछे नहीं रह जाता। आंख के एक छोटे से इशारे में और हाथ के उठने और गिरने में भी हम पूरे मौजूद होते हैं। हमारा सब छोटे से छोटा काम भी हमारे पूरे व्यक्तित्व को समाहित रखता है। इसलिए क्या बाहर है, और क्या भीतर है! यह छुरी उठाना तो बाहर है, कैसे उठाना है, यह आदमी के भीतर है। अब इन दोनों में कहां से फर्क करेंगे, हम कहां तय करेंगे कि कौन सी चीज बाहर होगी और कौन सी भीतर होगी?
इसलिए मैं कहता हूं कि जीवन की कोई भी चीज एकदम ऐसी नहीं है कि उसे बाहर कह दें, और ऐसी भी नहीं है कि उसे भीतर कह दें। वे दोनों संयुक्त हैं, जुड़े हैं। और जीवन एक सेतु है जो बाहर और भीतर के बीच प्रतिपल कंपित होता रहता है।
तो जिन लोगों ने इनकार कर दिया बाहर को, उन लोगों ने बाहर की भी चीजों
को इनकार कर दिया। कपड़े और मकान सब गए, संबंध और मित्रता सब गई। उन्होंने कहा, व्यक्ति अकेला हो जाए, बस उतना ही बचे, जितना भीतर है। उतना ही बच जाए, जितना भीतर है। एक ऐसी दौड़ शुरू हुई जिसमें सब इलिमिनेट करना है, काटना है, काटना है, काटना है, यह भी बाहर, यह भी बाहर, आखिर में आदमी पाता है कि सब कट गया है, और सब खो गया है और जीवन भी गया! और कुछ भी पीछे नहीं बच जाता है। इस स्थिति को मैं मोक्ष नहीं कहता हूं। इस स्थिति को मैं सिर्फ मृत्यु कहता हूं। और चूंकि यह स्थिति अपने ही हाथ से लाई गई है, इसलिए इसको मैं आत्मघात कहता हूं, सुसाइड कहता हूं।
अब एक दूसरी दौड़ है, जिसमें बाहर ही सब कुछ का भाव है। तो उसमें चिंता नहीं है भीतर के आदमी की। तो मकान कैसा हो, इसकी चिंता है, सारी चिंता इसकी है कि मकान कैसा हो। रहने वाले का भी कोई संबंध नहीं है मकान से, रहने वाला तो है ही नहीं, क्योंकि भीतर हम कुछ मानते नहीं। तो मकान कैसा हो, यह विचारणीय है। तो सारा विचार मकान बनाने में लगा दो, चाहे मकान बनाने में मकान बनाने वाला खत्म हो जाए। सारा विचार इसका है कि कपड़े कैसे हों, तो कपड़े अच्छे से अच्छे पैदा कर लो। चाहे कपड़े पैदा करने में, इकट्ठा करने में कपड़े पहनने वाले का पता रहे या न रहे।
तो एक ठीक इससे उलटी अति पर एक दूसरी दौड़ है, जो सारी चीजों पर जोर देती है--कपड़ा कैसा हो, मकान कैसा हो, भोजन क्या हो, क्या न हो, कितना धन हो, कितना धन न हो। यह दौड़ भीतर के आदमी को इनकार करती है। वह जब किसी आदमी को इस दौड़ का आदमी मिलता है तो पूछता है कि तुम्हारा बैंक-बैलेंस कितना है? क्योंकि तुम्हारा धन कितना है तिजोरी में या बैंक में, उसी से तुम्हारा पता चलता है कि तुम कौन हो? यानी यह बाहर की तरफ जोर देने वाला यह कभी नहीं पूछता कि तुम्हारा बीइंग क्या है! यह पूछता है तुम्हारी हैविंग क्या है? तुम क्या हो, यह सवाल नहीं है! तुम्हारे पास क्या है? तुम्हारे पास अगर कीमती कार है तो तुम आदमी कीमती हो। क्योंकि भीतर तो कुछ है ही नहीं। कीमती कार से पता चलता है कि तुम कीमती आदमी हो। तुम्हारे कपड़े कीमती हैं, तो तुम कीमती आदमी हो। यह जरूरी नहीं है कि कीमती कपड़े के भीतर कीमती आदमी हो ही। यह भी जरूरी नहीं है कि कीमती कार के भीतर कीमती आदमी हो। यह भी जरूरी नहीं है कि कीमती पद के ऊपर कीमती आदमी ही हो। यह बिल्कुल जरूरी नहीं है।
बल्कि अगर हम इस भांति भीतर के आदमी को बिल्कुल इनकार कर दें और इन्हीं चीजों पर सारा जोर दे दें तो इस बात की संभावना यह है कि कीमती आदमी इन जगहों पर मिले ही नहीं। क्योंकि कीमती आदमी इतना जोर इन चीजों पर नहीं दे सकता है। एक कीमती आदमी बीइंग पर जोर देगा, हैविंग पर जोर नहीं होगा उसका। क्या मेरे पास है, यह उतना मूल्यवान नहीं होगा उसके लिए, मैं क्या हूं, वह इसकी फिकर करेगा। वह इसकी फिकर न करेगा कि मैं राष्ट्रपति हो जाऊं तो ही मैं कुछ हूं। राष्ट्रपति होना अत्यंत गौण बात होगी। वह राष्ट्रपति हो भी सकता है, या नहीं भी हो सकता है। यह उसकी दौड़ नहीं हो सकती। अगर उसके

जीवन की सहज धारा में यह होना आ जाए तो वह हो भी सकता है, न आए तो इसकी वह चिंता भी नहीं कर सकेता है। शायद ऐसा ही आदमी तो कीमती हो सकता है।
जिसके लिए पद कीमती है, वह आदमी कीमती नहीं हो सकता। आदमी कीमती हो तो
पद दो कौड़ी का ही होने वाला है। और कीमती आदमी पद पर होने के लिए पागल नहीं हो सकता। क्योंकि वह पागलपन सिर्फ हीन आदमी को ही पैदा होता है, इनफिरिआरिटी कांप्लेक्स हो तो ही पैदा होता है। और जिस आदमी के भीतर कोई हीनता का भाव न हो वह किसी भी पद से ऐसे उतर कर जा सकता है, जैसे कुछ बात नहीं थी।
फिर यह जो बाहर पर इतना जोर है, बाहर पर ही अकेला जोर है और भीतर के आदमी को हम बिल्कुल इनकार करते हैं तो चीजें बच जाती हैं, जीवन नष्ट हो जाता है। और चीजों का उपभोक्ता नष्ट हो जाता है। तो ऐसा हुआ है कि जिसको हम कहें, उपभोग की सामग्री तो बढ़ती चली गई है, लेकिन कंज्यूमर, वह जो उपभोग कर सकता था, वह धीरे-धीरे विदा हो गया है। चीजें बढ़ती चली गई हैं, उनका ढेर लग गया है। और जिस आदमी के लिए हमने ढेर लगाया था उसका कहीं पता नहीं चलता है कि वह आदमी कहां है, और किसलिए हमने यह ढेर लगाया था! और ध्यान रहे, जैसा मैंने कहा कि चीजें इतनी जुड़ी हैं कि बाहर पर अगर इतना जोर होगा तो यह चूंकि चीजें बाहर ही नहीं हैं, इनका अंतिम परिणाम भीतर होने वाला है। छोटी-छोटी घटनाओं का परिणाम है।
मैंने सुना है कि अफ्रीका के एक गांव में यूनेस्को की तरफ से नल लगाए
गए, पानी के नल लगाए गए। उस गांव में अब तक सिर्फ एक कुआं था। लेकिन कुछ ही दिन बाद गांव के बूढ़ों ने आकर खबर की कि हम क्षमा चाहते हैं, यह पाइप अलग कर दिया जाए, क्योंकि हमारी गांव की सारी जिंदगी अस्त-व्यस्त हो गई है। तो वे तो लोग बहुत हैरान हुए। जो लोग वहां व्यवस्था कर रहे थे, उन्होंने कहाः क्या पागलपन की बात कर रहे हो? उन्होंने कहाः बिल्कुल अस्त-व्यस्त हो गई है। कुआं तो हमारा प्राण था। वहां हम मिलते थे। वहीं सुबह हमारी सारी स्त्रियां मिलती थीं, सांझ हमारा गांव भी वहीं बैठ कर गप-शप करता था। वह कुआं तो बरबाद हो गया। वहां अब कोई नहीं रहा। अब तो हरेक के घर में पानी पहुंच गया तो वहां कोई आता ही नहीं। तो हमारी तो पूरी कम्युनिटी फीलिंग खत्म हो गई। यानी हमारा तो जो एक समूह था, हम जो एक साथ जीते थे, वह खत्म ही हो गया। एक-एक आदमी अलग-अलग हो गया। हम तो ये जो पाइप है, बिल्कुल नहीं चाहते हैं।
मैं यह कह रहा हूं कि पाइप जैसी बाहरी चीज भी एक समाज की जीवन-व्यवस्था पर, एक आदमी के चित्त पर फर्क लाएगी, लाने ही वाली है। हमें खयाल में नहीं होता। क्योंकि चीजें कोई बाहर नहीं हैं। अब मैं यह नहीं कहता कि वह गांव के लोग ठीक ही कह रहे हैं। मैं कहता हूं, यह परिणाम हुआ। मेरा तो मानना यह है कि इसका फायदा उन्हें लंबे अर्से में पता चलेगा, क्योंकि जब तक कुआं है, तब तक व्यक्ति पैदा नहीं हो सकते उस गांव में। तब उस गांव में कम्युनिटी भर होगी, इंडिविजुअल्स नहीं होंगे। लेकिन जब घर-घर में नल पहुंच जाएंगे तो व्यक्ति पैदा होने शुरू हो जाएंगे।
यह बड़े मजे की बात है कि पुरानी दुनिया में व्यक्ति थे ही नहीं, या कभी होते तो बहुत मुश्किल मामला था--समाज ही था। क्योंकि जो इंतजाम था, वह ऐसा था कि उसमें, समाज में ही आपको जीना पड़ता। जैसे, एक जमाना था कि अगर एक आदमी गड़बड़ करता तो उसका कुएं से पानी निकालना बंद कर दिया जाता। वह आदमी मर जाता। वह आदमी जी नहीं सकता था, क्योंकि कुएं से पानी जाना, उसके लिए मनाही हो गई। गांव ने निर्णय दे दिया कि वह आदमी कुएं से पानी नहीं पी सकता। तो आदमी मर जाता। कुएं के बिना तो जीना मुश्किल था। आज वह गांव से पूछने नहीं जाता कि आप पानी दोगे कि नहीं दोगे। कुएं से कोई लेना-देना नहीं है। उसके पास अपनी व्यक्तिगत व्यवस्था है। आज उसके पास अपना नल है।
यह मैं नहीं कहता। मैं यह कह रहा हूं कि बाहर की कोई भी व्यवस्था भीतर
की व्यवस्था को छुएगी और बदलेगी, क्योंकि भीतर और बाहर दो अलग चीजें नहीं हैं। अब हमें पता ही नहीं है कि कितनी छोटी-छोटी चीजें बाहर की, भीतर में फर्क ले आती हैं।

एक कनफ्यूशियस के जीवन में उल्लेख है--कि कनफ्यूशियस एक गांव के पास
से गुजर रहा है। एक बगीचे में दोपहर को रुका तो बड़ा हैरान हुआ। क्योंकि बगीचे में एक बूढ़ा माली है। अपने जवान बेटे को दोनो बैल की तरह मोठ में जोते हुए है और पानी खींच रहे हैं, जहां कि बैल और घोड़े जोते जाने लगे थे। तो कनफ्यूशियस ने सोचा कि शायद इस बूढ़े को अभी तक पता नहीं चला है कि यह तो बात बदल गई है। अब कहां का पुराना तरीका अख्तियार किए हुए है, अब तो घोड़े और बैल जोत कर काम चल सकता है। और अगर घोड़े और बैल भी न जोतने हों तो भी ढेंकी का एक उपाय हो गया है। एक बड़ा पत्थर लटका कर पानी बाहर खींचा जा सकता है, आदमी को श्रम करने की जरूरत नहीं है।
कनफ्यूशियस उस बूढ़े के पास गया और उससे जाकर कहा कि मेरे मित्र, क्या तुम्हें अभी तक पता नहीं चला कि अब तो घोड़े और बैल जोते जाने लगे हैं, और अब तो हम बड़ा पत्थर बांध कर भी ढेंकी से पानी खींच सकते हैं। लेकिन मैं सोचता हूं शायद तुम्हें पता नहीं चल पाया, शायद तुम्हें मालूम नहीं है। उस बूढ़े आदमी ने कहा, सब मुझे मालूम है, लेकिन जरा धीरे बोलो, मेरा जवान लड़का न सुन ले। तो कनफ्यूशियस ने कहाः इसमें क्या डर की बात है? तुम्हारा जवान लड़का सुन ले तो!
तो उस बूढ़े आदमी ने कहा कि इसके बहुत डर के कारण हैं। मैं तो बूढ़ा आदमी हूं, लेकिन अगर मेरे जवान लड़के को अभी से खयाल आ जाए कि बैल जोतने हैं तो वह अभी से बूढ़ा हो जाएगा, आलसी हो जाएगा, प्रमादी हो जाएगा। यह बात मत करो। और फिर उस बूढ़े ने कहा कि मेरा यह भी मानना है कि जो लोग पत्थर इत्यादि बांध कर पानी खींचते हैं, जो लोग भी किसी यांत्रिक व्यवस्था का उपयोग करते हैं, यंत्र के साथ धीरे-धीरे वे भी यंत्र हो जाते हैं। उनका हृदय कठोर हो जाता है। और धीरे-धीरे जो लोग इस तरह की चालाकियों को--क्योंकि उसमें कई चालाकियां हैं, कनिंगनेस है--जो इस तरह की चालाकियों का उपयोग करते हैं, वे आदमी बेईमान हो जाते हैं। तो हम ठीक हैं, हम दिन भर मेहनत कर लेते हैं, बाकी हम ठीक हैं!
यह बूढ़ा जो कह रहा है, यह ठीक हो या न हो, इससे हम राजी हों या न हों--मैं खुद भी इससे राजी नहीं हूं, लेकिन यह जो कह रहा है, उसमें एक सार की बात तो कह रहा है कि जो बाहर होता है, उसके संबंध भीतर से जुड़े हैं। सच तो यही है कि मनुष्य का जितना आविष्कार हुआ है, लोग कहते हैं कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है, नेसेसिटी इज़ दि मदर ऑफ इनवेंशन। मैं नहीं कहता। मैं तो कहता हूं, आलस्य आविष्कार की जननी है। मनुष्य को कितना कम श्रम करना पड़े, यही सारे आविष्कारों का जन्मदाता है। मैं बिना चले कैसे आपके घर पहुंच जाऊं, इससे गाड़ी आती है, कार आती है, जेट आता है। मेरे बिना कुछ किए कैसे--कुछ हो जाए! आदमी श्रम नहीं करना चाहता। मैं इसको बुरा भी नहीं कहता, इसको मैं बुरा भी नहीं कहता!
मैं श्रम-भक्त नहीं हूं, मैं इसको बुरा भी नहीं कहता। इसको मैं ठीक ही कहता हूं, क्योंकि मेरा मानना यह है कि आलस्य में कुछ कारण हैं और यह ठीक आलस्य ही नहीं है! असल में आदमी जितना बचना चाहता है व्यर्थ से, उतनी ही सार्थक दिशा में गति कर सकता है। और इस दुनिया में जो भी श्रेष्ठतम हुआ है, चाहे संगीत, चाहे साहित्य, चाहे दर्शन, चाहे धर्म, चाहे साधना वह उनके द्वारा हुई है जो ली.जर में थे, विश्राम में थे। यह कोई गड्ढा तोड़ने वाले, पत्थर तोड़ने वाले मजदूर ने न तो कोई संगीत पैदा किया है, न करने का सवाल है। न उसने कोई बुद्ध पैदा किए हैं, न कोई क्राइस्ट पैदा किए हैं, न करने का सवाल है। यह तो ली.जर क्लास, वह जो विश्राम में एक वर्ग पहुंच जाता है, या कोई व्यक्ति विश्राम में पहुंच जाता है, तो उस विश्राम में जहां कि व्यर्थ श्रम से बच जाता है वह--तो उसकी चेतना नये आयाम छूना शुरू करती है।

बट आचार्य जी, आई हैव लर्नड दैट देयर आर फोर टाइप्स ऑफ मोशन्स। वन इज़ कॉल्ड फिजिकल मोशन, इंटलेक्चुअल मोशन, इमोशनल मोशन एण्ड द अदर इज वि.जडम। मे बी दि डिमांड हू हैज मीनिंग इन दि लेटेस्ट स्टेट ऑफ ली.जर, हिज इंटलेक्चुअल कैपेसिटीज ऑर इमोशनल कैपेसिटीज मे बी स्टिमुलेटेड, सो दैट ही मे शिफ्ट फ्रॉम वन प्लान एण्ड मे गो टु द अदर प्लान?

यही मैं कह रहा हूं, यही मैं कह रहा हूं कि मनुष्य को उसकी शक्तियां कितने ऊंचे आयामों में, हायर डाइमेन्शंस में गति कर सकें, इसके लिए जरूरी है कि उसे नीचे के आयामों से मुक्ति मिल जाए। तो मैं यह नहीं कहता कि उस बूढ़े आदमी ने कनफ्यूशियस को जो उत्तर दिया वह ठीक था। मैं बूढ़े से राजी नहीं होता। हालांकि मैंने सुना है कि कनफ्यूशियस उससे राजी हुआ। मैं उस बूढ़े से राजी नहीं होता। गांधी होते तो उससे राजी होते। मैं उससे राजी होने वाला नहीं था, क्योंकि मेरा मानना यह है कि वह बूढ़ा अपने बेटे को हो सकता है प्रमाद से बचा ले, लेकिन प्रमाद से बचा कर भी क्या करेगा! वह बेटा बैल की जगह जुता-जुता मर जाएगा। और हो सकता है, वह यह सोच रहा है कि अगर यंत्र से बेटा उपाय करेगा तो यंत्र हो जाएगा, तो वह बैल की जगह बैल की तरह जुत कर बैल नहीं हो जाने वाला है? यह उसको खयाल में नहीं है। और मेरा मानना है कि यंत्र का उपयोग करना भी किसी पशु के लिए संभव नहीं है, वह सिर्फ आदमी के लिए संभव है, सिर्फ आदमी के लिए संभव है। इसलिए बैल होने की बजाय यंत्र का उपयोग सार्थक है, अर्थपूर्ण है।
फिर यह भी मैं मानता हूं कि उस बूढ़े बाप का अपने बेटे पर बहुत भरोसा नहीं है। यानी वह मान यह रहा है कि बेटे को अगर इतनी निम्न चीजों में लगाया जा रखे तो ही उसे ठीक रखा जा सकता है। इससे मुक्त होते ही उसकी कोई श्रेष्ठ गति नहीं हो सकती। शायद गांधी जी को भी इस तरह का भरोसा नहीं है, आदमी पर इनका भरोसा नहीं मालूम होता है। क्योंकि अगर आदमी पर भरोसा है तो यह मानना चाहिए कि हम उसे जितनी स्वतंत्रता, जितनी श्रम-मुक्ति देंगे, उतना ही ज्यादा आदमी विकसित हो सकेगा--आदमी के विकास में! उसके पास सीमित शक्ति है, उसको हम व्यर्थ खोने का कारण न बनें, उसे हम संरक्षित करें।
मैं जो कह रहा था, जिस संदर्भ में यह बात कह रहा था वह मैं यह कह रहा था
कि बाहर हम जो भी करते हैं, वह भी अंततः भीतर प्रविष्ट हो जाता है। भीतर जो हम करते हैं वह बाहर चला जाता है।
असल में भीतर-बाहर जैसी कोई सीमा नहीं है। यहां भीतर और बाहर एक ही जीवन-धारा के दो हिस्से हैं। इसलिए जिन लोगों ने इस तरह के भीतर-बाहर, सब्जेक्टिव-ऑब्जेक्टिव, स्प्रिचुअल-मैटीरियल, इनर और आउट, इस तरह के जो भेद किए हैं वे भेद गलत हैं। और उन भेदों की वजह से एक लंबी भ्रांति की परंपरा पैदा हुई है। उसमें कुछ ने बाहर के सब साधनों का इनकार कर दिया है, क्योंकि वे कहते हैं, हमें भीतर का साध्य पाना है। और भीतर का कोई साध्य नहीं है, बाहर का कोई साध्य नहीं है। साध्य हैं और साधन हैं।
जिन लोगों ने कहा, भीतर है ही नहीं, उन्होंने कहा, भीतर के साधनों से हमें कोई मतलब नहीं है। प्रेम का हम क्या करेंगे? करुणा से हमें क्या प्रयोजन है? आत्मा, परमात्मा और प्रार्थना का क्या मतलब है? हमारे लिए सवाल है बाहर के साध्य। बहुत धन पैदा करना है। तो बहुत धन पैदा करने में प्रार्थना क्या करेगी और बहुत धन पैदा करने में करुणा क्या करेगी? बहुत धन पैदा करना है तो गणित सीखो। बहुत धन पैदा करना है तो मशीन बनाओ। बहुत धन पैदा करना है तो महत्वाकांक्षी बनो। और महत्वाकांक्षी वह बन सकता है जो करुणावान न हो।
अगर करुणावान हो तो महत्वाकांक्षी कैसे होगा, क्योंकि महत्वाकांक्षा में दूसरों को पीछे घसीटना पड़ेगा; दूसरों की गर्दन पर, उनके सिर पर पैर रख कर सीढ़ी बनानी पड़ेगी और दूसरों के ऊपर से गुजरना पड़ेगा। दूसरों को साधन बनाना पड़ेगा, करुणा क्या करोगे?
तो जिन्होंने कहा कि बाहर के साध्य हैं, समृद्धि है, सफलता है, सुख है--
यह जिन्हें पाना है, उनको भीतर-वीतर की बातें छोड़ देनी चाहिए, भीतर कुछ भी नहीं है। और इस तरह मनुष्य को इस भांति खंडित किया कि न वह बाहर रह गया, न वह भीतर रह गया, वह दोनों जगह से मर गया। भीतर बचाने वाले लोगों ने भीतर मार डाला, बाहर बचाने वाले लोगों ने बाहर मार डाला।
आदमी के साथ अब तक दुर्व्यवहार हुआ है। इसलिए मैं कह रहा हूं कि साध्य
ही साधन है, और अब हमें इस भाषा में सोचना चाहिए कि यह अखंड है। ऐसा कोई साधन नहीं है--जो चाहे बाहर हो, चाहे भीतर हो--और ऐसा कोई साध्य नहीं है, जो

चाहे बाहर हो, चाहे भीतर हो--जो कि अंतर-निर्भर नहीं है, इंटर-डिपेंडेंट नहीं है! वे सब जुड़े हुए हैं!
हम क्या करते हैं, वह हमारे भीतर से आता है और हम क्या भीतर हैं, वह हमारे करने को प्रभावित करता है। ये दोनों बातें एक-दूसरे पर निर्भर और एक साथ उपयोगी हैं। सच कहना चाहिए तो ऐसा कि ये दोनों बातें एक ही चीज के दो हिस्से हैं और इनको अलग नहीं किया जा सकता। इसलिए भी मैं कहना चाहूंगा कि यह फासला भीतर का और बाहर का मत करें--और साध्य और साधन का भी मत करें, इंटिग्रेटेड एटिट्यूड इस तरह के कोई फासले नहीं मानता और विज्ञान और धर्म का भी फासला मत करें, क्योंकि वे सब फासले उसी तरह के हैं। धर्म का मतलब है कि भीतर के साध्यों की दुनिया का हिसाब; विज्ञान का मतलब है, बाहर के साध्यों की दुनिया का हिसाब। ऐसा कुछ भी नहीं है! मेरी दृष्टि में जैसे- जैसे आदमी विकसित होगा, समझ बढ़ेगी, वैसे-वैसे ज्ञान रह जाएगा, ज्ञान, वि.जडम रह जाएगी। वह ज्ञान बाहर का होगा तो हम उसे विज्ञान कहते रहेंगे, वह भीतर का होगा तो उसको अंतर्ज्ञान कहते रहेंगे। बहिर्ज्ञान होगा, अंतर्ज्ञान होगा। ये सब कामचलाऊ खंड होंगे।
धर्म कहें, विज्ञान कहें, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता--लेकिन ज्ञान रह जाएगा, और ज्ञान जो है, वह सारे जीवन को घेरेगा। वह छोटी सी बाहर की चीज से लेकर भीतर की बड़ी से बड़ी चीज तक, भीतर के छोटे से विचार से लेकर बाहर के बड़े से बड़े आकाश तक; इन सबको जोड़ कर एक साथ ही देखेगा।
चूंकि आदमी की समझ इतनी कम है कि इतना विराट फैलाव नहीं कर पाता है आदमी; उसके मस्तिष्क की पकड़ इतनी कम है कि इतने बड़े को वह कंसीव नहीं कर पाता--इसलिए सारी कठिनाई पैदा होती है, और वह उसको पकड़ पाए इसलिए हम उसे टुकड़ों-टुकड़ों में तोड़ देते हैं और धीरे-धीरे वे टुकड़े ही महत्वपूर्ण हो जाते हैं। और वह समझता है, सब टुकड़े अलग-अलग हैं।
जैसे इस कमरे के पास एक छोटा छेद हो और उस छेद में से एक आदमी भीतर झांके और एक छोटे से हिस्से में उसको कुछ इस कमरे के भीतर दिखाई पड़े तो वह इसको पूरा कमरा समझ ले। एक दूसरा आदमी दूसरे छेद से झांके उसे कमरे का दूसरा हिस्सा दिखाई पड़े। वह इसे सब कुछ मान ले। अब तक दुनिया में ऐसा ही हुआ। जिन लोगों ने जिस छेद से झांका, उन्हें जो दिखाई पड़ गया उन्होंने उसे टोटेलिटी मान लिया, उन्होंने कहा, सब कुछ यही पूरा है।
खंड दिखाई पड़े, अखंड मान लिए गए, और यह अखंड मान लेना महंगा पड़ गया। अब मेरा कहना है कि कोई खंड अखंड नहीं है। तब एक उपाय दूसरा भी चला। तब यह चला कि जितने लोगों को यह खंड-खंड दिखाई पड़े, उन सब को जोड़ लो तो इससे अखंड बन जाएगा। जैसा गांधी जी कहते हैं कि कुरान भी ठीक है, बाइबिल भी ठीक है, गीता भी ठीक है--यह सब ठीक कहते हैं! कृष्ण ने देखा वह भी ठीक, मोहम्मद ने देखा वह भी ठीक, क्राइस्ट ने देखा वह भी ठीक। अब तीनों को जोड़ लो, तो यह पूरा ठीक हो जाएगा। इन तीनों को जोड़ने से जो बनेगा वह पूरा ठीक हो जाएगा। अब मेरा मानना यह है कि वह खंड-खंड तो ठीक हैं ही नहीं, वह तो अधूरे हैं ही, लेकिन फिर भी सार्थक हैं। क्योंकि एक आदमी ने जितना देखा, उतना देखा है और पच्चीस खंडों को जोड़ने से अखंड नहीं बनता! पच्चीस खंडो को जोड़ने से अखंड नहीं बनता।
असल में अखंड किसी खंड को जोड़ने से नहीं बनता। अखंड तो पूरा दिखाई पड़े
तो सब खंड उसमें दिखाई पड़ जाएंगे। वह बिल्कुल दूसरी बात है, लेकिन खंड-खंड जोड़ने से अखंड नहीं बनता, बल्कि खंड-खंड जोड़ने से और गड़बड़ हो जाता है।
यह ऐसा ही है जैसे कि हम देखें कि एक आदमी हैं, जिसमें हाथ भी हैं, पैर
भी हैं, सिर भी है, इसमें यह भी है। एक सिर ले आओ किसी का काट कर, क्योंकि वह सिर भी वहां चलता हुआ मालूम पड़ रहा था, बोल रहा था। एक आदमी का पैर काट लाओ, एक आदमी का हाथ काट लाओ, एक की नाक काट लाओ, एक की आंख ले आओ--और यह सब जोड़ कर कि सब खंड जोड़ कर हम एक अखंड आदमी बनाते हैं। तो सिर्फ एक लाश बनेगी, कोई अखंड वहां पैदा नहीं होगा। ये सब खंड हैं जरूर, लेकिन खंडों के जोड़ने से अखंड नहीं बनता। अखंड के ये ऑर्गेनिक पार्ट हैं। ये अखंड में सम्मिलित हैं।

तो मेरा मानना है, ये समन्वयवादी हैं, जो कहते हैं, सब जोड़ लो; इक्लेक्टिक जो हैं, जो कहते हैं, यह भी जोड़ लो, यह भी जोड़ लो, यह भी जोड़ लो, सब जोड़ लो--तो यह ज्यादा करीब पहुंच जाएगा सत्य के; यह जितना खंड पहुंच रहा था, उतना भी नहीं पहुंचेगा, क्योंकि इस आदमी ने किसी छेद से नहीं झांका। इसने पच्चीस छेद से झांकने वालों के खयालों को जोड़ कर उस कमरे की नकल बना रहा है यह। यह ऐसे ही होगा जैसे कि समझ लें कि मैं जबलपुर आऊं और आप भी जबलपुर आएं और एक और मित्र जबलपुर आएं, और फिर हम तीनों मिलें। मैंने भी कुछ देखा जबलपुर में, आपने भी कुछ देखा, उसने भी कुछ देखा, फिर हम तीनों जोड़ लें और तीनों को जोड़ कर कहें कि अब यह पूरा जबलपुर हो जाएगा। यह कुछ भी नहीं होगा! यह कुछ भी नहीं होगा! बल्कि एक-एक ने जितना देखा था, वह ऑथेंटिक था, यानी कम से कम उसने देखा था। लेकिन अब यह जो तीनों का घोल तैयार होगा, जो मिक्सचर तैयार होगा, उसमें वह सचाई भी रहने वाली नहीं है। जो इस घोल को पकड़ लेगा, वह बहुत मुश्किल में पड़ जाने वाला है, क्योंकि उसकी समझ के बाहर हो जाएगा कि यह क्या है। इन तीनों के मेल का सवाल नहीं है।
तो मेरा कहना यह है कि सभी सत्य उस अखंड से आते हैं, लेकिन किन्हीं सत्यों को जोड़ कर अखंड को वापस नहीं बना सकते हैं। एक फूल खिला है, उसमें सारी पंखुड़ियां लगी हुई हैं, पत्ते लगे हुए हैं, कांटे लगे हुए हैं और फूल जिंदा है, वृक्ष जिंदा है। हम सारे पत्ते तोड़ डालें, हम सारे फूल की पंखुड़ियां काट लें, फिर हम जोड़ें। ये जरूर जुड़े थे और एक का हिस्सा थे, लेकिन अब जुड़ कर ये एक का हिस्सा होने वाले नहीं हैं। अब जो जोड़ बनेगा, यह बात ही और होगी, इसका उस फूल से कोई संबंध नहीं होगा, जो था--जो असलियत में था। तो मेरा कहना है कि इन सबको जोड़ भी नहीं लेना है। ऐसा नहीं करना है कि विज्ञान और धर्म को जोड़ दो। मैं यह कह नहीं रहा हूं, न मैं यह कह रहा हूं, बाहर-भीतर को जोड़ दो। मैं यह कह रहा हूं कि ये अलग हैं ही नहीं। जोड़ने की बात भी जो कर रहा है, वह भी अलग मान कर चल पड़ा है। उसने भी बहुत गहरे में यह स्वीकार कर लिया है कि अलग हैं।
जैसे एक आदमी कहता है--जैसे गांधी जी निरंतर कहते हैं, अल्ला-ईश्वर तेरे नाम। यह वह मान कर चल रहे हैं। यह वह मान कर चल रहे हैं कि अल्लाह एक नाम है, ईश्वर भी एक नाम है, ये दो नाम हैं और ये दोनों एक ही हैं--अब इसकी कोशिश में लगे हुए हैं। मेरा कहना है कि अब यह कहने की कोई जरूरत ही नहीं है, अगर यह दिखाई पड़ गया। तो अब इन दोनों को भी एक करने की जरूरत नहीं क्योंकि ये अलग हैं नहीं। अलग होने का भाव जब हम मान लें--जब हम कहते हैं कि हिंदू-मुस्लिम भाई-भाई, तो हमने मान लिया कि झगड़ा शुरू हो चुका है, नहीं तो इसकी बात उठाने की जरूरत नहीं थी। जब अलग होना पक्का हो गया तो भाई-भाई का नारा शुरू हो गया। जब दुश्मनी साफ हो गई तब भाई-भाई की बातें शुरू हो गईं। अब यह बड़े मजे की बात है कि जब तक दुश्मनी नहीं उठी थी तब तक भाई-भाई की कोई बात नहीं करता। अगर पड़ोसी से आपका झगड़ा नहीं है तो कभी नहीं कहते कि हम भाई-भाई हैं। तब ठीक है, बात खत्म हो गई, इससे कोई संबंध नहीं है बात का। लेकिन जब झगड़ा शुरू होता है तब आप कहते हैं कि पड़ोसी तो भाई-भाई हैं, पड़ोसियों को भाई-भाई की तरह रहना चाहिए।
ये सारी बातें किसी झूठ पर खड़ी हो रही हैं। तो मेरा कहना यह है कि जोड़ना नहीं है बाहर और भीतर को--बाहर और भीतर अलग नहीं हैं। ये दोनों बातें बिल्कुल ही अलग हैं। डाइमेट्रिकली भिन्न हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि इनको हम जोड़ कर एक कर लें, इसका मतलब यह है कि हम जानें कि यह भेद गलत है। एक ही है और वही फैला हुआ है।

आई मीन देयर शुड बी ए एजुकेशन, वे आई थिंक, आचार्य जी, एज आई हैव अंडरस्टूड दैट यू मीन। दैट न्यू एजुकेशन शुड बी क्रिएटड, सो दैट पिपल शुड अंडरस्टैंड दीज डिविजंस देयर बाई दीज कनफ्यूजंस ऑफ सब्जेक्टिविटी एण्ड ऑब्जेक्टिविटी कुड बी वाइप्ड आउट। हैव आई लर्नड करेक्टली?

ठीक है, ठीक है न। ऐसी एक संस्कृति की जरूरत है जो बचपन से ही भेद पैदा
न करवाती हो, अभेद की तरफ ले जाती हो। सच तो यह है कि बच्चे के मन में पहले

भेद नहीं होते। भेद हम सिखाते हैं। यहां तक सच है कि बच्चे को सपने में और सत्य में भी भेद नहीं होता। रात बच्चा सपना देख लेता है तो सुबह रोता है। रात उसके पास खिलौना था सपने में, वह कहां है! अभी बच्चे को यह भी पता नहीं है कि जो सपने में देखा है, वह सपना है, यह जो बाहर देख रहा है यह और है। अभी बच्चे को जो दिखाई पड़ता है, वह एक है। अभी तो बच्चे को कोई भी आदमी दिखाई पड़ता है तो वह अगर अपने पिता को पिता कहता है तो उसको पिता कहेगा। अभी उसे इसका फर्क करना मुश्किल है कि वह पिता नहीं है। अभी इसे यह भी पता नहीं है कि कौन हिंदू है, कौन मुसलमान है। अभी उसे कुछ भी पता नहीं है। अभी वह अभेद की दुनिया में है लेकिन यह अभेद अज्ञानपूर्ण है।
एक संत फिर इसी दुनिया में प्रविष्ट होता है, लेकिन तब वह अभेद ज्ञानपूर्ण है। यह अज्ञानपूर्ण है, इसलिए हम इसे खंडित कर देंगे। संत के भेद-अभेद को हम फिर खंडित नहीं कर पाएंगे, क्योंकि वह ज्ञान से आया है। बच्चे अभेद से आते हैं और भेद सिखाया जाता है। जरूरी है, कुछ भेद सिखाने जरूरी हैं। जीवन के लिए उपयोगी है। बताना जरूरी है कि क्या जहर है और क्या अमृत है, और बताना जरूरी है कि कहां दरवाजा है और कहां दीवार है, और यह भी बताना जरूरी है कि कहां हानि है और कहां लाभ है। ये सब भेद बताने जरूरी हैं।
लेकिन इन सब भेद के पीछे भी अभेद का एक भाव उसमें विकसित होता रहे। यानी उसे यह भी पता हो, कभी-कभी जहर अमृत भी होता है और कभी-कभी अमृत जहर भी हो जाता है। उसे यह भी पता हो कि ऐसे वक्त भी हैं जब जहर देने से आदमी बच जाता है, और ऐसा भी हो जाता है कि अमृत भी ज्यादा आ जाए तो जान ले ले। बच्चा बड़ा होगा तो कुछ भेद सिखाने पड़ेंगे। लेकिन वे भेद कामचलाऊ हैं, इसका बोध भी विकसित होना चाहिए और वे भेद हम मनुष्य की सीमाओं को देख कर कर रहे हैं, इसका बोध भी होना चाहिए। और उन भेद के भीतर एक अभेद धारा भी बह रही है। चीजें भीतर से जुड़ी हैं, यह भी उसको विकसित होना चाहिए।
हमारी जिंदगी का इम्पैक्ट आने वाले बच्चे पर इस भांति का होना चाहिए
कि उसे जीवन अखंड मालूम पड़े। जैसे उसे यह बाहर और भीतर, सब्जेक्टिव और ऑब्जेक्टिव ऐसा न मालूम पड़े--ऐसा मालूम पड़े, एक ही जिंदगी है। वह जो मैं खाना खाता हूं तो वही आदमी हूं; जब मैं प्रार्थना करता हूं, तब भी वही आदमी हूं और मेरी प्रार्थना किसी न किसी गहरे मार्ग से मेरे खाने से जुड़ी है, अलग नहीं हो सकती। यह अंतस-सूत्र, उसका बोध में आने लगे उसे, यानी उसे यह पता चलना चाहिए और इस पता चलने में कठिनाई नहीं है, क्योंकि बच्चे को असल में होता ही यह है कि वह खाना खाते वक्त भी वही है और प्रार्थना करते वक्त भी वही है। उसे देख कर अड़चन यह होती है कि पिता खाना खाते वक्त और आदमी होता है, दुकान पर दूसरा आदमी होता है, प्रार्थना करते वक्त तीसरा आदमी हो जाता है। घर में आता है तो और तरह का आदमी हो जाता है और नौकर के सामने और तरह का आदमी हो जाता है। उसकी समझ के यह बाहर होता है।
अगर एक बच्चे को कहा गया है कि पिता को आदर करो, क्योंकि वे वृद्ध हैं,
तो वह बूढ़े नौकर को भी आदर करना चाहता है। क्योंकि अगर वार्धक्य, वृद्धावस्था आदर की बात है तो फिर बूढ़ा नौकर भी आदर की बात है। यह हम बड़े की समझ के बाहर हो जाता है। और हम कहते हैं, नहीं ऐसा नहीं है--वृद्ध पिता, यानी अपने पिता को आदर करना है। वह तो नौकर है! और तब हम एक भेद खड़ा कर रहे हैं।
और यह भेद नौकर और पिता में खड़ा नहीं हो रहा है, यह भेद उस बच्चे के भीतर दो चेहरे बना रहा है कि नौकर के साथ और चेहरा रखना है, पिता के साथ और चेहरा रखना है। मंदिर में और ढंग से खड़े होना है, दुकान में और ढंग से बैठना है। दुकान में चालाकी चाहिए, मंदिर में सरलता चाहिए। तो हम उसको इस तरह के खंड सिखा रहे हैं। और इस तरह की पर्तें उसके पास खड़ी होती चली जाएंगी, तो उसे भी धीरे-धीरे ये भेद बड़े पक्के मालूम होने लगेंगे।
असल में इस भांति की व्यवस्था होनी चाहिए सारे शिक्षण की, बचपन से, मां बाप के पास से लेकर स्कूल-युनिवर्सिटी तक, कि उसे निरंतर बीच में चीजें जुड़ी हुई हैं, इसका भाव बना ही रहे! बना ही रहे! हर दो विरोध के बीच भी कोई चीज जुड़ी हुई है भीतर, वह उसे दिखाई पड़ता रहे। और एक बात तो उसके

सामने साफ ही हो जानी चाहिए कि मैं अखंड हूं। मेरा बाहर, और मेरा बाहर और भीतर ऐसी दो चीजें नहीं हो सकतीं हैं। जो मैं बाहर हूं, वही मैं भीतर हूं। जो मैं भीतर हूं, वही मैं बाहर हूं। और तब उसके भीतर, जिसको हम कहें अखंड व्यक्तित्व, एक इंडिविजुअलिटी, इंटिग्रेटेड--असल में इंडिविजुअल का मतलब ही यह होता है, इकट्ठा, जो डिविजिबल नहीं है, जिसके खंड-खंड नहीं हैं। हमारी जो समाज व्यवस्था है, वह पर्सनैलिटी बना देती है, इंडिविजुअलिटी पैदा नहीं कर पाती। वह व्यक्ति को, व्यक्तित्व तो दे देती है, लेकिन व्यक्ति नहीं बना पाती। व्यक्तित्व का मेरा मतलब है और एक व्यक्तित्व नहीं होता, उसके बहुत व्यक्तित्व होते हैं, क्योंकि उसको बहुत खंड बताए गए हैं। और सब खंडों में वह अलग-अलग होता है। और वह सब बाहर से उसके कई परसोना.ज कई तरह के व्यक्तिओं के चिपकाए रखता है वह अपने चारों तरफ। जब जैसी जरूरत होती है, तब वह वैसा आदमी हो जाता है। भीतर उसके पास कोई एक व्यक्ति नहीं होता जो सब स्थितियों में, जो सब परिस्थितियों में, जो सब रूपों में बाहर, भीतर, मंदिर में, दुकान में एकरूप रखता हो।

आई थिंक सर, वी हैव दिस वेरी ओल्ड कल्चर। वी हैव बीन टीचिंग अवर जनरेशंस सिन्स लास्ट मिलियंस ऑफ इयर्स कीपिंग द व्यू ऑफ एम इन लाइफ। नॉउ हाउ इट विल बी पॉसिबल दैट वी शैल स्टार्ट फ्रॉम दि मीन्स? विल यू प्ली.ज थ्रो सम लाइट ऑन दैट?

ऐसा ही हम सदा से यही करते रहे हैं। लक्ष्य, उद्देश्य, साध्य को प्रथम मानते रहे हैं और उससे हमने आदमी को बहुत तरह की परेशानियों में डाला। पहली तो बात यह है कि साध्य है भविष्य में और हम हैं वर्तमान में। और हम जब भी होंगे, तब वर्तमान में होंगे और साध्य जब भी होगा, तब भविष्य में होगा। साध्य कभी वर्तमान में नहीं हो सकता--होगा ही भविष्य में। और हम भविष्य में नहीं हो सकते, हम जब होंगे, तब वर्तमान में होंगे। तो एक ऐसा टेंशन हम पैदा कर रहे हैं, जिसका कभी मिलन होने वाला नहीं है। और एक ऐसी आदमी के भीतर पागल एंग्जाइटी पैदा कर रहे हैं, जो कभी हल नहीं होगी। क्योंकि उसका साध्य सदा कल होगा और वह आज होगा। और कल और आज का कहीं कोई मेल नहीं होता, क्योंकि कल जब आएगा, तो आज बन जाएगा और साध्य और आगे कल चला जाएगा। और तब एक व्यक्ति जिंदगी भर जैसा है, वैसा ही जीएगा और वह जो साध्य का खयाल है, वह भी साथ में उसको टार्चर करेगा और परेशान करेगा।
अगर एक आदमी हिंसक है तो वह हिंसक रहेगा। और अहिंसा साध्य होगी। और वह कहेगा कि कभी अहिंसक हो जाना है। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में, कभी न कभी अहिंसा को उपलब्ध करना है। रहेगा हिंसक, क्योंकि जीना तो आज है और अहिंसा तो कल हो सकती है। तो कल होने वाली अहिंसा को वह कल पर छोड़ता रहेगा, पोस्टपोन करता रहेगा।
तो साध्य ने एक तो खूबी की बात यह की कि हर आदमी को जीवन में जो महत्वपूर्ण है, उसको स्थगित करने की तरकीब दे दी। वह कहता है अहिंसक आज तो हो नहीं सकते, मैं तो हिंसक हूं अभी तो! तो धीरे-धीरे, धीरे-धीरे कोशिश करूंगा, साधना करूंगा, प्रार्थना करूंगा, योग करूंगा, संन्यास लूंगा। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में, नहीं तो फिर और अगले जन्म में, तब कहीं जाकर अहिंसक हो पाऊंगा। कोई छोटी चीज तो है नहीं कि आज हो जाए!
तो कल पर टालने की एक सुविधा मिल गई। और जब साध्य कल पर टल गया तो मैं
जो आज हूं, वही रहूंगा, मैं क्या कर सकता हूं! इसमें मेरा कसूर भी नहीं है। साध्य आज तो होता नहीं पूरा! तो मैं जो हूं हिंसक, हिंसक रहूंगा। तो इसका मतलब यह हुआ कि आदमी हिंसक है, हिंसक रहेगा, अहिंसा साध्य रहेगी--जिसको अपने मंदिर में लिखेगा, अहिंसा परमो धर्मः--यह परम धर्म है, इसको उपलब्ध करना है। इसको पुराने तीर्थंकर उपलब्ध कर चुके हैं, इसको हमें भी उपलब्ध करना है। वह कहानी भी ऐसी ही लिखता है कि महावीर भी जन्मों-जन्मों में, जन्मों-जन्मों में श्रम करके फिर अहिंसा को उपलब्ध होते हैं। वह अहिंसा जो है वह है भविष्य सदा। और हिंसक मैं हूं अभी। अब मेरा कहना यह है कि

साध्य की दृष्टि पहले तो स्थगन देती है, पोस्टपोनमेंट देती है, जो बहुत खतरनाक है।
दूसरी बातः साध्य की दृष्टि एक तरह का सप्रेशन देना शुरू करती है आदमी को, एक तरह का दमन देना शुरू करती है मैं हिंसक हूं और अहिंसक होना है। तो अब मैं क्या करूं? तो हिंसा को दबाऊं, अहिंसा को ओढूं, और क्या उपाय हो सकता है? फिर चूंकि मैं हिंसक हूं तो अहिंसा ओढ़ने में भी मेरी हिंसा तो मौजूद रहेगी। यानी यह बड़े मजे की बात है कि मैं अहिंसक होने में भी हिंसा का पूर्ण उपयोग करूंगा। अगर मुझे अहिंसक होना है, और मुझे लगता है कि पत्नी की वजह से अहिंसक नहीं हो पा रहा हूं तो पत्नी को छोड़ कर भाग जाऊंगा। और पत्नी भूखों मर जाएगी, बच्चे सड़क पर भीख मांगेंगे और मैं अहिंसक हो रहा हूं। और मजा यह है कि मैंने जो यह हिंसक व्यवहार किया है अहिंसक होने के लिए, इसका कोई सवाल नहीं है!
एक बड़े जैन मुनि थे उनकी पत्नी को छोड़ कर, कोई बीस वर्ष बाद वे काशी में हैं। उनकी पत्नी मर गई तो उन्हें वहां खबर मिली, उनको तार मिला, तो उन्होंने कहा, चलो, झंझट खत्म हुई! उनकी जीवन-कथा में यह लिखा हुआ है कि वे महान तपस्वी आदमी थे कि पत्नी के मरने पर भी उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा, कोई दुख प्रकट नहीं किया! इतना ही कहा कि चलो, झंझट मिटी!
तो मुझे कोई उनकी जीवन-कथा देने आया था तो मैंने कहा कि मुझे बड़ी हैरानी की बात मालूम पड़ती है कि जब बीस साल पहले उस पत्नी को छोड़ कर तुम चले गए थे तो झंझट शेष कहां थी--झंझट कहां शेष थी? यह आदमी बीस साल पहले छोड़ कर चला आया है, इसको झंझट अभी बाकी थी? जिस पत्नी को तुम छोड़ ही चुके, उससे तुम्हारी क्या झंझट थी? और उसके मरने से तुम्हारी झंझट मिटी, तो मैं मानता हूं कि तुम बीस साल निरंतर उसके मरने के लिए भी सोचते रहे होओगे। यह असंभव है। यह आदमी वाइलेंट है, यानी यह आदमी पत्नी को मार भी सकता था, ऐसे इसने मारने की कोशिश भी की है। उसको मरी हुई हालत में छोड़ कर भाग ही आया है और अब बीस साल बाद मरती हुई उस स्त्री के लिए भी यह कहता है कि झंझट मिटी। यह आदमी अति हिंसक भाव का आदमी है। यानी इस मरने के क्षण में भी इसके मन में न करुणा है, न दुख है, न पीड़ा है, न संवेदना है। इसे कुछ भी नहीं है। यह जो बात कह रहा है, यह अत्यंत हिंसा से भरी है और यह आदमी बीस साल से अहिंसक होने की साधना में लगा हुआ है।
हिंसक आदमी अहिंसक होने की कोशिश में करेगा क्या बेचारा? यही कर सकता
है कि वह हिंसा का ही उपयोग करेगा। दूसरों के साथ भी हिंसा करेगा, अपने साथ भी कर सकता है। और अक्सर कठिनाई हो जाती है कि जब हम दूसरों के साथ हिंसा करते हैं, तब तो हमें पता चल जाता है, दूसरों को पता चल जाता है, लेकिन हम अपने साथ करते हैं तो पता नहीं चलता। अगर एक आदमी लंबे उपवास करे तो हमें कभी खयाल नहीं होता कि वह आदमी हिंसा कर रहा है। लेकिन अगर मैं किसी आदमी को पकड़ कर कमरे में बंद कर दूं, कई दिन तक भूखा रखूं तो सारे गांव को पता चल जाएगा कि यह आदमी भारी हिंसक है, इसने एक आदमी को कमरे में बंद किया हुआ है और ताला लगाया हुआ है और खाना नहीं दे रहा है उस आदमी को। यह आदमी बहुत दुष्ट है। लेकिन कमरे में ताला लगा कर मैं बंद हो जाऊं, अपने को बंद रखूं और बीस दिन खाना न खाऊं तो गांव भर में खबर पहुंच जाएगी कि यह आदमी महान तपस्वी है। लेकिन, कर मैं वही रहा हूं। फर्क इतना है कि वह मैं दूसरे के साथ कर रहा था, यह मैं अपने साथ कर रहा हूं। इसमें करने वाला और किए जाने वाला दो नहीं हैं, इसलिए भ्रम पैदा होता है।
तो दूसरी बात मैं यह कहना चाहता हूं कि हिंसक आदमी अहिंसा पाने के लिए
भी जो करेगा, वह भी तो हिंसा ही करने वाला है, उससे कुछ अहिंसक होने वाला नहीं है। इसलिए मैं कहता हूं कि सवाल इसका नहीं है कि अहिंसा परम धर्म है, सवाल यह है कि आप क्या हैं, क्या कर रहे हैं? इसे समझें, जानें, पहचानें! अगर मैं हिंसा कर रहा हूं, तो मैं पहचानूं कि मैं हिंसक हूं और हिंसक होने का यह भाव-बोध मेरा जितना तीव्र और गहरा हो जाए, यानी जितना मुझे यह दिखाई पड़ने लगे सुबह से सांझ तक कि मैं हिंसक हूं। जब मैं सड़क पर चलता हूं, तब भी मेरी चाल में हिंसा होती है। कोई हिंसा ऐसी नहीं है कि किसी की छाती में छुरा भोंको तभी होती है।

यह तो बहुत ही बोथली बुद्धि के लोगों के खयाल हैं कि किसी की छाती में छुरा भोंको तब हिंसा होती है। वह तो आदमी इस नजर से देख सकता है किसी को कि हिंसा हो जाए छुरा भोंकने से ज्यादा। या यह भी हो सकता है कि न देखे और हिंसा हो जाए। यह कोई सवाल नहीं है कि देखे ही। एक रास्ते पर तुम चले जा रहे हो और मैं तुम्हारी तरफ बिना देखे चला जाऊं और इस तरहजैसे तुम कोई कीड़े-मकोड़े हो, तुम हो ही नहीं--बड़े नेता इसी तरह चलते हैं सड़कों पर! आदमी कीड़े-मकोड़े हैं, उनके आस-पास से निकलने वाले।

डू यू फील, सर, दैट न्यु एजुकेशन एण्ड इंस्टीट्यूशंस ऑफ एजुकेशन व्हिच वी हैव, कैन सर्व दिस परपज?

पहले तो यह एक बात समझ लें कि यह जो मैं कह रहा था अभी कि ज्यादा कीमती
यह है कि मैं हिंसक हूं, इसका भाव-बोध मेरा पूर्ण हो जाए। साध्य का सवाल नहीं है--अहिंसा का। क्या मैं हूं--अभी, आज, इसी वक्त। अगर यह मुझे ठीक-ठीक दिखाई पड़ने लगे कि मैं चौबीस घंटे हिंसक हूं, और यह भी ध्यान रहे कि ऐसा नहीं होता कि आप कभी अहिंसक हो जाएं और कभी हिंसक हो जाएं, ऐसा नहीं होता। आपके होने में एक तारतम्य है। आप जो हैं, वही करीब-करीब चौबीस घंटे होते हैं--कभी कम, कभी ज्यादा, कभी दिखाई पड़ते, कभी नहीं दिखाई पड़ते, कभी छिपे, कभी प्रकट, लेकिन आप होते वही हैं।
एक हिंसक आदमी हिंसक ही होगा। वह जब मंदिर में प्रार्थना कर रहा है,
उस वक्त भी, अगर हम उसके हृदय को खोल कर देख सकें तो वह हिंसक ही होगा। वह जब किसी को दान दे रहा है तब भी, अगर हम उसके भीतर झांक सकें तो वह हिंसा ही कर रहा होगा। इस दान देते वक्त भी इसकी गरीबी उसके लिए सवाल नहीं होगी। इस दान देते वक्त भी कि मैं दे रहा हूं और तुम ले रहे हो, इस दान देते वक्त भी यह अहंकार रस ले रहा होगा। वह हिंसक आदमी जो भी करेगा, उसमें हिंसा होगी। तो मेरा कहना यह है कि अहिंसक होने का ध्येय-वेय बनाने की जरूरत नहीं है। वह बहुत पुरानी तरकीब है, कारगर नहीं हुई। और नुकसान पहुंचा है उससे। जरूरत इस बात की है कि मैं क्या हूं, इसको जानूं, पहचानूं। आज क्या हूं! अभी क्या हूं! और अगर इसकी पहचान मेरी बिल्कुल साफ हो जाए, बिल्कुल साफ हो जाए तो मुझे अहिंसक होने के लिए कुछ करने नहीं जाना पड़ेगा। जितनी मेरी समझ साफ हो जाएगी कि हिंसा मेरे जीवन में चौबीस घंटे खड़ी हुई है, पल-पल, जितनी मेरी समझ ज्यादा तेज हो जाएगी और मुझे दिखाई पड़ने लगेगा।
जिस पल में मुझे हिंसा दिखाई पड़ने लगेगी कि हिंसा है, उसी क्षण हिंसा असंभव होने लगेगी। हिंसा विदा होने लगेगी। और मेरा उठना, बैठना, खाना, पीना, चलना, बोलना, मिलना--गेस्चर सब बदलने लगेगा। यह मुझे बदलना नहीं पड़ेगा। यह किसी अहिंसा के ध्येय को सामने रख कर मैं बदलूंगा नहीं। यह तो मैं हिंसा को पहचानूंगा और यह बदलाहट शुरू होगी। समझ बदलाहट लाती है। और जैसे-जैसे बदलाहट शुरू होगी, वैसे-वैसे मैं पाऊंगा कि हिंसा विदा हो रही है। और जब हिंसा विदा होती है तो जो शेष रह जाता है, वह अहिंसा है। यानी अहिंसा कोई साध्य नहीं है जो कल कहीं मिल जाएगा। आज मेरे मन के ऊपर की हिंसा विदा हो जाए तो आज अहिंसा उपलब्ध है, इसी वक्त!
अहिंसा कहीं से लानी और कहीं पहुंचनी नहीं है। यानी अहिंसा कोई टाइम गैप का सवाल नहीं है कि मैं दस साल या दस जन्म कोशिश करके वहां पहुंचूंगा। वह कोई मंजिल नहीं है। वह तो मेरी हिंसा आज खत्म हो जाए, तो आज मैं अहिंसक हो गया। और हिंसा कैसे खत्म हो? यह किसी हिंसक साधन से नहीं हो सकती खत्म, जो मैं कह रहा हूं। यह हिंसक साधन है कि एक आदमी उपवास करे और सोचे कि उपवास करने से मैं हिंसा को खत्म कर दूं। अब उपवास खुद ही हिंसक साधन है, टार्चर है, सेल्फ-टार्चर है, आत्म-हिंसा है। तो इससे अहिंसा आ नहीं सकती और न हिंसा खत्म हो सकती है। एक आदमी कहे कि मैं घर-द्वार छोड़ कर, बच्चे छोड़ कर जंगल भाग जाऊं, एक आदमी कहे, मैं सिर के बल खड़ा हो जाऊं, एक आदमी कहे, मैं कांटों पर लेटा रहूंगा--ये सारे आदमी हिंसा के ही साधन का उपयोग कर रहे हैं, इसलिए ये अहिंसक कभी नहीं हो पाएंगे। तब फिर सवाल यह है कि क्या साधन होगा? तो पहली बात हैः समझ प्राथमिक साधन हो, अंडरस्टैंडिंग पहला साधन है।

और अंडरस्टैंडिंग से बड़ा कोई अहिंसक साधन नहीं है जगत में। क्योंकि जिस आदमी की समझ बढ़ती है, उस आदमी के लिए हिंसा असंभव हो जाती है। और समझ इतनी अहिंसक है, इतनी अहिंसक है कि जिसका कोई हिसाब नहीं! क्योंकि समझ इतनी अहिंसक है कि उसके लिए हिंसा असंभव ही है। अगर यह दिखाई पड़ना शुरू हो गया कि यह हिंसा है तो हिंसा गई। बस, वह जो दिखाई पड़ने का क्षण है वही उसके विदा हो जाने का क्षण है। विदा करने के लिए और कुछ करना नहीं पड़ेगा। और दूसरी बात जो तुम कह रहे हो कि क्या आज की शिक्षा व्यवस्था इसके लिए कुछ कर सकती है?
आज की शिक्षा व्यवस्था कुछ भी नहीं कर सकती है। क्योंकि आज की सारी शिक्षा व्यवस्था इसी साध्य को ध्यान में रखकर निर्णीत हुई है। हम बच्चों को साध्य सिखा रहे हैं। हम बच्चों को कह रहे हैं, चोरी मत करना, चोरी नहीं करनी है--अचौर्य, चोरी न करना ध्येय है। वह ध्येय कल है, भविष्य में। आज बच्चे चोरी करेंगे। आज शिक्षक भी चोरी कर रहा है, पिता भी चोरी कर रहा है, मां भी चोरी कर रही है, गांव चोरी कर रहा है, सारी दुनिया चोरी कर रही है। और सब शिक्षा दे रहे हैं कि अचौर्य, चोरी नहीं; चोरी के बाहर जाना, चोरी छोड़ना है! छोड़ेंगे? बच्चा भी कसम खा रहा है कि चोरी छोड़ेंगे। लेकिन जिस क्षण यह कसम खाई जा रही है कि चोरी छोड़ेंगे, उसी क्षण चोरी स्वीकृत कर ली गई। चोरी जारी रहेगी। क्योंकि वह कह रहा है कि छोड़ेंगे। वह एक झूठ है जो कल होगा। आज तो सवाल नहीं है न! आज तो चोरी करनी ही पड़ेगी, क्योंकि सारी दुनिया चोरी कर रही है। चोरी के बिना जीया नहीं जा सकता। शिक्षक भी कहता है, आज तो करनी ही पड़ेगी, आज तो करनी ही पड़ रही है। लेकिन छोड़नी चाहिए, यह मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। मनुष्य जीवन के लक्ष्य बड़ी बेईमानी की बातें हैं।
मनुष्य जीवन जैसा आज है, उसकी खोज-बीन--तो एक ऐसी नई शिक्षा व्यवस्था चाहिए, जो बच्चे को यह न कहती हो कि झूठ मत बोलो। जो बच्चे को यह कहती हो कि जब तुम झूठ बोलो तब जागो, पहचानो कि तुम झूठ बोल रहे हो और इससे घबराने की, भागने की कोई जरूरत नहीं है। बस इसको तुम जानो कि तुम झूठ बोल रहे हो। इसको तुम पहचानो, और हम तुम्हारे लिए सहयोगी बन सकें, कि तुम पहचान सको कि तुम झूठ बोले, बात खत्म हो गई। हमें तुम्हें कुछ और कहना नहीं है। यह भी नहीं कहना है तुम मत बोलो, कि तुम छोड़ो, यह सवाल नहीं है। तुम सिर्फ पहचान सको, तुम्हारी सेंसिटिविटी इतनी बढ़ जाए कि ऐसा न हो कि तुम झूठ बोलो और तुम्हें पता भी न चले कि तुम झूठ बोल गए हो। यही हो रहा है। यह हो रहा है कि आदमी को पता ही नहीं चलता है कुछ!
एक आदमी रास्ते पर मिलता है, हम उससे पूछते हैं कि कहिए, सब मजा है? फलां आदमी तो नहीं दिखा? हां, वह कहेगा कि कल ही मिला था, और वह आदमी है ही नहीं बस्ती में। और यह आदमी का कोई प्रयोजन नहीं है। यानी इस आदमी का प्रयोजन भी नहीं है कि इसका कोई हित हो रहा है, कि इसका कुछ अहित हो रहा है-- यह सहज बोल रहा है, यानी इस बोलने में कोई स्वार्थ भी नहीं है। मगर शायद इसे बोध ही नहीं है--इसे बोध ही नहीं कि यह क्या बोल रहा है, क्यों बोल रहा है? कुछ कारण हैं जिनकी वजह से यह बोल रहा है। कुछ कारण हैं जिनकी वजह से यह बोल रहा है। और उन कारणों का सीधा इसको पता भी नहीं होगा, खयाल भी नहीं होगा।
मेरे एक प्रोफेसर थे। कभी भी मैं कुछ--किसी किताब की बात करता तो वह फौरन कहते, हां! यह किताब बहुत बढ़िया है। यह मैंने पढ़ी है। मुझे थोड़े दिन में शक होना शुरू हुआ, क्योंकि अगर उन्होंने वह किताब पढ़ी थी तो उस संबंध में बात तो वे कभी कुछ नहीं कर पाते थे, न करते थे। लेकिन ऐसी कोई किताब न थी जो उन्होंने न पढ़ी हो। तो एक दिन मैं गया और मैंने एक बिल्कुल ही झूठे आदमी का नाम लिया जो है ही नहीं, न जिसने कोई किताब लिखी। तो मैंने उनसे कहा कि आपने एक रूसी बोर्नाकोफ दार्शनिक हुआ--उसे शायद, उन्होंने कहा, हां, मैं सब देखा। बहुत बढ़िया है, लेकिन बीस साल पहले देखा। तो मैंने उनसे कहा कि यह तो कभी हुआ नहीं आदमी, बीस साल क्या, बीस करोड़ साल पहले भी नहीं हुआ, और हुआ ही नहीं इसलिए लिखने का सवाल ही नहीं। इसने एक लाइन नहीं लिखी। और मैं सिर्फ इसलिए आपसे पूछा हूं कि मुझे ऐसा कई बार लगता है कि आपने पढ़ी

नहीं है किताब, सिर्फ आप हां भरते हैं। क्योंकि आपको यह स्वीकार करना ही कष्टपूर्ण है कि ऐसी भी कोई किताब हो सकती है, जो आपने नहीं पढ़ी है!
वह अहंकार भीतर बाधा देता है। लेकिन उनको कुछ पता नहीं है। यानी वह इतना आदी हो गए हैं कि ऐसा कहना गलत है कि वह जान कर झूठ बोल रहे हैं। यह बिल्कुल सहज हिस्सा हो गया है, उनके खून का हिस्सा है। मतलब झूठ उनसे निकलता है।
तो सवाल यह नहीं है कि हम सिखाएं किसी को कि तुम झूठ मत बोलो। सवाल यह
है कि हम उसे जगाएं कि जब तुम झूठ बोलते हो, तब तुम जानो। इससे ज्यादा हमें कोई मतलब नहीं है, क्योंकि मेरा मानना यह है कि जानते हुए झूठ बोलना असंभव होता चला जाता है। क्योंकि धीरे-धीरे उसकी एब्सर्डिटी, बेवकूफी, नासमझी, अज्ञान दिखाई पड़ता है और धीरे-धीरे उससे होने वाला अहित दिखाई पड़ता है। और धीरे-धीरे उससे पैदा होने वाला चक्कर दिखाई पड़ता है, क्योंकि एक झूठ फिर और झूठ पैदा करता है, फिर और झूठ पैदा करता है। फिर उनको बचाने में झूठ ही झूठ हो जाता है। फिर हम एक ऐसे जाल में घिर जाते हैं, जिससे निकलना मुश्किल हो जाता है।
दूसरी मजे की बात यह है कि झूठ बोलने से दूसरे को नुकसान पहुंचता ही है, पहुंचेगा ही, खुद को भारी नुकसान पहुंचता है, क्योंकि ऐसा आदमी धीरे- धीरे सत्य को जानने में असमर्थ हो जाता है। और ऐसा आदमी कुछ मानवीय अर्थों में इतना कमजोर हो जाता है, जिसकी हम कल्पना ही नहीं करते। जो आदमी झूठ बोलता है, वह कभी यह मान ही नहीं सकता कि कोई आदमी सच बोलता है। वह आदमी कभी किसी पर भरोसा नहीं कर सकता। वह कभी किसी को मित्र नहीं बना सकता। कह कभी किसी बात को सरलता से नहीं ले सकता। उसके भीतर की जो मनुष्य होने की संभावना है, वह क्षीण हो जाएगी। यह अगर सब दिखाई पड़े, झूठ की पूरी व्यवस्था कि वह हमें कहां ले जाएगा, क्या कर रहा है, क्या हो रहा है हमारे भीतर, क्या फल पा रहे हैं, क्या दूसरे के साथ कर रहे हैं--यह पूरा का पूरा इम्पैक्ट हो जाए मस्तिष्क पर तो कोई आदमी झूठ बोलने को राजी नहीं होगा।
और फिर मजे की बात यह है कि हम यह तो सिखाते हैं कि झूठ मत बोलो, लेकिन
हम कभी यह नहीं सिखाते उसको कि झूठ आदमी बोलता क्यों है? जो ज्यादा बुनियादी और जरूरी बात है कि यह झूठ के जो विभिन्न हजार रूप हैं, आदमी क्यों बोलता है झूठ? और बड़े मजे की बात है, एक तरफ शिक्षा शास्त्री कहता है कि झूठ मत बोलो और दूसरी तरफ जिन कारणों से आदमी झूठ बोलता है, वह सिखाए चले जाता है!
जैसे--झूठ का बुनियादी कारण भय है। भय की वजह से आदमी झूठ बोलता है। अगर दुनिया में चाहिए कि झूठ न हो, तो भय खत्म करो। तो शिक्षक डंडा लिए खड़ा है, और लड़कों से कह रहा है कि झूठ मत बोलना, झूठ बोले तो सिर खोल दूंगा! अब इस आदमी को पता ही नहीं कि यह क्या कह रहा है। यानी एक आदमी डंडे से भय दिखला रहा है और दूसरी तरफ कह रहा है, झूठ मत बोलना, सिर खोल देंगे तुम्हारा! इसको पता ही नहीं है कि यह क्या कर रहा है। इसका डंडा तो उसको झूठ बोलने को मजबूर कर देगा। यह कहने वाला था कि गुल्ली-डंडा खेल रहा था लड़का और यह कहता है कि मैं पिता की दवा लेने गया था अस्पताल में, इसलिए स्कूल आने में देर हो गई है। और यह डंडे की वजह से कह रहा है। और यह आदमी कह रहा है, झूठ बोलना मत, नहीं तो मैं सिर खोल दूंगा। इसको पता ही नहीं है कि झूठ मत बोलना, यह एक दूसरी ही उलटी बात है और डंडा बिल्कुल उलटी बात है। अगर चाहिए कि शिक्षक कहता है कि झूठ मत बोलो तो शिक्षा के क्षेत्र से सारे भय को विसर्जित कर दो। लोगों को अभय करो। उनको इतना हिम्मतवर बनाओ कि वह कोई भी तकलीफ झेलने को तैयार हो जाएं आनंद से। लेकिन झूठ की तकलीफ झेलने को राजी न हों।
एक उपन्यास मैंने पढ़ा। उसमें एक पात्र है। एक बड़ी अदभुत कहानी है। उस पात्र ने एक आदमी को छुरा मार दिया और वह आदमी अपरिचित था, यह उसको जानता ही नहीं था। समुद्र के किनारे दोनों धूप ले रहे थे रेत पर लेटे हुए, अचानक यह आदमी उठा और उसकी पीठ में जाकर छुरा भोंक दिया। इसने उसका चेहरा भी कभी नहीं देखा। देखा ही नहीं था चेहरा, पीठ की तरफ से छुरा भोंका था। फिर उस पर अदालत में मुकदमा चलता है तो वह आदमी यह कहता है कि बस मेरी जिंदगी में कुछ

ऐसा लगता था कि कुछ भी मैंने नहीं किया, कुछ भी मैंने नहीं किया। मैं कुछ कर ही नहीं पाया, जिंदगी बिल्कुल बेकार चली गई। अखबार में एक दफा नाम भी नहीं छपा। अचानक रेत पर लेटे हुए इसकी पीठ चमक रही थी धूप में और मेरा मन हुआ कि इसको छुरा भोंक दूं, एक दफा अखबार में नाम भी छप जाएगा, चर्चा भी हो जाएगी। अब हमने कुछ किया। यह अपने को भी लगेगा कि कुछ हुआ--थ्रिलिंग, कुछ कर लिया। बस इसलिए छुरा मार दिया, और तो कोई कारण नहीं है।
कोई नहीं मानता, अदालत नहीं मानती, कोई नहीं मानता कि दुनिया में कभी किसी आदमी ने ऐसा... तो अदालत उसको धमकी देती है कि तुमको फांसी की सजा हो जाएगी। तो वह कहता है यह तो सवाल ही नहीं है, जो आपको करना हो करें, लेकिन बात इतनी ही है, इससे ज्यादा नहीं है। तो फिर अब उसको दूसरे गवाह खोजने पड़ते हैं कि कोई और रास्ते से यह आदमी... क्योंकि यह तो मानने योग्य ही नहीं मालूम होता कि कोई आदमी किसी की पीठ पर छुरा मार दे, अकारण।
तो एक गवाह आकर कहता है कि इसकी मां मर गई थी तो उसी दिन रात को मैंने इसको थियेटर में देखा। सुबह मां मरी और रात यह थियेटर में था, और नाच देख रहा था! अदालत उससे पूछती है कि तुम थियेटर में थे और नाच देख रहे थे, जिस दिन तुम्हारी मां मरी थी? उसने कहा, हां, उस दिन मैं नाच देख रहा था, क्योंकि मैंने यह सोचा कि मां तो मर ही गई, अब तो मैं कभी भी थियेटर में जाऊंगा तो मां के मरने के बाद ही जाऊंगा। अब तो कोई उपाय ही नहीं है। मां के मरने के पहले थियेटर में अब कैसे जा सकता हूं। यानी अब तो मैं कभी भी जाऊंगा तो मां के मरने के बाद ही जाऊंगा। वह घटना तो अब बाद में होने वाली है। तो दिन के बाद होती है, कि दो दिन के बाद, कि तीन दिन के बाद, मुझे बेमानी मालूम पड़ती है और अगर मां मरने के बाद लोग थियेटर में न जाएं तो थियेटर कभी का खत्म हो जाएगा। क्योंकि किसकी मां नहीं मरती है? सबकी मां मरती है।
तो वह अदालत यह मान रही है कि नहीं, यह आदमी खतरनाक है, यह मां के मरने
के बाद शाम को थियेटर देख रहा था, नाच देख रहा था। उस आदमी ने कहा, साहब, मैं टिकट पहले ले चुका था। वह तो ठीक है, लेकिन तुम उसी दिन देख रहे थे, मां के मरने के बाद। उसने कहा, अब तो मैं कभी भी देखूंगा तो मां के मरने के बाद ही देखूंगा। लेकिन वह आदमी इनकार नहीं करता। वह कहता है, हां मैं देख रहा था। किसी आदमी ने उससे कहा कि भाई, बहुत दुख तुमको हुआ होगा, मां मर गई। तो दूसरे आदमी ने गवाही दी कि वहां अदालत में कि मैंने इससे कहा कि तुम्हारी मां मर गई तो बहुत दुख हुआ होगा। तो इसने कहाः हां, बहुत दुख हुआ। क्योंकि रात भर सो नहीं सका, मां मर गई तो उसके पास बैठे रहना पड़ा। रात भर सो नहीं सका।
तो अदालत से वह गवाह कहता है कि यह आदमी बड़ा खतरनाक है। वह आदमी कहता
है कि मैं सच कह रहा हूं कि पहले तो मुझे मां के मरने का दुख ज्यादा हुआ था, लेकिन थोड़ी देर बाद मुझे नहीं सोने का दुख ज्यादा हुआ कि रात भर खराब हुई जा रही है। मां तो मर ही चुकी, अब यानी दुख जो होना था, हो ही चुका, अब यह रात भर मेरी और खराब हो रही है।
तो वह अदालत का मजिस्ट्रेट उससे कहता है कि कम से कम तू झूठ तो बोल-- उससे वह यह कहता है कि कम से कम तू झूठ तो बोल, मूर्ख! तू ये बातें मत कर, तू इतनी सच्ची बातें कहे चला जा रहा है कि इन पर कोई विश्वास नहीं करेगा, क्योंकि यह दुनिया पूरी की पूरी झूठ पर खड़ी है। वह मजिस्ट्रेट की आंख में आंसू आ गए। वह कहता है कि ऐसा आदमी मैंने देखा ही नहीं। वह कहता है कि पहले मुझे यही दुख हुआ था कि यह मां मर गई, लेकिन घंटे भर के बाद मुझे यही दुख होने लगा कि रात खराब हुई जा रही है। अब मैं इसमें क्या कर सकता हूं। हुआ यही था, सचाई यह है!
असल में हम एक तरफ सिखाते हैं कि झूठ मत बोलो, और दूसरी तरफ हम जो सब सिखाते हैं, वह आदमी को झूठ बोलने के लिए भय सिखाते हैं। अगर हमें चाहिए कि हम आदमी को सच बोलने की तरफ ले जाएं, और सच बोलना बड़ा आनंदपूर्ण है तो हमें बिल्कुल ही दूसरी धारणाएं साथ में खड़ी करनी पड़ेंगी। अभय सिखाना होगा और सत्यों को सीधा स्वीकार करना पड़ेगा। सीधा स्वीकार करना पड़ेगा। सत्य इतने कठोर हैं कि हालांकि दुनिया कहती रही है कि सत्य बोलो, लेकिन दुनिया अभी

भी राजी नहीं है सत्य के लिए। सत्य इतने कठोर हैं, इतने निर्मम हैं, इतने निष्ठुर हैं।
एक आदमी आपके घर आता है, और आप परेशानी में पड़ गए हैं, लेकिन आप कहते हैं कि बड़ा सौभाग्य हुआ कि आप आए। और वह भी आदमी जानता है कि सौभाग्य बिल्कुल नहीं हुआ है। वह भी जानता है। आप भी उसके घर जाते हो तो जो होता है, वह जानता है और वह भी कहता है कि बहुत सौभाग्य हुआ।
एक झूठा जगत हम खड़ा किए हुए हैं, जिसमें सच बोलने को हमने ध्येय बनाया हुआ है। और जगत पूरा झूठा खड़ा किए हुए हैं। जो स्ट्रक्चर हमने बनाया है, वह सारा का सारा झूठ पर है। सच को हम स्वीकार न करेंगे। रास्ते पर एक पति अपनी पत्नी से कहे चलते वक्त कि वह जो स्त्री जा रही है, वह मुझे इस वक्त बहुत प्यारी लग रही है--हालांकि स्त्री रास्ते पर चलते हुए प्यारी लग सकती है, लगती है। लेकिन अपनी पत्नी से वह नहीं कह सकता। और व्यवस्था हमने यह की है कि सत्य बोलो!
अच्छी दुनिया वह होगी जहां हम बच्चों को इसके लिए राजी करेंगे। हम उनको इसके लिए राजी करेंगे कि लड़की को यह जानना चाहिए कि वही अच्छी लगे, यह जरूरी नहीं है। वह पत्नी हो जाएगी, तब भी उसके पति को कोई और भी अच्छा लग सकता है। और यह एक अदभुत घटना होगी और अत्यंत प्रेमपूर्ण होगी कि पति कह सके कि मुझे वह स्त्री बहुत प्यारी लग रही है। और पत्नी इसे सुन सके और समझ सके और दया कर सके पति पर और करुणापूर्ण हो इस स्थिति में, तो ही पत्नी है, तो ही उनके बीच प्रेम है। कल पत्नी भी कह सकती है कि मुझे किसी से...
एक घटना घटी। बंबई में एक महिला मेरे पास आई, कोई चार वर्ष हुए। और उसने आकर मुझे कहा कि मैं बहुत परेशानी में हूं और परेशानी यह है कि पति मुझे इतना प्रेम करते हैं कि जिसका हिसाब नहीं। उनके प्रेम का कोई अंत नहीं है। और मैं उनको कभी प्रेम नहीं कर सकी। और मेरा प्रेम तो जिससे शादी होने के पहले था, उससे आज भी है। मिलना नहीं है, जुलना नहीं है, वह आदमी अफ्रीका है। कभी चार-छह वर्ष में एक दिन, दो दिन के लिए वह आदमी आता है। और पति मुझे इतना प्रेम करते हैं और यह मुझ पर भार होता चला गया। पति मुझे इतना प्रेम न करें तो ठीक है। मैं प्रेम कर ही नहीं पाती हूं और मेरे मन में वह चित्र उस आदमी का अभी भी मौजूद है--मैं क्या करूं? मुझे उस आदमी से कुछ मतलब नहीं है अब, न कोई प्रयोजन है, न यह सवाल है। यानी अगर आज मुझे कोई कहे भी कि वह आदमी तुम्हें मिल जाए तो तुम इस पति को छोड़ दोगी तो छोड़ भी नहीं... यह भी सवाल नहीं है! और इस पति पर मुझे भारी दया मालूम होती है, लेकिन प्रेम नहीं है, मैं क्या कर सकती हूं, और वह भारी रोने लगी।
मैंने उसको कहा कि तू अपने पति को कह, पूरी बात कह। तेरा मन हलका होएगा। उसने कहाः वे क्या सोचेंगे? कि वे मुझे इतना प्रेम किए हैं, और बीस साल हमारी शादी हुए हो चुके हैं। यानी, यह कोई आजकल की बात नहीं है, लेकिन चित्त तो मेरा वही है, घिरा ही हुआ है। वहीं घिरा हुआ है। फिर भी मैंने उसे समझाया कि तू अपने पति को कह कि यह बड़े प्रेम की बात है। उसने अपने पति को सारी बात कही। यह सब संभव है, इसमें ऐसा कुछ असंभव नहीं है। और पति तुझे प्रेम करते हैं तो समझेंगे फिर चूंकि वे मेरे पास आते हैं, मैं जानता हूं वे समझेंगे। उसने जाकर बड़े डर से, बड़ी मुश्किल से वह राजी हुई कि मैं जाकर कहूंगी। उसने अपने पति को जाकर कहा।
पीछे मुझे मिली, जब मैं दुबारा गया तो उसने मुझे कहा कि हैरानी की घटना घटी। मैं तो यह सोचती भी नहीं थी। जब मैंने यह सारी बात उन्हें कही, उस दिन के बाद उनका जो मेरे प्रति प्रेम है, वह अदभुत हो गया, बहुत ही और हो गया। इतने समीप हम कभी भी नहीं थे, और मैं अपनी बात कह कर हलकी हो गई। फिर वह आदमी आया तो उसके पति उसको घर लाकर ठहराए। वह आदमी आया तो उसको घर लाकर ठहराए! सात दिन उनके घर ही था वह आदमी और उनकी पत्नी ने मुझे कहा कि सात दिन उन्होंने इस भांति कोशिश की कि हम कितने पास बैठ सकें, कितनी बात कर सकें, कितने मिल सकें और इन सात दिनों में वह आदमी विदा हो गया मेरे चित्त से। और मेरे पति की मूर्ति स्थापित हो गई जो बीस साल में नहीं हो सकी थी। इन सात दिनों में उन्होंने पूरी कोशिश यह की है कि हम कितने करीब रह सकें। वह घर के बाहर ही ज्यादातर रहे, ताकि हम जितना निकट रह सकें। लेकिन उस आदमी की

तस्वीर मेरी विदा हो गई। क्योंकि वह जो सब मैंने सोच रखा था, वह तो कल्पना में ही था, वह आदमी तो साधारण था। और पति में मैंने कभी नहीं देखा था, क्योंकि वह मैंने देखने की कोशिश ही नहीं की थी, जो था उस आदमी में। वह मुझे अब प्रकट हुआ कि कितना उनका प्रेम है।
मगर सत्य के बोलने का अर्थ हम नहीं सिखा पाते हैं। अब मैं यह मानता हूं कि इस सच को बोलने से उनकी जिंदगी में जो घटना घटी है, वह उस झूठ का आवरण रहते कभी नहीं घटने वाली थी, वह आवरण वैसे ही बना रहता। वह खत्म हुआ, वह आदमी विदा हो गया, उसके चित्त से, वह बात गई, क्योंकि उससे भी महत्वपूर्ण और अदभुत आदमी उसके निकट आ गया। वह रेसिस्टेंस चला गया और चीजें साफ हो गईं और पति और उसके बीच अब एक दीवाल नहीं है। अब हलकापन है, एक अपराध नहीं है बीच में, एक घाव भी नहीं है, कुछ छिपाया है, ऐसा नहीं है बीच में। क्योंकि जब हम कुछ छिपाते हैं तो वह बोझ बन जाता है।
तो मेरा मानना यह है कि हमारी जो सारी की सारी व्यवस्था है, वह तो झूठ
पर खड़ी हुई है। उसमें तो कहीं हम सच को जगह नहीं देते और लक्ष्य सत्य का बनाए हुए हैं! और इसी तरह हमारी सारी व्यवस्था है हिंसा पर खड़ी है, लक्ष्य अहिंसा का है। सारी व्यवस्था बेईमानी की है, ईमानदारी की बात करते हैं! बल्कि यह हो गया आखिर में कि जितनी बड़ी बेईमानी करनी हो, उतना बड़ा ईमानदारी का बोर्ड लगाना चाहिए।
वह जो लिखे हुए हैं दरवाजे पर कि ईमानदारी ही धर्म है, वह उतनी बड़ी बेईमानी पीछे कर सकते हैं। यानी ईमानदारी का उपयोग भी बेईमानी के लिए ही होगा। मगर हमारे खयाल में यह नहीं आता है कि यह हुआ इसलिए है कि हमने लक्ष्य को भविष्य में रख दिया है।
मैं ऐसी शिक्षा चाहता हूं, जहां रोज की जिंदगी ही लक्ष्य है। भविष्य कुछ है नहीं। आज जो जी रहा हूं, वही सब कुछ है। इसको जानूं, समझूं, पहचानूं और इसको पहचानने, जानने, समझने में, कैसी हवा चारों तरफ सहयोगी होगी, वह हवा हम शिक्षा संस्थाओं में दें। वह हवा वहां बनाएं जो सच बोले, उसको हम आदर करें, चाहे सच कितना ही कठोर हो। चाहे सच कितना ही निर्मम हो और चाहे सच कोई भी नग्नता को प्रकट करता हो, लेकिन सच आदृत होगा--सच ही आदृत होगा। सच का आदर बढ़े, सच की प्रतिष्ठा हो, और सच कैसे समझा जाए और कैसे हम पहचानें कि कहां हम झूठ को पकड़ते हैं, क्यों पकड़ते हैं, उसकी समझ, उसकी पहचान बढ़ने की सारी साधनाएं पहले दिन से शिक्षा के--न भूगोल इतनी महत्वपूर्ण है, न गणित, न केमिस्ट्री, न फिजिक्स, जितनी एक मेडिटेटिव अवेयरनेस, ध्यानपूर्ण चित्त जो कि एक-एक चित्त के आज जो चित्त है, उसको समझने में सहयोगी होता चला जाए। और मजा यह है कि जितनी हमारी गहरे में समझ बढ़ती है, उतना ही रूपांतरण हो जाता है।
समझ साधन है और समझ से बड़ा कोई साधन नहीं है।

"शिक्षाः साध्य और साधन" विषय पर प्रश्नोत्तर-शृंखला-1

शिक्षा में क्रांति
पंद्रहवां प्रवचन

बोध से रूपांतरण

आचार्य जी, इनफेक्ट टु बी वेरी ट्रू लेट मी पुट दिस क्वेश्चन ऑफ परपजफुल वे ऑफ लाइफ टुडे। टु मी सर, दिस इज़ नॉट वेरी क्लियर, ए.ज आई सी, ट्रांसफर्मेशन ऑफ फिनामिना इज़ एवरचेंजिंग, वेदर इट मे बी ऑफ मिनरल किंग्डम, वेजिटेबल किंगडम, एनिमल किंग्डम, इनक्लुडिंग रेशनल बीइंगस एण्ड नेचरल फिनामिना। आई सी सर, नेचर एवरचेंजिंग, हाउ कैन अवर रेडीमेड फार्मूला.ज सर्व दि परपज? इनफेक्ट सर वॉट इज़ दि परपज ऑफ लाइफ--इज़ नॉट वेरी क्लियर टु मी। शुड आई एक्सपेक्ट फ्रॉम यू दि डिटेल अकाउंट ऑन दिस आस्पेक्ट ऑफ लाइफ?

सबसे पहली बात तो यह है कि जीवन का अर्थ और लाइफ का परपज--ऐसी कोई चीज
ही नहीं है। जीवन स्वयं में ही अपना अर्थ है। जीवन से पार और जीवन से अलग कोई मंजिल नहीं है। जीवन को ही उसकी पूर्णता में जीना जीवन का लक्ष्य है। साधारणतः बैलगाड़ी का अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं है। बैलगाड़ी का परपज, प्रयोजन किसी आदमी को कहीं पहुंचा देना है। अगर किसी को कहीं नहीं जाना है तो बैलगाड़ी बेकार हो गई। उसका कोई अपने में अर्थ नहीं था। वह एक साधन थी, मीन्स थी। वह स्वयं साध्य नहीं थी। फिर किसी व्यक्ति को बैलगाड़ी से कहीं जाना है तो जाने का भी अपने आप में कोई अर्थ और प्रयोजन नहीं है। जाना भी एक साधन होगा कुछ और पाने के लिए। कोई किसी से मिलने जाता होगा, धन कमाने जाता होगा, विवाह करने जाता होगा। तो "जाना" भी अपने आप में अर्थपूर्ण नहीं है। कोई और प्रयोजन होगा पीछे जिसकी वजह से वह अर्थपूर्ण होगा।
अगर हम जीवन की सारी क्रियाओं को खोजें तो हम पाएंगे कि प्रत्येक क्रिया किसी और चीज के संदर्भ में, किसी और चीज के रिफ्रेंस में अर्थपूर्ण है। अपने आप में अर्थहीन है। तो जीवन की सारी क्रियाओं के संबंध में पूछा जा सकता है, कि परपज क्या है, लेकिन स्वयं जीवन के संबंध में नहीं पूछा जा सकता, क्योंकि जीवन के बाहर और जीवन से अलग कुछ भी नहीं है। तो जीवन का तो प्रयोजन है जीवन ही। इसलिए जो लोग जीवन को भी साधन बनाना चाहते हैं कोई और साध्य बनाना चाहते हैं--कोई कहेगा मोक्ष, कोई कहेगा परमात्मा, वे समझ नहीं पा रहे हैं! क्योंकि तब यही सवाल परमात्मा के संबंध में खड़ा हो जाएगा कि परमात्मा का प्रयोजन क्या है? परपज क्या है? या मोक्ष का प्रयोजन क्या है, परपज क्या है? मोक्ष पाकर क्या करेंगे? और वहां जाकर वे लोग थके खड़े हो जाते हैं कि अब क्या उत्तर दें!
तो बजाय इसके कि जीवन के बाहर हम व्यर्थ की कल्पनाओं में खोएं, यह उचित होगा कि जीवन तो हमारे हाथ में है, जीवन की पूर्णता जरूर हमारे हाथ में नहीं है। जीवन हमारे हाथ में है, लेकिन असीम जीवन हमारे हाथ में नहीं है। जीवन हमारे हाथ में है, लेकिन जीवन को कैसे ऐसे जीएं कि समग्र आनंद उससे उपलब्ध हो सके, वह हमारे हाथ में नहीं है।
मेरी दृष्टि में जीवन ही परमात्मा है। और जीवन ही मोक्ष है। जो व्यक्ति जीने की कला जान लेता है और जीने की गहराइयों में उतर जाता है और जीने की ऊंचाइयां छू लेता है, वह आदमी फिर नहीं पूछता कि जीवन का लक्ष्य क्या है? जीवन अपने लिए काफी है। जीवन पर्याप्त है।
हम यह पूछते भी इसीलिए हैं कि जीवन हमारा अधूरा है और पर्याप्त नहीं है। इसीलिए यह सवाल उठता है कि यह जीवन किसलिए है? यह बहुत समझने जैसी बात है। अगर एक आदमी दुख में पड़ा हो तो वह निरंतर पूछता है कि इस दुख का प्रयोजन क्या है? परपज क्या है? मैं दुख में क्यों पड़ा हूं? लेकिन वही आदमी आनंद में उतर जाए तो वह आदमी कभी नहीं पूछता है कि इस आनंद का प्रयोजन क्या है, मैं आनंद में क्यों हूं? आनंद में होते ही वह प्रयोजन की बात भूल जाता है। क्योंकि आनंद स्वयं में ही प्रयोजन है।
एक आदमी को जीवन में प्रेम न मिले तो वह आदमी निरंतर पूछता है कि प्रेमहीन जीवन का क्या प्रयोजन है? लेकिन उसे प्रेम मिले और वह प्रेम में

डूब जाए और नहा जाए, उस क्षण में वह नहीं पूछता कि प्रेम का प्रयोजन क्या है? प्रेम अपने में प्रयोजन है। आनंद अपने में प्रयोजन है, प्रेम अपने में प्रयोजन है, जीवन अपने में प्रयोजन है। और आनंद और प्रेम तो बहुत छोटी घटनाएं हैं, जीवन तो समग्र, टोटल का नाम है। तो इस समग्र के बाहर कुछ भी नहीं बचता है। जीवन का मतलब है सब। इसलिए बाहर कुछ है ही नहीं जिसके लिए यह साधन बन सके। यह तो अपना साध्य स्वयं है--एंड इन इटसेल्फ। और अगर यह हमारे खयाल में आ जाए तो हमारे जीवन की जो दृष्टि होगी, वह बुनियादी रूप से बदल जाएगी। क्योंकि तब हम यह न पूछेंगे कि हम कहां जाएं, न हम यह पूछेंगे कि कहां है मोक्ष, कहां है परमात्मा? तब हम यही पूछेंगे कि जीवन जो मिला है, उसे हम कैसे उसकी परिपूर्णता में जी सकें और कैसे हम उसकी अंतिम गहराइयों तक डूब जाएं। और कैसे जीवन हमारे सामने पूरा प्रकट हो जाए। जिस दिन जीवन पूरा प्रकट होता है, उस दिन यह सवाल ही नहीं होता कि कोई जीवन का प्रयोजन है।
श्वास एक आदमी ले रहा है। अगर वह आनंद से श्वास ले रहा हो तो एक-एक श्वास भी अपने आप में अर्थपूर्ण है। फिर वह नहीं पूछता कि यह श्वास मैं क्यों लूं? यह आदमी पूछता ही तब है, जब श्वास लेना दुखद और कष्टपूर्ण हो जाए। असल में दुख जब जीवन में होता है, तब प्रयोजन और परपज की बात उठती है। जब आनंद होता है, तब प्रयोजन और परपज की बात नहीं उठती है।
मेरी दृष्टि में दुखी चित्त के लिए यह सवाल है कि जीवन का प्रयोजन क्या है? आनंद में यह सवाल ही गिर जाता है। इसका उत्तर नहीं मिलता। ऐसा नहीं है कि इसका उत्तर बुद्ध को या महावीर को या क्राइस्ट को इसका उत्तर मिल गया है। उत्तर है ही नहीं। असल में यह प्रश्न ही गिर जाता है, विदर-अवे हो जाता है। यह प्रश्न ही नहीं रह जाता है। जब हम पूरे आनंद में खड़े होते हैं तो आनंदित होना ही सब कुछ होता है। उसके आगे कोई सवाल नहीं। वह जो छोटा सा क्षण भी मिल जाए आनंद का तो वह क्षण ही इटरनिटी हो जाता है। उसके बाहर कुछ है ही नहीं फिर। उसके पार कुछ सवाल ही नहीं उठता। उसके पार चित्त नहीं जाता, विचार नहीं जाता, कल्पना नहीं जाती, प्रश्न नहीं जाता। फिर हम वही होते हैं।
जीवन अपने आप में अपना लक्ष्य, अपना आनंद, अपना अर्थ, अपना प्रयोजन
है। और जीवन को जो किसी और चीज के लिए प्रयोजन बनाएगा, वह दुख में पड़ जाएगा। कुछ लोग जीवन को धन के लिए प्रयोजन बना लेते हैं। धन जीवन के लिए प्रयोजन हो सकता है, साधन हो सकता है, लेकिन जीवन धन के लिए नहीं हो सकता है। वह आदमी पागल है जो सोचता हो कि धन कमा लिया तो जीवन का अर्थ पूरा हो गया। हां, वह आदमी समझदार है जो धन को जीवन की गहराइयों में उतरने में सहयोगी और साथी बना रहा है।
जीवन, न धन के लिए साधन है और न धर्म के लिए। कुछ लोग हैं जो धर्म के लिए जीवन को साधन बना रहे हैं--पूजा और पाठ और त्याग और तप और संन्यास, और सारा जीवन इसमें लगा देते हैं! वे भी वही गलती कर रहे हैं, जो धन कमाने वाला कर रहा है। प्रार्थना और पूजा और संन्यास वे सब भी जीवन के लिए हैं। जीवन से ऊपर कुछ भी नहीं है--न हो सकता है। ऐसी कोई चीज नहीं है, जिसके लिए हम जीवन खोने को राजी हों। ऐसी कोई चीज हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसका कोई मतलब नहीं है, जिसके लिए हमको जीवन खोना पड़े। अगर मैं ही नहीं बचता हूं तो उस चीज का प्रयोजन क्या है! लेकिन बहुत भूलें चल रही हैं। कुछ लोग धन के लिए जीवन गंवा देते हैं, कुछ लोग धर्म के लिए जीवन गंवा देते हैं, कुछ किन्हीं और चीजों के लिए जीवन गंवा सकते हैं। लेकिन मेरी दृष्टि में चाहे जीवन को कोई किसी भी चीज के लिए गंवा रहा हो, वह गलती कर रहा है और उसे कभी कुछ उपलब्ध नहीं होगा और वह भटक जाएगा। सारी चीजें जीवन के लिए हैं।
और यह बात खयाल में आ सके तो फिर पौधे का जीवन भी आनंदपूर्ण है, पत्थर
का जीवन भी। यह सवाल नहीं है मेरी नजर में कि आदमी का जीवन ही महत्वपूर्ण है। जीवन जहां भी है, अनंत-अनंत रूपों में, सब जगह, अपना अंत वही है, सब जगह साध्य वही है। और एक पौधा भी जब फूल से भर जाता है और हवाओं में नाचता है तो किसी बुद्ध से कम आनंद में नहीं होता। और एक पक्षी भी जब सुबह उठ कर गीत गाता है, आनंद का, खुशी का, तो वह किसी क्राइस्ट से पीछे नहीं होता। इसलिए

मेरी दृष्टि में ऐसा भी नहीं है कि जीवन का कौन सा रूप? जीवन के सब रूप!--सब रूप जीवन के अपना लक्ष्य हैं, अपना आनंद उनमें छिपा है।
लेकिन यह हो सकता है कि जीवन के कुछ रूप अचेतन हों। शायद उन्हें अपने आनंद का भी कोई पता नहीं है, शायद उसकी भी कांशसनेस नहीं है, उसका भी बोध नहीं है। यह हो सकता है कि जीवन के कुछ रूप अचेतन हों, लेकिन जीवन के आनंद में तो कोई भेद नहीं है। भेद हो सकता है चेतना और अचेतना का। बुद्ध के आनंद में और एक फूल के आनंद में कोई भेद नहीं है। भेद हो सकता है--बुद्ध को आनंद का पूरा बोध है, फूल को हो सकता है, बोध न हो! लेकिन यह भी अभी नहीं कहा जा सकता है कि उसे बोध नहीं है। क्योंकि बोध के भी बहुत रूप हो सकते हैं। और चूंकि हम एक ही बोध को जानते हैं--आदमी के बोध को, तो फूल में हमें आदमी का बोध नहीं दिखाई पड़ता। इसलिए हो सकता है, हम कहे चले जा रहे हैं कि वह अबोध है, अनकांशस है। हो सकता है वह बोध की किसी दूसरी प्रक्रिया से गुजरा हो और वह भी बोध में हो, लेकिन यह आज नहीं कहा जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि बोध विकसित हुआ है। सारा विकास बोध का विकास है, आनंद का नहीं। लेकिन बोध के साथ खतरा भी शुरू होता है।
बोध के साथ बड़ा खतरा यह है कि बोध भटका भी सकता है, क्योंकि आदमी या बोधपूर्ण प्राणी तब स्वयं सोचने लगता है कि मैं क्या करूं, क्या न करूं! पौधा स्वयं नहीं सोचता कि क्या करूं। जो होता है, उसे जीता है। पक्षी स्वयं नहीं सोचता कि मैं निर्णय करूं। जो जीवन उसे देता है, उसे भोगता है, आनंदित होता है। इसलिए न कोई पौधे को चिंता है, न कोई पक्षी को चिंता है। आदमी को चिंता है। क्योंकि आदमी स्वयं तय करता है, मैं क्या करूं। जीवन ने आदमी को चुनाव का मौका दिया है। इस मौके में भटक जाने की पूरी संभावना है। फूल कभी नहीं भटकता। फूल सदा आनंद को उपलब्ध हो जाता है।
इसलिए आनंद शायद फूल का एक अर्थ में यांत्रिक भी है। क्योंकि उसे भटकने का मौका ही नहीं है। उसके उस आनंद में भी एक तरह की परतंत्रता मालूम होती है। ये फर्क हैं।
आदमी जब आनंद को उपलब्ध होता है तो वह उसकी स्वतंत्र अनुभूति होती है,
वह खुद गया था वहां तक। भेज नहीं दिया गया प्रकृति ने, इंसटिंकटिव नहीं है, अचेतन नहीं है। चेतन उतर गया है। लेकिन उसी में खतरा है, क्योंकि वह भटक भी जाता है। और इसी में अभी मनुष्य-जाति भटक रही है, इसलिए थोड़े से मनुष्य कभी जीवन के पूरे आनंद को उपलब्ध हो पाते हैं, अधिक तो भटक जाते हैं। अधिक तो इसमें भटक जाते हैं कि साधन को साध्य समझ लेते हैं। और साध्य को भूल ही जाते हैं।
लेकिन, जिन्हें दिखाई पड़ता है, वे यही कहेंगे--जिन्हें भी दिखाई पड़ता है, वे यही कहेंगे कि किन्हीं रूपों में जीवन हो--पदार्थ में, पौधे में, पक्षी में कितना ही मूर्च्छित, कितना ही अचेतन हमें मालूम पड़ता हो, लेकिन सब जगह जीवन अपना लक्ष्य है, अपना अंत है और जीवन सब जगह पूर्ण होने की चेष्टा कर रहा है।
इसे हम धर्म की भाषा में कहें तो जीवन को हम परमात्मा कह सकते हैं और परमात्मा अपने को सब तरफ अनुभव करने की चेष्टा कर रहा है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि हम क्या नाम देते हैं। हम इसे चाहें तो मोक्ष कहें, निर्वाण कहें! क्योंकि जीवन जब पूर्ण रूप से उपलब्ध होता है तो मुक्त हो जाता है। उसके सब बंधन गिर जाते हैं, उसकी सब सीमाएं गिर जाती हैं, उसका सब दुख गिर जाता है। सारी चिंताएं गिर जाती हैं। स्वयं का बोध भी गिर जाता है। सिर्फ आनंद की पुलक ही रह जाती है। उस स्थिति को हम चाहे मोक्ष कहें, चाहे निर्वाण कहें, लेकिन अच्छा होगा कि हम उसे जीवन ही कहें। क्योंकि ईश्वर शब्द भी गंदा हो गया है। इतना जूठा और इतना बासा हो गया है, इतना उपयोग किया गया है उसका, और इतना दुरुपयोग किया गया है; और इतना शोषण किया गया है उस नाम के साथ और उस नाम के साथ इतनी दुकानें खड़ी हो गई हैं; और मनुष्य के मन में उस नाम के साथ जो एसोसिएशंस हैं वे अत्यंत दुखद और दुर्घटनापूर्ण हो गई हैं--इसलिए अब उचित है कि कुछ वर्षों के लिए उस शब्द का उपयोग ही न किया जाए!

ऐसा ही मोक्ष के साथ हुआ है। क्योंकि मोक्ष पाने वाले लोगों ने मोक्ष
को जीवन के ऊपर रख दिया। और तब मोक्ष मृत्यु का ही पर्यायवाची हो गया था। तो मोक्ष शब्द भी बाधा डाल रहा है। वैसे ही निर्वाण भी बाधा डालने लगा है। असल में जिन शब्दों का मनुष्य-जाति ने पिछले अतीत में उपयोग किया है, उन सब उपयोगों के साथ ऐसे संदर्भ जुड़ गए हैं कि अब उन शब्दों में ताजगी नहीं रह गई है। इसलिए अच्छा है कि हम जीवन का ही उपयोग करें, हम कहें, जीवन ही परमात्मा है। जीवन ही मोक्ष है। हम कहें कि जीवन ही सब कुछ है।
इसी के साथ अगर हमें यह खयाल आ जाए तो धर्म का जो अभी तक एक रूप रहा है, लाइफ-निगेटिव, जीवन का विरोध करने वाला, वह विलीन हो जाएगा। धर्म का अब तक जो रूप रहा है, वह है जीवन-निषेध का। क्योंकि धर्म ने जीवन के ऊपर कुछ लक्ष्य खड़े कर लिए थे जो बिल्कुल ही काल्पनिक और झूठे हैं। और उन लक्ष्यों के लिए जीवन को कुर्बान करना जरूरी था। तो जीवन के सब रूपों को सिकोड़ने की एक लंबी प्रक्रिया धर्म ने आदमी को सिखाई। धर्म का आज तक का जो रूप रहा है, वह किसी न किसी अर्थों में आत्मघाती रहा है। आदमी सिकुड़े, सिकुड़े, छोड़े; छोड़े, त्याग करे; बचे जीवन से, भागे, पलायन करे, तब उसे लक्ष्य मिल सकेगा। यह बड़े आनंद की बात है और बड़े आश्चर्य की कि जीवन का प्रयोजन पाने के लिए जीवन को छोड़ना पड़ेगा! यह इतनी उलटी और मूढ़तापूर्ण बात है जिसका कोई हिसाब नहीं है। अगर जीवन का ही प्रयोजन पाना है तो जीवन को पूरा जीना पड़ेगा। छोड़ने से कैसे जीवन का अर्थ पूरा होगा? छोड़ने से तो मृत्यु का अर्थ पूरा हो सकता है। मरने का अर्थ पूरा हो सकता है। मरने का प्रयोजन मिल सकता है, जीवन का नहीं मिलेगा। लेकिन यह एक फैलेसी, यह एक भ्रांत चिंतना मनुष्य की अब तक रही है। और वह इसलिए रही कि जीवन का अर्थ खोजने में कुछ लोगों ने जीवन के ऊपर एक साध्य निर्धारित किया कि यह साध्य है, इसे पाना है। इसे पाना है तो जीवन को छोड़ो और इस साध्य की तरफ जाओ।
मैं कहना चाहता हूं कि जीवन के ऊपर कोई साध्य नहीं है। जीवन में जाओ-- गहरे और गहरे, उसके पूरे अंतस्तल में उतर जाओ, जीवन के साथ बिल्कुल एक हो जाओ, जीवन कहीं भी विरोधी न रहे। जीवन से चित्त में कहीं भी कोई निषेध न रहे, इनकार न रहे, अस्वीकार न रहे। इतनी टोटल एक्सेप्टिबिलिटी, इसको मैं आस्तिकता कहता हूं, मेरे अर्थों में।
उस आदमी को आस्तिक नहीं कहता, जो ईश्वर को मानता है। उस आदमी को आस्तिक नहीं कहता, जो मोक्ष की खोज में लगा है। आस्तिक मैं उसे कहता हूं, जिसने जीवन की परिपूर्णता को, उसके समग्र रूपों में पूर्ण स्वीकार कर लिया है। जिसके मन में कोई इनकार नहीं जीवन का। जीवन जैसा आए, वह राजी है-- अंधेरा, तो भी राजी है--उजाला, तो भी राजी है। दुख, तो भी राजी है--सुख, तो भी राजी है। फूल, तो भी राजी है--कांटे, तो भी राजी है। जीवन जैसा है, वह उसके साथ पूर्ण रूप से जीने को राजी है। ऐसे व्यक्ति का मेरे मन में अर्थ हैः आस्तिक! जीवन को उसकी परिपूर्ण श्रद्धा उपलब्ध हुई है। और जीवन के बाहर उसकी कोई श्रद्धा नहीं है। ऐसा व्यक्ति अगर जीवन को खोजता चला जाए तो एक दिन वहां पहुंच जाता है, जहां सारे जीवन के साथ एक हो जाता है। उस समग्र जीवन में चांद-तारे भी होते हैं; पौधे, पशु-पक्षी भी होते हैं। उस समग्र जीवन में मनुष्यता भी होती है और जीवन के ऐसे बहुत रूप होते हैं, जो हमें आंखों से दिखाई भी नहीं पड़ते हैं। क्योंकि तब समग्र ही एक होता है, तब ऐसा ही होता है जैसे किसी लहर ने पूरे समुद्र के साथ अपनी एकता को जान लिया। तब उस लहर को मिटने का डर भी मिट जाता है। लहर तो मिटेगी ही। लहर तो मिटेगी ही--लहर की तरह जीने का, बचे रहने का कोई उपाय नहीं है। जरूरत भी नहीं है। लेकिन जिस लहर ने यह जान लिया कि पूरे सागर के साथ मैं एक हूं, अब उसके मिटने, न मिटने का कोई अर्थ नहीं है। वह अब एक अर्थ में कभी नहीं मिटेगी। लहर के अर्थ में मिटेगी, सागर के अर्थ में होगी। और सागर के अर्थ में होना इतना महान है कि लहर के अर्थ में मिट जाना आनंदपूर्ण ही है।
जिन लोगों ने जीवन के ऊपर लक्ष्य रखे, उन सबको यह डर भी पैदा हो गया कि कहीं हम मिट न जाएं, मर न जाएं। मृत्यु के बाद क्या होगा! इसलिए सारे पुराने धर्म मृत्यु के आस-पास घूम रहे हैं और उनका सवाल यह है कि मृत्यु के बाद क्या होगा? क्योंकि जीवन को उन्होंने स्वीकार नहीं किया है। अगर वह

जीवन को उसकी पूर्णता में स्वीकार कर लें तो मैं मरूंगा, लेकिन जीवन नहीं मरेगा--और मैं एक लहर हूं, जो आती है और जाती है--लेकिन जिससे लहर बनी है, वह न आता है, न जाता है; वह बना रहता है, वह बना रहता है! व्यक्ति मिटेगा, अहंकार मिटेगा, ईगो मिटेगा, जीवन नहीं।
लेकिन जिन लोगों ने जीवन से भिन्न लक्ष्य बना लिए हैं, वे कहते हैं, मुझे बचना चाहिए! मेरी आत्मा बचेगी कि नहीं, मैं बचूंगा कि नहीं! मैं यह नाम वाला व्यक्ति, इस-इस भांति का व्यक्ति बचेगा कि नहीं, यह सवाल है! मैं अगर बचता हूं तो ठीक, नहीं तो सब बेकार है। ऐसे व्यक्ति को पता ही नहीं कि वह अपने बचने में सारे जीवन को खो रहा है। जब कि उस जीवन के साथ ही उसका होना है।
लहर को पता न भी हो कि मैं सागर के साथ एक हूं--हो सकता है! लहर ने छलांग लगाई है सागर की छाती पर। चांद-तारों की तरफ उठी है, सूरज की तरफ उठी है और भूल गई है कि नीचे कहां से आई है। आकाश को देख रही है, और उसे पता भी नहीं है कि जिसके साथ मैं एक हूं एक हूं चाहे पता हो, चाहे न हो! तो शायद लहर डर भी सकती है कि कहीं मैं मिट न जाऊं, वह बचने की कोशिश भी कर सकती है। बचने की कोशिश का एक ही मतलब हो सकता है कि वह फ्रोजन हो जाए, वह बर्फ
की तरह जम जाए तो वह बच सकती है, लेकिन तब भी वह मर जाएगी, क्योंकि लहर का होना उसके चंचल होने में था। उसका जीवन उसके लहर होने में था, उसकी चंचलता में था। उसका जीवन उसकी गति में था। बर्फ की तरह फ्रोजन हो कर, वह लहर नहीं रह गई और सागर भी नहीं रह गई। जो बड़ी दुर्घटना घटी वह यह घटी कि वह लहर भी मिट गई और वह सागर भी नहीं रह गई। वह लहर भी मर गई और सागर होने में भी मुश्किल पड़ गई।
जितने लोग अहंकार को बचाने की कोशिश कर रहे हैं वे फ्रोजन हो जाते हैं--चाहे धन से बचाएं, चाहे यश से, चाहे धर्म से, चाहे भगवान से। जो लोग भी जीवन को--मेरे जीवन को--मैं बच जाऊं; इसकी कोशिश में लगे हैं, वे उस लहर की तरह हैं, जो बर्फ की तरह सख्त हो गई है। बच तो गई, लेकिन मर गई बचने में। काश, वह लहर ही रहती और जानती कि मैं सागर से एक हूं, मेरे मिटने का कोई उपाय नहीं है। मैं मिटूंगी, लेकिन फिर भी वह नहीं मिटेगा, जिससे मैं हूं। जब मैं नहीं थी, तब भी वह था। जब मैं नहीं रहूंगी, तब भी वह होगा--वह होगा, जीवन सदा होगा। हम आएंगे और जाएंगे, हम बनेंगे और बिगड़ेंगे, हम पैदा होंगे और मिटेंगे और जीवन सदा होगा। जीवन अनंत है, जीवन इटरनल है, जीवन शाश्वत है।
लेकिन हमें हमारी फिकर है। हमारी इस फिकर ने हमें जीवन के साथ तादात्म्य और एकता साधने में डर पैदा कर दिया है। क्योंकि जो भी व्यक्ति जीवन के साथ तादात्म्य साधना चाहता है, उसको मिटना पड़ेगा, उसको जानना पड़ेगा--मैं हूं ही नहीं। तभी वह जीवन के साथ तादात्म्य जान सकेगा। इसलिए यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि हमारे जीवन की पूर्णता को हम नहीं जान पाते, उसमें एक कारण है। और वह यह है कि मैं अपने को अलग बचाना चाहता हूं।
जीसस का बहुत अदभुत वचन है कि जो लोग अपने को बचाएंगे वे मिट जाएंगे।
और जो अपने को खो देते हैं, वे बच जाते हैं। उस खोने में ही बच जाते हैं, क्योंकि तब वे उससे एक हो जाते हैं, जिससे एक हैं ही। और जिससे आते हैं और जिसमें लौट जाते हैं। जीवन का अर्थ है; वह सागर जहां से हम आते हैं और जहां छलांग लगाते हैं और वापस लौट जाते हैं। यह छलांग लगाना भी आनंदपूर्ण है और यह आना भी आनंदपूर्ण है और यह वापस लौटना भी इतना ही आनंदपूर्ण है। जो व्यक्ति जीवन की इस दृष्टि को समझेगा, उसके लिए मृत्यु दुखदायी नहीं है। वह ऐसे ही है, जैसे दिन भर श्रम के बाद रात हम सो गए। श्रम भी आनंदपूर्ण; जागना भी आनंदपूर्ण; सो जाना भी कम आनंदपूर्ण नहीं है। दिन का प्रकाश भी आनंदपूर्ण था; रात का अंधकार भी अदभुत है। पूरा जीवन एक दिन है! फिर रात, मौत... फिर विलीन होती है, फिर लहर उठ सकती है, फिर लहर उठ सकती है, लहर उठती रही है, उठती रहेगी लेकिन जिन लोगों ने जीवन के पार कोई लक्ष्य बना रखा है... !
जीवन है, जीवन था, जीवन रहेगा। हम बूंद और लहर से ज्यादा नहीं हैं और अगर हमें यह खयाल में आ जाए तो फिर हम जीवन को एनक्लोज करने का, सब तरफ से

बंद करने की चेष्टा छोड़ देंगे। फिर द्वार खुले रहेंगे क्योंकि जो आया है, वह जाएगा। जो मिला है, वह छूटेगा; जो हुआ है, वह बिखरेगा।

आचार्य जी, डू यू फील दैट लाइफ एण्ड डेथ, दे आर जस्ट दि टु मोमेंट्स ऑफ
दि सेम, आई मीन आस्पेक्ट?

बिल्कुल ही, जीवन और मृत्यु दो चीजें नहीं हैं। जीवन है उसका आना, मृत्यु है उसका जाना--उसका, जिसको हम जीवन कहें। जीवन और मृत्यु दो चीजें नहीं हैं। एक है आगमन, एक है विदा; लेकिन उसी का, जिसको हम जीवन कहें। जीवन जब आता है, रूप लेता है, आकार होता है, आकार बनता है, प्रकट होता है, अभिव्यक्त होता है, मैनिफेस्ट होता है, तब तो हम उसे स्वीकार करते हैं; लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि मैनिफेस्ट होने के पहले वह कहां था? वह मृत्यु में ही था। एक लहर उठी, अभी जब नहीं उठी थी, तो लहर कहां थी?
जीवन और मृत्यु ऐसे ही हैं जैसे कि भीतर जाती श्वास, बाहर जाती श्वास--
इन ब्रीदिंग, आउट ब्रीदिंग! और वही श्वास भीतर जाती है, वही बाहर चली जाती है। वही जीवन में--वही हम आते हैं जन्म के साथ, मृत्यु के साथ हम वापस लौट जाते हैं। इसे हम पूरे जीवन की श्वास की एक प्रक्रिया कह सकते हैं। पूरा जीवन जो है, वह श्वास ले रहा है। पुराणों की भाषा में कहें तो ब्रह्मा की श्वास। पुराण ऐसा कहते हैं कि सृष्टि, पूरी सृष्टि ब्रह्मा की एक श्वास है। फिर प्रलय, ब्रह्मा की श्वास का वापस लौट जाना है। यह बहुत ही ठीक है बात।
यह ऐसा ही है, एक बीज फूटा, अंकुर बना, पत्ते आए, फूल खिले। यह एक श्वास हुई। फिर फूल झड़े, पत्ते गिरे, वृक्ष सूखा, श्वास वापस लौट गई। एक बच्चा पैदा हुआ, जवान हुआ, जवानी पर श्वास--अपने पूरे, पुरजोश, पूरे अर्थ में है। फिर आदमी बूढ़ा हुआ, श्वास वापस लौटने लगी। फिर आदमी मर गया, श्वास वापस लौट गई। श्वास अनंत बार उठेगी, अनंत बार डूबेगी, जाएगी और आएगी।
जो इस सत्य को समझ ले कि जीवन-मृत्यु एक ही गाड़ी के दो चाक हैं--दोनों
से ही चलना है, होने के दोनों ही सहारे हैं; एक लाता है, एक ले जाता है--उसे फिर मृत्यु का भय न रहा। और जीवन की पूर्ण स्वीकृति में मृत्यु की स्वीकृति सम्मिलित है। जीवन की पूर्ण स्वीकृति में टोटल एक्सेप्टेंस है, फिर कुछ भी अस्वीकृति नहीं है। कुछ है ही नहीं अस्वीकृत। जो भी है, वह सब स्वीकृत है।
और जब कोई समग्र जीवन को इस भांति स्वीकार करता है तो आनंद को, ब्लिस
को उपलब्ध होता है। क्योंकि तब दुख का कोई कारण ही नहीं रह गया। क्योंकि तब दुख भी स्वीकृत है। उतनी ही सरलता से स्वीकृत है, जितनी सरलता से सुख स्वीकार होता है। तब इनकार न रहा वैसे आदमी में। वह इनकार करता ही नहीं। वह गुलाब के फूल को उतने ही आनंद से लेता है, जितने गुलाब के कांटे को। और अब वह जानता है कि कांटा और फूल किसी गहरे प्राण में इकट्ठे हैं। जहां से कांटा आ रहा है, वहीं से फूल आ रहा है। और कांटे और फूल की योजना में एक ही प्राण का हाथ है--एक ही वृक्ष का, एक ही पौधे का, एक ही जीवन का। वह हमारी भूल थी कि हम कांटे को अलग करें, फूल को अलग करें। वह हमारा ऊपर से देखना था, भीतर हम उतरे नहीं थे।
तो जहां से जवानी आ रही है, वहीं से बुढ़ापा भी आएगा और जहां से जन्म आया है, वहीं से मृत्यु भी आएगी। जहां से सुख आते हैं, वहीं से दुख भी आएंगे। और जब सुख-दुख, जीवन-मृत्यु, अंधकार-प्रकाश, कांटे-फूल एक साथ स्वीकृत हो जाते हैं, सम-भाव से स्वीकृत हो जाते हैं तो जो दशा पैदा होती है, उस दशा का नाम आनंद है।
आनंद सुख नहीं है। आनंद सुख का पर्यायवाची नहीं है। आनंद का मतलब सुख नहीं, संतोष नहीं। आनंद का मतलब है, जहां संतोष-असंतोष बराबर हो गए। आनंद का मतलब है जहां सुख और दुख एक ही मूल्य रखते हैं। आनंद का मतलब है जहां द्वैत न रहा, द्वंद्व न रहा, डुआलिज्म न रहा। जहां हमने सबको ही अंगीकार कर लिया, क्योंकि हमने पाया यह कि सब एक का ही हिस्सा है।

इनकार करोगे कैसे? आधे को छोड़ोगे कैसे? ऐसा कैसे हो सकता है कि हम अंधेरे को छोड़ दें और प्रकाश को बचा लें? प्रकाश बचेगा अंधेरे के साथ। ऐसा कैसे हो सकता है कि हम जन्म को बचा लें और मृत्यु को छोड़ दें? जन्म बचेगा मृत्यु के साथ। जिसको यह दिखाई पड़ गया है कि सब द्वंद्व, सब द्वैत, एक ही अद्वैत में समाहित हैं, एक के ही हिस्से हैं--वह हंसने लगा। उसने कहा कि बात खत्म हो गई। अब कुछ बचाना नहीं, अब कुछ छोड़ना नहीं, अब जो है, वह है। इसको बौद्धों ने बहुत अच्छा नाम दिया है, इसे वे कहते हैं, तथाता--दि फिलासफी ऑफ सचनेस, चीजें ऐसी हैं! यह भी भाव न रहा कि वे ऐसी हों। यह भी सवाल न रहा। चीजें ऐसी हैं--जन्म होता है, मृत्यु होती है, मित्र मिलते हैं, बिछुड़ते हैं। प्रेम आता है, जाता है--ऐसा होता है--थिंग्ज आर सच! जब एक आदमी ऐसा कहने लगा कि थिंग्ज आर सच, ऐसी चीजें हैं कि फूल भी खिलता है, कांटे भी होते हैं--जब एक आदमी को ऐसा दिखाई पड़ने लगा कि चीजें ऐसी हैं, और जब उसने यह भी कामना छोड़ दी कि वे ऐसी होनी चाहिए, क्योंकि होनी चाहिए का खयाल उसी को पैदा होता है, जो इनकार करता है। जो कहता है, ऐसा नहीं ऐसा। तब वह आदमी अपने को जगत पर थोप रहा है। जीवन पर अपने को थोप रहा है। वह जीवन से बड़े होने की कोशिश में संलग्न हो गया है कि ऐसा हो।
ऐसा आदमी दुखी होगा, पीड़ित होगा क्योंकि जो वह चाह रहा है, वह असंभव है। सब द्वैत जुड़े हुए हैं, आधा नहीं बचाया जा सकता है। ऐसा जिसको दिखाई पड़ गया, वह आनंद को उपलब्ध हो गया, क्योंकि अब उसे कोई दुख न रहा, कोई सुख न रहा। जो आया स्वीकार किया, जो नहीं आया, तो भी स्वीकार किया। तब मित्र आए तो सुख है, मित्र जाए तो सुख है।
सुख का मतलब यह कि अब दोनों ही स्थितियों में वह कोई चुनाव नहीं करता।
अब वह च्वाइसलेस हुआ, अब उसका कोई चुनाव नहीं, कोई विकल्प नहीं है, सब ठीक है, सब ही ठीक है। अब हां और ना में भी उसे कोई जरूरत न रही। अब हां और ना भी बराबर हो गए।
ऐसा धीरे-धीरे जब कोई व्यक्ति पूर्ण स्वीकार को उपलब्ध होता है तो आस्तिकता पैदा होती है। यानी आस्तिक नास्तिकता को भी स्वीकार करता है, कि चीजें ऐसी हैं कि कोई कह सकता है कि ईश्वर नहीं है। परम आस्तिक नास्तिक से भी नहीं लड़ने जाएगा; क्योंकि वह यह कहेगा कि ठीक है, यह भी हो सकता है कि एक आदमी यह कह सकता है कि ईश्वर नहीं है। क्योंकि जहां ईश्वर है, ऐसा कहने वाले लोग होंगे; वहां ईश्वर नहीं है, ऐसा कहने वाले लोगों की भी जरूरत है; नहीं तो यह "है" व्यर्थ हो जाएगा। वह "नहीं" के साथ ही खड़ा हो सकता है। वह भी एक द्वैत है। तब वह आस्तिक को भी कहता है, तू भी ठीक; तब वह नास्तिक को भी कहता है, तू भी ठीक। तब कोई झगड़ा नहीं है। तब वह उस जगह खड़ा हुआ है, जहां सब विरोध समाहित हो जाते हैं।
और जहां सब विरोधी चीजें एक ही में लौट आती हैं। ऐसे बिंदु पर खड़ा हुआ व्यक्ति जीवन को उपलब्ध हुआ।

ड.ज दिस मीन--थॉटलेसनेस?

हां, अब तो कोई सवाल न रहा। यहां विचार का कोई सवाल नहीं है, क्योंकि विचार वहीं तक है, जहां तक चुनाव है, जहां तक च्वाइस है। यह होना चाहिए और यह नहीं होना चाहिए--तो कुछ निकालना है, कुछ हटाना है, कुछ बनाना है, कुछ बिगाड़ना है। ऐसा व्यक्ति तो जो है--वर्षा आती है तो आनंदित होता है और धूप निकलती है तो आनंदित होता है, सर्दी आती है तो आनंदित होता है।
एक फकीर के पास कोई गया था और उसने पूछा कि तुम्हारी साधना क्या है? तो
उस फकीर ने कहा, मेरी कोई साधना नहीं है। क्योंकि साधना वे करते हैं, जो कुछ इनकार करते हों और कुछ पाना चाहते हों। यहां तो सभी स्वीकार है। साधना का क्या सवाल है? साधना तो वहां है, जहां कुछ पाना है। यहां तो जो मिल जाता है, सो ठीक है, जो नहीं मिलता है तो भी ठीक है। बस यही साधना है, अगर साधना इसे कहो।
उस आदमी ने कहाः मैं समझा नहीं। फिर भी करते क्या हो? करते क्या रहते हो? उस आदमी ने कहा! कुछ भी नहीं, जब भूख लगती है, खाना खा लेता हूं और जब

नींद आती है, तब सो जाता हूं, जब नींद टूटती है तो उठ आता हूं। उस आदमी ने कहा, यह तो हम भी करते हैं। मगर इसमें करने जैसा क्या है?
उस फकीर ने कहाः तुम नहीं करते हो। तुम्हें जब भूख लगती है तब तुम सिर्फ खाना ही नहीं खाते हो, और बहुत कुछ भी करते रहते हो--साथ ही करते रहते हो। मैं बस खाना खाता हूं, भूख लगी तो खाना खा लेता हूं। और मैं क्या खाना खाता हूं, भूख खाना खाती है। मैं तो देखता ही हूं कि भूख खाना खा रही है। कभी ऐसा भी हो जाता है कि खाना नहीं मिलता है तो मैं देखता हूं कि भूख परेशान हो रही है। मैं देखता हूं, ऐसा होता रहता है। भूख भी स्वीकार है, भोजन भी स्वीकार है। दोनों ही हैं साथ। भूख है तो भोजन है। भूख भी रहेगी, भोजन भी रहेगा। जो है, ठीक है--ऐसी जो भाव-दशा है।
तो ऐसा व्यक्ति हमें समझना चाहिए, जैसे नदी में कोई व्यक्ति फ्लोट कर रहा हो। अब वह तैर नहीं रहा। वह यह नहीं कहता कि मुझे वहां पहुंचना है, उस किनारे। उसे कहीं नहीं पहुंचना है। उसे पहुंचना ही नहीं है। वह जहां है, वहां ही है! तो वह बह रहा है। नदी जहां ले जाती है, वह जा रहा है। नदी कभी बड़ी हो जाती है तो वह देखता है, नदी बड़ी हो गई। नदी कभी सिकुड़ जाती है, तो वह देखता है सिकुड़ गई। नदी कभी तेजी से बहती है तो वह तेजी से बहता है। नदी कभी मंद गति की हो जाती है तो वह मंद गति बहता है। वह कुछ करता ही नहीं, वह कुछ करता ही नहीं, वह सिर्फ बहता है।
ऐसी जीवन की जो परम-दशा है, वहां सिर्फ बहना है। जीवन के साथ एक हो जाना है। जीवन की धारा में संयुक्त हो जाना है। वहां व्यक्ति को अर्थ, प्रयोजन, जीवन का उपलब्ध होता है। वह है आनंद, वह है परिपूर्ण शांति। लेकिन कोई यह कोशिश करे कि हम ऐसा आनंद पाने के लिए जीवन को साधन बना लें तो गलती में पड़ गया है। वह तो जीवन जीने से सहज उत्पन्न होता है। वह बाइ-प्रॉडक्ट है। उसको कोई जीवन का लक्ष्य नहीं बना सकता है। कोई आदमी ऐसा सोचे कि मैं जीवन का लक्ष्य बना लूं, कि आनंद पाकर रहूंगा, तो वह गलती में पड़ गया। यह ऐसी ही भूल हो जाएगी, जैसे कि हम गेहूं बोते हैं तो गेहूं के साथ भूसा भी पैदा होता है। फिर एक आदमी कहे कि हमें तो भूसा ही पैदा करना है। तो वह भूसा बोने लगे। तो फिर न तो भूसा पैदा होगा, न गेहूं पैदा होगा। बल्कि जो हाथ का भूसा था, वह भी सड़ जाएगा। गेहूं के साथ भूसा पैदा होता है, वह बाई-प्रॉडक्ट है। वह सीधा पैदा नहीं होता है। गेहूं पैदा हो जाए तो भूसा उसके साथ आता है।
आनंद जीवन का लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता क्योंकि जीवन का कोई लक्ष्य
ही नहीं बनाया जा सकता। वह तो जीवन मिल जाए तो आनंद पीछे चला आता है; जैसे गेहूं के साथ भूसा चला आता है। वह बाई-प्रॉडक्ट है। उसे कहीं खोजने नहीं जाना होता। वह तो जैसे-जैसे हमें जीवन गहरा होता है, वैसे-वैसे वह मिलता चला जाता है। वह जीवन की छाया है। वह जीवन के साथ ही आता है।
तुम आए हो यहां। मैं तुमसे कहूं कि मैं तुम्हारी फिकर नहीं करता, मैं तुम्हारी छाया को लाना चाहता हूं, तो मैं तुम्हारी छाया को कभी नहीं ला सकता। तुम्हारी छाया को लाने का कोई उपाय नहीं है। वह तुम्हारे साथ आती है, तुम्हारे साथ जाती है। तुम आ गए तो तुम्हारी छाया आ गई। इसलिए मैं तुम्हारी छाया की फिकर ही नहीं करता। तुम आओगे तो वह आने वाली है। आनंद जीवन की छाया है। जैसे-जैसे जीवन गहरा होता है, आनंद चला आता है।
लेकिन आदमी के तर्क में भूल हो गई। उसको उसने आनंद को भी लक्ष्य बना लिया है। कुछ लोग आनंद को ही खोज रहे हैं जिंदगी भर, और जिंदगी गंवा रहे हैं और आनंद उन्हें मिलेगा नहीं। क्योंकि आनंद कोई ऐसी चीज नहीं जो अलग मिल जाए। वह तो उसे मिलता है, जो सुख और दुख में, जन्म और मृत्यु में सम-भाव से बहने की क्षमता को उपलब्ध हो जाता है। और यह क्षमता जैसे-जैसे हम जीवन में गहरे उतरते हैं, अपने आप उत्पन्न होने लगती है।
इसलिए मेरा कहना है, जीवन से भागो मत। जीवन में उतरो। और कई बार ऐसा होता है कि जिन्हें हम पापी कहते हैं, वे जीवन में ज्यादा गहरे उतर जाते हैं और जिन्हें हम पुण्यात्मा कहते हैं, वे बिल्कुल थोथे रह जाते हैं। वे जीवन से इतने डरे होते हैं कि कभी उतरे नहीं। इसलिए मेरी दृष्टि में तो जीवन में उतरो, सब तरफ से जीवन में उतरो, जहां-जहां से जीवन में उतरने का

है। अगर भोजन कर रहे हो तो इतनी गहराई से, इतने रस से करो कि भोजन भी जीवन में उतरने का रास्ता बन जाए। अगर प्रेम कर रहे हो तो पूरे डूब जाओ। अगर संगीत सुन रहे हो तो मिट जाओ, अगर तैर रहे हो तो खो जाओ--छोटी से छोटी घटना में।
और ध्यान रहे, जीवन कोई ऐसी अलग चीज नहीं है कि कहीं रखी हुई है कि हम जाएंगे और मिल जाएगी। वह तो हमारा रोज-रोज जीना ही जीवन है और प्रतिपल जो हम जी रहे हैं, उसको हम इंटेंसिटी से, टोटेलिटी से, परिपूर्णता से और सघनता से जीए चले जाएं। स्नान भी कर रहे हैं तो ऐसे करें कि जैसे स्नान भी अपने आप में एक कृत्य है। जिसका कोई और लक्ष्य नहीं है। तो फिर स्नान में भी वह झलक आ जाएगी जो जीवन की झलक है। दौड़ रहे हैं तो ऐसे दौड़ें, जैसे जीवन का बस यही लक्ष्य है। जो कर रहे हैं, उसमें इस तरह एक हो जाएं कि अलग होना ही न रह जाए। तब प्रतिपल-प्रतिपल ऐसा जीते, क्षण-क्षण ऐसा जीते--जीवन की पर्तें उखड़ती हैं और डिस्कवरी, आविष्कार होता है।
एक दिन जब जीवन हमें पूरा का पूरा हमारी नस-नस में, रग-रग में, कण-कण में दौड़ने लगता है; श्वास-श्वास में प्रवाहित होने लगता है; तब फिर हम नहीं पूछते कि जीवन का परपज क्या है? तब हम जानते हैं कि मिल गई, आ गई वह मंजिल और तब हम हैरान होते हैं कि मंजिल तो सदा पास थी, ये तो हम थे ही, इसे हमने कभी जाना नहीं, क्योंकि हम कोई लक्ष्य खोज रहे थे।
इसे ऐसा कहा जा सकता है, जो जीवन का प्रयोजन खोज रहे हैं, वे प्रयोजन
को खो देंगे और जो जीवन को खोज लेते हैं, उन्हें प्रयोजन भी मिल जाता है।

आचार्य जी, हियर आई हैव वन डाउट दैट हाउ ह्युमैनिटी विच है.ज बीन कंडीशंड सिंस सेंचुरीज कैन फ्री फ्रॉम दिस पास्ट इवेंट्स ऑफ लाइफ एण्ड वॉट टाइप ऑफ मे.जर्स यू सजेस्ट सो दैट दि न्यू एजुकेशन शुड बी क्रिएटड विच शुड गिव अंडरस्टैंडिंग सो दैट पिपल शुड अंडरस्टैंड एट लार्ज दि परपज ऑफ लाइफ?

अतीत ने संस्कारित किया है, आदमी को बहुत सी गलत धारणाएं दी हैं। मजे
की बात तो यह है कि गलत धारणाएं तो गलत होती ही हैं; असल में, धारणा मात्र ही गलत होती है। क्योंकि सब तरह की धारणा हमें पूर्ण को देखने में बाधा डालती है--किसी भी तरह की धारणा!
धारणा का मतलब होता है अंश; धारणा का मतलब होता है, खिड़की--जिससे हम देखेंगे। आकाश को खिड़की से देखा जा सकता है, लेकिन वह आकाश नहीं है। वो चौखटे में कहीं आकाश जड़ा जा सकता है? और चौखटे से देखा गया आकाश बुनियादी रूप से झूठ है। क्योंकि आकाश का कोई चौखटा ही नहीं है। आकाश का अर्थ है-- विस्तार, अनंत विस्तार। और खिड़की से जो दिखता है, वह एक चौखटे में दिखता है। आकाश का अर्थ ही है--स्पेस, अनंत। और चौखटे से जो दिखता है, वह सीमित टुकड़ा होता है। तो वह तो वैसा ही है, जैसे कि हमने एक पेंटिंग में आकाश देखा हो। वह आकाश वह आकाश नहीं है, जो खुले आकाश के नीचे खड़े होकर दिखाई पड़ता है। जीवन भी अनंत है, आकाश की भांति ही। इसलिए कोई भी धारणा बाधा देती है। कोई भी कंसेप्ट चौखटा बन जाता है।
अतीत ने मनुष्य को बहुत से चौखटे दिए, बहुत से पैटर्न, ढांचे, धारणाएं दीं। जीवन को कैसे जीएं, यह भी बताया है। कौन सा जीवन का रूप ठीक है, कौन सा गलत है, यह भी बताया है। क्या पाप है, क्या पुण्य है, यह भी समझाया है। क्या करना, क्या नहीं करना, यह भी बताया है। कौन सा लक्ष्य पाने योग्य है, कौन सा छोड़ने योग्य है, यह सब बता दिया है। इस सब बताने में ही आदमी मर गया है। इस सब बताने में आदमी इतना बोझिल हो गया है कि जीना-जीना ही असंभव है। तो हम एक तरह का अभिनय कर रहे हैं, जी नहीं रहे हैं। बताया है कि... ।
यह सारा बताना बहुत महंगा पड़ गया है, यह सिखावट बहुत महंगी पड़ गई है;
और आदमी जी ही नहीं पाता। प्रेम कैसे करना है, यह भी बताया है; और तब प्रेम करना असंभव हो जाता है। क्योंकि जीवन में जो भी गहरा है, वह सदा स्पांटेनियस है; वह बताने से नहीं होता है। वह सदा सहज स्फुरित होता है।

मैं चाहता हूं कि एक-एक व्यक्ति को यह खयाल आ जाए कि ढांचे, चौखटे, जीवन के आकाश को नहीं बता सकते हैं। और यह खयाल आ सकता है, क्योंकि प्रत्येक इतने दुख में जी रहा है, इतनी परेशानी में, इतनी चिंता में जी रहा है कि जिसका कोई हिसाब नहीं है। और अगर यह खयाल आ जाए कि घर के बाहर, दीवारों के बाहर बड़ी खुली हवा; सूरज की रोशनी और आकाश है; और बहुत फूल खिले हैं; बहुत संगीत है--तो इस घर के भीतर, इस धुएं में, इस बंद दीवाल में, इस गंदगी में बैठने का कोई कारण नहीं। चाहे इस घर में कोई हजारों वर्ष से रह रहा हो तो भी फर्क नहीं पड़ता।
एक बार यह खयाल भर आ जाए, यह रिमेंबरिंग आ जाए कि मैं कहीं इन दीवारों में घिरे होने की वजह से तो दुख में नहीं हूं तो आदमी तत्काल, बाहर हो जाता है। यानी बाहर होने में ऐसा नहीं है कि हजारों वर्षों से हम एक ढांचे में ढले हैं तो बाहर होने में कठिनाई होगी। एक दफा स्मरण आ जाए, यह अवेयरनेस एक दफा खयाल में आ जाए कि ये सारा दुख, सारी चिंता इस घेरे की वजह से है तो बाहर निकलना एक क्षण में हो जाता है। और हजारों-लाखों वर्षों की परंपरा भी बाहर निकलने से रोक नहीं सकती। एक सेकेंड में यह निकलना हो जाएगा।
इसलिए यह बात सच है कि आदमी धारणाओं में घिरा है, बंद है, पुराने सिद्धांतों से बंधा है, शास्त्रों से बंधा है। सब बता दिया गया है उसे, पुराने गुरुओं ने बहुत गुलामी पैदा की है। वह सारी गुलामी उसकी छाती पर है। लेकिन, यह सारी गुलामी उसने स्वीकार की है, इसलिए है! उसने पकड़ी है, इसलिए है! और पकड़ी उसने इसलिए है कि इससे आनंद मिलेगा, नहीं तो वह पकड़ता भी नहीं इसको। और आनंद मिला नहीं है, इसलिए इस गुलामी को तुड़वाया जाना बहुत कठिन नहीं है।
एक दफा खयाल भर दिलाने की बात है कि यही पकड़ तुझे परेशान किए हुए है। बाहर आ और देख, तो कोई धारणा हमारी आत्मा नहीं बन गई है। कोई धारणा हमारी आत्मा नहीं है और कोई खिड़की हमारे प्राण नहीं है। सिर्फ हम कमरे के भीतर हैं तो खिड़की बेचारी हमको बांधे हुए है। हम कमरे के बाहर हो जाएं तो खिड़की चिल्लाएगी नहीं, पुकारेगी नहीं, रोकेगी नहीं, खिड़की अपनी जगह पड़ी रहेगी। ठीक ऐसा ही हमारे चित्त पर जो ढांचा है, वह हमारी आत्मा का हिस्सा नहीं हो गया है, हो ही नहीं सकता। हम किसी भी क्षण बाहर आ सकते हैं। यह बिल्कुल सडनली हो सकता है। इसके लिए कोई ऐसा भी नहीं है कि कोई श्रम ही करे तब हो। यह एक मोमेंट, एक क्षण में भी हो सकता है। और अक्सर एक ही क्षण में होता है और जब होता है, एक ही क्षण में होता है।
एक दफा खयाल आ जाए कि हो सकता है, और आदमी लौट पड़ता है, और बाहर हो जाता है। यह जो कठिनाई है, कठिनाई इसी बात की है कि उसी भ्रांति में हम जिए चले जाते हैं, जो हमारे दुख का कारण है। उसे हम अपने आनंद की खोज का आधार बनाए हुए हैं। और वही जूता खील दे रहा है, और पैर को घाव बना रहा है। और हम उस जूते को इसलिए पहने हुए हैं कि इस जूते के बिना चलेंगे कैसे? और वह जूता चलने ही नहीं दे रहा है! उसकी खील हमारी जान लिए ले रही है। लेकिन हमको यह खयाल है कि जूते के बिना तो पैर बड़ा असुरक्षित हो जाएगा। तो खील वाले जूते को पहने हुए चले जा रहे हैं--यह स्मरण भर दिलाने की बात है।
और इसलिए मेरा काम किसी गुरु का काम नहीं है। मेरा काम कोई उपदेशक का काम भी नहीं है, क्योंकि मैं न कोई नई धारणा देना चाहता हूं, न कोई नया चौखटा देना चाहता हूं। मेरा काम एक जगाने वाले के काम से ज्यादा नहीं है कि मैं किसी के घर के द्वार के सामने चिल्लाऊं कि बाहर सूरज निकला है; तुम नाहक अंधेरे में बैठे हुए हो; एक दफा आकर बाहर देखो। और कोई उसे बांधे हुए नहीं है। वह बैठा है तो बंधा है। यानी बंधा हुआ होना हमारा ही निर्णय है। इसलिए एक सेकेंड में टूट सकता है। एक सेकेंड की भी जरूरत नहीं है।
तो दुनिया में अब ऐसी बात एक-एक घर, एक-एक आदमी तक पहुंचाने की जरूरत
है कि उसे सिर्फ घर के बाहर की खबर हम दिला दें। और जब भी दुनिया में कोई, जिनको हम सच में शिक्षक कहें, पैदा हुए हैं, उन्होंने कुछ और नहीं किया।
उन्होंने सिर्फ हिलाने का, जगाने का, बाहर बुलाने का काम किया है।
उन्होंने कोई सिद्धांत नहीं दिए, कोई शास्त्र नहीं दिए, क्योंकि सब

शास्त्र और सब सिद्धांत भीतर रखने का काम करते हैं। वे फिर धारणाएं बन जाते हैं। तो पुरानी धारणा छोड़ कर कोई नई धारणा नहीं दे देनी है।
नहीं, यह खयाल, यह स्मृति, यह अवेकनिंग देनी है कि किसी धारणा की मनुष्य को जरूरत नहीं है। और यह साहस देना है कि तुम जीओ और तुम भयभीत मत होओ जीवन से। जीवन तुम्हें जहां ले जाए, तुम निर्भय होकर जाओ। और जीवन हर जगह तुम्हें कीमती अनुभव देगा। और जहां सारी दुनिया कहती है, मत जाना, रुकना, अगर जीवन कहता हो तो वहां भी जाना, क्योंकि वहां से गुजर कर भी तुम दूसरे आदमी होकर निकलोगे। तुम वही आदमी नहीं रह जाओगे जो तुम पहले थे। और अगर कुछ गलत है तो वह गलत गिर जाएगा तुम्हारे अनुभव से। और जो गलत अनुभव से न गिरता हो तो वह और किसी तरह गिर ही नहीं सकता।
तो जीवन को उसके सब रूपों में अनुभव करना है। और सारा भय छोड़ देना है। इसी तरह का मैं शिक्षण चाहता हूं, जो नई धारणा न देता हो; जो सिर्फ जीने की हिम्मत, बल, आकर्षण, चुनौती, निमंत्रण देता हो। धारणा न देता हो कि तुम ऐसे जीना, बल्कि जीने का निमंत्रण देता हो कि तुम जीना तो पूरी तरह जीना, तुम फिकर छोड़ कर जीना।
और अगर तुम पूरी तरह जीने का ही सिर्फ ध्यान रखे तो जो व्यर्थ है, वह अपने आप छूट जाएगा; जो सार्थक है, वह बढ़ता चला जाएगा, वह गहरा होता चला जाएगा।

आचार्य जी, इसका मतलब यह है कि जिस तरह इकोनॉमिक्स में एक इश्यू ऐसा होता है, जैसे लॉ ऑफ डिमिनिशिंग रिटर्न, एक ऐसी स्थिति होती है जहां लॉ ऑफ डिमिनिशिंग अप्लाय होता है। तो आदमी के माइंड को भी हम उस लॉ ऑफ डिमिनिशिंग रिटर्न, क्रिटिकल पाइंट पर पहुंचा दें जहां कि वह फिर से जाग्रत हो जाए और उसमें अवेकनिंग आ जाए और समझने लगे?

ठीक है, असल में आदमी वहां पहुंच ही गया है, आदमी वहां पहुंच ही गया
है, जहां से उसमें जागरण आ सकता है। सारी मनुष्य चेतना वहां पहुंच गई है, जहां शास्त्रों की खोल बोझ हो गई है। और जहां गुरु पत्थर की तरह हो गए हैं, जो छाती पर रखे हुए हैं और जहां सब धारणाएं परतंत्रता बन गई हैं। मनुष्य की चेतना उस जगह पहुंच ही गई है। और आज इस बात की बहुत सरलता से संभावना है कि आदमी इतना तड़फ रहा है जीने के लिए, क्योंकि जीने के सब साधन जुटा लिए हैं।
अब वह भ्रम भी टूट गया है--वह भ्रम भी टूट गया है कि धन नहीं है तो जीएंगे कैसे! धन भी है और पता चलता है कि जीना कुछ और ही बात है, जो सिर्फ धन के होने से नहीं होता। सोचते थे, बड़ा मकान नहीं होगा तो जीएंगे कैसे? बड़ा मकान भी है। अब सवाल है, सब साधन विज्ञान ने जुटा दिए। आदमी ने जो मांग की थी कि हमें यह चाहिए जीवन के लिए, वह सब इकट्ठा हो गया है और अब एक मुश्किल खड़ी हो गई, क्योंकि जीवन का तो कोई पता नहीं चलता कि कहां है!
पहली दफा मनुष्य चेतना उस जगह पहुंची है, जहां क्रांति हो सकती है, यानी पहली दफा बुद्ध या क्राइस्ट जैसे लोगों की बात सार्थक होने के करीब आई है। बुद्ध और क्राइस्ट समय के पहले पैदा हुए लोग हैं। जो उस वक्त चिल्लाए हैं, जब कि बहुत कम लोग सुन सकते हैं उनको, क्योंकि बहुत से लोग ऐसी छोटी चीज में जीवन को खोजने के लिए मजबूर हैं कि वे कहां फिकर करें इस बात की कि और जीवन क्या है! रोटी नहीं तो जीवन क्या होगा!
आज मनुष्यता उस जगह पहुंच गई है जहां एक मौलिक क्रांति, म्युटेशन ऑफ माइंड होने की संभावना है--जहां कि पूरी मनुष्य चेतना बदल जाए। तो इसलिए बहुत पुकार लगाने की जरूरत है और एक-एक घर के छप्पर पर खड़े होकर चिल्लाने की जरूरत है। क्योंकि जहां भी आदमी, परेशान है, वह परेशानी के क्लाइमेक्स पर पहुंच गया है, और अगर वह वहां जागता नहीं है तो मरेगा। इसलिए दुनिया में आत्महत्याएं बढ़ रही हैं, पागलपन बढ़ रहा है, चिंता बढ़ रही है, क्योंकि जहां आदमी खड़ा है, वह जगह जीने योग्य नहीं रह गई और अगर कोई पुकार नहीं मिलती और कोई चुनौती नहीं आती, और कोई खबर नहीं आती तो वह वहां सड़ जाएगा, मर जाएगा। वहां वह जीना नहीं चाहेगा। यानी इतना पक्का हो गया है कि आदमी जैसा है, अब

वह वैसा जीने को राजी नहीं है, उस तकलीफ में पड़ गया है। इसलिए वह जगह आ गई, जहां पुकार सुनी जा सकती है।
और ये आने वाले पचास वर्ष मनुष्य-जाति के इतिहास में बहुत मूल्यवान मोमेंट्स हैं। इनका मूल्य बहुत अदभुत है। इतना मूल्यवान समय कभी भी नहीं था मनुष्य जाति के लिए, इस जगह से पुकार सुनी जा सकती है। क्योंकि वह बात टूट गई है कि जिसे हमने स्वीकार किया था, उससे आनंद मिल सकता है, वह बात खतम हो गई है। अब किससे आनंद मिल सकता है, इसकी खबर भर पहुंचाने की जरूरत है। तो शिक्षण की सारी व्यवस्था अब ऐसी होनी चाहिए कि जीवन की एक चुनौती हो, एक चैलेंज देता हो। विद्यार्थी वहां से जब लौटता हो विश्वविद्यालय से, तो वह जीवन जीने का एक निमंत्रण लेकर लौटता हो। उसके बहुत रूपों में-- प्रेम में, मित्रता में, संबंधों में, खोज में, आविष्कार में, चिंतन में, मनन में, ध्यान में--सब तरफ निमंत्रण लेकर लौटता हो कि सब तरफ घुसना है, सब तरफ खोजना है। एक अन्वेषण का भाव भर लेकर लौटता हो, कोई पक्की धारणाएं लेकर नहीं!
तो जैसा आपने पूछा, रेडीमेड कोई धारणा काम नहीं करती, कभी नहीं काम करती। कोई बंधी बंधाई धारणा कभी काम नहीं करती, कर नहीं सकती है। क्योंकि वह आपको दूसरे के हाथ से मिलती है। न आप चुनौती से गुजरते हैं, न आप खोज से गुजरते हैं, न आप संघर्ष से गुजरते हैं, न हार-जीत से, न दुख से गुजरते हैं; न चिंता से गुजरते हैं। आपको बिल्कुल मुफ्त मिल जाती है। और उसके मिलने का मूल्य ही तब था, जब आपने उसके लिए वह सारा श्रम, वह सारी पीड़ा, वह सारी सफरिंग झेली होती, तभी उसमें अर्थ था, तभी उसका मूल्य था। वह मुफ्त नहीं काम आती। हो सकता है, वही धारणा आप खोजें, लेकिन रेडीमेड लेने का कोई उपाय नहीं है।
प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन का सत्य स्वयं ही खोजना पड़ता है। तो शिक्षा ऐसी हो जो प्रत्येक व्यक्ति को जीवन का सत्य खोजने के लिए सिर्फ पुकार देती हो। कोई बंधी धारणाएं देकर उसे घर न भेज देती हो कि तुम यह लेकर चले जाओ, तुम्हें जीवन मिल गया। अभी तक ऐसा ही हो रहा है। हम सब बातें सिखा देते हैं। हम कोई कोना ऐसा नहीं छोड़ते, जो अनसीखा छोड़ दें, जहां खुद व्यक्ति को सीखना पड़ता हो। निश्चित ही कुछ बातें सिखानी ही पड़ेंगी-- रास्ते पर बाएं चलना कि दाएं चलना, सिखाना पड़ेगा। और केमिस्ट्री, फिजिक्स और गणित भी सिखाने पड़ेंगे, और भूगोल और हिस्ट्री भी सिखानी पड़ेंगी। यह कोई व्यक्ति अपने लिए खोज नहीं लेगा। ये सब सिखाई जाएं, लेकिन जीवन नहीं सिखाया जाए। जीवन के बाबत धारणा ही न दी जाए।
जीवन के बाबत सिर्फ खोज की, अन्वेषण की जिज्ञासा दी जाए, इनक्वायरिंग माइंड पैदा किया जाए। सब सिखा दो, जो व्यर्थ है, उसे सिखा देने में कोई हर्जा नहीं। वह दूसरे से सीखना पड़ता है, वह हमेशा ही उधार होता है। लेकिन जो जीवन का परम मूल्य है, जो प्रत्येक को साक्षात्कार स्वयं करना है, वह मत सिखाओ, वह सिखाओ ही मत। उसके बाबत प्रश्न जगाओ, उसके बाबत चर्चा जगाओ, उसके बाबत हवा पैदा करो, संदेह पैदा करो, खोज पैदा करो, बस इतना ही करो। विश्वविद्यालय से एक लड़का दिमाग में एक खयाल लेकर आए कि जीवन को खोजना है मुझे और ऐसे ही नहीं मर जाना है। नहीं तो व्यर्थ हो गया, मेरे जीने का कोई अर्थ नहीं! वह सब सीख कर आए, जीवन अनसीखा रह जाए। वह, वह सीखे, खोजे, खुद।

"शिक्षाः साध्य और साधन" विषय पर प्रश्नोत्तर-शृंखला-2

शिक्षा में क्रांति
सोलहवां प्रवचन

अखंड जीवन का सूत्र

आचार्य जी, टुडे आई शैल प्रिपेयर टु इनवाइट योर व्यूज ऑन दि इश्यु ऑफ वेनिटी एण्ड फियर। टु मी सर, दिस इस्यू आलसो अपियर्स टु बी वैल्युएबल टु बी अनालाइज्ड। ए.ज आई हैव बीन गिवन अंडरस्टेंडिंग, सर, इम्मैच्योरिटी ब्रिंग्स वेनिटी, वेनिटी ब्रिंग्स प्राइड, प्राइड ब्रिंग्स...
... एण्ड गिव डिफरेंट फ्रॉम देयर टाइम, स्पेस एण्ड कांशस एण्ड प्रोवाइडिंग डेफिनिशंस अकार्डिंग टु देयर फील्ड ऑफ एक्टिविटीज। सर ए.ज आई अंडरस्टैंड, देयर हैव बीन सब्जेक्टिव ए.ज वैल ए.ज ऑब्जेक्टिव एप्रोचस। सर, इंस्पाइट ऑफ दैट देयर हैव बीन टू स्कूल्.ज ऑफ थॉटस्। दि वन व्हिच मेंटेन, देयर इज़ ए क्रिएटिविटी एण्ड इनर एथीक्स, मिन्स ए साइड ऑफ रिनंसिएशन फ्री फॉम दि पेयर ऑफ अपोजिट्स एण्ड ए.ज ए स्टेट ऑफ स्पांटेनियस ट्रांसफार्मेशन एण्ड लव ब्यूटी एण्ड ट्रूथ। दि अदर व्यूव वा.ज इन फेवर ऑफ चेरिटेबल एटिट्यूड्स ए.ज वैल ए.ज लिमिटेड पजेशंस। बट ए.ज आइ अंडरस्टेंड सर, ड्यूरेशन ऑफ टाइम फेक्टर हैज ब्राट इनवर्ड पॉवर्टी एण्ड परवर्टनेस ए.ज वैल ए.ज आउटवर्ड कल्ट एण्ड कंट्रोवर्सी.ज। वुड आइ बी फेवर्ड विद योअर व्यूज ऑन दिस आस्पेक्ट ऑफ लाइफ?

सरलता को समझना सरल नहीं है, कठिन है। सरलता तो बहुत सरल बात है, लेकिन समझना कठिन है। और कठिन इसलिए है कि हम कोई भी सरल नहीं हैं। हम बहुत कठिन हो गए हैं। हम सब इतने कठिन हो गए हैं कि सरलता को पाना सबसे ज्यादा कठिन बात मालूम होने लगी है। आदमी इतना जटिल और उलझा हुआ है कि उसे और जटिल, और उलझा होना तो सरल मालूम पड़ता है। उलझाव छोड़ देना और सरल हो जाना कठिन मालूम पड़ता है। लेकिन, सरल होने के आनंद की एक प्यास भी प्रत्येक के भीतर है। सरल हुए बिना कोई आनंदित भी नहीं हो सकता और सरल हुए बिना कोई सुंदर भी नहीं हो सकता। सरल हुए बिना स्वस्थ होना भी असंभव है।
जितनी चित्त पर जटिलता है, उतनी बीमारी है, उतना अस्वास्थ्य है। जितनी जटिलता है उतनी कुरूपता है, अग्लिनेस है और जितना चित्त जटिल हो जाता है, उतना ही सत्य को जानने में असमर्थ हो जाता है। जटिल चित्त प्रेम भी नहीं कर पाता है, क्योंकि जटिल चित्त अपने में इतना उलझा होता है कि दूसरे को देख भी नहीं पाता, प्रेम करना बहुत दूर की बात है। प्रेम करने के लिए इतना सरल चित्त चाहिए, इतना सरल कि मैं मिट ही जाऊं, मैं होऊं ही नहीं। मेरा होना भी एक जटिलता है। और जब चित्त इतना सरल होता है कि मैं भी नहीं रहता मौजूद, तो जैसे एक झील बिना लहर की शांत हो गई हो, ऐसी शांत झील में ही प्रेम के अंकुरण होते हैं। क्योंकि तब मैं दूसरे को देख पाता हूं, जान पाता हूं, पहचान पाता हूं, दूसरे में प्रवेश कर पाता हूं, दूसरे के साथ एक हो पाता हूं।
तो जो व्यक्ति सरल नहीं है, वह न तो प्रेम को उपलब्ध होगा, न सत्य को उपलब्ध होगा, न सौंदर्य को, न स्वास्थ्य को। और अगर इतनी चीजें नहीं मिल पाएं तो जीवन मृत्यु हो गया। फिर जीवन में कोई अर्थ नहीं है। और हम जितने जटिल होते गए हैं, जीवन उतना ही अर्थहीन मालूम होने लगा है। अर्थ खो गया है, मीनिंग खो गया है। क्योंकि अर्थ हो सकता था इन्हीं सारी दिशाओं में। प्रेम के बिना कोई आदमी कैसे सार्थक जीवन अनुभव कर सकता है। जैसे किसी फूल में सुवास है, ऐसे जीवन में प्रेम है। और फूल अगर बिना सुवास के रह जाए तो फूल ही नहीं बन पाया। जैसे किसी दीये का जलना है, ऐसा जीवन में प्रेम है। और कोई दीया अनजला रह गया तो वह दीया ही नहीं है। ऐसे ही अगर प्रेम की ज्योति प्रकट न हो तो कोई व्यक्ति जीवन के अर्थ को अनुभव नहीं कर पाता है। वह जीवित ही नहीं है। प्रेम जीवन देता है।
जटिल होने के कारण सब खो गया है, सिर्फ जटिलता हाथ में रह गई है। और जटिलता जब बढ़ती चली जाती है तो अंततः विक्षिप्तता और मैडनेस में परिणत होती है। असल में पागल और हमारे सामान्य आदमी के बीच बहुत बड़ा फर्क नहीं

है, जटिलता की डिग्री का फर्क है। पागल और भी जटिल हो गया है। सामान्य जिसे हम आदमी कहते हैं, नार्मल जिसे हम कहते हैं, उसकी जटिलता भी काफी है। लेकिन अभी इतनी नहीं है कि हम उसे पागल कह सकें। अभी जटिलता उसके भीतर है, वह दबाए हुए है। और बाहर सरल होने की चेष्टा में लगा हुआ है। या जटिलता इतनी है, जितने से कि समाज का काम चल जाता है, कोई बाधा नहीं पड़ती। लेकिन एक-एक आदमी भीतर एक-एक पागल को लिए बैठा है। और कोई भी आदमी किसी भी क्षण पागल हो सकता है। जटिलता का अंतिम फल विक्षिप्तता है और सरलता का अंतिम फल विमुक्ति है। और दो ही गतियां हैं--या तो आदमी विक्षिप्त होगा या विमुक्त होगा। या तो इतना जटिल हो जाएगा कि पागल हो जाएगा या इतना सरल हो जाएगा कि परमात्मा के साथ एक हो जाएगा, परिपूर्ण स्वस्थ हो जाएगा। परिपूर्ण स्वस्थ होना विमुक्ति है और परिपूर्ण अस्वस्थ हो जाना विक्षिप्तता है। और ये दो विकल्प हैं और इनकी जो यात्रा है, सरलता और जटिलता के मार्गों से पूरी होती है।
इसलिए गहरे में हमारे भीतर प्यास तो है सरल होने की। लेकिन कैसे सरल हों, यह सवाल निरंतर से आदमी के सामने रहा है कि कैसे सरल हों? और जटिल लोगों को जो सबसे सीधी बात दिखाई पड़ी है, वह यह कि आदमी बाहर से सरलता का आवरण ओढ़ ले, वस्त्र कम रखे, मकान छोटा हो, या बिना मकान के हो जाए; पत्नी बच्चे छोड़ दे, धन न रखे पास में, अपरिग्रही हो जाए; रिनन्सिएशन कर दे, जितनी चीजें हैं, उनको छोड़ दे--तो सरल हो जाएगा।
यह जो बात जिन लोगों के मन में भी उठी, वे प्रश्न को समझ नहीं पाए। आदमी चीजों के कारण जटिल नहीं है। जटिल होने के कारण उसने चीजें इकट्ठी कर ली हैं। चीजें मूल बात नहीं हैं, वे कॉ.ज नहीं हैं, वे कारण नहीं हैं, वे इफैक्ट ही हैं, परिणाम हैं। आदमी भीतर जटिल है, वह चारों तरफ जटिलता के जाल फैला देगा।
लेकिन हम बाहर के जटिलता के जाल तोड़ भी दें तो हम भीतर से सरल नहीं हो जाते। आदमी वही का वही रहेगा। और यह हो सकता है कि एक बड़े महल में वह जितना जटिल था, उतना ही जटिल एक छोटी झोपड़ी के साथ हो जाए। यह भी हो सकता है कि बड़ी तिजोरी के लिए वह जितना चिंतित और परेशान हो, उतना ही अपनी आखिरी लंगोटी के लिए भी चिंतित और परेशान हो जाए। यह सवाल ही नहीं है कि पास में लंगोटी है कि महल है; सवाल यह है कि कैसा मन है। अगर जटिल मन है तो लंगोटी के साथ भी जटिल होगा। और अगर सरल मन है तो महल के साथ भी सरल हो सकता है। जिन लोगों ने यह कहा कि बाहर की चीजें छोड़ देने से आदमी सरल हो जाएगा,
वे भौतिकवादी लोग रहे होंगे, मैटीरियलिस्ट रहे होंगे। मैं उनको आध्यात्मिक नहीं मानता हूं, चाहे दुनिया का इतिहास और दुनिया की कहानियां उनको कितना ही आध्यात्मिक कहती हों। जो आदमी यह सोचता है कि वस्तुएं कम होने से चित्त सरल हो जाएगा, वह वस्तुवादी है, वह मैटीरियलिस्ट है। उसका जोर वस्तु पर है, उसका जोर आत्मा पर नहीं है। तो वह कह रहा है, मकान छोड़ दो, घर छोड़ दो, पत्नी-बच्चे छोड़ दो, सब छोड़ दो। यह सारा हमसे बाहर जो भी जगत है, छोड़ दो। इस आदमी का विश्वास बाहर के जगत पर है। इस आदमी का विश्वास धन पर है। कल यह आदमी कह रहा था, धन पकड़ो। आज यह कहता है, धन छोड़ो। लेकिन धन पर ही इसका जोर है, धन ही इसका केंद्र है। भीतर के व्यक्ति से इसका कोई संबंध नहीं है।
तो जटिल लोगों ने, पदार्थवादी लोगों ने दो तरह के उपद्रव पैदा किए हैं--एक परिग्रह का, अटेचमेंट का, चीजें इकट्ठी करते चले जाओ और ढेर लगाते चले जाओ। यह भी भौतिकवादियों ने ही किया है और जटिल चित्त का ही एक रूप है। और इसके विपरीत जब इससे कोई घबरा गया तो सब छोड़ दो, सब चीजों से भाग जाओ। यह भी जटिल चित्त का ही एक रूप है। और यह भी भौतिकवाद की ही एक प्रक्रिया है। यह दोनों भौतिकवादी हैं। एक का भौतिकवाद के साथ राग है और एक का भौतिकवाद के साथ विराग हो गया है। लेकिन दोनों भौतिकवादी हैं--बेसिकली मैटीरियलिस्ट हैं।
और मजे की बात यह है कि वस्तुओं के कम या ज्यादा होने से चित्त की जटिलता, गैर-जटिलता का कोई भी संबंध नहीं है। सवाल गहरे में यह है कि मेरा चित्त सरल हो, और यह बात जरूर है कि अगर चित्त सरल हो तो बाहर भी एक तरह की

चैस्टिटी, एक तरह की सरलता, एक तरह की स्वच्छता, एक तरह का अपरिग्रह आता है। लेकिन वह लाना नहीं पड़ता, वह अपने से आता है। और वह उसी मात्रा में आता है, जिस मात्रा में बाहर की चीजें व्यर्थ हो जाती हैं।
विक्षिप्त आदमी व्यर्थ की चीजें इकट्ठी करता चला जाता है, सिर्फ विक्षिप्तता के कारण। विक्षिप्त मनुष्य, जटिल चित्त का आदमी चीजें इकट्ठी इसलिए नहीं कर रहा है कि चीजों में कोई अर्थ है। बल्कि वह अपने भीतर के भय, अपनी भीतर की परेशानियों के कारण चीजों को इकट्ठा करने में अपने को व्यस्त कर रहा है।
एक आदमी धन इकट्ठा करता चला जा रहा है। उसके पास इतना धन हो चुका है कि
अब आगे धन का कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि धन से जो खरीदा जा सकता था, वह खरीद सकता है। और अब आगे धन इकट्ठा करना सिर्फ मिट्टी-पत्थर इकट्ठा करना है। क्योंकि इससे खरीदने का कोई प्रयोजन नहीं है। उसके आगे धन का कोई मूल्य नहीं है, उपयोग नहीं है। बड़े से बड़ा मकान उसके पास है, बड़ी से बड़ी कार उसके पास है। उसके पास सारी सुविधाएं हैं। जगत जो दे सकता है, उसके पास है। लेकिन अब भी वह धन की दौड़ में पागल होकर लगा हुआ है! बल्कि धन की दौड़ के कारण ही सारी सुविधाओं का उपभोग भी नहीं कर पा रहा है। उसने कीमती टेलीविजन खरीदा है, लेकिन देख नहीं पा रहा है। क्योंकि धन कमाने में लगा हुआ है। उसने बड़ी कार खरीदी है, लेकिन उसमें बैठ नहीं पा रहा है। कभी पिकनिक के लिए बाहर नहीं जा पा रहा है, क्योंकि धन कमाने में लगा है। सुंदर से सुंदर स्त्री घर में ले आया है, लेकिन उससे बात करने का समय कहां है, क्योंकि वह धन कमाने में लगा है! तो धन से जो उसने इकट्ठा भी कर लिया है, वह उसको भी नहीं भोग रहा है। अब आगे धन का कोई मूल्य भी नहीं है। तो यह धन का कमाना किसी भीतरी पागलपन से पैदा हो रहा है। कहीं भीतर कोई पागलपन है, जो भीतर आकुपाइड रहना चाहता है। जो इतना ज्यादा व्यस्त रहना चाहता है कि अपने पागलपन का पता न चल जाए। उलझा रहना चाहता है, भूल जाना चाहता है अपने को।
आदमी जितना जटिल होता है, उतना खुद को भूलने की कोशिश में लगा रहता है। भूलने की कोशिश कई तरह की हो सकती है। कोई धन कमाने में भूले, कोई समाज-सेवा में भूल सकता है, और कोई शराब पीकर भूले; और कोई संगीत सुन कर भूल सकता है; और कोई प्रार्थना, भजन-कीर्तन करके भी भूल सकता है।
भीतर जब आदमी परेशान होता है तो भूलना चाहता है। भूलने का उपाय ही यह
है कि कहीं भी आक्युपाइड हो जाओ, व्यस्त हो जाओ। और व्यस्तता इतनी हो कि तुम्हारी सारी शक्ति क्षीण हो जाए व्यस्तता में। तुम्हारे पास खुद के संबंध में सोचने को न समय बचे, न शक्ति बचे, न उपाय बचे। तुम भूले रहो और दौड़ते रहो।
तो जितना विक्षिप्त आदमी है, वह दौड़ में लगा हुआ है, ताकि भूला रहे। वह
धन में भी दौड़ लगा सकता है और यह भी हो सकता है, कल वह धन छोड़ दे तो परमात्मा की दौड़ में इतना ही व्यस्त हो जाए। तब सिर्फ व्यस्तता का ऑब्जेक्ट बदला, आदमी वही है। कल वह रुपये इकट्ठे करने में लगा था, आज वह रुपये छोड़ने में भी लग सकता है। कल वह रुपया इकट्ठे करने में जितना रस ले रहा था, गिनती कर रहा था कि कितने लाख हो गये, आज भी वह गिनती कर रहा है कि कितने लाख मैंने छोड़ दिए। फर्क नहीं पड़ा।
आदमी भीतर वही है। आदमी भीतर वही है, और यह भीतर के आदमी में जब तक सरलता न आए, तब तक बाहर की सरलता और भी जटिलता पैदा करेगी। क्योंकि बाहर से वह सरल दिखाई पड़ने लगेगा और भीतर वही होगा जो था। क्योंकि बाहर का कोई परिवर्तन भीतर परिवर्तन नहीं लाता है। भीतर का परिवर्तन जरूर बाहर परिवर्तन लाता है। इस बात को ठीक से समझ लेना चाहिए कि बाहर का कोई भी परिवर्तन, कभी भी भीतर कोई परिवर्तन नहीं लाता है। क्योंकि भीतर ज्यादा गहरी चीज है, बाहर तो उथली चीजें हैं। कोई लहर सागर के भीतर कोई परिवर्तन नहीं ला सकती, क्योंकि लहर सतह पर है। वह नाचे, कूदे, उछले, फांदे--कुछ भी करे, सागर की गहराइयों को उससे कुछ संबंध, उसके उछलने-कूदने से नहीं होता है। लेकिन सागर की भीतर की गहराई बदले तो लहर को बदलना पड़ेगा, क्योंकि लहर सागर का हिस्सा है। सागर लहर का हिस्सा नहीं है।

तो हमारे जीवन की बाहर की परिधि पर जो हो रहा है, वह हमारा हिस्सा है;
हम उसके हिस्से नहीं हैं। वह हमारे कारण हो रहा है, हम उसके कारण नहीं हैं। यह स्पष्ट हो जाए तो फिर सब परिवर्तन भीतर से आते हैं और बाहर की तरफ फैलते हैं। परिवर्तन का केंद्र भीतर होता है, फैलाव बाहर होता है। केंद्र बाहर कभी नहीं हो सकता, फैलाव भीतर की तरफ कभी नहीं हो सकता।
एक आदमी भीतर सरल हो जाए तो निश्चित ही उसके जीवन में एक तरह का त्याग,
एक तरह की तपश्चर्या प्रकट होगी। लेकिन न तो उस तपश्चर्या का बोध होगा उस आदमी को, न उस त्याग का पता होगा; और न उस त्याग के कारण वह समझेगा कि मैंने कुछ किया है। यह उसे पता ही नहीं होगा। यह ऐसे ही होगा कि जैसे सुबह हम अपने घर को झाड़ते हैं और कचरे को बाहर फेंक आते हैं; फिर हम जाकर मोहल्लों में खबर नहीं करते कि हमने आज कचरे का फिर त्याग कर दिया। कचरा है, उसे हम फेंक आए हैं, बात खत्म हो गई। उसके पीछे उसको त्याग कर दिया है, यह सवाल भी नहीं उठता। अगर कोई आदमी आकर कहे कि मैंने आज घर के कचरे का त्याग कर दिया तो हम उस आदमी को पागल समझेंगे कि आदमी को कचरे से भी इतना मोह था क्या, कि कचरे का भी त्याग करना पड़ा इसे? और जो कहने आया है कि मैंने कचरे को त्याग कर दिया, यह आदमी अभी भी कचरे से बंधा हुआ है। अब यह कचरे के त्याग में भी गौरव ले रहा है, और मेरा मानना है कि घर में कचरा होना उतना बुरा नहीं था, जितना कचरे के त्याग कर देने में रस खतरनाक है। क्योंकि यह आदमी बिमार है। जिस दिन व्यक्ति को भीतर से कुछ घटनाएं घटनी शुरू होती हैं तो बाहर परिवर्तन होते हैं, निश्चित ही परिवर्तन होते हैं। उसका रहना बदलेगा, उठना बदलेगा, उसके संबंध बदलेंगे, क्योंकि बाहर वे सब घटनाएं धीरे-धीरे प्रभावित होंगी, जो उसके भीतर उठी थीं। उनका परिणाम बाहर होगा। लेकिन तब न तो वह त्यागी बन जाएगा, न तो उसके मन में त्याग का कोई बोध होगा; न त्याग के कारण अहंकार की कोई तृप्ति होगी, और न त्याग उसका आकुपेशन होगा; न त्याग उसकी व्यस्तता बन जाएगी। वह संन्यासी नहीं होगा, संन्यास का उसे पता नहीं होगा; संन्यास आ चुका होगा। लेकिन सरल संन्यास का पता नहीं चल सकता कभी भी। सिर्फ जटिल संन्यास कांशस होता है। वह जो जटिलता है, वह कहती है, अब मैं संन्यासी हो गया। और अब यह "मैं" संन्यासी हो गया, इसमें भी उतने रस लेने लगती है, जितना कि कल "मैं" कुछ और था, उसमें रस था।
पहली बात तो यह है कि बाहर से भीतर की तरफ कोई ट्रांसफर्मेशन, कोई परिवर्तन होता ही नहीं। इसलिए जिन लोगों ने भी यह कहा कि खाना कम करो, खाना कम खाओ, ऐसा खाना खाओ, ऐसे कपड़े पहनो, कपड़े मत पहनो, नग्न हो जाओ, इस घर में मत रहो, झोपड़े में रहो या वृक्ष के नीचे रहो, या खुले आकाश के नीचे रहो--इन सारे लोगों ने बाहर से भीतर परिवर्तन करने की आकांक्षा की है। यह आकांक्षा गलत है। बाहर परिवर्तन हो जाएगा और भीतर का आदमी वही का वही बना रहेगा। उसमें कोई भी फर्क होने वाला नहीं।
एक घटना मुझे याद आती है। एक रात एक ट्रेन में मैं सफर किया तो मेरे कंपार्टमेंट में मैं हूं और एक स्टेशन से एक संन्यासी भी उसमें बैठे। काफी लोग उन्हें छोड़ने आए हैं, बहुत लोग उनका आदर करते होंगे। मैं भी उत्सुक हो गया हूं। उत्सुक इसलिए हो गया हूं कि उन्होंने सिर्फ टाट के, फट्टी के कपड़े पहन रखे हैं। एक फट्टी, टाट कमर से लपेटा हुआ, एक टाट का टुकड़ा ऊपर ओढ़ा हुआ है। एक छोटी टोकरी साथ है, उसमें भी टाट के दो चार टुकड़े हैं। लोग इनको विदा करके चले गए हैं। मैं आंख बंद किए हुएलेटा हूं। वे संन्यासी समझ रहे हैं कि शायद मैं सोया हूं। जैसे ही उन्होंने अपनी टोकरी रखी है और मेरी तरफ देखा, उन्हें खयाल में है कि मैं सो रहा हूं। मैं सोया नहीं, जागा हूं। बीच-बीच में मैं देख रहा हूं, वे क्या कर रहे हैं? टोकरी रख कर जल्दी से उन्होंने टाट के टुकड़े जो दो-चार थे, उनके नीचे झांक कर देखा। उसमें कुछ रुपये हैं, जो उनको भेंट किए होंगे, वे रखे हैं। रुपये निकाल कर जल्दी से आड़ में करके रुपये गिने। यह सब मैं देखता रहा हूं। रुपये गिन कर टाट में लपेट कर सिर के नीचे रख लिए हैं।
फिर मैं उठा हूं किसी काम से तो उन्होंने पूछा है कि भोपाल कब आएगा, तो मैंने कहाः सुबह छह बजे आएगा। आप बिल्कुल आराम से सो जाइए, चिंता मत करिए।
और यह डब्बा भोपाल ही कटेगा, इसलिए भोपाल से आगे जाने का उपाय ही नहीं है।

इसलिए मजे से सोइए। मुझे भी भोपाल ही उतरना है। लेकिन मैं क्या देखता हूं कि घंटे भर बाद, रात के ग्यारह बजे होंगे, किसी स्टेशन पर फिर खिड़की खोल कर लोगों से पूछ रहे हैं कि भोपाल कब आएगा? तब मुझे हैरानी हुई और मैंने उनसे कहा, आप परेशान मत हों, भोपाल सुबह छह बजे के पहले नहीं आने वाला है। लेकिन मैं देखता क्या हूं, चार बजे रात फिर किसी स्टेशन पर वे खिड़की खोल कर पूछ रहे हैं। निश्चिंतता जैसी कोई चीज उनमें दिखाई नहीं पड़ती, और इतनी क्षुद्र-सी चीज के लिए वे चिंतित हो रहे हैं जो कि बिल्कुल बेमानी है कि भोपाल कब आएगा। जब मैंने उनको कह दिया, दो स्टेशन पर पूछ चुके हो--उन्होंने कह दिया है कि सुबह छह बजे आएगा, फिर भी भरोसा नहीं है किसी का? कहीं ऐसा न हो कि भोपाल निकल जाए!
वह आदमी रात भर सोया नहीं। सुबह पांच बजे के करीब वे फिर तैयार हो रहे हैं और उनकी तैयारी भी मुझे देखने जैसी लगी। उनको अंदाज है कि मैं सोया हूं। सुबह उठने से ही पहला काम उन्होंने फिर वही किया है कि अपने फट्टी में से निकाल कर नोट गिने। अब यह मैं बड़ा हैरान हूं कि ये नोट बार-बार क्यों गिने जा रहे हैं? एक तरफ यह आदमी फट्टी बांधे हुए है, दूसरी तरफ इसके नोट के गिनने में रस वही है। नोट के चोरी चले जाने का भी डर वही है, जो किसी भी आदमी को हो सकता है। लेकिन नोट फट्टी में छिपाए हुए है। फट्टी तो ऊपर है, भीतर नोट हैं। फिर यह आदमी को मैं देख रहा हूं कि जो उसने फट्टी बांधी है, अब वह आईने के सामने खड़े होकर फट्टी बांध रहा है। बार-बार फट्टी बांध कर आईने में देखता है, फिर उसे जंचती नहीं है। फिर उसको दूसरे ढंग से बांधता है। तो मैं हैरान हूं कि यह तो वही का वही हो रहा है, जो कि आदमी सुंदर से सुंदर कपड़े बांधता है! तब भी वह आईने में देखता और विचार करता है कि जंच रहा हूं कि नहीं जंच रहा हूं। यह आदमी फट्टी में भी वही कर रहा है। चार दफा फट्टी खोलकर बांधी है, फिर गले पर ढंग से डाली है, फिर आईने में झांक कर निश्चिंत हो गए हैं! फिर वह तैयार है भोपाल स्टेशन आने के लिए। यह तैयारी वैसी की वैसी है, जैसे किसी महिला ने अपने प्रसाधन के सौंदर्य के साधनों से की होती! या किसी कपड़ों के प्रेमी ने कपड़े पहन कर बार-बार देखा होता कि ठीक जमा कि नहीं जमा!
अब यह आदमी फट्टी बांधे हुए है। लेकिन फट्टी के साथ इसका मन तो वही है,
जो कि सुंदर वस्त्रों के साथ हुआ होता। और सुंदर वस्त्रों से भी आदमी चाहता क्या है? चाहता है कि दूसरे मुझसे प्रभावित हों। फट्टी के साथ भी आदमी वही चाह रहा है कि दूसरे मुझसे प्रभावित हों! और यह भी हो सकता है कि फट्टी इसने इसीलिए बांधी हो और यह होगा ही कि फट्टी से भी प्रभावित होने वाले लोग हैं, जो कि कीमती से कीमती मखमल से प्रभावित नहीं होते, वे फट्टी से भी प्रभावित होने वाले हैं।
भोपाल में फिर मैं देख रहा हूं, फूलमालाएं पड़ रही हैं, वह आदमी अकड़ कर खड़ा हुआ है! बाहर से छोड़ने वाला आदमी भीतर से बदलता नहीं--बदल सकता नहीं। क्योंकि बाहर का भीतर से कोई ऐसा संबंध नहीं। बदलना होगा तो भीतर से बदलना होगा। इसलिए मैं पहली बात को इनकार करता हूं कि उससे सरलता कभी भी आ सकती है। सिर्फ सरलता का धोखा पैदा हो सकता है। सिर्फ डिसेप्शन, प्रवंचना हो सकती है। और धोखा हम दूसरे को दे सकते हैं, अपने को कैसे धोखा देंगे!

सरलता का मार्ग तो दूसरा है। वह क्या है?

पहला मार्ग तो यह है कि सरलता की चेष्टा करो, एफर्ट करो, साधो। साधी हुई सरलता सदा झूठी होती है। क्योंकि साधने का मतलब ही होता है, अपने चित्त के खिलाफ साधना, नहीं तो साधना किसके खिलाफ है? अगर मुझे नंगा होना आनंदपूर्ण है तो इसको मैं साधना नहीं कहूंगा। अगर मुझे कपड़ा पहना आनंदपूर्ण है और फिर नंगे होने का अभ्यास करूं तो नंगा होना साधना होगी? और अगर नंगा होना मुझे सिर्फ आनंदपूर्ण है, यानी कपड़ा पहने मुझे वह आनंद कभी आया ही नहीं, जो नंगा होने में आता है, तो इसको कोई साधना नहीं कहेगा। यह मेरा आनंद है। साधते हम उसी को हैं, जो हमारे विपरीत है। यानी साधते हम वही हैं, जिसमें दमन करना पड़ता है। साधना अनिवार्य रूप से दमन है। और

जिसमें हमें प्रयास करना पड़ता है, उसमें हम किसके खिलाफ प्रयास करेंगे-- अपने खिलाफ? और अपने खिलाफ कोई भी प्रयास कभी भी नहीं जीत सकता। क्योंकि जीतेगा कैसे? कौन जीतेगा? मैं ही कैसे जीत जाऊंगा अपने खिलाफ! और जिसके खिलाफ मैं लड़ रहा हूं, वह मेरे ज्यादा गहरे में है; नहीं तो लड़ने की कोई जरूरत न थी। और जो लड़ रहा है, मेरा चित्त का हिस्सा, वह बिल्कुल बाहर है, नहीं तो बात तत्काल खत्म हो जाती, लड़ने की कोई जरूरत न पड़ती।
तो एक तो रास्ता है, सरलता साधो। साधी हुई सरलता हमेशा झूठी होगी। जटिलता का यह दूसरा नाम है। लेकिन साफ जटिलता भी अच्छी है, कम से कम स्पष्ट तो है। ऊपर सरलता और भीतर जटिलता बहुत बड़ा धोखा है, जिसमें आदमी जीवन गंवा सकता है; कई जीवन भी गंवा सकता है। हमारे तथाकथित साधु-संन्यासी, मुनि, त्यागी, व्रती इसी तरह जीवन गंवाते हैं और उन्हें भ्रम पैदा हो जाता है कि वे बिल्कुल सरल हो गए; क्योंकि नंगे खड़े हो गए। सरलता नाम मात्र को भी नहीं है, क्योंकि नंगा वही आदमी खड़ा है, उस आदमी में कोई फर्क ही नहीं हुआ। और कपड़े से उस आदमी में फर्क हो कैसे सकता है? कपड़े से आत्मा कैसे बदल सकती है!
दूसरा मार्ग है, हमें अपनी जटिलता को समझना पड़ेगा कि हम जटिल क्यों हैं, कहां हैं? हमें अपनी पूरी जटिलता के प्रति जागरूक होना पड़े, एक अमूर्च्छित चित्त चाहिए सारी जटिलता को समझ लेने के लिए। सुबह उठते से सांझ तक मैं किस-किस भांति जटिल हूं, कहां-कहां उलझा हुआ हूं, कहां-कहां सरलता खोता हूं, कैसे खोता हूं, इसको पूरा मुझे देख लेना होगा, पहचान लेना होगा। अगर मैं इसे पूरा जान लूं, पहचान लूं, परिचित हो जाऊं तो मुझे यह समझ में आने में कठिनाई नहीं होगी कि यह सारी जटिलता मुझे निरंतर दुख में उतार रही है।
सच तो यह है कि जब भी हमें आनंद की कोई भी किरण मिली हो जीवन में, तब हम सरल रहे होंगे। जब भी कभी जीवन में आनंद की जरा-सी भी झलक मिली होगी तो पीछे सरलता की भूमिका रही होगी। जटिलता में कभी कोई आनंद कभी नहीं हुआ है। बच्चे ज्यादा आनंदित मालूम होते हैं, क्योंकि सरल हैं। और बूढ़े दुखी हो जाते हैं, क्योंकि जटिल हो गए हैं। जिंदगी सिर्फ जटिल कर देती है। जिन्हें हम प्रेम करते हैं, उनके साथ हम सरल होते हैं; इसलिए उनके साथ हमें आनंद मिलता है। जिन्हें हम प्रेम नहीं करते, उनके साथ हम जटिल होते हैं। इसलिए जिन्हें हम प्रेम नहीं करते, उनके साथ हमें आनंद नहीं मिलता है। जहां भी हम सरल होते हैं, वहीं हमें आनंद की शुरुआत हो जाती है।
तो जो व्यक्ति अपनी जटिलता के प्रति जागेगा और चित्त की सारी क्रियाओं को देखेगा कि किस तरह जटिल होता है, किस तरह दुख लाता है--तो जब हमें यह स्वयं दिखाई पड़ जाए कि जटिलता दुख है, जटिलता नर्क है, जटिलता अंधकार है, जटिलता अपने हाथों से स्वयं को कांटों में डालना है--जब यह हमें दिखाई पड़ने लगे तो असंभव है फिर जटिल होना। यानी फिर जटिलता हमें छोड़नी नहीं पड़ेगी, वह छूटनी शुरू हो जाएगी। हम पाएंगे कि वह जाने लगी, क्योंकि मनुष्य का चित्त आनंद की तरफ ही जाना चाहता है। वह उसका नैसर्गिक प्रवाह है। वह उसकी सहज गति है, आनंद की तरफ जाना। हां, अगर वह कभी दुख की तरफ भी जाता है तो इसी भूल में चला जाता है कि वह सोचता है कि वहां आनंद होगा। दुख की तरफ कोई चित्त कभी नहीं बहता। जैसे पानी नीचे की तरफ बहता है।
जब तक कि हम पाइप लगा कर ऊपर फेंकने का इंतजाम न करें, मशीन लगा कर, पंप लगा कर, तब तक पानी नीचे की तरफ बहता है। पानी स्वभाव से नीचे की तरफ बहता है। ऐसे ही चित्त स्वभाव से आनंद की तरफ बहता है, जब तक कि हम कुछ नासमझियां करके और पंप लगा करके उसको दुख की तरफ फेंकना ना शुरू करें। लेकिन दुख की तरफ भी फेंकना हो तो दुख की टंकी पर लिखना पड़ता है--"आनंद"! तभी वह वहां जाता है, नहीं तो वह वहां नहीं जाता।
तो हमने सब दुखों के ऊपर आनंद लिख दिया है। तो चित्त वहां भी जाने लगा है। अगर हम जाग कर इस स्थिति को समझेंगे तो हमें दिखाई पड़ने लगेगा कि आनंद कहां है और आनंद कहां नहीं है! बस इतना दिखाई पड़ जाए आदमी को कि वह सरल होना शुरू हो जाता है। फिर सरल होने के लिए उसे जरा भी उपाय नहीं करना पड़ता, प्रयास नहीं करना पड़ता। वह पाता है कि अब सरल होने के अतिरिक्त कोई मार्ग

ही नहीं है और जटिल होना असंभव होने लगता है। धीरे-धीरे जटिल होना असंभावना हो जाती है। तब वह आदमी यह नहीं कहेगा कि मैंने जटिलता छोड़ दी और मैं सरल हो गया। वह आदमी यही कहेगा कि मैं कैसा पागल था कि मैं जटिल भी होता था। छोड़ने का तो सवाल ही कहां है? वह छूट गया। दिखाई पड़ गया और बात छूट गई।
जैसे हमें दिखाई पड़ जाए कि यह दरवाजा है तो हम दरवाजे से निकलते हैं, फिर हम दीवार से नहीं निकलते। दरवाजे से निकल कर हम यह भी नहीं कहते बाहर जाकर कि मैंने दीवाल से निकलना छोड़ दिया है। मैं दरवाजे से ही निकलता हूं। अगर हम ऐसा कहेंगे तो लोग कहेंगे, क्या तुम पागल थे, जो दीवार से निकलते थे? हां, तो हम बाहर जाकर इतना जरूर कहेंगे कि ऐसा भी वक्त था जो मुझे दीवारें दरवाजे दिखाई पड़ती थीं और तब मैं अपना सिर फोड़ लेता था; निकल तो नहीं पाता था सिर, सिर टूट जाता था। अब मुझे दरवाजा क्या है, दीवार क्या है, दिखाई पड़ने लगा है।

इसलिए अवेयरनेस, कांशसनेस, चेतना बढ़नी चाहिए। और जो लोग बाहर की वस्तुएं बदलने इत्यादि में लग जाते हैं, उनकी चेतना बढ़ने का सवाल ही नहीं उठता। क्योंकि वे चेतना बढ़ाने की दिशा में कोई गति ही नहीं कर रहे हैं, वे वस्तुओं से ही उलझे हुए हैं अभी भी।
तो मेरी दृष्टि में, व्यक्ति जितना सजग हो, उतना सरल हो जाता है। सरलता सजगता का सहज परिणाम है। और जब सरल हो जाता है तो जीवन में, प्रेम के, आनंद के, सत्य के फूल अपने आप खिलने लगते हैं। यह सरलता की भूमि में खिले हुए सहज फूल हैं। इनको खिलाने के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता।
सरल आदमी प्रेमपूर्ण ही होगा और उसका प्रेम बेशर्त होगा, अनकंडीशनल होगा, क्योंकि वह जानता है कि प्रेम में कंडीशंस सिर्फ जटिल आदमी लगाता है। और जब प्रेम में शर्त लगती है तो प्रेम दुख लाता है, प्रेम आनंद नहीं लाता। अगर मैंने प्रेम में शर्त लगाई कि तुम ऐसे हो तो मैं प्रेम करूंगा; तुम यह करो तो मैं प्रेम करूंगा; मेरे प्रेम के बदले में तुम्हें यह-यह करना पड़ेगा--तो मैं जानता हूं कि मैं अपने दुख को बुला रहा हूं। जहां मैंने शर्त लगाई, प्रेम तो गया। सिर्फ बंधन रह गया और बंधन दुख लाएंगे। इसलिए सरल व्यक्ति का प्रेम बेशर्त होता है।
सरल व्यक्ति प्रेम देता है, लेने की बात ही नहीं करता है। बहुत मिलता है, प्रभूत मिलता है, लेकिन वह लेने की बात नहीं करता है। जितना देता है, उससे हजार गुना मिलता है। लेकिन वह लेने की बात ही नहीं करता। आता है तो धन्यवाद करेगा, अनुगृहीत होगा। नहीं आता है तो बात खत्म हो गई। देने का काम था, वह पूरा हो गया। उसने देने में ही इतना आनंद उपलब्ध कर लिया है कि अब और मांगने की कोई जरूरत नहीं।
शर्त वाला प्रेम कहता है कि तुम मुझे प्रेम दोगे तो मैं आनंदित होऊंगा। बेशर्त प्रेम कहता है कि तुमने ले लिया, तो भी मुझे काफी आनंद हो गया, बात खत्म हो गई। तुमने लिया, तो भी मैं आनंदित हो गया। इसी भांति उसे प्रत्यक्ष चीजों में दिखाई पड़ने लगेगा।
सरल आदमी को दिखाई पड़ेगा कि बाहर की जिंदगी में एक चैस्टिटी, एक सौंदर्य, एक तपश्चर्या आनी शुरू हो गई है। लेकिन, इसका कारण यह नहीं है कि वह किन्हीं चीजों को छोड़ रहा है। इसका कारण यह है कि कुछ चीजें व्यर्थ हो गई हैं और गिर रही हैं। जैसे सूखे पत्ते गिर जाते हैं। वृक्ष छोड़ता नहीं है उन्हें।

आचार्य जी,
हैव आई करेक्टली लर्न्ट दैट दि सिंपलिसिटी इज़ दि स्टेट ऑफ एफर्टलेसनेस। एण्ड व्हेअर देअर इज़ स्टेट ऑफ एफर्टस देअर इज़ नो सिंपलिसिटी?

बिल्कुल ही ठीक है। जहां एफर्ट है, वहीं जटिलता है। असल में प्रयत्न
ही जटिलता का दूसरा नाम है। और जहां एफर्टलेसनेस है, वहीं सरलता है। जहां

हम कुछ कर नहीं रहे, कुछ हो रहा है! जहां हम कुछ कर रहे हैं, हो नहीं रहा; वहीं जटिलता शुरू हो जाएगी। अगर मैं किसी को प्रेम कर रहा हूं तो यह प्रेम बहुत जटिल होगा। और अभिनय से ज्यादा नहीं हो सकता, एक्टिंग ही हो सकता है। एक्टिंग करनी पड़ती है, होती नहीं। और प्रेम अगर किया तो वह भी अभिनय होगा। प्रेम होना चाहिए, सहज बहना चाहिए।
जीवन में जो भी महत्वपूर्ण है, वह सब होता है, करना नहीं पड़ता। और जीवन में जो भी व्यर्थ है, वह सब करना पड़ता है, वह कुछ भी होता नहीं। और हम सबने ऐसी जिंदगी बनाई, और हमारे नैतिक शिक्षकों ने, धार्मिक शिक्षकों ने हम सबको प्रयास ही सिखाया है, दमन ही सिखाया है, लड़ाई ही सिखाई है और इस तरह हमारे सारे जीवन को कुरूप कर दिया है। हमारे पास जीवन जैसी चीज ही नहीं है, क्योंकि सरल और सहज जैसा हमारा कोई अनुभव ही नहीं है। हम जो भी कर रहे हैं, वह सब हो नहीं रहा है, कर रहे हैं। और करने के कारण उसकी जो निर्दोषता, जो इनोसेंस, जो कुआंरापन है, वह सब खत्म हुआ चला जा रहा है।
ऐसी संभावना है कि व्यक्ति जीए, जीने की कोशिश न करे। प्रेम करे, प्रेम करने की कोशिश न करे। शांत हो, शांत होने की कोशिश न करे। और एक ऐसी शांति भी है जो शांत होने की कोशिश से आ जाती है, लेकिन वह सदा मुर्दा होती है, वह डेड साइलेंस है, जो मरे हुए आदमी की है।
तथाकथित साधक अक्सर ऐसी मरी हुई शांति को उपलब्ध हो जाते हैं। उसका कुल मतलब इतना है, उन्होंने अशांति को दबा लिया है, शांति नहीं आई है, अशांति दब गई है। अशांति दबी है तो पता नहीं चलता है। जैसे एक आदमी के हाथ पर घाव है, और पट्टी बांध कर घाव को दबा लिया है, और वह कहता है, घाव है ही नहीं। इस आदमी का घाव मिट नहीं गया है, सिर्फ उसने कपड़ों में दबा लिया है। ऐसी ही मरी हुई शांति के पीछे अशांति दबी हुई है। एक आदमी निरंतर कोशिश करे तो अपनी अशांति को दबा कर उसकी छाती पर चढ़ कर बैठ सकता है और ऐसा दिखने लगेगा कि वह शांत हो गया। लेकिन भीतर अशांति उबल रही है और वह प्रतीक्षा कर रही है। दबाई गई अशांति के लिए निरंतर दबाना पड़ेगा। हर-रोज, रोज दबाना पड़ेगा, जागते-सोते दबाना पड़ेगा। एक क्षण फिर आदमी फुरसत नहीं ले सकता। इसलिए हमारे साधु-संत को हालिडे जैसी कोई चीज नहीं होती। उसको चौबीस घंटे ही लगा रहना पड़ता है गोरख धंधे में। क्योंकि वह अगर एक क्षण को भी छुट्टी ले ले तो वह सब जो दबाया है, वह फौरन प्रकट हो जाएगा। वह सब उभर कर बाहर आ जाएगा। तो छुट्टी है ही नहीं उसको। उसको सुबह से सांझ और सांझ से सुबह लड़ना ही है, लड़ना ही है। इसीलिए हमारे साधु-संत सोने तक में डरने लगते हैं। नींद से भयभीत होते हैं। क्योंकि नींद में फिर छुट्टी मिल जाती है। जिस मन को दिन भर दबाया है, नींद में वह फिर खुल कर खेलने लगता है और जिस-जिस चीज पर दबाया है, वही-वही करने लगता है। तो नींद तक से भय पैदा हो जाता है और कोशिश यह चलती है कि नींद न ही लें तो अच्छा है, नींद न ही आए तो अच्छा है।
असल में नींद सरल आदमी ही ले सकता है। जटिल आदमी अगर जटिलता में बढ़ता चला जा रहा है तो नींद खत्म हो जाएगी, क्योंकि इतनी व्यस्तता बढ़ जाएगी, चित्त पर तनाव इतने हो जाएंगे कि नींद खत्म हो जाएगी। और जटिल आदमी अगर सब जटिलताओं को छोड़ कर भागने लगे तो नींद से भयभीत हो जाएगा। क्योंकि जिसको वह छोड़ कर भागा है, वह नींद में फिर वापस लौट आता हुआ मालूम पड़ेगा, क्योंकि नींद में चित्त फिर एफर्टलेसनेस में चला गया।
तो जिसे हमने एफर्ट से दबाया, वह फिर प्रकट होगा। अगर सेक्स दबाया, सेक्स प्रकट होगा; भोजन दबाया था, भोजन प्रकट होगा। अगर हम जबरदस्ती नंगे होकर घूमने लगे तो नींद में हम बादशाहों के कपड़े पहन कर सिंहासन पर बैठ जाएंगे--यह होगा।
सिर्फ वही आदमी सच्चे अर्थों में सरल हो सकता है, जिसने सरलता के लिए प्रयास नहीं किया। लेकिन, इसका क्या मतलब है? क्या इसका यह मतलब है कि सरलता के लिए कुछ भी न करें? नहीं, इसका यह मतलब नहीं है। प्रयास न करें, यह मैं कह रहा हूं, लेकिन जागरूक होना पड़ेगा। और जागरूक होना प्रयास नहीं है, क्योंकि जागरूक होने में हम किसी चीज को दबा नहीं रहे हैं। जागरूक होने

में हम किसी चीज का दमन नहीं कर रहे हैं। जागरूक होने में हमारी जो चेतना है, जगह-जगह अंधेरे में पड़ी है, उसे हम उठा रहे हैं, उसे जगा रहे हैं।
एक आदमी सोया है, हम उसे जगाते हैं। हम उस आदमी के भीतर कुछ दमन नहीं करवा रहे हैं, सिर्फ उसकी नींद तोड़ रहे हैं। हमारी चेतना भीतर सोई हुई है, बहुत-बहुत रूपों में सोई हुई है। उसे हम जगा रहे हैं। यह जगाना भी एक तरह का प्रयास मालूम होगा, लेकिन यह उस अर्थों में प्रयास नहीं है। इसलिए इसे झेन फकीर तो कहते हैं, एफर्टलेस एफर्ट। यह प्रयास रहित प्रयास या एक्शनलेस एक्शन, कर्मरहित कर्म। एक्शन इनेक्शन कहें या एक्शनलेस एक्शन। यह कर्मरहित कर्म है।
सिर्फ एक ही ऐसी चीज है, जो प्रयास रहित प्रयास है--और वह है जागरण, अवेयरनेस की चेष्टा। जितने हम जागते हैं जीवन की सामान्य चीजों के प्रति-- सुबह आप उठे और उठते से ही जटिलताएं शुरू हो जाती हैं। आपका जूता ठीक जगह पर रखा हुआ नहीं है और आप क्रोधित हो गए और आपकी चाय थोड़ी ठंडी है और आप में आग लग गई और आप पत्नी से ऐसे अभद्र शब्द बोले जो कि आप सोच भी नहीं सकते थे-- और शुरू हो गई जटिलताएं। और मालिक के सामने आप पूंछ हिला कर खड़े हो गए हैं और नौकर के सामने अकड़ बताने लगे और सब तरफ जटिलताएं शुरू हो गई। इस सबके प्रति जागने की जरूरत है।
यह हमारा छोटे से छोटा जो कर्म है, गेस्चर भी, छोटे से छोटा इशारा भी, उसके प्रति भी जागने की जरूरत है कि यह मैं क्या कर रहा हूं। क्या यह जटिल कृत्य है? या एक सरल भाव? अगर सरल भाव हो तो हम मालिक के सामने भी उसी सरलता से खड़े होंगे, जैसे हम नौकर के सामने खड़े होते हैं। लेकिन जटिल आदमी ऐसा नहीं कर सकता। मालिक के सामने और ढंग से खड़ा होता है। झूठ ही मुस्कुराए चला जाता है, चाहे भीतर आग जल रही हो। और नौकर के सामने कभी नहीं मुस्कुराता है, चाहे भीतर मुस्कुराहट फूट रही हो। तो सब तरह से वह जटिल होता चला जाता है। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे, धीरे-धीरे यही झूठे एक्शन जो उसने अपने ऊपर थोपे हैं, यही उसकी असलियत हो जाती है। वह भूल ही जाता है कि मैं कौन हूं, क्योंकि सरलता में वह जान सकता था कि मैं कौन हूं, क्या हूं! जटिलता में तो वह, वह रूप दिखलाता है, जो वह है ही नहीं। और निरंतर अभ्यास से, कंडीशनिंग से यह हो सकता है कि उसे पता ही न रह जाए कि मैं कौन हूं। बस यही खयाल रह जाए कि नौकर के सामने मैं एक हूं, मालिक के सामने दो हूं, पत्नी के सामने तीन हूं, किसी और के सामने चार हूं, दिन भर मेरी अलग-अलग शक्लें हैं, अलग-अलग ढंग हैं, अलग-अलग अभिनय हैं। मैं कौन हूं लेकिन!

डू यू फील आचार्य जी,
दैट ए एक्टिंग ऑफ सिंपलिसिटी इज़ मियरली ए सोमनमबुलि.ज्म डिसी.ज?

सरलता का अभिनय करना जटिल होने से भी ज्यादा जटिल होना है। क्योंकि
जो आदमी जटिल है--और जटिल है, ऐसा जानता है और ऐसा ही दिखलाता भी है, वह आदमी भी एक अर्थ में सरल है। मुझे अगर क्रोध आए और मैं क्रोध प्रकट करूं और मेरी आंखों से आग झलकने लगे और मेरे हाथों से अंगारे फिंकने लगें और मेरे भीतर जैसा है, वैसा मैं प्रकट कर दूं, तो भी मैं एक अर्थों में सरल हूं। लेकिन मुझे भीतर क्रोध आए और बाहर मैं प्रेम की बातें करता चला जाऊं तो मेरी जटिलता बहुत गहरी है।
यानी वह आदमी जो सहज क्रोध कर लेता है, उसका क्रोध थोड़ी देर में चला जाएगा, क्योंकि क्रोध कोई टिकने वाली चीज नहीं है। लेकिन जो आदमी क्रोध नहीं करता और अक्रोध का प्रदर्शन कर देता है, उसका क्रोध टिकेगा और सरकेगा और भीतर-भीतर घाव बनाएगा। पहले वाला आदमी सरल है और पहले वाला आदमी कभी न कभी जाग कर क्रोध से मुक्त हो सकता है। दूसरे वाला आदमी कभी मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसको जागने के लिए दो स्टेप उठाने पड़ेंगे। पहले तो वह इस बात के प्रति जागे कि वह क्रोधी नहीं है, इसका अभिनय कर रहा है। और फिर इसके प्रति जागे कि क्रोध है। तो उसकी जटिलता, जिसको कहें डबल टायर, दोहरे टायर में उसकी जटिलता है। और अगर हम आदमी की जिंदगी को गौर करें तो

पच्चीसों टायर हैं, एक के ऊपर एक, एक के ऊपर एक, जिनके भीतर हम खोज करेंगे, तब हम सरल हो पाएंगे।
कई बार जंगली आदमी ज्यादा सरल होता है। क्रोध होता है तो क्रोध करता है, प्रेम होता है तो प्रेम करता है। गाली देनी हो तो गाली देता है, सिर खोलना हो तो सिर खोल देता है। सभ्य आदमी से ज्यादा सरल होता है। क्योंकि सभ्य आदमी को पहचानना ही मुश्किल है कि वह जब मुस्कुरा रहा है, तब गाली दे रहा है कि नहीं दे रहा है। कि जब वह प्रेम से हाथ मिला रहा है तो वह गर्दन काटना चाह रहा है कि नहीं काटना चाह रहा है।
जटिलता को भीतर छिपा कर सरलता का अभिनय, असाधुता को भीतर छिपा कर साधुता का बाहर अभिनय--यह तो दोहरे अर्थों में जटिलता हो गई। इससे मुक्त होना और कठिन हो जाएगा। और धीरे-धीरे यह आदमी न केवल दूसरों को धोखा दे सकता है, लंबे अर्सों में यह खुद भी धोखे में आ सकता है। और तब और मुश्किल हो जाएगी। यानी अगर मैं आपको धोखा दे रहा हूं, मेरे भीतर क्रोध है, मुझे पता है, और आपको मैं क्षमा दिखला रहा हूं--यह धोखा आपको है। लेकिन निरंतर ऐसा करने से यह भी हो सकता है कि मैं भी यह मान लूं कि मेरे भीतर क्रोध नहीं है, मैं तो क्षमा ही कर रहा हूं। तब जटिलता तिहरे तलों पर हो गई। और इस तरह एक के बाद एक तल अगर बढ़ते चले जाएं तो आदमी खो जाएगा। इस जंगल में उसका पता चलना मुश्किल हो जाएगा। लौटना कठिन होता चला जाएगा। क्योंकि इतनी ही सीढ़ियां उसे लौटनी पड़ेंगी।
तो मैं मानता हूं कि अभिनय तो हमेशा खतरनाक है। हम जैसे हैं, वैसा ही हमें होना चाहिए। और मजे की बात यह है कि वैसा होने में भी एक तरह की सरलता है। और फिर जैसे हम हैं, उसके प्रति हमें जागना चाहिए। तो जैसे ही हम जागना शुरू करेंगे, वैसे-वैसे जो-जो दुख लाता है, वह गिरता चला जाएगा। और जो-जो आनंद लाता है, वह बढ़ता चला जाएगा। एक ऐसी स्थिति आएगी कि आनंद ही हमारी एक मात्र गति होगी। दुख की तरफ जाना बंद हो जाएगा।
मेरी दृष्टि में, ऐसे व्यक्ति को मैं धार्मिक कहता हूं जिसने यह खोज
कर ली कि आनंद कहां है। और जिसका चित्त वहां बहने लगा। और उस व्यक्ति को मैं अधार्मिक कहता हूं, जो दुख को आनंद समझ कर दुख की तरफ ही बहा चला जा रहा है। और यह समझ कोई दूसरा नहीं दे सकता है। यानी मैं अगर कहूं कि प्रेम में बड़ा आनंद है, तो कुछ फर्क नहीं होने वाला है। मैं अगर कहूं कि घृणा में बड़ा दुख है, तो कोई फर्क नहीं होने वाला है। आप मान भी ले सकते हैं कि हां, घृणा में बड़ा दुख है। लेकिन इससे कुछ पता नहीं चलने वाला है। आपको घृणा की स्थिति में जागना ही पड़ेगा, तभी आप घृणा के पूरे दंश, पूरी सफरिंग को देख पाएंगे। जब क्रोध आपको पकड़े, तब जागना पड़ेगा और देखना पड़ेगा, क्रोध क्या कर रहा है। मैं कैसी आग में जल रहा हूं और जब उसका दुख आपके चित्त पर पूरी तरह प्रकट हो जाएगा तो दुबारा क्रोध की तरफ जाना चित्त के लिए असंभव होगा। रुकना नहीं पड़ेगा कोशिश करके कि अब मैं क्रोध न करूं।
जो आदमी जागता है उसे ऐसा व्रत नहीं लेना पड़ता किसी मंदिर में जाकर कि
अब मैं क्रोध का त्याग करता हूं, अब मैं क्रोध नहीं करूंगा। हालत उलटी हो जाती है। उससे आप क्रोध करवाना चाहें तो मुश्किल मामला होगा। अगर उसे क्रोध करना हो तो जैसे पहले वह क्षमा का अभिनय करता था, ऐसा अब ज्यादा से ज्यादा क्रोध का अभिनय ही कर सकता है। और क्रोध का अभिनय कोई किसलिए करना चाहेगा? घृणा का अभिनय कोई किसलिए करना चाहेगा? शत्रुता का अभिनय कोई किसलिए करना चाहेगा?
जागरण, हमारी चित्त की सारी स्थितियों का, और हमारी सारी रिलेशनशिप
का क्योंकि जिंदगी संबंधों में है। वह जो सरलता को थोपने वाला आदमी था, वह जंगल में भागता था। क्योंकि अकेले में सरलता को थोपना आसान है, क्योंकि तब हमें जटिलता का पता ही नहीं चलता, एस्केप है, हमको पता नहीं चलता। जटिलता का पता संबंधों में चलता है। जब तुम सड़क से जा रहे हो, तब तुम्हें पता चलता है कि तुम अकड़ कर चल रहे हो कि नहीं चल रहे हो। जब तुम जंगल में जा रहे हो, तब तुम्हें पता नहीं रहा, क्योंकि जंगल में तुम अकड़ कर चलते ही नहीं; क्योंकि जंगल में कोई देखने वाला ही नहीं है। वह तो जहां देखने वाले लोग हैं, वहां पता चलता है कि तुम्हारे भीतर चलने में अकड़ है कि नहीं। तुम सरल

चल रहे हो या चलने में भी तुम कोई अहंकार का भाव पोषित कर रहे हो; चलने में भी तुम कोई रोग पाल रहे हो कि सिर्फ चल रहे हो--यह तो पता चलेगा वह सड़क पर जहां लोग हैं और उस सड़क पर और भी ज्यादा पता चलेगा, जहां लोग तुम्हें जानते हैं और उस सड़क पर और भी ज्यादा पता चलेगा, जहां लोग तुमसे संबंधित हैं। जितना लोगों के संबंध तुम्हारे निकट होते चले जाएंगे, उतना तुम्हारा तुम्हें पता चलेगा।
यानी मेरी दृष्टि में हर दूसरा आदमी हमारे लिए दर्पण है, मिरर है। हर दूसरे आदमी में हम अपना चेहरा झांकते हैं। अब यह हो सकता है, एक आदमी कुरूप है, और वह सब दर्पणों का त्याग कर दे और मान ले कि मैं सुंदर हो गया, तो वह सुंदर नहीं हो जाएगा। सिर्फ इतना ही फर्क पड़ता चलेगा कि उसे अब चूंकि दर्पण नहीं है, इसलिए उसे दिखाई नहीं पड़ता है कि वह कुरूप है। कुरूप तो कुरूप ही रहेगा।
मैंने तो यहां तक सुना है कि एक स्त्री कुरूप थी, लेकिन मानने को तैयार न थी। अगर कोई दर्पण उसके सामने ले आया तो वह दर्पण तोड़ देती थी और तोड़ने का कारण यह बताती थी कि दर्पण खराब है। इस दर्पण में मुझे मेरी शक्ल जितनी सुंदर है, उतनी दिखाई नहीं पड़ती। यह दर्पण जो है, मुझे कुरूप कर देता है। यह दर्पण ठीक नहीं बना है। दर्पण तो वही ठीक होगा, जो मेरी सुंदर शक्ल दिखलाता हो। मैं सुंदर हूं, यह तो मानी हुई बात है। इसमें तो कोई शक-सुबा है ही नहीं।
दर्पण हम तोड़ भी सकते हैं, तो भी हम जो हैं, वहीं रहेंगे। यह औरत तो हमें पागल मालूम पड़ेगी। लेकिन, जो आदमी जीवन को छोड़ कर भाग रहा है, वह भी इतना ही पागल है। असल में वहां पहचान जरा कठिन है, क्योंकि जिन दर्पणों को वह छोड़ कर भाग रहा है, वह दर्पण बहुत सूक्ष्म हैं।

आचार्य जी, हिअर आई हैव वन डाउट दैट हाउ ह्यूमेन... व्हिच है.ज बीन कंडीशंड सिंस सेंन्चुरीस कैन फरी फ्राम दिस पास्ट इवेंट्स आफ लाइफ एण्ड वाट टाइप आफ मेज.र्ज यू सजेस्ट, सो दैट दि न्यू एजूकेशन शुड बी क्रिएटड... शुड गिव अंडरस्टेंडिंग सो दैट पिपल शुड अंडरस्टेंड एट लार्ज दि परप.ज आह लाइफ?

यह संभावना है, लेकिन जैसा आदमी है हमारे पास, उसमें संभावना नहीं दिखाई पड़ती, और मेरा यह भी मानना है कि जब कोई किसी को प्रेम से--...

आचार्य जी,
ए.ज आई फील व्हेअर लव है.ज बीन मच कनफ्यूं.जग, ए.ज आई फील पर्सनली सर, सोसायटी है.ज कनफ्यू.ज्ड दि टर्म लव विद अटेचमेंट्स। टु मी व्हेअर एटेचमेंट इज़ दि आउटकम ऑर बाइ- ऑफ ह्यूमेन नीड। वुड आई एक्सपेक्ट फ्र ाम यू, वॉट लव एक्च्वेल्ली इज़?

यह ठीक है। प्रेम और आसक्ति में बहुत भूल हुई है। भूल होना स्वाभाविक है। लेकिन प्रेम और आसक्ति, न केवल भिन्न हैं, बल्कि विरोधी हैं।
जहां प्रेम है, वहां आसक्ति होगी ही नहीं। जहां प्रेम नहीं है, वहीं आसक्ति होती है। प्रेम क्या है, यह ठीक से समझ में आए तो इन दोनों का फर्क भी समझ में आ सकता है।
सबसे पहली बात तो यह जान लेनी जरूरी है कि प्रेम एक रिलेशनशिप नहीं है। प्रेम एक संबंध नहीं है। प्रेम एक स्टेट ऑफ माइंड है, मन की एक अवस्था है। साधारणतः हम ऐसा सोचते हैं कि मैं फलां व्यक्ति को प्रेम करता हूं। यह बात ही गलत है। ऐसा हो सकता है कि मैं प्रेमपूर्ण हूं। और यदि मैं प्रेमपूर्ण हूं तो मैं प्रेमपूर्ण ही रहूंगा, चाहे व्यक्ति कोई भी बदल जाए। अगर मैं इस कमरे में अकेला भी रहूंगा, तो भी प्रेमपूर्ण रहूंगा। प्रेमपूर्ण होना मेरे स्टेट ऑफ माइंड की बात है। लेकिन आमतौर से यही समझा जाता रहा है कि एक व्यक्ति किसी को प्रेम करता है, किसी को नहीं करता है।

लेकिन जिस व्यक्ति की मानसिक स्थिति प्रेम की नहीं है, वह किसी को भी प्रेम नहीं करता है। और जिसे वह प्रेम करता हुआ बताता है, वह जैसा आप कह रहे हैं, कोई आवश्यकता, जीवन की, शरीर की, व्यवस्था की--कोई आवश्यकता की पूर्ति उस व्यक्ति से उसकी हो रही है। वह पूर्ति किसी भी तल की हो सकती है-- सेक्स की हो सकती है, धन की हो सकती है, सुरक्षा की हो सकती है। और जिस व्यक्ति के द्वारा उसकी आवश्यकता की पूर्ति हो रही है, जो व्यक्ति उसके जीवन का साधन बन रहा है, वह व्यक्ति उसको प्रेम करता हुआ; और मैं प्रेम करता हूं, ऐसा दिखाता रहेगा। लेकिन, यह प्रेम उसी क्षण टूट जाएगा, जिस क्षण उस व्यक्ति से आवश्यकता-पूर्ति होनी बंद हो जाएगी। यह प्रेम के नाम से एक प्रकार का शोषण है।
निश्चित ही, जिन चीजों से हमारी जरूरतें पूरी होती हैं, उनसे हमारा एक तरह का अटेचमेंट, एक तरह की आसक्ति हो जाएगी। क्योंकि हम उनके बिना नहीं जी सकते हैं, क्योंकि उनके बिना जीना कष्टपूर्ण, अनकंफर्टेबल होगा। तो जिनके बिना हम नहीं जी सकते हैं, उनसे एक राग, एक अटेचमेंट, एक आसक्ति हो जाएगी। वह आसक्ति भी उसी तरह है, जैसे फर्नीचर के बिना कोई घर में न रह सके और फर्नीचर से एक आसक्ति हो जाए--रेडियो के बिना न रह सके, रेडियो से हो जाए; पत्नी के बिना न रह सके, पत्नी से हो जाए, मित्र के बिना न रह सके, मित्र से हो जाए। लेकिन, इस तरह की आसक्ति प्रेम नहीं है। यह सिर्फ इस बात की खबर है कि कुछ चीजें हैं, जिनके बिना रहना मुझे सुखद नहीं है। जिनके होने से ही मैं शांति और सुख से रह सकता हूं। तो उन चीजों के प्रति मेरा एक राग, एक लगाव; उनको बचाने की इच्छा, वह छूट न जाए इसका आग्रह, वह हट न जाए इसका डर, यह सब मेरे मन को घेरे रहेगा।
प्रेम बिल्कुल दूसरी ही बात है, उलपी ही। आसक्ति में हम किसी को अपना साधन बनाते हैं और प्रेम में हम किसी के साधन बन जाते हैं। आसक्ति में कोई मेरी जरूरत पूरी करता है, प्रेम में हम किसी की जरूरतें पूरी करते हैं। प्रेम इस भाषा में सोचता ही नहीं कि मुझे दो, प्रेम इस भाषा में सोचता है कि मुझसे ले लो। प्रेम दान है और आसक्ति मांग है। आसक्ति मांगती है कि यह मुझे दो। अगर नहीं दिया तो टूट जाएगी आसक्ति। प्रेम देना चाहता है, प्रेम मांगता ही नहीं। आसक्ति में शर्त है, कंडीशन है कि तुम मुझे यह दोगे तो मैं यह दूंगा। वह एक सौदा है।
प्रेम सौदा नहीं है। उसमें कोई शर्त नहीं है। तुम मुझे दोगे या नहीं दोगे, यह सवाल ही नहीं है। मैं तुम्हें देना चाहता हूं और देकर आनंदित होता हूं और बात समाप्त हो जाती है। प्रेम दान है इस अर्थ में, और यह प्रेम की जो अवस्था है, किसी एक व्यक्ति से नहीं हो सकती है। ऐसा नहीं हो सकता है कि मैं एक को प्रेम करूं और दूसरे को प्रेम न करूं। अगर मेरा चित्त प्रेमपूर्ण है तो मैं जो भी मेरे निकट आएगा, उसे प्रेम करूंगा। और चित्त अगर प्रेमपूर्ण नहीं है, तो जो भी मेरे निकट आएगा, मैं उसे प्रेम नहीं करूंगा। चित्त जब प्रेमपूर्ण नहीं होता है, तो जो लोग मेरे निकट आते हैं, जिनसे मेरा हित है और मेरी जरूरत पूरी होती है, उन्हें मैं प्रेम करने का ढोंग बताता हूं। और जिनसे मेरी कोई जरूरत पूरी नहीं होती, उनके प्रति मैं रूखा खड़ा रह जाता हूं; या जिनसे मेरी किसी जरूरत को नुकसान पहुंचता है, उनके प्रति मैं दुश्मन हो जाता हूं। लेकिन जब कोई व्यक्ति प्रेम से भरता है, यानी जब प्रेम का फूल खिलता है किसी के जीवन में, तब यह सवाल नहीं रह जाता है कि कौन मेरे पास आता है। यह गौण बात हो गई, इससे कोई अर्थ ही नहीं है, यह असंगत है, इररिलेवेंट है कि कौन आया।
जैसे एक फूल खिला और उसमें सुगंध फैली, फिर कौन रास्ते से गुजरा, यह फूल नहीं पूछता है। जो भी रास्ते से गुजरा, फूल की सुगंध उसे मिलती है। वह काम का है, काम का नहीं है; दुश्मन है, मित्र है, शत्रु है, तटस्थ है; कौन है--यह सवाल ही असंगत है। फूल की सुगंध मिलेगी ही राह से गुजरने वाले को, क्योंकि फूल अब कोई शर्त नहीं बांध रहा है और फूल सुगंध देने में कुछ मांग भी नहीं रहा है। फूल सुगंध दे रहा है क्योंकि फूल सुगंध दे रहा है क्योंकि फूल खिल गया है और फूल का सुगंध देना स्वभाव है। जैसे दीया जल गया है, तो दीये की रोशनी पड़ेगी, कोई निकले पास से, कोई न निकले, तो शून्य में पड़ेगी।

दीया किसी को रोशनी नहीं दे रहा है, दीया रोशन हो गया है, इसलिए अब जो भी पास से निकलता है, उस पर रोशनी पड़ती है।
ऐसा ही मैं प्रेम को एक अवस्था मानता हूं। जब व्यक्ति के जीवन में प्रेम का दीया जलता है या प्रेम का फूल खिलता है, तो जो भी पास आता है, उसे उसका प्रेम मिलता है। कोई ले सके, न ले सके--यह दूसरी बात है। कोई सुगंध लेने में समर्थ है, बीमार है--यह दूसरी बात है। कोई अंधा है, आंख वाला है, प्रकाश देखे, न देखे--यह दूसरी बात है। लेकिन प्रेम से भरे हुए चित्त से प्रेम गिरता ही रहता है, रोशनी की तरह, सुगंध की तरह और जो भी पास आता है, अगर वह लेने में समर्थ है तो उसे मिल ही जाता है। और अगर असमर्थ है तो वह उसकी अपनी बात है, इससे प्रेम देने वाले का कोई संबंध नहीं है। और इसलिए प्रेम एक मुक्ति है, क्योंकि वह किसी से बंधने का प्रश्न ही नहीं उठाता। जो पास आया उसे मिलता है; जो चला गया, वह चला जाता है। जैसे दर्पण के सामने कोई आता है, तस्वीर बनती है; हट जाता है, तस्वीर मिट जाती है। दर्पण फिर खाली हो गया। फिर तस्वीर किसी की बनने के लिए तैयार हो गया।
प्रेम एक अवस्था है, जिसमें सामने जाओगे, प्रेम की सुगंध मिलेगी, रोशनी मिलेगी। हट जाओगे तो भी प्रेम बरसता रहेगा। फिर किसी की प्रतीक्षा बनी रहेगी, फिर कोई बांटता रहेगा, कोई लेता रहेगा। इसलिए प्रेम किसी को रोक नहीं लेना चाहता है कि रुको, क्योंकि मैंने तुम्हें प्रेम किया है। क्योंकि प्रेम तो किसी को भी प्रेम देता रहेगा। आसक्ति रोकती है कि रुको, ठहरो। तुम कहीं चले मत जाना, नहीं तो मैं किससे प्रेम करूंगा? और आसक्ति कहती है कि ऐसा-ऐसा करना, तो ही मैं प्रेम दे सकूंगा, अन्यथा मेरा प्रेम बंद हो जाएगा।
आसक्ति प्रेम नहीं है, सिर्फ प्रेम का धोखा है। वह हिपोक्रेसी है। वह सिर्फ प्रेम का पाखंड है। और यह इसलिए हम आसक्ति को प्रेम मान लेते हैं कि प्रेम का फूल खिलना एक लंबी साधना की बात है; वह जीवन की जरूरतों के आगे की बात है; जहां जीवन की जरूरतों के सवाल नहीं रह जाते हैं। जहां व्यक्ति की चेतना इतने आनंद से भरती है कि आनंद को बांटे बिना कोई रास्ता नहीं रह जाता और आनंद का एक लक्षण है कि आनंद बंटना चाहता है, किसी को साझी बनाना चाहता है। वह यह नहीं पूछता कि तुम कौन हो! तुम आए हो पास तो वह साझी बन जाता है।
तो मेरी दृष्टि में जो आदमी आनंद को उपलब्ध नहीं हुआ है, उस आदमी के जीवन में प्रेम नहीं होता है। जो आदमी अभी दुख में जी रहा है, उसके जीवन में होती है घृणा, क्योंकि दुख घृणा ही बांट सकता है; लेकिन जिनसे हमें काम लेना है, उन्हें घृणा करें तो काम लेना मुश्किल हो जाएगा। इसलिए घृणा आसक्ति का पाखंड करती है। वह कहती है, हम तुम्हें प्रेम करते हैं। जो प्रेम कहीं भीतर ही नहीं है, वह किया कैसे जा सकता है, और जो व्यक्ति आनंद में नहीं है, वह किसी को क्या दे सकता है!
और प्रेम है दान। तो जब आनंद हो, तभी प्रेम दिया जा सकता है। यानी मेरी दृष्टि में आनंद का दीया जले तो प्रेम का प्रकाश चारों तरफ फैलना शुरू होता है। इसलिए प्रेम मेरे लिए वही अर्थ रखता है जो परमात्मा की साधना रखती है। मेरे लिए प्रेम परमात्मा ही है और इसलिए साधारणतः प्रेम मिला हुआ नहीं है, जैसा हम मान लेते हैं कि हर आदमी जो पैदा हो गया है, वह प्रेम करने में समर्थ है। मां-बाप से पैदा हो जाना प्रेम करने की सामर्थ्य नहीं है। एक और अर्थ में जन्म लेना पड़ेगा। एक और अर्थ में आनंद, और सत्य, और समाधि की दिशा में प्रवेश करना पड़ेगा और जब वहां प्रवेश होगा और चेतना बदलेगी, और रूपांतरित होगी, जरूरत के ऊपर उठेगी और इतने आनंद से भर जाएगी, एफ्लुएंस हो जाएगा आनंद, भरपूर हो जाएगा कि ऊपर से ओवरफ्लो होने लगे, तब प्रेम की घटना घटेगी। उसके पहले जब कि हमारे पात्र खुद खाली हैं, प्रेम की घटना नहीं घट सकती। और इसीलिए आसक्ति वाला प्रेम करने का दिखावा करता है। मूलतः प्रत्येक प्रेम मांगता है। प्रत्येक एक दूसरे से प्रेम मांग रहा है कि मुझे प्रेम दो। और प्रेम कोई मांग नहीं सकता, मिल सकता है। और मांगा कि मिलना मुश्किल हो जाता है। और न ही कोई, जिसके पास प्रेम नहीं है, किसी को प्रेम दे सकता है। जो हमारे पास है, वही हम दे सकते हैं। साधारणतः

हमारे पास दुख है, हम दुख ही दे सकते हैं और इसलिए बड़े मजे की बात है कि हम शत्रु को भी दुख देते हैं और मित्र को भी। शत्रु के सामने हम सीधे खड़े हो जाते हैं, जो हम हैं और मित्र के सामने हम चेहरा बदल लेते हैं, एक वस्त्र पहन लेते हैं प्रेम का और खड़े हो जाते हैं। लेकिन फिर भी वस्त्र के भीतर हम वही हैं, जो हैं।
तो प्रेम की इनमें सारी बातचीत है--आसक्तियों के, राग के इन सारे वस्त्रों के भीतर हमारी घृणा मौजूद होती है। इसलिए जिसे हम एक दिन प्रेम से गले लगाते मालूम पड़ते हैं, दूसरे दिन उसका गला हमारे शिकंजे में कस जाता है और इसलिए हमारी सारी प्रेम की बातचीत गहरे में बंधन बन जाती है। दूसरे को बांधती है, रोकती है, कारागृह में डालती है। प्रेम कैसे किसी को बांधेगा और कारागृह में डालेगा?
प्रेम तो मुक्त करेगा, स्वतंत्र करेगा, दूसरे व्यक्ति को व्यक्ति बनने देगा। और आसक्ति दूसरे व्यक्ति को वस्तु बना लेती है और इतना पजेस करती है कि वह नहीं मानती कि दूसरे के पास कोई आत्मा है। तो मैं हां कहूं तो हां, मैं ना कहूं तो ना, दिन कहूं तो दिन, रात कहूं तो रात! आसक्ति कहती है, मैं हूं तो मैं ही हूं, तुम मिट जाओ। तो आसक्ति व्यक्ति को वस्तु बना लेती है। पतियों ने पत्नियों को वस्तुएं बना रखा है, पत्नियों ने पतियों को। सब प्रेमियों ने सब प्रेमियों को वस्तु बना रखा है और जहां वस्तु थोड़ा हलचल दिखाती है, स्वतंत्रता दिखाती है, वहीं आसक्ति दुश्मनी और कष्ट में पड़ जाती है।
प्रेम है चित्त की अवस्था, संबंध नहीं। आसक्ति है एक संबंध। और जहां संबंध है वहां जरूरत है; क्योंकि जरूरत के लिए ही हम संबंधित होते हैं। प्रेम भी संबंधित होगा, लेकिन वह संबंध नहीं है। वहां जैसा मैंने कहा, दीये की रोशनी गिर रही है, आप निकलेंगे तो आप पर रोशनी पड़ेगी, संबंधित होगी; लेकिन दीये के मन में संबंध की कोई आकांक्षा नहीं है। आप चले गए, बात विदा हो गई। संबंध का कोई आग्रह भी नहीं।
इतना ही सरल है प्रेम। और प्रेम से ज्यादा सरल इनोसेंट निर्दोष कुछ
भी नहीं है। आसक्ति से ज्यादा कठिन, जटिल और कनिंग, चालाक कुछ भी नहीं है। लेकिन हमने आसक्ति को ही प्रेम समझा हुआ है। और इसलिए सारी भूल निरंतर भूल होती चली जाती है। आसक्ति सारे जीवन को जहर की तरह घेर लेती है, खुद को भी और जिससे हम बंधते हैं उसको भी। और धीरे-धीरे आदमी--आसक्ति के तल पर जीने वाला आदमी, स्वयं को जान ही नहीं पाता। संबंधों में ही जीता है, संबंध को ही जानता है। वह मैं कौन हूं जो संबंधित हो रहा है, उसका उसे कोई पता नहीं चलता!
इसलिए प्रेम की यात्रा पर जो भी निकलना चाहे, वह प्रेम की यात्रा प्रेमी की या प्रेमिका की तलाश से नहीं पूरी होने वाली है। प्रेम की यात्रा पर जो निकलना चाहे, उसे पहले तो स्वयं की खोज करनी पड़ती है, मैं कौन हूं? और मुझे जिस दिन पूरा पता चल जाए कि मैं कौन हूं, उस दिन मैं संबंधों का आकांक्षी नहीं रह जाता, क्योंकि मैं अपने में पूरा हो जाता हूं। उस दिन कोई कमी नहीं रह जाती और उस तल पर मेरी कोई दूसरे से पूरी होने वाली जरूरत नहीं रह जाती। उस तल पर मैं आप्तकाम, सेल्फ-फुलफिल्ड, अपने भीतर पूरा हो जाता हूं। उस पूर्णता से ही आनंद उपलब्ध होता है।
अपूर्णता दुख है और अपूर्णता में हमें दूसरे से बंधना पड़ता है। क्योंकि दूसरा हमें शायद पूरा कर सके, इसी आशा में हम बंधते हैं। लेकिन कोई किसी को पूरा नहीं कर सकता है, क्योंकि गहरे में हम पूरे हैं ही। इसका हमें एक दफे पता चल जाए कि मैं पूर्ण हूं तो आनंद के झरने फूटने शुरू हो जाते हैं। फिर मैं प्रेम दे सकता हूं, फिर मैं प्रेम कर सकता हूं बिना बंधे, बिना बांधे। फिर बिना किसी को गुलाम बनाए, बिना किसी को कारागृह में डाले, बिना किसी को क्षण भर रोके, मेरा प्रेम बेशर्त--अनकंडीशनल गिविंग, दान हो सकता है। और उस तल पर तो प्रेम है इसलिए प्रेम मेरे लिए परमात्मा का ही स्वरूप है। और उसका हमें कोई भी पता नहीं चलता, क्योंकि हम आसक्ति को ही प्रेम समझ लेते हैं।

आसक्ति प्रेम का धोखा है, झूठा सिक्का है। जिसे शक होता है प्रेम होने
का और जिसने इस झूठे सिक्के को सच्चा समझ लिया वह कभी प्रेम की तलाश पर, यात्रा पर ही नहीं जाता है।
प्रेम की खोज उतनी ही गहरी है, जितनी प्रभु की। और प्रेम की साधना उतनी ही गहरी है, जितनी परमात्मा की। क्योंकि प्रेम को कोई पा ही नहीं सकता, जब तक स्वयं को न पा ले। प्रेम इस अर्थ में आनंद का अनुषंगी है। आनंद जहां घटित होगा, प्रेम उसकी परिधि है, प्रेम उसके चारों तरफ बंटना शुरू हो जाता है।

बट व्हेन आचार्य जी, वि लिव इन दि सोसायटी, वि हैव टु लिव इन सरटेन रिलेशन। वॉट मेज.र्ज यू सुजेस्ट सो दैट वि लिव इन दि सोसायटी बट फुल, ए.ज यू सुजेस्ट दि कंडीशन ऑफ लव-इन दि स्टेट ऑफ लव?

निश्चित ही समाज में हमें जीना हो तो संबंधों में हमें जीना होगा। लेकिन संबंध हमारी किसी मानसिक कमी को, किसी आध्यत्मिक अभाव को पूरा न करने वाले हों। हम तो अपने भीतर पूरे हों, फिर संबंध हों। हम तो अपने भीतर पूर्ण हों और फिर संबंध हों, तो ये संबंध कभी भी हमारी आध्यात्मिक गुलामी अपने लिए या दूसरे के लिए निर्धारित नहीं करेंगे; ये एक स्वतंत्रता में खिले हुए फूल होंगे।
दो फूल पास-पास खिलते हैं, वे भी संबंधित हैं। दोनों को एक-दूसरे की सुगंध मिलती है, लेकिन कोई किसी पर निर्भर नहीं है, कोई किसी से बंधा नहीं है और किसी की कोई मांग नहीं है। आकाश में इतने तारे रात को प्रकाशित होते हैं। सब तारे प्रकाश फेंकते हैं। सबका प्रकाश एक दूसरे से मिलता और संबंधित होता है, लेकिन कोई तारा किसी के प्रकाश से बंधा हुआ नहीं है। सबका अपना प्रकाश है। उनके व्यक्तित्व में कोई कमी नहीं पड़ती है इस संबंधित हो जाने से। एक कमरे में पचास दीये जलते हैं, तो उनकी रोशनी मिल जाती है सब दीयों की, एक हो जाती है। रोशनी में कोई फर्क नहीं रह जाता; लेकिन कोई दीया किसी दूसरे दीये पर निर्भर नहीं है। दीये स्वयं हैं।
तो मेरा कहना यह है कि प्रेम में हमारा होना हो, फिर हम संबंधित होंगे। लेकिन ये संबंध बिल्कुल ही दूसरे डायमेंशन, दूसरे आयाम में होगा; जहां दूसरे पर हम निर्भर नहीं, और न दूसरे को हम अपने पर निर्भर करते हैं; जहां एक-एक स्वतंत्र और मुक्त है, फिर भी हम मिलते हैं। इस मिलन का
आनंद ही और है, क्योंकि इस मिलन में बांधने का, बंधने का, बंधन का, बेड़ियों का, जंजीरों का कहीं कोई अस्तित्व नहीं, कोई झनकार नहीं। यहां एक दूसरे को हम मिल कर भी हम मुक्त ही रखते हैं। यहां एक दूसरे से मिलते हैं, फिर भी स्वयं होते हैं। वह जो हमारा ऑथेंटिक बीइंग है, वह कहीं खोता नहीं। न हम किसी से अपने को एक मानते हैं, न हम किसी को अपने साथ एक करने का आग्रह रखते हैं।
तब हम तादात्म्य, आइडेंटिटी पर जोर नहीं देते। प्रत्येक प्रत्येक होता है। सब अपने में जीते हैं। फिर हम संबंधित होते हैं। तब यह संबंध बिल्कुल ही बेशर्त है, तब यह सिर्फ दान का ही संबंध है और इसमें एक अनुग्रह, ग्रेटिट्यूट है। हम पास आते हैं, एक-दूसरे का आनंद एक-दूसरे पर पड़ेगा, मिलेंगे--लेकिन विदा हो जाएंगे, कल अपने-अपने रास्ते पर। पीछे कोई भी दंश, कोई भी घाव नहीं छूट जाएगा।
मैं जिस प्रेम की बात कर रहा हूं। निश्चित ही सवाल उठता है कि समाज में तो हमें संबंधित होना है। समाज का अर्थ ही संबंधित होना है। समाज है, अर्थात संबंध है। लेकिन अभी संबंध ऐसे लोगों के बीच हैं, जो स्वयं हैं ही नहीं। जो भीतर से एब्सेंट हैं, अनुपस्थित हैं। तो अभी सारे संबंध चेहरों के हैं, भीतर तो कोई संबंधित नहीं होता, क्योंकि भीतर हम हैं ही नहीं, जो संबंधित हो सकें। इसलिए संबंध सब झूठे हैं और संबंध सब, जरूरतों से ज्यादा नहीं हैं। क्योंकि जिससे हमारी जरूरत पूरी होती है, संबंधित होते हैं; जरूरत टूटी, असंबंधित हो जाते हैं।

और इसका मतलब यह हुआ कि जब हम किसी से संबंधित हो रहे हैं, तो हम उससे संबंधित नहीं हो रहे हैं। हमारी जरूरत को पूरा करने वाले एक साधन से संबंधित हो रहे हैं। कोई बीच में एक और ही कारण है, संबंध का। इसलिए हमारे सारे संबंध, ठीक से कहें तो व्यापारिक हैं, कमर्शियल हैं--मित्रता भी, प्रेम भी, उसमें भी व्यापार खड़ा है। उसमें भी हमें उस व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं है। मूल्य उतना ही है जितना वह मेरे लिए साधन बन जाए, मीन्.ज बन जाए, मेरे किसी काम में उपयोगी हो जाए; मेरी जिंदगी की दौड़ में हाथ बंटा ले--बस उतना ही मेरा संबंध है। और वह भी मेरे पास इसीलिए आया है कि मैं उसके लिए संबंध देकर एक साधन बन जाऊं।
हम एक दूसरे को साधन बना रहे हैं और मनुष्य के जीवन में इससे बड़ी दुख
की बात नहीं कि किसी मनुष्य को साधन की तरह, मीन्स की तरह व्यवहार करना पड़े; क्योंकि जिसे हम साधन बनाते हैं, वह वस्तु हो गया। एक-एक व्यक्ति साध्य है, एंड है, मीन्स नहीं। और तब हमें यह ध्यान में लेना है कि मैं किसी व्यक्ति को साधन न बनाऊं, पर यह तभी संभव होगा, जब मेरे भीतर प्रेम का उदय होगा। तब एक-एक व्यक्ति अपना-अपना साध्य होगा। मैं उसके लिए सहायक बन सकता हूं, वह मेरे लिए सहायक बन सकता है, लेकिन साधन बनाने की आकांक्षा कहीं भी नहीं है। यह सहज घटना है, तो साथ खड़े होंगे और सहयोगी हो जाएंगे। अभी हम सहयोगी हो ही नहीं सकते, अभी हम मालिक और गुलाम ही हो सकते हैं।
सहयोग की संभावना तभी है, जब दो व्यक्तियों का जन्म हो। अभी जो समाज है, उसमें प्रेम करने वाले व्यक्ति को भी बड़े कष्ट झेलने पड़ेंगे, क्योंकि वह तो सभी को साध्य मानेगा। और सभी उसको साधन मानेंगे। उसे बड़े कष्टों से गुजरना पड़ेगा। उस आदमी को बड़ी मिस-अंडरस्टेंडिंग झेलनी पड़ेगी। उस आदमी को कोई भी नहीं समझ सकेगा। क्योंकि वह आदमी जिस भाषा में हम सोचते हैं और जीते हैं, उस भाषा का आदमी नहीं है। इसलिए इस जगत में अब तक प्रेम करने वाले व्यक्ति को बहुत कष्ट झेलने पड़े। लेकिन प्रेम का आनंद इतना ज्यादा है कि इन कष्टों का कोई मूल्य ही नहीं है। वह इन्हें झेल लेता है।
प्रेम का आनंद इतना है, उसके पास आनंद की धारा इतनी बड़ी है कि ये सारे कष्ट कहां खो जाते हैं, यह उसे पता नहीं चलता। लेकिन अगर हम बाहर की तरफ से देखें तो प्रेम करने वाले व्यक्ति को मुसीबत में पड़ जाना स्वाभाविक है, क्योंकि वह प्रत्येक को साध्य मान कर चलेगा, जब कि जो भी उसके निकट आएंगे, उसको साधन मानेंगे। वह लोगों को प्रेम देगा, क्योंकि प्रेम उसके भीतर है। वह संबंधित हुए बिना प्रेम देगा, हां।

डु यू सजेस्ट आचार्य जी, एनी एज्यूकेशन व्हिच कैन स्टाइमुलेट दि माइंड ऑफ दि पिपल दैट दे कैन गिव लव ऑर दे मेय लिव इन दि स्टेट ऑफ लव?

जरूर, निश्चित ही! व्यक्ति को जिस ढंग से हमने अब तक शिक्षित और संस्कृत किया है, जिस तरह की सभ्यता सिखाई है, वह सारी की सारी सभ्यता, सारी संस्कृति, सारी शिक्षा, उसे सिर्फ चालाक बनाती है, उसे कनिंग बनाती है। चालाक इस अर्थों में कि वह शिक्षित आदमी दूसरे लोगों को कैसे साधन बना सके। और वही आदमी शिक्षित है, जो अधिकतम लोगों को साधन बना ले! और वह आदमी अशिक्षित है, गंवार है, बेपढ़ा-लिखा है, जो बेचारा किसी को साधन न बना पाए। तो इस दुनिया में जो आदमी जितना अधिक लोगों को साधन बना लेता है, उतना बड़ा आदमी हो जाता है। सफल, उतना बड़ा राजनीतिक, उतने बड़े पदों पर, क्योंकि वह अधिक लोगों को अपना साधन बना लेता है; और उनके ऊपर, उनकी छाती पर, उनके सिर पर सवार हो जाता है।
अब तक की सारी शिक्षा चालाकी की शिक्षा है और अब तक की सारी शिक्षा महत्वाकांक्षा की, एंबीशन की शिक्षा है। अब यह ध्यान रहे कि महत्वाकांक्षा से भरा हुआ आदमी कभी भी प्रेमपूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि जो आदमी एंबीशस है, महत्वाकांक्षी है, वह दूसरे को साधन बना कर अपनी महत्वाकांक्षा को पूरा करना चाहेगा। प्रेम करने वाला महत्वाकांक्षी हो ही नहीं सकता। क्योंकि इस जगत में वह किसी को भी साधन नहीं बना सकता। हमारा तो मजा इतना गहरा है कि हमारा धर्म, हमारी संस्कृति आदमियों को तो

दूर, परमात्मा तक को साधन बनाती है! एक आदमी मंदिर में खड़ा है, भगवान से कह रहा है कि मेरे लड़के को नौकरी दिला देना तो मैं एक नारियल चढ़ाऊंगा। वह भगवान को भी अपनी चाकरी में, नौकरी में लगा रहा है। और साथ में प्रलोभन, और शर्त भी बांध रहा है कि तब वह एक नारियल चढ़ाएगा, जब उसके लड़के को नौकरी मिल जाएगी!
यह जो हमारी... इस भांति से सारा धर्म, सारी शिक्षा हमें अब तक सिखा ही यही रही है कि तुम प्रेम मत करो, क्योंकि प्रेम करने से असफल हो सकते हो। सफल होना है तो सावधान रहना है, और सफल होना है तो उसी सीमा तक प्रेम का व्यवहार और अभिनय करना है, जिस सीमा तक तुम एक आदमी का शोषण कर सको।
तो तथाकथित शिक्षा ने अब तक मनुष्य को प्रेमपूर्ण होने से रोका है।
इस बात की बहुत संभावना है कि अशिक्षित, आदिवासी, प्राचीन खो गई जंगलों की समाजें, शायद हमसे ज्यादा प्रेमपूर्ण रही हैं। लेकिन जितनी शिक्षा, जितनी सभ्यता और जितनी संस्कृति बढ़ी है, उतनी मनुष्य की चालाकी, महत्वाकांक्षा, सफल होने की वासना तीव्र हुई है। इस सब तीव्रता ने प्रेम की संभावना को क्षीण किया है। तो निश्चित ही इससे उलटे तरह की शिक्षा हो सकती है, होनी चाहिए। उस शिक्षा में हम व्यक्ति को महत्वाकांक्षा नहीं सिखाएंगे, क्योंकि महत्वाकांक्षी व्यक्ति प्रेम कर ही नहीं सकता। महत्वाकांक्षी घृणा ही करता है और महत्वाकांक्षी अपने को केंद्र मानता है, और प्रत्येक को साधन मानता है। और कोई व्यक्ति को भी वह इतना मूल्य नहीं देता कि उसे साध्य माने। अगर तुम उसके लिए सीढ़ी बना सकते हो तो ठीक है, अन्यथा वह लात मार देगा। और सीढ़ी पर चढ़ जाने के बाद भी लात मार देगा, कि इस सीढ़ी से कोई और न चढ़ जाए।
तो महत्वाकांक्षा गहरे में हिंसा है। असल में एंबीशन ही वाइलेंस है
और जो आदमी महत्वाकांक्षी है, वह कभी अहिंसक नहीं हो सकता। और प्रेम तो अहिंसा है, प्रेम तो टोटल नॉन-वाइलेंट होने की बात है--जहां मन पूर्ण रूप से अहिंसक हो जाता, हो गया, जहां वह किसी को दुख नहीं देना चाहता।
तो हम एक ऐसी शिक्षा व्यवस्थित जरूर कर सकते हैं, जहां महत्वाकांक्षा
न सिखाई जाती हो, जहां बजाय महत्वाकांक्षा के हम व्यक्ति को व्यक्तित्व देना सिखाते हों। उसे उन साधनाओं में से गुजारते हों, जहां उसके भीतर आनंद के झरने प्रकट होने लगें--ध्यान से, योग से। हम उसे उन प्रक्रियाओं में ले जाते हों, जहां से वह अपने भीतर आनंद के स्रोत खोज ले और हम धीरे-धीरे, धीरे-धीरे उसे इतने गैर-महत्वाकांक्षी, नॉन-एंबीशस माइंड को उसके भीतर पैदा करते हों कि वह दूसरे को साधन बनाने का खयाल ही छोड़ दे। और जब वह अपने भीतर आनंद की जरा सी भी किरण पा ले, तो फिर उसके जीवन में प्रेम शुरू होता है; फिर वह प्रेम करेगा, प्रेम देगा और वह प्रेम बेशर्त होगा। और ऐसे व्यक्ति पैदा न हो सके, तो दुनिया से युद्ध नहीं मिटेंगे। घृणा नहीं मिटेगी, हिंसा नहीं मिटेगी। यह जो अब तक मनुष्य के युद्धों का, घृणा का, हिंसा का इतिहास है, यह इस बात का सबूत है कि हमारी शिक्षा मनुष्य को युद्ध, घृणा और हिंसा सिखा रही है। वह उसे प्रेम नहीं सिखा रही है।

इज़ आचार्य जी, एन एंबीशियस माइंड, माइंड ऑफ फियर एण्ड सफरिंग फ्राम इनफिरियारिटी काम्पलेक्स?

बिल्कुल ही! महत्वाकांक्षी चित्त भय से भरा हुआ चित्त है। और हीनता
भी उसके भीतर है। इनफिरिआरिटी भी उसके भीतर है। तो जिस शिक्षा की मैं बात कर रहा हूं, वह प्रत्येक व्यक्ति के भीतर से हीनता का भाव मिटाने की कोशिश करेगी। अभी वह प्रत्येक व्यक्ति को हीनता का भाव दबाने और सुपीरिआरिटी काम्पलेक्स को पकड़ने की शिक्षा है। वह प्रत्येक व्यक्ति को सिखाती है कि तुम हीनता का भाव भूल जाओ और तुम भी कुछ हो तो पद पर पहुंचो, धन इकट्ठा करो, तुम सिद्ध कर दो कि तुम भी कुछ हो। तो एक उलटी स्थिति बनती है, इनफिरिआरिटी काम्पलेक्स भीतर बना रहता है और सुपीरिआरिटी की दौड़ शुरू हो जाती है। श्रेष्ठता के ऊपर से दौड़ने लगता है आदमी और भीतर हीन बना रहता है।

वास्तविक शिक्षा, जिसे प्रेम की शिक्षा कहें, वह व्यक्ति के भीतर श्रेष्ठता का भाव पैदा नहीं करेगी; सिर्फ हीनता का भाव कैसे विसर्जित हो, यह सिखाएगी। अभी तो हम हीनता का भाव पैदा करवाते हैं। क्योंकि अगर हम पैदा न करवाएं तो श्रेष्ठता की दौड़ शुरू नहीं होती। और श्रेष्ठता की दौड़ न शुरू हो तो महत्वाकांक्षी आदमी बनेगा कैसे? अभी तो हम कहते हैं कि अ नाम का लड़का ब नाम के लड़के से कमजोर है, बुद्धिहीन है। अ नाम के लड़के को हम कहते हैं कि तुम ब से आगे बढ़। देख, तू ब से कितना पीछे है, तू ब के सामने कुछ भी नहीं है। ब कितना सर्टिफिकेट ला रहा है, कितने गोल्ड मेडल ला रहा है; तू तो कुछ भी नहीं है। तो हम कंपेरीजन से, तुलना करके प्रत्येक बच्चे में हीनता का भाव पैदा करवाते हैं और डर पैदा करवाते हैं कि अगर तू हीन रह गया, पीछे रह गया तो तू ना-कुछ, तू नोबडी हो जाएगा, तू फिर कभी नहीं कुछ हो पाएगा। तो हम एक फीवर, एक ज्वर पैदा करते हैं; बुखार, जिसमें कि वह दौड़े, हीन होने के डर से घबड़ा जाए और महत्वाकांक्षी बने।
जिस शिक्षा की मैं बात कर रहा हूं, वह कंपेरिजन नहीं सिखाएगी। वह शिक्षा यह नहीं कहेगी कि तुम अ से पीछे हो। वह शिक्षा यह कहेगी कि तुम तुम हो, और तुम्हारे जैसा आदमी कोई भी न कभी हुआ है, न होगा। वह यह बात सिखाएगी कि प्रत्येक व्यक्ति एक बेजोड़, अद्वितीय, यूनिक व्यक्ति है--इसकी तुलना ही असंभव है। यह जैसा है बस, ऐसा कभी कोई हुआ ही नहीं, न कभी हो सकता है। इसलिए इसकी तुलना करना कि तुम आगे हो किससे, पीछे हो किससे, बेमानी है। तुलना तो तब हो सकती है, जब एक जैसे लोग हों।
प्रेम की अवस्था पैदा हो सके, इसके लिए हीनता को दबाना नहीं है--न हीनता को पैदा करना है, न श्रेष्ठता की ज्वर-ग्रस्त दौड़ पैदा करनी है। हीनता को पोंछ डालना है। हीनता अज्ञान से पैदा हो गई है, नासमझी से पैदा हो गई है। हीन कोई है ही नहीं। न कोई महान है, न कोई हीन है, क्योंकि दो जैसे एक व्यक्ति हैं ही नहीं। एक-एक व्यक्ति अकेला है। इसलिए तुलना का, कंपेरिजन का उपाय नहीं है। अब तक की सारी शिक्षा कंपेरिजन पर, तुलना पर खड़ी है। तुलना हीनता पैदा करेगी, श्रेष्ठता पैदा करेगी। तुलना डर पैदा करेगी, आगे दौड़ने, पीछे दौड़ने का भाव पैदा करेगी। तुलना से बचना होगा। तुलना से मुक्त होना पड़ेगा। तो जिस शिक्षा की मैं बात कर रहा हूं वहां तुलना के लिए कोई गुंजाइश नहीं होगी। तुलना नहीं होगी।
हम एक-एक व्यक्ति को इस भाव-दशा में, ऐसे वातावरण में, ऐसे शिक्षकों, ऐसे मित्रों में, ऐसे स्कूल में पालने की कोशिश करेंगे, जहां भूल कर भी कभी कोई तुलना न करता हो। एक-एक व्यक्ति जैसा है, वैसा स्वीकृत है। और वह जैसा है, उसको हम कैसे विकासमान करें, उसके लिए भूमि, वातावरण तैयार किया जाता है। जहां शिक्षक सहयोगी है, हम जो हैं, वही बनाने में; जहां शिक्षक इसके लिए चेष्टारत नहीं हैं कि हम जो नहीं हैं, कोई और जैसे बनें।
जहां प्रत्येक व्यक्ति को, जो वह हो सकता है, जो उसकी पोटेंशियलिटी है, जो उसके भीतर छिपा है--उसको प्रकट करने के लिए सहयोग दिया जा रहा है। और कोई तुलना का भाव नहीं पैदा किया जा रहा है। तब हीनता मिटेगी और तब श्रेष्ठता की दौड़ भी मिट जाएगी और तब महत्वाकांक्षा नहीं रहेगी। और ऐसे चित्त में जिसमें हीनता नहीं है, श्रेष्ठता नहीं है, तुलना नहीं है, प्रेम का उदभव हो सकता है।

"शिक्षाः साध्य और साधन" विषय पर प्रश्नोत्तर-शृंखला-3

शिक्षा में क्रांति
सत्रहवां प्रवचन

जटिल धारणायें नहीं, सरल जीवंत अनुभव

ए.ज आई हैव अंडरस्टुड योर... सेक्स दैट यू वांट दैट एवरी इंडिविजुअल शुड बी अवेअर ऑफ एण्ड शुड अंडरस्टैंड दि लाइफ एट लार्ज। बट टुडे दि सोसाइटी व्हिच वी हैव इज़ वेरी कांप्लिकेटेड। अवर इनवायरनमेंट्स आर सो कांप्लिकेटेड दैट दे डु नॉट अलाउ अस टु लिव फ्री लाइफ, टु लव दि पीपल आर टु लिव इन दि स्टेट व्हेअर वी शुड लिव वेरी क्लीन एण्ड स्मूथ लाइफ।

समाज ऐसा है, इस सत्य को स्वीकार करके ही कुछ किया जा सकता है। समाज
ऐसा है, लेकिन अगर किसी व्यक्ति को यह दिखाई पड़ जाए कि एक सरल, प्रेमपूर्ण, आनंदपूर्ण, स्वच्छ जीवन के अतिरिक्त कोई जीवन ही नहीं है, यदि एक व्यक्ति को यह दिखाई पड़ जाए कि प्रेमपूर्ण हुए बिना जीवन के आनंद से मैं वंचित ही रह जाऊंगा, अगर एक व्यक्ति को यह दिखाई पड़ जाए कि सरल हुए बिना सत्य को पाने, पहुंचने का कोई मार्ग ही नहीं है तो फिर इसकी फिकर वह छोड़ देगा कि समाज कैसा है! क्योंकि समाज उसे दे क्या सकता है, दे क्या रहा है? एक बार उसे यह दिखाई पड़ जाए, कि किसी और दिशा में, जो समाज देता ही नहीं बल्कि बाधा बनता है! मेरे जीवन के आनंदों का द्वार है, तो वह व्यक्ति उसके सामने चलना शुरू कर देगा।
निश्चित ही समाज का जीवन, समाज की व्यवस्था बाधा डालेगी। लेकिन ये बाधाएं उस व्यक्ति के लिए बाधाएं नहीं होंगी, बल्कि चुनौतियां बन जाएंगी और इन बाधाओं को वह सीढ़ियां बनाने की कोशिश करेगा। ये रास्ते में डाले गए पत्थर उसे रोकेंगे नहीं, इन पत्थरों पर चढ़ कर वह और ऊंचाइयां पाना शुरू कर देगा। ये तो हमें बाधाएं तभी तक मालूम होती हैं, जब हमारे मन में ही समाज की इस व्यवस्था के ठीक होने का गहरा भाव पड़ा रहता है। और हमारे मन में ही कोई अन्य आयाम, कोई दूसरे डायमेंशन, में भी जीवन की खोज हो सकती है, इसका कोई किरण भी नहीं हो, तभी हमें ये सब बाधाएं बाधाएं मालूम पड़ती हैं। सच में ये बाधाएं नहीं हैं, बल्कि ये भी हम बाधाएं कह कर सिर्फ रुक जाना चाहते हैं। जाने का हमारे सामने कोई सवाल नहीं है तो इसलिए हम इन बाधाओं को बाधाएं मान कर रुक जाते हैं।
एक बार उस तरफ की थोड़ी सी झलक मिलनी शुरू हो जाए तो दुनिया में कोई किसी को रोकता नहीं है। बल्कि उलटी घटना घटनी शुरू होती है, आनंद की, सत्य की दिशा में गया व्यक्ति इतना सबल हो जाता है कि समाज उसे रोक ही नहीं पाता, बल्कि वही व्यक्ति बहुत से समाज के बहुत से अंगों को अपने साथ ले जाने का सामर्थ्य प्रकट करने लगता है। उसे तो कोई रोक ही नहीं पाता, बल्कि वह भी बहुत से रुके लोगों को अपने साथ ले जाने की धुन और प्यास और दौड़ पैदा कर देता है।
हम कमजोर हैं तभी तक, जब तक हम हैं ही नहीं, तब तक हम कमजोर हैं। यानी अगर ठीक से समझें तो समाज के समक्ष हमारी कमजोरी हमारे व्यक्तित्व का सोया हुआ होना है, वह एब्सेंस है, हमारी। हमारी अनुपस्थिति ही हमारी कमजोरी है, हम है ही नहीं! तब तक हम कमजोर हैं। जिस दिन हम होना शुरू हो जाते हैं, उस दिन समाज बिल्कुल ही कमजोर है क्योंकि तब हमारे पास सत्य होता है और समाज के पास सिवाय सपने के कुछ भी नहीं। तब हमारे पास प्रेम होता है और समाज के पास प्रेम के नाम पर झूठी आसक्तियों के सिवाय कुछ भी नहीं। और तब हमारे पास प्रकाश होता है और समाज के पास सिवाय अंधकार के कुछ भी नहीं।
तो हमें समाज से हारने का कोई कारण ही नहीं है। समाज से हम हारते हैं, क्योंकि हम हैं ही नहीं। जिस दिन हम होना शुरू हो जाते हैं, समाज की हार सुनिश्चित है। और इतने व्यक्ति पैदा हो जाएं कि समाज जगह-जगह से टूट जाए। ऐसी शिक्षा पैदा हो जाए कि समाज को हम बहुत बुनियाद से उखाड़ना शुरू कर दें तो यह समाज जिसे हम बहुत मजबूत पाते हैं, यह समाज ऐसे बह जाएगा, यह ऐसे वाष्पीभूत हो जाएगा, एवोपरेट हो जाएगा जैसे सुबह सूरज निकलता है और ओस के

कण सूरज की रोशनी में विदा हो जाते हैं, उड़ जाते हैं, उनका पता भी नहीं चलता, कहां चले गए वे! थे रात भर अंधेरे में, बहुत मजबूत थे, कोई मिटा भी नहीं सकता था, सोच भी नहीं सकते थे कि मिट जाएंगे। सुबह की रोशनी में विदा हो जाते हैं।
प्रेम को जन्म देने वाली शिक्षा तो बड़े पैमाने पर समाज के ढांचे को तोड़ सकती है। लेकिन एक व्यक्ति भी प्रेम की स्थिति में जाने वाला भी, समाज के ढांचे को झकझोर जाता है।

शुड आई मीन आचार्य जी, दैट दि नॉन-एक्सेप्टेंस ऑफ दि चैलेंज इज़ वन काइंड ऑफ एस्केपिज्म?

हां, चुनौतियों को स्वीकार न करना एक प्रकार का पलायन और एस्केप है।
और जब तक हम चुनौतियों को स्वीकार नहीं करते, तब तक हमारा जन्म नहीं हो सकता। जिस दूसरे जन्म की मैं बात कर रहा हूं, वह जन्म तो तभी होगा जब हम समस्त चुनौतियां को स्वीकार कर लेते हैं। स्वीकार करते हैं, चुनौती को लड़ते हैं, सामना करते हैं, उसी सामना करने में हमारे भीतर आत्मा का जन्म होता है। एस्केपिस्ट के पास कभी आत्मा पैदा होने वाली नहीं है क्योंकि वह उन मौकों से ही भाग गया जहां आत्मा पैदा होती है।
जैसे एक बीज है, उसे माली जमीन में गाड़ता था। वह डर गया कि जमीन के अंधेरे में मैं नहीं जाता हूं, मैं तो ठीक था माली के घर में कोने में रखा हुआ। मैं जमीन में, अंधेरे में नहीं जाता। एक चुनौती मिलती थी अंधेरे में उतरने की, वह बीज ने इनकार कर दिया। उस बीज में अंकुर पैदा नहीं होगा। या समझ लें कि बीज डाल दिया गया जमीन में, अब बीज से अंकुर फूटने का सवाल है, लेकिन अंकुर डरता है, बीज के भीतर सुरक्षित है, बाहर निकलेगा, खतरा है। डरता है खतरे से, फिर भाग जाता है। तो फिर अंकुर पैदा नहीं होगा।
जिंदगी प्रतिपल चुनौती है और जितने हम जीवन के गहरे अनुभव में उतरना चाहेंगे उतनी बड़ी चुनौतियां खड़ी होंगी, और हर बड़ी चुनौती को हमें आनंद से सामना करना होगा। क्योंकि हम सामना करके उसके पार हो सकेंगे, उससे ऊपर उठ सकेंगे। सब तरफ का पलायनवाद मनुष्य में आत्मा को पैदा नहीं होने देता। इसलिए जो देश, जो समाज जितना एस्केपिस्ट है, उतना आत्महीन हो जाता है। और मजे की बात यह है कि एस्केपिस्ट भी आत्मा की बातें कर सकता है, यानी आत्मा के नाम और ओढ़ने में भी एस्केपिज्म हो सकता है। जैसे एक आदमी जिंदगी छोड़ कर भाग रहा है और वह कहता है कि जिंदगी तो मैं इसलिए छोड़ कर भागता हूं कि मुझे तो परमात्मा खोजना है। अब उसे पता ही नहीं कि जिंदगी की चुनौती और संघर्ष में ही परमात्मा का अनुभव होने वाला था। अब वह परमात्मा के नाम से एक नई एस्केप खोज रहा है सिर्फ, और जिंदगी छोड़ कर भाग जाएगा, परमात्मा कभी मिलने वाला नहीं है। क्योंकि परमात्मा अगर कहीं था, तो जिंदगी के सारे संघर्षों के मध्य था। और उन संघर्षों को जो पार करता वह शायद उस गहराई तक पहुंच जाता, उस ऊंचाई तक, जहां परमात्मा को जान लेता है।
तो कठिनाई आदमी के साथ यह है कि वह अपने पलायनों को भी ऐसे नाम दे सकता
है जिनसे उसका कोई संबंध नहीं है। अपने पलायन को भी रैशनलाइज कर सकता है, उसको भी बुद्धियुक्त ठहरा सकता है। लेकिन पलायन चाहे बुद्धियुक्त ठहराया जाए, या चाहे न ठहराया जाए, जब भी हम जिंदगी के किसी सवाल से भागते हैं तब हम उस सवाल से ऊपर कभी नहीं उठ सकेंगे, और वह सवाल खड़ा ही रहेगा वहीं, जहां से हम कहीं भी भाग जाएं। और वह सवाल हमारा पीछा भी करेगा।
जब तक हम किसी समस्या से न जूझें, तब तक समाधान मिलता ही नहीं। समाधान
है समस्या से जूझने में, संघर्ष में है। और बड़ी अदभुत बात है कि जितना कोई गहरे संघर्ष में उतरता
है उतनी गहरी शांति को उपलब्ध होता है। यानी शांति संघर्ष के विपरीत भाग जाने में नहीं है, शांति संघर्ष में परिपूर्णता से उतर जाने में है। समाधान समस्याओं से दूर कहीं किसी पहाड़ की गुफा में नहीं रखा है। समाधान समस्या के भीतर परिपूर्ण रूप से उतर जाने में है। जो भागेगा वह हार जाएगा।
भागने से तो जीत संभव भी नहीं है। जो लड़ेगा, जूझेगा, वही जीत सकता है।

जीवन के सारे प्रश्नों में, चाहे वे प्रेम के हों, चाहे ज्ञान के हों, चाहे जीवन की दैनंदिन समस्याओं के हों, भागना नहीं है। भागने वाला चुनौतियों को कहेगा कि बड़ी बाधाएं हैं, इन बाधाओं में मैं पड़ना नहीं चाहता। मत पड़ो, लेकिन तब तुम पैदा ही नहीं हो सकोगे। तो इन्हीं बाधाओं में से--ठीक से समझें, जैसे मां के पेट में से बच्चा पैदा होता है तो जो प्रसव की पीड़ा है, मां भी भोगती है उस पीड़ा को तो ही बच्चे को जन्म दे पाती है। और बच्चा भी एक बहुत बड़ी पीड़ा से गुजरता है क्योंकि कहां गर्भ का सुख, सुविधा, शांति, आनंद और कहां गर्भ के बाहर अज्ञात, अनजान जगत में फेंका जाना! मां भी गुजरती है पीड़ा से तो जन्म दे पाती है, और बच्चा भी गुजरता है मां से बड़ी पीड़ा से क्योंकि मां की पीड़ा तो बहुत अर्थों में शारीरिक है। बच्चे की पीड़ा बहुत आत्मिक है, बहुत गहरी है, क्योंकि बच्चा एक ऐसे असहाय, हेल्पलेस, ऐसी दुनिया में जा रहा है--कल तक उसे भोजन की चिंता न थी, श्वास तक लेने की उसे फिकर न थी--मां श्वास लेती थी, मां भोजन देती थी; मां खून बनाती थी--सब मां कर रही थी। वह बिल्कुल परम आनंद में था। उसे कुछ भी करना नहीं होता था। वह एक अनजान, अज्ञात जगत में फेंका जा रहा है जहां वह मां से अलग हो जाएगा। जहां धीरे-धीरे रोज मां से अलग होता चला जाएगा। जहां धीरे-धीरे सब चिंता उसी को करनी पड़ेगी। रोज-रोज चिंता बढ़ती चली जाएगी। अगर बच्चे को विकल्प हो, ऑल्टरनेटिव हो कि बच्चा सोच सके कि मैं जन्म लूं या न तो दुनिया में करोड़ में से एक बच्चा जन्म लेगा, बाकी बच्चे भीतर ही रह जाएंगे। वे कहेंगे, बहुत ही झंझट है, बहुत चुनौती है, बड़ा संघर्ष है, वहां नहीं जाना है। लेकिन, चूंकि यह जन्म अनिवार्य है, कोई बच्चा नहीं बच पाता।
लेकिन एक और दूसरे जन्म की, दूसरे जन्म की जिसकी मैं बात कर रहा हूं,
वह अनिवार्य नहीं है। उससे हम बचना चाहें, बच सकते हैं। इसलिए बहुत कम लोग द्विज हो पाते हैं, ट्वाइस बॉर्न हो पाते हैं। ट्वाइस बॉर्न का, द्विज का मेरे लिए यही मतलब है, दूसरा जन्म। जनेऊ बांध लेने से नहीं कोई द्विज होता, न कोई ब्राह्मण के घर में पैदा होने से द्विज होता है। द्विज का मतलब ही यह है कि जिसने एक और जन्म लिया। यह दूसरा जन्म हमारे स्वीकार पर निर्भर है, हम चाहें तो इससे बच सकते हैं। अगर बच गए तो हम शरीर के तल पर ही रह जाएंगे, आत्मा के तल पर कभी नहीं पहुंच पाएंगे। शरीर के तल पर हमें जन्म मिल गया, वह मां-बाप से मिल गया है। आत्मा के तल पर हमारा चुनाव तय करेगा कि हम जन्म लें या न लें। और वहां जितनी कठिनाइयां हैं, जितनी बाधाएं हैं उन सबके सामने हमें सोचना पड़ेगा कि इनसे भाग जाएं। भाग जाएं तो जन्म से बच जाएंगे। लेकिन तब हम जीवन से ही बच जाएंगे। और उससे जूझते हैं, लड़ते हैं तो जन्म हो सकेगा, तो जीवन हो सकेगा।
पलायनवाद आत्महत्या है, वह सुसाइडल है। और जितना हम पलायन करना चाहते हैं, उतनी बाधाओं को बड़ा करके करते हैं। जो आदमी लड़ना चाहता है, उसके सामने बाधाएं एकदम छोटी हो जाती हैं। उसके लड़ने का निर्णय ही बाधाओं को एकदम छोटा कर देता है। जो आदमी भागना चाहता है, उसके सामने बाधाएं एकदम बड़ी हो जाती हैं। असल में भागने के लिए बाधाओं को बड़ा वह खुद कर लेता है और लड़ने के लिए बाधाओं को छोटा कर लेता है।
मेरी दृष्टि में बाधा की... बड़ा या छोटा होना इस पर निर्भर करता है कि आपके लड़ने का संकल्प बड़ा या छोटा, कैसा है! संकल्प छोटा होगा, बाधा बड़ी होगी; संकल्प बड़ा होगा, बाधा छोटी हो जाएगी। संकल्प पूर्ण होगा, बाधा विलीन हो जाएगी। बाधा बचेगी भी नहीं। टोटल विल अगर हो तो बाधा है ही नहीं-- यानी अगर ठीक से समझें तो बाधा जो है, वह विल की कमी है, संकल्प की कमी है। और जहां भी हमें बाधा दिखाई पड़ती है वहां हमारा संकल्प कमजोर है। और संकल्प इसलिए कमजोर है कि हम इस सत्य को ही नहीं समझ सके कि बाधा को लड़ने से ही हमारे जीवन की गति है और विकास है। यह एक बार खयाल में आ जाए कि सब लड़ाई अवसर है विकास का, सब तरह की लड़ाई अवसर है, ऑपरच्युनिटी है, तो फिर हमें भागने का सवाल नहीं रह जाएगा।

शुड आई मीन आचार्य जी, दैट एस्केपिस्ट कैन नॉट लव एण्ड कैन नॉट बी ए नॉन-वायलेंट?

हां, पलायनवादी न तो प्रेम कर सकता है, न अहिंसक हो सकता है। लेकिन पलायनवादी प्रेम करता हुआ दिखाई पड़ सकता है और अहिंसक, अहिंसक पोशाक भी पहन सकता है! और अक्सर वह यही करेगा। पलायनवादी इसलिए प्रेम नहीं कर सकता कि वह पैदा ही नहीं हो पाया, वह है ही नहीं। प्रेम करेगा कौन? जैसा कि मैंने कहा, कि जिसे हम प्रेम करते हैं उस पर निर्भर नहीं है, जो प्रेम करता है, उस पर निर्भर है। तो प्रेम तो वही कर सकता है जिसके व्यक्तित्व का आविर्भाव हो गया है, भीतर इंडिविजुअलिटी आ गई, जिसके भीतर व्यक्ति पैदा हो गया। और व्यक्ति पैदा होता है संघर्ष और चुनौती में रोज लड़ने से। जैसे एक पत्थर पर एक मूर्तिकार छेनी से काटता है। पत्थर इनकार कर दे कटने-पिटने से, फिर मूर्ति पैदा नहीं होती, फिर पत्थर ही रह जाता है अनगढ़।
ठीक जीवन के सारे संघर्ष व्यक्ति के भीतर मूर्ति को निखारते हैं। हम उसको इनकार कर देते हैं तो हम पत्थर ही रह जाते हैं। तो जिस व्यक्ति के भीतर अभी व्यक्तित्व का, आत्मा का, बीइंग का आविर्भाव नहीं हुआ तो प्रेम करेगा कौन? और जैसा मैंने कहा कि जब आनंद जगता है भीतर तो उस आनंद की ज्योति के जलने से जो प्रकाश फैलता है वही प्रेम है। तो इस व्यक्ति के भीतर कभी आनंद पैदा नहीं हुआ तो प्रेम तो असंभव है। लेकिन यह प्रेम करता हुआ दिखाई पड़ेगा, यह प्रेम का ढोंग करेगा। लेकिन इसका प्रेम का ढोंग भी पलायन का हिस्सा है क्योंकि यह प्रेम की बातें करके और प्रेम दिखा कर संघर्ष को कम करेगा। सब तरफ से यह किसी से भी लड़ना नहीं चाहता है। यह किसी से भी जूझना नहीं चाहता है। तो जरूरी है कि वह प्रेम की खोल पहन ले। वह प्रेम इसका कवच होगा, क्योंकि उस प्रेम के द्वारा सब तरह की लड़ाई, झंझट, झगड़े, उपद्रव से बचेगा। यह सबको कहेगा, सब भाई हैं, सब मित्र हैं, कोई शत्रु नहीं है। इसकी यह जो प्रेम की बातें होगी, यह इसकी सिक्योरिटी की व्यवस्था है। यह इस तरह अपने चारों तरफ एक कवच ओढ़ लेगा और सब तरफ प्रेम दिखाता हुआ मालूम पड़ेगा, ताकि किसी से अप्रेम की संभावना न रह जाए। कोई आदमी शत्रु न बन जाए, कोई दुश्मन न बन जाए।
तो यह आदमी बहुत प्रेम की बातें करेगा, यह बहुत गले मिलेगा। लेकिन इस सबके पीछे इसका भय काम करेगा कि मैं प्रेम के द्वारा ही सुरक्षित हो सकता हूं। इसके लिए प्रेम भी सिक्योरिटी मेजर होगा। यह अहिंसा की भी बातें करेगा। इसलिए नहीं कि यह अहिंसक हो गया बल्कि इसलिए कि अहिंसा की बातें और व्यवहार करके ही यह दूसरे से जो हिंसा आ सकती है, उससे बच सकता है। अगर यह खुद हिंसा करता तो फिर हिंसा को निमंत्रण देगा और हिंसा से यह भयभीत है। हिंसा से भयभीत आदमी भी अहिंसा ओढ़ लेता है। कायर अक्सर अहिंसा ओढ़ लेता है। सच तो यह है कि अब तक दुनिया में बहुत ही कम ऐसे लोग हुए हैं जो अहिंसक हैं। अधिकतर तो कायरों ने अहिंसा ओढ़ ली है। और ओढ़ ली है सुरक्षा की कवच की तरह क्योंकि जब मैं अहिंसा ओढ़ लेता हूं तब मैं आपके भीतर भी हिंसा को रोकने का उपाय कर लेता हूं। मैं हिंसा करूंगा तो हिंसा लौटेगी। मैं हिंसा नहीं करूंगा तो हिंसा नहीं आएगी। तो हिंसा नहीं करनी क्योंकि हिंसा से मैं भयभीत हूं कि कहीं मैं न मिट जाऊं। तो ऐसा आदमी अहिंसा भी ओढ़ेगा हिंसा के बचाव के लिए, और ऐसा आदमी प्रेम का वस्त्र भी चारों तरफ खड़ा करेगा ताकि किसी का अप्रेम न जग जाए। लेकिन ऐसा आदमी न तो भीतर प्रेम से भरा होगा और न अहिंसा उसके भीतर होगी।
मेरे लिए तो प्रेम और अहिंसा एक ही चीज के दो नाम हैं। जब कोई व्यक्ति प्रेम से भरता है, वह भरता ही तब है जब वह जीवन की सारी चुनौतियों को, जीवन की सारी समस्याओं को सैनिक की भांति लड़ता है। मेरे मन में साधु का मतलब ही यह है कि जो जीवन की गहरी समस्याओं में सैनिक की भांति लड़े, वह साधु है और जो भाग जाए वह न सैनिक है, न साधु है। वह सिर्फ भागा हुआ एक कमजोर आदमी है और इस भागने से और कमजोर हो जाएगा। और धीरे-धीरे एक इम्पोटेंस, एक नपुंसकता उसे घेर लेगी। उस इम्पोटेंस में वह अहिंसा की और प्रेम की बातें भी करेगा क्योंकि अब यही उसकी सुरक्षा बन सकती है। लेकिन यह प्रेम बिल्कुल मरा हुआ होगा, यह अहिंसा बिल्कुल बेजान होगी।

जिस व्यक्ति की मैं बात कर रहा हूं, जो कि जीवन के सारे संघर्षों में
से गुजर कर व्यक्तित्व को जन्म दे देगा और उस जगह पहुंच जाएगा, जहां आनंद का फूल खिलता है; उसके जीवन में एक प्रेम होगा; लेकिन वह बहुत लिविंग लव होगा, बहुत जीवंत होगा। उस प्रेम में किरणें होंगी, और वह प्रेम किसी तरह का कवच नहीं होगा। उस प्रेम का आपसे कोई संबंध ही नहीं होगा कि आप क्या करते हो, यह सवाल नहीं है। वह प्रेम करेगा। आप छुरा भी भोंक दो तो भी उसका प्रेम बहता रहेगा। वह जीसस की तरह सूली पर भी प्रार्थना करेगा कि इन सबको माफ कर देना क्योंकि यह नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं। वह मरने के क्षण में भी उसके प्रेम में कमी होने वाली नहीं है। प्रेम उसका कवच नहीं था। अगर प्रेम कवच होता, तो लोग मारने आते तो खतम हो जाता क्योंकि प्रेम उसने इसलिए ओढ़ा हुआ था कि कोई मार न सके।
तो जिसके जीवन में प्रेम पैदा हुआ है वह तो मृत्यु के क्षण में भी प्रेमपूर्ण होगा। वह प्रेम बांटता ही रहेगा, आखिरी श्वास तक। और हिंसक होने का सवाल ही नहीं उठता है क्योंकि हिंसक होने का अर्थ है कि जो दूसरे को दुख देने में सुख पाए। और अहिंसक होने का अर्थ है, जो दूसरे के दुख पाने में कोई सुख न पाए, बल्कि दुख पाए, और दूसरे के सुख पाने में सुख पाए।
तो जो व्यक्ति प्रेम को उपलब्ध हुआ है, वह जितना प्रेम बांटेगा उतना सुखी होगा। उतना दूसरे को सुखी पाएगा। उसके द्वारा किसी के लिए दुख की कोई संभावना नहीं है। क्योंकि दूसरे को दुख देने में वह खुद ही दुखी हो जाने वाला है। प्रेमपूर्ण चित्त का अर्थ ही यही है कि वहां दूसरे का दुख दुखी करता है, दूसरे का सुख सुखी करता है। और घृणा से भरे चित्त की स्थिति बिल्कुल उलटी है, वहां दूसरे का दुख सुखी करता है और दूसरे का सुख दुखी करता है। वहां जब कोई आदमी सुखी दिखाई पड़ता है तो ईर्ष्या, और बेचैनी और कष्ट पकड़ लेता है। जब कोई आदमी दुखी दिखाई पड़ता है तो ऊपर से वह बड़ी सहानुभूति की बातें करता है, लेकिन भीतर रस पाता है, बड़े सुख का।
एक आदमी के पास बड़ा मकान हो तो आस-पास के लोग दुखी हो जाते हैं। हालांकि कोई कहने नहीं जाता। वह आदमी मिलेगा तो बड़ा सुख जाहिर करेंगे कि बहुत अच्छा मकान है आपके पास, लेकिन उनकी आंखों में उस वक्त भी दुख झांकेगा। और उस बड़े आदमी के मकान में आग लग जाए तो पास-पड़ोस के सारे लोग सुखी होंगे, लेकिन आकर उससे कहेंगे कि बड़ा दुख हुआ। लेकिन जब वे दुख जाहिर कर रहे होंगे, तब भी उनकी आंख की चमक और झलक बताएगी कि वे बड़े गहरे में सुखी हो रहे हैं।
घृणा से भरा हुआ चित्त जगत में दुख बांटता है, सुख मिटाता है। क्योंकि
वह खुद ही सुखी नहीं है तो वह किसी को कैसे सुखी देख सकता है? वह खुद ही दुखी है। तो दुख के अलावा वह बांट भी क्या सकता है! प्रेम से भरा हुआ चित्त इतना सुख में पहुंच जाता है, इतने आनंद में कि अब ईर्ष्या का तो कोई सवाल ही नहीं। वह उस जगह खड़ा है, जहां से ईर्ष्या असंभव है क्योंकि इतना मिल गया है, इतना अनंत कि अब किससे ईर्ष्या करनी है? वहां से करुणा ही संभव है, ईर्ष्या नहीं। और हमारे मन में सिवाय ईर्ष्या के कुछ नहीं होता; करुणा हो ही नहीं सकती। और वह आदमी कुछ भी करेगा, वह किसी का सुख बढ़ जाए तो करेगा, वह किसी को दुख नहीं देना चाहेगा, इसलिए अहिंसक होगा। यह अहिंसा एक अदभुत तरह की वीरता होगी क्योंकि यहां कोई कितना ही उसके साथ हिंसा करे तो भी वह अहिंसक होगा। यहां किसी की हिंसा उसके भीतर हिंसा पैदा नहीं करती है।
यह व्यक्ति बात ही और है, लेकिन तथाकथित अहिंसक और प्रेम की बातें करने वाले लोग ये सिर्फ सामाजिक सुरक्षा का उपाय खोज रहे हैं। गाली मत दो, ताकि तुम्हें कोई गाली न दे। इसलिए गाली नहीं दे रहे हैं। किसी को मारो मत ताकि कोई तुम्हें मारे न, इसलिए मार भी नहीं रहे हैं। और किसी को दुख मत पहुंचाओ, नहीं तो लोग तुम्हें दुख पहुंचाएंगे, इसलिए दुख भी नहीं पहुंचा रहे हैं। लेकिन इससे ज्यादा गहरा कोई मामला नहीं है। इसलिए इनकी सारी अहिंसा एक एक्टिंग है, जिसके भीतर हिंसक बैठा हुआ है। और इसका प्रेम एक एक्टिंग है, जिसके भीतर घृणा करने वाला बहुत मजबूत आदमी बैठा है। पर धोखा चल जाता है, धोखा चल जाता है। बल्कि कई बार तो यह होगा कि जो सच में प्रेम से भरा हुआ है, उस आदमी को पहचानना बहुत मुश्किल हो जाता है।

डु यू फील आचार्य जी, दैट प्रेजेंट इंस्टीट्यूशंस ऑर युनिवर्सिटी कैन सोल्व दि परप.ज ऑफ अवर एजुकेशन ऑफ लव एण्ड नॉन-वायलेंस एण्ड ब्यूटी?

कठिन है। जैसी आज व्यवस्था है--चाहे विश्वविद्यालय की, चाहे विद्यालयों की, उस पूरे ढांचे को बदले बिना कठिन है। क्योंकि वह पूरा ढांचा भी चालाकी, घृणा, महत्वाकांक्षा, हिंसा, पदलिप्सा, हीनता, श्रेष्ठता, उसी सब चक्कर का हिस्सा है। हमारा विश्वविद्यालय हमारे समाज से अलग कोई चीज नहीं है। हमारा विश्वविद्यालय हमारे समाज का ही एक छोटा ढांचा है। यानी हमारा विश्वविद्यालय हमारे समाज के ढांचे को ही बार-बार पैदा करने की फैक्टरी है, और कुछ भी नहीं है। विश्वविद्यालय तो वह है ही नहीं, वह तो फैक्टरी है जो कि पुराना जो समाज का ढांचा था, नये बच्चों में कैसे उसको ट्रांसप्लांट कर दे, इसका काम कर रहा है। वहां भी शिक्षक उसी दौड़ में है, जिसमें राजनीतिज्ञ दौड़ में हैं। वहां भी वाइस चांसलर उसी हीनता से पीड़ित है, जिस हीनता से कोई राजनीतिज्ञ और मिनिस्टर पीड़ित हैं। वही सब दौड़ वहां जारी है। और यही सारे दौड़ और पागलपन में लगे हुए लोग नये बच्चों को भी उसी पागलपन में दीक्षित कर रहे हैं।
हमारे विश्वविद्यालय पागलखानों की स्थिति में हैं। जिस मैडनेस से समाज पीड़ित है, वह उसको फिर अपने बच्चों में थोपने का इंतजाम किया जा रहा है। पूरा ढांचा बदलना पड़े। विद्यालय और ही ढांचे पर होना चाहिए जो समाज से व्यक्ति को बचाते हों, समाज को थोपते न हों। यानी पुराने समाज में कहां- कहां रोग था, वहां से हर नये बच्चे को बचाए जाने की जरूरत है। हर बाप से हर बेटे को बचाए जाने की जरूरत है। और इतना बोध चाहिए कि पुराना कोई भी रोग इस बच्चे में न चला जाए। अब बाप हिंदू और मुसलमान की तरह लड़ रहे थे, बेटे फिर हिंदू मुसलमान की तरह दीक्षित किए जा रहे हैं। युनिवर्सिटी भी पूछ रही है कि तुम हिंदू हो या मुसलमान? अदालत भी पूछ रही है कि तुम हिंदू हो या मुसलमान? फिर वही रोग दीक्षित किया जा रहा है जिससे बाप पीड़ित थे। विश्वविद्यालय को पूछना बंद कर देना चाहिए कि कौन हिंदू है, कौन मुसलमान? विश्वविद्यालय के कैंपस कोई हिंदू नहीं, कोई मुसलमान नहीं हैं। नहीं तो विश्वविद्यालय का मतलब क्या है? जहां विश्व एक नहीं है तो उसको विश्वविद्यालय कहना क्यों? वही बीमारी जो समाज में है कि कौन लड़का है, कौन लड़की है, कौन स्त्री है, कौन पुरुष है, और इसके साथ सारा मूल्यांकन है, वही विश्वविद्यालय में भी थोपा जा रहा है। विश्वविद्यालय को फिकर छोड़ देनी चाहिए थी कि कौन स्त्री है, कौन पुरुष है? शिक्षा से क्या संबंध है किसी के स्त्री-पुरुष होने का? हमारे लिए विद्यार्थी हैं। कौन स्त्री, कौन पुरुष है, यह उनका अपना मामला है। यह होगा वह जो शादी-विवाह करेंगे, विचार करेंगे, सोचेंगे, घर बसाएंगे। विश्वविद्यालय के कैंम्पस में स्त्री- पुरुष से क्या लेना-देना है? लेकिन वहां भी स्त्री-पुरुष खड़े हैं, फासले पर खड़े हैं। वहां भी वही रोग फिर दीक्षित किया जा रहा है, जो कि सारे समाज को पीड़ित किए हुए है।
सारा का सारा ढांचा वही है। वही महत्वाकांक्षा वहां सिखाई जा रही है-- नंबर एक आओ, गोल्ड मेडल लो। और बड़े जलसे हो रहे हैं जो कि बिल्कुल बचकाने मालूम पड़ते हैं। वाइस चांसलर और चांसलर सर्कस के बफूनों की तरह कपड़े पहन कर और मंचों पर खड़े हैं और बेवकूफियों में, कि जिन पर हंसा जाना चाहिए विश्वविद्यालय में कि यह क्या पागलपन है? मगर यह बड़ी गंभीरता से ये कृत्य किए जा रहे हैं। तो जो रिचुअल, जो क्रियाकांड, जो बेवकूफियां समाज को पकड़े हुए हैं, वहां खत्म नहीं होतीं। उससे भी ज्यादा वहां पकड़े हुए हैं। वहां एक वाइस चांसलर को इसमें कुछ हैरानी नहीं मालूम पड़ती कि वे सर्कस के जोकर की तरह कपड़े पहन कर और टोपी लगा कर खड़ा हुआ है और बड़ी गंभीरता से! और बड़ी गंभीरता से ज्ञान की पदवियां बांट रहा है!
अगर कभी अच्छी दुनिया हुई तो हम ऐसे आदमियों का इलाज करेंगे, इनका दिमाग खराब है कि ये ज्ञान की पदवियां कैसे बांट रहे हैं? ये तो उस हालत में हैं, इन्हें किसी सर्कस में भर्ती होना चाहिए। लेकिन बहुत गंभीरता से

वह सब चल रहा है। समाज की जो बेवकूफियां अत्यंत गंभीरता से बच्चों में आरोपित की जा रही हैं, मेडल वहां भी लगाए हुए हैं, कपड़े वहां भी पहने हुए हैं। और वह सब खेल, जो समाज में कल पूरा किया जाएगा, उसका रिहर्सल वहां है।

वॉट मेजर्स शुड वी टेक आचार्य जी, दैट वी शुड स्टे अवे विद दि सोसाइटी फ्रॉम दि सोसाइटी एक्टीविटी.ज?

जैसा मैंने कहा, ये विश्वविद्यालय, ये शिक्षा का तंत्र, ये समाज की सारी नासमझियां और समाज के सारे अज्ञान को नये बच्चों में पुनः आरोपित करने का प्रयास है। बच्चे फिर इसी तरह का समाज बना सकें, इसी तरह का समाज रिपीट कर सकें, इसकी चेष्टा है। निश्चित ही इस चेष्टा को तोड़ना बड़ा कठिन मामला है। व्यक्तियों से ही तोड़ी जा सकती है।
तो अभी तो एक-एक व्यक्ति तक जो भी लोग सोच सकते हैं, विचार सकते हैं, जिनके सामने सवाल खड़े हो गए हैं। उन तक बस खबर ले जाने की बात है कि उनको यह सारा खयाल में आ सके। फिर तब छोटे-छोटे स्कूल भी हो सकते हैं, जहां थोड़े दो- चार मित्र बैठ कर प्रयोग करते हों। बहुत छोटे तल पर यह प्रयोग हो, फिर धीरे-धीरे वे बड़े भी प्रयोग हो सकते हैं। और कम से कम इतना तो तय है कि जो भी व्यक्ति जहां है, अगर उसे यह समझ आ जाए तो वह जो भी कर रहा है, उसमें तो इसका प्रयोग कर ही सकता है। और हम सब संगठक हैं इस समाज के। यह समाज अगर बुरा है, तो मैं भी जिम्मेवार हूं। मैं चाहे कुछ भी करूं, इस समाज के बुरे होने में मेरी जिम्मेदारी कायम है। अगर एक आदमी चोरी कर रहा है, कहीं भी दुनिया के कोने में तो भी उस एक्ट में, उस कर्म में मैं भी भागीदार हूं। क्योंकि जिस दुनिया को हम बना रहे हैं उसमें चोरी घटित हो रही है।
तो अगर हम इसकी सारी बुराइयों में जिम्मेवार हैं, तो हम कुछ प्रयोग तो
कर ही सकते हैं व्यक्तिगत हैसियत से भी; क्योंकि मैं पिता भी हूं, पति भी हो सकता हूं, किसी का भाई हूं, किसी की बहिन हूं, किसी का मित्र हूं, इन सारे संबंधों में मुझे जो भी दृष्टि दिखाई पड़ती हो उसका मुझे प्रयोग शुरू करना चाहिए--प्रेम का, गैर-महत्वाकांक्षा का, किसी को साधन न बनाऊं इसका, किसी को हीन और श्रेष्ठ न समझूं इसका, समानता का, स्वतंत्रता का। सबको मुक्त करूं। मेरे निकट जो आए वह मुक्ति अनुभव करे, बंध न जाए, बंधन अनुभव न करे। मेरे पास जो आए, उससे और मेरे बीच जो संबंध हो वह किसी भी तल पर घृणा के, ईर्ष्या के, दुख के न हों। यह तो एक-एक व्यक्ति प्रयोग कर सकता है।
सवाल तो बहुत बड़ा है, क्योंकि बड़ी दुनिया है और कोई दो-तीन लाख वर्ष का पीछे इतिहास है जिसने आदमी को ऐसा बनाया है, जैसा वह आज है। लेकिन एक बड़ी बात सहारे की है कि इस तीन लाख वर्ष का अनुभव सुखद नहीं है। इसलिए बेचैनी सब तरफ शुरू हो गई है। यह ढांचा संदिग्ध हो गया है और इसलिए अब इसको अगर कोई धक्का देने वाले थोड़े लोग हिम्मत करेंगे तो यह ढांचा चला जाएगा, यह गिर जाएगा। और एक बार यह ढांचा चला जाए तो नये ढांचे को बनाने में, नई व्यवस्था लाने में कठिनाई नहीं होगी।
पर जितना हमसे बन सके, जो जहां है, इस बात को जानते हुए कि अनंत समस्या
है यह, फिर भी जो मैं कर सकूं, वह मुझे करना चाहिए। सिर्फ समस्या को बड़ा मान कर कहीं ऐसा न हो कि वह भी मेरा पलायन बन जाए। समस्या बहुत बड़ी है, इसलिए क्या हो सकता है, इसलिए क्या कर सकते हैं, इसलिए बात छोड़ो। समस्या इतनी बड़ी नहीं है कि कुछ भी नहीं हो सकता। बहुत कुछ हो सकता है। थोड़े पैमाने पर शुरू होगा, थोड़े से लोग हिम्मत करेंगे। लेकिन अगर उनकी हिम्मत सफल होती है और उनके प्रयोग अर्थ लाते हैं और दिखता है कि नये तरह के मनुष्य पैदा होने शुरू हो गए हैं तो आज नहीं कल, पूरी मनुष्यता उस मार्ग पर जाने लगेगी, जहां थोड़े से लोग गए, आनंद पाया और जीवन को एक नये ढंग से जीया।
सारी व्यवस्था में प्रयोग करने की जरूरत है--परिवार में, शिक्षा में, आर्थिक संबंधों में, मित्रता में, सब में प्रयोग करने की जरूरत है। और वे सब में प्रयोग अपने आप हो जाते हैं। एक बार दृष्टि हो तो यह सवाल विस्तार का नहीं रह जाता। फिर एक दफा दृष्टि हो, एक दर्शन हो, एक बात दिखाई पड़ जाए

तो हमारे जीवन की सब चीजों में काम करना शुरू कर देती है--जाने, अनजाने। उसका कोई पता भी नहीं रह जाता कि दृष्टि कैसी हो! वही फिकर करनी चाहिए।

दैट मींस आचार्य जी, यू सजेस्ट दि डायरेक्ट कम्युनिकेशंस एण्ड दि परसेप्शंस?

ठीक है, यही कह रहा हूं कि हमें प्रत्येक को अपने जीवन का एक प्रत्यक्ष बोध हो। और जिनको यह बोध हो वह भी व्यक्तिगत रूप से व्यक्तियों को सामने लेकर व्यक्तिगत कम्युनिकेशन, दो व्यक्ति एक दूसरे के सामने खड़े होकर कैसे अपनी दृष्टि को कम्युनिकेट कर सकें, यह भी हलका मामला नहीं है बहुत; यह मामला इतना जटिल है कि व्यक्ति को ही दिखाई पड़ जाए तो बहुत है। भीड़ को दिखाई पड़ना बहुत मुश्किल बात है। भीड़ सोचती भी नहीं है।
तो एकदम डायरेक्ट कम्युनिकेशन की बात है और डायरेक्ट परसेप्शंस की। खुद सीधा प्रत्यक्ष हों खुद को सीधा दिखाई पड़ने लगे। और जिसे दिखाई पड़े वह अपने निकट जहां भी किसी को दिखा सके, इस बात को दिखाने की कोशिश करे--अपने व्यक्तित्व से, अपने व्यवहार से, अपनी वाणी से, विचार से, अपने जीवन से। आग फैल सकती है जैसे एक दीये से दूसरा दीया जल सकता है--ऐसे आग फैल सकती है। करोड़ों दीये जल सकते हैं। लेकिन यह होगा कम्युनिकेशन, डायरेक्ट। यह व्यक्ति और व्यक्ति के बीच ही संवादित करना होता है। क्योंकि दो व्यक्ति ही अत्यंत सहानुभूति में एक दूसरे के समक्ष खड़े हो सकते हैं।
कठिनाई मनुष्य के अतीत में है, क्योंकि सारा अतीत गलत परंपराओं से भरा हुआ है। भविष्य में कठिनाई नहीं है। भविष्य अभी मुक्त है। और अगर अतीत की कठिनाइयों का दिग्दर्शन भी लोगों को करा सकें और उनको दिखा सकें और जगा सकें। एक अवेकनिंग की जरूरत है कि हम जगा सकें लोगों को कि यह हुआ है इससे, और यही होता रहेगा आगे भी, अगर यही जारी रहता है तो। सारे कारण बताए जा सकें कि समाज कैसे सड़ रहा है, तो न मालूम कितने लोग होंगे जो कि जाग सकते हैं। और जिनको दिखाई पड़ जाए एक बार कि यह आग है तो फिर उसमें हाथ डालने को वे राजी नहीं होंगे और न वे अपने बच्चों को उसमें हाथ डलवाने को राजी होंगे।
अभी तक कठिनाई क्या थी? कि ऐसे जगाने वाले लोग नहीं के बराबर थे। अक्सर तो यह हुआ है कि सारे शिक्षकों ने, धर्म-गुरुओं ने अतीत का ही गुणगान किया निरंतर, और जो अतीत था उसको ही वे श्रेष्ठ सिद्ध किए चले गए। अगर उन्होंने वर्तमान की निंदा भी की तो भविष्य की प्रशंसा के लिए नहीं, अतीत की प्रशंसा के लिए। और अतीत जैसा नहीं हो रहा है, इसलिए सब गड़बड़ हो रहा है। तो अतीत को हम वापस ले आएं तो सब ठीक हो जाएगा।
अब मेरा कहना यह है कि गड़बड़ सब हो रहा है, वह अतीत के कारण ही हो रहा है। इसलिए अतीत को तो लाना ही नहीं है। अतीत न आ पाए, इसकी चिंता करनी है। और एक नया भविष्य कैसे आ जाए उसका विचार करना है। अतीत से मुक्ति--इसके लिए लोगों को जगाना है। अब तक लोगों को सिखाने वाले लोग अतीत को स्वर्ण-युग कहते थे, द गोल्डन ए.ज थी, वह जा चुकी है। तब सब अच्छा था। हम उसको भूल गए हैं व्यवस्था को, इसलिए सब गड़बड़ हो रही है। जब कि सचाई यह है कि उस व्यवस्था के कारण ही सब गड़बड़ हो रही है।
यह इसके प्रति अगर हम लोगों को जगा सकें, रूढ़ियों, परंपराओं, अतीत का
जो ओल्ड माइंड है, ट्रेडीशनल माइंड है, उसके प्रति जगा सकें कि उसमें रोग के बीज हैं, इसकी आग फैला सकें--निश्चित ही ये तो व्यक्ति-व्यक्ति को फैलानी पड़े और जिसकी जितनी सीमा हो, जितनी सामर्थ्य हो, वह फैलाए, तो कठिन नहीं है कि पचास वर्ष के भीतर सारी दुनिया में एक बोध जग जाए, जो कभी भी नहीं था। और आने वाली पीढ़ी तैयार है। आने वाली पीढ़ी पुरानी से ऊब गई है, बुरी तरह ऊब गई है।
सारी दुनिया में लड़कों का जो विद्रोह है, वह विद्रोह छोटा नहीं है, और बहुत ही नवीन घटना है मनुष्य के इतिहास में। लड़कों ने कभी कोई विद्रोह नहीं किया था। लड़के पहली दफा एक पीढ़ी की तरह विद्रोह कर रहे हैं। यह विद्रोह बहुत ही जोर से फैल रहा है, क्योंकि लड़कों को दिखाई पड़ रहा है कि

तुम्हारी सारी शिक्षा बेमानी है, तुम्हारी सब पद-प्रतिष्ठा दो कौड़ी की है, तुम्हारा सारा ढांचा जीवन का नहीं है, मरने का ढांचा है। यह दिखाई पड़ रहा है। बच्चे, छोटे बच्चे आज शिक्षित मुल्कों में, सुसंस्कृत मुल्कों में मां बाप से पूछ रहे हैं कि हम क्यों पढ़ें? क्योंकि पढ़ कर तुम्हें क्या मिल गया है? आज हिप्पी हैं, बीटल हैं, बीटनिक हैं, अपने मां-बाप से पूछ रहे हैं कि हम क्यों नौकरी करें? हम क्यों किसी पद पर जाएं? पद पर पहुंचने से तुम्हें क्या मिल गया है? ये सवाल बच्चों ने कभी पूछे ही नहीं थे।
तो ऐसा लगता है कि जगत की मनुष्य-चेतना उस जगह पहुंच रही है, जहां क्रांति संभव हो सकती है। बायलिंग प्वाइंट करीब आ रहा है। तो इसलिए बहुत तेजी से, जिन लोगों को भी खयाल है, उनको लग जाना चाहिए जगाने में। हो सकता है, आने वाले पचास वर्षों में मनुष्य एक छलांग लगाए। यह छलांग उस छलांग से बड़ी होगी जो बंदरों ने जमीन पर आकर आदमी होने में लगाई थी। ये दो पैर से खड़े हो गए थे। चार पैर वाले बंदर, कुछ बंदर खड़े हुए होंगे, शेष बंदर तो बंदर रह गए। वह जितनी बड़ी क्रांतिकारी घटना थी कि मनुष्य का सारा इतिहास फिर उससे आगे बढ़ा। उससे भी बड़ी क्रांतिकारी घटना आने वाले पचास वर्षों में घट सकती है। यह छलांग अब चेतना की होगी; रूढ़ि से, पुराने से, अतीत से मुक्ति की होगी और भविष्य के लिए द्वार खोलेगी।
तो एक बहुत ही मोमेंट्स, एक बहुत ही मूल्यवान और बहुत क्रांतिकारी क्षण मनुष्य की चेतना के करीब है। अगर उसका ध्यान हो और व्यक्तिगत रूप से भी चेष्टा की जाए तो कुछ हो सकता है, जो कभी भी नहीं हुआ था, वह हो सकता है।

बट आचार्य जी, ए.ज आई अंडरस्टैंड दैट कम्युनिकेशन मीन्स डायरेक्ट कम्युनिकेशन, ए.ज आई मीन, इज़ वेरी डिफिकल्ट प्रॉब्लम, बिका.ज ह्यूमन बीइंग हैज बीन कंडीशंड ए.ज यू सैड, सिन्स मिलियंस ऑफ इयर्स। दैट इज़, दि मैन कैरी.ज ऑल दोज इंप्रेशंस एण्ड वॉट ही विल बी कम्युनिकेटिंग आलसो वुड बी द इंप्रिंटस ऑफ दि पास्ट। हाउ शुड वी सी अवर सिन्स सो दैट वी कैन हैव दि डायरेक्ट कम्युनिकेशंस?

कठिनाई तो है ही। मनुष्य संस्कारित है, उसकी कंडीशनिंग है--भाषा, धर्म, दर्शन, नीति। असल में कोई आदमी सोचता ही नहीं। जो उसे फीड किया गया है, जो उसके मन में डाल दिया गया है, उसको ही दोहराए चला जाता है। और जब कोई नई बात भी उससे कही जाती है तो तत्काल वह अपनी पुरानी भाषा में ही उसकी व्याख्या खोज लेता है। इसलिए नई से नई बात को फौरन कहने लगता है, अच्छा- अच्छा, यही तो गीता में कहा है। यही तो हमारे उपनिषद में भी लिखा हुआ है। वह नये को फिर मार डालता है। तो फिर पुराने की जगह जाकर थिर हो जाता है कि ठीक है, उपनिषद में यही बात है--बात खत्म हो गई। कठिनाई ये हैं और बिल्कुल वास्तविक कठिनाइयां हैं।
लेकिन ये सारी की सारी कंडीशनिंग, अगर हम इसकी कोई बात ही न करें कि माइंड कंडीशंड है, और सीधी नई बात की खबर पहुंचाएं तो बहुत डर है कि वह संस्कारित मन इसको भी अपने पुराने संस्कारों में ढाल कर व्याख्या कर लेगा। कोई परिणाम नहीं होगा। इसलिए इस अवेकनिंग का, जागरण का एक अनिवार्य और प्राथमिक हिस्सा यह है कि हम एक-एक आदमी को इस बात के प्रति भी सजग करें कि उसका मन पुराने संस्कारों से भरा है। क्या वह उन्हीं संस्कारों से सोचेगा, या उनसे मुक्त होने के लिए तैयार होता है?
अगर हम यह समझा सकें किसी व्यक्ति को--और यह कठिन नहीं है समझाना; क्योंकि यह सत्य है, इसलिए दिखाई पड़ सकता है कि हम किसी व्यक्ति को कह सकते हैं--कि तुम स्वयं सोचते हो, कि गीता ही तुम्हारे भीतर बोलती चली जाती है? तुम खुद सोचते हो कि समाज ने जो तुम्हें सिखाया है वही तुम दोहरा रहे हो? तुमने भी खुद कभी कुछ सोचा है? कभी तुमने किसी प्रॉब्लम को, किसी समस्या को सीधा साक्षात किया है? कभी ऐसा किया है कि बीच से सब जाना हुआ अलग कर दिया हो और तुम सीधे साक्षात किए हो? अगर नहीं किए हो तो तुम अभी विचार ही नहीं करना जानते हो। यानी इस जागरण की प्रक्रिया का अनिवार्य और प्राथमिक हिस्सा तो यही होने वाला है कि हम प्रत्येक व्यक्ति को, वह जो हजारों

लाखों वर्ष की संस्कारित धूल है उसके चित्त पर, उसको पोंछना भी बता सकें। और यह दिखाई पड़ना कठिन नहीं पड़ता। एक आदमी को यह समझाना कठिन नहीं है कि दुकान पर जाकर जब उसने दुकानदार से कहा है कि मुझे लक्स साबुन चाहिए तो हम उसे पकड़ कर कह सकते हैं कि तूने सोचा है? कि सिर्फ रेडियो रोज दोहराता था, अखबार में रोज आता था कि लक्स टायलेट साबुन अच्छी है। तो तू पढ़ लिया है, सुन लिया है, तेरे मन में बैठ गया है, और आज तू बोल रहा है कि लक्स मुझे चाहिए! यह तू बोल रहा है या यह जो प्रोपेगेंडा किया गया है वही बोल रहा है? तो कठिन नहीं है कि उस आदमी को यह स्मरण आ जाए कि उसने कभी नहीं सोचा कि लक्स अच्छी है। सिर्फ प्रोपेगेंडा है, प्रचार है, जो उससे बोला गया है। हम एक आदमी को पकड़ कर कह सकते हैं कि तू यह जो हिंदू भगवान के सामने जाकर सिर झुका रहा है, यह तूने सोचा है कि यह भगवान है या तुझे सिखाया गया है? वही लक्स टायलेट वाला साबुन का मामला है! या तुझे प्रोपेगेंडा किया गया है बचपन से कि तू हिंदू है, यह तेरा भगवान है, यह तेरी किताब है। अगर तू मुसलमान घर में पैदा होता तो तू क्या भूल कर भी कभी इस मंदिर में नमस्कार किया होता? तब तू किसी मस्जिद में गया होता! लेकिन वह जाना हुआ भी सिखाया गया है। एक-एक व्यक्ति को हम झकझोर कर इस अहसास को कराने की भी जरूरत है कि उसे पता चल जाए कि वह जो कर रहा है, जो सोच रहा है, वह सिर्फ दिया हुआ है, उसका अपना कुछ भी नहीं है।
इसका खयाल आते ही एक गहरी चेतना भीतर पैदा होती है और व्यक्ति को पहली दफा एक बोध होता है कि मैं एक गहरी गुलामी में भीतर घिरा हुआ हूं। यह बोध काम करेगा। और इस बोध को जगाने के बाद ही कम्युनिकेशन संभव है, उसके पहले संभव नहीं है। इसलिए पहले जिन लोगों को कुछ नई दिशा देनी हो, वे कैसे सुनें, कैसे सोचें, कैसे समझें, यह सारी की सारी व्यवस्था देनी जरूरी है। नहीं तो, नहीं तो ठीक ही है, वह वही सोचे चले जाएंगे। लाखों वर्ष के संस्कार हैं। लेकिन मनुष्य को कितना ही संस्कारित करो, उसके भीतर एक हिस्सा है, जो हमेशा असंस्कारित छूटा हुआ है--वही उसकी आत्मा है।
यानी इसको ऐसा समझना चाहिए कि जो संस्कारित हो गया है, वह मन है। जो कंडीशन हो गया, वही मन है। असल में मन का मतलब है, दी टोटल कंडीशनिंग। लेकिन मन के पीछे भी एक अवेयरनेस है, एक चेतना है, जो कंडीशन नहीं की जा सकती, जिसको कंडीशंड करना संभव ही नहीं है। उस चेतना की तरफ इशारा करना जरूरी है। और इसीलिए मेरा ध्यान पर बहुत जोर है। क्योंकि मैं मानता हूं कि जैसे ही कोई ध्यान में उतरता है वैसे ही मन के पीछे जाता है। ध्यान का मतलब है मन के पीछे जाना। और जैसे ही उसे पहली दफा पीछे उतरता है मन के, सारे विचारों को छोड़ कर, सारे भावों को छोड़ कर, सारे संस्कारों को छोड़ कर, जैसे ही पीछे हटता है, वैसे ही उसे पता चलता है कि मैं तो कुछ और ही हूं, जो मैं सोचता था, वह नहीं--हिंदू नहीं, मुसलमान नहीं, शरीर नहीं। मैं जो सोचता था, वह तो नहीं, मैं तो कुछ और हूं।
यह बोध जितना गहरा होता है उतना ही उस व्यक्ति से डायरेक्ट कम्युनिकेशन हो सकता है। क्योंकि तब हम उसके मन से बात नहीं कर रहे, तब हम उसकी चेतना से संबंधित हो गए। इसीलिए मैंने ध्यान को प्राथमिक मूल्य दे रखा है। क्योंकि मेरा मानना है कि जो ध्यान से गुजरेंगे, वे ही नये सत्यों की तरफ यात्रा कर सकते हैं। जो ध्यान से नहीं गुजरेंगे वे मन के भीतर ही जीते हैं। और मन कंडीशनिंग है--मन सदा कंडीशनिंग है।
मन से हम कैसे व्यक्ति को तोड़ सकें तो ही कम्युनिकेशन संभव है। अगर ठीक से समझें तो कम्युनिकेशन संभव है, एक बहुत मेडिटेटिव स्थिति है। और इसलिए मेरा इधर निरंतर जोर रहा है कि ध्यान से गुजरना ही है। यानी समझना उतना मूल्यवान नहीं है, जितना ध्यान से गुजरना है क्योंकि ध्यान से गुजरने के बाद ही समझना संभव है। ध्यान झाड़-बुहार कर अलग कर देता है उस सबको, जिसके कारण समझने में बाधा है। तो ध्यान के बाद एक कम्युनिकेशन होता है जो और ही तरह का है। एक संवाद होता है जो बहुत दूसरे ढंग का है, जहां हम शब्दों से नहीं उलझते, जहां हम सीखे हुए कंसेप्टस और धारणाओं को बीच में नहीं लेते, जहां चीज सीधी उतरने लगती है। जहां हम समझते हैं, जहां हम

व्याख्या नहीं करते हैं, इंटरप्रेट नहीं करते भीतर, जहां कि डायरेक्ट समझ शुरू हो जाती है। यह समझ ध्यान के व्यापक प्रयोगों से फैलाई जा सकती है।

बट आचार्य जी, ए.ज आई अंडरस्टेंड अवर माइंड इज़ कंडीशंड एण्ड इट प्ले.ज समटाइम्.ज वेरी मन्की ट्रिक्स एण्ड ड.ज नॉट अलाउ टु गो इन दि स्टेट ऑफ मेडीटेशन। वॉट मेज.र्ज यू सजेस्ट अबाउट दैट?

यह होगा ही। मन सारी चेष्टा करेगा स्वयं को बचाने की। मन पूरे प्रयास करेगा स्वयं को बचाने की। और सच तो यह है कि वह प्रयास कर ही इसलिए पाता है कि हम भी मानते हैं कि हम मन ही हैं। इसलिए प्रयास सफल हो जाते हैं। लेकिन ये प्रयास तोड़े जा सकते हैं, क्योंकि ये प्रयास सत्य पर खड़े हुए नहीं हैं, सत्य यह नहीं है। जो हमें सिखाया गया है, वही हम नहीं हैं। अगर वही हम होते तो सिखाया किसको जा सकता था?
एक बच्चा पैदा हुआ। चेतना तो लेकर आया है, वह माइंड लेकर नहीं आया है। माइंड तो अब पैदा किया जाएगा। चेतना को वह लेकर आया है, सीखने की क्षमता लेकर आया है, एक कांशसनेस लेकर आया है, एक आत्मा लेकर है उसके पास। इस आत्मा के चारों तरफ अब मन की एक दीवार खड़ी की जाएगी, जिसमें सिखाया जाएगा कि तू हिंदू है, तो दीवार पर लिखा जाएगा, तू हिंदू है। इसमें सारी बातें सिखाई जाएंगी, ऊंचा है, नीचा है; ब्राह्मण है, शूद्र है; क्या है, क्या नहीं है; यह सब सिखाया जाएगा। यह दीवार खड़ी होगी। इसी को हम लर्निंग कह रहे हैं-- इस माइंड को क्रिएट करने को। यह खड़ा हो जाएगा माइंड। इस लड़के को, इस बच्चे को यह भूल ही जाएगा कि मैं इसके अलावा कुछ हूं। यह समझेगा, मैं यही हूं। यह आइडेंटिटी हो जाएगी।
ध्यान की प्रक्रिया में जाने का मतलब है, इस आइडेंटिटी को तोड़ना। जो मैं जानता हूं, क्या वही मैं हूं? जो मैंने सुना है, समझा है, क्या वही मैं हूं? क्या मेरा मन ही मैं हूं? इसके बाबत बोध है, इसके बाबत अवेयरनेस है। तो जो मन निरंतर तरकीबें करेगा बचने की, वह तोड़ी जा सकेंगी। सच तो यह है कि जैसे ही यह खयाल आ जाए कि मैं कुछ पृथक, कुछ बियांड, कुछ अलग, कुछ भिन्न, वैसे ही मन की ट्रिक्स बंद हो जाती हैं। आइडेंटिटी टूटी कि ट्रिक्स गईं। ट्रिक्स का मतलब हैः आइडेंटिटी, और वह देर तक चल सकता है, समय लग सकता है। ऐसे एक क्षण में भी हो सकता है, खयाल आ जाए। खयाल आ जाए कि यह मैं नहीं हूं। और चूंकि सत्य यह है, यह खयाल आ सकता है, इस बोध को जगाया जा सकता है। मन आखिरी दम तक कोशिश करेगा। लेकिन उसकी कोई कोशिश अंततः सफल होना अनिवार्य नहीं है। अगर हम थक जाएं तो सफल हो सकती है। अगर हम थोड़े जूझते ही चले जाएं तो बहुत जल्दी वह फासला पैदा हो जाता है, जहां हम अलग और मन अलग हो जाता है। जिस दिन यह फासला पैदा हो गया, उस दिन के बाद ही अंडरस्टैंडिंग संभव है, उसके पहले संभव नहीं है। समझ नहीं पैदा होती है उसके पहले। उसके पहले हम जिसको समझ कहते हैं, वह बहुत धोखे की चीज है। वह हमारा जो सीखा हुआ है, उसी की समझ है और उसी को दोहराए हम चले जाते हैं जिंदगी भर!
तो ध्यान के लिए, इस बात के बोध को पहली सीढ़ी बनाया जाना चाहिए, इस बात
के चिंतन को कि क्या मैं वही हूं, जो मैं जानता हूं? क्योंकि मां के पेट में मैं कुछ भी नहीं जानता था, फिर भी था। पैदा हुआ तब भी कुछ नहीं जानता था, फिर भी था। फिर बढ़ा, फिर मैंने कुछ जान लिया। तब भी जो भीतर है, वह तो अलग ही होगा। जानने की यह जो एक पर्त चारों तरफ घिर गई है, इससे वह अलग होगा।

आचार्य जी, ए.ज यू सैड जस्ट नाव दैट दि न्यू बोर्न बेबी एक्वाय.ज दि नालेज बाई वे ऑफ लर्निंग फ्रॉम द इनवायरमेंट्स। दैन शुड वी इग्नोर दि हेरिडिटी?

नहीं, उपंक्षा करने की बात नहीं है। बहुत कुछ, नब्बे प्रतिशत वातावरण
से सीखा जाता है। दस प्रतिशत वंश-परंपरा से भी आता है। वंश-परंपरा से जो आता है, शायद आज नहीं कल उसको बदलने के भी उपाय हो सकेंगे। आज तो नहीं हो

सकते हैं। लेकिन वंश-परंपरा से जो आता है वह बहुत लिक्विडिटी है, वह बहुत तरल चीज है। उसे किसी भी ढांचे में ढाला जा सकता है। अंततः व्यक्ति जो बनता है, वह वातावरण ही बनाता है। और जिस माइंड की हम बात कर रहे हैं, वह तो वातावरण ही बनाता है। शरीर वंश-परंपरा से आता है। शरीर की बहुत सी क्षमताएं हेरेडिटी से आती हैं। ब्रेन की भी बहुत सी क्षमताएं हैं, हेरेडिटी से आती हैं, लेकिन माइंड सोसाइटी पैदा करती है। माइंड तो पूरा एनवायरनमेंट से आता है। निश्चित ही अगर ब्रेन अलग-अलग तरह के हैं, तो समाज को भी वातावरण से भी पैदा करने में कठिनाइयां होती हैं। लेकिन माइंड समाज पैदा करता है। माइंड जो है, वह सोशल प्रोडक्ट है।
जिस बात की मैं बात कर रहा हूं, वह यह है कि माइंड से पीछे जाने की जरूरत है। ब्रेन अलग-अलग हैं। एक बच्चे के पास ऐसा मस्तिष्क है जो ज्यादा जल्दी सीख सकता है। एक के पास ऐसा है जो देरी से सीखता है। एक बच्चा घंटे भर में सीखता है, दूसरा बच्चा छह दिन में सीखता है। ये दोनों के अलग-अलग हैं, ये हेरेडिटी से आएंगे। लेकिन एक दिन में सीखा हो किसी ने कि छह दिन में सीखा हो, जो सीख लिया है वह माइंड है, और उस माइंड से पीछे जाना है। और दोनों अगर उस माइंड के पीछे चले जाएं तो ध्यान में प्रविष्ट हो जाएंगे। और उस ध्यान में, जिसे वे जानेंगे, यह हेरेडिटी से आया हुआ नहीं है। जिसको हम आत्मा कहें, वह हेरेडिटी से आई हुई नहीं है। उसकी अपनी यात्रा है, उसका अपना जगत है। वह मां-बाप के शरीर से नहीं आई है।
समझ लें कि आप एक तरह के कपड़े पहने हुए हैं, मैं एक तरह से दूसरे तरह के कपड़े पहने हुए हूं। इन कपड़ों में भेद है। आपने दूसरे दर्जी से बनवाए हैं, मैंने दूसरे दर्जी से बनवाया है। आपने दूसरी दुकान से खरीदे हैं, मैंने दूसरी दुकान से खरीदे हैं। यह कपड़े में भेद है।
इन कपड़ों को हटा दें तो इन कपड़ों के पीछे जो है, वहां कोई भेद नहीं है।
तो ब्रेन में तो भेद है, क्योंकि एक मां-बाप से एक आया है, दूसरे मां-बाप से दूसरा आया है। शरीर में भी भेद है। और फिर अलग-अलग समाजों में हम पलेंगे तो माइंड में भी भेद होगा। लेकिन ये तीनों हमारी पर्तें हैं, कपड़े हैं--शरीर भी, ब्रेन भी, माइंड भी। इन तीनों से पीछे हट जाना ध्यान है। और इन तीनों से पीछे जो हट कर हम खड़े होंगे, तो वह मिलेगा जो है; और उस है में कोई फर्क नहीं है। उसको शुद्ध सत्ता, प्योर एक्झिस्टेंस कहें। उसे जान लेना ही सत्य को जान लेना है। इन सब में तो भेद हैं ही।
एक आदमी ने हिंदी सीखी, एक ने अंग्रेजी सीखी, एक ने पंजाबी सीखी, एक ने जर्मन सीखी--इनके तीनों में भेद है। यह वातावरण का भेद है। फिर सीखने वाला जो ब्रेन है, वह सबको अलग-अलग मिला हुआ है, उसमें भेद है। फिर ब्रेन जिस बॉडी में बैठा हुआ है, वह बॉडी सबकी अलग-अलग है। उसमें भेद है। कोई बीमार है, कोई स्वस्थ है, कोई कमजोर है। कोई ताकतवर है, यह सारे फर्क हैं। लेकिन जैसे-जैसे हम भीतर घुसते हैं, फर्क कम होते चले जाते हैं। अंततः सेंटर पर, केंद्र में कोई फर्क नहीं रह जाता है। वहां हम सभी प्योर एक्झिस्टेंस हैं।
और उस पर हम पहुंच जाएं, तभी हम परम आनंद पर, सत्य पर, ज्योति पर पहुंचते हैं। और उस घटना के बाद ही प्रेम बहना शुरू होगा, उसके पहले बहना शुरू नहीं होगा। और वहां पहुंचने पर ही अहिंसा संभव होगी, उसके पहले संभव नहीं होगी। उस तक पहुंचा सके, ऐसा समाज, ऐसी शिक्षा, ऐसी संस्कृति चाहिए। अभी तो उससे उलटा है। उस पर कैसे हम न पहुंच पाएं, इसका सारा आयोजन है। इस पर हम पहुंच सकते हैं।
सारे धर्म की, सारे दर्शन की, सारे योग की अगर सारभूत निचोड़ है, तो इतनी ही है कि उस पर कैसे पहुंच जाएं, जो हमारे भीतर एसेंशियल है, एक्झिस्टेंशियल है। नॉन-एसेंशियल हमारे भीतर अलग-अलग है। वह हमें मिला है कहीं से, तो अलग-अलग सोर्सस से मिला है, तो अलग-अलग होगा।

डु यू सजेस्ट आचार्य जी, एनी लिट्रेचर व्हिच इज़ स्पोकन बाई यू आर रिटन बाई यू व्हिच कैन गिव लाइट आन दि सब्जेक्ट ऑफ लव, नॉन-वायलेंस एण्ड समाधि ए.ज यू सजेस्टेड?

समाधि के लिए "साधना-पथ" उपयोगी हो सकती है। प्रेम के लिए "प्रेम के पंख" उपयोगी हो सकती है, अहिंसा के लिए "अहिंसा-दर्शन" उपयोगी हो सकती है। और ऐसे तो जो भी मैं कह रहा हूं, वह सभी उपयोगी होगा, क्योंकि मैं कुछ लिख नहीं रहा हूं। इसलिए कब क्या कह रहा हूं, कुछ पक्का नहीं है। पहले से कुछ तय नहीं है। और जो भी किताबें हैं वे लिखी हुई नहीं हैं, सब बोली हुई हैं। तो ऐसे तो सभी किताबें उपयोगी होंगी, लेकिन विशेष रूप से इन किताबों पर ध्यान दिया जा सकता है।

"शिक्षाः साध्य और साधन" विषय पर प्रश्नोत्तर-शृंखला-4

शिक्षा में क्रांति
अठारहवां प्रवचन

महत्त्वाकांक्षारहित अतुलनीय प्रेम

आचार्य जी, मैनी स्कॉलर्स ऑफ ईस्ट एण्ड वेस्ट हैव गिवन मैनी-मैनी एक्सप्लेनेशंस ड्राविंग दि थिन लाइन बिटवीन अंडरस्टैंडिंग एण्ड एग्जे.जरेशन। इवन खलील जिब्रान वेंट टु द एक्सटेंट स्टेटिंग दैट एग्जे.जरेशन इज़ दि डेड बॉडी ऑफ अंडरस्टैंडिंग। क्रुएल्टी इज़ द आउटकम ऑफ द एंटी-थिसिस ऑफ लव, एस्केप ऑफ दि कोवरडाइज। इफ आई से सो सर, दैट इट इज़ दि नॉन-कविजन... ऑर नॉन-अंडरस्टैंडिंग व्हिच ब्रिंग्स ऑल दि ब्रुटेल्टीज एण्ड केऑस इन दि सोसाइटी। वुड यू प्लीज थ्रो लाइट ऑन दिस आस्पेक्ट ऑफ लाइफ?

इस संबंध में दो बातें समझ लेनी जरूरी हैं। यह ठीक है कि जीवन की सारी अराजकता, सारा दुख, सारी क्रूरता नासमझी का ही फल है; अज्ञान का ही फल है। और अज्ञान गहरा है। अज्ञान के गहरे होने में या ज्ञान के होने में जो सबसे बड़ा कारण है, वह चित्त का सम्यक्त्व का अभाव है--एक ऐसी जगह खड़े होना, जिसे हम कहें दो अतियों के बीच में। एग्जे.जरेशन एक अति है, एक एक्सट्रीम है। और अति पर कहीं भी सत्य नहीं है। जैसे घड़ी का पेंडुलम एक कोने से दूसरे कोने पर घूम जाता है, बीच में नहीं रुकता है; ऐसे ही हमारा मन भी एक अति से दूसरी अति पर घूमता रहता है। कभी भी वहां नहीं रुकता जहां अति न हो, जहां बीच हो, जहां मध्य हो। मध्य में रुक गए चित्त को ही ज्ञान उपलब्ध होता है। अतियों पर डोलते चित्त को कभी ज्ञान उपलब्ध नहीं होता है।
पहली तो बात यह है कि जो अति पर डोल रहा है, जो एक अति से दूसरी अति पर
जा रहा है, वह कभी भी थिर नहीं हो पाता। क्योंकि अति पर ठहरना असंभव है। अति को छुआ जा सकता है, छूते ही वापसी, लौटना शुरू हो जाएगा। अति पर कोई ठहर नहीं सकता। और जो चित्त ठहर नहीं सकता, वह सत्य को नहीं जान सकता है। निरंतर गति में डोलता हुआ चित्त ऐसा है, जैसे सागर में तूफान हो। शांत चित्त दर्पण बन सकता है सत्य को जानने का। इसलिए सारी समझ उस चित्त में पैदा होती है जो शांत है। और शांत वही चित्त हो सकता है जो दोनों अतियों से बच जाए और मध्य में खड़ा हो जाए।
कनफ्यूशियस ने जिसे गोल्डन मीन कहा है, या बुद्ध ने जिसे सम्यक-ज्ञान कहा है, या महावीर ने जिसे सम्यकत्व कहा है--इन सबका जो अर्थ है; वह एक ही है। एक ऐसा बिंदु है, जहां हम अति पर नहीं होते हैं। न हम पक्ष में होते हैं, न हम विपक्ष में होते हैं। क्योंकि जो पक्ष में है और पक्ष के आग्रह से भरा है, वह भी प्रिज्युडिस्ड है; जो विपक्ष में है और विपक्ष के आग्रह से भरा है, वह भी प्रिज्युडिस्ड है। और प्रिज्युडिस्ड माइंड, पक्ष से या विपक्ष से भरा हुआ चित्त सत्य को जानने में समर्थ नहीं हो सकता। ऐसा चित्त चाहिए जो निष्पक्ष हो। और निष्पक्ष चित्त तभी होगा जब वह किसी अति पर न हो। अति अंधा करती है। एक्सट्रीम पर होना अंधा होना है और अंधा आदमी कैसे जान सकता है। इसलिए दो-तीन बातें समझनी जरूरी हैं।
पहली तो बात यह है कि हमारा मन साधारणतः अतियों में ही होता है। या तो
हम प्रेम करते हैं, या घृणा करते हैं। या तो हम किसी के पीछे पागल होकर मित्र हो जाते हैं या पागल होकर शत्रु हो जाते हैं। जो पागल होकर प्रेम में पड़ गया है, राग में, आसक्ति में--वह भी नहीं समझ पाएगा। जो पागल होकर शत्रु हो गया है, विरोध में खड़ा हो गया है; घृणा से भर गया है--वह भी नहीं समझ पाएगा।
समझने के लिए एक चित्त चाहिए जिसमें कोई आग्रह नहीं हो--न राग का, न विराग का। तब हम समझ पाएंगे क्योंकि तब समझ साफ, निष्पक्ष और निर्मल होगी। तो या तो हम किसी के मित्र होते हैं, या शत्रु होते हैं। मध्य में हम कभी भी नहीं होते। इसलिए न हम मित्रों को समझ पाते हैं, न शत्रुओं को समझ पाते हैं। मित्रों को वैसा समझ लेते हैं, जैसा हम चाहते हैं वे हों। और शत्रुओं को वैसा समझ लेते हैं, जैसा हम मान लेते हैं कि वे हैं।

लेकिन कोई व्यक्ति कैसा है, इसे हम नहीं जान पाते हैं। इसे जानने के लिए तो मित्र और शत्रु के बीच में ठहरना होगा। और यही बात सारी चीजों के संबंध में लागू है। जीवन के सारे सत्यों के संबंध में यह बात लागू है कि हम यदि कोई आग्रह लिए हुए हैं और आग्रह हमेशा अति पर होता है। तो जितना तीव्र आग्रह होगा उतना हम अति पर चले जाते हैं। इसलिए सत्य को समझने के लिए अनाग्रह वृत्ति--एक ऐसी वृत्ति, जिसका कोई आग्रह नहीं है, जो सिर्फ समझना चाहता है। ऐसी समझने की स्थिति में चित्त को मध्य में खड़ा होना पड़ेगा। मित्रता छोड़नी पड़े, शत्रुता छोड़नी पड़े; राग छोड़ना पड़े, द्वेष छोड़ना पड़े और ऐसी जगह खड़ा होना पड़े जहां हमारा मन किसी भी चीज से प्रभावित नहीं है।
और जब चित्त प्रभावित नहीं होता तो अकंप हो जाता है। प्रभाव चित्त को कंपित करते हैं। वह जितने चित्त में कंपन उठते हैं, वे सब प्रभाव से उठते हैं। जब कोई चित्त बिल्कुल अप्रभावित है तो निष्कंप होता है। निष्कंप यानी जहां न इस तरफ डोलता है, न बाएं, न दाएं, न लेफ्टिस्ट होता है, न राइटिस्ट होता है, न वामपंथी, न दक्षिणपंथी; वह सिर्फ होता है और उसका कोई पंथ नहीं होता है। उस ठहरे हुए क्षण में अंडरस्टैंडिंग का, ज्ञान का जन्म होता है।
कनफ्यूशियस एक गांव में गया। उस गांव के लोगों ने कहा कि हमारे गांव में एक बहुत बुद्धिमान आदमी है, उससे मिलें। कनफ्यूशियस ने कहाः तुम उसको बहुत बुद्धिमान क्यों कहते हो? तुमने क्या पाया जिससे तुम उसको बुद्धिमान कहते हो? तो उस गांव के लोगों ने कहाः वह इतना बुद्धिमान है कि वह कुछ भी करने के पहले कम से कम तीन बार सोचता है। एक कदम भी उठाए तो तीन बार सोच कर कदम उठाता है।
तो कनफ्यूशियस ने कहा कि फिर मैं उससे नहीं मिलूंगा, क्योंकि कुछ भी करने के पहले जो सिर्फ एक बार सोचता है, वह एक अति पर है और कुछ भी करने के पहले जो तीन बार सोचता है वह दूसरी अति पर है। दो बार सोचना पर्याप्त है। वह मध्य है। तो कनफ्यूशियस ने कहाः बुद्धिमान मैं उसको कहता हूं जो मध्य में है। जो वहां खड़ा है, जहां चीजें सम होती हैं, जो बीच में है। इस बीच की स्थिति में ही ज्ञान का जन्म होता है।
राग का मतलब होता हैः रंग, कलर। जब भी चित्त किसी रंग में रंग जाता है; चाहे मित्रता के, चाहे शत्रुता के, तब फिर वह वही नहीं देख पाता जो है। वह देखने के लिए--जो है, चित्त के ऊपर कोई रंग नहीं चाहिए। सब अतिशय, एग्जे.जरेशन है, एक तरह का रंग है। एक आदमी हिंदू है, यह एक अतिशय है; एक आदमी मुसलमान है, यह एक अतिशय है; एक आदमी पूंजीवादी है, यह एक अतिशय है; एक आदमी साम्यवादी है, यह एक अति है। इनमें से कोई भी नहीं समझ पाएगा जीवन की ठीक-ठीक स्थिति को।
और भी बड़े मजे की बात है कि जैसा मैंने कहा कि मन कभी ठहरता नहीं और एक अति पर पहुंचते ही अपने उलटे में बदलना शुरू हो जाता है। क्योंकि अति इतना एक्सट्रीम बिंदु है कि वहां ठहरा नहीं जा सकता। वहां सिर्फ स्पर्श किया, वापसी शुरू हो जाती है। सिर्फ मध्य में ही कोई ठहर सकता है। अगर घड़ी के पेंडुलम को ठहरना हो तो मध्य में होना पड़ेगा। न ठहरना हो तो वह अतियों पर घूम सकता है।
और यह मजे की बात है कि बाएं ही तरफ अति पर जाकर घड़ी का पेंडुलम जब आखिरी छोर पर पहुंचता है तो इस बाएं तरफ जाने से जो शक्ति अर्जित होती है, वही उसे फिर दाएं तरफ ले जाती है। वही शक्ति, जो उसे दाएं तरफ अति तक ले जाती है, वह फिर उसे बाएं तक ले जाती है! और इसलिए एक बहुत अदभुत नियम है और वह यह है कि अति पर जाने वाला व्यक्ति सदा अपने विपरीत में बदल जाता है। अगर कोई आदमी किसी व्यक्ति को पागल होकर प्रेम करेगा तो इस बात की बहुत संभावना है कि बहुत जल्दी वह पागल होकर शत्रु हो जाएगा। क्योंकि इस अति पर ठहरना मुश्किल है, वापस पेंडुलम लौटने लगेगा।
भोजन जीवनदायी है। अगर कोई आदमी भोजन करता ही चला जाए तो जीवनदायी भोजन बहुत जल्दी जीवन लेने वाले जहर में परिणित हो जाएगा। अति भोजन मार डालेगा। भोजन जीवन देता है, अति भोजन मार डालेगा। और जो आदमी अति भोजन करेगा उसको ऐसा लगेगा कि यह, यह भोजन ने मुझे मार डाला। ऐसा नहीं लगेगा कि

अति ने मार डाला, उसे लगेगा कि भोजन ने मुझे मार डाला। तो अति भोजन करने वाला बहुत जल्दी उपवास शुरू कर देता है। उपवास दूसरी अति है, उपवास भी मार डालेगा। चाहिए सम्यक भोजन, बीच में, जहां न उपवास है, न अति भोजन है। ज्यादा खाने वाला आदमी बहुत जल्दी उपवास करने पर उतर आएगा। उपवास करने वाला आदमी बहुत जल्दी ज्यादा खाने के लिए आतुर हो जाएगा।
और हमारे जीवन के सब पहलुओं में यह अति चलेगी। और जितना चित्त अति में होगा, उतना उलटे में परिवर्तित होता रहेगा और इसलिए कभी उसे नहीं देख पाएगा, जो है। जो है, उसे देखना ही अंडरस्टैंडिंग है। सब स्थितियों में, व्यक्तियों के संबंध में, स्थितियों के संबंध में, सभी समस्याओं के संबंध में, जो है उसको वैसा ही देखना। लेकिन जो है उसको वैसा ही देखना तभी संभव है, जब मैं बिल्कुल शांत, थिर हूं, ठहरा हुआ हूं। मेरे मन के ऊपर कोई कंपन नहीं है, कोई राग नहीं, कोई रंग नहीं, कोई अतिशय भार नहीं। जब मैं बिल्कुल मौन ठहरा हुआ हूं, तब मैं समझ पाऊंगा।
और ऐसा नहीं हो पाता। या तो एक आदमी भोगी होता है, तब वह भोग की अति पर होता है, या फिर यही आदमी कल त्यागी हो जाता है और त्याग की अति पकड़ लेता है। लेकिन कभी भी बीच में खड़ा नहीं होता जहां कि भोग और त्याग दोनों न हों, जहां चीजें थिर और शांत हो जाएं। इसलिए अक्सर ऐसा होता है कि गरीब समाज भौतिकवादी हो जाता है। गरीब समाज मैटीरियलिस्ट हो जाएगा। अमीर समाज बहुत जल्दी स्प्रिचुअलिस्ट और अध्यात्मवादी होने लगेगा। और ये अतियां डोलती रही हैं।
जैसे यह देश कभी अमीर था तो अध्यात्मवादी था। पूरा देश नहीं सही, तो
जो भी अमीर थे, वे अध्यात्मवादी थे। फिर अब देश गरीब है तो भौतिकवादी होगा। अमेरिका में अब धन इतना बढ़ गया, उस अति पर पहुंच गया कि अब त्याग का विचार करना जरूरी हो गया। अब वे त्याग का विचार कर रहे हैं। अब धर्म की बड़ी प्रभावना है, धर्म पर बड़ा चिंतन है। यह भी पूरब-पश्चिम अतियां डोलती रहती हैं।
और साधारणतया व्यक्ति भी कभी मध्य में नहीं ठहरता। और जो व्यक्ति मध्य में नहीं ठहरता, उसको कभी भी समझ पैदा नहीं होगी। और जिसको समझ पैदा नहीं होगी, वह व्यक्ति सब तरह की अराजकताओं, दुखों, कठोरताओं, क्रूरताओं को जन्म देने वाला होगा। क्योंकि उसकी नासमझी और कुछ कर ही नहीं सकती। और नासमझी में जो भी किया जाएगा, चाहे वह किसी के हित के खयाल से ही क्यों न किया जाए, वह भी अहित ही करने वाला होगा। मैं हित में करता हूं या अहित में, यह सवाल महत्वपूर्ण नहीं है। मैं समझ में करता हूं, या नासमझी में, यह सवाल महत्वपूर्ण है। नासमझी में किया गया हित भी अहित लाता है। और समझपूर्वक तो अहित किया नहीं जा सकता। इसलिए जो भी किया जाता है, वह हितपूर्ण हो जाता है।
यह भी ठीक है कि मनुष्य के जीवन में जितनी क्रूरताएं, जितनी कठोरताएं, जितनी हिंसा दिखाई पड़ती है, वह उसकी समझ के अभाव का ही परिणाम है। और इसीलिए हम किसी आदमी की कठोरता को नहीं बदल सकते हैं। अगर उसको हम समझ ला सकें तो उसकी कठोरता विदा हो जाएगी। इसलिए किसी कठोर आदमी को अहिंसा का उपदेश देने से वह आदमी अहिंसक नहीं हो सकता। हां, हो सकता है कि वह कठोर आदमी अहिंसक हो जाए, दिखाई पड़ने लगे; लेकिन अब सिर्फ इतना ही फर्क पड़ेगा कि जो हिंसा वह दूसरों के साथ कर रहा था, वह हिंसा वह अपने साथ शुरू कर देगा। वह एक अति दूसरे को दुख देने से दूसरी अति पर आ जाएगा, अपने को दुख देना शुरू कर देगा। कल वह दूसरे के शरीरों को काट रहा था, अब वह अपने शरीर को काटेगा और मारेगा। लेकिन अहिंसक वह नहीं हो पाएगा। इसीलिए मेरा कहना है कि हिंसक को अहिंसा के उपदेश की जरूरत नहीं है। हिंसक को ऐसे चित्त की जरूरत है कि वह मध्य में खड़े होकर देख सके; तब वह अपने आप अहिंसक हो जाएगा। जितने विरोध हैं जगत में, जितने संप्रदाय हैं, जितने पंथ हैं--ये सब अतियों से पैदा हुए हैं। अगर मनुष्य में समझ गहरी हो, साफ हो तो दुनिया में कोई पंथ नहीं होगा, क्योंकि कोई अति नहीं होगी।

डु यू फील आचार्य जी, इट इज़ ऑल लीडर्स, मे बी पॉलिटिकल ऑर रिलिजियस। ऑर
दे आलसो मुविंग इन दि सेम डायलेमा?

हां, असल बात यह है कि मध्य में खड़े होकर और नेता होना बहुत मुश्किल है। अति पर खड़े होकर ही नेतृत्व आसानी से मिलता है, लीडरशिप आसानी से मिलती है। क्योंकि अधिकतम लोगों का चित्त अतियों में होता है। और इसलिए कोई भी अति पर नेतृत्व मिल सकता है। और मध्य की बात इतनी विनम्र, इतनी उदार होती है कि मध्य में नेतृत्व ग्रहण करना बहुत मुश्किल है।
तो जो व्यक्ति मध्य में होगा, नेता होना उसे मुश्किल है--न धर्म का, न राजनीति का। अति पर होने पर ही नेतृत्व आसान है। सब पूंजीवादी शैतान हैं, पूंजीवाद जहर है--इतनी अति पर कोई खड़ा हो तो मजदूर का नेता हो पाएगा। इस अति पर खड़े हुए बिना मजदूर का नेता होना बहुत मुश्किल है। क्योंकि यही अति मजदूर के मन को अपील करेगी। वह भी इसी अति पर खड़ा हुआ है। मध्य में तो लोग ही नहीं हैं, इसलिए मध्य में खड़े हुए व्यक्ति को साथी मित्र खोजना भी मुश्किल है। क्योंकि वह, वह संख्या ही नहीं है लोगों की, जो मध्य में हों खड़े। हां दूसरी अति पर फिर लोग मिल जाएंगे।
सब मुसलमान राक्षस हैं तो हिंदू का नेतृत्व किया जा सकता है। सब हिंदू काफिर हैं तो मुसलमान का नेतृत्व किया जा सकता है। हालांकि ये सब झूठी बातें हैं। क्योंकि एक हिंदू दूसरे हिंदू जैसा नहीं है; एक मुसलमान दूसरे मुसलमान जैसा नहीं है। लेकिन इतनी अतियों पर ही लोगों के मन प्रभावित होते हैं क्योंकि लोग अतियों पर हैं। इसलिए सब नेता नुकसान पहुंचाते हैं।
असल में दुनिया को नेताओं की जरूरत नहीं है। और अच्छी दुनिया में नेता होंगे ही नहीं। नेता बीमारों के ही नेता हैं। जितनी दुनिया शांत और अच्छी होती चली जाएगी, वहां नेता नहीं होंगे। वहां ऐसे व्यक्ति जरूर होंगे जो प्रेरणा के स्रोत बनें। प्रेरणा के स्रोत बनें, लेकिन उन्हें पता भी नहीं होगा कि वे प्रेरणा के स्रोत हैं। ऐसे शांत लोग जरूर होंगे। दुनिया में ऐसे लोग भी हुए हैं जो वहां खड़े थे, जहां मध्य है। लेकिन जब तक वे मध्य में खड़े थे, तब तक दुनिया ने उनकी तरफ देखा भी नहीं! जब उनके आस-पास ऐसे लोग इकट्ठे हो गए जिन्होंने उनकी मध्यस्थता को तो एक तरफ फेंका और उनकी बातों को अति पर खींच कर खड़ा कर दिया, तब फिर उनको नेतृत्व उपलब्ध हो गया।
महावीर को या बुद्ध को या जीसस को या सुकरात को अपने जीवन में नेतृत्व नहीं मिला। नेतृत्व मिला मरने के बाद! और उन लोगों की वजह से मिला, जिन्होंने खींच कर चीजें अतियों पर खड़ी कर दीं। इतनी अति पर जब तक न खड़ी हो जाए बात, जब तक कि अति से बीमार लोग उसको पकड़ पाएं, तब तक कोई नेतृत्व को उपलब्ध नहीं होता। इसलिए दुनिया में नेता नुकसानदायक सिद्ध हुआ है। नेता की जरूरत भी नहीं है। दुनिया में समझदार लोगों की जरूरत है। ऐसे समझदार लोग प्रेरणा के स्रोत बन जाएंगे। उनको पता भी नहीं होगा, लेकिन उनके आस-पास शांति की लहरें फैलनी शुरू होंगी, प्रकाश फैलना शुरू होगा। बहुत से लोगों को उनका जीवन प्रेरणादायी मालूम पड़ेगा और लगेगा कि किस बिंदु पर खड़े होकर इतनी शांति को वे उपलब्ध हुए हैं। हम भी कैसे उस बिंदु को उपलब्ध हो जाएं!
अत्यंत शांत और मध्य में खड़ा हुआ व्यक्ति इतना शांत होगा कि उसके प्रभाव को पकड़ने के लिए भी बड़ी शांति चाहिए। हमारे खयाल में नहीं आएगा वह, क्योंकि उसमें कोई फीवर और कोई ज्वर नहीं होगा, और ज्वर के बिना नेतृत्व बड़ा मुश्किल है। जितने जोर से फीवरिश हम लोगों को कर सकें, जितना पागल कर सकें, और जितना मैनिया पैदा कर सकें, खतरा पैदा कर सकें और लोगों को जितना घबड़ा सकें, उतना ही नेतृत्व सरल होता है।
हिटलर या स्टैलिन या माओ जैसे लोग नेता हो सकते हैं, और बड़े नेता हो सकते हैं। क्योंकि बड़ी अति पर वे बात करते हैं। गांधी जैसे लोग भी नेता हो सकते हैं, क्योंकि वह भी बड़ी अति पर बात करते हैं। अगर वे हिंसा की अति पर बात करते हैं तो गांधी जैसे लोग अहिंसा की अति पर बात करते हैं। अति

प्रलोभक है। अति काफी रस देती है। लेकिन ठीक मध्यस्थ व्यक्ति हमारी समझ के बाहर हो जाता है। क्योंकि वह जो बात करेगा वह इतनी शांत होगी, वह इतनी सत्य होगी, वह इतने बीच में होगी कि उस बात को पकड़ पाना ही हमारे लिए मुश्किल हो जाएगा।
अगर बुद्ध से जाकर कोई पूछे, ईश्वर है? तो बुद्ध कहेंगे, हो भी सकता है। और कोई पूछे, ईश्वर नहीं है? तो बुद्ध कहेंगे, नहीं भी हो सकता है। अब ऐसा आदमी नेतृत्व कैसे ग्रहण करे? अब बुद्ध इतने मध्यस्थ हैं। वह वैसी ही हालत है, जैसे कि एक कमरे में एक गिलास आधा पानी से भरा हुआ रखा हो और एक आदमी बाहर आकर कहे कि गिलास आधा खाली है, और एक आदमी बाहर आकर कहे कि गिलास आधा भरा है। तो इन दोनों में विवाद हो सकता है। ये दो पार्टियां बन सकती हैं। एक तीसरा आदमी है जो बिल्कुल मध्यस्थ है, जो पूरी बात देख कर लौटा है कि गिलास आधा खाली भी है और आधा भरा भी है। वह कहेगा, तुम भी ठीक हो और तुम भी ठीक हो। और तुम भी गलत हो और तुम भी गलत हो। आधा गिलास भी है, नहीं भी है। आधा खाली भी है और नहीं भी है।
अब ऐसा आदमी इतनी विनम्र प्रस्तावना कर रहा है कि उसके लिए नेतृत्व उपलब्ध करना बहुत मुश्किल हो जाएगा। क्योंकि यह किसी तरह का ज्वर पैदा नहीं करता। लोग इससे हट ही जाएंगे। वे कहेंगे, यह आदमी क्या है, यह सभी बातों में हां भरता है। यह इसको भी ठीक कहता है, उसको भी ठीक कहता है! जब तक इसको गलत न कहे कोई तीव्रता से, और अति पर, और जब तक किसी दूसरी चीज को अति पर ठीक न कहे और एब्सोल्यूट ट्रूथ का दावा न करे कि यह परम सत्य है, तब तक नेतृत्व नहीं मिलता। इसलिए सब नेतृत्व लोगों में नासमझी का शोषण है और, और एक चक्कर पैदा करता है। नासमझी का शोषण और नासमझी बढ़ाता है।
इसलिए दुनिया में नेताओं ने कोई हित नहीं किया। न अनुयायियों ने कोई हित किया। अब एक ऐसी दुनिया चाहिए जहां नेता-अनुयायी हो ही नहीं। वहां हम ऐसे लोग चाहते हैं जो शांति के प्रेरणास्वरूप हों, जो वहां मध्य में खड़े हों, जहां जीवन की सब अतियां विलीन हो जाती हैं और जहां वह दिखाई पड़ता है, जो है। और इस मध्य की अत्यंत डेलिकेट, और अत्यंत सूक्ष्म अनुभूति में, फिर वे दोनों अतियों को या तो गलत कहेंगे या दोनों को एक साथ सही कह देंगे। क्योंकि उस मध्य के बिंदु पर यही दो बातें संभावना की हैं। या तो वे कहें, दोनों ठीक हैं या वे कहें, दोनों गलत हैं। क्योंकि जो है, वह दोनों से भिन्न है।
यह दुनिया की जितनी पीड़ा, कलह और संघर्ष है, यह नेताओं के कारण है, अनुयायियों के कारण है। और ऐसी समझ बढ़ाने की जरूरत है कि कोई किसी का अनुयायी न बने। और नेता बनना और नेता बनने की आकांक्षा और चेष्टा भी गर्हित पाप है, अपराध है, यह भी ध्यान में रखना जरूरी है। क्योंकि जिस तरह के लोगों का नेता हमें बनना हो उसी तरह की बातें कहनी जरूरी हो जाती हैं। अगर पागल हों, तो पागलों के बीच में उनसे बड़ा पागल ही नेता पागल हो सकता है। क्योंकि वह उतना बड़ा पागलपन प्रकट करे कि पागल उसके अनुयायी हो जाएं। और दुनिया अज्ञान में और नासमझी में है। इसलिए जितनी नासमझी की बातें करने वाला नेता हो, उतनी शीघ्रता से नेतृत्व पा सकता है।
असल में दुनिया में नेतृत्व, मिस्चीवियस और उपद्रवी किस्म के लोग, नेतृत्व ग्रहण कर लेते हैं। क्योंकि उन लोगों के दिमाग में इतना उपद्रव है कि जब उनसे बड़ा उपद्रवी उन्हें दिखाई पड़ता है तो वे उसके पीछे चल पड़ते हैं। अब दुनिया को प्रेरणा-स्रोतों की जरूरत है--ऐसे प्रेरक लोगों की जो एक शांत झील की तरह हैं। जिनके पास जाकर हमारे मन को भी लगे कि इतना शांत होने का आनंद हम भी लें। जो शांत प्रकाश की तरह हैं, जिनके पास जाकर हमको लगे, इतना शांत हमारे भीतर भी होने की संभावना है।

डोंट यू फील आचार्य जी, व्हेन वी लिव इन दि सोसायटी, वी रिक्वायर सम टाइप ऑफ टेक्नीकल नो-हाउ! ए.ज ए सब्जेक्ट ऑफ साइंस, वी लर्न एट कालेज ऑर युनिवर्सिटी, दि सब्जेक्ट ऑफ इकॉनामिक्स ऑर पॉलिटिक्स। देअर इज़ आलसो वन काइंड ऑफ एक्सट्रीमिटी। जस्ट आई गिव द एक्जांपल, वा.ज नॉट आइंस्टीन आलसो

एक्सट्रिमिस्ट ऑर दि कार्ल मार्क्स? एण्ड हाउ वी कैन अवाइड दिस टाइप ऑफ एक्सट्रीमिटी?

नहीं, एक विषय को अध्ययन करना स्पेशलाइजेशन है, एक्सट्रीमिटी नहीं।
एक विषय के ऊपर जीवन को लगा देना अत्यंत जरूरी है, क्योंकि जीवन बहुत बड़ा है। जीवन तो अखंड है, उसे तोड़ना मुश्किल है। जीवन की गहराई में गणित और संगीत जुड़े हुए हैं। लेकिन मनुष्य इतना छोटा है, इतना सीमित है कि अगर वह जीवन की अखंडता को पकड़ने चले तो कुछ भी नहीं जान पाएगा, कुछ भी नहीं खोज पाएगा।
तो हम जीवन को टुकड़ों में तोड़ते हैं--मनुष्य की सीमित बुद्धि के कारण,
और एक-एक टुकड़े को अध्ययन करने जाते हैं। और जीवन इतना विराट, इतना अनंत है और मनुष्य इतना छोटा है कि हम उस विराट वृक्ष की एक छोटी सी शाखा पर, एक छोटे से पत्ते को जान ले तो भी काफी है।
तो आइंस्टीन जैसे व्यक्ति अति पर नहीं हैं। आइंस्टीन जैसे व्यक्ति बड़े सम्यकत्व पर हैं। क्योंकि वे जो अध्ययन कर रहे हैं, एक छोटी सीमा, लेकिन उसमें वे बड़ा समभाव रख रहे हैं, नहीं तो वे सत्य के करीब ही नहीं पहुंच सकेंगे। एक वैज्ञानिक मनुष्य तो बहुत ही समभावी होता है, नहीं तो सत्य की खोज ही नहीं कर सकता है।
यानी मेरी दृष्टि में धार्मिक लोग इतने समभावी नहीं होते, जितना एक साइंटिफिक माइंड, वैज्ञानिक चित्त समभावी होता है। क्योंकि उसे तो समभावी होना जरूरी है, नहीं तो वह सत्य को खोज ही नहीं पाएगा, एक इंच नहीं खोज पाएगा। माना कि उसने एक छोटा सा क्षेत्र चुना है, लेकिन वह छोटा सा क्षेत्र भी बहुत बड़ा है।
तो आइंस्टीन जैसे व्यक्ति अत्यंत समभावी हैं। और मैं यह भी मानता हूं
कि उनके समभाव की यह जो विज्ञान के क्षेत्र में प्रयोग है, यह उनके चित्त को वही लाभ पहुंचाता है जो किसी ध्यानस्थ व्यक्ति को पहुंचता हो। ये एक दूसरी दिशा से वहीं पहुंच जाते हैं। आइंस्टीन जब अपनी गणित की पहेली को हल करने में लगा हो तो वह दुनिया के किसी भी ध्यानस्थ व्यक्ति से कम शांत नहीं होता है। अगर अशांत होगा तो हल नहीं कर पाएगा। वह इतने दूर तक, इतने गहरे गणित के उलझावों को हल कर पाता है, उसका कारण यह है कि इतने दूर तक वह शांत है। और इतने दूर तक वह निष्पक्ष है। उसका कोई पक्ष नहीं है।
असल में विज्ञान की मौलिक मान्यता यह है कि खोज वही कर पाएगा जो कोई पक्ष लेकर प्रवेश न करे; जो निष्पक्ष जाए, अनप्रिज्युडिस्ड जाए; जो तय करके न जाए कि यह ठीक है और यह गलत है--जो यह मान कर जाए कि मुझे पता नहीं है। विज्ञान की पहली मान्यता यह है कि मुझे पता नहीं है, यह खोजी मान कर जाए; और फिर खोज हो सकती है।
तो इन व्यक्तियों को एक्सट्रीम पर मैं नहीं कहता हूं। ये अति पर नहीं हैं। ये भी समता का प्रयोग कर रहे हैं, एक छोटी दिशा में। और उस दिशा को छोटा करना जरूरी है। आज से पांच या दस हजार साल पहले एक आदमी सारे ज्ञान का अध्ययन कर सकता था क्योंकि ज्ञान बहुत कम था। एक आदमी साथ में वैद्य भी था, साथ में कवि भी था, साथ में धर्मगुरु भी था, सब कुछ था। क्योंकि ज्ञान ही इतना कम था कि एक आदमी उसको अध्ययन कर सकता था। जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ा वैसे- वैसे कठिनाई होती चली गई। जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ा तो एक-एक छोटी चीज इतनी बड़ी सिद्ध हुई कि उस छोटी चीज में ही एक विज्ञान खड़ा होता चला गया।
एक जमाना था कि फिलासफी, यानी सब ज्ञान था। और इसलिए अब भी हम दूसरे विषयों में लोगों को पी.एचड़ी. मिलती है, लेकिन कहते पी.एचड़ी. हैं उसको; कहते हैं डाक्टर ऑफ फिलॉसफी--वह पुरानी आदत की वजह से। केमिस्ट्री में एक आदमी अन्वेषण करेगा और डिग्री हम देंगे उसको डाक्टर ऑफ फिलॉसफी की। वह सिर्फ पुरानी आदत है, क्योंकि पहले एक ही विषय था कुल जमा--फिलासफी। आज भी ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी में फिजिक्स डिपार्टमेंट के बाहर जो तख्ती लगी हुई है, वह लगी हुई है नेचुरल फिलॉसफी। वह तख्ती पुरानी है। वह नेचुरल फिलॉसफी थी एक दिन।

एक दिन फिलासफी अकेला विषय था, दर्शन अकेला विषय था, उसमें सब आ जाता था। जिसने दर्शन जान लिया उसने सब जान लिया। फिर धीरे-धीरे, धीरे-धीरे, धीरे-धीरे जितनी हमारी गहराई बढ़ी, वैसा हमें पता चला कि इतनी अनंत शाखाएं हैं कि हमें विज्ञान को अलग कर देना पड़ा। फिर तो हमें पता चला कि विज्ञान भी एक होकर नहीं चल सकता। विज्ञान को भी हमें पचास खंडों में तोड़ देना पड़ा। तो केमिस्ट्री और फिजिक्स अलग हो गई। फिर हमें पता चला कि केमिस्ट्री को भी तोड़ देना पड़ेगा, तो ऑर्गनिक और इन-ऑर्गनिक केमिस्ट्री अलग हो गई। यानी हम पूरे शरीर को अध्ययन कर लेते थे, अब हमें पता चला कि पूरा शरीर बहुत बड़ी घटना है।
तो अब एक डाक्टर है, जो सिर्फ आंख का अध्ययन करता है।
मैंने एक मजाक सुना है कि आज से कोई पांच सौ साल बाद एक महानगरी में एक औरत एक डाक्टर के पास गई है। आंख के डाक्टर के पास जाकर कहा कि मेरी आंख में बड़ी तकलीफ है। उसे भीतर ले गया डाक्टर। अंदर ले जाकर उसने पूछा, लेकिन किस आंख में? उस स्त्री ने कहा बाईं आंख में। तो उसने कहा, माफ करो, मैं सिर्फ दाईं आंख का डाक्टर हूं। बाईं आंख के लिए तुम्हें किसी और के पास जाना पड़ेगा।
आंख इतनी बड़ी घटना है कि यह तो मजाक है, लेकिन यह संभावना है ही कि आज नहीं कल हमें बाईं आंख अलग आदमी को... । आज तो अकेली आंख के ऊपर ही इतनी किताबें हैं कि एक आदमी जिंदगी भर मेहनत करे तो वह उनको भी नहीं जान सकता है। तो यह जो विज्ञान का स्पेशलाइजेशन है, यह एक्सट्रीमिज्म नहीं है। यह तो ज्ञान विस्तीर्ण है और उसको हमें बांटना पड़ेगा। फिर बांट कर एक-एक टुकड़े में हमें भीतर जाना पड़ेगा।
लेकिन जो आदमी छोटे से टुकड़े में भी भीतर जाएगा, उसकी भी शर्त वही रहेगी कि वह अति पर न हो। अति पर होगा तो वह खोज नहीं कर पाएगा। वह सम्यक हो, वह मध्य में खड़ा होकर खोज करे। वह सारे विकल्पों को स्वीकार करे--यह भी हो सकता है। यह भी हो सकता है और; और इन दोनों के प्रति उसके मन में कोई ऐसा भाव न हो कि यह होना ही नहीं चाहिए, वह कुछ भी हो सकता है!
मैंने सुना है कि आइंस्टीन के साथ एक युवक कुछ प्रयोग कर रहा था। और सैकड़ों बार प्रयोग किया और असफल हो गया वे सब प्रयोग खराब हो गए। युवक थक गया है और परेशान हो गया है। लेकिन आइंस्टीन है कि अपने उत्साह में लगा हुआ है। एक दिन आकर उसने कहा कि हम इतनी बार असफल हो चुके हैं और आप अभी भी उसी उत्साह से लगे हुए हैं। तो आइंस्टीन ने कहाः असफल! असफल का सवाल ही नहीं है। इतने विकल्पों में हमने खोज कर ली, ये विकल्प हमारे लिए रास्ता नहीं बने, तो हम सफल हो रहे हैं रोज।
ज्ञान की विशेष खोज को अतिवाद से नहीं जोड़ना चाहिए। क्योंकि उस छोटे
से छोटे क्षेत्र में भी ज्ञान की खोज के लिए वही शर्त लागू रहेगी--सम होने की, मध्य में होने की, निष्पक्ष होने की, अनप्रिज्युडिस्ड होने की। और मेरा मानना है कि विज्ञान ने जितना बड़ा द्वार खोला है मनुष्य को अति से बचाने को, उतना किसी ने कभी भी नहीं खोला। धार्मिक लोगों ने जिस बात की चर्चा की थी, वह चर्चा भी अतिवाद में खो गई। विज्ञान ने उसे प्रायोगिक तल पर सिद्ध कर दिया है कि अतिवादी के लिए जगह नहीं है। असल में विज्ञान तो यह कहता है, जो पहले से ही मान कर आ गया है कुछ, कि यह सत्य है उसके लिए विज्ञान में कोई जगह नहीं है। विज्ञान के लिए पहली शर्त यह है कि आदमी यह मान कर चला आया हो कि मुझे पता नहीं कि सत्य क्या है। रंच मात्र के लिए भी मेरा कोई झुकाव नहीं है कि यह सत्य होना चाहिए।
एक डाक्टर बनर्जी हैं, वे पुनर्जन्म पर खोज-बीन करते हैं। वे मुझे बंबई में मिले। एक बहुत मजेदार घटना घटी। कुछ पच्चीस-तीस मित्रों ने मेरे और उनके मिलने की व्यवस्था की थी। एक घंटे तक बात होगी। मैं पहुंचा, बातचीत शुरू हुई। उन्होंने शुरू में ही यह कहा कि मैं वैज्ञानिक रूप से यह सिद्ध करना चाहता हूं कि पुनर्जन्म है। तो मैंने उनसे कहा कि वैज्ञानिक होने की पहली शर्त तो यह है कि आप अपनी तरफ से कुछ भी सिद्ध नहीं करना चाहते हैं। आप यह कहिए कि मैं वैज्ञानिक रूप से यह खोज करना चाहता हूं कि पुनर्जन्म है या नहीं है। अगर आप यह कहते हैं कि मैं सिद्ध ही करना चाहता

हूं कि पुनर्जन्म है तो फिर खोज वैज्ञानिक होने वाली नहीं है। आप वैज्ञानिक आदमी नहीं हैं। डिग्री इत्यादि से कोई वैज्ञानिक नहीं होता। साइंटिफिक माइंड का क्या मतलब है? मैंने कहा, आप यह शब्द वापस ले लें फौरन कि मैं सिद्ध करना चाहता हूं। क्योंकि वैज्ञानिक कुछ सिद्ध करने जाता ही नहीं। वही तो अवैज्ञानिक का रास्ता है कि वह मान यह लेता है पहले से कि यह सच है, अब इसको सिद्ध करना है।
एक आदमी ने अमरीका में एक किताब लिखी है। तो उसने यह मान लिया है कि तेरह का अंक अपशगुन है, यह मान लिया है। इसके बाद वह अदालतों में गया है, पुलिसघरों में गया, पागल खानों में गया, अस्पतालों में गया और उसने सब हिसाब निकाला कि तेरह तारीख को कितने लोग मरते हैं। तेरह तारीख को जो मरीज भरती होते हैं उनमें से कितने मरते हैं। तेरह तारीख को कितने लोग पागल होते हैं। तेरह नंबर की मंजिल पर रहने वाले लोग कितने एक्सीडेंट में फंसते हैं। उसने सारा का सारा, तेरह से संबंधित सब उपद्रव निकाल डाले। तेरह तारीख को जो हवाई जहाज उड़ता है, वह कितना गिरता है; जो गाड़ी चलती है, वह रुकती है--सब निकाल डाला और सिद्ध कर दिया कि तेरह तारीख अपशगुन से परिपूर्ण है। मैंने कहाः इसे वैज्ञानिक कहेंगे? यह अगर आदमी बारह तारीख का तय करके चले तो बारह तारीख को भी लोग मरते हैं और पागल होते हैं और एक्सीडेंट होते हैं और ग्यारह तारीख को भी यही होता है, इससे कोई मामला नहीं है। लेकिन जिस तारीख को यह मान कर चले उसकी खोज-बीन कर लेगा। इसने मान लिया पहले और फिर उसी ढांचे में खोज-बीन कर ली।
जिंदगी इतनी बड़ी है कि सबका समर्थन कर देती है। जिंदगी इतनी बड़ी है कि यहां ऐसी कोई बात नहीं है कि जिसके लिए समर्थन न मिल जाए। पर यह वैज्ञानिक नहीं हुआ क्योंकि पक्ष पहले से निर्धारित है। वह सज्जन इतने मुश्किल में पड़ गए कि उन्होंने सोचा कि अब यह आगे बातचीत चलानी ठीक नहीं है। और बहुत ही अदभुत घटना घटी। वे तो एकदम से उठे और उन्होंने कहा, मुझे कुछ जरूरी काम से जाना है, वह मुझे खयाल आ गया, तो मैं फिर कभी... तो वे पच्चीस-तीस मित्र जो बैठे थे, वे तो हैरान हो गए। घंटे भर के लिए उनको लाया गया था, घंटे भर के लिए वे स्वीकार करके आए थे, वे एकदम उठ कर ही चले गए।
हमारा जो चित्त है, उसके आग्रह हैं! और आग्रह हैं तो किसी भी दिशा में
वह चित्त अति पर होगा। अनाग्रह से भरा हुआ चित्त ही अति पर नहीं होगा। और वैज्ञानिक के लिए पहली शर्त वह है। इसलिए मैं मानता हूं कि साइंटिफिक माइंड, वैज्ञानिक चित्त समस्त शक्ति की खोज के लिए जरूरी चीज है। धर्म के सत्य की खोज के लिए भी चित्त वैज्ञानिक ही चाहिए। महावीर यह मान कर नहीं चले गए हैं कि आत्मा है। और न बुद्ध यह मान कर चले गए हैं कि निर्वाण है। गए हैं खोजने कि है या नहीं? हम जो मान कर जाएं वह सिद्ध हम कर ले सकते हैं। बहुत कठिन नहीं है मामला। गए हैं खोजने, है या नहीं। और जो खोजने गया है उसे कुछ भी तय करके नहीं जाना चाहिए, कोई अति पर तय नहीं होना चाहिए। और जब हम कुछ भी तय करके नहीं जाते हैं तब हम अनिवार्य रूप से मध्य में होते हैं। क्योंकि किसी तरफ जाने का कोई सवाल ही नहीं है। तो वैज्ञानिक नहीं, अति पर है।

कैन वी गिव द एजुकेशन ऑफ अंडरस्टैंडिंग। ऑर इट इज़ दि स्पांटेनियस एक्टिविटी ऑर द इंक्वायरिंग माइंड व्हिच कैन हैव द अंडरस्टैंडिंग।

खोज करने वाला चित्त ही समझ को उपलब्ध होता है, इंक्वायरिंग माइंड ही। लेकिन हम ऐसी शिक्षा की व्यवस्था कर सकते हैं जो इंक्वायरिंग माइंड को पैदा करती हो। इसे सीधा पैदा नहीं किया जा सकता। इसे पैदा करने के लिए पूरा, परोक्ष वातावरण तैयार करने की जरूरत है। एक कक्षा है, और शिक्षक बच्चों से कहता है, मैं जो कहता हूं उसे मानो। तो यह शिक्षक कभी भी खोज करने वाले चित्त को पैदा नहीं होने देगा। नहीं, एक शिक्षक कहता है कि यह एक सत्य के संबंध में मैं चर्चा करता हूं, इसे कुछ लोग मानते हैं, यह मुझे भी ठीक मालूम पड़ता है, और तुम भी आओ इस यात्रा पर खोजने, कि यह ठीक है या नहीं। यह ठीक हो भी सकता है, यह गलत हो भी सकता है। हम इस पर खोजने चलें, तो शिक्षक

कोई बिलीफ, कोई आस्था बच्चों पर नहीं थोप रहा है। वह खोज के लिए निमंत्रण दे रहा है।
स्कूल खोज का एक निमंत्रण होना चाहिए। समस्त विद्यालय खोज पर, और बड़ी खोज पर पुकार होनी चाहिए और जो बच्चे वहां गए हैं, उन पर कुछ भी थोपा नहीं जाना चाहिए। निमंत्रण खोज के लिए, संदेह के लिए--क्या हो सकता है, इसकी चिंतना के लिए, मनन के लिए, विचार के लिए!
प्रत्येक स्कूल अभी तक, लेकिन आस्था सिखा रहा है। और आस्था जब सिखाई जाती है, श्रद्धा जब सिखाई जाती है, और जो कहा जा रहा है वह परम सत्य है--ऐसा जो सिखाया जाता है तो इंक्वायरिंग माइंड पैदा नहीं हो सकता है। अंततः तो खोज करने वाला चित्त ही ज्ञान को उपलब्ध होता है। और खोज करने वाला चित्त कैसे पैदा हो--इसकी समाज में, शिक्षा में, संस्कृति में हम व्यवस्था कर सकते हैं।
जैसे एक, अंततः तो एक बीज ही अंकुर बनता है, पत्थर नहीं अंकुर बन जाता। लेकिन यह भी हो सकता है कि बीज भी अंकुर न बन पाए, अगर हम ऐसी जगह डाल दें जहां कि उसे कोई वातावरण न मिलता हो। बीज अंकुर बन सकता है, लेकिन जमीन चाहिए, पानी चाहिए, सूरज की रोशनी चाहिए, एक प्यार करने वाले माली की हिफाजत चाहिए। कंकड़ को डाल देने से अच्छी जमीन में, अच्छे माली के साथ भी कुछ होने वाला नहीं है। बीज ही अंकुर बन सकता है। लेकिन यह हो सकता है। कंकड़ तो अंकुर नहीं बन सकता, कितनी ही व्यवस्था करें। लेकिन इससे उलटा हो सकता है कि बीज कंकड़ रह जाए और अंकुर न बन पाए। अगर व्यवस्था उलटी है कि सख्त जमीन पर उसे डाल दिया जाए, या पत्थर पर उसे रख दिया जाए और कभी पानी न दिया जाए तो बीज भी कंकड़ ही सिद्ध हो सकता है।
अभी जो शिक्षा है हमारी वह मस्तिष्क को रोकने वाली है, क्लोज करने वाली है, खोलने वाली नहीं है। इसलिए अधिकतम लोग, उनके भीतर जो संभावना है वह पत्थर होकर रह जाती है। इसलिए दुनिया में अन्वेषक अपवाद है। कभी पैदा होता है। वह हमसे बच जाता है, हमारी शिक्षा से, किसी तरकीब से। यानी यह बिल्कुल ही एक्सीडेंटल है कि विश्वविद्यालय से निकलते-निकलते कोई व्यक्ति के भीतर अन्वेषण की सहज स्थिति बनी रह जाए। वे बिगड़ ही जाने वाले हैं। क्योंकि सारा इंतजाम उलटा है। हम सब तरह से थोपते हैं।
असल में, थोपना बहुत आसान पड़ता है। और श्रद्धालु चित्त को पैदा कर लेना शिक्षक के लिए बड़ी सुविधा की बात है। क्योंकि इंक्वायरिंग माइंड को पैदा करना एक झंझट, उपद्रव पैदा करना है। क्योंकि हम नहीं जानते कि एक दफा उसे हम पैदा करेंगे तो वह इंक्वायरिंग माइंड कुछ ऐसा नहीं है कि वह एक ही चीज में इंक्वायर करेगा। इंक्वायरिंग माइंड तो जीवन के सब पहलुओं पर इंक्वायर करने लगेगा।
तो समाज भी डरता है इस बात से कि सब चीजें पूछी जाएं। क्योंकि बहुत चीजें ऐसी हैं जो सरासर झूठ हैं। और समाज ने उनको थोप रखा है अपनी व्यवस्था के लिए। अगर पूछने वाले बच्चे पैदा हुए तो वे सब झूठ उखड़ जाएंगे। इसलिए पूछने वाला बच्चा स्वीकार्य नहीं है।
राज्य नहीं चाहता कि सब बातें पूछी जाएं, क्योंकि राज्य ने बहुत कुछ ऐसा थोप रखा है जो बिल्कुल ही गलत है। कोई नहीं चाहता--कानून नहीं चाहता, अदालत नहीं चाहती, बाप नहीं चाहता, मां नहीं चाहती कि बच्चे सब बातें पूछें। क्योंकि बहुत कुछ जो उन्होंने छिपा रखा है जो कि पूछने से मुश्किल में पड़ जाएंगे।
तो ऐसा व्यक्ति चाहिए नहीं, जो पूछता हो। इसलिए पूछने वाला स्वागत नहीं पाता। या उतना दूर तक स्वागत पाता है जितना दूर तक हमारे बंधे-बंधाए उत्तर काम देते हैं। और जैसे ही वह उन जगहों को छूने लगता है जहां उत्तर नहीं हैं और जहां हमें अपने अज्ञान को स्वीकार करने का डर खड़ा हो जाता है, वहीं हम इंक्वायरी को रोक देना चाहते हैं। कोई आदमी इतना हिम्मतवर नहीं है कि वह यह कह सके कि बहुत कुछ है जो मैं नहीं जानता हूं। कोई बाप इतना हिम्मतवर नहीं है कि बेटे से कह सके कि परमात्मा का मुझे कुछ भी पता नहीं है कि वह कौन है। मुझे पता नहीं है कि गीता ठीक कहती है, कि कुरान ठीक कहता है। कोई बाप इतना विनम्र नहीं है। अहंकार इतनी पीड़ा देता है कि वह छोटे

बच्चे के सामने दावा करता है कि सब मुझे पता है। कोई शिक्षक इतना हिम्मतवर नहीं है कि वह कह सके कि यह मुझे पता नहीं है। और मैं भी इसलिए इसी तरह खोज रहा हूं जिस तरह तुम खोज रहे हो। मैं थोड़ी देर पहले से खोज रहा हूं, तुम थोड़ी देर बाद, और कोई फर्क नहीं है। पर पता मुझे भी नहीं है।
जब तक हम एक ऐसा शिक्षक, एक ऐसा पिता और एक ऐसे समाज की हवा पैदा न करें जो अज्ञान को स्वीकार करने की विनम्रता रखती हो तब तक हम इंक्वायरिंग माइंड पैदा नहीं कर सकते। क्योंकि इंक्वायरिंग माइंड बहुत जल्दी हरेक को अज्ञान के करीब पहुंचा देता है। यानी एक दो प्रश्न और तीसरे प्रश्न में हमको पता चलेगा कि मामला अटक गया है, इसके आगे बात जाती नहीं है। तो हम उस तक जाने ही नहीं देना चाहते बात को। हम पहले ही प्रश्न पर रोक लेना चाहते हैं कि जो कहा जा रहा है उसे चुपचाप मान लो।
अब तक का सारा शिक्षा-शास्त्र मनुष्य की प्रतिभा को खोजपूर्ण बनाने
में सहयोगी नहीं हुआ है। शिक्षा ने सारी की सारी व्यवस्था ऐसी की है कि मन खोज ही न सके, बंद हो जाए। इसलिए हम बच्चों को मार रहे हैं। जिसको हम शिक्षालय कह रहे हैं वे बहुत गहरे में अदभुत किस्म के कारागृह हैं। और वहां हम मन के लिए एक ऐसी स्लेवरी पैदा कर रहे हैं कि वह बच्चे कभी पूछेंगे ही नहीं। और अगर हम पूछें तो बड़ा भारी अराजक, उपद्रव का डर है हमें। वह डर इस कारण है कि हमने बहुत कुछ झूठ पर आधार रखे हुए हैं। सारे आधार झूठ पर रखे हुए हैं। और वह झूठ सब संदिग्ध हो सकते हैं।
खोजपूर्ण चित्त, पूछने वाला चित्त, इंक्वायरिंग माइंड पैदा करना पड़े। संभावना सबके भीतर है। बल्कि सच यह है कि पैदा होते से बच्चा इंक्वायरिंग होता है। मरता हुआ बूढ़ा इंक्वायरिंग नहीं रह जाता है। पैदा हुआ बच्चा हमेशा अन्वेषक होता है, पूछता है। छोटी-छोटी चीज को पूछता है और जानना चाहता है। और उसके जानने से हम डरते हैं, उसके पूछने से हम डरते हैं। सचाई यह है कि छोटा सा बच्चा जो पूछता है, बूढ़े से बूढ़ा ज्ञानी भी उसके सभी प्रश्नों के उत्तर नहीं दे सकता। तब दो उपाय हैं--या तो वृद्ध-जन अपने अज्ञान को स्वीकार करें, जो उनका अहंकार उन्हें नहीं करने देगा; और या फिर बच्चों को पूछने से ही रोकें, ताकि उनके अहंकार की भी सुरक्षा हो जाए और ये उपद्रवपूर्ण प्रश्न भी न पूछे जाएं।
मैंने सुना है कि एक बाप अपने बेटे को कह रहा है, समझा रहा है कि भगवान
ने हम सबको इसलिए बनाया है कि हम दूसरों की सेवा करें। अपने बेटे को कह रहा है कि भगवान ने तुम्हें भी इसलिए बनाया है कि तुम दूसरों की सेवा करो। वह बेटा पूछता है कि यह मैं समझ गया कि भगवान ने मुझे इसलिए बनाया है कि मैं दूसरों की सेवा करूं। पर मैं यह पूछना चाहता हूं कि भगवान ने दूसरों को किसलिए बनाया है? मैं उनकी सेवा करूं, इसलिए दूसरों को बनाया है? या इसलिए कि वे मेरी सेवा करें? ठीक, बुद्धिमानी से भरा हुआ प्रश्न है कि अगर मुझे इसलिए बनाया है कि मैं दूसरों की सेवा करूं तो दूसरों को किसलिए बनाया हुआ है? इसलिए कि मैं उनकी सेवा करता या वे मेरी सेवा करें? अब वह बाप मुश्किल में पड़ गया है। क्योंकि जो वह समझा रहा था वह अत्यंत अधूरा था। और वह बेटा यह पूछ रहा है कि अगर ऐसा ही है कि वह दूसरों को इसलिए बनाया है कि वे मेरी सेवा करें और मुझे इसलिए बनाया है कि उनकी सेवा करूं तो आपका भगवान बड़ा अजीब सा है। हम अपनी-अपनी सेवा कर लेते, यह ज्यादा उचित है, झंझट क्यों खड़ी करनी? तो मैं दूसरे की करूं और दूसरे मेरी!
असल में न तो बाप को पता है कि भगवान ने बनाया कि नहीं बनाया है और न बाप को यह पता है कि किसलिए बनाया है? लेकिन यह वह स्वीकार नहीं करना चाहता है। इससे उचित हुआ होता कि वह यह कहता कि दूसरों की सेवा करने में आनंद उपलब्ध होता है। जो सेवा करते हैं वे आनंदित होते हैं। इतनी बात पर्याप्त थी। इसमें भगवान को बीच में लाने की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन बाप नाराज हो गया। अब वह लड़के को कह रहा है कि तू अभी कुछ भी नहीं जानता है, हम जो कहते हैं वह मान।
असल में चाहिए यह था कि वह स्वीकार करता कि भूल हो गई मुझसे। इसमें भगवान को लाने की कोई जरूरत नहीं थी। क्योंकि भगवान को मैं जानता ही नहीं और न इसलिए भगवान के मोटिवस को लाने की जरूरत है, क्योंकि वह भी मुझे पता

नहीं है। इतना ही मैं जानता हूं जीवन के अनुभव से कि जब भी मैंने किसी की सेवा की तो मुझे आनंद मिला। तो मैं तुझे कहना चाहता हूं कि तू भी सेवा करके देख ले, शायद तुझे आनंद मिले। और जब भी मैंने किसी को कष्ट दिया तो मैंने भी बहुत गहरे में कष्ट पाया। जब मैंने किसी को सुख दिया तो मैंने सुख पाया।
लेकिन यह भी उसने नहीं किया है जिंदगी में। अगर यह उसने किया होता और
सच में दूसरों की सेवा करके आनंद पाया होता तो भगवान को बीच में लाने की निहायत जरूरत, बिल्कुल भी जरूरत नहीं थी। फिजूल की बात थी यह और एक ऐसी झंझट की बात थी कि जिससे प्रश्न हल नहीं होगा, और उलझ जाएगा। पर यह उसने किया नहीं। यह उसने खुद भी नहीं किया, उसके बाप ने भी उसको यही समझाया होगा कि भगवान की इच्छा है कि हम सेवा करें। यही उसके बाप ने भी, और उसके बाप को भी समझाया होगा।
और किसी ने किसी की सेवा कभी नहीं की है। अगर की होती तो भगवान को बीच में लाने की जरूरत ही नहीं। तब तो सेवा अपने में ही आनंद है। इसमें किसी भगवान की इच्छा का कोई सवाल नहीं है। अगर हम जीवन को सोचेंगे तो हमारी सारी की सारी चीजें प्रश्नवाचक बन जाएंगी। और उनसे हमें डर है क्योंकि हमारा बहुत सा ज्ञान एकदम गिर जाएगा।
जैसे हम कहते हैं कि गुरु को आदर देना चाहिए, लेकिन मैं यह समझ पाता हूं कि यह बात ही गलत है। असल बात उलटी है। असल बात यह है कि जो हमारे आदर को आकर्षित कर ले वह गुरु है। गुरु को आदर देने का सवाल ही नहीं है। पिता को आदर देना चाहिए, यह बात ही फिजूल है। इतनी ही बात काफी है कि पिता ऐसा होना चाहिए कि वह आदर पाए। इस पिता के होने में यह बात निर्भर होनी चाहिए कि वह आदर पाए। लेकिन पिता ने एक बच्चे को पैदा कर लिया है और समझ लिया है कि मामला खत्म हो गया। वह पिता हो गया है। और अब वह आदर मांग रहा है। और पिता होना बहुत बड़ी घटना है। बच्चे को पैदा करने से सिर्फ शुरुआत होती है 50 : 37(शब्द अस्पष्ट है)उसकी, इससे पूरी नहीं हो जाती घटना। और अब वह पिता आदर मांग रहा है। अब वह आदर के लिए भयभीत कर रहा है, श्रद्धा खड़ी कर रहा है, आस्था खड़ी कर रहा है और मन को तोड़ रहा है, मुश्किल पैदा कर रहा है। बच्चे पूछ सकते हैं; बहुत ऐसी बातें पूछ सकते हैं।
एक युवक को मैं जानता हूं। उसने अपने बाप को पूछा कि आप निरंतर कहते हैं कि, कि आपका आदर करूं, आपने मुझे बड़ा किया, पैदा किया। मैं आपसे यह पूछना चाहता हूं कि आपने मुझे ही पैदा करने के लिए कोई विशेष श्रम किया था, या मैं आपके भोग और आनंद के बीच आकस्मिक घटना हूं? पिता तो नाराज हो गया। उसके पिता ने मुझे आकर कहा कि यह लड़का आपके पास आता है और इस तरह की बातें पूछता है। यह हमसे यह पूछता है कि आकस्मिक घटना तो नहीं हैं? यह सिर्फ कोइन्सिडेंस तो नहीं कि मैं आ गया? यानी मेरे लिए, आने के लिए आपने कोई विशेष प्रयास किया?
तो मैंने कहा, लड़का पूछता तो ठीक था। और अगर आप थोड़े भी बुद्धिमान हों
तो आपको ठीक-ठीक जो सही है उत्तर देना चाहिए। बात तो आकस्मिक थी। इस लड़के को तो आपने कभी नहीं चाहा होगा, उसको आप जानते भी नहीं, उससे कोई प्रयोजन भी नहीं। शायद पैदा हुआ होगा तो बोझ ही अनुभव किया होगा। और बोझ निश्चित अनुभव किया है इसलिए बार-बार आप उससे कह रहे हैं कि मैंने तुझे बड़ा किया है, इतने कष्ट उठाए। क्योंकि अगर यह आपका आनंद का कृत्य होता तो इसकी स्मृति की भी जरूरत न थी कि मैंने कष्ट उठाया। बात खत्म हो गई थी। अब इसका बदला चाहिए। तो आप कोई सौदा किया। कोई शर्तबंदी है, कोई कंडीशनिंग हुई है इससे पहले। इस, इस लड़के से कभी लिखा-पढ़ी आपकी हुई नहीं कि हम तेरे लिए इतना कष्ट उठाएंगे, इतना कष्ट तुम हमारे लिए उठाना। अब इसको दोहरा क्यों रहे हैं? यह आपका आनंद था कि आपने उठाया। यह इसका आनंद होगा कि आपके लिए कष्ट उठाए--नहीं होगा, नहीं उठाएगा। और मैं आपसे यह पूछता हूं, आपने अपने बाप के लिए कितना आपने कष्ट उठाया? तो यह भी अपने बेटों के लिए कष्ट उठाएगा। 52ः32 इसमें, यानी इसमें, इसमें सवाल यह है न कि हम... लेकिन हम पूछने से तो वह बहुत घबड़ा गए हैं और उन्होंने कहा है कि मैं अपने लड़के को यहां नहीं आने दूंगा आपके पास। इस तरह की बातें तो बहुत, सब गड़बड़ कर देंगी।

हमारा जो भय है पूरे समाज का--समाज बहुत से झूठों पर खड़ा है जो सच नहीं
है और इसलिए इंक्वायरिंग माइंड को पैदा कैसे करें? शिक्षा बहुत से झूठ सिखा रही है जो सिखाने वाले शिक्षक को भी अंदाज है कि झूठ है तो इंक्वायरिंग माइंड कैसे पैदा करो? सारी नीति, सारा धर्म झूठों पर खड़ा है, तो इंक्वायरिंग माइंड कैसे पैदा करो? इंक्वायरिंग माइंड पैदा करने से अराजकता के फैल जाने का डर मालूम पड़ता है, क्योंकि जो व्यवस्था हमने की है, वह मूढ़तापूर्ण है। तो मेरा तो मानना यह है कि उस व्यवस्था को बदलो और उसे सच के करीब लाओ, उसे सच के करीब लाओ। उसे झूठ पर खड़ा मत करो क्योंकि झूठ किसी भी कीमत पर हितकर नहीं हो सकता।
तो हम ऐसी शिक्षा-व्यवस्था कर सकते हैं, जहां धीरे-धीरे प्रश्न जीवंत
हो जाएं। हजारों प्रश्न होंगे, जिनके उत्तर हमारे पास नहीं होंगे। और उत्तर नहीं हैं तो अच्छा है। बच्चे उनको खोजेंगे। झूठे उत्तर देने से उनकी खोज बंद हो जाती है। और अपने बेटों को वे भी झूठे उत्तर सिखा जाएंगे। तो मैं मानता हूं कि बहुत कम प्रश्न हैं, जिनके उत्तर अभी मनुष्य के पास हों। अभी उसका विकास ही नहीं हुआ है कुछ। असल में हजार प्रश्न में एक प्रश्न होगा, जिसका उत्तर है, नौ सौ निन्यानवेप्रश्नों के उत्तर नहीं हैं। और हम हजार के ही उत्तर दे रहे हैं।
आइंस्टीन से किसी ने पूछा कि आप एक धार्मिक अंधविश्वासी आदमी में और
एक वैज्ञानिक आदमी में क्या फर्क करते हैं? आइंस्टीन ने कहाः मैं इतना ही फर्क करता हूं कि अगर अंधविश्वासी आदमी से सौ प्रश्न पूछो तो वह एक सौ एक उत्तर देने को तैयार रहेगा, और किसी प्रश्न पर कभी नहीं कहेगा कि मैं नहीं जानता। अंधविश्वासी सर्वज्ञ होगा; सब जानता है। और वैज्ञानिक आदमी मैं उसको कहता हूं, जिससे सौ प्रश्न पूछो तो निन्यानवे के संबंध में वह सीधा कह देगा कि बिल्कुल कुछ पता नहीं है। सौवें के संबंध में वह कहेगा कि जो पता है, वह यह है। लेकिन यह भी अंतिम नहीं है। यह भी कल बदल सकता है। खोज जारी है, और खोज अनंत है। इसलिए कभी भी ऐसी जगह हम नहीं पहुंचेंगे जहां हम कह सकें कि अंतिम उत्तर मिल गया।
तो यह हमें हवा खड़ी करनी चाहिए। और इस हवा पर पूरी की पूरी व्यवस्था
को धीरे-धीरे लाना चाहिए। तो मुझे तो लगता है कि इतना बड़ा विस्फोट हो जगत में प्रतिभा का, इतना जीनियस पैदा हो सकता है, इतने फूल खिल सकते हैं। क्योंकि करोड़ों बीज तो मर ही जाते हैं, कभी फूल होते ही नहीं--वह तो ऐसा लगता है कि कभी भूल-चूक से हमारे समाज के उपद्रव से कोई आदमी छिटक जाता है-- कोई बुद्ध, कोई आइंस्टीन, कोई कभी खिसक जाता है बाहर। और हमें पता नहीं रहता है और कहीं से वह अंकुर पकड़ लेता है जमीन में और फूल आ जाते हैं। यानी होना इससे उलटा चाहिए कि कभी ऐसा हो कि एकाध बीज ऐसा हो जिसमें फूल न आ पाए। अभी ऐसा होता है, कभी ऐसा होता है कि एकाध बीज में फूल... ।
इसलिए तो यह इतने लंबे इतिहास में, अगर हमको आदमियों के नाम गिनाने पड़ें तो बीस आदमियों में नाम खत्म हो जाते हैं। पूरे पांच हजार साल के ज्ञात इतिहास में बीस नाम गिना तो बात खत्म हो गई। तो बाकी मनुष्यता क्या कर रही थी? बाकी मनुष्यता के होने का क्या अर्थ हुआ? अगर अरबों-खरबों लोगों में बीस आदमी के नाम गिनाए जा सकते हों जो आदमी जैसे लगे, तो बाकी आदमी क्या कर रहे थे? वह बीज बीज ही रह गए। इतनी बड़ी प्रतिभा का विस्फोट हो सकता है सारे जगत में--एक बार इंक्वायरिंग माइंड के लिए हम तैयार हो जाएं और कहीं भी किसी व्यक्ति को रोकें नहीं पूछने से--चाहे पूछना हमें कितनी ही उलझन में और तकलीफ में डालता हो।
अभी-अभी मैं एक गांव गया और एक लड़के ने मुझसे पूछा कि मैंने एक स्वामी
की किताब पढ़ी है और उसमें लिखा है, हस्तमैथुन, मस्टर्बेशन जो है, उससे बड़ा कोई पाप नहीं है। और जिसने यह किया उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह नरक का भागी होता है। आप क्या कहते हैं? मैंने उससे कहाः यह सरासर झूठ है। यह बिल्कुल ही झूठ है, एक वृद्ध जन बैठे थे। उन्होंने मुझसे कहाः यह क्या कह रहे हैं? ऐसे में तो यह लड़का समझेगा कि मस्टर्बेशन करने में कोई हर्ज नहीं है। तो भला वह झूठ हो, मगर आपको कहना यही चाहिए कि मर जाओगे, नष्ट हो जाओगे, बुद्धि भ्रष्ट हो जाएगी, पागल हो जाओगे अगर यह काम किया तो। तो

मैंने कहाः क्या आप सोचते हैं कि झूठ को खड़ा करके कभी भी कोई हित हो सकता है किसी का। सिर्फ इतना ही होगा--मस्टर्बेशन नहीं रुकने वाला है, वह तो चलेगा--साथ में इस झूठ की वजह से जो भय और पैदा हो गया, वह भी साथ चलेगा। और मस्टर्बेशन तो इतना नुकसान नहीं पहुंचा सकता था कि इसको पागल कर दे, लेकिन यह जो भय पीछे बैठ गया है और यह जो खयाल पीछे बैठ गया है यह इसको पागल कर सकता है।
मगर हमने बहुत झूठ इकट्ठे किए हुए हैं। बहुत तरह के झूठ इकट्ठे किए हुए हैं। इन सारे झूठों की पर्त को तोड़ना जरूरी है। हमारी नीति, हमारा धर्म, इसी तरह की बेवकूफियों पर खड़ा हुआ है जिनके सत्य का कोई अंश नहीं है। और जो बड़ी सत्य की बातें समझाते हैं लोगों को वे भी अपनी किताबों में यह बातें लिखेंगे। शायद उनको भी अंदाज नहीं है कि वे झूठ लिख रहे हैं। शायद झूठ इतने पुराने हो गए हैं कि हम उनको भूल ही गए हैं कि वे झूठ हैं। यह सरासर झूठ है और अहितकर है क्योंकि झूठ हितकर हो ही नहीं सकता है। कैसे हित पहुंचा सकता है? सत्य ही हितकर हो सकता है। और जिस सीमा तक सत्य है, उसी सीमा तक हितकर हो सकता है।
तो जीवन के सारे प्रश्नों पर हमें सत्य को अंगीकार करके, और जहां ज्ञान अभी नहीं है वहां अज्ञान को स्वीकार करना होगा तो शिक्षा का जगत इंक्वायरिंग माइंड पैदा कर देगा। खोज करने वाला चित्त पैदा हो तो सत्य बहुत दूर नहीं है। असल में मेरी तो अपनी यह समझ है कि सत्य का सवाल ही नहीं है, खोज करने वाला चित्त स्वयं सत्य बन जाता है। वह जो खोज पर निकल गया चित्त है, वह निखरता जाता है, निखरता जाता है, हजार-हजार प्रश्नों में निखरता है, समस्याओं में निखरता है और सत्य होता चला जाता है। अंततः एक दिन आता है कि वह खोज करने वाला चित्त उस अनुभव को उपलब्ध होता है जिसको हम सत्य कहें, शांति कहें, मोक्ष कहें; लेकिन सिर्फ खोज करने वाले लोग उस तरफ जाते हैं। हम अधिक लोग बैठे रह जाते हैं। जहां बिठा दिए गए हैं--समाज ने, शिक्षा ने जहां बिठा दिया, वहीं बैठ गए हैं। एक बहुत बड़ी यात्रा है चित्त की, यह चांद-तारों से भी दूर ले जाने वाली यात्रा है। उस यात्रा का हमें कोई पता ही नहीं चलता है। वह तो सिर्फ उन्हीं को पता चलता है जिनके जीवन में डाउट, संदेह खड़ा हो गया है। प्रश्न खड़े हो गए हैं और ऐसे प्रश्न खड़े हो जाते हैं कि उनका मंथन अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि उनका कोई उत्तर नहीं है। उस मंथन में, उस खोज में, उस चिंतना में, उस निरंतर पूछने में, पूछने में निखार आना शुरू होता है और चित्त निर्मल हो जाता है।

डु यू फील सर, दैट दि चाइल्ड शुड बी गिवन फ्रीडम दैट ही विल इंक्वायर अबाउट कांसिक्वेंसिस ऑफ हि.ज बर्थ एण्ड सेक्स लाइफ?

बिल्कुल ही। असल में स्वतंत्रता सदा बेशर्त है। और अगर हमने कहीं भी शर्त रखी तो स्वतंत्रता नहीं है। अगर हमने यह कहा कि इस संबंध में स्वतंत्रता देंगे, इसमें नहीं। तो हम स्वतंत्रता दे ही नहीं रहे। यह ऐसे ही हुआ कि हम एक कैदी को कहते हैं कि तुम्हें जेल के भीतर घूमने की पूरी स्वतंत्रता है, जेल के बाहर जाने की नहीं है। तुम्हें जेल की खिड़की से आकाश देखने की पूरी स्वतंत्रता है, लेकिन जेल के बाहर जाने की... । जब चांद खिड़की में आए तब तुम देखना।
स्वतंत्रता की सीमा नहीं है। और जहां सीमा है वहां परतंत्रता हो जाती है। और सीमित स्वतंत्रता परतंत्रता से भी खतरनाक है क्योंकि परतंत्र आदमी तो परतंत्रता से मुक्त होने की चेष्टा करेगा, यह सीमित स्वतंत्र को यह भ्रम पैदा होता है कि हम स्वतंत्र हैं, कोई हर्जा नहीं। क्या करना है स्वतंत्रता के लिए?
तो मैं यह मानता ही नहीं कि एक भी ऐसा सवाल है जो उठाना गलत है। वह है; जिंदगी उठा रही है तो हम क्या करेंगे? और जब जिंदगी ही पूछने को कह रही है तो बच्चा पूछेगा, सेक्स की बाबत पूछेगा। बच्चे कहां से पैदा होते हैं, इसके बाबत पूछेगा। उसके पूछने में गलती नहीं है। लेकिन जो उसे उत्तर दे रहे हैं, अगर वे झूठ हैं तो उनके झूठ उत्तरों में गलती है। और उनके झूठ

उत्तर इसलिए हैं कि उन्होंने एक धारणा बना रखी है सेक्स के बाबत, जो मूर्खतापूर्ण है। उस धारणा को उन्हें छोड़ देना चाहिए। चीजें बहुत सरल हैं। और मेरा अपना मानना है कि बच्चे को अगर सीधी साफ बात बता दी जाए तो बच्चा शायद दुबारा पूछेगा भी नहीं। बात खत्म हो जाती है। लेकिन उन्हें हम झूठ बताते हैं और बच्चे को धीरे-धीरे पता लगने लगता है कि बात कुछ झूठ मालूम होती है, तो बच्चा और-और पूछने लगता है।
और जितना हम बड़ा झूठ करते जाते हैं, बच्चे के प्रश्न उतने ही खड़े होते चले जाते हैं। और ये प्रश्न उसे बड़ी बेचैनी में डाल देते हैं। और इन प्रश्नों की खोज वह फिर गलत रास्ते से करेगा। तो गंदी किताबें बिक रही हैं बाजार में, छिपे बाजार में, गलत किताबें बिक रही हैं, उनको पढ़ेगा और गलत लोगों से मिलेगा। जो काम मां-बाप ही पूरे कर दिए होते, वह अब किसी और से पूरा करेगा। और वह पूरा होना हमेशा गलत होगा। और सबसे बड़ा नुकसान जो होगा वह यह होगा कि कल बच्चा, आज नहीं कल खोज कर ही लेगा कि सत्य क्या है! तब उसको मां-बाप सरासर झूठ मालूम पड़ेंगे और इन मां बाप के प्रति उसकी सारी श्रद्धा असंभव हो जाएगी। श्रद्धा ही असंभव हो जाएगी। क्योंकि जिन मां-बाप ने उसे सरासर झूठी बातें कहीं हैं, इन मां-बाप का क्या अर्थ रहेगा?
आज नहीं कल, बच्चा खोज ही लेगा। तो जिंदगी के सत्य वह समझेगा कैसे? मेरा मानना है कि वह जब पूछता है तो उसका मतलब है कि प्रश्न खड़ा हो गया। उत्तर चाहिए। और झूठे उत्तरों के लिए मैं राजी नहीं हूं। जब बच्चा पूछने लगे किसी भी संबंध में तो जो सत्य है, जितना हम जानते हैं, जैसा हम जानते हैं, उसे वैसा ही कह देना चाहिए--बिना किसी झिझक के, बिना किसी परेशानी के, बिना किसी हैरानी के। क्योंकि झिझक, हैरानी और परेशानी में दिए गए उत्तर भी उस बच्चे को मुश्किल में डालेंगे कि बात क्या है, इतनी झिझक क्या है? बच्चों को कोई हम परेशान हैं अपनी दिक्कतों में, और वही हम बच्चों पर आरोपित कर लेते हैं। जब एक बच्चा पूछता है कि यह नया बच्चा कहां से पैदा हुआ? तो हम चूंकि परेशान हैं इन सब चीजों को छिपाने में, हम समझते हैं, बच्चा शरारत की बातें कर रहा है। बच्चा बेचारा बिल्कुल निर्दोष है, एक इनोसेंट क्वेश्चन है, जिसमें कोई दोष का सवाल नहीं है। उसमें अभी कल्पना भी नहीं है।
एक तो ऐसा कोई भी प्रश्न नहीं है जो पूछा जा सकता हो और जिसका उत्तर देने के लिए हम मना ही करें। मनाही किसी डर से पैदा होती है और प्रश्न जिंदगी से पैदा होता है। तो जिंदगी बहुत कीमती है और डर कोई भी कीमत का नहीं है। और जब जिंदगी ही पूछ रही है तो हम कौन हैं रोकने वाले? और जब जिंदगी पूछ रही है तो जिंदगी पता लगाएगी, चाहे हम रोकें, चाहे हम बाधा डालें और जब बड़े और बुजुर्ग जो कि ज्यादा जानते हैं नहीं बताएंगे तो बच्चा अपने ही रास्तों से, अपने ही सोर्सस से जानने की कोशिश करेगा। और वे कोशिशें उसे बहुत नुकसान में ले जा सकती है क्योंकि उसे बहुत कुछ पता नहीं है जो उसके बड़े बुजुर्गों को पता है।
तो मेरा मानना है कि बच्चों को सेक्स के संबंध में न बताने से जितना अहित हुआ है, भयंकर अहित हुआ है। क्योंकि सब बच्चों के मन को हम सेक्सुअल किए दे रहे हैं। यानी धीरे-धीरे उसकी सारी जिज्ञासा ही सेक्स से बंध जाने वाली है क्योंकि वही उत्तर उसे नहीं मिल रहे हैं। और तो सब उत्तर हम दे रहे हैं उसको। जिसका हम उत्तर दे देते हैं उससे वह मुक्त हो जाता है। जिसका हम उत्तर नहीं देते, उसका प्रश्न उसमें इंसिस्टेंटली घूमता रहता है। वह पूछता ही रहता है, पूछता ही रहता है। वह कहां जाए, कहां से जाने? और जिसको हम छिपाते हैं वह उतना आकर्षक हो जाता है। जिसको हम निषेध करते हैं, उस दरवाजे को उतने ही तीव्रता से वह खोल लेना चाहता है। फिर बच्चा बच्चा है, वह गलत ढंग से खोल लेगा, गलत ढंग से जानेगा जो कि उसके पूरे जीवन को नुकसान पहुंचाने वाली बात हो सकती है।
सेक्स के संबंध में उतना ही सरल होना चाहिए, जितना किसी और चीज के संबंध में, जैसे कि बच्चा पूछता है कि यह किताब कहां से आई, तो हम उसको कहते हैं, प्रेस से आई। बच्चा पूछता है, यह फूल कहां से आया, तो हम कहते हैं, वृक्ष में लगा है। जितनी सरलता से हम इनके उत्तर दे रहे हैं, उतना ही हमें

सेक्स के बाबत भी उत्तर देने चाहिए। और हमारे उत्तर उसे तृप्त कर देंगे और उसकी जिज्ञासा खत्म हो जाएगी। और हमारे बाबत उसकी एक इज्जत सदा के लिए बन जाएगी कि हम सीधे सरल शब्दों में या जो हम नहीं जानते हैं तो हमें कह देना चाहिए कि यहां तक हमें पता है, इसके आगे हमें पता नहीं है। इसके आगे तुम बड़े होओ तो तुम खोजो। इसके आगे हमें कुछ भी पता नहीं, इतना ही हम जानते हैं।
अगर हम सेक्स के संबंध में सारी बात बता सकें तो ही मनुष्य का मन सेक्स में मुक्त होगा; नहीं तो मुक्त नहीं होने वाला है।

डु यू फील सर, दैट द इग्नोरेंट पैरेंट्स आर रिस्पांसिबल फॉर दि चिल्डरन व्हिच दे गो इन दि रांग वे?

बिल्कुल ही। बिल्कुल ही। बच्चे जो भी हैं, वह उनके मां-बाप के सबूत हैं। और बच्चे जो भी कर रहे हैं वह समाज उनसे करवा रहा है। बच्चे गलत जाते हैं तो समाज ने उन्हें जो व्यवस्था दी है, वह गलत ले जाने वाली है। यानी मेरी दृष्टि में तो जब बच्चा गड़बड़ हो तो तब उसके मां-बाप पकड़े जाने चाहिए तत्काल। और जब कोई पूरी पीढ़ी गड़बड़ हो तो पुरानी पीढ़ी को जिम्मेवार ठहराया जाना चाहिए। क्योंकि उससे ये सब बच्चे पले, बड़े हुए। उससे सोचा और समझा और सीखा। और जो उसने दिया उसे लेकर ये चल पड़े। बच्चे सदा ही निर्दोष हैं, इसलिए उन पर कोई जिम्मेवारी सीधी नहीं डाली जा सकती। सब जिम्मेदारी उनकी पुरानी पीढ़ियों पर डाली जानी चाहिए। जो भी गलत हो रहा है आज--अगर बच्चे उद्दंड हैं, अगर बच्चे कामुक हैं, अगर बच्चे मूर्खतापूर्ण कृत्य कर रहे हैं, विनाश कर रहे हैं; तो जो कुछ हमने उन्हें सिखाया है, वह उसके लिए जिम्मेवार हैं। जिस भांति हमने सिखाया है, वह उसके लिए जिम्मेवार है। अगर एक अकेली लड़की का सड़क से निकलना मुश्किल है और लड़के उसे धक्के मारेंगे, गालियां बकेंगे, पत्थर फेंकेंगे तो ये लड़के जिम्मेवार नहीं हैं। यह वे मां-बाप जिम्मेवार हैं जिन्होंने सेक्स के संबंध में एक भय, डर, झूठ, बेईमानी, असत्य का पर्दा डाला और लड़के और लड़कियों को इतनी दूरी और फासले पर बड़ा किया--इतने फासले पर बड़ा किया, इतने दूर रखा कि स्वाभाविक हो गया कि लड़के पत्थर मारें। यह पत्थर मारना पास आने की एक तरकीब है। और चूंकि सीधा हाथ से लड़की को छूना संभव नहीं रहा है। इसलिए पत्थर मार कर सिंबॉलिक छूना है यह। पत्थर फेंक कर लड़की को स्पर्श कर रहे हैं।
और मेरा मानना है कि एक लड़की को हाथ से छूना एक बहुत प्रीतिकर बात हो सकती है और पत्थर मार कर छूना अत्यंत घृणित, अत्यंत क्रूर कृत्य हो गया। लेकिन हम इसके लिए जिम्मेवार हैं। अगर लड़के और लड़कियां साथ बड़े हों, साथ खेलें, दौड़ें, गिरें, तैरें, पहाड़ों पर चढ़ें, वृक्षों पर चढ़ें; साथ बड़े हों, एक दूसरे को जानें, एक दूसरे के शरीर को पहचानें, तो मैं मानता हूं कि कभी यह संभव नहीं है कि कोई लड़का किसी लड़की को पत्थर मारे; क्योंकि तब छूने की सिंबॉलिक स्थिति की कोई जरूरत नहीं होगी। क्योंकि लड़कियां परिचित हैं, छुई हुई हैं। इसमें कोई, कोई ऐसा अनहोना और कोई अज्ञात मामला नहीं है कि जिसको जानना जरूरी है। अगर लड़के और लड़कियों को बहुत निकट बड़ा किया जाए और उनके प्रेम को स्वीकार किया जाए तो मैं नहीं मानता हूं कि लड़के गंदी गालियां दें, गंदी गालियां दीवालों पर लिखें। इसका कोई मतलब नहीं है। ये सब तरकीबें हैं कि जो हमने उन्हें रोका है, वह उसको गलत ढंग से पूरा कर रहे हैं।
हमारा समाज का अज्ञान और मां-बाप की परंपरागत नासमझी बच्चों को बिगाड़ने का कारण है। दिखता नहीं है हमें ऊपर से क्योंकि जब बच्चे यह गड़बड़ करते हैं तो हम अपने पुराने नियमों को और सख्त करना चाहते हैं कि देखो, यह सब गड़बड़ हुआ जा रहा है। तो अपने पुराने नियम और सख्त करो। और हमें पता नहीं है कि उन्हीं नियमों की वजह से यह गड़बड़ हो रहा है। वे और सख्त होंगे तो यह गड़बड़ी और बढ़ जाने वाली है।
स्वतंत्रता तो मैं पूरे समग्र जीवन को बेशर्त देना चाहता हूं। किसी
को हक नहीं है, किसी को रोकने का। लेकिन स्वतंत्रता स्वच्छंदता नहीं है।

और यह भी बड़े मजे की बात है कि स्वतंत्र व्यक्ति कभी स्वच्छंद होता ही नहीं। सिर्फ परतंत्र व्यक्ति स्वच्छंद होता है। असल में परतंत्रता इतना घबड़ा देती है कि परतंत्रता एक एक्सट्रीम है, अति है। और जब परतंत्र आदमी को मौका मिलता है तो वह दूसरी एक्सट्रीम उसकी स्वच्छंदता है। बीच में वह रुकता ही नहीं, जहां स्वतंत्रता है।
अगर एक आदमी को हम पंद्रह दिन उपवास में रखें और दरवाजा बंद कर दें और ताले लगा दें और पंद्रह दिन भूखा रखें, फिर पंद्रह दिन बाद छोड़ दें तो यह आदमी पागल की तरह चौके में टूट पड़ेगा और यह इतना खा जाएगा कि बीमार पड़ेगा; मर भी सकता है और तब हम कहेंगे, हमने बड़ी गलती की कि हमने ताला खोला, उसको बंद ही रखना था। तो बिल्कुल ठीक रहता, मरता तो नहीं। और हमें पता नहीं कि पंद्रह दिन जो हमने बंद रखा था भूखा उसको, उसका ही रिएक्शन है कि यह जाकर ज्यादा खा गया। अगर हमने उसे चुपचाप अच्छी तरह से खाने दिया होता, और खाने का रस लेने दिया होता तो वह ज्यादा खाने वाला कभी भी नहीं था। तब एक स्वतंत्रता होती।
परतंत्रता स्वच्छंदता में ले जाती है। मनुष्य की जाति अब तक परतंत्र रखी गई है, उसका ही परिणाम स्वच्छंद होना फलित हो रहा है। जिस दिन हम बच्चों को स्वतंत्र रखेंगे, उस दिन स्वच्छंदता असंभव है। वह हो ही नहीं सकती। यानी यह बड़ा उलटा मालूम पड़ता है। जितना हम बच्चों को डिसिप्लिन में बांधेंगे, उतनी इनडिसिप्लिन पैदा होने की संभावना है। जितना अनुशासन होगा, उतनी अनुशासनहीनता पैदा हो सकती है।
इसलिए मेरा मानना है कि इतनी स्वतंत्रता होनी चाहिए कि उस स्वतंत्रता
से ही एक भीतरी अनुशासन पैदा हो, जो ऊपर से नहीं थोपा गया। तो बच्चे उसे कभी भी फेंकेंगे नहीं, तोड़ेंगे नहीं। वह उनकी प्रतिभा और गरिमा का हिस्सा होगा, उतना अनुशासनबद्ध होगा। अभी हालत यह हो गई है कि जो अनुशासनबद्ध है, वह गौरवपूर्ण नहीं है। अनुशासन तोड़ना आज गौरवपूर्ण है। लड़कों के बीच भी वह लड़का आदृत है जो अनुशासन तोड़ता है। क्योंकि वह स्वतंत्र मालूम पड़ता है, हालांकि वह स्वच्छंद हो रहा है।
सारी जिम्मेवारी हमारे अज्ञान की है।

आर यू इन फेवर ऑफ हीरो-वर्शिप आचार्य जी? ड.ज हीरो-वर्शिप ब्रिंग द अंडरस्टैंडिंग ऑर एग्जे.जरेशन?

नहीं, बिल्कुल पक्ष में नहीं हूं। किसी तरह की व्यक्ति-पूजा, किसी तरह
की हीरो-वर्शिप के पक्ष में नहीं हूं। क्योंकि पहली तो बात यह है कि जब भी हम किसी व्यक्ति को, किसी दूसरे व्यक्ति को पूजा करना सिखाते हैं तो हम इस व्यक्ति को भारी नुकसान पहुंचाते हैं। इसके भीतर हम इनफिरिआरिटी, हीनता का भाव पैदा करते हैं। बिना हीनता के पूजा असंभव है। जब भी कोई व्यक्ति किसी की पूजा करता है तब वह बहुत गहरे में उसे महान और अपने को हीन मान लेता है। नहीं तो पूजा असंभव है।
तो पूजा का जो सबसे गहरा दंश है, अपराध है, वह यह है कि हम किन्हीं व्यक्तियों में हीनता का भाव पैदा कर रहे हैं। क्या हम हीन हैं? मंदिरों में खड़े हुए लोग कह रहे हैं कि हम तो पतित हैं। हे भगवान, हम तो हीन हैं, हम तो दुर्बल हैं, हम तो कुछ भी नहीं हैं। हम तो तेरे चरण में हैं, हम तो तेरे शरण में हैं। मंदिरों में खड़े लोग कह रहे हैं कि हे जिनेंद्र पुरुष, हे महावीर, हमें बचा। हम तो कुछ भी नहीं हैं, हम तो पापी हैं।
असल में तब तक हम पूजा पैदा करवा ही नहीं सकते जब तक हम किसी को हीनता
का भाव पैदा न करवा दें। यानी पूजा जो है, वह हीनता का ही आउटकम है। इसलिए मैं किसी तरह की व्यक्ति-पूजा के पक्ष में नहीं हूं। क्योंकि व्यक्ति- पूजा अनिवार्य रूप से पूजक के मन को हीन कर जाएगी। जिसकी पूजा होगी उसको तो कोई फायदा नहीं होने वाला है। महावीर की कितनी ही पूजा हो, महावीर को क्या फायदा होता है? कोई सवाल नहीं है फायदे का। लेकिन जो पूजा करते हैं उनकी हानि होती है; वह हीन होता है।

दूसरा नुकसान जो पहुंचता है वह यह कि जिसकी हम पूजा करते हैं, जाने- अनजाने हम उस जैसा बनने की कोशिश में संलग्न हो जाते हैं। और पूजा करने वाले उसको बहुत बड़ा कारण मानते हैं कि पूजा करने का यह फायदा है। इससे बड़ी हानि नहीं हो सकती। वे कहते यह हैं कि अगर कोई महावीर की पूजा करेगा तो वह उनके गुणों को धीरे-धीरे अपने में ग्रहण करेगा। कोई राम की पूजा करेगा तो राम जैसा बनने की कोशिश करेगा। और मेरा मानना है कि यह और भी खतरनाक नुकसान है। क्योंकि कोई व्यक्ति किसी दूसरे जैसा व्यक्ति बन ही नहीं सकता है और बनने की चेष्टा में सिर्फ क्रिपिल्ड और पंगु हो जाता है।
कोई लाख कोशिश करे, महावीर नहीं बन सकता। कोई कितना ही उपाय करे, कृष्ण नहीं बन सकता, ना क्राइस्ट बन सकता है। असल में एक जैसे आदमी पैदा ही नहीं होते। एक-एक आदमी यूनीक है, बेजोड़ है। इसलिए किसी आदमी में किसी और आदमी जैसे बनने की कोशिश का अंतिम परिणाम सिर्फ कार्बन कापी व्यक्तित्व पैदा होता है। एक झूठा व्यक्तित्व पैदा होता है, जो कि नकली है। महावीर नग्न खड़े हैं तो हजारों लोग उनकी भांति नग्न खड़े हो जाते हैं। महावीर की नग्नता किसी बहुत गहरी इनोसेंस का परिणाम है, किसी बहुत गहरे निर्दोष भाव का। वह कुछ ऐसी जगह पहुंच गए हैं जहां कि नग्न होना और नहीं होना बराबर हो गया। लेकिन उनके पीछे जो आदमी नंगा खड़ा होता है उसका नंगा खड़ा होना बहुत कैल्कुलेटेड है, बड़ा गणित का हिसाब है। वह मानता है कि नंगे हुए बिना मोक्ष नहीं घटता है। तो नंगा होना जरूरी है। तो वह नंगे होने का अभ्यास कर रहा है। वह धीरे-धीरे छोड़ता है, एक-एक कपड़े छोड़ता चला जाता है। धीरे-धीरे सीढ़ियां बढ़ता है, फिर लंगोटी रह जाती है, फिर लंगोटी छूटती है। ऐसा अभ्यास करके अंततः वह नंगे होने का अभ्यासी हो जाता है।
यह नग्नता बिल्कुल ही सर्कस की है। इसका कोई मूल्य नहीं है। महावीर
को पता भी नहीं चला होगा, वे कब नंगे हो गए! किसी दिन वस्त्र गिर गया और फिर उसका खयाल नहीं रहा। वह किसी अभ्यास का परिणाम नहीं था। तो कोई महावीर जैसा हो नहीं सकता। होने की कोशिश में मरेगा सिर्फ और नकली हो जाएगा। उसे तो प्रत्येक को वही होना है जो वह हो सकता है।
सबकी अपनी पोटेंशियलिटी है, अपना बीज है। वही होना है। और कोई फायदा
भी नहीं है। अगर पिकासो महावीर हो जाए तो दुनिया को नुकसान पहुंचेगा। पिकासो को पिकासो होना चाहिए। या महावीर पिकासो हो जाएं तो भी भारी नुकसान पहुंचेगा। महावीर को महावीर होना चाहिए। आइंस्टीन को आइंस्टीन होना चाहिए, रमण को रमण होना चाहिए। इन सबके होने की वजह से दुनिया समृद्ध है। नकली आदमियों की वजह से दुनिया समृद्ध नहीं है।
तो कितने ही आदमी महावीर के पीछे नंगे होकर खड़े हो जाएं और कितने ही आदमी बुद्ध के पीछे पीले वस्त्र पहन कर खड़े हो जाएं। इन नकली आदमियों से दुनिया की कोई समृद्धि नहीं बढ़ती।
तो दूसरी बात यह है कि मैं इसलिए विरोध में हूं कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे जैसा बनने के खयाल में ही न पड़े और पूजा उस खयाल में डालती है।
और तीसरा, मैं इसलिए विरोध में हूं कि पूजा के भाव में कहीं न कहीं यह बात छिपी हुई है कि दूसरा कुछ मेरे लिए कर देगा। उसकी पूजा से कुछ मेरे लिए हो जाएगा। कि अगर मैं राम को पूज रहा हूं तो राम कुछ मेरे लिए कर देंगे। कि क्राइस्ट की चिल्लाहट लगा रहा हूं तो क्राइस्ट मेरे लिए कुछ कर देंगे। दुनिया में कोई आदमी किसी के लिए कुछ नहीं कर सकता है। और जिन लोगों
को यह खयाल पैदा हो जाता है कि कोई और मेरे लिए कुछ कर देगा, वे खुद जो कर सकते थे उससे वंचित रह जाते हैं। तो गहरे आलस्य में प्रमाद में पड़ जाते हैं। सब भक्त, सब पूजक अंततः इनर्शिया में पड़ जाते हैं, वह खुद कुछ भी नहीं करते हैं। वे कहते हैं, भगवान है, गुरु है, तीर्थंकर है, अवतार है, कुछ करेगा; तो होगा। तो जाने-अनजाने वे जो कर सकते थे, वह असंभव हो जाता है; क्योंकि उनका मन एक सहारा पकड़ लेता है, कोई करेगा, कोई कर देगा।
फिर चौथी अंतिम बात कहना चाहता हूं, वह यह कि इस जगत में कोई व्यक्ति न ऊंचा है, न कोई नीचा है। यह भाव ही गलत है। और ध्यान रहे कि अगर मैं किसी व्यक्ति को ऊंचा मानता हूं तो मैं किन्हीं व्यक्तियों को नीचा भी मानूंगा। यह असंभव है, यह उसी की कोरोलरी है।

एक संन्यासी के पास मैं गया। संन्यासी एक बड़े तख्त पर बैठे हुए थे। उनके नीचे बगल में एक छोटा तख्त लगा हुआ है। उस पर भी एक संन्यासी बैठे हुए हैं और फिर दो-तीन संन्यासी नीचे बैठे हैं। और सारी जनता नीचे बैठी हुई है। जब मैं उससे मिला तो उन्होंने मुझसे कहा कि आपको शायद पता नहीं होगा कि मेरे बगल में तख्त पर जो बैठे हैं, वे कौन हैं! मैंने कहाः मुझे पता नहीं है। और कोई जरूरत भी नहीं है पता करने की। तो उन्होंने कहाः नहीं, मैं आपको बताना चाहूंगा कि वे हाईकोर्ट के जस्टिस हैं, साधारण आदमी नहीं हैं। जस्टिस थे, उन्होंने सब छोड़ दिया है, और इतने विनम्र आदमी हैं कि कभी मेरे साथ तख्त पर नहीं बैठे, तो मुझसे छोटे तख्त पर बैठते हैं। तो मैंने कहाः मैं बिल्कुल समझ रहा हूं कि छोटे से तख्त पर बैठे हुए हैं लेकिन बैठे तख्त पर ही हैं। और उनसे भी नीचे कुछ लोग बैठे हुए हैं, उनके साथ भी वे नहीं बैठते हैं। मैंने कहाः यह तो मैं समझ गया आपकी बात कि आपके साथ आपके तख्त पर नहीं बैठते, लेकिन उस तख्त के नीचे भी दो-तीन संन्यासी बैठे हुए हैं। उनके साथ भी बैठते हैं कि नहीं? तो वे जरा मुश्किल में पड़े। मैंने कहाः उनके साथ भी वे नहीं बैठे और आपके मरने की प्रतीक्षा देख रहे हैं कि कब इस तख्त पर बैठें और जब वे इस पर बैठेंगे तो नीचे वाले उस तख्त पर आएंगे। हाइरेरकी है एक, वे उस पर आएंगे। और वे भी उनकी तारीफ करेंगे कि यह आदमी बड़ा विनम्र है, कभी मेरे साथ नहीं बैठा।
मैंने कहाः यह भी मैं समझ गया कि वह आदमी विनम्र है, आपके साथ नहीं बैठता। लेकिन आप विनम्र हैं कि नहीं? क्योंकि आपको यह खयाल क्यों आता है कि वह मेरे साथ बैठ जाए तो विनम्र नहीं होगा? आप अहंकारी आदमी हैं। आपको यह मजा क्यों आ रहा है कि यह आदमी विनम्र है? और इसको भी मजा आ रहा होगा कि नीचे के लोग विनम्र हैं, मेरे साथ तख्त पर नहीं बैठते। मैंने कहा, यह बड़ा लंबा जाल है और बड़ीशृंखला है।
जो आदमी किसी को महान मानता है वह दूसरों को नीचा मानता है। जो आदमी किसी की पूजा करता है, बहुत गहरे में पूजा मांगेगा और एक को महान मानेगा तो दूसरे को नीचा मानेगा। फिर यह वृत्ति बड़ी खतरनाक है। तो मैं कहता हूं, न तो पूजा करना, और न पूजा मांगना। ये दोनों ही मनुष्य को नुकसान पहुंचाने वाली बातें हैं। न किसी की पूजा करना, न किसी से पूजा मांगना। न किसी को महान कहने की घोषणा करना, न किसी को हीन कहना। असल में सब अपने जैसे हैं। सच तो यह है कि घास में जो फूल खिलता है वह भी अस्तित्व है, वह अपने जैसा है। गुलाब का फूल भी अदभुत है, वह अपने जैसा है।
एक फकीर था जापान में। उसके पास किसी ने जाकर पूछा कि कुछ लोग महान क्यों हो जाते हैं, कुछ लोग छोटे क्यों हो जाते हैं? उस फकीर ने कहाः तू बिल्कुल पागल है। हमने तो अब तक कोई महान नहीं देखा, कोई छोटा नहीं देखा। जो जैसा है, वैसा देखा। तो उसने कहाः मेरी समझ में नहीं आता। तो उसको फकीर बाहर ले गया। बाहर जाकर उसने दिखाया कि देख, वे दरख्त दिखाई पड़ते हैं, वहां आकाश को छूते लंबे दरख्त खड़े हैं? कहाः हां, दिखाई पड़ते हैं। कहाः ये छोटे पौधे दिखाई पड़ते हैं? कहाः हां, दिखाई पड़ते हैं। उसने कहाः इसमें कौन छोटा-बड़ा है? छोटे पौधे छोटे पौधे हैं, बड़े पौधे बड़े पौधे हैं। बड़े बड़े हैं, छोटे छोटे हैं। लेकिन इससे छोटा-बड़ा कौन कैसे हो गया? एक दरख्त पचास फीट ऊंचा है, एक दरख्त एक ही फीट ऊंचा है। इसमें झंझट क्या है? उसका पचास फीट होना उसका स्वभाव है, एक फीट होना इसका।
इन दोनों की तौल भी क्या है? तौल से संबंध क्या है? तौल की जरूरत क्या है? ये दोनों अलग चीजें हैं बिल्कुल। और पचास फीट होने से कोई ऊंचा हो गया? क्योंकि इस एक फीट में जो फूल खिलते हैं, उस पचास फीट वाले में कभी नहीं खिलेंगे। हालांकि पचास फीट वाला जितना आकाश को छूता हुआ मालूम पड़ता है, एक फीट वाला कभी नहीं मालूम पड़ता है। लेकिन यह यह है, वह वह है। चीजें ऐसी हैं। इसमें सोचना क्या है, इसमें तुलना क्या करनी है?
और अगर आदमी को हम हटा दें तो कौन वृक्ष ऊंचा होगा, कौन नीचा होगा? अगर आदमी न हो पृथ्वी पर तो घास का तिनका भी उसी मौज में है जिस मौज में आकाश को छूने वाला वृक्ष है। छोटी सी पहाड़ी भी उसी मजे में है जिसमें बड़े से बड़ा हिमालय का पर्वत होगा। आदमी ने कंपेरिजन पैदा किया हुआ है। वह कहता है, यह

बड़ा है और यह छोटा है। और इस बड़े और छोटे के कंपेरिजन में वह अपने को कहीं न कहीं रखेगा। या तो खुद को छोटा मानेगा या खुद को बड़ा मानेगा।
तो मैं मानता हूं कि इस तरह की तुलना ही घातक है। तुलना करने की कोई जरूरत नहीं है। कोई आवश्यकता ही नहीं है। हीरो-वर्शिप पैदा करने की कोई जरूरत नहीं है। समझ पैदा करने की जरूरत है। महावीर को समझो। खूब समझो, जितना समझ सकते हो। बुद्ध को समझो। खूब समझो, जितना समझ सकते हो। दुनिया में अदभुत-अदभुत लोग हैं, सबको समझो। एक महात्मा को भी समझो उतने ही प्रेम से, एक पापी को भी समझो उतने ही प्रेम से। क्योंकि कोई नहीं कह सकता है कि एक पापी में ऐसी संभावनाएं हैं जो एक महात्मा में न हो। यह हो सकता है, महात्मा बिल्कुल बोथला हो और पापी बहुत गहरा हो। कुछ नहीं कहा जा सकता है। इसलिए काम है इतना कि मैं समझूं जीवन को सब रूपों में, और इतने रूपों में जो प्रकट हो रहा है उसको देखूं और पहचानूं। और इस देखने और पहचानने का सिर्फ एक ही मतलब हो कि मैं जो हो सकता हूं वह होने की कोशिश करूं। मैं किसी की नकल में न पड़ जाऊं। मैं जो हो सकता हूं, जो मेरी अपनी संभावना है उसे मैं प्रकट करने की, विकसित करने की पूरी चेष्टा करूं। और जब मैं पूरा विकसित हो जाऊं तब भी मैं किसी का पूज्य न बन जाऊं। वह बनने की चेष्टा ही गलत है क्योंकि दूसरों को नुकसान पहुंचा सकता हूं।
न कोई किसी का गुरु है; न कोई किसी का शिष्य है। न कोई पूज्य है, न कोई पूजा करने वाला है। इस जगत में हम सब अपने-अपने व्यक्तित्व, अपनी-अपनी आत्मा को खोज रहे हैं। हमारे चारों तरफ और लोग भी खोज रहे हैं।
हम उनको भी देखें और समझें, इस खयाल से कि हम अपनी कैसे खोज सकें, इस खयाल से नहीं कि हम उन जैसे कैसे हो जाएं। इसलिए दुनिया से सारी हीरो- वर्शिप जानी चाहिए।

"शिक्षाः साध्य और साधन, विषय पर प्रश्नोत्तर-शृंखला-5

शिक्षा में क्रांति
उन्नीसवां प्रवचन

निराग्रही, अन्वेषक चित्त की खोज

आचार्य जी, टुडे आई शैल प्रिपेयर टु इनवाइट योर व्यू.ज ऑन दि इस्यू ऑफ वेनिटी एण्ड फियर। टु मी सर, दिस इस्यू आलसो अपिअर्स टु बी वैल्युएबल टु बी एनालाइजड। एज आई हैव बीन गिवन अंडरस्टैंडिंग सर, इम्मैच्योरिटी ब्रिंग्स वेनिटी, वेनिटी ब्रिंग्स प्राइड एण्ड प्राइड ब्रिंग्स प्रिज्युडिसिस, प्रिज्युडिसिस अल्टिमेटली रिजल्ट्स इन कंपेरिजन एण्ड कंपेरिजन रिजल्ट्स इन डिवीजंस एण्ड एण्ड्स इन डिस्ट्रकशंस। सर, दिस विसियस सर्किल अपियर्स टु बी वेरी डिसीसिव एण्ड डिस्ट्रायस दि ह्युमैनिटी एट लार्ज। इट हैज बीन स्टेटड बाई दि मैनी-मैनी स्कालर्स दैट दिस कल्चर ऑफ मैनकाइंड इज़ वेरी एनसिएंट वन। वुड यू प्लीज एनलाइटन ऑन दिस आस्पेक्ट ऑफ लाइफ?

भय निश्चित ही मनुष्य की सबसे गहरी और बुनियादी समस्या है। भय से ज्यादा महत्वपूर्ण और कुछ भी नहीं है क्योंकि सारी संस्कृति, सभ्यता, धर्म, शिक्षा, हमारे जीवन की सारी व्यवस्था भय से बचने के लिए ही हमने की है। और जीवन का एक कीमती सूत्र यह है कि जिससे हम बच कर भागते हैं उससे हम कभी नहीं बच पाते हैं। भय से बचने के लिए धन इकट्ठा करते हैं, भय से बचने के लिए मित्र जुटाते हैं। पति-पत्नी, परिवार बसाते हैं। भय से बचने के लिए समाज और राष्ट्र बनाते हैं। लेकिन इनसे भय मिटता नहीं बल्कि नये भय खड़े हो जाते हैं। मंदिर में प्रार्थना है, मस्जिद में नमाज है, चर्च में पुकार लगी है परमात्मा की। उस सब के पीछे हमारा भय ही काम कर रहा है। धन भी भय से और धर्म भी भय से। गृहस्थी भी आदमी बन रहा है भय से और संन्यासी बन रहा है तो भय से। पाप कर रहा है तो भय के कारण कि अगर वह पाप नहीं किया तो असफल हो जाएगा, हार जाएगा जीवन की दौड़ में और पुण्य कर रहा है तो भय के कारण कि कहीं नरक न चला जाए, कहीं आगे के जीवन में भटक न जाए। अदभुत है भय! क्योंकि हम सब कुछ उसी के कारण कर रहे हैं और इतना सब करने के बाद भी हम भय के बाहर कभी नहीं हो पाते, क्योंकि भय जीवन का एक तथ्य, एक फैक्टिसिटि है।
तथ्य से हम भाग नहीं सकते। तथ्य से हम भागने में जो फिक्शन, फैक्ट्स
से भागने में जो फिक्शन खड़े करते हैं, वे थोड़ी बहुत देर को भुलावा बन सकते हैं, छलावा बन सकते हैं। लेकिन फिर भय का कष्ट उभर कर सामने खड़ा हो जाता है। और हमने जो कल्पनाएं खड़ी की थीं, उन कल्पनाओं को बचाने के लिए हमने जो झूठ खड़े किए थे, उन झूठों को बचाने के लिए और नये झूठ और नई कल्पनाएं खड़ी करने पड़े और आदमी एक जाल में गिरता चला जाता है, जिससे बाहर निकलने का कोई उपाय नहीं मालूम पड़ता।
आज तक मनुष्य की पीड़ा यही रही है। जब मैं उसे ठीक से खोज करता हूं तो मुझे पता चलता है कि भय बिल्कुल अनिवार्य है। मृत्यु आएगी। वह जन्म के साथ ही आ गई है। वह जीवन का उतना ही हिस्सा है, जितना मृत्यु है, जितना जन्म है। दुख भी आएगा, पीड़ा भी आएगी। मित्र मिलेंगे भी, बिछुड़ेंगे भी। फूल जो खिला है, वह कुम्हलाएगा भी। सूरज जो उगा है वह डूबेगा भी। हमारा मन चाहता है कि उगा हुआ सूरज उगा ही रह जाए। यह हमारे मन की कामना ही गलत है। और हमारा मन चाहता है कि जो मिला है वह कभी न बिछड़े और हमारा मन चाहता है कि प्रेम, सतत बना रहे और हमारा मन चाहता है कि फूल खिला तो अब खिला ही रहे। उसकी सुगंध कभी समाप्त न हो। उसकी ताजगी कभी न मिटे। उसका युवापन कभी न मिटे। यह हमारे मन की जो चाह हैं, असंभव की मांग है। यह कभी पूरी होने वाली नहीं है। अगर हम जीवन को देखेंगे तो वहां जन्मना और मरना साथ ही साथ खड़े हैं। वे एक ही जीवन के दो हिस्से हैं। जो जीवन को समझेगा वह पूरे जीवन को स्वीकार कर लेगा। वहां सुख और दुख, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो सुख को स्वीकार करता है, वह दुख को भी स्वीकार कर लेगा। ऐसी स्वीकृति जिसके जीवन में आ जाए, वह भय के बाहर हो जाता है। ऐसा नहीं है कि भय के कारण मिट जाते हैं,

बल्कि भय का दंश और कांटा विलीन हो जाता है, क्योंकि भय भी स्वीकार कर लिया गया।
लाओत्सु एक बहुत अदभुत बात कहता है। वह कहता है कि मुझे कोई हरा नहीं सकता क्योंकि मैं पहले से ही हारा हुआ हूं। हार को मैंने स्वीकार कर लिया है। इसलिए अब कोई मेरे ऊपर जीत भी नहीं सकता। क्योंकि जीत उसको सकते हैं जिसको हरा सकते हों। मुझे कोई हरा ही नहीं सकता, क्योंकि मैं पहले से ही हारा हुआ हूं। लाओत्सु कहता है कि मुझे कोई पीछे नहीं हटा सकता, क्योंकि मैं पहले से ही पीछे खड़ा हूं। मुझे कोई नीचे नहीं उतार सकता, क्योंकि मैं कभी ऊपर ही नहीं चढ़ा हूं। इसलिए मेरे ऊपर विजय असंभव है। मेरे ऊपर जीत असंभव है। मुझे कोई असफल नहीं कर सकता। मुझे कोई पीछे नहीं हटा सकता, क्योंकि तुम जो कर सकते थे, वह मैंने स्वीकार कर लिया है। जीवन में असुरक्षा है, इनसिक्युरिटी है। हम उसे स्वीकार नहीं करना चाहते, इसी से हम भय के चक्कर में पड़ जाते हैं।
भय का जो चक्र है, वह असुरक्षा की अस्वीकृति से जन्मता है। जो व्यक्ति असुरक्षा को मान लेता है कि ऐसा है, उसका भय विदा हो जाता है। एक युवक मेरे पास आया। वह एक बड़ा चित्रकार है और बड़ी संभावना है प्रतिभा की। अमरीका रह कर लौटा है और जहां भी गया है वही प्रशंसा पाई है। लेकिन इधर दो तीन वर्षों से उसके मन में न मालूम कैसे-कैसे भय घर कर गए हैं। रास्ते से निकलता है और एक लंगड़े आदमी को देख ले तो उसे लगता है कहीं मैं लंगड़ा न हो जाऊं। अंधे को देख ले तो लगता है कि कहीं मैं अंधा न हो जाऊं। मुर्दे को देख ले तो लगता है कि कहीं मैं न मर जाऊं। अब घर आकर वह निढाल, हताश पड़ जाता है। घंटों तक फिर उठ भी नहीं सकता। घर के लोग परेशान हैं। वह मेरे पास उसे लेकर आए थे। घर के लोग समझा चुके हैं। साइकोएनालिसिस हो चुकी है। बड़े मनोवैज्ञानिकों से मिल चुका है। कोई हल नहीं हुआ है और जितना समझाना-बुझाना और जितना मनोविश्लेषण चला है उतना भयभीत होता चला जाता है। मेरे पास उसके मां-पिता उसकी पत्नी उसे लेकर आए और कहने लगे कि हम मुश्किल में पड़ गए हैं। आप समझाएं, शायद आपकी समझ जाए। तो मैंने उनसे कहाः समझाना ही गलत है। समझाते क्या हो इसे तुम। उन्होंने कहा कि हम समझाते हैं कि तू पूरी तरह स्वस्थ है; मेडिकल रिपोर्ट है, तेरी आंख नहीं जा सकती है। तेरा पैर लंगड़ा नहीं होगा, तुझे लकवा नहीं लगेगा, फिर तू क्यों व्यर्थ परेशान हो रहा है!
तो मैंने उनके मां-बाप से कहा कि तुम ही इसे गलत समझा रहे हो। उसका भय
तो बिल्कुल ही स्वाभाविक है। जो आदमी आज अंधा है, उसे कल पता भी नहीं था कि वह अंधा हो जाएगा? और अंधा हो गया। और जो आदमी आज पैरेलिसिस से पड़ा हुआ है, उसे कल तक पता भी नहीं था। कल वह भी सड़क पर बाजार में उसी खुशी से चल रहा था। और जो आदमी आज मर गया है उसे कल खबर थी कि मैं मर जाऊंगा? जिंदगी बहुत अनजान है, आकस्मिक है। जिंदगी में सब कुछ हो सकता है। जिंदगी बड़ी अनप्रिडिक्टेबल है। इसके बाबत कोई भविष्यवाणी नहीं हो सकती। सब हो सकता है। यह तुम्हारा बेटा ठीक कहता है, तुम गलत समझाते हो। यह ठीक कहता है, आंख जा सकती है, पैर जा सकते हैं, जिंदगी ही जा सकती है। असल में जो मिला है, वह जाएगा ही। अगर आंख अकेली नहीं जाएगी, पैर अकेला नहीं जाएगा तो सारा शरीर इकट्ठा जाएगा, लेकिन जाना तो निश्चित है।
मृत्यु से ज्यादा निश्चित और कुछ भी नहीं है। और जो सबसे ज्यादा निश्चित है उसे हम सबसे ज्यादा धक्का देना चाहते हैं कि वह हमें पता न चले। तो मैंने कहा यह युवक ठीक कहता है। जब मैं यह कह रहा था तब मैंने देखा कि युवक का चेहरा बदल गया है। उसकी रीढ़ सीधी हो गई है और वह मुझ से बोला कि आप यह कहते हैं, यह निश्चित है, यह हो सकता है। मैंने कहाः सब हो सकता है। जिंदगी में सब हो सकता है। तुम उससे बचना चाह रहे हो, इससे भय पैदा हो रहा है और बच तुम सकते नहीं। क्योंकि तुम्हारे भय से और तुम्हारे भय की धारणा से बचने का कोई संबंध ही नहीं है। और फिर तुम इतने डरते क्यों हो कि आंख चली जाएगी तो क्या होगा! पैर चले जाएंगे, हाथ चले जाएंगे तो क्या होगा! उस युवक ने कहाः फिर मैं प्रेम नहीं कर पाऊंगा। चित्र नहीं बना पाऊंगा।
तो मैंने कहा, जब तक आंख नहीं गई है, तब तक तुम चित्र बना लो। आंख किसी
भी दिन जा सकती है। कल सुबह जा सकती है। आज रात तुम्हें मिली है, चित्र बना

लो। प्रेम कर लो। आंख तो जा सकती है। आंख तो बचाने का कोई मामला नहीं है। तुम घर जाओ। तुम इस निश्चिंत भाव से सोओ, यह सब हो सकता है। तुम्हें समझाने वाले गलत हैं। उनके समझाने से तुम्हारा भय और बढ़ गया है और वे झूठ समझा रहे हैं। वे भी जानते हैं कि यह झूठ है। लेकिन तुम्हारा भय मिटाने के लिए वे झूठ खड़ी कर रहे हैं। मैं तुम्हें ही नहीं समझाता, तुम्हारी मां को, तुम्हारे पिता को, तुम्हारी पत्नी को भी समझाता हूं कि तुम्हारी आंख भी जा सकती है और तुम भी मरोगे। तुम इसको मत समझाओ। तुम खुद ही समझो। यह होने वाला है।
वह युवक गया। वह दूसरे दिन सुबह पांच बजे उठ कर मेरे पास आया। उसने कहा, तीन साल में मैं पहली दफा शांति से सोया हूं। मैं इस तथ्य को झुठलाना चाहता था कि यह नहीं हो सकता, कभी ऐसा नहीं हो सकता कि मेरी आंख जाएगी। और भीतर शक सरकता था कि जा तो सकती है। मैं कभी पागल नहीं होऊंगा। लेकिन एक मेरा मित्र पागल हो गया, वह कल तक ठीक था। आखिर जब ठीक आदमी पागल हो सकता है तो मैं भी आज ठीक हूं, कल पागल क्यों नहीं हो सकता हूं? मैं इसे हटाने की, छिपाने की कोशिश करता था। दूसरों से भी पूछता था तो इसीलिए कि वे शायद मुझें समझा दें। शायद मेरा भय मिट जाए। और उससे ही मैं परेशान हो गया था। नींद खो गई थी। मैं पागल हुआ जा रहा था। लेकिन कल रात जब मैंने देखा किसी भी क्षण यह सब हो सकता है और जब दूसरों के साथ हुआ तो मैं कोई अनूठा हूं! मेरे साथ भी हो सकता है। और जैसे ही मैंने इसे स्वीकार कर लिया है कि यह सब संभव है वैसे ही मेरे मन से सारा भय चला गया। रात मैं पहली दफा तीन वर्षों में शांति से सोया था। और आज मैं दूसरा ही आदमी उठा।
हम भय को अस्वीकार कर रहे हैं वही हमारे भय को बढ़ाता चला जा रहा है। और
एक नियम है मन का जिसे लॉ आफ रिवर्स इफेक्ट कहते हैं, विपरीत परिणाम का नियम--जो हम करना चाहते हैं, उससे उलटा हो जाता है।
एक आदमी नदी में डूबता है। वह बचने की सारी कोशिश करता है और पानी में नीचे डूब जाता है और आदमी मर जाता है और मरा हुआ आदमी कुछ कोशिश नहीं कर सकता। वह नदी के ऊपर तैर आता है। अब यह सोचने जैसा है कि मरा हुआ आदमी ऊपर तैर आता है जिंदा आदमी नीचे चला जाता है। बात क्या है? अगर जिंदा आदमी भी मुर्दे की भांति अपने को पानी में छोड़ दे तो डूब नहीं सकता। मगर वह छोड़ नहीं पाता। वह बचाने की सारी कोशिश करता है। उसकी बचाने की सारी कोशिश में वह थकता है, टूटता है, घबड़ाता है, चिल्लाता है। पानी भरता है और डूब जाता है। अगर एक आदमी जीवित अवस्था में भी मुर्दे की भांति अपने को पानी पर छोड़ दे, वह डूबने वाला नहीं है। वह पानी पर तैर जाएगा। पानी मुर्दों को डुबाता ही नहीं।
एक आदमी नया-नया साइकिल सीख रहा है। वह डरता है कि कहीं उस खंभे से साइकिल न टकरा जाए। अब इतना बड़ा रास्ता है, साठ फीट चौड़ा और खंभा एक छोटा सा चार इंच जगह घेर रहा है और यह घबड़ा रहा है कि खंभे से न टकरा जाए। और खंभे से बचने की कोशिश कर रहा है। जब वह खंभे से टकरा न जाऊं और बचने की कोशिश में लग गया तो रास्ता मिट गया, खंभा ही उसे दिखाई पड़ने लगा। अब उसका कनसनट्रेशन, उसका मस्तिष्क पूरा खंभे पर टिक गया। साठ फीट का रास्ता मिट गया, खंभा रह गया। अब खंभा है और वह है। और बचने की कोशिश है कि कहीं टकरा न जाऊं और उसका हैंडल घूमने लगा और उसका चाक खंभे की तरफ चलने लगा। अब वह हिप्नोटाइज्ड हो गया है। अब खंभा ही सब कुछ है, उससे ही बचना है और वह आदमी उस खंभे से टकराएगा। इस खंभे से टकराने में खंभे का कोई कसूर नहीं है। अगर आदमी आंख बंद करके भी सड़क पर साइकिल चलाता तो भी खंभे से टकराने की बहुत कम संभावना थी, क्योंकि खंभा इतनी छोटी जगह घेरे हुए है। निशानबाज भी चूक सकता था, लेकिन यह आदमी नहीं चूका। इसका कारण है। इसने जिससे बचना चाहा, जिससे भयभीत हुआ, वही इसके मन में जगाता चला गया। इसने जितना कहा, खंभे से नहीं टकराऊंगा, उतना ही इसके मन में विपरीत भाव उठने लगा कि कहीं टकरा न जाऊं, टकरा न जाऊं। यह मन में मजबूत होने लगा। जितना इसने कहा कि नहीं टकराऊंगा, बचूंगा, बचने की कोशिश करूंगा; उतना ही मन इसका... । भीतर चेतन में हम जो सोचते हैं, अचेतन में उससे ठीक विपरीत हो जाता है।

चेतन और अचेतन में हमारे विपरीत संबंध हो गया है। एक आदमी चेतन में सोचता है कि किसी से डरना नहीं है और वह अचेतन में सबसे डरने लगता है। एक आदमी चेतन मन में, कांशस माइंड में सेक्स से बचना चाहता है, अचेतन में सेक्स ही सेक्स भर जाता है। हम चेतन 15ः37 (शब्द अस्पष्ट)में जिससे भागते हैं, अचेतन में वही हमें घेर लेता है। हम दूसरे को धोखा दे भी सकते हैं कि हम नहीं डरते, लेकिन हम अपने को कैसे धोखा दे सकते हैं? हम तो जानते ही रहेंगे कि डर है, पूरी तरह मौजूद है। हम भयभीत हैं। घबड़ाए हुए हैं। यह जान कर हैरानी होगी कि जो लोग बाहर की दुनिया में बड़े अकड़ कर चलते हुए मालूम पड़ते हैं मगर भीतर बड़े डरे हुए लोग हैं। तो वह जो आपने पूछा है, वेनिटी--वह (16ः08 अस्पष्ट) फियर से जुड़ी हुई है। असल में दंभी आदमी, अकड़ा हुआ आदमी जो कह रहा है--मैं कुछ हूं, वह भीतर डरा हुआ है कि मैं कुछ भी नहीं हूं और वह दूसरों के सामने यह सिद्ध करने में लगा हुआ है कि वह मेरा भय गलत है। मैं कुछ हूं। वह बहुत सेंसिटिव है। अगर जरा उसे आपका घक्का लग जाए तो वह कहेगा कि आपको पता नहीं कि मैं कौन हूं। जानते नहीं कि मैं कौन हूं? वह अत्यंत संवेदनशील है कि कहीं कोई मुझे नो-बडी तो नहीं समझ रहा, क्योंकि भीतर तो वह जान रहा है कि मैं नो-बडी हूं। मैं कुछ भी तो नहीं हूं।
तो सच बात यही है कि कोई भी कुछ नहीं है और इसलिए समबडी होने का, कुछ होने का भाव पैदा कर रहा है चेतन में। ताकि वह जो नो-बडीनेस है भीतर, जो नथिंगनेस है--है क्या कोई आदमी? पानी पर बने हुए एक बबूले से ज्यादा क्या है! मगर वह डर है भीतर और उसको हम स्वीकार नहीं कर रहे तो उससे उलटा हम किए चले जा रहे हैं। उससे उलटा हम बता रहे हैं कि नहीं, एक आदमी डरा हुआ है मृत्यु से, वह दूसरों को डरा रहा है कि मैं तुम्हें मार डालूंगा और वह अपने लिए यह विश्वास दिलाना चाह रहा है कि जब मैं दूसरों को मार सकता हूं तो मुझे कौन मार सकता है! मेरी मृत्यु होने वाली नहीं है।
दुनिया में यह जो चंगीज है, तैमूर है, हिटलर है, ये जो दूसरों को मारने
की धमकी दे रहे हैं, मार रहे हैं, ये सब मृत्यु से डरे हुए लोग हैं। और ये दूसरों को मार कर यह आश्वासन पा रहे हैं कि मैं तो कई को मार सकता हूं, मुझे कोई नहीं मार सकता है।
हमारे चेतन मन में हम वही करना शुरू कर देते हैं जिससे हम भीतर डरे हुए हैं। तो अक्सर भयभीत आदमी अभय का आवरण ओढ़ लेता है, कवच ओढ़ लेता है, अकड़ कर चलता है। उसकी अकड़ सिर्फ भय का सबूत है। असल में जिस आदमी ने भय को स्वीकार कर लिया, वह अकड़ कर भी नहीं चल रहा। वह मानता है कि ठीक है, भय है। तब उस आदमी की जिंदगी में एक और ही तरह की सरलता आ जाती है और उस आदमी के चेतन और अचेतन मिल जाते हैं। तब वे दो विरोध नहीं रह जाते। तब एक हारमोनियस माइंड उसके भीतर पैदा हो जाता है। उसने स्वीकार कर लिया है, जो है वह है। उसने इनकार ही करना बंद कर दिया। क्योंकि इनकार वह कर सकता है लेकिन जीवन के गहरे में जो बैठा है, उसे इनकार करने से वह मिटता नहीं। हमें पता है कि हम मरेंगे। यह हमारे अचेतन में बैठा है। यही निश्चित होकर बैठा है। अब उसे हम चेतन मन में इनकार कर रहे हैं कि मैं मरने वाला नहीं हूं। सब मर जाएंगे, मैं नहीं मरूंगा। तो हमारे भीतर विरोध पैदा हो रहा है। सच बात तो यह है कि कांशस और अनकांशस जैसे दो मन नहीं हैं। मन तो एक ही है। लेकिन चेतन मन इस तरह की धारणाएं करता है कि असली धारणाओं को उसे अंधेरे में धक्का देना पड़ता है। जो वस्तुतः जीवन के तथ्य हैं... और इस तरह एक दीवाल खड़ी कर लेता है खुद ताकि उसे पता न चल पाए कि भीतर उसके वह असली बात छिपी है। वह असली बात उसके भीतर मौजूद है, वह उसको पता न चल पाए कि वह एक दीवाल खड़ी कर रहा है, वह उसे अंधेरे में डाल रहा है। वह उतना ही जानना चाहता है जो प्रकाशित है जो उसको दिखाई पड़ता है साफ सुथरा, जो उसने बनाया है।
तो एक मन है जो हमने निर्मित किया है और एक मन है जो हमें मिला है। जो हमें मिला है, उस मन के तथ्यों का बोध है उस मन को और जो हमने बनाया है, वह बिल्कुल ही प्रोजेक्शन है, बिल्कुल ही फिक्शन है। भय है तो हमने एक अभयता पैदा कर ली है। मौत का डर है तो हमने सिद्धांत बना लिए हैं कि मृत्यु हो नहीं सकती। आत्मा अमर है। प्रेम टूट सकता है तो हमने सिद्धांत बनाया है कि

प्रेम शाश्वत है। प्रेम कभी नहीं टूटता। मित्रता कभी टूट ही नहीं सकती। जो अपने हैं वे सदा अपने हैं। ये सब हमने चेतन मन में खड़े कर लिए हैं। इन सबसे वेनिटी पैदा हुई है। वेनिटी जो है वह इनवेंटड फियर है। शीर्षासन करता हुआ भय है। अहंकार है। उलटा खड़ा हो गया है। उलटा खड़ा होकर अब वह अपने को समझ रहा है कि निश्चिंत हो गया है। बात खत्म हो गई। अब कोई डर भी नहीं है। लेकिन डर भीतर मौजूद बना ही रहेगा। वह खाएगा ही। जो आदमी घर के बाहर बहुत गंभीर है, वह घर के भीतर दब्बू पाया जाएगा। जो आफिसर दफ्तर में बहुत अकड़ वाला है वह घर जाकर अपनी पत्नी बच्चों से ही डरेगा। जो आदमी दिन भर अकड़ा रहेगा, रात सपने में बहुत भय के सपने देखेगा। नाइट मेयर (20ः50 अस्पष्ट)...
एक तरफ हम किसी तरह अपने को सम्हाल लें तो मन का दूसरा हिस्सा असर्ट करेगा। वह निकलेगा। उससे हम बच नहीं सकते। इसलिए हैरानी की बात मालूम पड़ती है कि बड़े-बड़े सेनापति, बड़े-बड़े बादशाह जिनकी बहादुरी में कोई शक नहीं, वह भी अपनी औरत से घर में जाकर डरने लगता है, क्योंकि एक हिस्सा पूरा हो गया आकर। आखिर कहीं तो रिलैक्स होओगे जाकर। चौबीस घंटे अकड़े कैसे रह सकते हो, विश्राम तो करना पड़ेगा। तो बाहर अगर अकड़े रह गए तो घर जाकर विश्राम करना पड़ेगा। और जब विश्राम करोगे तब वह दब्बुपन सब गायब हो जाएगा। इसलिए अक्सर यह हो जाता है बड़े बहादुर, बड़े नेता और एक साधारण सी स्त्री से भयभीत हो गए और उनके भयभीत होने का कारण स्त्री में नहीं है। उनके भयभीत होने का कारण है कि घर में आकर तो विश्राम करोगे। अगर बाहर चित्त अकड़ा रखा है तो घर में आकर शिथिल करना पड़ेगा। अगर शिथिल करोगे तो सब अकड़ चली जाएगी और तब कोई भी तुम्हें दबा सकता है।
हम अपने मन को दो हिस्सों में तोड़ लेते हैं। भय ही अहंकार बन जाता है।
भय, जो अपने को स्वीकार नहीं करता है। इनकार किया गया भय अहंकार बन जाता है। मेरा कहना है कि भय को इनकार मत करो, वह है। आज मेरा प्रेम है कल का पता नहीं। जिंदगी बड़ी अनिश्चित है, सब यहां अनसर्टेन है। सर्टेनिटी सिर्फ मनुष्य का खयाल है। यहां कोई चीज स्थिर नहीं है। आज मेरे मित्र हैं कल का कुछ पता नहीं। कल सुबह मेरे शत्रु भी हो सकते हो। यह संभावना बाकी है। यह संभावना मुझे स्वीकृत होनी चाहिए। तब फिर भय का क्या कारण है! तब फिर भय का कोई कारण नहीं है। यह मैं मानता हूं कि कल ऐसा हो सकता है, उसकी स्वीकृति मेरे मन में है, विरोध नहीं है। तो जब ऐसा होगा तो मैं स्वीकार कर लूंगा और जब तक ऐसा नहीं हुआ है तब तक मैं मित्रता का जो आनंद ले सकता हूं, वह लूंगा। ऐसा व्यक्ति मित्रता का भी आनंद लेगा। और कल मित्रता चली जाएगी तो पीड़ित भी नहीं होने वाला है। क्योंकि वह जानता था कि जो फूल खिलता है, वह मुर्झाता है।
ऐसे व्यक्ति को कोई पीड़ा नहीं घेरने वाली। ऐसा व्यक्ति जीवन के सब सुखों-दुखों में सहजता से गुजरता चला जाएगा। सुख आएगा तब भी वह जानेगा कि यह भी निश्चित नहीं है। यह तो कल चले ही जाने वाला है। और दुख आएगा तब भी वह जानेगा कि यह भी दुख निश्चित नहीं है। यह भी कल चला जाएगा। और ऐसा व्यक्ति जो सारी चीजों को जानता है कि आएंगी और जाएंगी, धीरे-धीरे सबसे मुक्त हो जाता है। न उसे सुख घेरता, न उसे दुख घेरता। वह जानता है कि धूप भी आती है, छाया भी आती है। यह सब आते हैं और चले जाते हैं। पर धीरे-धीरे ऐसा व्यक्ति साक्षी हो जाता है, विटनेस हो जाता है, जो हो रहा है।
एक फकीर मर गया। उसका शिष्य छाती पीट कर रो रहा था। उस शिष्य की बड़ी ख्याति थी। अब सैकड़ों लोग ऐसा समझते थे कि वह ज्ञान को उपलब्ध हो गया। हजारों लोग आए थे फकीर के मरने पर। और उस व्यक्ति को रोते देख कर उन्हें बड़ी बेचैनी होने लगी। और उनमें से कुछ ने आकर कहा कि तुम रोते हो तो हमें हैरानी होती है। हम तो सोचते थे, तुम ज्ञान को उपलब्ध हो चुके हो। हम तो सोचते थे कि तुम जानते हो कि मृत्यु होती ही नहीं। आत्मा अमर है।
उस फकीर ने कहा कि वह मैं जानता था, अब भी जानता हूं। लेकिन जो भी होता
है उसे मैं कभी नहीं रोकता हूं। मैं उसे स्वीकार करता हूं। इस वक्त आंसू आ रहे हैं, मैं उन्हें स्वीकार कर रहा हूं। रोना आ रहा है, मैं स्वीकार कर रहा हूं। मैं इसे दबाऊंगा नहीं। वर्षा आती है, सर्दी आती है, धूप आती है और

फिर मैं उस आदमी की आत्मा के लिए नहीं रो रहा हूं। क्योंकि आत्मा नहीं मरती, यह मैं जानता हूं। लेकिन उसका शरीर भी बड़ा प्यारा था। वह शरीर अब जगत में दुबारा नहीं होगा। और फिर यह सवाल नहीं है, क्योंकि मैं यह सोचता ही नहीं कि मैं क्या करूं! जो होता है वह मुझे स्वीकार है। रोना आ रहा है तो मुझे स्वीकार है। शायद ही वे लोग समझ सके हों कि वह आदमी ज्ञान को उपलब्ध हुआ है। क्योंकि हमारी ज्ञान की धारणा है कि जो न भयभीत हो, जो न दुखी हो, जो न पीड़ित हो। लेकिन हमें पता ही नहीं है, हमें पता ही नहीं है कि जो आदमी मुस्कुराया और मुस्कुराने को स्वीकार करता है, वह कभी रोएगा और रोने को स्वीकार करना चाहिए।
असल में जीवन के सत्य को उपलब्ध व्यक्ति इस द्वंद्व में से एक को नहीं चुनता है। इन दोनों के बीच समभावी हो जाता है। रोते हुए भी वह साक्षी है कि रोना आ रहा है तो मैं क्या करूंगा, ठीक है। उसका कोई सप्रेशन, कोई दमन उसका नहीं है। जीवन के सारे सत्य स्वीकार हो जाने चाहिए और हमें जानना चाहिए, ऐसा है। थिंग्.ज आर ए.ज सच। और जब इतना बोध गहरा होता चला जाए कि ऐसा है। और हम किसी तथ्य से बचने की चेष्टा में न लग जाएं तो भय विलीन हो जाता है।
और जिस व्यक्ति का भय विलीन हो गया, उस व्यक्ति के जीवन के सारे झूठ विलीन हो जाते हैं। क्योंकि भय से बचने को ही झूठ खड़े किए थे। तब वह किसी स्त्री को पत्नी नहीं कहेगा, क्योंकि वह झूठ था। जो प्रेम न टूट जाए, इस डर से खड़ा किया गया था। यह डर था कि आज प्रेम है, कल टूट जाए तो कानून से व्यवस्था कर ली है। समाज के सामने साक्षी ले ली। वह अब किसी पत्नी को पत्नी नहीं कहेगा। अब मित्र ही कोई पत्नी हो सकती है। और वह मित्रता भी वैसी ही है जो किसी भी क्षण विदा हो सकती है और मेरा मानना है कि जिस चीज के विदा होने का हमें पता है, उसका रस, उसका आनंद गहरा हो जाता है, कम नहीं होता।
सड़क के किनारे पत्थर पड़ा है, वह उतना रसपूर्ण नहीं मालूम होता और जो फूल खिला है, जो घड़ी भर बाद कुम्हला ही जाने वाला है, वह ज्यादा रसपूर्ण मालूम होता है। क्योंकि वह इतना जीवंत है। उसका जीवन इतना तीव्र है, इसलिए तो विदा होगा। तो वैसा व्यक्ति मित्रों को बांध नहीं लेगा। पजेशन नहीं होगा। क्योंकि वह जानता है, चीजें छूट सकती हैं और मजे की बात यह है कि जितना पजेसिव होता है आदमी, उतनी जल्दी चीजें छूट जाती हैं। और जितना नॉन-पजेसिव होता है, उतनी चीजें उसके निकट चली आती हैं। क्योंकि ऐसा आदमी जो हमें बांधना चाहता है, उससे हम स्वतंत्र होना चाहेंगे। और जो आदमी हमें बांधता ही नहीं, जिसने कभी हमें बांधा ही नहीं, उससे स्वतंत्र होने का सवाल ही नहीं उठता। यानी मेरा मानना है कि एक स्त्री को मैं पकड़ कर बैठा लूं कि जीवन भर मुझे प्रेम करना पड़ेगा तो यह प्रेम इसी वक्त खत्म हो गया। जीवन की तो बात ही अलग, इसी क्षण गया। क्योंकि यह मांग इतनी कठोर है कि प्रेम को मार डालेगा।
प्रेम स्वतंत्रता का दान है, तो हो सकता है कि स्त्री के शरीर को मैं जीवन भर बांधे रहने के लिए प्रेम पहले दिन ही मर गया। इस मांग ने ही मार डाला। इस मालकियत ने मार डाला। लेकिन मैं कहता हूं कि इस क्षण दिया, यही धन्यवाद है मेरा। और यह क्षण क्या कम है और यह क्षण पर्याप्त है, अगले क्षण मिलेगा तो धन्यवाद है; नहीं मिलेगा तो मानूंगा कि यह जीवन का हिस्सा है। तो हो सकता है कि जीवन भर भी मिल जाए, क्योंकि मुझे क्षणों से ज्यादा की कामना भी नहीं है। और जिस क्षण में मिल गया है, उसके लिए आभारी हूं, अनुगृहीत हूं। बात खत्म हो गई है। कोई मालकियत नहीं है, कोई दबाव नहीं है, कोई दमन नहीं है। तो जो आदमी जितना कम परतंत्र करता है, उससे स्वतंत्र होने का सवाल ही नहीं उठता है। हम उसके साथ जन्मों-जन्मों तक मित्र हो सकते हैं।
मित्रता टूटती है पजेशन से। प्रेम टूटता है पजेशन से। और पजेशन पैदा होता है भय से। भय है इसका कि कल कहीं किसी और को प्रेम न करने लगो। तो मैं सब तरफ दीवालें खड़ी करता हूं। द्वार दरवाजों पर ताले लगाता हूं कि तुम कहीं किसी और से प्रेम मत करने लगना। क्योंकि किसी और को तुमने प्रेम किया तो मेरा क्या होगा, तो मैं इंतजाम कर रहा हूं। और ऐसे इंतजाम में मैं प्रेम

को मार डालूंगा। यह वैसे ही है जैसे कोई फूल को तिजोड़ी में बंद कर दे, ताला लगा दे। उसके हाथ में राख ही हाथ आने वाली है। फूल तिजोड़ी में बंद होने वाली चीज नहीं है। वहां सिर्फ मरी चीजें ही बंद की जा सकती हैं। रुपये से ज्यादा मृत कोई चीज नहीं है। इसलिए तिजोड़ी में बंद हो सकता है और वही का वही रहता है, जैसा बंद किया, वैसा ही निकल आता है। वह मरता है, मरा हुआ है। फूल बंद नहीं हो सकते। प्रेम बंद नहीं हो सकता।
आदमी जीवंत है और प्रेम जीवन का फूल है। यहां जो भी महत्वपूर्ण है, वह बंद नहीं हो सकता। बंद करते ही मर जाएगा। और हमारा भय सब चीजों को बंद कर लेना चाहता है। हम तो परमात्मा तक को बंद कर लेना चाहते हैं। हम तो परमात्मा तक पर दावा करते हैं कि यह मेरा भगवान है। यहां दूसरा आदमी इस मंदिर में नहीं घुस सकता है। वह हमारा वही पजेशन जो स्त्री पर, पत्नी पर, मित्र पर था वह भगवान पर भी है। यह, यह देवी का मंदिर है। यह मुसलमान का मंदिर है, यह ब्राह्मण का मंदिर है, यहां शूद्र नहीं आ सकता। यह हमारा है। वहां भी हमारी मालकियत है। हम भगवान को भी मार डाले हैं। इसलिए मंदिरों में जिंदा भगवान नहीं मिल सकता। जिंदा भगवान इस जीवन में मिल जाएगा कहीं भी, मंदिर में नहीं मिल सकता। जैसे तिजोड़ी में फूल बंद होने से मर जाता है, ऐसे मंदिर में भगवान बंद होने से मर गया है। और बंधन इसलिए करते हैं ताकि हम सुरक्षित रहें। ताकि जब हम उसे खोजना चाहें, वह हमें मिल जाए। जब हम पाना चाहें तब, हमें वह ऐसा न हो कि हम मंदिर जाएं और भगवान न मिले। हमने पत्थर की मूर्ति वहां खड़ी कर रखी है, जो हमें मिल ही जाएगी हर हालत में। जब भी हम जाएंगे, तब वह हमें उपलब्ध होगी।
सब तरफ जहां-जहां हमने भय के कारण सुरक्षा की है, वहीं-वहीं भूल हो गई। फिर हमारी प्रार्थना भी सच्ची नहीं है। फिर हमारा प्रेम भी सच्चा नहीं है। क्योंकि सब के पीछे भय सरक रहा है। जब किसी को मैं कह रहा हूं कि मैं तुम्हें बहुत प्रेम करता हूं, तब हम भीतर अगर थोड़ा झांक कर देखें तो शायद पता चले कि प्रेम हम बिल्कुल नहीं करते हैं। और यह सिर्फ मैं इसलिए कह रहा हूं ताकि यह मैत्री कायम बनी रहे। यह पजेशन कायम रहे। आदमी हाथ जोड़ कर भगवान से प्रार्थना कर रहा है। और पूरे वक्त भयभीत है और शायद इसलिए भगवान की प्रार्थना करने आया है कि डरा हुआ है कि कहीं प्रार्थना नहीं की तो भगवान नाराज न हो जाएं! कहीं कोई दुख न आ जाए! कहीं कोई मुसीबत न आ जाए! तो प्रार्थना भी झूठी हो गई है।
भय ने सब असत्य कर दिया है। और भय ने हजार असत्य खड़े किए हैं जो हमने
भय से बचने के लिए खड़े किए हैं। भय न जाए तो कोई आदमी कभी भी सत्य को उपलब्ध नहीं हो सकता। भय जो है, वह ओरिजिनल सोर्स है--असत्य का, झूठ का, कल्पना का, सपने का, मनमानी कल्पना खड़ी करने का मूल स्रोत है। और भय से ऊपर उठना हो तो भय की स्वीकृति चाहिए, यह हमारी समझ में नहीं आ पाता। जिससे ऊपर उठना हो उसको स्वीकार कर लो और उसके आदमी ऊपर उठ जाता है। एक्सेप्टेंस इज़ दि ट्रांसफार्मेशन। टोटल एक्सेप्टेंस इज़ टोटल ट्रांसफार्मेशन। तुम इस स्वीकृति से बाहर हो गए, फिर बात खतम हो गई।
मौत आए मेरे द्वार पर और मैं पूर्ण स्वीकार कर लूं कि आओ, वैसे ही जैसे कोई मित्र, अतिथि आए और मैं उसे बुला लूं तो मौत व्यर्थ हो गई। क्योंकि मौत की सार्थकता मुझे भयभीत करने में है और अगर मौत मुझे भयभीत कर लेती तो मैं मरने के पहले मर गया होता। और मौत अगर मुझे भयभीत नहीं कर पाती तो मौत आ जाएगी और मैं रहूंगा। मौत आ जाएगी और मैं रहूंगा। जिन्होंने मौत को स्वीकार कर लिया, उन्होंने पाया कि आत्मा अमर है। लेकिन हम उलटे लोग हैं। हम आत्मा की अमरता की बात ही इसलिए कर रहे हैं कि मौत को स्वीकार न करना पड़े। हमारी जो आत्मा की अमरता है वह हम मान ही इसीलिए रहे हैं, किताब पढ़-पढ़ कर पक्का कर रहे हैं, गुरुजनों से पूछ रहे हैं। साधु-संन्यासियों के चरणों में जा रहे हैं, सिर्फ एक पक्का करने के लिए--आत्मा अमर है न! आत्मा अमर हो तो हमारी मृत्यु का भय मिट जाए। और आत्मा अमर नहीं है तो हम मौत से डरे हुए हैं, तो हम मर जाएंगे। इसलिए जिस कौम में, जिस समाज में, जितने आत्मा की अमरता के मानने वाले ज्यादा लोग हैं, समझना कि वहां मौत से डरने वाले उतने ही लोग हैं। क्योंकि वे लोग तो बहुत कम हैं जो आत्मा की अमरता को जान पाते

हैं, क्योंकि उसको जानने की शर्त एक है कि जिन्हें मौत स्वीकार हो गई। जिन्होंने मौत को भी गले लगा लिया कि आओ, वह मौत के बाहर निकल गए। फिर मौत उनके ऊपर विवश, फिर उन पर कुछ भी उसका वश नहीं चलता। फिर वह परवश हो गई, फिर वह हार गई।
जिस दुख को हम स्वीकार कर लेंगे, हम उसके बाहर हो जाएंगे। दुख हम पर जीतता है क्योंकि हम अस्वीकार करते हैं। जो दुख आए स्वीकार कर लिया है। जो भी हुआ स्वीकार कर लिया। हमारे भीतर कोई निषेध नहीं, कोई विरोध नहीं, कोई रेसिस्टेंस नहीं है। जीवन जैसा आता है, जैसे हवाएं गुजरती हैं वृक्षों के पास, पूरब गुजरती हैं तो वृक्ष को स्वीकार है। पश्चिम गुजरती हैं तो वृक्ष को स्वीकार है। पूरब गुजरती हैं तो वृक्ष की शाखाएं पूरब की तरफ उड़ने लगती हैं और पत्ते पूरब की सूचनाएं देने लगते हैं। और पश्चिम गुजरती है तो वृक्ष को पश्चिम की तरफ स्वीकार है। हवाएं कैसी भी चलें, वृक्ष राजी है। वृक्ष को कंपा डालती हैं तो राजी है। वृक्ष खड़ा रहता है तो राजी है। सब में राजी है। ऐसी सब में राजी होने की क्षमता आ जाए, जीवन के सब तथ्यों में हवाएं कैसी भी चलें तो आदमी तत्काल भय के बाहर हो जाता है।

यू फील सर, दैट दि एजुकेशन व्हिच वी आर गिविंग इन दि स्कूल्स ऑर युनिवर्सिटीज व्हिच इज़ बेस्ड आन दि कंपेरिजन इज़ हार्मफुल एण्ड इफ इट इज़ हार्मफुल, वॉट मेजर्स शुड वी टेक सो दैट वी कैन ब्रिंग दि ह्युमिनिटी विदआउट फियर?

निश्चित ही कंपेरिजन, तुलना की शिक्षा अत्यंत घातक है, जहरीली है, विषाक्त है। क्योंकि जैसे ही हम किसी व्यक्ति को तुलना में सोचना शुरू करते हैं और किसी व्यक्ति की किसी से तुलना करते हैं, वैसे ही हम उसमें हीनता, भय, महत्वकांक्षा सब पैदा करते हैं। वह डर गया है। क्योंकि जब हम किसी व्यक्ति की तुलना करते हैं, अ से हम कहते हैं कि ब तुझसे श्रेष्ठ है। तुझे भी ब के ऊपर उठना चाहिए। वैसे ही हम अ के भीतर भय पैदा कर रहे हैं। अब वह डर गया जिंदगी से, कैसे ब से आगे हो! कैसे ब के आगे हो और ब के भी आगे हो जाए तो क्या फर्क पड़ता है, आगे स खड़ा है। हजारों की कतार है आगे। सबसे आगे होना है। वह आदमी भयभीत हो गया। वह आदमी डर गया। और जब हम किसी आदमी की तुलना किसी और से करते हैं तो उसका मतलब है कि हम उस आदमी को स्वीकार नहीं करते हैं। वह आदमी अस्वीकृत हो गया, उसी वक्त। वह आदमी जैसा है, वह स्वीकार न रहा। उसे ऐसा होना चाहिए तब हम स्वीकार करेंगे। तो हमने उस आदमी के व्यक्तित्व का इतना गहरा अपमान किया कि यह अपमान उसे घबड़ा ही देगा, डरा ही देगा और इस अपमान से बचने के लिए वह पागल दौड़ में लग जाएगा।
सच्ची शिक्षा तुलना पर खड़ी नहीं होगी। सच्ची शिक्षा एक-एक व्यक्ति को
वह जैसा है वैसा स्वीकार करेगी। सच्ची शिक्षा उसे तुलना नहीं सिखाएगी। सच्ची शिक्षा उसे दूसरे से आगे बढ़ना नहीं सिखाएगी। सच्ची शिक्षा वह जो है, उसी को जानना सिखाएगी। वह आत्म-ज्ञान देगी, सेल्फ-नालेज देगी। अभी जो शिक्षा है वह दूसरे से तुलना देती है, स्वयं का ज्ञान नहीं। और दूसरे से तुलना में एक दौड़ शुरू होती है, जिसका कोई अंत नहीं है और व्यक्ति जिंदगी भर कंपता रहता है भय से कि कहीं पीछे न रह जाए। और कितना ही दौड़े, सदा पीछे ही होता है क्योंकि और लोग आगे हैं। जीवन एक चक्कर है। इसमें अनंत लोग हैं। कोई आदमी आज तक नंबर एक नहीं हो पाया है। एक तरफ से नंबर एक होता है तो पाता है पच्चीस तरफ से दूसरों से नंबर दो है। एक आदमी प्रधानमंत्री हो गया तो पाता है कि फलाना आदमी के बराबर ज्ञान नहीं है उसके पास। एक आदमी ज्ञानी हो गया तो पाता है फलाना आदमी सुंदर है। एक आदमी सुंदर है तो पाता है फलाना आदमी स्वस्थ है, पहलवान है। जिंदगी के हजार आयाम हैं और सब आयामों में कोई नंबर एक नहीं हो सकता। इसलिए नंबर दो, नंबर तीन बना ही रहता है हर आदमी। और तब उसे दुख बना रहता है, अपमान बना रहता है। यह अपमान खा जाता है जीवन को। और जो शिक्षा अपमान देती है व्यक्ति को, वह शिक्षा व्यक्ति का आदर नहीं करती, सम्मान नहीं करती।

मैं एक ऐसी शिक्षा चाहता हूं जहां प्रत्येक व्यक्ति स्वयं प्रतिष्ठित स्वीकृत है, वह जैसा है। उससे किसी दूसरे की तुलना का कोई सवाल ही नहीं है, और तुलना गलत है। क्योंकि कोई दो व्यक्ति एक जैसे नहीं हैं। इसलिए तुलना हो भी नहीं सकती। तुलना हो सकती थी, अगर सब मनुष्य एक जैसे होते, लेकिन एक-एक व्यक्ति अपने ही जैसा है। उस जैसा कोई आदमी ही दूसरा नहीं है, तो तुलना कैसी! तुलना किससे और कैसे हो सकती है? न इस जैसे मां-बाप किसी को मिले। न इस जैसा घर किसी को मिला। न इस जैसी आंख किसी को मिली। न इस जैसा शरीर, न इस जैसा मस्तिष्क, न इस जैसी आत्मा, ऐसा किसी को भी नहीं मिला। यह बस यूनीक है। यह बेजोड़ है मनुष्य के पूरे इतिहास में, न पीछे, न आगे कभी ऐसा आदमी होगा। क्योंकि ऐसा आदमी होने के लिए वे सारी परिस्थितियां, अनंत परिस्थितियां फिर दोहरानी पड़ेंगी, जो नहीं दोहर सकतीं। इसलिए हमेशा आदमी नया है, अलग है, प्रकट है, तुलना गलत है।
एक-एक व्यक्ति अद्वितीय है, यह भाव शिक्षा को पैदा करना चाहिए। एक-एक व्यक्ति अद्वितीय है और एक-एक व्यक्ति जैसा है, वैसा सम्मानित है। और कोशिश यह करनी चाहिए कि वह अपने को खोज सके और प्रकट कर सके। वह निरंतर अपने भीतर जा सके और गहरे और गहरे। अपनी सारी पोटेंशियलिटी को जान सके। क्या बीज उसके भीतर है और उसे विकसित करने के लिए शिक्षा सहयोगी बने। वह व्यक्ति बन सके जो बनने को पैदा हुआ है। वह जो हो सकता है, वह हो जाए। इसकी तुलना का कोई सवाल नहीं है। एक घास का फूल है, वह घास का फूल होगा। एक गुलाब का फूल है, वह गुलाब का फूल होगा। और मजे की बात यह है कि यह सिर्फ आदमी की तुलना ने घास के फूल को हीन, क्षुद्र बना दिया है और गुलाब के फूल को ब्राह्मण और श्रेष्ठ बना दिया है। प्रकृति के जगत में घास का फूल इतनी ही महिमा से भरा हुआ है जितना गुलाब का फूल। जब हवाएं आती हैं उसकी खुशबू...

"शिक्षाः साध्य और साधन" विषय पर प्रश्नोत्तर-शृंखला-6

शिक्षा में क्रांति
बीसवां प्रवचन

जीवन-विरोधों में लयबद्धता का बिन्दु

आचार्य जी, टुडे आई शैल आस्क अबाउट कंट्राडिक्शन। टु मी सर दिस इस्यू हैज बीन वेरी मच कनफ्यूजिंग। साक्रेटीज क्लीन्स दि सिस्टम बाई प्रोनाउंसिंग दि डेमोक्रेसी, व्हेयर इन ड्यूरेशन ऑफ टाइम चेंज्ड द एटिट्यूड ऑफ अरिस्टोटल टु चेंज दि सिस्टम। आई एग्री विद योर व्यू.ज दैट अवर फ्यूचर आर्गनाइजेशंस विल बी दि आर्गनाइजेशंस ऑफ ओवर लव नॉट ऑफ डॉमिनेशंस। बट आई हैव टु एडमिट सर दैट टु रन ए गवर्नमेंट व्हेदर ऑफ स्माल यूनिट आर ऑफ वर्क आर्गनाइजेशंस, वी शैल हैव टु फ्रेम ए कोड ऑफ कंडक्ट व्हिच शैल चेक दि माल-प्रेक्टिसस ऑफ दि बैड एलिमेंट्स एण्ड कीप दि साउंड सिस्टम। शुड आई हैव फ्रॉम यू सर दि डिटेल्स ऑफ अकाउंट?

जीवन निश्चित ही विरोधों से भरा है, कंट्राडिक्शंस से भरा है। विरोध जीवन के लिए जरूरी भी है। जैसे कोई भवन निर्माण करने वाला द्वार के ऊपर विरोधी ईंटों को लगा कर आर्च निर्मित करता है। दो तरफ से विरोधी ईंटों का दबाव द्वार बन जाता है। जीवन की सारी व्यवस्था विरोध और उनके दबाव पर निर्भर है।
जीवन में यदि विरोध न हो तो जीवन ही असंभव है। कंट्राडिक्ट्री पोल्स, विरोधी छोर, उनका तनाव और दबाव ही जीवन को निर्मित करते हैं। तो विरोध जीवन-विरोधी नहीं है। विरोध के ही मध्य और बीच जीवन की सारी लीला और खेल है। अंधेरा और प्रकाश से मिल कर, धूप और छाया से मिल कर, जन्म और मृत्यु से मिल कर, स्त्री और पुरुष से मिल कर, निगेटिव और पाजिटिव से मिल कर सारे जीवन की व्यवस्था है। इसलिए ऐसा तो कभी नहीं होगा कि विरोध समाप्त हो जाए। विरोध समाप्त हुए कि जीवन समाप्त हुआ। विरोध तो रहेंगे ही।
तब करना क्या है? करना ऐसा है कि विरोध हों और विरोधों के बीच एक हार्मनी हो, एक संगति हो। यानी विरोध ऐसे हों कि दोनों मिल कर जीवन को गति देते हों, रोकते न हों। विरोध ऐसे भी हो सकते हैं कि जीवन रुके, बाधा पड़े। विरोध ऐसे भी हो सकते हैं कि जीवन को गति मिले, यात्रा हो। विरोध समाप्त नहीं हो सकते हैं। विरोध को समाप्त करने की बात ही गलत है। हां, विरोध ऐसे हो सकते हैं कि जीवन के लिए मित्र, सहयोगी और साथी बनें, और ऐसे भी हो सकते हैं कि जीवन नष्ट हो जाए। तो कैसे विरोध हों, यह चुनाव की बात है।
तो मैं विरोधों का विरोधी नहीं हूं, सिर्फ उन विरोधों को इनकार करता हूं, जिनसे जीवन नष्ट होता है। और जीवन का सम्यक संगीत विरोध के बीच ही एक लयबद्धता, एक रिदिम को खोजने से होता है। जब एक संगीतज्ञ, एक सितारवादक सितार बजाता है तो वह बहुत से स्वर पैदा कर रहा है। उन सब स्वरों के बीच एक सामंजस्य है, तो संगीत पैदा हो गया। पांच-दस पागल मिल करके भी एक कमरे में बहुत से स्वर पैदा कर सकते हैं, लेकिन उससे संगीत पैदा नहीं हो जाएगा। स्वर तो हो जाएंगे बहुत पैदा, लेकिन वे स्वर विसंगीत पैदा करेंगे, संगीत नहीं; डिस्कार्डेंट होंगे, हारमोनियस नहीं। ऐसे ही जीवन की स्थिति है। ऐसे स्वर जीवन में पैदा हो सकते हैं, जो विरोधी हों, लेकिन संगीतपूर्ण हों। और ऐसा भी हो सकता है कि स्वर सिर्फ विरोधी हो और उनके बीच कोई अंतर संबंध न हो।
आज जो समाज है वह ऐसा ही समाज है, जो एक विसंगीत है। विरोध की वजह से यह विसंगीत नहीं है, विरोधों के बीच संगीत न खोजने की वजह से है। इसलिए बहुत लोगों को यह उपद्रवपूर्ण स्थिति देख कर लग सकता है कि हम सब विरोध समाप्त कर दें। लेकिन जिस दिन विरोध समाप्त होंगे, उस दिन जीवन ही समाप्त हो जाता है। जीवन को खड़ा ही नहीं किया जा सकता।
वह जो जीवन की गति है वह निरंतर विरोध के बीच है। जब आप सड़क पर चल रहे हैं, तब भी आपको खयाल नहीं है कि दो विरोधों के कारण आप चल पा रहे हैं। जब आप सड़क पर चल रहे हैं, तब आप गति कर रहे हैं और जमीन का गुरुत्वाकर्षण आपकी गति को पूरे वक्त रोक रहा है। जमीन कह रही है रोकने के लिए, रुकने के लिए,

ठहर जाने के लिए और आप चल रहे हैं। इन दोनों के बीच एक तालमेल निर्धारित हो जाता है, इसलिए आप चल पाते हैं।
अगर जमीन में गुरुत्वाकर्षण न हो तो आप चल ही नहीं पाएंगे। या आप में चलने की इच्छा न हो तो भी आप नहीं चल पाएंगे। जमीन का गुरुत्वाकर्षण और चलने की इच्छा--और इन दोनों के बीच एक तालमेल, एक हार्मनी आपको गति देती है और चलाती है। अगर जमीन में गुरुत्वाकर्षण न हो तो आप जमीन से ही छूट जाएंगे, चलने का सवाल ही नहीं है। और आप में चलने की इच्छा न हो तो आप बैठ जाएंगे। ये दो विरोधियों के बीच हम चल रहे हैं, हम जी रहे हैं। जीने के प्रतिपल में मृत्यु का विरोध खड़ा हुआ है। जीने का सारा रस ही इसीलिए है कि मृत्यु भी है। अगर यह निश्चित हो जाए कि मृत्यु नहीं है, तो जीवन का रस तत्क्षण विलीन हो जाएगा। वह जो जीवन में आनंद और पुलक है, वह प्रतिपल मृत्यु के साथ खड़े होने से है।
किसी भी दिन अगर आदमी ने ऐसा कर लिया कि मृत्यु को इनकार कर दिया, और ऐसी व्यवस्था कर ली कि कोई नहीं मरेगा, तो उसी दिन से फिर कोई जीएगा भी नहीं। क्योंकि जीवन का सारा अर्थ ही खो जाएगा। ऐसे ही, जैसे एक चित्रकार चित्र बनाता है तो बहुत रंगों से बनाता है। और अक्सर ऐसा होता है कि उसे अगर सफेद रंग उभारना हो तो पीछे काले रंग का बैकग्राउंड बनाता है। काले रंग की पृष्ठभूमि में सफेद रंग उभरता है, दिखाई पड़ता है। वह उतना सफेद दिखाई पड़ता है, जितना वह सफेद होता भी नहीं। वह काले की वजह से उतना सफेद दिखाई पड़ता है। काले और सफेद के बीच एक संगीत खोजता है तो चित्र बन जाता है।
तो जीवन की बहुत गहरी व्याख्या में विरोध स्वीकृत होगा। उसको इनकार नहीं करना है। लेकिन, इसका यह अर्थ नहीं है कि विरोध अराजक हो जाए, कि विरोध के बीच का कोई संबंध ही न रह जाए। दो व्यक्ति बात कर रहे हैं। दोनों विरोधी हैं लेकिन बात करने में एक संगीत हो सकता है, क्योंकि दोनों विरोधी होते हुए भी एक दूसरे को समझने के लिए आतुर, उत्सुक हैं। तब उनकी बातचीत एक संवाद है, एक डॉयलाग है। और उन दोनों की बातचीत से सत्य के करीब वे दोनों पहुंचेंगे। वे विरोधी हैं, वे बिल्कुल विरोधी हैं। शायद वे इसी बात के लिए सहमत हैं कि दोनों असहमत होंगे। बाकी इतना ही एग्रीमेंट है उनके बीच-- डिसएग्री होने का। लेकिन फिर भी एक दूसरे को समझने का एक भाव है, तो वह संगीत बना देगा। तब उनका विरोध भी मैत्रीपूर्ण हो जाएगा, और तब उस विरोध से भी वे सत्य के करीब पहुंचेंगे।
दो व्यक्ति ऐसे विरोधी हो सकते हैं, जो एक दूसरे को सुनने को राजी नहीं हैं। अपना-अपना बोल रहे हैं, दूसरे का सुन नहीं रहे हैं। दूसरे से कोई संबंध नहीं है। तब वह स्थान पागलखाने का हो जाएगा। तब वे अपना बोल रहे हैं, लेकिन दूसरे से कोई जोड़ नहीं है। तब वे सत्य के करीब नहीं, पागल होने के करीब पहुंचेंगे। विरोध कैसा हो, कंट्राडिक्शन कैसा हो, यह सवाल है। और इसलिए मेरा मानना है कि हमें इसकी भी शिक्षा देनी चाहिए कि जीवन में विरोध कैसा हो।
एक आदमी एक तीर को चला रहा है। तीर को भेजना है आगे और कमान को खींचता
है वह पीछे। अब यह बिल्कुल विरोधी बात है। तीर को आगे भेजना है तो कमान को पीछे क्यों खींचते हो? लेकिन कमान को पीछे खींच कर वह विरोध पैदा किया जा रहा है जिससे तीर आगे जाएगा। जिसे लंबी छलांग लेनी हो उसे दो कदम पीछे लौटना पड़ता है। कोई कहेगा, तुम पागल हो गए हो? लंबी छलांग लेनी है तो पीछे क्यों लौटते हो? दो कदम और कम हो जाएंगे। लेकिन लंबी छलांग लेने के लिए पीछे लौटने का विरोध गति लाएगा, मोमेंटम पैदा करेगा। और जो जितने पीछे लौट कर गति दे पाएगा, उतनी तीव्र छलांग ले पाएगा। इसलिए पीछे लौटने वाला हमेशा हारने वाला नहीं होता है। पीछे लौटने वाला जीतने वाला भी हो सकता है--अगर वह पीछे इसलिए लौटा हो कि और लंबी छलांग ले सके। तो हमें प्रत्येक व्यक्ति को विरोधों के बीच में कैसे जीना, यह सिखाना होगा। हम क्या सिखाते हैं? हम सिखाते हैं, दो में से एक को चुन लो और जीओ! एक आदमी गृहस्थ है। वह कहता है, घर-गृहस्थी में मैं कैसे शांत होऊं? यहां तो बड़ी उलटी स्थिति है, प्रतिकूल है सब दृष्टियों से।

विचार और चित्त के विकास में भी विरोध सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जिन देशों में जितनी वैचारिक विरोध की हवा रही है उन देशों में तर्क ने, विचार ने उतनी गति की है। जिन देशों में श्रद्धा की, आस्था की, स्वीकार करने की, अविरोध की धारणा रही है उन देशों में मस्तिष्क उतना ही कम विकसित हुआ है क्योंकि चुनौती ही खत्म हो गई है। जैसे हमारा ही देश है। हमारे देश ने मस्तिष्क में वह विकास नहीं किया है जो वह कर सकता था क्योंकि इधर हमारी पूरी व्यवस्था यह है कि कोई विरोध न करे, कोई नास्तिक न हो, कोई इनकार न करे, सब हां कहने वाले लोग हों; ना कहने की बात ही नहीं करनी चाहिए। तो जब सब हां कहने वाले लोग होंगे तो वह तनाव पैदा नहीं होता जो ना कहे तो हां में बल डालता है। हां निर्बल हो जाता है धीरे-धीरे, हां बिल्कुल औपचारिक हो जाता है। अंततः हां का कोई मतलब ही नहीं रह जाता। क्योंकि उसमें मतलब ही तब था, जब कोई ना कह सकता था। अब हां यानी बेमानी बात हो जाती है, वह सिर्फ शिष्टाचार का हिस्सा हो जाता है।
और अंततः, शरीर, मन और आत्मा तक--हमें सब तरह के विरोधों का उपयोग करके
और जीवन को हम कितना ऊंचा ले जा सकते हैं--दोनों विरोधों को मिला कर, थीसिस और एंटी-थीसिस को वाद और प्रतिवाद को मिला कर हम सिंथिसिस में कैसे ले जा सकते हैं, यही संपूर्ण शिक्षा का आधार होना चाहिए सब दिशाओं में। फिर सिंथिसिस जो है, संवाद जो है, वह फिर थिसिस बन जाना चाहिए, ताकि फिर उसकी एंटी-थीसिस पैदा हो। और इसलिए प्रतिपल विरोध हो, मिलन हो। मिलन फिर नये विरोध के लिए शुरुआत हो जाए। तब मनुष्य डायलेक्टिकल है, मनुष्य का विकास जो है द्वंद्वात्मक है, दो द्वंद्व के बीच से सारा विकास है।
तो मैं कहूंगा कि कंट्राडिक्शंस न हों--ऐसा नहीं! कंट्राडिक्शंस जरूर हों--स्वस्थ हों, शानदार हों, अर्थपूर्ण हों! और फिर भी दोनों के बीच में एक तालमेल हो, एक गहरे में एक मिलन भी हो। गहरे से मिलन न टूट जाए।
तो आने वाले समाज में हम ऐसी कल्पना करते हैं, नियमों की। बहुत डेलिकेट, बहुत सूक्ष्म यह बात हुई। क्योंकि सीधी-सीधी एक बात समझ लेनी बहुत आसान है। एक बात आसान है समझने की कि समाज कहे कि नियमों हो कि बच्चे आज्ञा पालन करें, बूढ़ों की श्रद्धा करें, यह बहुत सरल है। बूढ़ों के लिए विवाद खत्म हो गया। विरोध टूट गया। और मेरा मानना है, इससे बच्चे तो मरेंगे ही, नष्ट होंगे, बूढ़े भी नष्ट होंगे क्योंकि बच्चों के विरोध में बूढ़े अंत तक बच्चे रहेंगे, अंत तक उनको सीखने की तैयारी दिखानी पड़ेगी, अंत तक उनको युवा होना पड़ेगा। अंत तक उनको खोज जारी रखनी पड़ेगी, अगर बच्चे विरोध करते हों तो। और बच्चे अगर विरोध करेंगे तो ही उनके भीतर ऊर्जा पैदा होगी। उस विरोध से ही ऊर्जा पैदा होगी, शक्ति पैदा होगी और वह शक्ति उनके जीवन को आगे ले जाएगी।
तो मेरा मानना ऐसा हुआ कि बच्चे आज्ञा पालन करें, उनके विवेक को ठीक लगे वहां तक, और जहां उनके विवेक को ठीक न लगे वहां वह उतनी ही अवज्ञा करें; और उतने ही समर्थ हों आज्ञा तोड़ने में भी जितना आज्ञा पालन करने में समर्थ हों। अर्थात यह हुआ मतलब कि बच्चा पूर्ण स्वतंत्र हो--आज्ञा पालन करने में भी, और आज्ञा तोड़ने में भी। उसके विवेक की स्वतंत्रता कायम रखी जाए। ये दोनों विरोध उसमें मौजूद रहने चाहिए कि वह चाहे तो माने और चाहे तो न माने। इस मानने और न मानने का अगर संतुलन ठीक से हो पाए तो इस बच्चे का विकास होगा; तो इस समाज का विकास होगा।
और इसी भांति मैं सारे नियमों को मानता हूं कि वहां हमें विरोधी नियम
को नष्ट नहीं कर देना चाहिए, विरोधी नियम को भी उतना ही सम्मान होना चाहिए। आस्तिक को भी उतना ही, नास्तिक को भी उतना ही। उतना ही सम्मान नास्तिक को तो आस्तिकता में भी प्राण आएगा और नास्तिकता भी प्राणवान होगी। और ये दोनों तो द्वंद्व हैं, पूर्ण कोई भी नहीं है। इन दोनों के तालमेल से जब किसी व्यक्ति में तीसरी चीज पैदा होती है तो फिर वह न आस्तिक होता है, न नास्तिक होता है; वह धार्मिक हो जाता है। वह सिंथिसिस हैं। ये दोनों विरोधी ईंटें मिल कर उसमें एक आर्च बनाती हैं और वह धार्मिक हो जाता है।

लेकिन जिस व्यक्ति के भीतर नास्तिकता बिल्कुल नहीं है उसके भीतर की आस्तिकता एकदम इंपोटेंट होगी, उसमें कोई बल ही नहीं होता क्योंकि विरोधी हिस्से नहीं होते। वह ऐसा दरवाजा है जिसमें एक सी ईंटें लगी हैं, जो गिर ही जाएगा, खड़ा नहीं हो सकता। क्योंकि विरोध के दबाव से दरवाजा खड़ा हो पाता है।
और फिर यह भी पूछा आपने कि जो एक अंतर्राष्ट्रीय समाज बने, उसमें भी कुछ नियम, कोई व्यवस्था रहे। असल में अंतर्राष्ट्रीय सरकार बन ही तब सकती है जब बड़ी राष्ट्रीय सरकारें टूट जाएं। बड़ी राष्ट्रीय सरकारें अंतर्राष्ट्रीय सरकार के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा हैं। बड़ी अंतर्राष्ट्रीय सरकार सारे जगत की तभी हो सकती है, जब बड़ी राष्ट्रीय सरकारें विसर्जित हो जाएं और इनकी जगह छोटे, लोकल यूनिट्स आ जाएं। वे लोकल यूनिट इतने छोटे होंगे कि वे अंतर्राष्ट्रीय सरकार के विरोधी नहीं हो सकते, विरोध करके जी नहीं सकते। बड़े-बड़े राष्ट्र जैसे चीन या रूस या अमरीका या भारत, अगर खड़े रहें तो अंतर्राष्ट्रीय सरकार के निर्माण की बड़ी असंभावना है। बड़े राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय भाव के पैदा होने में सबसे बड़ी बाधा हैं। छोटे राष्ट्र--जैसे स्विटजरलैंड है, अंतर्राष्ट्रीय भाव के लिए बड़े अनुकूल हैं। क्योंकि वे इतने छोटे हैं कि वे कोई अंतर्राष्ट्रीय शासन के खिलाफ तो खड़े नहीं हो सकते हैं और वे इतने छोटे हैं कि वे दूसरे किसी राष्ट्र के खिलाफ भी सीधे खड़े नहीं हो सकते।
तो अंततः उनके हित में यह है कि जगत से राष्ट्र विसर्जित हो जाएं और
एक अंतर्राष्ट्रीय भावना खड़ी हो। तो उसके लिए छोटे यूनिट, ये दोनो विरोधी बातें नहीं हैं। छोटी पंचायतें सारे जगत में हों और उन सबका तालमेल एक बड़े अंतर्राष्ट्रीय सरकार में हो जाए। ये लोकल यूनिट्स ही होंगे। यानी मेरी नजर में, जैसे म्युनिसिपल कॉरपोरेशन ऐसे छोटे यूनिट्स बिल्कुल स्वतंत्र होने चाहिए। इनका तालमेल अंतर्राष्ट्रीय सरकार से सीधा होना चाहिए। इनके बीच में राष्ट्रों के यूनिट की कोई आवश्यकता नहीं है। और तब हम एक व्यक्तित्व देंगे नगरों को, छोटे जिलों को, छोटे गांवों का भी अपना एक व्यक्तित्व होगा। और इन सारे अनंत व्यक्तित्व के साथ एक अंतर्राष्ट्रीय संगीत पैदा होगा इस व्यक्तित्व से।
बड़े राष्ट्र उसमें विरोधी हैं, बाधा डालते हैं। बड़े राष्ट्र भी अंतर्राष्ट्रीय सरकार चाहते हैं लेकिन उसका मतलब यह होता है कि वे हावी हो जाएं और वे अंतर्राष्ट्रीय सरकार बन जाएं। अंतर्राष्ट्रीयता की पुकार बहुत पुरानी है, वह दो तरह की है। दुनिया में सिकंदर ने और चंगीज ने भी अंतर्राष्ट्रीय सरकार चाही है। पर वह सरकार उनकी हो। वे छा जाएं, एक राष्ट्र हो जाए सारी दुनिया। लेकिन वह नहीं हो सका। वह भावना ही गलत थी। उस भांति कभी कोई अंतर्राष्ट्रीय सरकार नहीं बन सकती। अंतर्राष्ट्रीय सरकार बनेगी इस आधार पर कि छोटे यूनिट, इतने छोटे यूनिट कि उनका कोई अर्थ नहीं है शक्ति के मूल्यों में, वे ही संयुक्त हो सकते हैं और इकट्ठे हो सकते हैं।
इसलिए राष्ट्र जाना चाहिए। राष्ट्रों की कोई जगह नहीं हो सकती है भविष्य में। होंगे छोटे-छोटे नगर, होंगे छोटे-छोटे जिले, होंगे छोटे-छोटे टुकड़े, जो आपस में इकट्ठे होना चाहते हैं। वे छोटे टुकड़े इकट्ठे होंगे और जो अपने को छोटी सीमा में मैनेज और व्यवस्थित कर सकते हैं, ये इकट्ठे होंगे। इनके पास कोई बड़ी ताकत नहीं होगी। इनकी जो व्यवस्था का सूत्र होगा, वह छोटी पुलिस होगी जो इनका अपना भीतर का इंतजाम करती है, छोटी अदालत होगी। लेकिन उनके सारे संबंध सीधे अंतर्राष्ट्रीय सरकार से होंगे। तभी दुनिया में युद्ध बंद हो सकता है।
यानी छोटे पैमाने पर पंचायत राज्य और बड़े पैमाने पर अंतर्राष्ट्रीय शासन ये दो चीजें हमको खड़ी करनी पड़ेंगी। बीच से राष्ट्र बिल्कुल हटा देने पड़ेंगे। बीच का राष्ट्र ही बाधा है। न वह पंचायत बनने देता है, क्योंकि पंचायत अगर पूरी स्वतंत्र हो तो उसे खतरा है। तो वह पंचायत को इस भांति से रखता है कि उस पर उसका पूरा कब्जा बना रहे। वह नाम मात्र के लिए लोकल सेल्फ गवर्नमेंट की बातें करता है। उसमें कोई गवर्नमेंट नहीं होती, न कोई सेल्फ

गवर्नमेंट होती है। वह कुछ बात ही नहीं होती, वह सिर्फ तरकीबें हैं लोगों को तृप्त करने की, बाकी उससे कहीं कोई, कोई शासन का हक मिलता नहीं। क्योंकि शासन का हक तभी है, जब कोई अलग होने का हक रखता हो, नहीं तो हक नहीं है कोई भी।
सेल्फ गवर्नमेंट का क्या मतलब हो सकता है? स्वायत्त शासन का मतलब यह
हो सकता है कि मैं चाहूं तो अलग हो जाऊं। तो वह तो हो नहीं सकते आप। तो राष्ट्र नीचे की पंचायत के भी विरोध में है और अंतर्राष्ट्रीय सरकार के भी विरोध में है, क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय सरकार जितनी बलवान होगी राष्ट्र की सरकार उतनी ही क्षीण और व्यर्थ हो जाएगी। तो वह दोनों तलों पर लड़ाई कर रहा है। वह नीचे छोटे टुकड़ों को मुक्त नहीं होने देता और एक अंतर्राष्ट्रीय विशाल पैमाने को इकट्ठा नहीं होने देता। तो राष्ट्र को विदा करना होगा और राष्ट्र-भाव को विदा करना होगा!
आने वाले बच्चे की शिक्षा में राष्ट्र का भाव ही नहीं होना चाहिए, उसे भाव होना चाहिए मनुष्यता का, विश्व का, और वे छोटे-छोटे टुकड़े एडमिनिस्ट्रेटिव होंगे तब। गवर्नमेंट का और क्या मतलब होने वाला है? छोटे टुकड़े की सरकार का मतलब होगा प्रशासन, कि वे अपनी व्यवस्था कर ले।
दूसरी बात जो आप कहते हैं, क्या व्यवस्था, क्या नियम हो? इसमें बहुत सोचने जैसी बात है। पहली बात तो यह कि हमें अब तक इतनी व्यवस्था करनी पड़ी है कि उसका कारण मनुष्य का स्वभाव नहीं है और न जीवन की वास्तविक समस्याएं हैं। उसका कारण मनुष्य के सामान्य स्वभाव पर की गई जबरदस्ती है। उसका कारण समाज का ऐसा तंत्र है जो अनिवार्य रूप से रोग पैदा करता है। जैसे, उदाहरण के लिए--चोर है। चोर को रोकने के लिए हमें कितनी व्यवस्था करनी पड़ी है, कितने कानून, कितनी अदालतें, कितनी पुलिस, कितने जेल-घर चोर को रोकने के लिए हैं। और ऐसा लगता है कि जैसे चोरी आदमी में कहीं है।
यह भी बात बिल्कुल झूठी है। चोरी है व्यक्तिगत संपत्ति के साथ जुड़ी।
और जब तक दुनिया में व्यक्तिगत संपत्ति है, तब तक चोरी नहीं मिटेगी।
तो अगर चोरी मिटाना हो तो चोरसे लड़ने की जरूरत नहीं है, व्यक्तिगत संपत्ति को विदा करने की जरूरत है। संपत्ति सामूहिक होनी चाहिए। जब संपत्ति सामूहिक होगी तो चोर सौ में से निन्यानबे प्रतिशत विदा हो जाएगा। निन्यानबे चोर तो विदा हो जाएंगे। एक तरफ अमीर है और दूसरी तरफ गरीब है तो चोरी है। जिस दिन समाज में अर्थ की संपन्नता समान होगी, समाज मालिक होगा और व्यक्ति मालिक नहीं होंगे, उस दिन चोरी का कोई आर्थिक कारण नहीं रह जाता। तो निन्यानवे प्रतिशत तो चोर विदा हो जाएगा। इसलिए चोर के साथ निन्यानबे प्रतिशत नियम, कानून, अदालत, जज विदा हो जाएंगे।
असल में चोर और जज और पुलिस साथ ही जुड़े हैं। ये एक ही चीज के हिस्से हैं। ये अलग-अलग नहीं हैं। जज अकड़ कर बैठा हुआ है, लेकिन वह चोर का ही दूसरा हिस्सा है। जब तक चोर है, तब तक जज भी बैठा हुआ है, तब तक वह भी शान बनाए हुए है। जिस दिन चोर गया उस दिन वह भी गया। इसलिए जज के हित में भी है कि चोर जारी रहे, वकील के भी हित में है कि चोर जारी रहे। चोर नहीं तो वकील नहीं, जज नहीं, पुलिस नहीं, कानून नहीं, वे सब विदा होंगे। निन्यानवे प्रतिशत चोर तो ऐसे विदा हो जाएगा। एक प्रतिशत चोर पैथालॉजिकल होता है, जिसकी चोरी का कोई आर्थिक कारण नहीं होता है, मानसिक कारण होता है।
और बड़े मजे की बात है कि जिस चोरी का कारण क्लेप्टोमेनिया है! मानसिक
है कारण, उसको सजा देना मूर्खता है। इससे ज्यादा मूर्खता की कोई बात नहीं हो सकती। यह ऐसे ही है जैसे एक टी. बी. वाले आदमी को सजा देना है कि तुमने टी. बी. क्यों किया? तो जो चोर शेष रह जाएगा उसके लिए अदालत की जरूरत नहीं है, उसके लिए तो इलाज, उपचार, अस्पताल और मनोचिकित्सा की जरूरत है। तो यह मैंने उदाहरण के लिए लिया कि हमारा बहुत बड़ा नियमन तो इस चोरी को व्यवस्थित करने के लिए होता है और वह पैदा हो रही है व्यक्तिगत संपत्ति से। और व्यक्तिगत संपत्ति विदा की जानी चाहिए। तो आने वाले बच्चों को हमें व्यक्तिगत संपत्ति के विरोध में तैयार करना चाहिए कि वह किसी संपत्ति को अपनी नहीं मानेंगे। वह संपत्ति सबकी है। जब संपत्ति सबकी है तो चोर विदा हो गया।

टु ब्रिंग दिस इनार्मस चेंज आचार्य जी, डु वुड सजेस्ट दि ओल्ड एजुकेशन दैट वन शुड रिनांउस दि वर्ल्ड आर वन शुड हैव दि एजुकेशन ऑफ अंडरस्टैंडिंग सो दैट ऑटोमेटिकली समथिंग शुड...

नहीं, संपत्ति को त्याग करने की बात मैं नहीं करता हूं, क्योंकि संपत्ति के त्याग में भी वह व्यक्तिगत की यह भावना मौजूद है। हम त्याग उसी का कर सकते हैं, जो हमारा हो। एक आदमी के पास करोड़ रुपये हैं, तब भी वह कह रहा है कि मेरे हैं। कल वह कहता है, मैं इनका त्याग करता हूं। और तब वह त्यागी हो जाता है करोड़ रुपयों का, लेकिन मालकियत उसकी अब भी जारी है। असल में त्याग भी मालकियत का एक रूप है। मैं छोड़ उसी को सकता हूं, जो मेरा है। इसलिए आने वाले बच्चों को रिनाउंस करने के लिए तैयार नहीं करना है। रिनाउंस करने के लिए तो बहुत तैयार किए गए थे बच्चे। सारी दुनिया के धर्म यही सिखाते हैं कि त्याग करो। लेकिन उस त्याग से कोई संपत्ति नहीं गई, क्योंकि वह त्याग भी संपत्ति की मालकियत को स्वीकार करता था।
आने वाले बच्चों को यह समझ पैदा करवानी है कि संपत्ति किसी की भी नहीं है--न त्याग के लिए, न मालकियत के लिए। संपत्ति है तो सबकी है। सबकी होने का मतलब कि किसी की नहीं है। संपत्ति उपयोग के लिए है, मालकियत के लिए नहीं। और उपयोग हम कर सकते हैं सब मिल कर। वह सबका साझा है, वह हमारे सबके सहयोग, साथ होने में उसका उपयोग है। जैसे सड़क सबकी है, मालकियत किसी की भी नहीं है। ऐसा मैं नहीं कहता कि मैंने सड़क की मालकियत का त्याग किया। मैं जानता हूं, सड़क मेरी है ही नहीं। सड़क सबकी है, सबके चलने के लिए है, जिस भांति सड़क सबकी है, नदी सबकी है। और मैं नहीं कहता कि नदी के पानी का मैंने त्याग किया। अब जिसको जो भोग करना हो करे। और मैं त्यागी हो गया नदी का, ऐसा कोई कहेगा तो हम उसको पागल कहेंगे। जैसे नदी सबकी है, सड़क सबकी है। हवा सबकी है, सूरज सबका है। ऐसे ही बाकी सब भी सबका है।
तो हमें व्यवस्था के लिए जो पहला काम करना है, वह अंडरस्टैंडिंग पैदा करनी है कि संपत्ति पर किसी की मालकियत नहीं है। त्याग में मालकियत मौजूद थी, इसलिए त्यागी मालकियत के बाहर नहीं जाता। मालकियत छोड़ देता है, फिर भी छोड़ने का मामला मालकियत का है। और छोड़ने के बाद भी लोग उसको कहते हैं कि वह करोड़ों रुपये का त्यागी है! तो वह मालकियत जारी रहती है। त्याग ने मालकियत को खत्म नहीं किया। तो त्याग के लिए नहीं, समझ को विकसित करना है। समझ में न भोग रह जाएगा, न त्याग रह जाएगा। जो मेरा नहीं है उसके छोड़ने का प्रश्न भी नहीं है। और यह जो, जो मैंने संपत्ति के लिए कहा, उसके साथ चोरी जुड़ी है। दुनिया में अव्यवस्था के जो मूल कारण हैं, उनको आज तक अंगीकार नहीं किया गया है, स्वीकार नहीं किया गया है। मूल कारण अपनी जगह बने हुए हैं, और हम सब ऊपर से, सिम्टम्स से लड़ाई लड़ते रहे हैं। तो लड़ाई यह हमें मूल कारण से शुरू करनी चाहिए। कहां मूल में बुनियाद है। जैसे मनुष्य में इतनी ईर्ष्या, इतनी महत्वाकांक्षा, इतना द्वेष वस्तुतः नहीं है। है एक मात्रा उसकी, लेकिन वह बहुत कम है। जितना कि हमारी व्यवस्था, सोचने के ढंग ने उसको बढ़ाया हुआ है।

डु यू फील आचार्य जी, दैट आल दिस आउटकम मे बी ऑफ पैथालॉजिकल ऑर सोशियोलॉजिकल इज़ दि आउटकम ऑफ अवर एजुकेशन, मे बी ऑफ रिलीजन ऑर सोशल ऑर एडमिनिस्ट्रेटिव?

बहुत से कारण हैं। शिक्षा खुद ही समाज की व्यवस्था से निकली हुई चीज है। अब तक जो शिक्षा है वह शिक्षा समाज के ढांचे को मजबूत करने के लिए ही व्यवस्थित की गई है, उसे तोड़ने के लिए नहीं। तो हम स्कूल में भी बच्चों को सिखा रहे हैं कि चोरी करना पाप है लेकिन यह नहीं सिखा रहे हैं कि शोषण करना पाप है; जब कि शोषण जारी रहेगा तो चोरी जारी रहेगी।
तो हम यह तो सिखा रहे हैं कि गरीब अमीर की संपत्ति छीने तो पाप है, अर्थात चोरी पाप है। तो भी कोई अमीर गरीब के घर चोरी करने नहीं जाता, गरीब

अमीर के घर चोरी करने जाता है। चोरी पाप है, यह बच्चों को सिखा रहे हैं।
शोषण, एक्सप्लायटेशन पाप है, यह नहीं सिखा रहे हैं, क्योंकि एक्सप्लायटेशन उलटे ढंग की चोरी है। वहां अमीर गरीब के घर में घुसता है।
यानी मेरी दृष्टि में शोषण अमीर की चोरी करने की तरकीब है गरीब के घर से।
और चोरी गरीब की तरकीब है शोषण करने की।
तो गरीब की तरकीब को तो हम इनकार कर रहे हैं शिक्षा में और अमीर की तरकीब को स्वीकार कर रहे हैं! तो अब तक जो शिक्षा है, वह समाज का जो ढांचा है, वह उस ढांचे से ही पैदा हुई है और उसमें ढांचे के सारे स्वार्थ स्वीकृत कर लिए गए हैं। फिर उसी ढांचे के अनुकूल हम शिक्षा दे रहे हैं। बच्चों को हम महत्वाकांक्षा की शिक्षा दे रहे हैं। उनको सिखा रहे हैं कि तुम आगे बढ़ो, यह पाओ, वह पाओ--बड़ा मकान, बड़ा पद, बड़ा धन; यह सब संपत्ति का जो जगत है उसकी ही दौड़ हम उसमें पैदा कर रहे हैं। फिर जो जीत जाएगा वह सफल है, जो हार गया, वह असफल है। यह शिक्षा मनुष्य की शांति, मनुष्य के आनंद, मनुष्य के स्वास्थ्य को ध्यान में रख कर निर्धारित नहीं हुई है। यह शिक्षा समाज का जो मौजूदा ढांचा है उस ढांचे को कैसे चलाया जाए, उसको ध्यान में रख कर निर्धारित की गई है।
समझ लें कि एक गांव हो और जिसमें सब पागल हों और उस गांव में शिक्षा का
एक स्कूल भी हो, तो वह पागल अपने बच्चों को अपने जैसा बनाने के लिए जो-जो पागलपन के होने के रास्ते हैं, उस सबकी शिक्षा दे, ताकि वे बच्चे भी अपने मां-बाप के समाज में सम्मिलित हो जाएं। तो उस गांव के पागल शिक्षक और पागल समाज मिल कर बच्चों को इसके पहले कि उनमें बुद्धि, समझ आए, उनको पागल बना देने का सारा उपाय करेंगे। वह शिक्षा उन बच्चों को ध्यान में रख कर नहीं है। वह शिक्षा समाज के ढांचे को ध्यान में रख कर है।
तो अब तक की सारी शिक्षा समाज के ढांचे की बाई-प्रॉडक्ट है। और निश्चित ही जीवन बहुत जुड़ा हुआ है। समाज शिक्षा को बनाता है, फिर शिक्षा समाज को बनाने लगती है। फिर समाज शिक्षा को बनाता है, फिर शिक्षा समाज को बनाने लगती है। आज हम एक बच्चे को शिक्षित करते हैं, कल वह शिक्षक हो जाता है। मैं जिस शिक्षा की बात कर रहा हूं, उसमें पहली दफा व्यक्ति हमारा केंद्र होगा, समाज नहीं। समाज का हम केंद्र ही नहीं रखना चाहते। व्यक्ति के सुख, शांति, आनंद, स्वास्थ्य, व्यक्ति की परम संगीतपूर्ण उपलब्धि के लिए क्या किया जाना जरूरी है, वह हमारे ध्यान में होगा।
चाहे इसको ध्यान में रखने से समाज टूट जाए--टूटेगा समाज, यह समाज तो टूटेगा ही। पुरानी शिक्षा का आधार यह था कि समाज का ढांचा बचे, चाहे व्यक्ति टूट जाए। इसलिए वह व्यक्तियों को तोड़ने पर लगी थी। उसने सब व्यक्ति तोड़ डाले थे। कभी चूक कर कोई व्यक्ति बच जाता था, वह बात दूसरी है। लेकिन तब समाज उसे विद्रोही, बगावती, दुश्मन मानता था। वह व्यवस्था समाज को बचाती थी, व्यक्ति को मारती थी। और मजा यह है कि समाज को बचा कर क्या करिएगा, अगर व्यक्ति मर जाते हैं तो? क्योंकि अंततः इन्हीं व्यक्तियों का जोड़ समाज है। समाज तो सिर्फ एक ढांचा है मुर्दा। व्यक्ति जीवित शक्ति है। तो हमने उलटा काम किया हुआ था। यानी हमने कुछ ऐसा किया हुआ था कि एक रेलगाड़ी में कुछ यात्री बैठे हुए हैं, तो रेलगाड़ी को हम प्रमुख समझे हुए थे कि चाहे सारे यात्री मर जाएं, लेकिन रेलगाड़ी बचनी चाहिए। और यह हम भूल ही गए थे कि रेलगाड़ी हम किसके लिए बचाते हैं!
अब मेरा मानना है कि समाज को हमें यंत्र मानना चाहिए, व्यक्ति को प्राण। और व्यक्ति को बचाने के लिए चाहे समाज चला जाए, कोई फिकर नहीं! जाएगा नहीं, यह समाज चला जाएगा, नया समाज इसकी जगह आएगा। तो व्यक्ति केंद्र होगा शिक्षा का और जैसे ही व्यक्ति केंद्र हो जाएगा, तो अब तक जो हजार तरह की पैथालॉजी, मानसिक बीमारी पैदा होती है, वह बहुत कम पैदा होगी। अब तक जो सामाजिक रोग, चोरी, हत्याएं, आत्महत्याएं पैदा होती हैं, वे बहुत कम पैदा होंगी। होता क्या है? हमें दिखाई नहीं पड़ता। अब जैसे कि सारी दुनिया में स्त्रियां बहुत आत्महत्याएं करती हैं। उसका कारण, स्त्रियों का स्वभाव नहीं है, उसका कारण स्त्रियों के ऊपर थोपी गई गुलामी है। गुलामी इस सीमा पर पहुंचा देती है जहां कि जीने से मरना बेहतर हो जाता है।

अब जैसे हिंदुस्तान में विधवाएं सती होती रही हैं, वह आत्महत्या को धार्मिक शक्ल देनी थी, और कुछ भी नहीं। आत्महत्या को सामाजिक सैंक्शन देना था, और कुछ भी नहीं। तो विधवा की हमने इतनी कष्टपूर्ण स्थिति बना रखी है कि उससे तो उसे मर जाना ही बेहतर मालूम पड़ा हमेशा। अगर विधवाएं आत्महत्याएं कर लें, या आत्महत्याएं न करें और चरित्रहीन हो जाएं, या चरित्रहीन हों और पाखंड को अंगीकार करके ऊपर से पाखंड जारी रखें, तो हम व्यक्ति को ही जिम्मेवार ठहराएंगे कि इस स्त्री ने आत्महत्या की, यह गलत थी। यह स्त्री व्यभिचारिणी हुई, यह गलत है। यह स्त्री पाखंडिनी है, यह ऊपर से कुछ दिखाती है, भीतर से कुछ है। जब कि सारा मामला यह है कि समाज इसको यही विकल्प दे रहा है। समाज इसको फिर से बस जाने का स्वस्थ विकल्प नहीं दे रहा है और समाज इसको समादृत रूप से अपने जीवन की आवश्यकताएं पूरे करने का विकल्प नहीं दे रहा है।
तो मेरा मानना यह है कि व्यक्ति पापी नहीं है, व्यक्ति अपराधी नहीं है, व्यक्ति व्यभिचारी नहीं है, अनाचारी नहीं है। मूलतः गहरे में समाज व्यभिचारी है, समाज पापी है, समाज अपराधी है। और समाज की इतनी बड़ी ताकत है कि एक-एक व्यक्ति को दबा कर उसकी जान ले लेता है और एक-एक व्यक्ति में इतनी ताकत होनी बहुत मुश्किल है कि उस बड़े समाज के ढांचे का वह विद्रोह करके और संघर्ष ले सके।
तो अगर एक अच्छी समाज व्यवस्था बनती है एक अच्छी शिक्षा आती है तो मेरा मानना है कि जो हमें व्यवस्था का बहुत डर है, वह तो रह नहीं जाएगा। जैसे एक पागलखाने में हम पूछ सकते हैं, पागलखाने के सुपरिन्टेंडेंट से हम कहें कि स्वतंत्रता होनी चाहिए, दरवाजे पर ताले नहीं होने चाहिए। तो वह कहेगा, आपको पता नहीं, सब व्यवस्था गड़बड़ हो जाएगी, पागल सब निकल भागेंगे। और कहां जाएंगे पता नहीं और क्या करेंगे, पता नहीं। तो हम उससे कहें कि हम पहले पागल को स्वस्थ करेंगे, फिर दरवाजा खोलेंगे। वह फिर भी पूछता है कि स्वस्थ हो जाएगा, वह ठीक है, लेकिन दरवाजा खुला रखने में हमेशा खतरा है पर उसे पता नहीं है कि खतरा उसके पागलपन में है, दरवाजा खुले होने में नहीं है।
समाज को इतने नियम में बांधने की जरूरत इसलिए है, कि हमने एक-एक व्यक्ति को उस हालत में खड़ा कर दिया है कि अगर इतने नियम न हों तो वह अभी गड़बड़ हो जाने वाला है। और इतने नियम होते हुए भी वह गड़बड़ होता है। अब यह इतनी अजीब स्थिति पैदा हो गई है और हमें दिखाई भी नहीं पड़ती। तो हमें हमेशा डर लगता है कि अगर कुछ नया किया और सब व्यवस्था टूट गई! व्यवस्था तो तोड़ ही दी जाएगी, व्यवस्था की कोई जरूरत नहीं है। व्यवस्था है इसलिए कि आदमी को हम ठीक पैदा नहीं कर पा रहे हैं, जैसा वह होना चाहिए। न हम उसे भोजन की, न कपड़ों की, न सेक्स की, जीवन की किसी बुनियादी जरूरत की परिपूर्ण स्वतंत्रता, सुविधा, शांति और आनंद नहीं जुटा पा रहे हैं। तो सब तरफ से उसे बीमार और परेशान कर रहे हैं। और ऐसा इंतजाम किया हुआ है पूरा का पूरा कि उस इंतजाम में या तो वह पागल हो जाए या पाखंडी हो जाए। यही, दो ही ऑल्टरनेटिव हैं। तो इतनी खतरनाक स्थिति अगर पैदा की गई हो तो उससे हमें बहुत बड़ा जाल नियम का बनाना पड़ा है।
आने वाली दुनिया में व्यवस्थित मनुष्य को ध्यान में रखा जाए और उसकी मनोवैज्ञानिक जरूरतें पूरी की जाएं, अब जैसे मेरा मानना है कि यह बात गलत ही है कि कोई आदमी जीवन भर एक पत्नी के साथ रहे। कोई रहना चाहे तो रहे, यह उसकी मौज होनी चाहिए। और आदमी इतना शांत और स्वस्थ होना चाहिए कि अगर एक के साथ रहने में आनंदित है तो रहे, लेकिन इसको थोपना खतरनाक है। आदमी परिपूर्ण स्वस्थ होगा तो शायद वह एक के साथ ही रहना आनंदपूर्ण पाएगा।

डु यू फील इट दैट बायोलॉजिकल ऑर फिजिकल डिसी.जस ऑर आलसो दि रिएक्शन ऑफ
दि सोशियोलॉजिकल ऑर साइकोलॉजिकल बैकग्राउंड्स?

बहुत गहरे में तो ऐसा ही है। बहुत गहरे में तो सारा रोग मनुष्य की चेतना और चित्त का रोग है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि ऐसे रोग नहीं हैं

जो बाहर से न आते हों। बाहर से कीटाणुओं के हमले हो सकते हैं, बाहर से चोट और घाव पहुंच सकता है। लेकिन ऐसे रोगों में भी, भीतर अगर चित्त रोग को लेने को तैयार हो तो शीघ्रता से लेता है। रेसिस्टेंस नहीं होता है भीतर, बल्कि एक एक्सेप्टेंस होता है कि आ जाऊं, बीमार पड़ जाओ। बाहर से लगा घाव भी, अगर भीतर चित्त रुग्ण होने की तैयारी कर रहा हो तो देर से भरता है। और भीतर अगर स्वस्थ चित्त हो तो बाहर से लगा घाव भी जल्दी भर जाता है। बहुत गहरे में, अस्सी प्रतिशत बीमारी तो चित्त की बीमारी है, मन की बीमारी है।
तो अगर हम मनुष्य के मन को स्वस्थ कर लेते हैं तो बहुत दूर तक बीमारियों के स्वस्थ होने की, बीमारियों के मिट जाने की संभावना पैदा होगी। और मन जब तक स्वस्थ नहीं होता, तब तक मनुष्य को हम स्वस्थ कर ही नहीं सकते। बहुत थोड़ी बीमारियां रह जाएंगी, जो बाहर से आ सकती हैं, आती हैं और उनसे लड़ना बहुत आसान हो जाएगा, उनसे लड़ना कठिन नहीं हो जाएगा। इतना मानसिक प्रेशर है, इतना दबाव है कि इस दबाव में आदमी इतना कम बीमार है, यही हैरानी की बात है। इस दबाव में सब कुछ बीमार हो ही जाएगा और दबाव इस तरह के हैं कि हमारी पहचान के बाहर हैं।
एक मनोवैज्ञानिक कुछ चूहों पर प्रयोग कर रहा था। साधारणतः चूहे पागल नहीं होते हैं, लेकिन उसने एक काम किया कि उसने मादा चूहों को अलग बंद किया और नर चूहों को अलग बंद किया। जैसे ही बच्चे पैदा हुए तो नर चूहे अलग रखे और मादा चूहे अलग रखे। नर और मादा के मिलने का उपाय बंद कर दिया। जवान होते-होते मादा चूहे भी पागल होने लगे और नर चूहे भी पागल होने लगे। और एक ऐसा पागलपन फैल गया जैसा कि चूहों में कभी नहीं देखा गया था। अब यह बड़ी अजीब बात है।
इसका मतलब यह हुआ कि लड़के और लड़कियों को जब तक समाज अलग-अलग पालता है,
तब तक वह पागलपन के बीजारोपण कर रहा है। वे साथ ही पाले जाने चाहिए। वे इतने साथ पाले जाने चाहिए कि उन्हें पता भी नहीं चलना चाहिए कि वे दो अलग-अलग तरह के व्यक्ति हैं। तो समाज में पागलपन एकदम कम होगा, चित्त ज्यादा स्वस्थ, विकसित होंगे।
असल में हमारी भीतरी बहुत सी जरूरतें हैं जो हमने बाहर से सब तरफ से रोकी हुई हैं। उन रुकावटों के परिणाम होने वाले हैं और भयंकर परिणाम होने वाले हैं। लेकिन रुकावटें इतनी पुरानी हैं कि हम भूल ही जाते हैं उन रुकावटों को। अब हमारे खयाल में भी यह नहीं आ सकता कि लड़के और लड़कियों को अलग पालना पागलपन के बीजारोपण करना है और हजार तरह की बीमारियों को जगह देना है और हजार तरह के परवरशंस पैदा करने हैं। और जिन परवरशंस के लिए, विकृतियों के लिए हम व्यक्ति को ही जिम्मेवार ठहराएंगे कि यह व्यक्ति ही जिम्मेवार है। बहुत ठीक से समझे जाने पर अगर हम समाज की तरफ से सारी सुव्यवस्था कर दें व्यक्ति के लिए तो न्यूनतम संभावनाएं रह जाती हैं। संभावनाएं रह जाती हैं, क्योंकि जीवन बड़ा जटिल प्रश्न है, लेकिन उन संभावनाओं को दूर करना बहुत कठिन नहीं होगा। ये बहुत सरल चिकित्साओं से बहुत वैज्ञानिक विकास से दूर की जा सकेंगी। आदमी परिपूर्ण स्वस्थ जी सकता है--मन से भी, शरीर से भी। और मन और शरीर स्वस्थ हों, तो ही आत्मिक स्वास्थ्य में प्रवेश किया जा सकता है। नहीं तो प्रवेश करना भी बहुत कठिन है।
तो जिस दुनिया की मैं बात कर रहा हूं, उसमें भी नियम और व्यवस्था जरूरी होगी, लेकिन बहुत कम जरूरी होगी। अगर हम यह सारा जाल, जो आदमी को अव्यवस्थित और नियम तोड़ने को मजबूर करता है इसको हम तोड़ सकें तो व्यवस्था, नियम की बहुत कम जरूरत रह जाएगी।
यह सुखद नहीं है, और न शोभा योग्य है कि हर चौराहे पर पुलिस वाला खड़ा हो। यह भी सुसंस्कृत होने का लक्षण नहीं है कि हर गांव में अदालत हो। यह इतना अपमानजनक है कि जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। लेकिन हम इसके आदी हो गए हैं। यह इतना अपमानजनक है कि इतने कानून हों, इतने वकील हों, इतने न्यायाधीश हों। यह सब इस बात का सबूत है कि समाज भीतर से, मानसिक रूप से बहुत बीमार है। तब इतने हमें इंतजाम की जरूरत पड़ रही है। यह इंतजाम बिल्कुल नहीं होना चाहिए।

और दुनिया अच्छी बनेगी तो इन सबके विदा होने की जरूरत है, ये सब विदा
हो जाने चाहिए। जरूर अदालत होगी, कभी-कभार खुलेगी, साल-दो साल बंद भी रह सकती है। कभी कोई मौका भी आ सकता है कि वह खुले, और कुछ बातें हमें विचार करनी पड़ें। पुलिस भी होगी, लेकिन इतनी पुलिस की जरूरत नहीं है। कभी उसकी भी हमें जरूरत पड़ सकती है।

सर, वन मोर कंट्राडिक्शन आई एम कमिंग अक्रास दैट इज़ दि फ्री विल एण्ड डेस्टिनी। पिपुल से दैट दे आर सफरिंंग बिकाज ऑफ दि ओल्ड कर्मास एण्ड अदर्स, दे कंप्लीटली गो अपोजिट टु दैट। इट इज़ ए वेरी कनफ्यूजिंग स्टेट दैट व्हेदर देयर इज़ एनीथिंग लाइक डेस्टिनी ऑर फ्री विल आर देयर आर कर्माज ऑफ पास्ट ऑर देयर विल बी समथिंग इन फ्यूचर। दिस कंट्राडिक्शन इज़, आई थिंक वाइटल वन इन दि सोसायटी टुडे।

दोनों ही बातें सच हैं और दोनों में कोई विरोध भी नहीं है। विरोध दिखाई पड़ता है। ऊपर से है भी, लेकिन भीतर कोई विरोध नहीं है।
मुझे याद आता है कि एक खलीफा अली के पास एक आदमी गया। और उसने जाकर यही सवाल पूछा कि मनुष्य अपने कर्मों में स्वतंत्र है या कि बंधा हुआ है? भाग्य है कि स्वतंत्रता है? हम जो कर रहे हैं, वह हमें करना पड़ रहा है या हम कर रहे हैं? अली ने उस आदमी को थोड़ी देर देखा और कहा कि तुम एक काम करो, एक पैर ऊपर उठा कर खड़े हो जाओ। तो उस आदमी ने अपना बायां पैर ऊपर उठा लिया। अली ने कहा, अब तुम अपना दूसरा पैर भी ऊपर उठा लो। उस आदमी ने कहा, आप क्या पागलपन की बातें कर रहे हैं? दूसरा पैर अब मैं कैसे ऊपर उठा सकता हूं? तो अली ने कहा कि मैं तुमसे पूछता हूं कि पहला पैर तो तुम उठा सके, दूसरा नहीं उठा सकते हो, क्योंकि पहला उठा चुके हो। पहला तुमने उठाया, तुम स्वतंत्र थे बिल्कुल उठाने के लिए। तुमने जरा भी नहीं पूछा कि मैं कैसे उठाऊं? कौन सा उठाना, इसमें भी तुम स्वतंत्र थे। चाहे दायां उठाते, चाहे बायां उठाते, कोई भी उठा सकते थे। लेकिन एक पैर उठाते से ही तुम बंध गए, अब दूसरा पैर नहीं उठा पा रहे हो। यह बंधन भी तुम्हारी पहली स्वतंत्रता का ही फल है। स्वतंत्रता का जब हम उपयोग करते हैं तो हम बंधते हैं, क्योंकि सब उपयोग सीमा बना देगा। आप मेरे पास आए, चाहूं तो मैं आपको गाली दे सकता हूं और चाहूं तो प्रेम से स्वागत कर सकता हूं--स्वतंत्र हूं! लेकिन गाली देते से ही बंध जाऊंगा, क्योंकि तब एक विकल्प बंध गया। स्वागत करते से भी बंध जाऊंगा। तब एक दूसरा विकल्प बंध गया। गाली देने का अंतिम परिणाम यही हो सकता है कि आप भी गाली दें, और फिर गाली का सिलसिला जारी हो जाए। और तब स्वागत करना उतना ही कठिन हो जाए, जितना बायां पैर उठा लेने के बाद दायां पैर उठाना कठिन था। शायद आते से आपका स्वागत करूं तो आप भी गाली लेकर भी आए हों भीतर तो भी आपको एकदम गाली देने की मुश्किल हो जाए। और स्वागत और प्रेम के बाद कठिन हो जाए गाली देना--उतना ही कठिन, जितना कि बायां पैर के बाद दायां पैर उठाना हो जाता है। मेरी दृष्टि में दोनों में गहरे में विरोध नहीं है। विरोध दिखाई पड़ता है।
मनुष्य परिपूर्ण स्वतंत्र है, लेकिन स्वतंत्रता उसकी भूमिका है। फिर जैसे ही वह कर्म में उतरता है, वह बंधना शुरू हो जाता है। और जितना वह बंध जाता है, उतनी स्वतंत्रता कम हो जाती है। लेकिन फिर भी स्वतंत्रता नष्ट नहीं हो जाती, समाप्त नहीं हो जाती। जो वह बंध गया है, उसके विपरीत व्यवस्था करके वह आज उससे भी छूट सकता है। जैसे उस आदमी ने बायां उठा लिया था और दायां नीचे रह गया था। वह आदमी बायां पैर नीचे रख सकता है और दायां ऊपर उठा सकता है। यानी अभी भी दायां ऊपर उठाया जा सकता है, लेकिन तब बायां नीचा रखना पड़ेगा। हमने जो किया है, वह अनकिया किया जा सकता है। तब हम फिर स्वतंत्र विकल्प के साथ खड़े हो गए।
मनुष्य परिपूर्ण स्वतंत्र है, उसकी आत्मा स्वतंत्र है, लेकिन उसका व्यक्तित्व परतंत्र है। आत्मा और व्यक्तित्व में मैं यही फर्क करता हूं। आत्मा संभावना है, जो आप कर सकते हैं। और व्यक्तित्व कृत्य है, जो आप कर चुके। आप कुछ कर चुके हैं। अगर हम इसी जन्म को लें, तो एक आदमी तीस साल का

है वह बहुत कर चुका है। और जो उसने किया है, उससे उसका एक बंधन शुरू हो गया है। उसने कुछ लोगों से मित्रता बनाई है, कुछ लोगों से शत्रुता बनाई है। उसने कुछ काम किए हैं, कुछ नहीं किए हैं। वह एक दिशा में गया है, दूसरी दिशा में नहीं गया है। समझ लें कि उसने जो भी किया है तो उसने एक ढांचा बना दिया है उसके व्यक्तित्व का। वह उसमें बंध गया है। अगर इस जन्म को हम लें और जैसा कि मेरी समझ है--और जन्म भी हैं, तो उन जन्मों में भी जो हमने किया है उसने भी एक ढांचा बना दिया है।
एक लंबी कंडीशनिंग है एक संस्कारों की, वह हमारा बंधन है। लेकिन हर बंधन के बाद भी हमारी स्वतंत्र होने की क्षमता सदा शेष है। वह खंडित, खत्म नहीं हो गई। यानी ऐसा नहीं हो गया है कि आज मैं कुछ भी नहीं कर सकता हूं। आज भी मैं बदल सकता हूं। मैं दस मील चला गया हूं पश्चिम की तरफ, तो भी उसका यह मतलब नहीं है कि अब मैं लौट नहीं सकता और पूरब नहीं जा सकता। हालांकि लौटूंगा तो दस मील जो मैं चला हूं वह मुझे, उसे फिर से अनडन करना पड़ेगा, वापस कदम उठाने पड़ेंगे। तो यह दस मील के लिए किया गया श्रम और समय व्यर्थ जाएगा। और उसको मिटाने में भी इतना ही श्रम और समय व्यर्थ जाएगा। दस मील मुझे वापस लौटना पड़ेगा उस चौराहे पर, जहां से फिर पूरब की यात्रा शुरू होती है। और इसलिए आमतौर से यही सरल होता है। लीस्ट रेसिस्टेंस इसी में होता है कि जहां हम चलें हैं वहीं चलते चलें जाएंगे।
तो जो आदमी सोचता नहीं, जागता नहीं, विचारता नहीं, वह आदमी धीरे-धीरे स्वतंत्रता बिल्कुल ही खो देता है क्योंकि वह वहीं चलता चला जाता है, जहां वह जा रहा है। क्योंकि वह सोचता है कि अब लौटना बहुत मुश्किल है। लेकिन लौटना मुश्किल कितना ही हो, असंभव नहीं है। इसलिए हमारे कितने ही जन्म हुए हों, और हमने कितने ही कर्म किए हों, अंततः भीतरी हिस्से पर, एक हिस्से पर हम अभी भी स्वतंत्र हैं। और आज भी हम चाहें, और संकल्प और शक्ति इकट्ठी करें, समझ इकट्ठी करें, तो जो हमने किया है वह सब पोंछा जा सकता है। उससे उलटा भी जाया जा सकता है, भिन्न भी जाया जा सकता है।
इसलिए मेरी दृष्टि में स्वतंत्रता और परतंत्रता विरोध हैं, लेकिन बहुत गहरे में उन दोनों के समन्वय पर व्यक्तित्व खड़ा हुआ है। और उन दोनों में ऐसा विरोध नहीं है कि यह ठीक है या वह ठीक है, दोनों ही ठीक हैं। और जो लोग एक को ठीक मानते हैं उनको लगता है कि दूसरे को हम कैसे मान सकते हैं? लेकिन जैसा मैंने कहा कि इस जिंदगी में अंधेरा भी है, प्रकाश भी, और दोनों के मेल से जिंदगी है। इस जिंदगी में स्वतंत्रता भी है, परतंत्रता भी; और दोनों के मेल से जिंदगी है। चेष्टा हमारी यह होनी चाहिए कि परतंत्रता हमारी ऐसी न हो कि हमारी स्वतंत्रता में बाधा बनने लगे। परतंत्रता भी हमारी ऐसी होनी चाहिए कि वह भी हमारी स्वतंत्रता में सहयोगी हो। यानी जो मैंने पहले कहा, विरोध हमारे ऐसे होने चाहिए, यानी एक आदमी इस ढंग से भी परतंत्र हो सकता है कि उसकी स्वतंत्रता में उसकी तथाकथित परतंत्रता भी सहयोगी बनती हो।
समझ लें, जैसे कि एक आदमी इस तरह की व्यवस्था करता है जीवन की कि सबको दुश्मन बना लेता है। तो सबको दुश्मन बना लेना एक तरह की परतंत्रता है, एक तरह की बाधा बन गई अब। सब तरफ से सीमा रुक जाएगी। सबको दुश्मन बना लेने वाला आदमी स्वतंत्र होने में बहुत मुश्किल अनुभव करेगा। एक तरह की परतंत्रता बांध ली है उसने जो बहुत महंगी है, बहुत भारी है। इतनी वजनी है कि स्वतंत्रता उसकी टूट ही सकती है। और अगर सब दुश्मन हो जाएं तो ऐसा हो सकता है कि उस आदमी को सिवाय मरने के कुछ भी न सूझे कि अब मैं मर जाऊं। यानी एक ही स्वतंत्रता का विकल्प रह जाए सुसाइड--कि अब मैं क्या करूं, अब मैं कैसे जीऊं? अब मैं मर जाऊं। और आत्महत्या कोई स्वतंत्रता नहीं है। यानी वह तो सब स्वतंत्रता खो देने का आखिरी इंतजाम है।
एक दूसरा आदमी सबको मित्र बनाता है, वह भी एक तरह की परतंत्रता ला रहा है। क्योंकि दुश्मन से भी हम बंधते हैं और मित्र से भी हम बंधते हैं। एक आदमी सबको मित्र बनाता है, सर्व-मैत्री का भाव रखता है। वह भी परतंत्रता ला रहा है; लेकिन उसकी परतंत्रता उसकी स्वतंत्रता में सहयोगी बनेगी। यानी कि जितने उसके मित्र बढ़ते जाते हैं, उतनी उसकी स्वतंत्रता की स्पेस बढ़ती

चली जाती है। उतना वह मुक्त होने लगता है। उसके लिए फिर यही घर बांधने का नहीं रह गया, सब घर उसके हो गए। फिर यही दो हाथ उसके काम के नहीं रह गए, सब हाथ उसके हो गए। उसके मित्र जितने बढ़ते जाएं, वह भी परतंत्रता है क्योंकि मित्र भी बांधता है, लेकिन वह बंधन, जैसा मैंने कहा, उस तरह का आर्च है, जहां दोनों चीजें मिल कर द्वार बना देती हैं।
तो ऐसी परतंत्रता खोजनी चाहिए जो हमारी स्वतंत्रता में बुनियादी बाधा न बनती हो तो कोई विरोध नहीं है। और हम ऐसी परतंत्रता खोज लें जो कि हमारी बुनियादी स्वतंत्रता को क्षीण करती जाती हो, और एक ऐसी स्थिति आ जाए कि स्वतंत्र होना ही कठिन मालूम होने लगे।

सर, शुड वी फॉलो द ओल्ड रेडीमेड फार्मूलाज टु ओवरकम दिस ऑब्सटेकल ऑर
वी शुड हैव दि राइट अंडरस्टैंडिंग टु डिजाल्व दि थिंग्स एज यू से अनडू दि थिंग्स?

हां, हमेशा ठीक समझ की ही जरूरत है। हमेशा ठीक समझ की ही जरूरत है। रेडीमेड फार्मूले से कोई काम नहीं होता है। असल में रेडीमेड फार्मूला वही पकड़ता है, जो समझ से बचना चाहता है। यह भी हो सकता है कि समझ के बाद जो रेडीमेड फार्मूला था, वही हमारे खयाल में आए कि ठीक है, लेकिन तब भी बात दूसरी हो गई, तब वह रेडीमेड नहीं रहा। यानी यह हो सकता है, इसमें कोई कठिनाई नहीं है कि हम पूरी समझ को जगाने पर पाएं कि जो बुद्ध ने कहा था वही समझ में आया, तब भी अब यह बुद्ध का कहा हुआ नहीं रह गया, यह अब हमारी ही समझ हो गई।
तो मेरा मानना है कि सत्य तो पुराने से पुराना है, और नये से नया है। सत्य न पुराना है, न नया है। लेकिन सत्य जब किसी और का होता है तब हमारे लिए पुराना हो जाता है। हो सकता है कि हम भी जब यात्रा करके वहां पहुंचें तो हम पाएं कि वही सच है, लेकिन तब वह हमारा होगा। तो मेरा मानना है कि सत्य पुराना तो होता नहीं, नया भी नहीं होता। जो उसका आविष्कार करता है, उसके लिए वह सत्य होता है और किसी दूसरे के आविष्कार को पकड़ लेता है तो रेडीमेड फार्मूला हो जाता है।
और मजे की बात यह है कि सत्य तो मुक्त करता है, स्वतंत्र करता है, रेडीमेड फार्मूला बांधता है और गुलाम करता है। तो जिस आदमी ने जितने बंधे- बंधाए सूत्र पकड़ लिए हैं, वह उतना गुलाम है। और उसमें पकड़ इसीलिए हैं कि समझ एक संघर्षपूर्ण प्रक्रिया है; अंडरस्टैंडिंग पाना एक घना संघर्ष है, तकलीफ है, कष्ट है, त्याग है, तपश्चर्या है, खोज है, जोखम है--मिले, न मिले, सब हो सकता है। रेडीमेड फार्मूला पकड़ना ज्यादा सिक्योर्ड है, सुरक्षित है।
बुद्ध कहते हैं, बुद्ध भगवान हैं; महावीर कहते हैं, महावीर तीर्थंकर हैं। राम कहते हैं, राम भगवान हैं। तो इस भांति जब वे कहते हैं, तो ठीक ही कहते हैं। मुझे और क्या जरूरत है करने की? लेकिन यह ध्यान रहे कि ऐसा कोई भी सत्य नहीं है जो किसी दूसरे से हमें मिल सके। और जब किसी दूसरे से मिलेगा, तो वह हमारी गुलामी बनाएगा। क्योंकि हमारे लिए वह डेड वेट होगा, मुर्दा भार होगा। हम तो जानते ही नहीं। लेकिन जब हमारी समझ की, संघर्ष की प्रक्रिया से मिलेगा, जब हम खोजेंगे तब वह सत्य होगा।
और जैसे ही कोई सत्य दिख जाए वैसे ही जीवन में इतना विकास होता है और इतनी स्वतंत्रता मिलती है क्योंकि सत्य मिलते ही इतना आकाश मिल जाता है और इतना स्पष्ट हो जाता है सब कि बंधने का, उलझने का कोई कारण नहीं रह जाता। साथ दीया होता है और साथ में हम चल पाते हैं।
यह ऐसा ही है जैसे बुद्ध के पास दीया रहा हो और आप अंधेरे में चल रहे हैं और उस दीये को सिर्फ मन में ही सोच सकते हैं कि दीया हैं। आपके पास तो कोई दीया नहीं है। चलेंगे अंधेरे में, टकराएंगे अंधेरे में, गिरेंगे अंधेरे में। और दीये की खोज भी नहीं करेंगे, क्योंकि आप सोचते हैं कि बुद्ध के पास जो दीया था, वह मुझे मिल गया हुआ है क्योंकि मैं बुद्ध को मानता हूं। लेकिन वह दीया आपको नहीं मिल सकता है। वह बुद्ध की चेतना का ही

दीया था, वह उनके साथ ही बुझ जाता है। सिर्फ उसकी खबर हमारे पास रह जाती है। हमें फिर अपनी चेतना को जगाना पड़ेगा।
इसलिए कोई रेडीमेड फार्मूले से कभी कोई मनुष्य स्वतंत्र नहीं होता है। और अब तक मनुष्य के बंधन का सबसे बड़ा कारण यह शास्त्र, संप्रदाय, पके- पकाए सूत्र, यही है। बहुत लोगों को ऐसा लगता है कि लेकिन नई बात क्या हो सकती है? मैं कहता हूं कि नया सत्य कुछ नहीं हो सकता। असल में सत्य नया और पुराना नहीं होता है। जो आदमी आविष्कृत करता है, उसके सामने हो जाता है और जो आदमी आविष्कृत नहीं करता है, किसी और का उधार ले लेता है, उसके साथ होता ही नहीं।
तो सत्य सदा नया है और सदा पुराना भी या ओल्ड से ओल्ड वही है और न्यू
से न्यू वही है। उन दोनों में कोई विरोध नहीं है। सत्य तो वही है, जो कभी किसी को मिला हो--वही मुझे मिलेगा, वही आपको मिलेगा। लेकिन मिलने की जो यात्रा है वह मुझे फिर करनी पड़ेगी, आपको फिर करनी पड़ेगी, आने वाले बच्चों को फिर करनी पड़ेगी। उस यात्रा के बिना वह नहीं मिलता है। और जब यात्रा के बिना हम ले लेते हैं तो हमारी चेतना तो वहां तक पहुंची नहीं होती जहां वह दिख जाए, तो हमारे लिए वह कड़ी बन जाता है, बंधन बन जाता है। और वे बंधन समझ को विकसित नहीं करते, समझ को और बुरी तरह मार डालते हैं।
तो यह जो स्वतंत्रता और परतंत्रता का जो भाग्य का और मुक्त चेतना का
जो सवाल है--यह बहुत कीमती है। और इसे ठीक से ही समझ लेना चाहिए कि मेरे लिए इसमें कोई विरोध ही नहीं है। विरोध तो है ही, वह दिखाई नहीं पड़ रहा है; लेकिन गहरे में मेरे लिए कोई विरोध नहीं है। और दोनों के तालमेल से व्यक्तित्व को विकसित करना चाहिए। ऐसी परतंत्रता जो स्वतंत्रता के लिए आधार बनती है, और बड़ी स्वतंत्रता के लिए आधार बनती है। और अंततः एक दिन ऐसा आता है, उस क्षण जब चेतना पूरी जाग गई होती है तो फिर कोई कर्म नहीं बांधता।
इसको भी थोड़ा समझ लेना जरूरी है कि कौन सा कर्म हमें बांध लेता है और क्यों बांध लेता है?
असल में, आपने मुझे गाली दी और मैंने आपको गाली दी। तो मैं जो गाली दे रहा हूं वह कर्म नहीं है, वह एक्शन नहीं है, रिएक्शन है; सिर्फ मैं रिएक्ट कर रहा हूं। यानी रिएक्ट करने का मतलब ही यह हुआ कि आप मुझसे कुछ करवा ले रहे हैं। आपने गाली देकर ऐसा इंतजाम कर दिया है कि मैं गाली देने को मजबूर हो गया हूं। इसका अर्थ यह हुआ कि आपने मुझे गुलामी में डाल दिया, आपने जो करवाना चाहा, करवा लिया। आपने गाली दी और ऐसी परिस्थिति बना दी कि मैं गाली दे गया। गाली मैंने नहीं दी, मुझसे दिलवा ली गई। मैं गुलाम हो गया। रिएक्शन गुलामी है--प्रतिकर्म गुलामी है। प्रतिक्रिया, यह कर्म नहीं है मेरा।
आपने मुझे गाली दी और मैं सोचूं, समझूं, और आपकी गाली के कारण गाली न दूं--सोचूं, समझूं, खोजूं कि आपने गाली क्यों दी? ठीक ही तो नहीं दी कहीं? कहीं उचित ही तो नहीं है यह, जो आपने कहा? आपने जो कहा तो कहीं आप पागल तो नहीं हैं? आप कहीं क्रोध में तो नहीं हैं? आप कहीं झगड़ कर तो नहीं आए? अगर मैं सारी बात खोजूं-बीनूं तो इसकी बहुत कम संभावना रह जाती है कि मैं आपको गाली दूं। शायद आप पर दया करूं। लेकिन तब वह दया जो है, एक्शन होगा रिएक्शन नहीं। क्योंकि वह आपने जो परिस्थिति पैदा की थी, उसके प्रभाव में आकर मैंने नहीं कर दिया है कुछ। मैंने परिस्थिति को समझा और बूझा, अपनी चेतना को जगाया और पाया कि यह बेचारा दुखी है। इसकी पत्नी मर गई है, इसका लड़का भाग गया है, इसकी नौकरी छूट गई है, और यह सारी दुनिया को छोड़ कर मुझ ही को गाली देने आया--उसका कारण यह है कि सिर्फ मुझ ही को जानता-पहचानता, मित्र मानता है, मुझको ही निकट पाता है, किसी और को गाली देगा तो सिर खुल जाएगा इसका। मुझको प्रेम करता है इसलिए मुझे गाली देने चला आया है।
तब मुझे इस पर दया भी आएगी, प्रेम भी आएगा। और यह भी हो सकता है कि इसकी गाली ठीक पाऊं मैं कि यह जो कह रहा है, ठीक कह रहा है मेरे बाबत, यही मेरी स्थिति है। तब मुझे इस पर धन्यवाद आएगा, अनुग्रह आएगा कि तूने अच्छा किया

कि मुझे बता दिया कि मैं ऐसा आदमी हूं। मैं ऐसा आदमी हूं--लेकिन गाली नहीं होने वाली है!
तो गाली के उत्तर में गाली रिएक्शन है, एक्शन नहीं। और मेरा मानना यह
है कि एक्शन मुक्त करता है, रिएक्शन गुलाम बनाता है। तो जितनी व्यक्ति की चेतना जगती चली जाती है उतना उसके जीवन से रिएक्शन खत्म हो जाते हैं, एक्शंस रह जाते हैं। वह एक्ट करता है, रिएक्ट नहीं करता। आप क्या करवाते हैं, वह वह नहीं करता है। जो उसको करना है, जो उसकी चेतना कहती है, करने योग्य है, वह करता है। इसीलिए वह किसी से बंधा हुआ नहीं रह जाता। वह मुक्त हो जाता है।
कर्म मुक्त करता है, और प्रतिकर्म बांधता है। एक्शन इज़ फ्रीडम, रिएक्शन इज़ ए स्लेवरी। वह जितना प्रतिकर्म है, उतनी गुलामी है। और हम सिर्फ प्रतिकर्म ही करते हैं, हम कभी कर्म करते ही नहीं इसलिए हमारे ऊपर परतंत्रता ही परतंत्रता इकट्ठी होती चली जाती है। हमें कोई प्रेम की परिस्थिति पैदा कर दे तो प्रेम करते हैं और दुश्मनी की परिस्थिति पैदा कर दे तो दुश्मनी करते हैं। न हमने कभी प्रेम किया, न हमने कभी दुश्मनी की। और मजे की बात यह है कि दुश्मनी तो कोई कर ही नहीं सकता कर्म की तरह। दुश्मनी सिर्फ प्रतिकर्म की तरह हो सकती है। हां, प्रेम कर्म बन सकता है।
तो जैसे-जैसे व्यक्ति चेतन होता है, अवेयर होता है, होश से भरता है वैसे-वैसे कर्म भर शेष रह जाते हैं। और कर्म किसी को बांधता नहीं। और यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि रिएक्शन में चेन होती है एक, और कर्म एटॉमिक होता है। कर्म में कोई चेन नहीं होती क्योंकि आपसे कोई संबंध ही नहीं होता। कर्म मेरा है न, इसलिए आपसे क्या संबंध है? और रिएक्शन हमेशा बासा होता है, कर्म हमेशा स्पांटेनियस होता है। क्योंकि आपने गाली दी, इसलिए मैं गाली दे रहा हूं तो यह सब बासी कृत्य हो गया। पास्ट से बंधा हुआ कृत्य हो गया। आपने ऐसा किया इसलिए मैं ऐसा कर रहा हूं। वह तो बीत गई घटना जो आपने की थी। अब मैं उसी से बंधा हुआ मरा हूं। आपने दस दिन पहले गाली दी थी और आज मैं आपको गाली देने आया हूं। दस दिन पीछे से मैं बंधा हूं। तो प्रतिकर्म हमेशा बासा है, पुराना है, मर गया है, जिंदा नहीं है। कर्म हमेशा जीवंत है, स्पांटेनियस है, अभी है, इसी वक्त है।
मजे की बात यह है कि प्रतिकर्म बांधता है, बंधता है खुद। और कर्म न बांधता है, न बंधता है; एटामिक है--हुआ और गया! उसके बाद उसका कोई मतलब नहीं है। आप मुझे मिले और मैंने आपको नमस्कार किया। यह नमस्कार प्रतिकर्म भी हो सकता है, क्योंकि कल आपने मुझे नमस्कार किया था, तब यह बांधने वाला है। तब मैं कल फिर प्रतीक्षा करूंगा कि नमस्कार करते हो कि नहीं! अगर नहीं किया तो दुखी हो जाऊंगा, करोगे तो सुखी होऊंगा। लेकिन आप मुझे दिखे--न आपने मुझे नमस्कार कल किया है, नहीं किया है, इससे कोई लेना-देना नहीं है। सहज मैं सुबह आनंद से भरा हूं और नमस्कार करता हूं।
यह नमस्कार वैसे है जैसे सूरज को उगते देख कर भी मैंने कर लिया था, एक फूल को देख कर भी कर लिया था, आप किनारे से गुजरे हैं, आपको देख कर भी कर लिया। आपसे इसका कोई संबंध ही नहीं है। यह मेरे अनुग्रह का भाव है जो प्रकट हो गया है। मैं अपने रास्ते चला गया। यह एटामिक एक्ट था, यह खत्म हो गया। उठा, गया। कल भी करूंगा, यह जरूरी नहीं है। कल करना ही पड़ेगा, ऐसा भी जरूरी नहीं है। कल, कल जानेगा; आज, आज खत्म हो गया। कल सुबह कल सुबह जो करवाएगी वह होगा।
तो कर्म है सहज और प्रतिकर्म है बहुत असहज। कर्म है मुक्त और प्रतिकर्म है बंधा हुआ। तो हमारी सारी परतंत्रता हमारे प्रतिकर्मों का लंबा बोझ है, और हम जीते ही नहीं कभी सहज। सब प्रतिकर्म ही है। कहते हैं, यह मेरी मां है इसलिए इसके पैर छू रहा हूं। सब गड़बड़ हो गया। पैर छूने का कृत्य काफी आनंदपूर्ण है। इसमें मां के साथ बंधा हुआ और बासा होने की कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि इसको मां... यह तीस साल, चालीस साल पहले इसका मैं बेटा हुआ था, पैदा हुआ। तो चालीस साल पुरानी घटना हो गई। तब से मैं सब कुछ बदल गया हूं। जो इसने पैदा किया था, वह कहीं खो गया है। अब वह नहीं है कहीं भी। उससे बंधा हुआ यह सब बासा है। लेकिन मुझे आनंदपूर्ण लगा और किसी के यह पैर पर

हाथ रखना सुखद मालूम पड़ा और मैंने रख दिया और बात खतम हो गई। न इसे बांधता हूं, न इससे बंधता हूं। इतना सहज जब जीवन हो जाता है तो ऐसे जीवन में स्वतंत्रता ही स्वतंत्रता हो जाती है। फिर वहां परतंत्रता नहीं होती। परतंत्रता का कोई सवाल नहीं है। ऐसे व्यक्ति को ही जीवन-मुक्त और ऐसी चेतना को ही मुक्त दशा है।

"शिक्षाः साध्य और साधन" विषय पर प्रश्नोत्तर-शृंखला-7

शिक्षा में क्रांति
इक्कीसवां प्रवचन

मनुष्य के आमूल रूपांतरण की प्रक्रिया

टु मी दि प्रेजेंट स्टेट ऑफ वर्ल्ड अफेयर्स अपियर्स टु बी इलुजरी। द एमीनेंट स्कॉलर्स फ्रॉम डिफरेंट वाक्स ऑफ लाइफ गिव वेरियस थीम्स फॉर ट्रांसफार्मेशन ऑफ लाइफ। फॉर इंस्टांस रिलिजियस लीडर्स अफर्म दैट इट इज़ दि गॉड ऑर रिलीजन व्हिच इज़ ओनली ओमनीपोटेंट एण्ड कैन ट्रांसफार्म दि लाइफ एण्ड प्रोवाइड हेवन। सोशियोलॉजिस्टस, पोलिटिशियंस, एजुकेशनिस्टस एण्ड मॉरेलिस्टस बिलीव दैट बैटर सोसायटी कैन बी ओनली विद बैटर फॉर्मस। नैचुरेलिस्टस से.ज दैट दि अंडरस्टैंडिंग ऑफ दि नेचर शैल ब्रिंग दि ट्रांसफार्मेशन। व्हेयर ए.ज साइकोलॉजिस्ट एण्ड साइकोपैथालॉजिस्ट बिलीव दैट साइकोएनालिसिस, ट्रैंक्वेलाइजरस, सेडेटिव्स ऑर ब्रेन-वाशिंग एजेंटस कैन ट्रांसफार्म लाइफ एटसेट्रा एटसेट्रा। बट टु मी सर, दिस अपियर्स नियरली ए पार्शियल ट्रांसफार्मेशन। वुड यू सजेस्ट वॉट टोटल एण्ड स्पांटेनियस ट्रांसफार्मेशन इज़?

मनुष्य निरंतर ही यह सोचता रहा है, कैसे आमूल जीवन परिवर्तित हो। सोचने के कारण भी हैं। जैसा जीवन है, उसमें सिवाय दुख, पीड़ा, अशांति, संघर्ष और कलह के कुछ भी नहीं है। जीवन के इस दुखद रूप ने ही जीवन को रूपांतरित करने की प्रेरणा भी पैदा की है। शायद ही ऐसा कोई क्षण हो जब मनुष्य आनंद को उपलब्ध हो पाता है। आनंद की आशा रहती है, कल मिलेगा और आज उसी आशा में हम दुख में व्यतीत करते हैं। और कल जब आता है तब वह इतना ही दुखी सिद्ध होता है जितना आज था। आशा फिर आगे सरक जाती है। ऐसे जीवन भर आदमी सुख की आशा में जीता है और पाता निरंतर दुख है। इस आशा के कारण दुख को झेल भी लेता है। लेकिन आनंद इस तथाकथित जीवन में दिखाई नहीं पड़ता। या तो यह हो सकता है कि जीवन में आनंद है ही नहीं, आनंद की खोज ही गलत है। या यह हो सकता है कि जैसा जीवन है, इस जीवन में आनंद नहीं है इसलिए जीवन को परिवर्तित करने की, ट्रांसफार्म करने की खोज सार्थक है।
फिर जीवन को परिवर्तित करने के भी दो विकल्प हैं। या तो हम जीवन को बदलें तो आनंद हो जाए; जीवन--जो हमसे बाहर है। या यह भी हो सकता है कि बाहर का सारा जीवन बदल जाए तो भी आनंद न हो, क्योंकि हम जैसे थे वैसे ही रह जाएं। तो दूसरा विकल्प यह है कि हम जैसे हैं उस होने को बदलें, तो जहां दुख दिखाई पड़ता है, शायद वहां आनंद हो जाए। इन सब दिशाओं से आदमी ने कोशिश की है, इन सब दिशाओं से आदमी ने प्रयास किया है। जो ऐसा मान लेते हैं कि आनंद है ही नहीं, वे अत्यंत निराशावादी मालूम पड़ते हैं। जीवन के तथ्य उनकी बात का समर्थन करते हैं। लेकिन कुछ व्यक्तियों के जीवन में आनंद घटित हुआ है-- होता है। कुछ गवाह हैं जीवन के बड़े तथ्यों के खिलाफ। और वे गवाहियां इतने सच्चे आदमियों से आई हैं कि उन्हें झुठलाया नहीं जा सकता। अगर हम जीवन, सामान्य जीवन की तरफ देखें तो निराशावादी, वह जो पैसिमिस्ट है, वही ठीक मालूम पड़ता है। जीवन में दुख है! शायद दुख ही दिखाई पड़ता है। अगर जीवन के आंकड़े ही हम बटोरें तो निराशावादी सही सिद्ध मालूम होता है।
लेकिन कभी-कभी कोई एक व्यक्ति पैदा होता है--कोई एक कृष्ण, कोई एक बुद्ध, और जिसके जीवन में आनंद के फूल खिले हुए दिखाई पड़ते हैं; और जो गवाही बन जाता है, विटनेस बन जाता है। असाधारण हैं ये घटनाएं। कभी-कभी घटती हैं, सामान्य नहीं हैं, अपवाद ही मालूम पड़ते हैं अभी, लेकिन इनसे आशा बंधती है और निराशा का कारण नहीं रह जाता है। क्योंकि यदि एक मनुष्य के जीवन में आनंद घटित हो सकता है, तो फिर सबके जीवन में घटित क्यों नहीं हो सकता है? फिर ऐसा मालूम पड़ता है कि हम सबके होने में कहीं कोई भूल है, जिससे, जिससे आनंद के द्वार नहीं खुल पाते हैं। अगर जगत में एक मनुष्य प्रकाश में खड़ा हो सका, तो फिर हमारा जो अंधेरा है वह कुछ हमारे ही ओढ़े हुए होने के कारण है। शायद हम अपना द्वार बंद किए हुए बैठे हैं अंधेरे में। सूरज बाहर निकला हो। अगर एक मनुष्य के जीवन में संगीत घट सका है तो

संभावना यही है कि शायद हम बहरे बने बैठे हैं, कान बंद किए बैठे हैं।
क्योंकि संगीत है, यह एक मनुष्य के जीवन में घटने से भी सिद्ध हो जाता है।
यह सबके जीवन में घटे तभी सिद्ध होगा, ऐसा नहीं है। अगर एक मनुष्य के जीवन में भी आनंद के स्वर उठते हैं, तो वे उठ सकते हैं इसकी पॉसिबिलिटी, इसकी संभावना खुल जाती है।
इसलिए मैं निराशावादी से तो सहमत नहीं हूं, क्योंकि निराशावाद का गहरे से गहरा अर्थ आत्मघात के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता है। अगर जीवन दुख ही है और ट्रांसफर्मेशन के, रूपांतरण के कोई उपाय नहीं हैं तो फिर जीवन जीने जैसा नहीं है। फिर इस अर्थहीन, एब्सर्ड, व्यर्थ के जीवन को छोड़ देना ही उचित है। फिर सिर्फ कायर जीएंगे, बहादुर छोड़ देंगे। फिर जो मरने की हिम्मत नहीं जुटा पाते वे ही सरकेंगे कीड़ों की तरह। जो मरने का साहस रखते हैं वे तत्काल इस जीवन के बाहर हो जाएंगे।
लेकिन मैं राजी नहीं हूं। अपने अनुभव के कारण भी राजी नहीं हूं। मैं खुद भी देख पाता हूं कि आनंद के अनंत द्वार हैं और प्रकाश की अनंत संभावनाएं हैं। और जीवन एक ऐसा आनंद हो सकता है जहां दुख की कोई लहर भी कभी नहीं पहुंच सकती। मैं खुद भी एक गवाही, एक विटनेस हूं। बुद्ध ही गवाही होते तो शायद इतनी हिम्मत से मैं नहीं कह पाता, लेकिन निराशावादी आमूल गलत है, यद्यपि जीवन के सारे तथ्य उसके समर्थन में हैं, लेकिन तथ्यों के समर्थन से भी कुछ भी नहीं होता। तथ्य सत्य नहीं हैं, फेक्ट ट्रूथ नहीं हैं। यह हो सकता है कि तथ्य तो दुख के ही दिखाई पड़ रहे हैं, लेकिन सत्य आनंद का हो और हम सत्य को खोज नहीं पा रहे हैं। और कई बार ऐसा होता है कि तथ्यों की भीड़ में भटक जाने से सत्य का खोजना ही मुश्किल हो जाता है। मैं निराशावादी से सहमत नहीं हूं, क्योंकि उससे सहमत होने का मतलब है, रूपांतरण का कोई मार्ग नहीं है, कोई उपाय नहीं है।
दूसरे वे लोग हैं; जो कहते हैं जीवन में दुख है, क्योंकि जीवन जैसा है
वह ठीक नहीं है--उनकी पहुंच ऑब्जेक्टिव है। उनकी पकड़ वस्तुओं को बदलने की, व्यवस्था को बदलने की, शरीर को बदलने की, स्वास्थ्य को बदलने की, बीमारी हटाने की, अच्छा मकान बनाने की, अच्छे कपड़े देने की--इस बात में थोड़ी सचाई है। अगर जीवन की सारी व्यवस्था दुखदाई हो जाए तो अत्यंत कठिन हो जाता है आनंद को अनुभव करना। इसलिए मैं मानता हूं कि इस बात में थोड़ी सचाई है कि जीवन की बाहर की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि भीतर आनंद घटित होने में सहयोगी बने, विरोधी नहीं। लेकिन फिर भी मैं यह नहीं मानता हूं कि बाहर की व्यवस्था ही आनंद बन जाएगी। वह सिर्फ अवसर बन सकती है, ऑपरच्युनिटी बन सकती है।
एक बीज को हम बोते हैं, अंकुर बीज से निकलता है, लेकिन पास में पड़ी बूंद, गिरा हुआ पानी, सूरज की किरणें मौका बनती हैं। वे सिर्फ मौका बनती हैं कि अंकुर निकल सके। अंकुर उनसे नहीं निकलता, अंकुर तो बीज से ही निकलता है। और बीज की जगह अगर कंकड़ डाला हो तो अच्छे से अच्छी जमीन, अच्छे से अच्छा पानी, अच्छे से अच्छी सूरज की किरणें और कुशल से कुशल माली भी अंकुर नहीं ला सकेगा। दूसरी बात भी सच है--श्रेष्ठतम बीज हो और अच्छी भूमि न मिले, पत्थर पर डाल दिया हो, पानी न मिले और सूरज की किरणें न मिलें, माली के कुशल हाथ न मिले तो अच्छे से अच्छा बीज पत्थर पर पड़ा हुआ, अंधेरे में पानी बिना, सूरज बिना, माली बिना मर जाएगा--अंकुर नहीं निकलेगा।
असल में मेरी दृष्टि में ऑब्जेक्टिव और सब्जेक्टिव एक ही बड़े हिस्से
को दो रूप हैं। दोनों जुड़े हैं। इसलिए जिन लोगों का यह जोर है कि बाहर की व्यवस्था ही ठीक कर देने से आदमी आनंदित हो जाएगा, वे मुझे भ्रांति में मालूम पड़ते हैं; उतनी ही भ्रांति में जैसे वे लोग, जो सोचते हैं कि भीतर का आदमी ही बदल जाए, बाहर से कोई प्रयोजन नहीं है--वे भी इतने ही भ्रांत हैं। क्योंकि उन दोनों ने आधे-आधे को स्वीकार किया है; पूरे जीवन को नहीं। वे दोनों ही गलत हैं अपने अधूरेपन में। और वे दोनों ही सही हैं अपनी उस अधूरी सचाई में, जिससे पूरा जीवन सुखद हो सकता है।
इसलिए एक तरफ जिन्होंने बाहर के जीवन पर ही जोर दिया है, उन्होंने विज्ञान को विकसित करने की कोशिश की है। विज्ञान मूलतः बाहर के जीवन को

बदलने की व्यवस्था है। उन्होंने एक तरह का भौतिकवादी, हेडोनिस्ट, सुखवादी दृष्टिकोण विकसित किया है। सुखवाद, भौतिकवाद, बाहर को बदलने का धर्म है। मेरी दृष्टि में भौतिकवाद का कोई भी विरोध नहीं है। विरोध वहां शुरू होता है जहां भौतिकवाद अपने से ऊपर सब चीजों को इनकार करता है। भौतिकवाद अपने में बिल्कुल सच है। जहां तक जाता है वहां तक बिल्कुल सच है, लेकिन जहां वह बिल्कुल नहीं जा सकता वहां इनकार करता है--वहीं गलत हो जाता है। भौतिकवाद, विज्ञान बाहर के जीवन में उस अवसर की तलाश है, जिस अवसर के बीच भीतर का अंकुर आनंद का खिल सके।
धर्म, योग, भीतर के उस अंकुर को जगाने, उठाने की खोज हैं। लेकिन इन धार्मिकों से मैं सहमत नहीं हूं जो मानते हैं कि धर्म पर्याप्त है; जो मानते हैं, बस, भीतर कुछ हो जाना काफी है; जो बाहर के निषेध में खड़े हैं। मैं मानता हूं कि वे भौतिकवादियों जैसे ही लोग हैं, सिर्फ उलटे खड़े हैं। उनकी पकड़ भी अधूरी है। और ध्यान रहे, अधूरा सत्य असत्य से भी ज्यादा खतरनाक हो सकता है। क्योंकि वह सत्य मालूम पड़ता है, और सत्य होता नहीं। इसलिए अर्धसत्य मनुष्य को जितना भटका देता है उतना असत्य भी कभी नहीं भटकाता। असत्य भटका ही नहीं सकता है, क्योंकि असत्य का भ्रम बहुत जल्दी टूट जाता है। उसमें सत्य का मुलम्मा भी नहीं होता, उसमें सत्य की रूप-रेखा भी नहीं होती, उसमें खोजने पर सत्य कहीं मिलता ही नहीं। तो इसलिए असत्य को पकड़े रखना कठिन है, लेकिन अर्धसत्य को पकड़े रखना बहुत आसान है। क्योंकि जो सत्य का हिस्सा है उसमें, वह पकड़ बन जाता है। और जो असत्य का हिस्सा है, उसे हम आंख से ओझल कर देने में समर्थ हो जाते हैं।
और मजे की बात यह है कि जैसे एक रुपये को मैं अपने हाथ में पकडूं, तो पूरे रुपये को तो मैं कभी देख ही नहीं पाता हूं। जब देख पाता हूं, आधे को ही देख पाता हूं। अगर रुपये का ऊपर का सिक्का मुझे दिखाई पड़ता है, तस्वीर मुझे दिखाई पड़ती है तो नीचे का हिस्सा लोप हो जाता है। नीचे का हिस्सा दिखाई ही नहीं पड़ता। और अगर नीचे का उलटा सिक्का मैं देखने लगता हूं तो ऊपर का सिक्का लोप हो जाता है, वह मुझे दिखाई नहीं पड़ता। पूरे सिक्के को देखना बहुत मुश्किल है। आधा ही सिक्का दिखाई पड़ता है, और इसीलिए पूरे सत्य को देखना भी बहुत मुश्किल है, आर्डुअस है; आधा सत्य ही दिखाई पड़ता है। और आधे सत्य के दिखाई पड़ने से आधा पकड़ लिया जाता है। और शेष आधा जो उसके पीछे ही छिपा है, जिसके बिना यह आधा भी नहीं हो सकेगा वह ओझल हो जाता है; न केवल ओझल बल्कि इनकार हो जाता है।
भौतिकवाद आधा सत्य है, विज्ञान आधा सत्य है, आधा सिक्का! धर्म, योग आधा सत्य है, आधा सिक्का! लेकिन जो अपने आधे हिस्से को देख रहे हैं वे दूसरे हिस्से को स्वीकार भी करने को राजी नहीं हैं क्योंकि उनकी आंखों में वह है ही नहीं। लेकिन जिस आधे को वे इनकार कर रहे हैं वह आधा, जिस आधे को वे स्वीकार कर रहे हैं उसका आधार है। और उसके इनकार करने से यह आधा भी मिट जाएगा--बन नहीं सकता।
मैं पूर्ण सत्य के पक्ष में हूं। और पूर्ण सत्य सब विरोधों को आत्मसात कर लेता है। सब तरह के कंट्राडिक्शंस को अपने भीतर ले लेता है। पूर्ण सत्य में कुछ भी निषेध नहीं होता, कुछ नेगेट नहीं होता। पूर्ण सत्य में जो दो बिल्कुल विरोधी बातें दिखाई पड़ती थीं--धर्म और विज्ञान, आत्मा और शरीर, बाहर और भीतर, पदार्थ और परमात्मा, जीवन और मृत्यु, सब समाहित हो जाते हैं। पूर्ण सत्य में सब विरोध मिल जाते हैं। असल में पूर्ण सत्य विरोधों के बीच पैदा हुई हार्मनी का ही अनुभव है।
सब विरोधों के बीच जो संगीत पैदा होता है उसके ही अनुभव को पूर्ण सत्य कहेंगे। धर्म भी आधा है, विज्ञान भी आधा है। दोनों के अधूरेपन से मैं इनकार करता हूं। विज्ञान ने बड़ी कोशिश की है। उसकी कोशिश सराहनीय है, उसने आदमी के सुख की बहुत व्यवस्था जुटा दी है, लेकिन सिर्फ व्यवस्था! बीज उसके पास नहीं है जिसमें अंकुर आए। जिसमें अंकुर आ सके वह बीज उसके पास नहीं है। तो व्यवस्था उसने जुटा दी है, भूमि जुटा दी है, सीड जुटा दिया है, माली ला दिया है और प्रतीक्षा हो रही है; लेकिन अंकुर नहीं निकलता। पश्चिम सारा अवसर जुटा कर बैठा है बिना अंकुर के।

भौतिकवादी सारा इंतजाम करके बैठा है बिना बीज के और अब तकलीफ में पड़ गया है कि बीज कहां है? मान कर चला था कि व्यवस्था पूरी हो जाएगी तो सब ठीक हो जाएगा। व्यवस्था पूरी होने के करीब आ गई है। और इसलिए इतना फ्रस्ट्रेशन है पश्चिम में--चाहे अमरीका में, चाहे रूस में, चाहे इंग्लैंड में--इतना विषाद है! विषाद इस बात का है कि निरंतर इस आशा में सारा श्रम किया था कि व्यवस्था पूरी हो जाएगी, सब ठीक हो जाएगा। व्यवस्था पूरी हो गई और पाया गया है कि कुछ खो रहा है, जो पूरा नहीं होता। कोई मिसिंग लिंक है, जिससे जोड़ नहीं बैठता। इसको ही वह गहरा करते चले गए हैं व्यवस्था को। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे निकट आती गई है व्यवस्था। सारी व्यवस्था पूरी हो गई है।
वह जो आपने कहा, कपड़े ठीक हो गए हैं, मकान ठीक हो गए हैं, सड़कें ठीक हो
गई हैं, सब तरह के साधन विकसित हो गए हैं जिससे मनुष्य की सब इंद्रियां करोड़ गुना गतिमान हो गई हैं। आखिर पैर ही है जो स्पुतनिकमें गतिमान हो गया है। और हाथ ही हैं जो तारों तक पहुंच गए हैं। और कान ही हैं, जो रेडियो बन गया है। और वाणी ही है, जो आज सारे जगत में सुनी जा सकती है। सारी व्यवस्था कर ली है आदमी के सुख की। लेकिन आदमी कहीं खोया हुआ मालूम पड़ता है, जिसके सुख का इंतजाम किया है उसका पता नहीं चल रहा है कि वह कहां है! इंतजाम पूरा हो गया है और इंतजाम में हम इतने व्यस्त थे कि हम भूल ही गए थे कि जिसके लिए इंतजाम किया है, जिस मेहमान के लिए घर सजाया है, सोफे लगाए हैं, चित्र लटकाएं हैं, संगीत बजाया है, फूल लगाए हैं, सुगंध छिड़की है, हमेशा आयोजन में इतने व्यस्त थे कि हम भूल ही गए हैं कि वह मेहमान कहां है। अब जब आयोजन पूरा हो गया है तो खोज शुरू हुई है कि वह मेहमान कहां है, वह अतिथि कहां है? उसका कोई पता नहीं चलता। सब आयोजन व्यर्थ हुआ जा रहा है। विज्ञान ने बड़ी मेहनत की है। लेकिन मेहनत एक जगह जाकर, जिसको कहें खड़ी हो गई है जिसके आगे कोई मार्ग नहीं है।
यह होना था। देर-अबेर यह घटना घटनी थी क्योंकि अधूरे सत्य निश्चित एक जगह ले जाते हैं--कल-डि-सैक पर--एक ऐसी जगह, जहां रास्ता खत्म हो जाता है। धर्म भी ऐसे ही अधूरे सत्यों पर खड़े होकर टूट चुका है। धर्म ने भी बड़ी मेहनत की; विज्ञान से कम नहीं, ज्यादा ही। योग ने भी बड़ा श्रम उठाया; कम नहीं, ज्यादा ही। करोड़-करोड़ लोगों ने श्रम किया और उसकी खोज की कि वह कौन है जो आनंदित हो सके? उसकी खोज भी हो गई। इसका भी पता चल गया कि मनुष्य के भीतर वह कौन सा तत्व है, कौन सी आत्मा है, वह कौन सा बीज है जो आनंदित हो सकता है? उसकी खोज भी हो गई, लेकिन बाहर उसके आनंद के लिए कोई अवसर नहीं था, बाहर अवसर ही नहीं था। उसकी खोज में हम इतने भूल गए हैं, मेहमान के पकड़ने में हम इतना भूल गए हैं कि हम यह भूल ही गए हैं कि मेहमान के लिए एक घर भी बनाना है; सोफे भी लगाने हैं, फूल भी लगाने हैं, धूप भी जलानी है, खाना भी बनाना है, संगीत भी सुनाना है। यह सब व्यवस्था करनी है। मेहमान को खोजने में सब भूल गए हैं। मेहमान को ही पकड़ लिया है, लेकिन न घर है, न फूल हैं, न आरती सजी है, कुछ भी नहीं है। मेहमान सामने खड़ा है और व्यवस्था कोई भी, कोई भी नहीं है! वह भूल भी हो चुकी और अब मुझे दिखाई पड़ता है, धर्म ने अतिथि की खोज कर ली, लेकिन अतिथि के लिए व्यवस्था नहीं कर पाया।
ऐसे ये दोनों अधूरे प्रयोग हो चुके और दोनों हार चुके हैं। पूरब ने धर्म हारा, पश्चिम ने विज्ञान हारा। और इस बात का खतरा है अब... हार में अक्सर यह खतरा होता है, दूसरी अति पर चले जाने का। इस बात का अब खतरा है कि पूरब धर्म से हार गया तो विज्ञान को पकड़ ले और पश्चिम विज्ञान से हार गया तो धर्म को पकड़ ले, और फिर वही नासमझी शुरू हो जाए।
इस खतरे से मनुष्य को बचाने की बड़ी जरूरत है। यह खतरा बिल्कुल खड़ा हो गया है। पूरब विज्ञान को पकड़ना शुरू कर दिया है। पूरब का विचारशील आदमी भौतिकवादी हुआ जाता है, नास्तिक हुआ जाता है, वैज्ञानिक हुआ जाता है। पश्चिम का विचारशील आदमी उपनिषद, गीता, कुरान, सूफी, झेन, बुद्ध, महावीर की खोज में निकल पड़ा है। पश्चिम का विचारशील आदमी धार्मिक हुआ जाता है, पूरब का विचारशील आदमी भौतिक हुआ जाता है। वही दुर्घटनाएं फिर घटी जाती हैं।
जिस चक्कर से मनुष्यता अभी तक गुजरी, वह चक्कर फिर जारी रहेगा।

ऐसा हुआ जा रहा है जैसा एक गांव में मैंने सुना है कि दो आदमी थे, एक आस्तिक था, एक नास्तिक था। दोनों बड़े पंडित थे और गांव बहुत परेशान था। और गांव मुश्किल में था कि कौन ठीक है। फिर गांव ने कहा कि तुम दोनों एक दिन विवाद कर लो और तय कर लो कि कौन ठीक है। हम फिजूल चक्कर में नहीं पड़ना चाहते। हम बहुत कंफ्यूज्ड हो गए हैं। तुम जो कहते हो वह भी ठीक लगता है, विरोधी जो कहता है वह भी ठीक लगता है।
एक पूर्णिमा की रात दोनों का विवाद हुआ। सारा गांव बाजार में इकट्ठा हुआ। आस्तिक ने परमात्मा के लिए दलीलें दीं, नास्तिक ने विरोध में दलीलें दी। दोनों ने एक दूसरे का खंडन किया, दोनों ने अपना समर्थन किया। दोनों बड़े प्रबल थे। दोनों बड़े तर्कनिष्ठ थे। रात पूरी-पूरी होते ऐसा हुआ जिसकी कि गांव ने कभी कल्पना भी न की थी--आस्तिक नास्तिक हो गया, नास्तिक आस्तिक हो गया। दोनों एक दूसरे से राजी हो गए। और दोनों की मुसीबत फिर वहीं की वहीं रही, क्योंकि गांव में फिर एक नास्तिक रहा, फिर एक आस्तिक रहा। सिर्फ आस्तिक अब बदल कर नास्तिक हो गया, नास्तिक बदल कर आस्तिक हो गया। गांव की झंझट वही की वही रही। गांव को कोई फर्क न पड़ा। गांव की मुसीबत पुरानी की पुरानी रही।
ठीक यही दुनिया में हुआ जा रहा है। मनुष्यता फिर मुसीबत में पड़ जाएगी। मेरी दृष्टि में, जीवन की समग्रता, टोटेलिटी स्वीकृत हो तो ट्रांसफार्मेशन हो सकता है। यानी यह रूपांतरण के लिए, जीवन क्रांति के लिए पहला सूत्र है--समग्र जीवन का स्वीकार, पूर्ण जीवन का स्वीकार। स्थूलतम से लेकर सूक्ष्मतम का स्वीकार, निम्नतम से श्रेष्ठतम का स्वीकार!

मेरी एक बात समझ लें कि जो कंट्री में कोई भी आदमी रहते हैं तो आज यहां
का जो समाज यदि अध्यात्मवादी है, जिनको चांस नहीं मिला, उनकी (प्रवृत्ति 24ः27) ही उनको भौतिक की तरफ ले जाती है और जो मैटीरियलिस्ट वह दूसरी कंट्रीज में हैं और उनको जब चांस नहीं मिलता है। तो न चांस वाले ही दूसरे कल्ट को खड़ा कर दिया है। इसके बारे में क्या कहते हैं?

यह भी थोड़ी दूर तक ठीक है, यह भी थोड़ी दूर तक ठीक है! असल में, जिस व्यवस्था में हम रहते हैं उस व्यवस्था से असंतोष हो तो ही हम दूसरी व्यवस्था को स्वीकार करते हैं। वही मैं कह रहा हूं। यानी यह एक-दो व्यक्तियों का सवाल नहीं है। अब तो पूरा का पूरा समाज पूरब का समाज धर्म से हार गया, कोशिश कर करके हार गया। और आनंद उपलब्ध नहीं हो सका। कभी एकाध-दो व्यक्तियों को हुआ, लेकिन समाज को नहीं हो सका। पश्चिम का समाज हार गया व्यवस्था कर-करके। कभी एक-दो लोगों को, वहां भी, इस व्यवस्था से भी आनंद उपलब्ध हुआ, लेकिन समाज को नहीं हो सका।
यह जो एक-दो लोगों को पूरब में, एक-दो लोगों को पश्चिम में आनंद उपलब्ध हुआ इसका कारण यही था! इसका कारण यही था कि उनके भीतर दोनों चीजें किसी रूप से पूरी हो गईं। किसी रूप से पूरी हो गईं! जैसे, बुद्ध को उपलब्ध हो सका आनंद क्योंकि बाहर की जरूरतें बुद्ध की पूरी हो चुकी थीं। बाहर की दुनिया तृप्त हो चुकी थी। भीतर के अतिथि की उन्होंने खोज कर ली और बाहर का सामान और इंतजाम पहले पूरा हो चुका। पश्चिम में भी ऐसे ही हुआ, जैसे एपीकुरस को-- एपीकुरस को भीतर का मेहमान मिल चुका था पहले, और तब उसने बाहर की सारी व्यवस्था कर ली। तो उस बाहर की व्यवस्था में भी उसको आनंद मिल सका।
मैं मानता हूं कि एपीकुरस हैं भौतिकवादी और बुद्ध हैं अध्यात्मवादी, लेकिन दोनों उसी आनंद को उपलब्ध हो गए हैं। एपीकुरस और बुद्ध की ऊंचाइयों में, गहराइयों में कोई भी फर्क नहीं है। समझना मुश्किल है इस बात को। क्योंकि बुद्ध को बाहर की व्यवस्था पहले मिल चुकी है और मेहमान बाद में खोज लिया है। भीतर के अतिथि को पीछे खोज लिया, आत्मा पीछे खोज ली। एपीकुरस को आत्मा मिल चुकी है, बाहर की व्यवस्था खोज ली है।
इसलिए एपीकुरस कहता है कि बाहर की व्यवस्था पूरी हो गई तो सब पूरा हो गया। यह जो वह कह पा रहा है, उसे भी पता नहीं कि यह दूसरे के लिए यह कारगर नहीं होगा। अगर भीतर का अभी विकास नहीं हुआ तो बाहर की व्यवस्था उसे कुछ

भी नहीं दे पाएगी। बुद्ध कह रहे हैं कि अगर भीतर के मेहमान को पा लिया तो सब पा लिया, बाहर कुछ भी नहीं है। बुद्ध को यह पता नहीं कि जिसको बाहर अभी कुछ भी नहीं मिला उस पर यह बात लागू नहीं होगी।
ये घटनाएं अचेतन हैं। न बुद्ध को साफ पता है, न एपीकुरस को साफ पता है। पीछे लौट कर अब हम देख सकते हैं और चीजें ज्यादा साफ हो सकती हैं। तो अपवाद पश्चिम में घटे, अपवाद पूरब में घटे। लेकिन पूरब भी हार गया अपनी कोशिश में। समाज आनंदित नहीं हुआ, मनुष्यता आनंदित न हुई। पश्चिम भी हार गया अपनी कोशिश में।
हारी हुई संस्कृति तत्काल विपरीत संस्कृति पर लौट जाती है। इसलिए आज पश्चिम पूरब खोजने आता है। पूरब के विद्यार्थी पश्चिम खोजने जा रहे हैं। पूरब का सोचने वाला आदमी पश्चिम की तरफ नजर लगाए हुए है। पश्चिम का सोचने वाला आदमी तिब्बत आता है, भारत आता है, हिमालय आता है। और इससे बड़ी भ्रांति पैदा होती है। इससे बड़ी भ्रांति पैदा होती है! इससे भारतीयों को लगता है कि शायद हम गलत कर रहे हैं, गलती कर रहे हैं धर्म को छोड़ कर--कि देखो, पश्चिम के लोग यहां चले आ रहे हैं। लेकिन उन्हें पता नहीं कि पश्चिम के लोगों के आने का कारण दूसरा है। पश्चिम के लोगों को हैरानी होती है कि शायद हम विज्ञान की निंदा करके गलती कर रहे हैं। ये पूरब के लड़के तो पश्चिम चले आते हैं खोजने। पर उन्हें पता नहीं कि इनके आने का कारण बिल्कुल दूसरा है। मेरी दृष्टि में रूपांतरण का, पूर्ण मनुष्य को बदलने का पहला सूत्र हैः पूर्ण मनुष्य की स्वीकृति--अनकंडेम्ड, बिना किसी निंदा के। मनुष्य के जीवन में जो भी है, बाहर से बाहर की परिधि और भीतर से भीतर का बिंदु, ये दोनों स्वीकृत हैं।
दूसरी बात हैः इस स्वीकृति में, इस पूर्ण स्वीकृति में फिर क्या करना है? इस पूर्ण स्वीकृति में परिपूर्ण रूप से जागना है, अवेयरनेस लानी है। उसे ही मैं ध्यान कहता हूं। वही रूपांतरण का गहरा बिंदु है--पूर्ण स्वीकार! समग्र का, बाहर का, भीतर का, और फिर बाहर-भीतर के इस स्वीकार में जागरण!
इस बाहर के स्वीकार में भी मूर्च्छा हो सकती है कि ठीक है, सब स्वीकृत है--और आदमी मूर्च्छित जीए, खाना भी मूर्च्छित खाले, और पूजा भी मूर्च्छित कर ले, कपड़े भी मूर्च्छित पहन ले और ध्यान भी मूर्च्छित कर ले। स्वीकार में भी मूर्च्छा हो तो कोई परिणाम नहीं होगा। स्वीकार में अगर मूर्च्छा हो तो ज्यादा से ज्यादा इतना होगा कि दुख का जो दंश है वह कम हो जाएगा। आनंद उपलब्ध नहीं होगा। यह भी हो सकता है कि दुख बिल्कुल क्षीण हो जाए तो भी आनंद उपलब्ध नहीं होगा। क्योंकि आनंद का मतलब सिर्फ दुख का मिट जाना नहीं है। आनंद एक विधायक, पाजिटिव उपलब्धि है। वह सिर्फ दुख का निषेध नहीं है। वह इतना ही नहीं है कि अब मैं दुखी नहीं हूं। अब मैं दुखी नहीं हूं, यह भी हो सकता है और हो सकता है कि वह आदमी आनंदित न हो। यह बीज की तटस्थ स्थिति हो सकती है।
तो जो व्यक्ति सब स्वीकार कर लेगा वह दुखी तो नहीं रह जाएगा। क्योंकि
वह दुख को भी स्वीकार कर लेता है, इसलिए वह पीड़ा भी चली गई। लेकिन अगर वह मूर्च्छित है तो सिर्फ दुख का निषेध होगा, आनंद नहीं उपलब्ध होगा। हां, आनंद तो उपलब्ध होगा, अगर वह जागे।
इसलिए मैंने पहला सूत्र कहा, सर्व-स्वीकार--टोटल एक्सेप्टिबिलिटी।
यह पहला है, जिससे दुख विसर्जित होगा और समता आएगी। दुख-सुख सब समान हो जाएंगे क्योंकि सब स्वीकार है।
दूसरा सूत्र हैः जागरूकता, अमूर्च्छा, होश, कांशसनेस। यह बड़े आश्चर्य
की बात है कि साधारणतः जब हम दुख में होते हैं तभी हम थोड़ा जागते हैं और जब हम सुख में होते हैं तब हम बिल्कुल सोए होते हैं। पैर में अगर कांटा गड़े तो ही हमें पैर का पता चलता है। कांटा न गड़े तो पैर का पता ही नहीं चलता, पैर के प्रति हम बिल्कुल बेहोश होते हैं। सिर में दर्द हो तो सिर का पता चलता है। दर्द न हो तो सिर का कोई पता नहीं चलता। असल में जब हम दुख में होते हैं, तभी थोड़ा हमें जागना पड़ता है, मजबूरी में। वह जागना मजबूरी का है। और इसलिए है कि बिना जागे दुख के साथ हम कुछ भी नहीं कर सकते हैं।

इसलिए प्राकृतिक व्यवस्था है कि जब दुख आए तो आदमी को जागना पड़े। दुख
आए तब आदमी को जागना पड़े ताकि वह दुख को मिटाने के लिए कुछ कर सके--कुछ भी कर सके। तो प्रकृति तो सिर्फ हमें दुख में जगाती है, वह नॉन-वायलेंटरी है। वह जो जागरण है, हमारी इच्छा का, स्वेच्छा का नहीं, हमारे संकल्प का नहीं है। वह भी हमारी मजबूरी का हिस्सा है। दुख जाएगा, हम फिर सो जाएंगे।
मैं जिस जागरण की बात कर रहा हूं, वालेंटरी अवेयरनेस। इस फर्क को समझ लेना जरूरी है। दुख में हम जागते हैं, वह स्वेच्छा से नहीं, स्वयं से नहीं-- जागना पड़ता है! वह एक मजबूरी है, एक कंपल्शन है। साधना में जिस जागने की मैं बात कर रहा हूं वह मजबूरी नहीं है। वह हमारा स्वेच्छा से वरण किया हुआ उपाय है। वह हम जाग रहे हैं। और यह इतना बुनियादी फर्क है दोनों बातों में, क्योंकि जब हम स्वेच्छा से जागते हैं तो हमारे भीतर जागरण की क्षमता विकसित होती है। और जब हम मजबूरी में जागते हैं तब जैसे ही अवसर गया, निद्रा फिर पकड़ लेती है। यानी वह जागना क्षण भर का जागना होता है।
जैसे किसी आदमी की छाती पर हमने छुरा रख दिया तो वह एक सेकेंड को जाग जाएगा। शायद ऐसा वह जिंदगी में कभी नहीं जागा होगा। एक क्षण को उसकी सारी मूर्च्छा टूट जाएगी। एक क्षण को वह उस क्षण में पहुंच जाएगा जिसमें ध्यानी को पहुंचना चाहिए। वह एक क्षण में परिपूर्ण जागरूक होगा। सब विचार मिट जाएंगे, सब चिंताएं खो जाएंगी। अभी यह सोच रहा था कि मुकदमे में क्या करूं, मुकदमा विलीन हो जाएगा। अभी भाग रहा था, पत्नी बीमार है, उसकी दवा लानी है; दवा, पत्नी सब विलीन हो जाएंगे। अभी मंदिर चला जा रहा था कि प्रार्थना-पूजा करूं; न मंदिर रहेगा, न पूजा, न प्रार्थना रहेगी। अभी मन में हजार-हजार विकल्प चलते थे, सब खो जाएंगे। छुरे की धार एक मोमेंट को फाड़ देगी उसके भीतर, एक दरार पैदा कर देगी और उस दरार में वह पूरा खड़ा रह जाएगा, जिस वक्त न कोई विचार होगा, न कोई चिंता होगी, न कोई अशांति होगी। एक क्षण को यह स्थिति उसे जागने के लिए मजबूर कर देगी, लेकिन बस एक क्षण!
खतरे में आदमी जागता है। दुख में आदमी जागता है। जीवन संकट में होता है, क्राइसिस में होता है तो आदमी जागता है। लेकिन यह जागना प्राकृतिक है, स्वाभाविक है। यह जागता इसलिए है कि ताकि वह इस स्थिति के साथ ठीक से सामना कर सके, बस। स्थिति गई, वह आदमी वापस अपनी दुनिया में लौट आएगा--उसी निद्रा में, उसी सपने में, उसी विचारों में, उसी चिंता में। फिर वापस अपनी जगह खड़ा हो जाएगा। एक क्षण को तीर की तरह जागरण उसके भीतर गया, फिर वापस लौट गया। एक क्षण को वह जागेगा, फिर सो जाएगा।
ऐसा जागरण स्वेच्छा से चाहिए, बिना किसी दबाव के, सहज। भोजन कर रहा हो
तो भी वह ऐसा जागा हो जैसे किसी ने छाती पर छुरा रख दिया है। और कपड़े पहन रहा हो तो भी ऐसा जागा हो जैसे कि हजार-हजार कांटे सब तरफ से छिदे हुए हैं। और जब सुख में जी रहा हो, तब भी वह ऐसा जागा हो जैसे कि चारों तरफ दुख घेरे हुए है। तब वह स्वेच्छा से जागा; तब यह सेल्फ रिमेंबरिंग बन जाएगी। तब यह आत्म-स्मृति बनेगी। और इस भांति अगर कोई व्यक्ति चौबीस घंटे जाग कर जी रहा है, चौबीस घंटे जाग कर जी रहा है, ऐसा कोई भी क्षण नहीं जब हम उसे सोया हुआ कह सकें--क्रोध में भी होता है तब भी भीतर जागा होता है और प्रेम में होता है तब भी भीतर जागा हुआ होता है--ऐसे जागरण की जितनी गहराई बढ़ती चली जाएगी उतना ही रूपांतरण, ट्रांसफार्मेशन होता चला जाएगा। उतना ही नया व्यक्ति पैदा होने लगेगा, जो वह व्यक्ति कभी भी नहीं था।
सोया हुआ व्यक्ति कभी भी वह नहीं है, जो जागा हुआ व्यक्ति होगा। क्योंकि सोया हुआ जो करता है, जागा हुआ कभी नहीं कर सकता है। सोया हुआ जो झेलता है, जागा हुआ कभी नहीं झेलता। फेंको पत्थर, गालियां बको, नग्न हो जाओ तो वह आदमी कहे, पागल हैं? ऐसा मैं कैसे कर सकता हूं, मैं कोई पागल हूं! यही आदमी कल सांझ यही सब करता था। यही आदमी सुबह कहता है, मैं यह कैसे कर सकता हूं? सुबह शायद यह इनकार ही करे कि मैंने यह किया ही नहीं। यह मैं कर ही नहीं सकता हूं। और अगर किया भी होगा तो नशे में किया होगा। मैंने नहीं किया। जैसे शराब पीए हुए आदमी का व्यवहार एक होगा, उसी आदमी का शराब उतर जाने पर व्यवहार बिल्कुल भिन्न होगा, उलटा ही होगा। ऐसे ही मूर्च्छित आदमी का व्यवहार एक है, जागे हुए आदमी का व्यवहार बिल्कुल दूसरा होगा।

मूर्च्छित आदमी अपने अनजाने ही चाहता तो आनंद है, लेकिन जो भी करता है, उससे दुख पैदा होता है।
मूर्च्छित आदमी चाहता तो आनंद ही है, लेकिन जो भी करता है, उससे दुख ही पैदा होता है। वह जो आदमी शराब पीकर सड़क पर खड़े होकर पत्थर फेंक रहा है वह भी यही सोच रहा है कि आनंद के लिए ही शराब पी ली है उसने। और वह वही सोच रहा है कि शायद बड़े आनंद का कृत्य कर रहा है। लेकिन वह दुख ही पैदा कर रहा है। हो सकता है, पिटे-कुटे--हो सकता है, थाने भेजा जाए--हो सकता है, पागलखाने में बंद किया जाए। मूर्च्छित आदमी वह मांगता तो है आनंद; लेकिन जो करता है, उससे आता है दुख!
मूर्च्छा दुख को आकर्षित करती है। मेरी दृष्टि में मूर्च्छा दुख के लिए रिसेप्टिविटी है। जितना सोया हुआ आदमी है, उतना उसके चारों तरफ दुख घिर जाता है। जैसे हम अंधेरा कर दें--दरवाजा बंद कर दें, द्वार बंद कर दें, कमरे को बंद कर दें। तो बंद कमरे के भीतर धीरे-धीरे सांझ बदबू पैदा होनी शुरू हो जाती है। क्योंकि न सूरज की किरणें आती हैं, जो सड़न से बचातीं। न ताजी हवाएं आतीं है, जो बदबू से बचातीं। बंद अंधेरे कमरे के भीतर धीरे- धीरे ऐसे जीव-जंतु सरकने ही लगते हैं जो अंधेरे में ही सरक सकते हैं। जो उजाले में भाग जाते हैं; जिनके लिए अंधेरा जरूरी है। वहां कीड़े-मकोड़े पलेंगे, वहां जाले फैलेंगे, वहां सांप-बिच्छू इकट्ठे होंगे। वह अंधेरा घर धीरे-धीरे बहुत तरह की अंधेरी चीजों का निवास बन जाएगा। वहां भूत-प्रेत भी इकट्ठे हो जाएंगे, वे जो अंधेरे में ही रह सकते हैं, वह घर धीरे-धीरे अंधेरे की दुनिया हो जाएगी। अंधेरा किन्हीं चीजों को आकर्षित करता है। वे वहां इकट्ठी हो जाएंगी। उस अंधेरे कमरे में फूल नहीं खिल सकते। उस अंधेरे कमरे में बीज अंकुरित नहीं हो सकते। उस अंधेरे कमरे में वही आकर्षित हो सकता है, जो अंधेरे में पलता और बड़ा होता है। उस कमरे के हम द्वार दरवाजे खोल दें, ताजी हवाएं बहें, सूरज की रोशनी उतरे, चांद झांके, उस कमरे की शक्ल बदलनी शुरू हो जाएगी। वे जो अंधेरे में जीते थे, छोड़ देंगे उस कमरे को, भाग जाएंगे। और वे जो प्रकाश में ही आते हैं, उनका आगमन शुरू हो जाएगा।
ठीक ऐसे ही मूर्च्छा मनुष्य के भीतर एक तरह की रिसेप्टिविटी है--एक खास तरह की ग्राहकता। उस ग्राहकता में वही सब आता है--क्रोध है, घृणा है, वैमनस्य है, शत्रुता है, ईर्ष्या है, महत्वाकांक्षा है, अहंकार है, लोभ है, मोह है, काम है, वह सब उस मूर्च्छा में आकर्षित होता है। और वह आदमी सोचता है कि यह मैं कर रहा हूं। वह करता-वरता नहीं है, वह सिर्फ अंधेरे में ही जी रहा है, इसीलिए यह सब होता है। जिस दिन वह जागेगा, उजाले से भरेगा, उस दिन वह पाएगा, यह तो मैंने कभी किया ही नहीं। यह सब होगा और हो सका इसलिए कि मेरा स्टेट ऑफ माइंड, मेरे होने की स्थिति ऐसी थी कि यही हो सकता था। यही आकर्षित होता था।
फिर एक जाग्रत चेतना है, जिसमें सब नई तरह की चीजें आकर्षित होती हैं, क्योंकि वह एक नये तरह की रिसेप्टिविटी है; वह एक और ही तल पर ट्यूनिंग है। अंधेरे की एक ट्यूनिंग थी, वहां अंधेरा कुछ बुलाता था। फिर उजाले की एक ट्यूनिंग है, वहां कोई और आता है--जिसको हम जीवन में गुण कहते हैं, सदगुण कहते हैं, वर्च्यू कहते हैं।
मेरी दृष्टि में, एक ही पाप है--सोया हुआ होना। और एक ही पुण्य है--जागा हुआ होना। क्योंकि सोए हुए होने में फिर सब पाप आमंत्रित हो जाते हैं, वह निमंत्रण है और पापों के लिए। और जागे हुए होने पर सब पुण्य भागे चले आते हैं क्योंकि वह निमंत्रण है सूरज का। वह निमंत्रण है, जहां फूल खिलते हैं, जहां बंद कलियां पंखुड़ियां खोल देती हैं, जहां बंद सुगंध भीतर की बाहर बिखर जाती है, जहां पक्षी गीत गाते हैं। जहां आकाश में उड़ने वाले पक्षी भी डेरा बसेरा करते हैं। वह एक नई दुनिया है बिल्कुल।
तो इसलिए मैं कहता हूं, ट्रांसफार्मेशन का, क्रांति का, परिवर्तन का, रूपांतरण का, व्यक्तित्व को आमूल बदलने का एक मात्र गहरा सूत्र है, और वह है, निरंतर जागे हुए जीना; एक-एक पल जागे हुए जीना। हम जो भी कर रहे हैं, उसमें जागे हुए जीना। ऐसा कुछ भी न हो हमसे जब हम सोए हुए थे, इसका ध्यान रखना, इसका निरंतर स्मरण रखना। इसके लिए, इसके प्रति निरंतर सजग होना कि

एक कदम भी मेरा ऐसा न पड़े, हाथ भी मेरा न उठे, आंख भी मेरी न झपके। न मैं कुछ ऐसा देखूं जो मैंने सोए हुए देखा हो। न मैं कुछ ऐसा सुनूं जो मैंने सोया हुआ सुना हो। मेरा एक गेस्चर भी सोया हुआ न हो, इशारा भी सोया हुआ न हो, सब जागा हुआ हो। ऐसी जो चेष्टा, ऐसा जो श्रम, ऐसी जो निरंतर साधना है, वह साधना व्यक्ति को मूर्च्छा से जागरण की दुनिया में ले जाती है और अनकांशस से कांशस में ले जाती है।
जितना व्यक्ति जागता है उतना अनकांशस मिटने लगता है, अचेतन मिटने लगता है, अचेतन समाप्त होने लगता है। और जितना व्यक्ति सोता है उतना अचेतन में डूबने लगता है। हमारे भीतर काफी गहरा अचेतन है। अगर दस हिस्से करें मन के, तो नौ हिस्सा अचेतन है, अनकांशस है, एक हिस्सा चेतन है। जब हम शराब पी लेते हैं तो वह भी अचेतन हो जाता है। जब हम रात सो जाते हैं तो वह भी अचेतन हो जाता है। जब हम सेक्स में, काम में पीड़ित होकर पागल हो जाते हैं तब वह फिर चेतन सो जाता है। वह चेतन सो जाता है और अब हम "पूरा का पूरा ब्लाक" अचेतन के ही हो जाते हैं। जब हम जागते हैं तो चेतन बढ़ता है। और जब हम चौबीस घंटे जाग कर जीते हैं तो चेतन गहरा होने लगता है।
जिस दिन पूरा मन, पूरा मानस चेतन हो जाता है, एक कोना भी नहीं रह जाता
जो अनकांशस है, अचेतन है; मेरे भीतर एक भी चीज नहीं रह जाती जिसे मैं नहीं जानता हूं, जो मेरे होश में नहीं है; मैं एक भी काम ऐसा नहीं करता हूं जिससे मुझे कहना पड़े कि मैंने अनजाने कुछ कर दिया, मुझे पता नहीं था; एक शब्द नहीं बोलता हूं, जो मैंने नहीं बोला है--तब फिर जीवन में एक क्रांति होनी शुरू हो जाती है। एक नया ही व्यक्ति जन्म ले लेता है। और ऐसा व्यक्ति आनंद को आकर्षित करता है। ऐसा व्यक्ति आनंद को बुलाता है। वह जो भी करता है आनंद ही आता है। वह जो भी करता है, उससे प्रेम ही बहता है। वह जो भी करता है उससे सदभावना ही उठती है। वह जो भी करता है, सुगंध ही बहती है। और ध्यान रहे, जो हम से बहता है, वही हम में आता है।
वह प्रभु को कैसे स्वीकार करे, दुखी चित्त माने ही कैसे कि प्रभु भी
हो सकता है, परमात्मा भी हो सकता है? दुख तो इनकार ही करेगा। दुख तो कहेगा, कुछ भी नहीं है। दुख तो कहेगा, शुभ असंभव है। दुख तो कहेगा, सत्य हो नहीं सकता; क्योंकि दुख इतना बड़ा है कि इस दुख से तालमेल कैसा है ईश्वर का? मूर्च्छा इनकार करेगी परमात्मा से। और जैसे ही व्यक्ति जागा, परमात्मा ही रह जाएगा। और कण-कण में वही दिखाई पड़ने लगेगा। क्योंकि जिसे, सब तरफ से आनंद मिल रहा हो, जो सब तरफ से आनंद में जी रहा हो, जिसका कण-कण आनंद में नाच रहा हो, जिसकी श्वास-श्वास नृत्य कर रही हो, वह कैसे माने यह कि यह जगत सिर्फ पदार्थ है, कि सिर्फ मिट्टी-पत्थर से बना है, हवा-पानी से बना है? नहीं मान सकता। यह आनंद की पुलक उसे कह रही है कि इस जगत के बहुत गहरे में आनंद का ही स्रोत होना चाहिए।
जो व्यक्ति मूर्च्छित है, वह कैसे माने कि जगत में चेतना है, कांशसनेस है? कोई चेतन शक्ति है जीवन को सब तरफ से आवेष्ठित किए हुए है--कोई ब्रह्म, कैसे माने? जो खुद मूर्च्छित है, वह कैसे माने? वह यही मान सकता है कि सब पदार्थ है, सब मैटर है। असल में मूर्च्छा मान ही नहीं सकती कि चेतना कहीं है। वह मूर्च्छा कहेगी कि सब पदार्थ है, सब मैटर है। लेकिन जब कोई जागता है तब वह पाता है कि पदार्थ तो कहीं भी नहीं है।
जिसे हम पदार्थ कहते हैं वह भी बहुत गहरे में चेतन है। यहां कुछ भी अचेतन नहीं है, मैटर है ही नहीं। पदार्थ असत्य है, चेतना ही सत्य है। कहीं सोई है बहुत, तो पदार्थ मालूम पड़ रही है। कहीं जाग गई है तो मनुष्य मालूम पड़ रही है। कहीं पूर्ण जाग गई है तो परमात्मा मालूम पड़ रही है। ये सब चेतना के ही सोने और जागने के क्रम हैं। पत्थर गहरे में सोया है। वह सोई हुई आत्मा है। आदमी थोड़ा सा जागा है। वह थोड़ी सी जागी हुई आत्मा है। परमात्मा पूरा जागा है। वह पूरी जागी हुई आत्मा है। बस जो भेद हैं जगत में वह सोने और जागने के हैं, और इसलिए कोई भी ट्रांसफार्मेशन, कोई भी रूपांतरण, मूर्च्छा से जागने में जाने का द्वार है; जागने में जाने की विधि है। रूपांतरण का एक ही अर्थ है कि कैसे हम जागे हुए जीएं, कैसे हम सोए हुए न रह जाएं। और अगर, कोई दिन में जाग सके तो धीरे-धीरे रात में भी जाग जाता है। वह

कृष्ण ठीक कहते हैं गीता में कि जब सब सोते हैं तब भी योगी जागता है। जब सबके लिए निद्रा आ गई तब भी उसे दिवस है! वह ठीक कहते हैं, उस ठीक का मतलब यह है। सच ही जो दिन भर जाग कर जीआ है, धीरे-धीरे रात में भी जागा हुआ ही सोता है।
हम सोए हुए ही जागते हैं। हम जागे हुए मालूम पड़ रहे हैं लेकिन भीतर सब सोया हुआ है। चले जा रहे हैं रास्ते पर, दफ्तर में काम कर रहे हैं, सब हो रहा है, भीतर सोए हुए हैं। जो जाग गया है, वह रात सोएगा भी, बिस्तर पर भी जाएगा, आंख भी बंद करेगा, सो भी गया है, लेकिन भीतर जागा ही रहेगा। वह यह भी जानता रहेगा कि मैं सो रहा हूं। ऐसा जागा हुआ व्यक्ति स्वप्न नहीं देखेगा। स्वप्न विलीन हो जाएगा।
ऐसा जागा हुआ व्यक्ति निरंतर विचार की तरंगों से नहीं घिरा होगा, वह विलीन हो जाएगा। विचार उसके लिए अभिव्यक्ति भर रह जाएगा। जब उसे किसी से कहना है, कम्युनिकेट करना है, तब वह विचार का उपयोग करेगा। विचार उसके लिए सिर्फ साधन है संवाद का, सोचने का नहीं--सोचेगा नहीं, विचारेगा नहीं। जब नहीं संवाद कर रहा है तब वह चुप होगा, मौन होगा। विचार खो जाएंगे, स्वप्न खो जाएंगे।
और जब भीतर से विचार और स्वप्न सब खो जाते हैं तो मन ही खो जाता है। तब
एक नो-माइंड की--जागा हुआ आदमी एक स्थिति में पहुंचता है, जिसे स्टेट ऑफ नो-माइंड कहें, अ-मन की स्थिति--मन नहीं है तब! और जब मन नहीं होता तभी हमें पता चलता है आत्मा का। तभी हम उसे जानते हैं जो हमारे गहरे से गहरे में बैठा हुआ है। वहां न कभी दुख पहुंचा, वहां न कभी कोई तरंग पहुंची, वहां न कभी कोई लहर पहुंची, वहां न कभी कोई मृत्यु पहुंची--वहां शाश्वत, अनंत जीवन वहां है। उसको हम एक बार जान लें तो फिर सब तरफ वही जीवन है, एक दफा रिकग्नाइज कर लें, पहचान लें कि क्या है अनंत जीवन, क्या है आत्मा, तो फिर वह हमें सब जगह दिखाई पड़ने लग जाएगी। क्योंकि हम उसे पहचानते नहीं, इसलिए वह कहीं दिखाई नहीं पड़ती। फिर मृत्यु से बड़ा झूठ कुछ भी नहीं है। पदार्थ और मृत्यु दो बड़े असत्य हैं। परमात्मा और अमृत्यु दो बड़े सत्य हैं। लेकिन सोए हुए जीवन में पदार्थ और मृत्यु सबसे बड़े सत्य हैं और जागे हुए जीवन में परमात्मा और अमृत्यु सबसे बड़े सत्य हो जाते हैं।
और ध्यान रहे, ये ही छोटा सा मार्ग, जो हमें नींद से जागने में ले जाता है, मौलिक अर्थों में धर्म है--यही छोटा सा मार्ग! न तो मंदिरों से प्रयोजन है, न क्रिया-कांडों से, यज्ञ-हवनों से। इन सबसे कोई मतलब नहीं है। ये सब सोए हुए आदमी की ही तरकीबें हैं। ये सब सोए हुए आदमी के ही रिचुअल हैं। वह मंदिर में प्रार्थना कर रहा है, हवन-कीर्तन कर रहा है, मंत्र पढ़ रहा है, राम-राम जप रहा है, ये सब सोए हुए आदमी के ही उद्गम हैं।
यानी सोया हुआ आदमी भी एक तरह का धर्म निर्मित करता है। सोया हुआ आदमी
भी धर्म निर्मित करता है। और सोया हुआ आदमी जब धर्म निर्मित करता है तो धर्म झगड़ों का कारण बन जाता है--हिंदू, मुसलमान, ईसाई। ये सब रिचुअल के फर्क हैं, धर्म के नहीं। क्योंकि एक सोया हुआ आदमी एक तरह का मंदिर बनाता है; क्योंकि मंदिर क्या है, यह तो उसे पता ही नहीं। वह खुद ही मंदिर बना रहा है। दूसरे सोए हुए दस आदमी मिल कर एक मस्जिद बनाते हैं, तीसरे दस आदमी एक चर्च बनाते हैं, फिर वे तीनों लड़ते हैं कि हमारा मंदिर सही है। हमारा मंदिर असली मंदिर है। जो इस मंदिर में नहीं आएगा वह नर्क जाएगा।
ये सोए हुए आदमी सिद्धांत भी रचते हैं, सिस्टम्स भी बनाते हैं। यह सोया हुआ आदमी भी, एक्सप्लेन करने की, व्याख्या करने की कोशिश में लगा हुआ है। और सोए हुए आदमी के न व्याख्याओं का कोई मतलब है, न उसके धर्मों का कोई मतलब है, न उसके शास्त्रों का कोई मतलब है, न उसके मंदिरों का कोई मतलब है, क्योंकि सोए हुए आदमी के किसी कृत्य का कोई मतलब नहीं है।
सवाल यह है कि एक सोया आदमी है! और वह कुछ भी करता है, नहीं करता है तो बराबर वही है, करता है तो भी बराबर वही है। सोया हुआ आदमी सोया हुआ आदमी है। वह चाहे प्रार्थना करे, और चाहे न करे, दोनों में कोई फर्क नहीं पड़ता है! असली सवाल यह नहीं है कि सोया हुआ आदमी क्या करे और क्या न करे! असली सवाल यह है कि सोया हुआ आदमी सोया हुआ न रह जाए। इस बात को ठीक से समझ लेना

चाहिए। नहीं तो ट्रांसफार्मेशन के नाम से हजार तरह का पागलपन चलता है। मूर्तियां खड़ी हैं, आदमी हाथ-पैर जोड़े खड़े हैं, प्रार्थनाएं कर रहे हैं, घी और गेहूं फेंक कर आग जला रहे हैं। आग के मंदिर बनाए हुए हैं जहां आग कभी नहीं बुझने दे रहे हैं। चल रहा है, हजार-हजार तरह का उपाय चल रहा है। लेकिन सोया हुआ आदमी कुछ भी नहीं कर सकता। सोया हुआ आदमी जो भी करेगा वह उसकी नींद का ही कृत्य होने वाला है। और नींद का कोई कृत्य, जागने में रूपांतरित नहीं हो सकता है।
नहीं, हमें तो नींद ही तोड़नी पड़ेगी। सीधी नींद तोड़नी पड़ेगी। सोए हुए कुछ करने का अर्थ नहीं है, सोना ही छोड़ना पड़ेगा। और इसके लिए एक ही रास्ता है कि हम जो भी करें, वह हम दो तरह से कर सकते हैं। रास्ते पर हम चल रहे हैं, हम इस भांति चल सकते हैं कि हमें चलने का पता ही न हो और हम इस भांति भी चल सकते हैं कि चलने का हमें एक-एक कदम का पता हो, बोध हो, होश हो। खाना खा रहे हैं तो ऐसे खा सकते हैं जैसे मशीन खा रही हो। ऐसे ही हम खाते हैं। हाथ की आदत है, वह कौर बना लेता है। मुंह की आदत है, वह नीचे सरका देता है। और यह सब काम हम कर लेते हैं। स्नान कर रहे हैं और पानी डाल लेते हैं मशीन की भांति, मैकेनिकल।
एक-एक कृत्य को जो भी हम कर रहे हैं--छोटे से छोटे और बड़े से बड़ा, वह हम कैसे होशपूर्वक करें, बस इतना ही महत्वपूर्ण है। और अगर हम इसे होशपूर्वक करने लगें तो धीरे-धीरे, धीरे-धीरे नींद टूटती है और जागरण आता है। और एक दिन ऐसी घटना घटती है कि हम पूरे जागे हुए हो जाते हैं। इस जागरण की ही वजह से ही सिद्धार्थ गौतम को बुद्ध का नाम दिया। बुद्ध का मतलब है, द अवेकंड; वह जो जाग गया--वह आदमी, जो जाग गया!
तो जैसे ही कोई व्यक्ति जाग जाएगा वैसे ही वह एक नये जगत में प्रवेश
कर गया। वह जगत शांति का, आनंद का, प्रेम का, ब्लेस का, सत्य का, आलोक का जगत है। उस पूरे जगत का नाम कोई कुछ भी दे--मोक्ष कहे, निर्वाण कहे, परमात्मा कहे, ब्रह्म कहे, जो चाहे कोई कुछ कहे। उस जगत का कोई भी नाम नहीं है इसलिए कोई भी नाम काम कर देगा। लेकिन सोए आदमियों की दुनिया भी नामों पर लड़ रही है, रिचुअल्स पर लड़ रही है, क्रियाकांड पर लड़ रही है।
मेरी दृष्टि में एक ही धर्म है, और वह धर्म है--जागने का धर्म। रूपांतरण की प्रक्रिया जागे हुए जीने में है। इसे ही मैं साधना कहता हूं-- इसे ही योग!

"शिक्षाः साध्य और साधन" विषय पर प्रश्नोत्तर-शृंखला-8

शिक्षा में क्रांति
बाईसवां प्रवचन

मनोविश्लेषण, मनोजागरण और मनोसाधना

ओशो, इनफेक्ट इट इज़ नॉट रियली क्लियर टु मी व्हेदर आर वि लीविंग आर डाइंग। सर, ए.ज इट एपीयर्स टु मी देट दि सोसाइटी इन व्हिच वी लीव इज़ नॉट हेल्थी इन इट्स ट्रू सेंस एण्ड इज़ डॉमिनेटेड बाई दि कंट्रोवर्शियल इस्यूस लाइक एजुकेशन, रिलीजन एण्ड साइंस, रादर नॉट बीइंग डाइनैमिक। ए.ज आई अंडरस्टैंड सर, बिका.ज ऑफ दी.ज वेरियस कंडीशंस वी आर स्विंगिंग लाइक दि क्लाक पेंडुलम। वुड यू प्लीज सजेस्ट सम एजुकेशन रिफार्मस व्हिच शुड मेक अवर लाइव्स वर्थ लीविंग?

जीवन और मृत्यु के संबंध में एक बात सबसे पहले समझ लेनी जरूरी है और
वह यह कि जीवन है परिवर्तन, सतत परिवर्तन और मृत्यु है थिरता, अनंत थिरता। मृत्यु का अर्थ है किसी का ऐसी स्थिति में पहुंच जाना जहां फिर परिवर्तन न हो सके। और जीवन का अर्थ है, ऐसी स्थिति में बना रहना जहां परिवर्तन निरंतर हो सकता है। जो व्यक्ति जितना परिवर्तनशील है, उतना जीवित है। और जो व्यक्ति जितना थिर हो गया है, स्टैग्नेंट हो गया है, रुक गया, ठहर गया उतना ही मृत है। तो मृत्यु का और जीवन का अर्थ चाहे व्यक्ति के संबंध में, चाहे समाज के संबंध में, चाहे सभ्यता के संबंध में, कुछ समाज हैं जो ज्यादा मरे हुए हैं, कुछ समाज हैं जो ज्यादा जीवित हैं। कुछ सभ्यताएं हैं जो ज्यादा मरी हुई हैं। कुछ सभ्यताएं हैं जो ज्यादा जीवित हैं। लेकिन फिर भी अब तक ठीक अर्थों में मनुष्यता जीवित नहीं कही जा सकती। मनुष्यता करीब-करीब मृतप्राय है और ऐसा आज ही नहीं हो गया है, ऐसा अतीत से ही रहा है। असल में हमने जो मूल्य चुने हैं, वे मूल्य ही मृत्यु के मूल्य हैं, जीवन के मूल्य नहीं हैं। जो वैल्यूज हमने चुनी हैं, वे मार डालने वाली हैं। जीवन को पुलक देने वाली नहीं हैं। जैसे मनुष्यता के सारे आधार अतीत के आदर पर खड़े हुए हैं--जो बीत गया, उसका सम्मान और आदर। जो बीत गया है, वह मर चुका है। मरे हुए का बहुत आदर नए के जन्म देने में बाधा बनता है।
आदर का, सम्मान का भाव तो होना चाहिए नये सूरज के लिए, नया सूरज जो उग रहा है उसके लिए। जो डूब गया सूरज, सूर्यास्त हो चुका, उसके लिए अगर बहुत आदर जगाया जाए तो व्यक्ति को, समाज को मारने वाला सिद्ध होता है। जो व्यक्ति और जो समाज अतीतोन्मुख है, चित्त का केंद्र अतीत है, बीत गया, मर चुका--वह एक अर्थों में मरघट में जी रहा है। जहां जीवन का जन्म हो रहा है भविष्य में, जहां सूरज उगेंगे, जहां नया जीवन खिलेगा, जहां नई संभावनाएं विकसित होंगी, वहां हम नहीं जी रहे हैं। हम जी रहे हैं वहां, जहां संभावनाएं समाप्त हो गई हैं, जहां मरघट है, जहां कब्रें हैं, जहां चिताएं जल गईं, जो बीत चुका, ना हो चुका, समाप्त हो चुका, वहां हमारा चित्त केंद्रित है। तो यह जीवन को गति देने वाला मूल्य न हुआ।
जीवन को गति देने वाला मूल्य तो तब होगा जब हम समाज को भविष्योन्मुख बना सकें, फ्यूचर-सेंटर्ड बना सकें। अभी जो समाज है, वह पास्ट-सेंटर्ड है। ऐसे ही जो हमें ज्ञात है, जो नोन है, जो हमारा ज्ञान बन गया, हम उसी से चिपक कर जीने को बड़ा मूल्यवान मानते रहे हैं। वेद है, गीता है, कुरान है, बाईबल है, महावीर है, बुद्ध है, क्राइस्ट है, कृष्ण है, कनफ्यूशियस है, ये वे नाम हैं जो मनुष्य जाति जान चुकी। दैट व्हिच है.ज बिकम नोन और और हम इसी को पकड़ कर रह जाएं तो वह जो अननोन है, अज्ञात है उसे हम कभी भी नहीं खोल पाएंगे। क्योंकि ज्ञात से जाने वाला कोई भी मार्ग अज्ञात में नहीं ले जाता। अज्ञात में जाना हो तो ज्ञात को छोड़ने की निरंतर क्षमता चाहिए। जो हमने जान लिया उसे छोड़ने की हिम्मत चाहिए। तब हम उसे जान सकते हैं जो अभी नहीं जाना गया है। और जो हमने जाना है, वह इतना कम है उसके मुकाबले जो हमने नहीं जाना है कि इसे पकड़ लेना अपने हाथ से मरने का उपाय खोजना है। लेकिन मनुष्य निरंतर ज्ञान को बहुत मूल्य देता रहा है। ज्ञान यानी जो जाना जा चुका है और अगर जाने जा चुके को हम बहुत मूल्य देंगे--वेदों को, कुरानों को पकड़

लेंगे तो जो नहीं जाना जा सका है, उसे हम कभी भी न जान सकेंगे और जीवन है उसको निरंतर जानने में जो नहीं जाना गया है। जो अज्ञात है उसे उघाड़ने में, उसे डिसकवर करने में, उसे अनावृत करने में।
तो ज्ञान का मूल्य कम होना चाहिए। ज्ञान की पकड़ कम होनी चाहिए। अज्ञान का बोध ज्यादा होना चाहिए। यानी मैं यह कह रहा हूं कि जीवन के पक्ष में अज्ञान का बोध, दि कांशियसनेस आफ इग्नोरेंस कि कितना हम हैं जो नहीं जानते हैं, यह तो जीवन को विकास देगा। क्योंकि नहीं जानते हैं तो जानें और अगर हमने ज्ञान को जो छोटा सा कोना जान लिया है, उसको महत्वपूर्ण समझ लिया और उसे पकड़ लिया और ज्ञानी बन कर बैठ गए तो मर गए।
तो जो समाज जितने ज्यादा अतीत के ज्ञान को पकड़ कर बैठ गए हैं वे उतने
ही मरे हुए समाज हो जाएंगे। लेकिन जो समाज अनजान, अज्ञात, अननोन में प्रवेश कर रहे हैं वे उतने जीवित समाज होंगे। निश्चित ही ज्ञान को पकड़ लेना सुविधापूर्ण है, कनवीनिएंट है, कंफर्टेबल भी है। अज्ञान का बोध बहुत इनकनवीनिएंट है। क्योंकि यह जानना कि मैं क्या नहीं जानता हूं। एक यात्रा पर ले जाएगा मुझे जहां मुझे जानने के लिए श्रम करना पड़ेगा और यह मान लेना कि यह हम जानते हैं, सब यात्रा का अंत हो गया, मैं जहां हूं वहीं ठहर जाता हूं। यह कष्टपूर्ण नहीं है और जीवित होने में कष्ट छिपा है। मरना बड़ा कनवीनिएंट है। असल में मौत बड़ी सुखद है, क्योंकि सब चिंताओं से, सब खोजों से, जीवन के बोझ से, जीवन के तनाव से, श्वास लेने की पीड़ा और कष्ट से भी मुक्त कर देती है। तो हम जाने अनजाने सुख और सुविधा की तलाश में मरने का इंतजाम कर लेते हैं और एक डाइंग कल्चर पैदा हो जाता है। जो दिखता भर है कि जी रहा है, लेकिन मरता है।
अगर हमें जीवंत संस्कृति चाहिए तो हमें निरंतर श्रम को, नई संभावनाओं को, नये कष्टों को, नये तपों को स्वीकार करने का, बल्कि आमंत्रण देने का मन होना चाहिए। अज्ञान का बोध चाहिए, ज्ञान का बोझ नहीं। ज्ञान का बोझ मार डालता है। इसलिए ज्ञानियों से ज्यादा मरे हुए आदमी खोजना मुश्किल है, डेड माइंडस्। पंडितों से ज्यादा मरा हुआ मस्तिष्क होता ही नहीं... । उसके पास कुछ भी जीवन नहीं, और जितना व्यक्ति खोज कर रहा होगा, जीवंत होगा, ज्ञान से मुक्त होगा, अज्ञान के बोध से भरा होगा, उतना अज्ञात में प्रवेश करता रहेगा।
अब यह बड़े मजे की बात है, जिनके मन में ज्ञान का बोझ जितना ज्यादा है,
वे उतना ही कम जान पाएंगे। यह उल्टा मालूम पड़ता है। ज्ञान की पकड़ जिनकी जितनी ज्यादा है, वे जानने की दुनिया में उतना ही कम जान पाएंगे। जिनकी ज्ञान पर कोई पकड़ नहीं है, जो ज्ञान से मुक्त हैं और जिन्हें अज्ञान का बोध है, वे विनम्र होंगे और जानने की यात्रा में लगे रहेंगे और उनके चित्त को अगर निरंतर जीवित रहना हो तो जो वे खुद जान लेंगे, उसे भी छोड़ते चले जाएंगे। उससे भी वे बोझ से नहीं भर जाएंगे। यानि गीता और कुरान ही मुझे बोझ से नहीं भर सकते, मैंने भी पिछले तीस-चालीस वर्षों में जो जाना है, अगर उसे भी मैं पकड़ लूं, अपने अनुभव को भी अगर मैं पकड़ लूं, अगर उसके लिए भी मैं का भाव पकड़ लूं कि मैं जान गया तो फिर आने वाले दिन मरे हुए होंगे, फिर मैं और नहीं जान पाऊंगा। इसलिए ज्ञान की प्रक्रिया का सिक्रेट और राज यह है कि जानूं और छोड़ूं ताकि तुम निरंतर जानते रहो। जानो और जाने दो ताकि तुम निरंतर ओपन खुले और मुक्त रहो ताकि द्वार से जो और नया आ सके वह आए। जानो और छोड़ दो, लेकिन हम आम तौर से जानते ही हैं और पकड़ते हैं। बल्कि मजा यह है कि जो हम नहीं भी जानते उसको भी जानने की तरह पकड़ लेते हैं। हमने ज्ञान को तिजोड़ी बना रखा है कि जानो और ताला लगा के बंद करलो, यह संपत्ति है। और जिस ज्ञान को हम पकड़ लेते हैं, वह पत्थर हो जाता है, मर जाता है।
ज्ञान तो निरंतर जानने में है। यानि इसे ऐेसा समझना चाहिए, नॉलेज मूल्यवान नहीं है, नोइंग मूल्यवान है। ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है। जानने का मूल्य है, क्योंकि ज्ञान का मतलब है, पूरा हो गया, वृत क्लोज हो गया और जानने का अर्थ है, ओपनिंग है, जान रहे हैं। जान रहे हैं, जानते जा रहे हैं और ऐसी कोई घड़ी न आए, जहां यह भ्रम पैदा हो जाए कि जान लिया।

जिस समाज को, जिस व्यक्ति को, जिस सभ्यता को यह ख्याल आ गया कि जान लिया, ह मर गया। भारत इसी तरह मरा। इसको हजारों साल से यह ख्याल है कि जान लिया, पा लिया सब, सर्वज्ञ हो गए हम, जगद्गुरु हो गए हम। जो जानना था वह जान लिया। इसलिए आइंस्टीन भारत में पैदा नहीं होता। कैसे होगा? यहां नहीं पैदा हो सकता। यहां तो हम बहुत पहले ही जानने का काम पूरा कर चुके हैं। वह तो गीता के वक्त ही रुक गया। वह तो बुद्ध और महावीर पर भी हमने दरवाजे बंद कर दिए। जानना पूरा हो चुका। अगर बुद्ध पर जानना पूरा हो चुका है तो बुद्ध के बाद के पच्चीस सौ वर्ष जीवित कैसे हो सकते? मरे हुए होंगे और फिर बुद्ध के पैदा होने की संभावना नहीं हो सकती। क्योंकि बुद्ध तो उसी पीड़ा में से और चिंता में से पैदा होते हैं जो जानने की खोज है। और हम, हम तो शांत होकर बैठ गए हैं क्योकि जान लिया गया है।
तो मैं यह कह रहा हूं कि संस्कृति, सभ्यता, समाज मरा हुआ हो जाता है, अगर उसके मूल्य मरने के हों। जैसे नोइंग का मूल्य तो जीवन का है, नालेज का मूल्य मरने का है। लर्निंग का मूल्य तो जीने का है, लर्नड होने का मूल्य मर जाने का है। पांडित्य मार डालता है। ज्ञान की खोज निरंतर-निरंतर सतत हो। अगर कोई व्यक्ति मरने के आखिरी क्षण तक भी जानने को आतुर है तो वह मरते क्षण में भी जीवित है और मर कर भी जीवित होगा।
वह जानने की जो पुलक और आतुरता है, वही चेतना का लक्षण है और जिस चेतना
को ऐसा लगा कि जान लिया, उस पर जंग लग जाता है। ऐसे ही हमने और बहुत से मूल्य पकड़ रखे हैं, जो मूल्य व्यक्ति की हत्या करने में सहयोगी हैं, जैसे डिसिप्लिन का बहुत मूल्य है, अनुशासन का। अनुशासन से ज्यादा मारने वाली कोई चीज नहीं है। क्योंकि अनुशासन का मतलब यह है कि जो कहा जाए वह करना है। उस पर सोचना नहीं है। इसलिए हम सैनिक को अनुशासन सिखाते हैं, क्योंकि उससे हमने ऐसे काम लेने हैं कि अगर उसने सोचा तो वे काम वह कभी कर न सकेगा। जिस आदमी ने हीरोशीमा पर एटमबंब गिराया, वह एटमबंब गिरा कर वापस लौटा और सो गया। और उससे सुबह जब किसी ने पूछा कि एक लाख बीस हजार लोग मर गए, तुम रात सो सके? उसने कहा, मैं बड़ी शांति से सोया क्योंकि मैंने आज्ञा पूरी कर दी और बात खतम हो गई। एक आज्ञा मुझे मिली थी कि जाऊं और एटमबंब गिराऊं और वापिस लौट आऊं। वह काम मैंने पूरा कर दिया। आज्ञा पूरी हो गई। मैं शांति से सो सका। काम मैंने पूरा कर दिया। मेरा कर्त्तव्य निभा दिया। अब इस आदमी को अपना कर्त्तव्य निभाना कि जो पत्थर जैसी दीवाल है, उसके बाहर यह नहीं दिखाई पड़ रहा है कि एक लाख बीस हजार आदमी मरे। अगर यह आदमी थोड़ा भी सोचने वाला होता तो कहता कि मुझे गोली मार दो। लेकिन मैं एक लाख बीस हजार लोगों को मारने जाने वाला नहीं हूं। लेकिन इंतजाम कर लिया गया पहले से कि यह आदमी सोच न सके।
इसलिए मिलिट्री में, शिक्षण में हम एक आदमी को तीन-चार वर्ष तक लेफ्ट-राइट, बाएं घूमो, दाएं घूमो, आगे जाओ, पीछे जाओ जैसे बेवकूफी के काम करवाते हैं। यह जान कर करवाते हैं। यह पूरा सुव्यवस्थित है। क्योंकि जब इस तरह के फिजूल के काम एक आदमी दो चार पांच वर्ष तक करता रहता है और जब बाएं घूमने को कहा जाता है तो मशीन की तरह बाएं घूमता है, दाएं घूमने को कहा जाता है तो दाएं घूमता है। पांच छः वर्ष की निरंतर इस मूर्खतापूर्ण अभ्यास में वह आदमी मशीन हो जाता है। जब उससे कहा जाता है--गोली चलाओ, तब वह मशीन की तरह बंदूक के घोड़े पर हाथ रख कर गोली चला देता है। यह वैसा ही है जैसा लेफ्ट टर्न। यह सवाल नहीं है कि दूसरी तरफ आदमी मर रहा है, उसको मैं मारूं या न मारूं। यह सोचने की बात ही नहीं है। अनुशासन मारता है। अनुशासन इसलिए मैं मानता हूं कि मानने वाला विवेक चाहिए। विवेक बहुत और बात है। विवेक का भी एक अनुशासन होगा। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि दुनिया उच्छृंखल हो जाए। मैं यह कह रहा हूं कि विवेक का भी एक इनर डिसिप्लिन है। एक विवकपूर्ण व्यक्ति सोचेगा कि जो करने जैसा है, वह जरूर किया जाए। जो न करने जैसा है, वह कभी न किया जाए।
विवेकपूर्ण व्यक्ति का मतलब यह नहीं है कि वह हर चीज में इनकार कर देगा, विवेकपूर्ण व्यक्ति का यह मतलब है कि उसकी हां की और न की दोनो क्षमताएं बचाई गई हैं। वह न भी कह सकता है। और डिसिप्लिन्ड आदमी का मतलब

है कि उसकी न कहने की क्षमता अंत कर दी गई है। वह सिर्फ हां ही कह सकता है। और जो आदमी सिर्फ हां कह सकता है, वह आदमी आदमी ही नहीं है और उसकी हां का भी कोई मूल्य नहीं है। क्योंकि हां का भी मूल्य तभी है जब कोई न कहने में समर्थ हो। तभी हां में भी वजन है। और जो आदमी न कह ही नहीं सकता, उस आदमी के हां कहने में कोई अर्थ नहीं है। हमने उस आदमी को यंत्र बनाने का इंतजाम कर दिया। पुरानी सारी व्यवस्था मनुष्य को यांत्रिक बनाने वाली है। वह एक ऐसा अनुशासन सिखाती है, जहां कि हम जड़ मशीनों की तरह काम करते रहे। जो हमें विवेक नहीं देती, वह हमें विचार नहीं देती, विश्वास देती है, बिलीफ देती है, डिसिप्लिन देती है। वह हमें इतनी क्षमता नहीं देगी कि प्रत्येक व्यक्ति विचार करे। वह हमसे कहती है, गुरु का आदर करो। मैं मानता हूं कि जब सिखाया जाए कि गुरु का आदर करो तो यह अनुशासन हुआ। और जब यह सिखाया जाए कि जिसके प्रति तुम्हें आदर आ जाए वह गुरु है तो यह विवेक हुआ। यानी मेरे हिसाब में गुरु के प्रति आदर गलत शिक्षा है। असल बात यह है कि जिसके प्रति तुम्हें आदर आ जाए, वह गुरु हो गया। यह बिल्कुल दूसरी बात है, यह बिल्कुल ही भिन्न बात है।
पुरानी शिक्षा कहती है कि पत्नी को प्रेम करो। यह अनुशासन की बात है।
और मैं मानता हूं कि जिससे तुम्हारा प्रेम हो वह पत्नी बनाने योग्य है। यह विवेक की बात है। यह बहुत भिन्न है। इसमें एक जीवन होगा क्योंकि प्रेम में एक जीवन है और प्रेम से अगर पत्नी निकले तो इस पत्नी से जो संबंध होगा उसमें भी जीवन होगा। पुरानी शिक्षा कहती है कि पत्नी पहले बनाओ और फिर जो पत्नी है, कर्तव्य के कारण प्रेम करो, क्योंकि वह तुम्हारी पत्नी है। अब यह प्रेम मरा हुआ होगा। यह पैदा ही होने वाला नहीं है, क्योंकि प्रेम कोई ऐसी चीज नहीं है कि बाएं घूमो, दाएं घूमो जैसी चीज नहीं है कि कहो कि प्रेम करो और आदमी प्रेम करने लगे। प्रेम किसी की आज्ञा से नहीं हो सकता, न किसी शास्त्र के नियम से हो सकता है। प्रेम तो उद्भूत हो। तो मेरा मानना है कि प्रेम इतनी अदभुत घटना है कि वह घटे तो उसके पीछे कोई पत्नी हो जाए, पति हो जाए, समझ में आता है। लेकिन पति पत्नी कोई पहले हो जाए और फिर प्रेम नियम के अनुसार किया जाए तो प्रेम मुर्दा होगा और उस मुर्दे प्रेम के साथ पति भी मुर्दा होगा, पत्नी भी मुर्दा होगी।
इसलिए हमारा परिवार जो है वह एक डेड एंटायटी है। एक मरा हुआ अंग है और इसलिए हमारे परिवार के इस मरे हुए अंग होने की वजह से अगर इस परिवार में अगर जीवित व्यक्ति पैदा हो जाए तो विद्रोह अनिवार्य है। विद्रोह का कारण वह विद्रोही व्यक्ति नहीं है, यह परिवार की डेडनेस है। यह तो मरा हुआ अंग है कि इसके भीतर या तो मरना पड़े या बगावत करनी पड़े। परिवार चाहिए जीवंत और जीवंत परिवार का नियम अनुशासन नहीं होगा, विवेक होगा। और इसी भांति मैं जीवन के सारे तत्वों के संबंध में मानता हूं।
शिक्षक स्कूल में कहता हो कि हम जो कहते हैं, वही सही है तो यह शिक्षक शिष्यों का दुश्मन है। जो शिक्षक यह कहता है कि जो मैं कहता हूं वही सही है, इससे बड़ा दुश्मन शिक्षक नहीं हो सकता, क्योंकि यह बच्चे में विचार करने की क्षमता को कुंठित कर रहा है। यह हत्या कर रहा है बच्चे की। यह कह रहा है कि तुम्हें सोचने की जरूरत नहीं, जो मैं कहता हूं, वह सही है। शिक्षक तो होना चाहिए बुद्ध जैसा व्यक्ति।
बुद्ध लोगों से कहते हैं कि तुम इसलिए मेरी बात मत मानना कि बुद्ध हूं, जागा हुआ हूं। तुम इसलिए भी मेरी बात मत मानना कि बहुत लोग मेरी बात मानते हैं। तुम इसलिए भी मेरी बात मत मानना कि मेरी बात शास्त्र-सम्मत है। तुम इसलिए भी मेरी बात मत मानना कि यह आदमी आचरणवान है, साधु है। तुम इसलिए भी मेरी बात मत मानना कि तुम मेरे व्यक्तित्व से सम्मोहित हो गए हो। तुम सोचना और तुम्हें ठीक लगे तो ही मानना। अब यह आदमी शिक्षक का अर्थ पूरा कर रहा है, क्योंकि यह थोप नहीं रहा, बल्कि आप भी भूल से न थोप लें, उसकी भी सब व्यवस्था कर रहा है कि आप इस इस तरह, इस तरह छोड़ देना, यह यह मत मानना। एक ऐसा शिक्षक चाहिए, जो आग्रहपूर्ण न हो मनवाने के लिए, जो आग्रहपूर्ण हो खोज के लिए और जो विद्यार्थी के साथ स्वयं मिल कर खोज पर निकल जाने की तत्परता दिखाए कि हम आएं और खोजें। हम सोचें और विद्यार्थी को विश्वास न

दें बल्कि उसकी विचार की क्षमता को विकसित कर दें। विचार न दें, विचारणा दें। थोट्स न दें, थिंकिंग दें। तो जो समाज, संस्कृति विकसित होगी वह जीवंत होगी। नहीं तो जो समाज और संस्कृति बनेगी वह मृत होगी।
अब तक जो समाज बना है, वह मरा हुआ है, क्योंकि उसके मूल्य मारने वाले हैं। उसके मूल्य जिलाने वाले नहीं हैं। और अब तक जो समाज रहा है वह भयभीत है जीवन से। वह जीवन से ही डरा हुआ है, वह अत्यंत भयातुर है। वह किसी व्यक्ति को जीवंत नहीं देखना चाहता। क्योंकि जीवंत व्यक्ति के साथ कुछे खतरे अनिवार्य रूप से आने शुरू होते हैं। जैसे जीवंत व्यक्ति, व्यक्ति होगा, समाज का अंग नहीं। और समाज व्यक्तियों को पसंद नहीं करता। समाज पसंद करता है अंगों को, जैसे एक बड़े यंत्र में छोटा सा पुर्जा लगा है। बस समाज चाहता है कि व्यक्ति की हैसियत पुर्जे की हो। वह स्वयं न हो। वह अपनी हैसियत से खड़ा न हो जाए। समाज डरता है कि अगर व्यक्ति होंगे तो समाज कहां होगा! तो समाज व्यक्तियों को मारने का उपाय करता है। और व्यक्ति ही जीवित हो सकते हैं, समाज तो जीवित हो नहीं सकता, क्योंकि समाज तो सिर्फ एक व्यवस्था है।
व्यवस्था सदा मृत होती है, उसके भीतर जीवंत व्यक्ति कहां! और समाज मारता है व्यक्ति को, वह कभी नहीं चाहता कि इंडिविजुअल्स हों। बल्कि जब भी कभी कोई व्यक्ति पैदा होगा, तभी समाज मुश्किल में पड़ता है। कोई सुकरात पैदा हो जाए तो समाज जहर देगा। और समाज यह आरोप लगाएगा कि यह आदमी समाज को विच्छिन्न कर देगा, अराजकता पैदा कर देगा। यह सब तोड़ देगा। क्राइस्ट पैदा हो तो सूली पर लटकाना पड़ेगा, क्योंकि यह आदमी व्यक्ति होने की कोशिश कर रहा है। यह, यह कह रहा है कि मैं सोचूंगा। मैं जीऊंगा। तुम मुझे जीने के सूत्र मत दो। मैं प्रेम करूंगा, तुम मुझे मत समझाओ कि किसको प्रेम करूं। मैं आदर दूंगा, लेकिन तुम तय मत करो कि मैं किसको आदर दूं। मैं तुमसे आज्ञा नहीं चाहता। मुझे तुम हैसियत दो अपनी। समाज की बड़ी व्यवस्था घबड़ाती है इससे कि व्यक्ति पैदा हो जाए। इसलिए पुराना समाज मरा हुआ समाज था।
अगर जीवंत समाज पैदा करना है तो व्यक्ति को समाज का अंग नहीं बनाना है। व्यक्ति को परिपूर्ण मुक्त और इकाई बनाना है, यूनिट इन इटसेल्फ। और समाज होगा इन व्यक्तियों का अंतर-संबंध। इस बात को समझ लेना है ठीक तरह से। कल तक समाज था महत्वपूर्ण, व्यक्ति थे उसके अंग। यह मरे हुए समाज का लक्षण है। समाज होगा महत्वपूर्ण, व्यक्ति होंगे उसके अंग। जीवंत समाज का यह लक्षण होगा, व्यक्ति होंगे महत्वपूर्ण, समाज होगा सिर्फ उनका अंतर-संबंध। समाज होगा उनके बीच का अंतर-संबंध। जीवंत व्यक्तियों के बीच का संबंध समाज होगी, इंटर रिलेशनशिप। व्यक्ति अंग नहीं होगा। व्यक्ति स्वतंत्र इकाई होगा। और समाज स्वतंत्र इकाईओं के बीच का संबंध होगा। कल तक व्यक्ति स्वतंत्र इकाई न था। स्वतंत्र इकाई थी समाज और व्यक्ति था उसका अंग। समाज जैसा तय करता था, वैसा व्यक्ति को जीना पड़ता था।
जीवंत समाज का लक्षण यह होगा कि व्यक्ति जैसा सोचेंगे वैसा जीएंगे और उनके जीने की इस लंबी प्रक्रिया से जो निर्मित होगा वह समाज होगा। समाज तय नहीं करेगा, व्यक्ति के जीवन को। व्यक्ति जीएंगे और इनके जीने के अंतर-संबंधों से जो निर्मित हो जाएगी व्यवस्था, जो सहज फलित होगी, वह समाज होगा। आने वाले जगत में समाज गौण होगा, व्यक्ति प्रमुख होगा, अगर जीवंत समाज बनाना है। और अगर मरा हुआ समाज बनाना है तो व्यक्ति को गौण रखना और समाज को महत्वपूर्ण रखना। लेकिन अब तक यही था, अब तक यही था और पुरानी दुनिया में बहुत आसान भी था, व्यक्ति को मार डालना। नई दुनिया में बहुत मुश्किल होगा।
जैसे अगर हम हजार साल पीछे लौट जाएं एक गांव, तो इस गांव की सारी व्यवस्था ऐसी है कि व्यक्ति होकर कोई जी नहीं सकता--अगर एक आदमी व्यक्ति होने की कोशिश करे छोटी-मोटी बातों में, बड़ी बातें तो बहुत दूर हैं। एक आदमी चोटी कटा ले तो समाज से बहिष्कृत हो जाएगा। कुएं पर पानी नहीं पी सकेगा, शादी नहीं कर सकेगा। मरेगा तो उसकी लाश को उठाने वाला कोई नहीं मिलेगा। उसका हुक्का-पानी बंद। वह किसी के घर भोजन में सम्मिलित नहीं हो सकेगा। कोई उसके घर सम्मिलित होने नहीं आएगा। अब उस छोटे से बंद गांव में

जहां से बाहर जाना भी बहुत मुश्किल है, क्योंकि व्यक्ति जमीनों से बंधित है। जमीन ही आधार थी, वही पकड़े हुए थी। मोबिलिटी कम थी, हो ही नहीं सकती थी। क्योंकि जमीन से बंधा हुआ व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता जमीन से। तो वह गांव के बाहर जाए कैसे? और गांव में जीना है उसे और कल खेत पर काम भी पड़ेगा और लोग साथ नहीं देंगे। परसों घर में कोई बीमार पड़ेगा और वैद नहीं आएगा। लड़के की शादी करनी होगी और लड़की नहीं मिलेगी और लड़की भी खोज ली तो कोई शादी में सम्मिलित नहीं होगा। कल कोई मरेगा तो उसकी लाश को मरघट पर पहुंचाने वाला कोई साथी नहीं होगा। इन छोटे से घेरों में उसको मजबूर होकर समाज के साथ जो समाज कहे, उसमें जीना पड़ता था।
आने वाली दुनिया में टेक्नालॉजी ने व्यक्ति को बड़ी मुक्तिल दी है। एक
तो बड़ी मुक्ति दी है कि अब व्यक्ति अलग होकर अकेला भी जी सकता है आज, वह समाज-बहिष्कृत है या नहीं। कोई अस्पताल उसे मना नहीं कर सकता कि हम तुम्हें दवा नहीं देंगे और जितनी टेक्नालॉजी जिस मुल्क में विकसित हो रही है, उतना व्यक्ति जमीन से मुक्त हो रहा है। जमीन से उसकी जड़ें अलग हुई जा रही हैं। इसीलिए छोटे गांव में आदमी जितना बंधा है, बड़े नगर में उससे कम बंधा है। बंबई में और कम बंधा है, न्यूयार्क में बंधंन बिल्कुल भी नहीं है।
समाज बिखर गया है, क्योंकि अपरूटड हो गया है। जहां उसकी जड़ें थीं, वहां से वह हट गया है। आज कोई यह नहीं कह सकता कि तुम कुएं से पानी नहीं भरो, क्योंकि हर आदमी के घर में नल लगा हुआ है और वह जब चाहेगा, टूंटी खोलेगा और पानी निकलेगा। आज कोई किसी का हुक्का-पानी बंद करने का सवाल नहीं है। कोई किसी का बंद करने का प्रश्न ही नहीं है। जैसे-जैसे जगत में तकनीक विकसित हुआ है, वैसे-वैसे अंतर पड़ना शुरू हुआ है। एक टेक्नोलॉजिकल रिवोल्यूशन गुजर रही है।
अब संभव है यह बात बहुत कुछ कि हम व्यक्ति को मुक्त कर सकें, स्वतंत्रता दे सकें। लेकिन दूसरी भी बात संभावना की है। यह संभावना है और अगर कोई हुकूमत और कोई समाज चाहे कि व्यक्ति को हम बिल्कुल पकड़ लें तो भी टेक्नोलॉजी उसके काम आ सकती है। जैसे समझ लें कि एक कुआं था गांव में और गांव के समाज ने इनकार कर दिया कि तुम पानी नहीं पी सकोगे तो भी रात आदमी चोरी से कुएं पर जा सकता था। नदी से पानी ला सकता था। अपने घर में एक छोटा कुआं भी खोद सकता था। लेकिन अगर राज्य तय कर ले कि फलांना आदमी के घर में पानी नहीं पहुंचना है तो आज बहुत मुश्किल हो जाएगी। आज उसका नल काट दिया जाएगा। बिजली का तार काट दिया जाएगा तो उसके घर में दिया जलना मुश्किल हो जाएगा। टेक्नालॉजी ने दोनो संभावनाएं स्पष्ट कर दी हैं। अगर कोई समाज चाहे तो व्यक्ति को बिल्कुल मार सकता है। यदि कोई समाज चाहे तो व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता दे सकता है।
यह हमारे निर्णय पर निर्भर करेगा कि हम टेक्नालॉजी का क्या उपयोग करते हैं। रूस जैसे मुल्क में टेक्नालॉजी का वह यही उपयोग कर रहे हैं। मेरी दृष्टि में रूस में फिर एक समाज पैदा हो रहा है, जैसा समाज हिंदुस्तान के गांव में हजार साल पहले था। जहां व्यक्ति की कोई हैसियत नहीं थी। व्यक्ति को बिल्कुल मारा जा सकता था। उससे भी ज्यादा रूस में यह संभावना है। उसके बच्चे को पढ़ने नहीं दिया जाएगा।
इसलिए मैं कह रहा हूं, इस खतरे के प्रति भी सचेत होना चाहिए। एक क्रांति गुजर रही है, जिसमें व्यक्ति मुक्त हो सकता है। समाज के अंग होने की उसे जरूरत नहीं है। वह अपनी हैसियत से खड़ा हो सकता है। अपनी एक दुनिया बसा सकता है--मुक्त। जैसा जीना चाहे वैसा जी सकता है। किसी के बंधन में नहीं है।

ओशो, व्हेन वी लीव इन दिस कांप्लिकेटेड सोसाइटी व्हिच इज़ बेसड आन दि डिवीजन ऑफ लेबर। एण्ड डिवीजन ऑफ लेबर रिक्वायरस ए कम्युनिकेशन। व्हेन वी रिक्वायर डिवीजन ऑफ लेबर एण्ड कम्युनिकेशन, डेफिनिटली वि हैव टु कीप सम लिंक एण्ड सम एडजस्टमेंट इज़ टु बी मेनटेंड?

बिल्कुल जरूरी है। असल में, जब भी हम जी रहे हैं, तो हम दूसरों के साथ
जी रहे हैं। जीने का अर्थ है--दूसरों के साथ। और जितना गहरा जीवन जीना हो उतना साथियों का घेरा बड़ा होना चाहिए। जो आदमी सिर्फ अपने गांव से बंध कर जी रहा है, वह बहुत कम जी रहा है। लेकिन जो आदमी पूरे जगत से जुड़ कर जी रहा है, वह बहुत जी रहा है। और जो आदमी चांद-तारों से भी जुड़ गया है, और पौधों और पक्षियों से भी जुड़ गया है, वह और बड़ा जीवन जी रहा है।
असल में परमात्मा के जीवन का मतलब ही यह है कि अब ऐसा कोई हिस्सा शेष नहीं रहा, जिसके मैं साथ नहीं हूं। सब मेरे साथ खड़ा हो गया है। तो मैं परमात्मा का जीवन जी रहा हूं। जीने का अर्थ ही है साथ। जीने का अर्थ ही है दूसरे से संबंधित होना। तो जरूर हमें व्यवस्था करनी पड़ेगी। लेकिन यह व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि इस व्यवस्था में जो जुड़ते हैं, वे मर न जाते हों। वे अपनी मुक्तता को, अपनी स्वतंत्रता को बचा पाते हों।
मैं एक स्त्री को प्रेम करूं तो मैं प्रेम ऐसा भी कर सकता हूं कि उसकी गर्दन दबा दूं और मैं प्रेम ऐसा भी कर सकता हूं कि उसकी कोई स्वतंत्रता उसमें शेष न रहे। मैं उसे पूरी तरह पजेस कर सकता हूं जैसा मैं एक कुर्सी को पजेस किए हुए हूं। मैं एक कुर्सी का जैसे मालिक हो गया हूं--जहां कुर्सी को रखता हूं, कुर्सी को वहीं बैठना पड़ता है। कुर्सी इनकार नहीं कर सकती है। मैं पत्नी को भी कुर्सी बना सकता हूं। तब भी एक संबंध होगा, लेकिन वह संबंध एक मालिक का एक वस्तु के साथ होगा। मैंने उस स्त्री को वस्तु बना दिया। मैंने उस स्त्री की आत्मा को मार डाला और उस स्त्री को एक कमोडिटी, एक सामग्री में परिवर्तित कर दिया। निश्चित ही यह बहुत सुविधापूर्ण है।
क्योंकि वस्तु के साथ मैं पूरा मालिक हो गया, वस्तु कुछ कर नहीं सकती।
यही तो किया गया था। यही किया था पुरानी संस्कृति ने कि स्त्री को बिल्कुल मार डाला था। पति को परमात्मा बना डाला था--पतियों ने ही मिल-जुल कर साजिश रच दी थी और कहा था कि स्त्री के हम पति हैं, परमात्मा हैं।
स्त्री, पति कैसा भी हो, स्त्री को उसके संबंध में विचार भी नहीं करना है। और हमने बढ़िया कहानियां रची थीं। हमने कहानी रची है सावित्री सत्यवान की। सत्यवान मर गया है तो सावित्री यम से लड़ कर उसको वापस लौटा लाई है!
मैं स्त्रियों की एक सभा में बोल रहा था तो मैंने उनसे पूछा कि तुम मुझे एकाध ऐसी कहानी भी बता सकती हो जिसमें पत्नी मर गई हो और पति लौटा लाया हो। पत्नी इधर मरी कि पति दूसरी पत्नी ले आता है। उसी पत्नी को लौटाने की जरूरत क्या है? अगर सावित्री मरती तो सत्यवान दूसरी लड़की की खोज में निकल गए होते। सत्यवान मरा है तो सावित्री उसी पति को वापस लेने की कोशिश कर रही है। सावित्री का अपना कोई व्यक्तित्व तो नहीं है, व्यक्तित्व है तो सत्यवान का है। सत्यवान जीता है तो सावित्री का जीवन है और सत्यवान मरा तो सावित्री का जीवन मरा!
निश्चित ही, परिवार बनाना होगा तो एक पुरुष एक स्त्री को प्रेम करेगा
और एक स्त्री पुरुष को प्रेम करेगी। लेकिन ये संबंध दो तरह के हो सकते हैं। एक--या तो इनमें से एक मार डाला जाए। अगर दुनिया में कल स्त्रियों का हक हो जाए और स्त्रियां जीत जाएं तो हो सकता है, पति को मार डालें। ऐसे समाज भी हैं, जहां स्त्रियों ने पतियों को मार डाला है। मैट्रनल सोसाइटीज हैं, मातृसत्तात्मक समाज हैं, तो वहां पति को बिल्कुल मार डाला है स्त्रियों ने। पति बिल्कुल नौकर की हैसियत में है, जैसा स्त्री हमारे समाजों में नौकर की हैसियत में है।
संबंध यह भी हो सकता है कि दो एक को मार डालें तब संबंध होगा। और संबंध ऐसा भी हो सकता है कि दोनों का व्यक्तित्व शेष रहे, दोनों जीवंत इकाई रहें, दोनों एक दूसरे को बांधने वाले न हों लेकिन दोनों इस निर्बंध स्थिति में एक-दूसरे को प्रेम देने वाले हों। इस निर्बंध स्थिति में जो प्रेम होगा तो मैं मानता हूं कि जीवंत होगा। अगर एक मर गया तो सब मर गया, फिर जीवंत नहीं हो सकता है। ऐसे ही समाज की सारी व्यवस्था में मेरी दृष्टि है।
जैसे मेरी दृष्टि यह है कि गुरु शिष्य को मार न डाले। इससे उलटा भी हो सकता है कि शिष्य मिल कर गुरु को मार डालें। रूस में शुरू-शुरू में क्रांति के बाद जो व्यवस्था बनी थी वह कुछ दिन चली, फिर खत्म करनी पड़ी।

वहां उन्होंने उलटा इंतजाम कर दिया। उलटा इंतजाम यह कर दिया कि क्रांति के बाद विद्यार्थियों की कमेटियां बना दीं और विद्यार्थी की कमेटी किसी शिक्षक के बाबत भी शिकायत कर दे तो बिना पूछताछ के उस शिक्षक की मुश्किल शुरू हो जाए।
मैं एक हाई स्कूल में पढ़ता था, मेरे एक शिक्षक ने कुछ अभद्र शब्द मुझसे बोल दिया। तो मैंने उनसे कहा कि अगर आप अभद्र शब्द का उपयोग कर रहे हैं तो मैं मानता हूं कि आप मुझको भी इसी तरह के शब्द का उपयोग करने का हक देंगे? यानी इतना मैं समझता हूं कि आप अभद्र शब्द के विरोध में नहीं हैं। आप उपयोग कर रहे हैं। तो इतना मैं मान लेता हूं कि आप इसके विरोध में नहीं हैं, तो मैं भी उपयोग कर सकता हूं? तो वे इतने आगबबूला हो गए कि वे गए और उन्होंने जाकर स्कूल में एक रजिस्टर हुआ करता था पनिशमेंट के लिए, उसमें मेरे नाम पांच रुपये लिख दिए। और मैंने उनके साथ अशोभन व्यवहार किया है, इसलिए मेरे लिए पांच रुपये का दंड उसमें लिख दिया।
मैं उनके पीछे गया और मैंने भी उसके नीचे पच्चीस रुपया उनके नाम दंड लिखा कि अगर विद्यार्थी अशोभन व्यवहार करे तो पांच रुपया दंड ठीक है, लेकिन अगर शिक्षक अशोभन व्यवहार करे तो कम से कम पांच गुना दंड तो होना ही चाहिए, क्योंकि वह मुझसे पांच गुना ज्यादा समझदार माना जाना चाहिए। पच्चीस रुपये मैंने लिख दिया। उस स्कूल के प्रिंसिपल ने मुझे बुला कर कहा कि तुम पागल हो गए हो? कभी किसी विद्यार्थी ने किसी शिक्षक को कभी कोई दंड किया है? मैंने कहा, न किया हो, लेकिन मैं अपने पांच रुपये तभी चुकाऊंगा, जब ये पच्चीस रुपये ले लिए जाएं। और नहीं तो पूरे स्कूल की अदालत बिठाल ली जाए, मैं अपनी चीज पेश कर दूं, वे अपनी चीज पेश कर दें कि बात क्या है! क्योंकि प्राथमिक रूप से मुझसे अभद्र व्यवहार किया गया है। और मैंने अभद्र व्यवहार किया नहीं, सिर्फ आज्ञा चाही थी कि मैं भी अभद्र व्यवहार करूं, इसकी आप आज्ञा दे दें। अभी मैंने किया नहीं, अगर यही अभद्र व्यवहार हो गया तो बात अलग है!
रूस में उन्होंने ऐसा इंतजाम किया था कि बच्चे जो शिकायत कर दें तो उस
पर कोई जांच-पड़ताल की जरूरत नहीं। जैसा हमारे यहां इंतजाम है कि शिक्षक जो शिकायत कर दे तो फिर बच्चे से पूछने की कोई जरूरत नहीं है। यह शिक्षक विद्यार्थी को मार रहा है। यहां दंड विद्यार्थी शिक्षक का नहीं कर सकते, शिक्षक ही विद्यार्थी का कर सकता है। रूस में उलटा हो गया था क्रांति के पांच सात साल तक। विद्यार्थी जो भी दंड देना चाहें शिक्षक को दे सकते हैं। और विद्यार्थी शिकायत कर दें, शिक्षक की नौकरी गई। विद्यार्थियों ने शिक्षक को मार डाला था।
लेकिन यह संबंध नहीं है। यह सिर्फ बदले हैं। शिक्षक विद्यार्थियों को मारें कि विद्यार्थी शिक्षक को मारें। पति पत्नियों को मारें कि पत्नियां पतियों को मारें। बेटे बाप को मार डालें कि बाप बेटों को मार डालें, यह सवाल नहीं है। मैं इन दोनों के विरोध में हूं। मैं इस बात के पक्ष में हूं कि कोई किसी को मार न डाले। दोनों का व्यक्तित्व शेष रहे और संबंध हों। और यह भी मेरा मानना है कि तभी संबंध हो सकते हैं। एक वस्तु से हमारे कोई संबंध होते हैं? कुर्सी से मेरा कोई संबंध है? क्या संबंध है कुर्सी से मेरा? क्योंकि कुर्सी की तरफ से तो मेरी तरफ कुछ भी नहीं आ सकता।
एक वस्तु से संबंध नहीं हो सकते, व्यक्ति से ही संबंध हो सकते हैं। और इसलिए मेरा मानना है कि वही पत्नी पति को आनंद दे सकती है, जिसके पास व्यक्तित्व है, जो स्वतंत्र है। जो ना भी कह सकती है, जो हट भी सकती है कल। और जिसे हमने पूरा मौका दिया है कि वह अपनी पूरी स्वतंत्रता में जीए। हमें हक है कि हम प्रेम करें, लेकिन प्रेम को हक मार डालने का नहीं है। और सच बात तो यह है कि जो प्रेम है, तो प्रेम कभी किसी दूसरे को मारता नहीं। अगर बाप को बेटे से प्रेम है तो वह प्रेम देगा लेकिन बेटे को बांधेगा नहीं। प्रेम देगा और कहेगा कि मेरा प्रेम तुझे मुक्त करे। अगर पत्नी को पति से प्रेम है तो उसको बांध नहीं लेगी। वह प्रेम देगी और प्रेम पति की मुक्ति बनेगा।

प्रेम मुक्ति बननी चाहिए, बंधन नहीं, तो ही प्रेम सच्चा है। नहीं तो प्रेम झूठा है और प्रेम के पीछे कोई दूसरी वृत्ति काम कर रही है। प्रेम के पीछे कोई वॉयलेंस है--कोई हिंसा, कोई तरकीब काम कर रही है, कोई दूसरी तरकीब है, जो प्रेम से बिल्कुल उलटी है--कोई घृणा है, कोई ईर्ष्या, कोई दूसरा ही काम कर रहा है प्रेम के पीछे। प्रेम सिर्फ शुगर-कोटिंग है। जहरीली दवाई खिलानी हो तो ऊपर से हम शक्कर चढ़ा दिए हैं। ऐसा किसी की गर्दन दबानी हो, तो पहले हमने प्रेम का शुगर-कोटिंग किया है। और फिर हमने उसकी गर्दन पकड़ ली है।

ओशो, आर यू इन फेवर ऑफ दि निगेटिव एजुकेशन? निगेटिव एजुकेशन वी मीन दैट वन शुड गो ऑन एनालाइसिंग हिमसेल्फ दैट वन कैन अंडरस्टैंड दि पोल्स फ्रॉम बोथ दि साइड्स।

सच में पाजिटिव एजुकेशन जैसी कोई चीज ही नहीं होती। सब कीमती एजुकेशन निगेटिव होती है। विधायक शिक्षा का मतलब है शिक्षा न देना! असल में शिक्षा का असली आधार ही निषेध है। शिक्षा का असली मूल्य ही निगेटिव माइंड पैदा करना है--एक ऐसा मन जो संदेह कर सकता है; एक ऐसा मन जो इनकार कर सकता है; एक ऐसा मन जो विचार करने को राजी है; एक ऐसा मन जो निर्णय को सस्पेंड करने के लिए भी हिम्मत कर सकता है; एक ऐसा मन जो अज्ञान अनुभव कर सकता है; एक ऐसा मन जो अज्ञात के प्रति उन्मुख हो सकता है। ऐसा मन अगर पैदा करना हो तो पाजिटिव नहीं--यही शिक्षा देने का अर्थ है।
क्योंकि पाजिटिव शिक्षा का मतलब यह होता है कि हम तुम्हें सोचने का मौका नहीं देते, हम तुम्हें बताए देते हैं कि तुम यह सोचो। हम तुमसे कहते हैं कि कृष्ण भगवान हैं। यह पॉजिटिव शिक्षा हुई। हम तुमसे कहते हैं गीता सत्य ग्रंथ है। हम तुमसे कहते हैं कि बाइबिल ही असली ग्रंथ है। हम तुम्हें बताए देते हैं। तुम्हें कुछ करने की जरूरत नहीं है। पॉजिटिव शिक्षा का मतलब है कि हम सिद्धांत देते हैं और तयशुदा सिद्धांत देते हैं, जिनका निर्णय लिया जा चुका है। उस निर्णय में तुम भागीदार नहीं हो। वह निर्णय तुमसे अन्यथा लिया गया है। तुम नहीं हो उसमें हिस्सेदार, किन्हीं और ने निर्णय लिया है। वह कोई भी हों, उन्होंने निर्णय ले लिया है, डिसीजन ले लिया है, रेडीमेड है, अब हम तुम्हें ट्रांसफर किए देते हैं।
विधायक शिक्षा का मतलब है कि अतीत ने जो निर्णय लिए हैं, वह हम नई पीढ़ी
को सौंपें देते हैं और नई पीढ़ी का सिर्फ एक काम है--वे चुपचाप, श्रद्धापूर्वक उन्हें स्वीकार कर लें। यह पाजिटिव शिक्षा का मतलब होता है। पाजिटिव शिक्षा मारने वाली शिक्षा है। असल में निगेटिव माइंड ही माइंड है।
जब हम एक बच्चे में सोचने की क्षमता विकसित करवाते हैं, और अवसर देते हैं कि वह चिंतन करे, तो चिंतन में छिपा ही है कि वह निषेध करने की हिम्मत जुटाए। चिंतन में छिपा ही है कि नास्तिक होने का मौका उसको मिले; कि वह कह सके कि कृष्ण कैसा भगवान है! शक की बात है; कि वह कह सके कि राम का यह सीता से व्यवहार कैसा है? यह व्यवहार शक की बात है; कि वह कह सके कि मैं नहीं मानता कि क्राइस्ट ठीक आदमी है, यह मुझे न्यूरोटिक मालूम पड़ता है, थोड़ा विक्षिप्त मालूम पड़ता है। यह कहने का हक उसे होना चाहिए; वह निषेध कर सके, इनकार कर सके।
ऐसी शिक्षा, जो सिद्धांत न देती हो, बल्कि विचार करने की क्षमता को विकसित करवाती हो। और विचार की क्षमता निषेध से शुरू होती है, क्योंकि विधेय से शुरू होने का कोई कारण नहीं है, विधेय तो अंत है। बिगिनिंग तो हमेशा निषेध है, विधेय तो दि एण्ड है, क्योंकि उसके आगे कोई सवाल नहीं है। तो मेरा कहना है, निषेध सिखाओ और विधेय तक उसे स्वयं पहुंचने दो। नास्तिकता सिखाओ, आस्तिकता तक उसे पहुंचने दो। और मेरा मानना है कि नास्तिकता अगर ठीक से सिखाई जाए तो आदमी आस्तिकता तक पहुंच जाएगा। और तब वह आस्तिकता बड़ी गंभीर, गौरवपूर्ण, गहरी होगी। क्योंकि नास्तिक होने से गुजरी है। इनकार करने के बाद आया है स्वीकार। "न" कहने के बाद पैदा हुआ

"हां"। जिस "यस" के पीछे "नो" नहीं है, वह "यस" इंपोटेंट है, वह मरा हुआ है। उसमें कोई जान ही नहीं है, वह नपुंसक है। जिसने न कहा है, और न कहने की पीड़ा झेली है, और न कहने से गुजरा है और एक दिन उस जगह पहुंचा है जहां न कहना असंभव हो गया है और उसे हां कहना पड़ा है, तो यह हां क्रांति लाएगा उसके व्यक्तित्व में।
तो मैं कहता हूं, सिखाओ नास्तिकता और आने दो आस्तिकता को--आस्तिकता आएगी। वह उसकी उपलब्धि होगी। पाजिटिव कनक्लूजंस जो हैं वे उसकी उपलब्धि होंगे, वह हम नहीं देने वाले हैं। हम सिर्फ उसे निगेटिव प्रोसेस देते हैं कि वह कैसे इनकार करे! और इनकार करता चला जाए उस समय तक, जब तक कि वहां न पहुंच जाए, जहां इनकार असंभव है! जहां स्वीकार करना ही होगा। जहां उसका मन ही पाजिटिव के करीब पहुंच जाएगा। निगेटिव इज़ दि प्रोसेस टु अचीव दि पाजिटिव। निगेटिव और पाजिटिव उलटी चीजें नहीं हैं। इसलिए अच्छा शिक्षण, अच्छी संस्कृति अपने बच्चों को निषेध सिखाएगी, इनकार सिखाएगी, संदेह सिखाएगी। और श्रद्धा आएगी, श्रद्धा हम थोपेंगे नहीं।
और मजे की बात यह है कि अगर हमने एण्ड पहले ही थोप दिया, हमने अंत बता दिया, कनक्लूजंस दे दिए, तो यह बच्चा क्या सोचेगा? इसको सोचने का हमने मौका ही छीन लिया। हमने ही बता दिया कि यह जो मूर्ति है, भगवान की है। हमने ही बता दिया कि यह किताब जो है, सत्य है। इस पर संदेह नहीं होता। और संदेह किया तो भटक जाओगे।
तो हमने जब सब रेडीमेड कनक्लूजंस दे दिए तो हमने इसे सोचने का अवसर ही छीन लिया। हमने इसको मार डाला। जिस व्यक्ति को स्वतंत्रता प्यारी है, वह आने वाले पीढ़ियों को निषेध सिखाएगा, नास्तिकता सिखाएगा, संदेह सिखाएगा। और मेरा मानना है कि अगर संदेह पूरा किया जाए तो संदेह से ही आदमी उस जगह पहुंच जाता है, जहां श्रद्धा का जन्म होता है। अगर जीवन में कोई सत्य है तो मैं असत्य को इनकार कर सकूंगा, सत्य को कैसे इनकार कर सकूंगा? और जब सर्व असत्य इनकार हो जाएगा तो सत्य शेष रह जाएगा--सत्य जो है! वह असत्य के इनकार करने पर बच गया, शेष रह गया--दि रिमेनिंग! जिसको मैं इनकार नहीं कर पाता हूं, जिसको मैंने सब उपाय किए इनकार करने के, मैं पाता हूं कि यह इनकार नहीं हो सकता, जब सब इनकार गिर जाते हैं और एक ऐसा सत्य प्रकट होता है, जिसको स्वीकार किए बिना कोई राह ही नहीं है, जो स्वीकृत है ही; क्योंकि सब इनकार उससे टकरा कर वापस लौट आते हैं, कोई इनकार उसे नहीं काट पाता। इनकार से असत्य कटेगा, शेष सत्य रह जाएगा। इनकार से गलत कटेगा, शेष सही रह जाएगा। सही हम न दें, सही तो आएगा। हम सिर्फ इनकार करने की कला सिखाएं, हम सिर्फ संदेह सिखाएं।
अब यह बड़ी उलटी बात मालूम पड़ती है, लेकिन मेरी दृष्टि में यह है कि अब
तक दुनिया में आस्तिक नहीं पैदा हो सके, उसका कारण है कि आस्तिकता आपने सिखा दी। अगर इतनी ही ताकत नास्तिकता सिखाने में लगाई जाए तो दुनिया में परम आस्तिक पैदा होंगे--होना ही पड़ेगा उन्हें। बचने का कोई उपाय नहीं है। अगर आपने पूरी कला सिखा दी निगेट करने की, दि निगेटिव माइंड पैदा कर दिया तो इस निगेट करने वाले चित्त की आखिरी सीमा आ जाती है और एक जगह पहुंच जाता है जहां आगे निगेशन नहीं होता। और जब नहीं होता है, तो स्वीकृति आती है। तो मेरा कहना यह है कि विधेय तो पैदा होगा, पाजिटिव आएगा, निगेशन सिखाना है। संदेह सिखाना है, श्रद्धा आएगी। इनकार सिखाना है, स्वीकार आएगा। नास्तिकता सिखाओ, आस्तिकता आएगी। और धैर्य रखने की जरूरत है कि आस्तिकता आए।

बट ओशो, ए.ज आई अंडरस्टैंड दैट देयर आर सर्टेन सब्जेक्ट्स जस्ट लाइक केमिस्ट्री, फिजिक्स ऑर मेडिकल व्हेयर दि पाजिटिव वैल्यूज आर एसेंशियल। वॉट आर योर व्यूज अबाउट दैट?

नहीं, वहां भी नहीं है! वहां भी नहीं है। वहां भी हम, असल में कठिनाई क्या है? साइंस में तो पाजिटिव वैल्यूज की बिल्कुल ही जरूरत नहीं है। साइंस तो बेसिकली निगेटिव है क्योंकि साइंस की आधारशिला डाउट है, राइट

डाउट। और साइंस में जो हम सिखाते भी हैं पाजिटिव, वह भी पाजिटिव नहीं है, वह हाइपोथेटिकल पाजिटिव है। वह अलग ही बात है। वह सिर्फ हम यह कह रहे हैं, हम एक बच्चे को कि पिछले खोज करने वालों ने यह खोजा है। इसे तुम परिकल्पना मानो, इसे तुम एक हाइपोथिसिस मानो और इसकी तुम खोज करो कि यह ठीक है या नहीं। प्रयोग करो, एक्सपेरिमेंट करो, लेबोरेटरी में खोज करो। पुराने खोज करने वालों ने कहा है कि यह ठीक है। यह उनकी निष्पत्ति है। प्रयोग का मौका तुम्हें खुला हुआ है।
और वैज्ञानिक चिंतन का मतलब ही यह है कि हम पुरानी हाइपोथिसिस पर नये बच्चों को प्रयोग करने के लिए आतुर कर सकें। जरूरी नहीं है कि पुरानी हाइपोथिसिस ठीक ही हो। और सच तो यह है कि रोज विज्ञान सिद्ध करता है कि कल की जो हाइपोथिसिस थी वह गलत हो गई। न्यूटन गलत हो गया, आइंस्टीन गलत हो रहा है और आइंस्टीन गलत हुआ जाता है, यह निरंतर होता रहेगा। यानी विज्ञान का तो कहना यह है कि वह दावा ही नहीं करता एब्सोल्यूट ट्रूथ का।
पाजिटिव माइंड जो है, वह दावा करता है परम सत्य का। वह कहता है, यह आखिरी सत्य है। विज्ञान कहता है कि सब सत्य एप्रॉक्सिमेट ट्रूथ हैं। कोई सत्य परम नहीं है, इसलिए विज्ञान तो बेसिकली निगेटिव है। वह तो यह मानता ही नहीं कि कोई परम सत्य है। वह तो यह कहता है कि सब रिलेटिव सत्य हैं। अब तक जो हम जानते हैं, उससे यह निष्पत्ति निकलती है। कल हम थोड़ा और ज्यादा जान लेंगे तो हो सकता है निष्पत्ति दूसरी निकले। इस निष्पत्ति को सत्य मान कर नहीं चलना है। इस निष्पत्ति को सिर्फ निकटतम सत्य, यानी अब तक जो हम जानते हैं उससे निकला हुआ सारांश समझें। इससे अन्यथा हो सकता है। इसकी स्वीकृति साइंस में पूरी है।
और जो साइंस का शिक्षक इस तरह की स्वीकृति नहीं रखे हुए है, उसका दिमाग सुपरस्टीशस है। वह साइंस का शिक्षक गलती से हो गया है। अगर वह बच्चे को यह कह रहा है कि हम जो कहते हैं यह परम सत्य है, आइंस्टीन ने जो कहा है यह परम सत्य है तो वह आदमी वैज्ञानिक है ही नहीं। विज्ञान का मूल आधार ही निषेध है। और विज्ञान पैदा हो सका उन समाजों में, जहां निषेध की स्वीकृति हुई।
भारत में विज्ञान पैदा नहीं हो सका। आज भी नहीं हो सकता है। पश्चिम में पिछले तीन सौ वर्षों में विज्ञान पैदा हुआ है, तीन सौ वर्षों के पहले वहां भी पैदा नहीं हो सका। इन तीन सौ वर्षों में पाजिटिव माइंड के खिलाफ एक बगावत चली, सब क्षेत्रों में--चाहे राजनीति, चाहे धर्म, चाहे साहित्य, चाहे समाज, चाहे चित्र, चाहे संगीत, सब तरफ बगावत चली। और इन तीन सौ वर्षों में हर पुरानी पाजिटिव वैल्यूज तोड़ कर निगेटिव वैल्यूजे स्थापित की गईं। जैसे उदाहरण के लिए--बर्नार्ड शॉ ने। बर्नार्ड शॉ से किसी ने पूछा कि जीवन में कोई स्वर्ण-सूत्र है? इज़ देअर एनी गोल्डन रूल इन लाइफ? तो बर्नार्ड शॉ ने कहाः यस, देअर इज़ वन गोल्डन रूल दैट देअर आर नो गोल्डन रूल्स। बर्नार्ड शॉ ने कहा कि एक ही स्वर्ण-सूत्र है कि जीवन में कोई स्वर्ण-सूत्र नहीं है। अब यह एक बढ़िया बात है। इसका मतलब क्या हुआ? यानि यह आदमी बोल रहा है पुरानी भाषा में। यह कह रहा है, हां एक स्वर्ण-सूत्र है। पुरानी भाषा ऐसा बोलती थी कि हां, यह स्वर्ण-सूत्र है। लेकिन बर्नार्ड शॉ कह यह रहा है कि एक ही स्वर्ण-सूत्र है कि कोई स्वर्ण-सूत्र नहीं है। तो सब स्वर्ण-सूत्रों को निषेध कर दिया।
पिछले तीन सौ वर्षों में वोल्तेयर, दिगरो, मार्क्स, बाकुनिन, क्रोपाटकिन, इनकी सारी पूरी यात्रा रसल तक निषेध की यात्रा है। इस निषेध ने एक हवा पैदा की। उस हवा से विज्ञान पैदा हुआ क्योंकि सब संदेह करना शुरू किया। आदमी छोटी-छोटी चीजों पर भी संदेह नहीं करता रहा है। संदेह की हमारी आदत ही नहीं थी। अतीत ने हमें विश्वास सिखाया था, संदेह नहीं। और हजारों साल तक हम ऐसी बात मानते चले गए जिसको हम थोड़ा सा भी प्रयोग करते तो पता चल जाता।
हमारी आम मान्यता यह थी कि अगर दो पत्थर एक मकान के ऊपर से गिराए जाएं
तो छोटा पत्थर पीछे गिरेगा, बड़ा पत्थर पहले गिर जाएगा। अब यह इतने छोटे से प्रयोग से हो सकता था कि आप ऊपर गए होते छत के और आपने एक छोटा और बड़ा पत्थर

एक ही साथ छोड़ दिए होते तो आपको पता चल गया होता कि दोनों साथ गिरते हैं; कि छोटा बाद में गिरता है, बड़ा पहले गिरता है। लेकिन किसी ने, पांच हजार वर्ष के मनुष्य-जाति के इतिहास में, सारी दुनिया में यह बात मानी जाती रही। और स्वाभाविक लगता था, बिल्कुल तार्किक कि छोटा पत्थर पीछे गिरेगा, बड़ा पत्थर पहले गिर जाएगा। क्योंकि बड़े पत्थर के पास ज्यादा मास है, वजन ज्यादा है तो वजनी चीज पहले नीचे आ जाएगी।
जिस आदमी ने पहली दफा पिसा के टावर पर खड़े होकर पत्थर गिराया। तो लोगों ने उसको पागल कहा कि तुम पागल हो? अरे, बड़ा पत्थर पहले गिरेगा ही! यह तय ही है! इसमें कोई, इसमें कोई सोचने की बात है, कि कोई प्रयोग करने की बात है? इस आदमी का दिमाग खराब है। और हमने भी यही कहा होता, कि तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है? इसमें कुछ करने की जरूरत है? बड़ा पत्थर पहले गिरेगा, यह साफ है। लेकिन उस आदमी ने कहा, लेकिन देख तो लेने दो। मुझे शक होता है कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि दोनों साथ गिर जाते हों? लेकिन अगर हम भी उसके पास होते तो हम भी उससे कहे होते कि तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है। साथ गिर कैसे सकते हैं? और जब उस आदमी ने देखा कि दोनों साथ गिरते हैं तो उसने अपने मित्रों को... वह युनिवर्सिटी थी पिसा की, युनिवर्सिटी! और हैरानी होगी यह कि ज्ञानियों से ज्यादा अंधे लोग बहुत कम होते हैं!
वे युनिवर्सिटी के सारे प्रोफेसर्स को उसने जाकर कहा कि ये पत्थर साथ गिर गए। उन्होंने कहाः इसमें कोई शैतानी मामला होना चाहिए--प्रोफेसर्स ने कहा! इसमें कोई डेविल काम कर रहा है। यानी शैतान कोई ऐसी तरकीब कर रहा है कि दोनों साथ गिरा दिए। नहीं तो दोनों साथ गिर ही नहीं सकते। बड़ा पत्थर बड़ा है वजनी, पहले गिरेगा। और इस आदमी के भीतर कोई शैतान घुस गया है। असल में संदेह शैतान ही समझा जाता था। डाउट जो था वह--डेविल इनकारनेट--जिस आदमी के मन में संदेह पैदा हुआ, उसके भीतर शैतान घुस गया। और जिस आदमी में श्रद्धा उत्पन्न हुई उसके भीतर भगवान है।
संदेह ने ही इन तीन सौ वर्षों में विज्ञान को गति दी। इसलिए जिन मुल्कों में आज जितना तीव्र संदेह है, वहां विज्ञान उतनी ही तीव्रता से गति कर रहा है। ऐसी कोई चीज स्वीकृत नहीं है जिसको हम प्रयोग करके नहीं देखने की इच्छा रखते हैं। आज हम प्रयोग करके देखेंगे ही। प्रयोग तय करेगा। और हो सकता है, कल और बड़े प्रयोग तय करें कि जो हमने जाना था वह भी गलत था। विज्ञान रोज बदल रहा है।
सच तो यह है कि आज विज्ञान के ऊपर बड़ी किताब लिखना मुश्किल हो गई है क्योंकि बड़ी किताब लिखने में दो वर्ष लग जाते हैं और दो वर्ष में जो आपने लिखा वह आउट ऑफ डेट हो गया। इसलिए विज्ञान छोटे, पीरियाडिकल... पर निर्भर हो गया है--हर महीने निकले, हर पंद्रह दिन में निकले, क्योंकि पंद्रह दिन में इतना फर्क हो रहा है!
विज्ञान मानता ही नहीं एब्सल्यूट ट्रूथ को इसलिए विज्ञान पाजिटिव माइंड का सहारा नहीं लेता। विज्ञान तो कहता ही है कि निषेध सूत्र है, संदेह मार्ग है। और जो आज तक पा लिया गया है उस पर भी पुनः-पुनः संदेह करते ही चले जाना है। ताकि तुम और पा सको, और पा सको। और ऐसा भी वह नहीं मानता है कि कभी कोई ऐसी स्थिति आ जाएगी, जहां संदेह व्यर्थ हो जाएगा। संदेह जारी रहेगा। क्योंकि खोज अनंत है। विज्ञान तो मानतो है कि संदेह जारी ही रहेगा, खोज अनंत है। यह अनंत खोज है, कभी भी पकड़ कर ही नहीं बैठ जाना है। जहां पकड़ कर बैठ जाओगे वहां नुकसान हो जाएगा।
मेरा मानना यह है कि वैज्ञानिक चित्त ही निषेध से भरा होता है। और जिसको हम अब तक धार्मिक चित्त कहते थे, तथाकथित, थोथा धार्मिक चित्त, सूडो रिलीजियस, वह संदेह के खिलाफ भरा होता है। और मेरी मान्यता चूंकि ऐसी है कि धर्म परम विज्ञान है, सुप्रीम साइंस है, चूंकि जीवन में जो सबसे गहरा है, धर्म उसकी खोज करता है इसलिए धर्म को भी वैज्ञानिक होना चाहिए। उसको भी निषेध से ही शुरू करना चाहिए।

सर, वॉट मेजर्स यु सजेस्ट फार दि कमिंग जनरेशन एण्ड वॉट टाइप ऑफ एजुकेशन आर लर्निंग शुड बी गिवन सो दैट द ओल्ड करप्शन ऑफ पावर शुड नॉट बी इम्पोज्ड आन दि न्यू जनरेशन?

जैसा मैंने कहा, नई पीढ़ी को कुछ मूल्यों की शिक्षा दी जानी चाहिए, जैसे व्यक्तित्व के मूल्य की शिक्षा--प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्ति होने की शिक्षा; इस बात की शिक्षा कि तुम भूल कर भी किसी समूह के, समाज के अंग मत बन जाना--सदस्य बन सकते हो, अंग मत बनना; संबंधित होना, लेकिन अपने को खोना मत; अपने को आइडेंटिफाई मत करना। कहीं इतना तादात्म्य मत कर लेना कि तुम कुछ भी न रह जाओ और समूह, संगठन सब कुछ हो जाए। तुम व्यक्ति जीवन भर बने रहना, इनडिविजुअलिटी को तुम जीवन भर खोजना।
निषेध की शिक्षा--कि तुम संदेह करना, तुम चरम संदेह करना। तुम संदेह करने से भयभीत मत होना। श्रद्धा से भयभीत होना, संदेह से भयभीत मत होना। तुम संदेह करना। तुम उस सीमा तक संदेह करना जहां तक तुम्हारी सामर्थ्य हो। मरते क्षण तक तुम संदेह करना ताकि तुम सत्य के करीब से करीब पहुंच सको; ताकि संदेह करके तुम असत्य को काट सको और सत्य तुम्हारे निकट से निकट आने लगे, निकट से निकट होने लगे।
आइंस्टीन एक एक्सपेरिमेंट कर रहा था। सात सौ प्रयोग कर चुका और सफल नहीं हुआ, लेकिन रोज सुबह अपनी लेबोरेट्री में हंसता हुआ आकर खड़ा हो जाता है वापस! उसके साथ जो एक युवक काम कर रहा है, वह थक मरा है कि यह बूढ़ा पागल है क्या? सात सौ बार असफल हो चुका है और रोज सुबह फिर खड़ा हो जाता है उसी तरह, फिर नया शुरू करते हैं! वह युवक थक गया है, वह परेशान हो गया है। असल में वह युवक बूढ़ा है, आइंस्टीन जवान है। वह युवक उससे कहता है कि अब यह छोड़ ही देना चाहिए, क्योंकि हम कितनी दफा हार चुके।
आइंस्टीन ने कहाः हार चुके! तुम पागल हो गए हो, हम हर बार जीत रहे हैं। उसने कहाः कहां जीत रहे हैं? हर बार प्रयोग असफल हो रहा है। आइंस्टीन ने कहाः सात सौ दिशाओं में हमने खोज की, वह सात सौ दिशाओं में सत्य नहीं है, यह हमें पता चल गया। हम सात सौ बार सफल हो गए। सत्य निरंतर इलीमिनेट होकर करीब आता जा रहा है। अगर मान लो, सात सौ पंद्रहवीं दफे सत्य होगा तो अभी चौदह बार हमें और इलीमिनेट करना है, चौदह रास्ते और निषेध करने पड़ेंगे। फिर वही शेष रह जाएगा। फिर वह बच कर भाग नहीं सकता। हम उसको पकड़ ही लेंगे, वह जाएगा कहां? हम सात सौ मार्गों पर खोज चुके कि वह नहीं है वहां। इतना तो निश्चिंत हो गए हम अब। इतनी तो हमने सीमा काट कर फेंक दी। अब अज्ञात का क्षेत्र सिकुड़ गया है, बड़ा नहीं रह गया है। हमने इतना हिस्सा काट डाला है; खोजते जाएंगे, खोजते जाएंगे, तोड़ते जाएंगे, छोड़ते जाएंगे। फिर आखिर में वही शेष रह जाएगा, उसे हम पकड़ ही लेंगे।
तो सिखाना है संदेह, सिखाना है इलीमिनेशन, निषेध। छोड़ो, जो असत्य है, उसे तोड़ो। इनकार करो, ताकि अंततः सत्य बच जाए। सिखाना है बच्चों को, जैसा हम कहते हैं, क्या ज्ञान दें? नहीं, ज्ञान नहीं देना है। थर्स्ट फॉर लर्निंग! लर्निंग नहीं, ज्ञान नहीं देना है, ज्ञान की प्यास! विश्वविद्यालय से निकलता हुआ कोई बच्चा इस भ्रम में पड़ा हुआ न निकले कि मैं सर्टिफिकेट ले आया और ज्ञानी हो गया। अभी यही हो रहा है। अभी सिर्फ अज्ञानियों को ज्ञानी होने के सर्टिफिकेट मिल जाते हैं।
ज्ञान नहीं देना है, देना है ज्ञान की प्यास। ज्ञान नहीं सिखाना है, सिखाना है सीखने की क्षमता--एटिट्यूड ऑफ लर्निंग। पुरानी दुनिया ज्ञान सिखा देती थी, रेडीमेड, उधार, बासा। जिज्ञासा नहीं जगाती थी। जिज्ञासा मार देती थी। पकड़ा देती थी फार्मूले, किताबें। सत्य तैयार था, वह दे दिया जाता था--बारोड, उधार, बासा। वह आदमी को मार डालता था, बासा कर देता था, उधार कर देता था।
जीवंत मनुष्य को पैदा करने के लिए उधार, बासा ज्ञान थोप नहीं देना है। उधार और बासे ज्ञान को भी जंपिंग बोर्ड का ही उपयोग करवाना है कि तुम इस पर सीखो। इस पर खड़े होकर आगे छलांग लगा जाओ। इसको सीखो ताकि तुम और कूद सकोगे जो कि तुम अकेले में नहीं कूद सकोगे। इसको सीखो ताकि तुम और संदेह कर सको,

जो कि तुम अकेले नहीं कर सकोगे। सीखो ताकि तुम्हारे प्रश्न और जग जाएं। यानी पुरानी शिक्षा देती थी उत्तर, नई शिक्षा सिखाएगी प्रश्न।
बट्रेंड रसल ने एक अनुभव लिखा है। उसने लिखा है कि जब मैं पहली दफा पढ़ने यूनिवर्सिटी गया तो मैंने सोचा था कि दर्शनशास्त्र पढूंगा तो मुझे सब उत्तर मिल जाएंगे। सब प्रश्न मेरे हल हो जाएंगे तो मैं निश्चिंत हो जाऊंगा। लेकिन अब अस्सी वर्ष के बुढ़ापे में मैं यह कहना चाहता हूं कि वह मेरी धारणा गलत थी। मैं सोचता था, दर्शनशास्त्र उत्तर दे देगा लेकिन हर उत्तर ने मेरे सामने नये दस प्रश्न खड़े कर दिए। तब मैंने लिखा था कि दर्शनशास्त्र, मनुष्य के गहरे उत्तरों की खोज है। अब मैं कहना चाहता हूं कि दर्शनशास्त्र नये प्रश्नों की खोज है। लेकिन यह बर्ट्रेंड रसल को हुआ। बर्ट्रेंड रसल के साथ और लोग भी पढ़े होंगे, वे उत्तर लेकर चले गए होंगे। अब तक हमारे बीच जो प्रतिभा थी, जीनियस था, वह तो नहीं बनता था उधार ज्ञान से, वह बच जाता था। वह तो इनकार कर ही देता था हमारी सब कोशिश के बावजूद--इंस्पाइट ऑफ अस, वह ज्ञानी नहीं बनता था। लेकिन जो सामान्य चित्त था, जो मिडियाकर माइंड है वह ज्ञानी बन कर लौट आता था। अब हमें एक ऐसी शिक्षा की व्यवस्था बनानी है जहां हम किसी को मिडियाकर न बनने देंगे। हम प्रत्येक के भीतर प्रश्न उठाएंगे। हमें उत्तर देने की चिंता नहीं होगी जितना प्रश्न जगाने की। अगर हम उत्तर भी लाएंगे कहीं से तो सिर्फ इसलिए, कि वे नये दस प्रश्नों के लिए जन्म देने का कारण बन जाएं। वह आपके भीतर समाधान न बने, नई समस्याओं का द्वार बन जाए। और विश्वविद्यालय से निकला हुआ विद्यार्थी ऐसे प्रश्न लेकर आए जो जिंदगी में उसे खोजने हैं। ऐसे उत्तर लेकर न आ जाए, जो जिंदगी पर उसे थोपने हैं; तो हम नया जीवंत मनुष्य पैदा कर सकेंगे।
जीवित मनुष्य अगर पैदा नहीं किया जा सका तो पुराना मनुष्य मरने की उस जगह पर पहुंच गया है, जहां से शायद फिर जीवन की संभावना भी खत्म हो जाएगी, शायद पूरी तरह मर जाएगा। मरते-मरते-मरते, मरते हमने आदमी को वहां पहुंचा दिया है कि जहां या तो बिल्कुल मरेगा वह, और या फिर हमें बिल्कुल नये मनुष्य को पैदा करना पड़ेगा। मैं जो भी कह रहा हूं, वह उस नये मनुष्य की खोज के लिए ही।
मनुष्यता को मुक्त तो करना ही है क्योंकि मनुष्यता मुक्त न हो तो विक्षिप्त होगी। पूरी मनुष्यता विक्षिप्त हो जाएगी--हो ही गई है। पृथ्वी करीब-करीब एक मैड हाउस है, एक बड़ा पागलखाना है। यहां हमने छोटे-छोटे पागलखाने भी बनाए हैं, ज्यादा पागल हो गए लोगों के लिए। और कहना कठिन है कि वे लोग, जिन्हें हमें पागलखाने में रखना पड़ रहा है, वे इसीलिए तो नहीं कहीं ज्यादा पागल हो गए हैं, कि हम सब पागलों के बीच उन्हें रहना मुश्किल है? यह भी हो सकता है कि हम सबके बीच रहना कुछ लोगों के लिए इतना कठिन हो जाता है कि सिवाय पागल होने के उनके पास उपाय नहीं बचता।
सारी दुनिया पागल है। मनुष्यता को बचाना ही होगा इस पागलपन से, नहीं
तो मनुष्यता मरेगी। उसके पागलपन से युद्ध आते हैं, महायुद्ध आते हैं, और अब अंतिम युद्ध भी आ सकता है। पागल मनुष्यता का कोई भरोसा नहीं है कि कब आत्महत्या कर ले। उसने तैयारियां पूरी कर ली हैं। लेकिन मजे की बात यह है कि मनुष्यता के इस पागल होने में बुरे लोगों का हाथ नहीं है। और यही कठिनाई है सबसे बड़ी, जिसे समझना मुश्किल हो जाता है। मनुष्यता के इस पागल होने में तथाकथित अच्छे लोगों का हाथ है। क्योंकि उन्होंने जो तरकीबें सुझाई थीं, उनका यह फल हुआ है। उन्होंने तरकीबें सुझाईं थीं कि सरल दिखाई पड़ो, सरल हो जाओ। उन्होंने तरकीबें सिखाईं थीं कि प्रेम करो, अहिंसा साधो। उन्होंने तरकीबें सिखाईं थीं कि सत्य बोलो, झूठ छोड़ो। उन्होंने तरकीबें सिखाईं थीं कि परिग्रह नहीं, अपरिग्रह--वस्तुएं कम, आवश्यकताएं थोड़ी। ये सारी तरकीबें जो सिखाई थीं--ब्रह्मचर्य, सेक्स नहीं; त्याग, भोग नहीं; शरीर की दुश्मनी, तो परमात्मा को पा सकोगे। यह सारी तरकीबों का अंतिम, इकट्ठा परिणाम यह हुआ है कि आदमी पागल होता चला गया। अच्छे आदमियों ने मिल कर मनुष्यता को पागल कर दिया है।

इस पागलपन को अगर मिटाना हो, तो हमें अच्छे आदमियों द्वारा सिखाई गई सारी बातों पर पुनर्विचार करना होगा। जैसे उसमें से एक यह बुनियादी बात है कि हम कोई भी चीज मनुष्य पर थोपना बंद कर दें। मनुष्य पर कुछ भी थोपना बंद कर दें, ऊपर से डालना बंद कर दें। जो लोग भी जाने या अनजाने खुद को या दूसरे को दुख देते हैं उनमें किसी न किसी तरह के विक्षिप्त रोग हैं, वे किसी न किसी तरह से पागलपन में पड़े ही हुए हैं। दूसरे को दुख देने वाला हमको दिखाई पड़ जाता है, लेकिन खुद को दुख देने वाला हम महात्मा बना लेते हैं। लेकिन दुख देने की वृति वही है। उसका ऑब्जेक्ट कोई भी हो सकता है। मैं दूसरे को भी सता सकता हूं, खुद को भी सता सकता हूं। यह जो दुनिया की अब तक की नैतिकता है वह सैडिस्ट और मैसोचिस्ट है। दुनिया की पूरी नैतिकता, अब तक की पूरी नैतिकता मनुष्य को मुक्त करने वाली नहीं है, रुग्ण करने वाली है।
तो यही मैं कह रहा हूं कि मनुष्यता की मुक्ति का पहला आधार तो यह होगा
कि मनुष्य जैसा है हम उसे स्वीकार कर लें। उसे जल्दी नैतिक बनाने की चेष्टा खतरनाक है, महंगी है। उसके भीतर क्रोध है तो हम जल्दी से क्षमा न सिखाएं। क्योंकि जल्दी सिखाई गई क्षमा सिर्फ क्रोध को दबा देगी और झूठी हो जाएगी। वह आदमी क्रोधी ही रहेगा और क्षमा का अभिनय करेगा। यह इतना टेंशन पैदा करेगी उसकी स्थिति भीतर की, कि क्षमा का अभिनय करना और क्रोध में जीना, यह इतना तनाव पैदा कर देगी कि आदमी पागल होगा।
तो हम क्रोध को स्वीकार कर लें और बजाय क्षमा सिखाने के, क्रोध के प्रति जागना सिखाएं। इसलिए पूरी नैतिकता और अर्थ की होगी। यह नई नैतिकता, मनुष्य जैसा है, उसके प्रति जागरण सिखाएगी। कैसा होना चाहिए, इसकी शिक्षा नहीं देगी। यह नई नैतिकता उपदेश की नहीं होगी, और क्या अच्छा है, इसकी नहीं होगी। जो है, उसके प्रति हम कैसे जागें, हाउ टु बी अवेयर, इसकी होगी। और मनुष्य जैसा है, उसको हम स्वीकार करते हैं। उसमें क्रोध है, काम है, लोभ है, घृणा है, प्रेम है, जो भी है उसके भीतर, हम उसे स्वीकार करते हैं कि वह है। इसे हम मानते हैं, दि गिवन, वह मिला हुआ है। अब इसके प्रति हमें जागना है ताकि हम ठीक से परिचित हो सकें कि मैं क्या-क्या हूं!
अभी जल्दी नहीं है इस बात की, हम कैसे हो जाएं! अभी इसी बात की तीव्रता होनी चाहिए कि हम कैसे हैं। जो हम हैं, उसके प्रति हम पूरे जाग जाएं। और मजे की घटना यह है कि जब कोई व्यक्ति अपने पूरे चित्त के प्रति जागता है तो चित्त में जो दुखदायी है वह अपने आप गिरना शुरू हो जाता है। और जो सुखदायी है, उस तरफ गति होनी शुरू हो जाती है। जागा हुआ आदमी, क्रोध से कब क्षमा पर पहुंच जाता है, इसका उसे पता भी नहीं चलता। जागा हुआ आदमी सेक्स से कब ब्रह्मचर्य पर पहुंच जाता है, इसका उसे पता भी नहीं चलता। जागा हुआ आदमी, कब जिसको हम पाप कहते हैं उससे मुक्त होकर पुण्य में गति कर जाता है, इसका उसे पता भी नहीं चलता है। और तब वह कांशस भी नहीं होता। और तब इस पुण्य का कोई अहंकार और इस पुण्य का कोई दावा और इस पुण्य के बदले में कोई स्वर्ग पाने की आकांक्षा भी उसमें नहीं होती। चूंकि इस पुण्य से उसे इतना आनंद मिल रहा है कि अब और कोई स्वर्ग की कोई जरूरत नहीं है। इस पुण्य में वह इतना आनंदित है, इतना प्रफुल्लित है कि अब और इसका और प्रतिफल आगे मिलना चाहिए, इसका कोई सवाल नहीं है। उसका एक-एक क्षण आनंद का क्षण हो गया। मनुष्य को गलत दिशा पर ले जाया गया है। लेकिन शायद जरूरी था पिछले इतिहास में, क्योंकि जंगल से जैसे ही आदमी मुक्त हुआ, उसके पास जो-जो जंगली वृत्तियां थीं, उनके साथ दूसरे आदमी के साथ रहना बहुत कठिन था। तो सीधा- सरल जो उपाय सूझा होगा, वह यही सूझा था कि भाई, इन वृत्तियों को रोको ताकि दूसरे के साथ रह सको, समाज बन सके, सभ्यता बन सके। यह पहला उपाय था जो सूझा। यह बिल्कुल ही प्रिमिटिव था। लेकिन आज का आदमी भी उसी प्रिमिटिव इथिक्स के नीचे जी रहा है जो कि अत्यंत मूर्खतापूर्ण है, स्टुपिड है। प्राथमिक तल पर ठीक भी हो सकता था। शायद जंगल से निकले आदमी को और कुछ नहीं सूझ सकता था कि वह क्या करे। उसे यही सूझा होगा कि बाहर से जो भी कर सके करे, क्योंकि भीतर का उसे कोई पता भी नहीं हो सकता था।

लेकिन अब इधर पांच छह हजार वर्षों की नैतिक शिक्षण के बाद यह बात इतनी साफ हो गई है कि नैतिकता ही हमारी विक्षिप्तता में ले जाने का कारण है। हमारे मॉरल टीचर्स ही हमें इम्मॉरल बनाए हुए हैं। और हमारे साधु-संन्यासी ही, हमारी सारी सभ्यता के भीतर घाव, बीमारियां, कोढ़ और कैंसर पैदा करने वाले हैं। यह अगर साफ दिखाई पड़ जाए, तो एक बिल्कुल ही नई नैतिकता, एक नई सभ्यता का सूत्र, और नई मनुष्यता का आधार रखना पड़े। उस मनुष्यता का आधार द्वंद्व नहीं होगा, बुरे के साथ... जो पिछली नैतिकता का आधार था कि बुरे के साथ लड़ो; बुरे को हटाओ, बुरे को मिटाओ।
नई नैतिकता का आधार होगा, बुरे को जानो, बुरे को जीयो, पहचानो, बुरे के प्रति जागो। और अगर जाग गए हो तो बुरा चला जाएगा। यानी बुरे का जाना जागने का परिणाम होगा। बुरे को जाने और हटाने की हमारी कोई चेष्टा नहीं है। पर हम हटाने वाले हैं भी कौन? अगर बुरा भी उपयोगी है जीवन के लिए तो रहेगा। अगर बुरे में भी कोई रस और आनंद है तो रहेगा। लेकिन मेरा मानना है कि बुरे में कोई रस और आनंद नहीं है। हम जब तक नहीं जागे हैं, तभी तक उसमें रस और आनंद है। इसकी भ्रांति हो सकती है।
जैसे ही हम जागेंगे, तो पुरानी नीति कहती थी कि शुभ में आनंद है। मैं कहता हूं, जिसमें आनंद है वही शुभ है। पुरानी नीति कहती थी, बुरे में दुख है। मैं कहता हूं, जिसमें दुख है वही बुरा है। इनमें बुनियादी फर्क पड़ गए। इसमें अब बुरे को छोड़ने का सवाल नहीं है, दुख को पहचानने का सवाल है। और अब आनंद की चेष्टा करने की जरूरत नहीं है, आनंद को पहचानने की जरूरत है कि कहां मुझे आनंद मिलता है। जिन क्षणों में मुझे आनंद मिलता है वे अपने आप बढ़ने लगेंगे और जिन क्षणों में मुझे दुख मिलता है वे सिकुड़ने लगेंगे।
और धीरे-धीरे एक रूपांतरण होगा, जिस रूपांतरण में मेरे भीतर कुछ भी क्रिपिल्ड नहीं होगा, दबाया हुआ नहीं होगा, पंगु नहीं होगा। कोई भी लंगड़े मेरे भीतर नहीं सरकते होंगे जिनको मैंने तोड़ डाला है। कोई भी दमित वासनाएं मेरे भीतर नहीं होंगी जो निकलने की कोशिश करती रहीं। और मेरे भीतर कोई तनाव नहीं होगा। मैं बिल्कुल टोटल, एट ई.ज, अपने साथ बिल्कुल ही विश्राम में होऊंगा। मेरी अपने से कोई लड़ाई ही नहीं होगी। और ऐसा क्षण, जब कोई व्यक्ति अपने साथ पूर्ण विश्राम को उपलब्ध हो गया हो, ऐसे क्षण को मैं संन्यास कहता हूं।
इसलिए मेरी संन्यास की अपनी धारणा है। ऐसा व्यक्ति जो स्वयं के प्रति पूर्ण विश्राम में जीता है, जिसकी अपने भीतर कोई लड़ाई नहीं, कोई द्वंद्व नहीं, ऐसे विश्राम के क्षण में ही परम सत्य का अनुभव हो सकता है। क्योंकि जब तक हम तने हैं और चित्त तनाव से भरा है, और लड़ाई से भरा है तब तक इतनी लहरें हैं चित्त के ऊपर कि हम सत्य को कैसे जान सकेंगे? टोटल रिलैक्जेशन का मतलब, पूर्ण विश्राम का मतलब यह नहीं कि एक आदमी ने अपने शरीर को रिलैक्स करके छोड़ दिया है। उसका भी मूल्य है, लेकिन जब पूरा टोटल बीइंग रिलैक्स्ड होता है, सब--बुद्धि भी, भाव भी, वासना भी, कामना भी, आकांक्षा भी--सारा विश्राम को उपलब्ध हो जाता है। जब मेरा पूरा व्यक्तित्व, टोटल बीइंग, कि मेरे भीतर कोई स्वर ही नहीं होता संघर्ष का, जब मैं पूर्ण विश्राम में डूबा होता हूं तब मैं उसे जानता हूं, जो है--जिसे हम सत्य कहें, परमात्मा कहें। पूर्ण विश्राम उसका द्वार है।
और बड़े मजे की बात है और बड़े दुख की कि हमारी पूरी नीति हमें विश्राम
के विपरीत ले गई है। विश्राम में नहीं ले गई। अत्यंत कलह में और कांफिलक्ट में ले गई है और उसने ऐसी जगह आदमी को पहुंचा दिया है जहां परमात्मा का मंदिर निकट नहीं होता, सिर्फ पागलखाने का दरवाजा निकट होता है। परमात्मा के निकट पहुंचाने में आदमी को सिर्फ पागलखाने के दरवाजे पर पहुंचा दिया गया है। और इसलिए, पागलखाने का दरवाजा ही उसके मंदिर का दरवाजा बना हुआ है। मंदिर और मस्जिद और गिरजे, सब आदमी को पागल कर रहे हैं। वे नाम भर के परमात्मा के मंदिर हैं। वे सब आदमी को पागल करने की तरफ ले जाने की कोशिश में लगे हैं।
पिछली मनुष्य-जाति का पूरा इतिहास इसको बताता है कि हमने बहुत गलत रास्ते पर कदम रखे। आने वाले आदमी को इस पूरी भूल के प्रति सजग करने का

बहुत बड़ा काम है। और मुझे लगता है कि यह सजगता आएगी क्योंकि सजगता आती भी उन क्षणों में है, जब जीवन बहुत संकट में पड़ जाता है। अब जीवन उस संकट की घड़ी से गुजर रहा है। या तो हम जागेंगे, या मरेंगे। या तो आदमी बचेगा, या खत्म होगा। पूरी की पूरी रेस पागलपन के रास्ते पर चली गई है--पूरी जाति मनुष्य की। ऐसा नहीं हुआ है कि कुछ लोग पागलपन के रास्ते पर चले गए हैं। पूरी जाति का जो ढांचा हमने ढाला है, जो पैटर्न हमने दिया है दिमागे को, वह उसे रुग्ण करने वाला है। इस पूरे ढांचे को बदलने की बात है।
इसलिए काम बहुत बड़ा है। इससे बड़ा शायद कोई काम ही नहीं हो सकता है। लेकिन यह काम कितना ही बड़ा हो, हो सकता है। क्योंकि आदमी उस जगह पहुंच गया है जहां चीजें क्लाइमेक्स पर पहुंच कर दिखाई पड़ रही हैं। साफ दिखाई पड़ रही हैं। उसकी राजनीति वहां पहुंच गई है, जहां विश्व का अंत हो जाए। उसके धर्म वहां पहुंच गए हैं जहां एक दूसरे की गर्दन को पकड़े हुए हैं। अब उनकी झूठी बातों का कोई मतलब नहीं है कि सब भाई-भाई हैं, सब प्रेम है, और विश्व हमारा कुटुंब है। इन सब बातों का कोई मतलब नहीं है क्योंकि उनकी हालतें दिखाई पड़ रही हैं, सब एक दूसरे की गर्दन पकड़े हुए हैं। और यह भी कह रहे हैं कि वसुधैव कुटुंबकम और लव दाई नेबर, यह भी सब कहे चले जा रहे हैं। और जो आदमी कह रहा है कि अपने पड़ोसी का प्रेम करो, वह भी पड़ोसी की गर्दन दबाए हुआ खड़ा है। और छुरा निकाले उसकी छाती पर बैठा है कि तू ईसाई हो जा। और वह जो आदमी जो कह रहा है कि सारा विश्व हमारा कुटुंब है, वह भी कहता है कि मैं हिंदु हूं। और वह जो आदमी कहता है कि सब भाई-भाई हैं, वह भी कहता है कि हमको पाकिस्तान अलग चाहिए। हम तो मुसलमान हैं।
सारे धर्म अब अपने उस जगह खड़े हो गए हैं जहां हम देख सकते हैं उनकी असली शक्लें। रोग अपनी पूरी सीमा पर पहुंच गया है, जहां परखा जा सकता है। राजनीति पागलपन पर ले जाकर खड़ी कर दी है। वह साफ जाहिर है कि सारी दुनिया उन्होंने उस जगह पहुंचा दी है, जहां से सुसाइडल घटना घट सकती है, युनिवर्सल सुसाइड हो सकता है।
यह जो स्थिति है, यह इतनी साफ हो गई है कि आज इस बात की संभावना है कि
इस संकट में, इस क्राइसिस में अगर कुछ लोग श्रम में लग जाएं तो शायद मनुष्य को जगाया जा सके। ऐसा क्षण पहले कभी था भी नहीं। यह पहली दफे ऐसा क्षण आया अंतिम संकट का, और शायद अंतिम संकट में चीजें दिखाई पड़ जाएं, और एक बिल्कुल नये धर्म का... नये धर्म से मेरा मतलब? कोई मुसलमान, कोई ईसाई, कोई हिंदू, ऐसा कोई नया धर्म नहीं!
नये धर्म से मेरा मतलब कि धर्म की पुरानी सारी धारणा को तोड़ कर मनुष्य
को स्वीकार करने वाला, मनुष्य को द्वंद्व में न डालने वाला, मनुष्य को तनाव में न ले जाने वाला। मनुष्य को विश्राम में ले जाने वाला और जागरूकता की तरफ गति करने वाला एक धर्म, एक वैज्ञानिक धर्म, एक साइंटिफिक रिलीजन पैदा हो जाए। और यह हो, तो ही आशा है। यह न हो, तो कोई आशा नहीं है।
लेकिन, यह सबके लिए हो पाए या न हो पाए; जिन व्यक्तियों को भी खयाल में
आ जाए उनके लिए तो पैदा हो ही जाना चाहिए। यानी यह सवाल भी ऐसा नहीं है कि मैं प्रतीक्षा करूं कि सारी दुनिया में जब होगा तब मैं करूंगा। यह सवाल नहीं है। मुझे तो जो आनंदपूर्ण लग रहा है, उस तरफ मुझे जाना ही है और जिनको भी लगे, उन्हें जाना है। और जो भी आदमी जाएगा उसके सामने, जैसे ही यह आनंद भीतर घनीभूत होता है, वह उस आनंद को दूसरों से साझीदार भी बनाना चाहता है। यह बड़े मजे की बात है कि दुख में हम किसी को साझीदार नहीं बनाना चाहते, बल्कि दुख में हम भागना चाहते हैं, दूसरों से बचना चाहते हैं। अगर तुम दुखी हो तो द्वार बंद करके कमरे में बैठने का मन होता है। कोई न आए, कोई न मिले, ऐसा मन होता है।
दुख सिकोड़ता है आदमी को। और जब तुम आनंदित हो तब तुम मित्र को खोजना चाहते हो, किसी को बांटना चाहते हो। इसलिए आनंद अकेला बेमानी है, वह इतना ओवरफ्लो करता है कि दूसरों तक पहुंचना चाहता है। तो मेरी चेष्टा यही है कि चाहे थोड़े से ही लोगों तक, जिन तक आवाज पहुंच सके, उनको इतने आनंद की दिशा में ले जाने का भाव, दृष्टि और दिशा मिल जानी चाहिए कि जब वे आनंदित हों तो उनके ऊपर से ओवरफ्लो होने लगे, उनके आस-पास बिखरने लगे। कोई कठिनाई नहीं

है कि आने वाले सौ वर्षों में मनुष्य जाति में एक बिल्कुल ही नये तरह की, वैज्ञानिक मनुष्यता का जन्म हो जाए।
अब तक हमने विज्ञान का उपयोग किया है पदार्थ पर। मनुष्य पर किया ही नहीं। मनुष्य के साथ हम बिल्कुल ही अवैज्ञानिक हैं। अकेले पदार्थ पर हमने साइंस का उपयोग किया है इसलिए पदार्थ में हमारी बहुत गति हो गई। वहां ज्ञान हमारा आकाश छूने लगा। वहां हम चांद पर उतर गए। वहां हम अणु को तोड़ लिए। अब मौका आया है कि हम आदमी पर भी विज्ञान का प्रयोग करें, एक साइंटिफिक मॉरेलिटी--जो मैं कह रहा हूं, वैज्ञानिक नीति होगी, वैज्ञानिक धर्म होगा। और जिस दिन हम आदमी पर भी विज्ञान का प्रयोग कर सकेंगे उस दिन सारे जगत के तल पर इस बात की संभावना है ही। इसे हम दो तरह से कह सकते हैं। अगर हम यह मानें कि अभी जो मनुष्य है इसको मनुष्य कहना ठीक नहीं है, सबह्यूमैन है, यह आदमी से थोड़ा नीचे है। तो हम कह सकते हैं कि ह्यूमैन बीइंग पहली दफा पैदा हो जाएगा, मनुष्य पैदा होगा! या हम इसको मनुष्य कहें, तो हम कह सकते हैं कि सुपरमैन पैदा हो जाएगा। यह परिभाषा की बात है कि हम क्या कहते हैं।
लेकिन एक बात तय है कि मनुष्य-जाति के इतिहास में वह मोड़ आ गया है, जहां से बिल्कुल नये प्राणी के जन्मने की संभावनाएं प्रकट होती हैं। एक नया आदमी पैदा होगा। अब मुझे ऐसा लगता है कि जानवर से मुक्त होकर हम मनुष्य नहीं हो पाए। सिर्फ सबह्यूमन हो पाए--सुपर एनिमल और सबह्यूमन। जानवर से तो ऊपर आ गए, और आदमी हो नहीं पाए; आदमी से नीचे रह गए।
तो यह जिसको हम अब तक मनुष्यता कहते रहे हैं, यह बीच की, संक्रमण की अवस्था है। जहां से जानवर आदमी होने की कोशिश करता रहा है। अब वह क्षण करीब आ रहा है जहां आदमी पैदा हो सकता है। और आदमी तभी पैदा होगा जब हम उसे बोध अवेयरनेस और आनंद की दिशा में गतिमान कर सकें। यह हो सकता है।

डु यु फील सर, दैट न्यू एजुकेशन मे ब्रिंग सम रिवोल्यूशन व्हिच मे फ्री द इनडिविअल एण्ड मेक दि ब्यूटिफुल सोसाइटी?

शिक्षा तो आधार है। शिक्षा आधार है और अगर हम, नये मनुष्य का जन्म कैसे हो, इसकी वैज्ञानिक दृष्टि साफ हो जाए तो हम शिक्षा में उसका प्रयोग करेंगे ही, करना ही चाहिए। पुरानी नीति की शिक्षा बंद हो जानी चाहिए। मनुष्य को तनाव में डालने वाली सारी बातें बंद हो जानी चाहिए। नई पीढ़ियों को इतना स्वीकार भाव होना चाहिए कि जो भी हमारे भीतर है, वह स्वीकृत है--वह है! जैसा आंख कान है, ऐसा ही और सब भी है। और वह कितना है, उसकी हम पूरी जांच-पड़ताल करें, उसे हम पूरा पहचानें।
अब आंख के संबंध में कितना ज्ञान हो गया है आज। साधारणतः आंख है, बस बात खतम हो गई। इससे ज्यादा हम कुछ भी नहीं जानते हैं हम। पर आज तो आंख के बाबत पूरा विज्ञान खड़ा हो गया है। आज आंख के बाबत इतना ज्ञान है कि एक आदमी आंख के संबंध में ही जानना चाहे तो जीवन भर में नहीं जान सकता। लेकिन सेक्स के बाबत हम क्या जानते हैं? सच तो यह है कि इधर फ्रायड के बाद थोड़ी सी बात उठी है, नहीं तो सेक्स के बाबत हम कुछ भी नहीं जानते थे। लेकिन सेक्स के खिलाफ हम हजारों साल से बकवास कर रहे थे और जानते कुछ भी नहीं थे। प्रेम के बाबत हम क्या जानते हैं? कवियों की कविताएं हमने सुनी हैं और प्रेम के संबंध में प्रेमियों के गीत और कहानियां पढ़ी हैं। लेकिन प्रेम की घटना मनुष्य की चेतना में कितनी गहराइयों तक क्या अर्थ रखती है, इसके बाबत हम कुछ भी नहीं जानते हैं। न हम क्रोध के बाबत कुछ जानते हैं, न घृणा के बाबत कुछ जानते हैं।
मनुष्य के व्यक्तित्व में जो भी छिपा है, उसका कितना गहरा इंप्लिकेशन
है और कितनी दूर तक उसकी जड़ें हैं, हम कुछ भी नहीं जानते हैं। यह अज्ञान भारी है। यह अज्ञान नई शिक्षा को मिटाना पड़ेगा। और नई शिक्षा को इस दिशा में काफी गति करनी चाहिए। असल में जितनी मेहनत हम कैमिस्ट्री या फिजिक्स की खोज-बीन में कर रहे हैं उससे भी ज्यादा मेहनत हमें ह्यूमैन केमिस्ट्री

के संबंध में फिकर करनी चाहिए कि हम मानव-रसायन को पूरी तरह जान सकें। और जब ये सारे सूत्र हमें साफ हो जाएं तो एक नई शिक्षा गति कर सकती है।
असल में कई चीजें हैं, इससे यह मालूम नहीं होता है कि हमको उनका पता हो गया है। आज से तीन सौ साल पहले तक आदमी को यह पता ही नहीं था कि खून गति करता है। यही खयाल था कि शरीर में खून भरा हुआ है। और खून तो गति कर रहा है सदा से। हमारे भीतर भी गति करता है, लेकिन अगर मुझे बताया न जाए तो मुझे भी खयाल नहीं हो सकता है कि खून गति कर रहा है। खून ठहरी हुई चीज नहीं है। लेकिन आज से तीन सौ साल पहले तक खून भरी हुई चीज थी। जैसे बर्तन में पानी भरा हुआ है, ऐसे शरीर में खून भरा हुआ। अब मेरे ही शरीर में खून गति कर रहा है, मुझे ही पता नहीं चलता है। बहुत मुश्किल से यह पता चला कि खून गति कर रहा है। और जब खून गति कर रहा है, यह पता चला तो खून के संबंध में हमारे सारे खयाल हमें बदलने पड़े; पूरी दृष्टि बदलनी पड़ी।
ठीक ऐसे ही क्रोध क्या कर रहा है हमारे भीतर, प्रेम क्या कर रहा है, सेक्स क्या कर रहा है, लोभ क्या कर रहा है, अहंकार क्या कर रहा है--हमारे भीतर इन सबका रासायनिक अर्थ क्या है? इनसे क्या हो रहा है? दबाने से क्या हुआ है? इनको जानने से क्या होगा? इस सब दिशा में बहुत रिसर्च की, बहुत खोज की जरूरत है। और उस सबका इंप्लिमेंटेशन, उस सबका व्यवाहारिक उपयोग शिक्षा की पद्धति में होना चाहिए। तो ही हम नये आदमी के पैदा करने में शिक्षा का उपयोग कर सकते हैं।
लेकिन दो बातें तय हैं--एक बात तो यह कि हमें पुराने से नये बच्चों को बचाना चाहिए। शिक्षा का आधा काम तो यह होना चाहिए कि वह अतीत की नासमझियों से बच्चों को बचाए। अभी हालत यह है कि वह अतीत की नासमझियों से बच्चों को दीक्षित करती है। उनमें दीक्षित करती है। यानी जो बेवकूफियां हजारों साल से चल रही हैं, नये बच्चों को भी उनको सिखा देती है। तो बड़ा काम तो यह है, प्राथमिक काम यह है कि हम अतीत की भूलों से बच्चों को बचाएं।
और दूसरा काम यह है कि जो-जो भूलें अतीत में हुई, उनकी जगह क्या किया जाना चाहिए--जैसे कि बजाय सेक्स से लड़ने के सेक्स को जानना, समझा जाना चाहिए। बजाय क्रोध से लड़ने के उसको पहचानना, जानना चाहिए। यह पहचानने और जानने का काम दो तलों पर होगा। एक तो इस सबकी लेबोरेट्रीज होनी चाहिए जहां ये प्रयोग चलें, बड़े पैमाने पर और प्रत्येक व्यक्ति भी एक लेबोरेटरी बने कि वह भी अपना प्रयोग चलाता रहे। जैसे हम रोज खाना खाते हैं, रोज सोते हैं, ऐसे ही रोज हम क्रोध भी कर रहे हैं, प्रेम भी कर रहे हैं, तो इन प्रेम और घृणा और क्रोध की सारी घटनाओं के प्रति भी हमें उतना ही सचेत होना चाहिए जितना हम खाने के प्रति सचेत हैं; कि हम क्या खा रहे हैं? हम पत्थर नहीं खा लेते हैं! हम मिट्टी नहीं खा लेते हैं! हम खाने के बाबत सोच रहे हैं। हम कहीं भी नहीं सो जाते, हम सोने के बाबत भी सोच रहे हैं। इतना ही, इससे भी ज्यादा सोच-विचार हमारे आंतरिक जीवन और चित्त के बाबत भी। प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं भी लेबोरेटरी बननी चाहिए।

साइकोएनालिसिस... ?

अकेली साइकोएनालिसिस नहीं, साइकोएनालिसिस सहयोगी है। बल्कि कहना चाहिए, साइकोअवेयरनेस। असल में साइकोएनालिसिस बहुत उपयोगी है, लेकिन एनालिसिस, विश्लेषण!

यानी साइकोलॉजिकल एजुकेशन... ?

एजुकेशन भर नहीं। यह तो ठीक ही है कि मनुष्य के मन के संबंध में शिक्षा हमें देनी चाहिए, और मन के संबंध में जो भी जाना गया है वह बहुत स्पष्ट रूप से प्रकट किया जाना चाहिए। बहुत हिम्मत करनी पड़े उसमें भी क्योंकि पुरानी सारी धारणाएं उसमें बाधा डालती हैं। पुरानी हजार धारणाएं बाधा डालती हैं।

मन के संबंध में जो हम जानते हैं वह हम बच्चों को नहीं सिखा पा रहे हैं। क्योंकि जो हम जानते हैं वह हमारी नीति के विपरीत पड़ता है। तो हम उसको छिपा रखे हैं। तो मन की तो पूरी शिक्षा होनी चाहिए और बच्चा स्कूल से शिक्षित होकर निकले, उसके पहले उसे साइकोएनालिसिस से भी गुजर जाना चाहिए। उसका मनोविश्लेषण भी हो जाना चाहिए। यानी प्रत्येक बच्चे को शिक्षित होने की डिग्री ही तब मिलनी चाहिए जब उसका मनोविश्लेषण भी हो गया।
लेकिन इतना ही नहीं, मैं कह रहा हूं कि साइकोएनालिसिस भी पैसिव मामला है। दूसरा आपकी करवा देगा। एक साइकोएनालिस्ट आपकी एनालिसिस कर देगा साल भर में और आपमें कुछ बातें हल होंगी इससे। कुछ बातें साफ होंगी। आप ज्यादा हलके, ज्यादा शांत आदमी बन सकेंगे। लेकिन फिर भी आप साधक नहीं बन गए! इसलिए मैं कह रहा हूं, साइकोअवेयरनेस! यानी यह एनालिसिस तो दूसरे से होगी, इसमें आप पैसिव होंगे।
साइकोअवेयरनेस का मतलब कि आप एक्टिव होंगे, पैसिव नहीं। आप कुछ करेंगे अपने मन के बाबत--डिस्कवरिंग दि सेल्फ! और इसकी सारी की सारी व्यवस्था होनी चाहिए शिक्षा में कि प्रत्येक व्यक्ति धीरे-धीरे स्वयं की खोज में आतुर और उत्सुक हो जाए और वह स्वयं को खोजने लगे। और स्कूल, होस्टल, शिक्षक, विद्यार्थी, सारी की सारी व्यवस्थाएं ऐसी होनी चाहिए जो सेल्फ डिस्कवरी में सहयोगी बनती हों, बाधक न बनती हों। इतनी स्वतंत्रता, इतनी सच्चाई, यह सब इसमें होनी चाहिए कि एक-एक व्यक्ति अपने को डिस्कवर कर सके। क्योंकि सेल्फ डिस्कवरी कठिन बात है। और अगर चारों तरफ से विरोध हो उसका तो बहुत कठिन बात है।
जब एक बच्चे को पहली दफा सेक्स का खयाल उठना शुरू होता है तो सारा समाज इसके विरोध में है, तो वह उसको दबा जाता है। वह उसे जानना भी नहीं चाहता। लेकिन जिस स्कूल में सेल्फ डिस्कवरी के लिए, जिसे शिक्षा-व्यवस्था में गुंजाइश होगी वह बच्चा आकर स्कूल में सबके सामने कह सकेगा कि ऐसा-ऐसा हो रहा है। लेकिन इस पर न कोई हंसेगा, न इसका कोई दमन, न कोई विरोध करेगा, न कोई कहेगा कि बदमाशी की बातें हैं, बंद करो, यह बात नहीं कहनी चाहिए। कहनी नहीं चाहिए, यह अशिष्ट है--ऐसा भी कोई नहीं कहेगा। उसकी बात प्रेम से, शांति से सुनी जाएगी, सहानुभूति से। और जो शिक्षक जानते हैं उस संबंध में, उसे बताएंगे।
व्यक्ति के भीतर जो भी है, उसके प्रति हमारा कोई विरोध नहीं होगा। उसकी खोज का आमंत्रण होगा। और जो बच्चे जितना खोज में अग्रसर होंगे उनका उतना सम्मान होगा और हवा ऐसी होगी कि धीरे-धीरे प्रत्येक व्यक्ति अपनी खोज में लग जाए। विश्वविद्यालय से निकलते-निकलते उसे गणित, फिजिक्स, भूगोल और इतिहास ही नहीं जानना चाहिए, इनसे भी ज्यादा महत्वपूर्ण उसका यह है कि स्वयं को जानता हुआ निकले। कम से कम उतने सूत्र जान कर निकले जिनके आधार पर वह जीवन में धीरे-धीरे अपने को खोज लेगा और एक दिन उस जगह पहुंच जाएगा जहां वह कह सके कि मैं अपने को जानता हूं। और जो व्यक्ति यहां तक न पहुंचाया जा सके, तो शिक्षा बेमानी है।
शिक्षा फिर सिर्फ आजीविका सिखा रही है। वह सिखा रही है कि तुम खाना कैसे कमा लोगे, मकान कैसे बना लोगे। इससे ज्यादा मूल्य की नहीं है। वह आत्म-ज्ञान नहीं सिखा रही है। और आत्म-ज्ञान सिखाने की पुरानी बातें भी थीं। उनका कहना कुल इतना है कि स्कूल में उपनिषद पढ़ाओ, गीता पढ़ाओ, कुरान पढ़ाओ, फलां संत के वचन पढ़ा दो, और लोगों को रटवा दो तो आत्म-ज्ञान हो जाएगा। ये सब बेवकूफी की बातें हैं। न उपनिषद पढ़ने से, न गीता पढ़ने से, न किसी संत के वचन पढ़ने से आत्म-ज्ञान होगा। आत्म-ज्ञान एक लंबी डिस्कवरी है, जो कि किन्हीं के वचन पढ़ने से नहीं हो जाएगा। पढ़ाओ, उपनिषद भी पढ़ाओ, गीता भी पढ़ाओ, लेकिन सिर्फ इसके लिए कि बच्चे जानें कि कुछ लोगों ने ऐसी बातें कहीं हैं, कुछ लोग इस खोज पर गए हैं। लेकिन इनके पढ़ लेने से उनकी खोज नहीं हो जाएगी। उनकी खोज तो एक मनोविश्लेषण, मनोजागरण और मनोसाधना--उसकी गति उनकी बढ़ती चली जाए तो होगी।

यह सारी व्यवस्था, स्कूल शिक्षण में न हो तो बड़े पैमाने पर नये मनुष्य
के पैदा होने में सहयोग नहीं दिया जा सकता। फिर हम छोटे पैमाने पर व्यक्तिगत आधार पर जो कर सकते हैं, वही कर सकते हैं।
शिक्षण तो को बदलना ही पड़ेगा। क्योंकि पुराना आदमी जैसा है, वह पुरानी शिक्षा की वजह से है। नया आदमी जैसा होगा, वह नई शिक्षा की वजह से होगा।

"शिक्षाः साध्य और साधन" विषय पर प्रश्नोत्तर-शृंखला-9

शिक्षा में क्रांति
तेईसवां प्रवचन

नारी की मुक्ति और शांति

मेरे प्रिय आत्मन्!
नारी और शांति के संबंध में कुछ थोड़े से सूत्र समझना उपयोगी हैं।
एक तो सबसे पहले यह समझना जरूरी है कि नारी का अब तक कोई व्यक्तित्व नहीं रहा है और पुरुष ने उसके व्यक्तित्व को मिटाने की भरसक चेष्टा भी की है। नारी या तो किसी की बेटी होती है, या किसी की बहन होती है और या किसी की पत्नी होती है। नारी का अपना होना नहीं है। विवाह हो तो उसका नाम भी पुरुष बदल डालते हैं, नया नाम रख लेते हैं। विवाह हो जाने के बाद उसका सीधा कोई तादात्म्य, कोई सीधी आइडेंटिटी अपने साथ नहीं होती है। वह किसी की श्रीमती हो जाती है। उसके परिचय में भी हम कहते हैं, श्रीमती खन्ना या श्रीमती गूजर या कुछ। सीधा उसका कोई व्यक्तित्व समाज के समक्ष नहीं होता। बीच में पुरुष को लेकर ही उसका कोई अर्थ बनता है। पुराने शास्त्र कहते हैं कि जब वह कुंआरी हो तो पिता उसकी रक्षा करे; जब वह युवा हो तो पति उसकी रक्षा करे; जब वह वृद्ध हो जाए तो उसके बेटे उसकी रक्षा करें; लेकिन किसी भी स्थिति में उसका अपना कोई अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है।
नारी को समझने के लिए पहली बात ही समझनी जरूरी है कि उसके पास व्यक्तित्व नहीं है, और जिसके पास व्यक्तित्व न हो, वह शांति का आधार कभी भी नहीं बन सकती। जिसके पास व्यक्तित्व नहीं है, वह स्वयं इतना अशांत होगा कि वह शांति का आधार नहीं बनता। जीवन की बड़ी से बड़ी शांति की उपलब्धि अपने व्यक्तित्व को पाने से शुरू होती है। और जिस दिन जो हम बनने को पैदा हुए हैं, वही बन जाते हैं; उसी दिन मन प्रफुल्लता से भर जाता है।
एक गुलाब का पौधा है। उसकी खुशी कब पूरी होती है! उसका आनंद कब प्रकट होता है? जब उसके फूल पूरी तरह खिल जाते हैं, जब आकाश में हवाओं को वह अपनी सुगंध को लुटा देता है और जब सूरज की किरणों में उसके खिले हुए फूल नाच लेते हैं। और जब राह से गुजरने वाले अपरिचित राहगीर उसकी सुगंध के संगीत से भर जाते हैं तब वह पौधा तृप्त हो जाता है। लेकिन जब तक किसी पौधे में फूल न आएं, तब तक उस पौधे में एक बेचैनी, एक अशांति, एक परेशानी बनी रहती है। नारी फूल को उपलब्ध ही नहीं हो पाती है क्योंकि उसका व्यक्तित्व ही अस्वीकृत है। उसके व्यक्तित्व को ही जगह नहीं है। अपनी हैसियत जब तक नारी को उपलब्ध नहीं है तब तक नारी शांत नहीं हो सकती।
और नारी की अशांति इतनी महंगी है जिसका हिसाब नहीं। यद्यपि पुरुष ने
ही नारी का व्यक्तित्व छीना है और पुरुष ही नारी के अशांत होने से हजार गुना अशांत हो गया है। लेकिन उसे पता नहीं चलता कि उसने व्यक्तित्व छीना है इसलिए इतनी अशांति है। बल्कि शायद तर्क यही कहता है, सभी मूढ़ तर्क इसी भांति चलते हैं कि वह सोचता है कि नारी का व्यक्तित्व थोड़ा बहुत और बचा हो, वह भी छीन लेना जरूरी है ताकि शांति पूरी हो जाए। शांति होगी व्यक्तित्व के प्रकट होने से, व्यक्तित्व छीन लेने से नहीं, क्योंकि नारी कभी तृप्ति अनुभव कर ही नहीं पाती।
चूंकि व्यक्तित्व छीना गया है इसलिए वह कभी ऑथेंटिक, प्रामाणिक रूप में अपने पैरों पर खड़ी ही नहीं हो पाती और हमने सारी व्यवस्था ऐसी की है कि वह खड़ी न हो पाए। हजारों वर्षों तक नारी को शिक्षा नहीं दी, सिर्फ इसलिए कि शिक्षित होते से ही वह अपने पैरों पर खड़े होने का प्रयास शुरू करेगी। पैर के नीचे से जमीन खींचनी हो तो शिक्षा मत दो। अगर शिक्षा न दी जाए तो पंगु हो जाता है व्यक्ति, और उस समाज में, जहां शिक्षित की गति होगी, नारी कोई गति न कर पाएगी। इसलिए नारी को वर्जित रखा, हजारों वर्षों तक शिक्षा नहीं दी।
लेकिन अशिक्षित नारी का मतलब?--अशिक्षित मां, अशिक्षित पत्नी, अशिक्षित बेटी, अशिक्षित बहन, अशिक्षित प्रेमिका। नारी को अशिक्षित रखने का अर्थ क्या होगा? कि जीवन के सब तलों पर अशिक्षित नारी खड़ी हो जाएगी। और शिक्षित पुरुष और अशिक्षित नारी के बीच इतना बड़ा फासला हो जाएगा कि उसके

बीच तालमेल बिठालना मुश्किल है। इसलिए धीरे-धीरे नारी की स्थिति एक दासी की हो गई और पुरुष मालिक बन गया। पति का मतलब ही मालिक होता है। स्वामी का मतलब भी मालिक होता है। और हजारों साल से स्त्री पति को स्वामी कह रही है और अपने पत्रों में आपकी दासी लिख कर दस्तखत कर रही है।
पुरुष बहुत प्रसन्न हो रहा है। पुरुष की प्रसन्नता समझी जा सकती है, लेकिन नारी की नासमझी समझनी बहुत मुश्किल है। और दासी और मालिक के बीच कभी भी अच्छे संबंध नहीं हो सकते। दो मित्रों के बीच अच्छे संबंध हो सकते हैं, शांतिपूर्ण, आनंदपूर्ण, प्रेम से भरे। लेकिन एक गुलाम और एक मालिक के बीच कैसे अच्छा संबंध हो सकता है। गुलाम और मालिक के बीच हमेशा तनाव होगा, अशांति होगी, बेचैनी होगी, संघर्ष होगा।
और इसलिए हजारों-हजारों साल से स्त्री और पुरुष के बीच एक भीतरी संघर्ष है, जो दिन-रात चल रहा है। नारी की बगावत दिखाई नहीं पड़ती, क्योंकि वह रोज चल रही है, प्रतिपल चल रही है। एक-एक दांपत्य दुखद है, कलह से भरा हुआ है। पति-पत्नी के बीच के संबंध अत्यंत अप्रीतिपूर्ण हैं, अत्यंत तने हुए हैं, खिंचे हुए हैं। लेकिन धीरे-धीरे ऐसा समझ लिया गया है कि यही स्वाभाविक है। हजारों-हजारों साल तक कोई बात चले तो स्वाभाविक मालूम पड़ने लगती है। अब ऐसा समझ लिया गया है कि यह स्वाभाविक है। बल्कि इसको इतना स्वाभाविक समझ लिया है कि जो लोग शांति की खोज में जाते हैं वे पत्नी से मुक्त हुए बिना नहीं जाते। वह पहले पत्नी से मुक्त होते हैं, फिर शांति की खोज में जाते हैं। ख्याल यह बन गया है कि पत्नी के साथ तो शांति संभव ही नहीं है। तो अगर पत्नी से भाग सके कोई, संन्यासी हो सके तभी शांत हो सकता है।
नहीं, यह सवाल पत्नी के साथ का नहीं है, स्त्री और पुरुष के बीच अब तक हमने जो व्यवस्था की है, वह गलत है। वह अशांति का आधार है। अगर स्त्री और पुरुष के बीच कभी भी शांतिपूर्ण, प्रेमपूर्ण, आनंदपूर्ण, मैत्रीपूर्ण व्यवस्था लानी हो तो पहली तो बात, जरूरत है कि स्त्री ठीक पुरुष के समकक्ष आ जाए, इंच भर भी नीचे नहीं। स्त्रियां कोशिश करती हैं पुरुष के समकक्ष आने की, लेकिन वे कोशिश सब बेहूदी हैं। या तो वे लंबी एड़ी का जूता पहन कर पुरुष के समकक्ष आना चाहती हैं, ऊंचाई बराबर करना चाहती हैं। लेकिन उस भांति कोई पुरुष के समकक्ष होने का अर्थ नहीं है। लंबी एड़ी का जूता पहन कर सिर्फ चलने में तकलीफ हो जाती है, कोई और फर्क नहीं पड़ता। पुरुष के चलने और स्त्री के चलने में भी कमजोरी का फर्क पड़ जाता है, और कोई फर्क नहीं पड़ता। और जितनी लंबी एड़ी होती जाती है उतनी स्त्री की थोड़ी ऊंचाई तो बढ़ती है लेकिन शरीर की ऊंचाई बढ़ने से पुरुष के समकक्ष आने का मार्ग नहीं है। यह समकक्ष होने की बड़ी बचकानी तरकीब हुई, सब्स्टीट्यूट बहुत ही साधारण हुआ। इस तरह कुछ हो नहीं सकता।
दूसरा उपाय यह है कि पुरुष जिस ढंग से रहता है, उसी ढंग से स्त्री रहने लगे तो शायद समकक्ष आ जाए। वह जैसे कपड़े पहनता है, वह पहनने लगे। पश्चिम में वैसी दौड़ शुरू हुई, आज नहीं कल, यहां भी दौड़ शुरू होगी। वह इस तरह के ढंग जो पुरुष अख्तियार करता है, वह भी करे। पुरुष शराब पीता है क्लब में, तो वह भी पीए; और पुरुष सिगरेट पीता है, तो वह भी पीए और जो-जो पुरुष करता है, वह-वह, स्वयं भी करे। तो वह सोचती है कि शायद पुरुष के समकक्ष आ जाएगी। यह भी बड़ी बचकानी बात है। छोटे बच्चे इसलिए सिगरेट पीना शुरू करते हैं कि सिगरेट पीने के साथ उन्हें लगता है कि एक प्रेस्टीज, एक शक्ति, एक पॉवर जुड़ा हुआ है। जब वे लोगों को, अपने पिता को सिगरेट पीते देखते हैं तो वे समझते हैं कि सिगरेट पीने से कुछ बड़े होने का संबंध है। छोटे बच्चे भी अकड़ कर सड़क पर सिगरेट पीते हैं, वह सिर्फ इसलिए ताकि वे बड़े होने का मजा ले सकें, वे कोई छोटे नहीं हैं।
तो एक दौड़, जहां पुरुष के समकक्ष होने की इस तरह की कोशिशें की जा रही हैं कि कपड़े बदल लो, सिगरेट पी लो, शराब पी लो, क्लबों में जो पुरुष कह रहा है, वही कहो, जिन अश्लील ढंग से पुरुष गालियां बकते हैं, वैसी गालियां बको, जिस बेहूदे ढंग से वे बातें करते हैं उसी बेहूदे ढंग से स्त्रियां भी बातें करती हैं। अगर वे सड़कों पर धक्का देकर चलते हैं तो स्त्रियां भी

धक्का दें। इस भांति समकक्ष होने की कोशिश चल रही है। यह कोशिश समकक्ष होने की कोशिश नहीं है, बड़ी पागलपन की कोशिश है। समकक्ष होने का कुछ और मतलब है।
पुरुष के समान खड़े होने का यह मतलब नहीं है कि स्त्रियां पुरुषों जैसी हो जाएं। पुरुषों के समान होने का यह अर्थ है कि पुरुषों ने पुरुष होने में जितना विकास किया है, स्त्रियां स्त्रियां होने में उतना विकास करें। यह बहुत अलग बात है। पुरुषों की नकल से स्त्रियां पुरुषों के समान नहीं हो सकती हैं--और जब तक स्त्रियां पुरुषों के समान नहीं हो जाती हैं, समान का मेरा मतलब, पुरुषों जैसी नहीं; पुरुषों के समान होने का मतलब, पुरुष ने जितना विकास किया है, उतना ही विकास; पुरुष के रास्तों पर नहीं, स्त्री के अपने रास्ते हैं--उन पर और यदि स्त्री और पुरुष समकक्ष नहीं हो जाते हैं तो उन दोनों के बीच कभी भी प्रेम और शांति स्थापित नहीं हो सकती। फासला इतना ज्यादा है कि उसे पार करना मुश्किल है।
लेकिन पुरुषों के समकक्ष होने की जो मैंने दौड़ कही वह जूते की एड़ी से लेकर कपड़ों, वस्त्रों तक, शिक्षा तक भी चल रही है। जब मैं कहता हूं, स्त्रियां भी शिक्षित होनी चाहिए, तो मेरा मतलब यह नहीं है कि वे ठीक पुरुषों जैसी शिक्षा से शिक्षित हो जाए। तब उपद्रव होगा, वैसा उपद्रव भी हो रहा है। अगर स्त्रियों को गणित में, तर्क में, व्यायाम में, फिजिक्स में, केमिस्ट्री में, विज्ञान में, ठीक पुरुषों जैसा शिक्षित कर दिया जाए, तो इस सारी शिक्षा में उनके भीतर स्त्रैण-तत्व का कोई अनिवार्य हिस्सा मर जाता है। असल में कुछ चीजों का को-एक्झिस्टेंस नहीं होता, कुछ चीजों का सह-अस्तित्व नहीं होता है। जैसे अगर कोई आदमी बहुत तर्कनिष्ठ हो तो उसके भीतर काव्य का अस्तित्व नहीं होगा। अगर कोई व्यक्ति बहुत तर्कयुक्त हो तो उसके भीतर कविता मर जाएगी। और अगर किसी के भीतर कविता विकसित हो तो उसके भीतर तर्क नहीं रह जाएगा। इन दोनों का सह-अस्तित्व नहीं होता। हो ही नहीं सकता है। क्योंकि काव्य के सोचने का ढंग बड़ा तर्कमुक्त है और तर्क के सोचने का ढंग काव्य के बिल्कुल उलटा है।
आइंस्टीन तो बड़ा गणितज्ञ था। उसने जिस युवती से विवाह किया था, फ्रा आइंस्टीन से, वह एक जर्मन भाषा की कवयित्री थी। एक गणितज्ञ था, एक कवयित्री थी। और फ्रा ने सोचा था कि आइंस्टीन को पहली ही रात अपनी कुछ कविताएं बताए। बड़ी प्रशंसा हुई थी उसकी कविताओं की। उसने पहली ही रात अपनी कुछ कविताएं आइंस्टीन को सुनाईं। वह बड़े आश्चर्य से सुनता रहा, और जब पूरा सुन चुका, तब फ्रा घबड़ा गई, क्योंकि वह ऐसे सुन रहा था जैसे कोई बच्चे की परीक्षा लेते वक्त उसको देखता है। या कोई पुलिस का इंस्पेक्टर किसी चोर की छान-बीन करता है, उसके खीसे की छान-बीन करता है, ऐसे देख रहा था। जब वह पूरा बोल चुकी, तो वह डरी कि पूछूं भी कि नहीं कि कैसा लगा।
फिर उसने पूछा डरते-डरते, कैसा लगा? आइंस्टीन ने कहा: क्या एब्सर्ड,
यह क्या बेहूदी और फिजूल की बातें? इनका कोई मतलब? मैं तो दंग हूं कि इतनी बुद्धिहीन बातें भी तू सोच सकती है। अपने प्रेमी को उसने सोचा है, जैसा कि कवि हजारों वर्षों से सोचते रहे हैं, प्रेमी अपनी प्रेयसी को चांद के चेहरे से तुलना देते रहे हैं, प्रेमी प्रेयसियों को, प्रेयसियां प्रेमियों को चांद में देखते रहे हैं। तो उसने भी गीत में गाया है कोईप्रेमी अपनी प्रेयसी के लिए चांद की उपमा देता है कि तेरा चेहरा चांद की भांति है।
आइंस्टीन कहता है, पागल हो गई हो? चांद कितना बड़ा है, चेहरा कितना छोटा है, गणित का हिसाब तो बहुत अलग है। कहां चांद, कहां चेहरा, कोई संबंध नहीं दोनों का। और चांद पर इतने-इतने बड़े गड्ढे हैं, इतनी-इतनी बड़ी खाइयां हैं, इतने-इतने बड़े पहाड़ हैं कि अगर किसी स्त्री के चेहरे पर हों तो कोई पसंद ही न कर सके। वह फ्रा तो बहुत घबड़ा गई, वह आइंस्टीन को नहीं समझा पाती है। बहुत कोशिश करती है कि नहीं, यह तो उपमा है। लेकिन आइंस्टीन कहता है जो उपमा सीधी ही गलत है, वह ठीक कैसे हो सकती है। नहीं-नहीं, कभी यह नहीं हो सकता। आइंस्टीन कहता है कि अगर किसी स्त्री के सिर की जगह चांद रख दिया जाए तो उसका पता भी नहीं चलेगा। इतना वजनी है चांद कि वह कहां दब कर खो

जाएगी, कुछ पता नहीं चलेगा। एकदम गलत है, एकदम ठीक नहीं है। फिर फ्रा ने कसम खा ली है कि उसे कविता नहीं बताएगी क्योंकि कविता वह पकड़ ही नहीं सकता।
मेरी अपनी दृष्टि ऐसी है कि स्त्री और पुरुष के व्यक्तित्व में एक बुनियादी भेद है। और है, यह शुभ है। परमात्मा की बड़ी कृपा है। वही आकर्षण है स्त्री और पुरुष के बीच। वह जो भेद है, वह भेद बहुत गहरा है। अगर वह भेद टूटता है तो या तो पुरुष स्त्रैण हो जाएगा और या स्त्री जो है वह पुरुष हो जाएगी--दोनों हालत में नुकसान होगा। स्त्री की शिक्षा तो होनी ही चाहिए पुरुष के ही बराबर, लेकिन उसके अपने आयाम में, उसकी अपनी दिशा में। उसकी अपनी ही दिशा है। उस दिशा में उसकी शिक्षा अगर होगी तो ही सार्थक है। आज हम शिक्षा भी दे रहे हैं तो वह सारी की सारी शिक्षा पुरुष के लिए ईजाद की गई है। और उसी पुरुष के लिए ईजाद की गई, स्त्री को भी उसी शिक्षा के ढांचे में ढाला जा रहा है। उसके परिणाम घातक हो रहे हैं। युनिवर्सिटी से पढ़-लिख कर जो लड़की निकलती है, उसमें स्त्रैण तत्व थोड़ा अनिवार्यरूपेण कम हो जाता है। कम हो ही जाएगा। कम हो जाना अनिवार्य है। क्योंकि शिक्षा पुरुष के लिए ईजाद की गई थी।
थोड़ा उलटा सोचें तो समझ में आ जाएगी बात। कोई नगर ऐसा हो, जहां की सारी शिक्षा स्त्रियों के लिए ईजाद की गई हो। संगीत की शिक्षा वहां दी जाती हो, नृत्य की शिक्षा दी जाती हो, काव्य की शिक्षा दी जाती हो, भोजन बनाने की, कपड़े सीने की, मकान सजाने की, बच्चों को पालने और बड़ा करने की--यह सारी शिक्षा दी जाती हो। किसी नगर में स्त्रियों के लिए शिक्षा दी जाती हो और उस नगर में पुरुष बहुत दिन तक अशिक्षित रखे गए हों। फिर पुरुषों में बगावत फैले और वे कहें कि हमें शिक्षा की जरूरत है, हम भी शिक्षा लेंगे। और स्त्रियां कहें कि ठीक है, हमारे कॉले.जस में आकर तुम शिक्षा ले डालो। तो वे पुरुष भी नाचें, गाएं, गीत बनाएं, कविता करें, घर सजाएं, बच्चों को पालने की शिक्षा लें, तो क्या परिणाम होगा उस गांव में? उस गांव के पुरुष किसी गहरे अर्थ में स्त्रैण हो जाएंगे। उस गांव के पुरुषों में, जो पुरुष होना है वह कम हो जाएगा। वह जो पुरुष की तीव्रता है, वह जो पुरुष की प्रखरता है, वह क्षीण हो जाएगी। वह जो पुरुष के कोने हैं व्यक्तित्व में, वह गोल हो जाएंगे, वह राउंड हो जाएंगे, उनकोझाड़ दिया जाएगा।
जैसा दुर्भाग्य उस गांव में पुरुषों के साथ होगा, वैसा दुर्भाग्य पूरी पृथ्वी पर आज स्त्रियों के साथ हो रहा है। उनके व्यक्तित्व का बुनियादी भेद छोड़ा जा रहा है। उस बुनियादी भेद को समझ लेना बहुत ही उचित है, क्योंकि वह बुनियादी भेद ठीक से समझ कर अगर दोनों को अपनी दिशाओं में सम-शिक्षित किया जाए, सम-विकास दिया जाए और समकक्ष लाया जाए तो ही दांपत्य शांतिपूर्ण हो सकता है। और यह पृथ्वी पूरी शांत हो जाए, अगर दंपति शांत हो जाएं। क्योंकि हमारा सारा वैमनस्य, सारा दुख, सारी पीड़ा हमारे छोटे-छोटे घरों के उपद्रवों में पैदा होती है।
जैसे एक गांव में घर-घर से धुआं निकलता है, अपने-अपने चौके से और फिर गांव के पूरे आकाश पर धुआं छा जाता है। छोटा-छोटा, एक-एक चौके से निकला हुआ धुआं धीरे-धीरे पूरे गांव के आकाश को भर देता है। सारी पृथ्वी अशांति से भर जाती है, क्योंकि जो व्यक्तियों के मिलन का मूल-बिंदु है, मूल इकाई है स्त्री और पुरुष, वह मिलन दुखद है, वहां अशांति है। वह अशांति फैलते-फैलते सारे जगत को घेर लेती है। फिर बहुत रूपों में प्रकट होती है। यह रूप इतने भिन्न हो जाते हैं कि कहना मुश्किल है।
अगर गांव के घर-घर से निकला हुआ धुआं गांव की छाती पर एक धुएं का बादल बनकर आ जाए तो कोई भी विश्वास न करेगा कि मेरे चूल्हे ने इस बादल को बनाया। कहेगा कि छोटा सा चूल्हा, हमारा चूल्हा इतना बड़ा अंधेरा बादल कैसे बना सकता है। नहीं, नहीं, यह नहीं हो सकता। लेकिन उसे पता नहीं कि करोड़-करोड़ चूल्हे इसी तरह छोटे-छोटे जल कर, इतना थोड़ा-थोड़ा धुआं फेंक कर एक बड़ा बादल बना देते हैं। और वे बादल बड़े खतरनाक हो सकते हैं। वे बादल सूरज को छिपा ले सकते हैं। उन बादल के पॉकेट्स बन जाते हैं, एक हवाई जहाज को गिरा सकते हैं। अब यह कोई सोच भी नहीं सकता है कि एक घर के चूल्हे में से उठा हुआ धुआं किसी

हवाई जहाज को गिरा सकता है। अगर वह बहुत सघन हो जाए तो उसका पाकेट बन जाता है, एक मजबूत पर्त बन जाती है। वह पर्त इतनी मजबूत है कि तेज हवाई जहाज जब उसके भीतर से गुजरता है, उस तेजी के कारण वह हवाई जहाज को डगमगा दे सकता है। लेकिन हमारी कल्पना में नहीं आ सकता कि चूल्हे से उठा हुआ धुआं और ऐसा कुछ कर सकेगा।
एक-एक घर से उठी हुई अशांति धीरे-धीरे विश्व-अशांति बन जाती है। और सारी दुनिया में चेष्टा चलती है, शांति, शांति, शांति!--वह शांति नहीं आती, क्योंकि मूल इकाई अशांत है। पुरुष और स्त्री का मिलन मूल इकाई है समाज की। फिर बाकी समाज उसका फैलाव है। अकेला पुरुष समाज नहीं है। अकेली स्त्री समाज नहीं है। अकेला पुरुष आधा है, अकेली स्त्री आधी है। जब वे दोनों एक मूल इकाई में मिलते हैं, तब समाज शुरू होता है। कम से कम समाज के लिए दो तो चाहिए। और फिर वही इकाई अगर ज्वरग्रस्त हो, बीमार हो, परेशान हो, कष्ट में हो--लेकिन हम उसके कष्ट कोप्रकट भी नहीं होने देते!
मैं हजारों घरों में ठहरता हूं। लाखों लोगों से व्यक्तिगत मिलने, उनकी व्यक्तिगत तकलीफ में उतरने का मुझे मौका मिला है। मैं इतना हैरान हो गया हूं कि वे चेहरे जो बाहर हंसते हुए मालूम पड़ते हैं, वे भीतर हंसते हुए नहीं हैं। वे पति और पत्नियां क्लब में, और बाजार में, और सिनेमा-गृह में, जैसे चमक-दमक से हंसते हुए, बात करते हुए मालूम पड़ते हैं, वह उनके घर की असली शक्ल नहीं है। घर इससे बिल्कुल उलटी शक्ल है। यह बाहर जो दिखाई पड़ रहा है, यह बिल्कुल उलटा है। यह बिल्कुल धोखे का है। सच्चाइयां बहुत और हैं, बहुत गंदी और बेहद बेहूदी और बहुत कुरूप। और वहां एकदम गहरी अशांति है। और पति और पत्नी की जो अशांति है, वह उनके बच्चों में भी प्रवेश कर जाती है। वह घर के कोने-कोने, हवा-हवा में छा जाती है।
अब मैं एक युनिवर्सिटी में था, तो मैं बड़ा हैरान था। कोई सौप्रोफेसर मेरे साथ थे। युनिवर्सिटी की क्लास तो बारह बजे शुरू होती, लेकिन प्रोफेसर थे कि स्टॉफ रूम में साढ़े दस बजे ही हाजिर हो जाते। युनिवर्सिटी की क्लास किसी की एक बजे शुरू होती, किसी की दो बजे शुरू होती, किसी की तीन बजे खत्म हो जाती, किसी की दो बजे खतम हो जाती और मैं देखता साढ़े चार बजे तब तक कि जब तक चपरासी बंद न करता, तब तक वे वहां बैठ कर गपशप करते रहते। मैंने उनसे कई बार पूछा कि जब यहां काम खतम हो गया, आप चले क्यों नहीं जाते? उन्होंने कहा: घर की झंझट से यहीं बेहतर। जितना समय शांति से बीत जाए वही अच्छा। यह बहुत हैरानी की बात है कि पति घर से भागा रहे शांति के लिए। शांति के लिए घर लौटना चाहिए, लेकिन घर कुरूप हो गया है। पति घर से भागा हुआ है। उसके घर से भागे होने का कारण तो घर एक शांति का, छाया का, विश्राम का एक स्थान नहीं रह गया। इसलिए घर का चौका टूटता चला जा रहा है। होटलें बढ़ती चली जाती हैं, क्योंकि घर वह ठीक से खा भी नहीं पाता। वह भागा हुआ है होटल की तरफ। इसलिए घर में कितनी देर कम से कम रुक सके, उसकी चेष्टा में रत रहता है और पत्नी घर अकेली पड़ गई है। वह बच्चों को पाल रही है, बर्तन धो रही है, खाना बना रही है, कपड़े सी रही है। इस काम में कितनी देर तक वह रस ले, यह काम उबा देता है। यह काम घबड़ा देता है। घर की दीवारों में बंद वह परेशान हो जाती है। वह वहां तैयार होती रहती है कि पति वापस लौटे तो गुस्सा किस पर निकाले, उसका सारा गुस्सा वहां तैयार होता है, भरता है, गहरा होता है, वह पति के आते ही टूट पड़ता है। और पति उसी से भागा हुआ था कि किसी तरह डरा हुआ कदम सम्हाल कर घर की सीढ़ियां चढ़ा है और वह बात, फिर टूट पड़ी और वह कल के लिए फिर भागा हुआ हो गया। और वह जितना भागेगा उतना क्रोध बढ़ेगा और जितना क्रोध बढ़ेगा, वह उतना भागता रहेगा।
घर का बुनियादी यूनिट, पहली इकाई ही विकृत और कुरूप हो गई है। इसलिए मेरी दृष्टि में किन्हीं यज्ञों से शांति नहीं हो सकती। लेकिन वह पति पत्नी के बीच जो कलह का यज्ञ चल रहा है, अगर वह शांत हो जाए। अगर वहां एक सौमनस्यपूर्ण, एक मैत्रीपूर्ण घटना घट जाए तो कुछ हो सकता है। लेकिन वह कैसे घटे? उस घटने की पहली शर्त मैं मानता हूं कि स्त्री को व्यक्तित्व मिल जाए। क्योंकि मित्रता छायाओं से नहीं हो सकती। मित्रता व्यक्तियों से होती है, ठोस, जीवंत। और पुरुषों ने स्त्रियों को पोंछ कर बिल्कुल शैडो,

छाया बना दिया है। उनके पास व्यक्तित्व ही नहीं रहा। पुरुषों ने कहा, उठो तो उठो, बैठो तो बैठो। पुरुषों ने कहा, पूरब तो पूरब, पश्चिम कहा तो पश्चिम। उन्होंने उनका सारा व्यक्तित्व पोंछ डाला है।
वह व्यक्तित्व नहीं रह गया। उस व्यक्तित्व को पोंछने का परिणाम एक ही
हो सकता था, और वह परिणाम फलित हो गया है। मैत्री असंभव हो गई है। दो व्यक्तियों के बीच मैत्री हो सकती है, छाया और व्यक्ति के बीच मैत्री नहीं हो सकती। इस व्यक्तित्व को लाने के लिए स्त्रियां बहुत अथक चेष्टा करती हैं, लेकिन उनकी चेष्टा बड़ी गलत है। वे या तो दूसरे-दूसरे सब्स्टीट्यूट खोज रही हैं, या पुरुषों जैसे होने की चेष्टा में संलग्न हैं। उन सबसे कोई अंतर नहीं पड़ने वाला है। स्त्री को तय करना पड़ेगा, नारी को तय करना पड़ेगा कि वह नारी होने के ठीक अर्थ को समझे और नारी होने के ठीक अर्थ को उपलब्ध हो जाए।
नारी होने का ठीक अर्थ पुरुष से बहुत भिन्न है और दोनों के व्यक्तित्व के भेद को भी थोड़ा समझना उपयोगी है। पुरुष एक्टिव है, पुरुष का सारा व्यक्तित्व क्रियात्मक है, विधायक है। स्त्री का सारा व्यक्तित्व पैसिव है, निषेधात्मक है। इस फर्क को समझ लेना जरूरी है, तो हम उनकी दोनों की शिक्षाएं, उन दोनों के जीवन का ढंग अलग तरह से सोचेंगे।
एक स्त्री किसी पुरुष को कितना ही प्रेम करती हो तो भी कभी कोईस्त्री
ने पुरुष के प्रति निवेदन नहीं किया है कि मैं तुम्हें प्रेम करती हूं। स्त्री कितना ही प्रेम करती हो तो भी वह प्रतीक्षा करती है कि पुरुष निवेदन करे। स्त्री पैसिव है, पैसिव का मतलब है, वह प्रतीक्षा कर सकती है-- आक्रामक नहीं है, आक्रमण नहीं करेगी, पहल नहीं करेगी। पुरुष को ही आक्रमण करना होगा, पुरुष को ही पहल करनी होगी। पुरुष को ही पहला कदम उठाना होगा। स्त्री प्रतीक्षा करेगी। और बड़ी हैरानी की बात है, अगर स्त्री पहल करे और आक्रमण करे तो पुरुष के लिए कभी प्रीतिकर न हो पाएगी। क्योंकि आक्रमण करने वाली और पहल करने वाली स्त्री में पुरुष को पुरुष के ही दर्शन दिखाई देंगे। उसे स्त्री नहीं मिल सकेगी फिर वहां, स्त्री अनंत प्रतीक्षा है-- मौन प्रतीक्षा, आक्रामक नहीं, अनाक्रामक। पुरुष आक्रमण है, एग्रेशन है। वह जाएगा, पहल करेगा। लेकिन अगर कोई पुरुष प्रतीक्षा करे तो कोईस्त्री उसे पसंद नहीं करेगी, कभी प्रेम नहीं कर पाएगी। इसलिए कोईस्त्री ऐसे पुरुष कोप्रेम नहीं कर पाती जो उसके पीछे छाया बन कर चलने लगे, उससे कभी प्रेम नहीं कर पाएगी क्योंकि उसमें उसे एक स्त्री ही दिखाई पड़ेगी। स्त्री उसी पुरुष के प्रति आकर्षित होती है जो अगम्य मालूम पड़ता हो, अलंघ्य मालूम पड़ता हो, गौरीशंकर का शिखर मालूम पड़ता हो, दूर बहुत दूर, जिसे पाना मुश्किल है। जो बुलाता है, लेकिन बहुत दूर है। जो पुकारता है, लेकिन बहुत फासले पर है। जिसे पाना, जिसे छूना बहुत मुश्किल है। स्त्री का मन उसके लिए पागल आकांक्षा से भर जाएगा।
मैं यह कह रहा हूं कि पॉजिटिव, निगेटिव के; एक्टिव और पैसिव के, सक्रिय
और निष्क्रिय के भेद को समझ लेना बहुत जरूरी है। हम एक पत्थर को पानी में फेंकते हैं, तो पत्थर पानी में गिरता है, फौरन गड्ढा बना लेता है। पत्थर एक्टिव है, सक्रिय है और पानी पैसिव है, वह फौरन गड्ढा बन जाता है। लेकिन बड़ा मजा यह है कि पत्थर नीचे गया कि पानी फिर अपनी जगह पर वापस लौट आता है। पैसिविटी, निष्क्रियता शक्तिहीनता नहीं है। अगर एक पहाड़ से पानी का झरना गिरता हो और नीचे पहाड़ पर पत्थर की चट्टानें पड़ी हों तो आज पत्थर की चट्टानें बहुत शक्तिशाली मालूम पड़ेंगी, क्योंकि झरना उन पर बिखर-बिखर जाएगा, टूटेगा और बिखर जाएगा और चट्टानें अकड़ी खड़ी रहेंगी; लेकिन सौ साल बाद झरना बह रहा होगा, चट्टानें रेत हो चुकी होंगी, उनका कोई पता न रह जाएगा। वह जो पहले दिन बहुत एग्रेसिव मालूम पड़ी थी चट्टानें, टूटने कोबिल्कुल राजी नहीं, और पानी जोबिल्कुल ही विनम्र मालूम पड़ा था, कि पत्थर ने जैसा कहा वैसा हो गया था, वह सौ साल में जीत गया है।
पुरुष की जीत प्राथमिक हो सकती है, अंतिम जीत स्त्री की हो जाती है।
वह पैसिव, प्रतीक्षा है, वह अनंत प्रतीक्षा है। वह चुप, चुप पानी की तरह जगह दे देगी, प्रतीक्षा करेगी, धैर्य रखेगी। लेकिन पुरुष जो शिक्षा दे रहा

है स्त्री को, वह उसे पुरुष बनाए दे रही है, वह भी अधीर हुई चली जा रही है। वह भी आक्रामक हुई चली जा रही है, वह भी हमलावर हो रही है; वह भी एक्टिव हो रही है। वह उसके परिणाम घातक हो रहे हैं। उससे स्त्रियों का मन अपने मूल स्वभाव से ही विच्युत हुआ चला जा रहा है। इसलिए पश्चिम में एक दुर्घटना घटी, जो यहां भी घट जाएगी। वहां स्त्री करीब-करीब पुरुष के पास आ गई है, पुरुष जैसी होकर। लेकिन उसने अर्थ खो दिया है। उसने व्यक्तित्व की गरिमा, और गौरव, और संगीत और काव्य सब खो दिया है। उसने वह विनम्रता भी खो दी है, जो उसका गुण थी।
स्त्री को एक और तरह की शिक्षा चाहिए जो उसे संगीतपूर्ण व्यक्तित्व दे, जो उसे नृत्यपूर्ण लयबद्ध व्यक्तित्व दे; जो उसे प्रतीक्षा की अनंत क्षमता दे; जो उसे मौन की, चुप होने की, अनाक्रामक होने की, प्रेम की और करुणा की गहरी शिक्षा दे। सामान्यतया सभी स्त्रियां सोचती हैं कि उन्हें प्रेम उपलब्ध है, लेकिन, प्रेम भी कला है जो उपलब्ध नहीं है। कोई पैदा होते से ही प्रेम करने में सक्षम नहीं है।
और मनुष्य एक बहुत अदभुत प्राणी है। अगर हम अपने बच्चों को पैदा होने
के बाद चलना न सिखाएं तो बहुत संभव है, वह चलना सीखें ही न। ऐसे बच्चे हैं, कलकत्ते के दो बच्चों को कुछ भेड़िए उठा कर ले गए थे रात, फिर जंगल से उनको दो-चार साल बाद पकड़ा जा सका, कोई बीस साल, तीस साल पहले। तब उनकी उम्र हो गई थी, कभी का उनको चलना शुरू कर देना चाहिए था। लेकिन भेड़ियों के पास रहने की वजह से वे दो हाथ-पैर से नहीं, चारों हाथ-पैर से चलते थे। अभी लखनऊ के पास अभी चार-पांच वर्ष पहले एक लड़का पकड़ा गया, जिसकी उम्र चौदह साल थी। उसको भी भेड़ियों ने अपनी मांद में पाल लिया था। वह भेड़ियों के बच्चों के पास पला था। चौदह साल का था, लेकिन चलता चारों हाथ-पैर से था! उसे पता ही नहीं चला था कि दो से चलना है। और जब उसे पकड़ लिया गया तब बड़ी मुसीबत हुई। छह महीने लग गए उसको सीधा खड़ा करने में, क्योंकि उसकी हड्डी सब सख्त हो गई थी। वह मुड़ती नहीं थी। चौदह साल का होकर भी वह एक शब्द नहीं बोल सकता था आदमी का, सिर्फ भेड़ियों जैसी आवाज करता था। छह महीने लग गए उसको सिर्फ राम शब्द बुलवाना सिखाने में। राम उसका नाम रख दिया। यही बड़ी भारी घटना थी कि छह महीने में वह राम कहना सीख गया। लेकिन इससे वह इतना परेशान हो गया यह भाषा का सिखाना, एक शब्द का सिखाना और दो पैर पर खड़े होना कि वह नौ महीने बाद मर गया। डाक्टरों का कहना है कि मरने का कुल कारण इतना है कि उसे यह आदमी का होना सीखना इतना परेशानी लाए हुए था कि वह एकदम परेशान हो गया, उसकी नींद खत्म हो गई। वह एकदम स्वस्थ था, वह जंगली जानवर की तरह स्वस्थ था, वह कभी बीमार ही नहीं पड़ा था जंगल में। बड़ा शक्तिशाली था, लेकिन वह नौ महीने में आदमी के इंतजाम में समाप्त हो गया।
हम अपने बच्चों को चलना सिखाते हैं तो ही वे चलना सीख पाते हैं। असल में आदमी के भीतर अनंत संभावना है, आदमी बहुत लिक्विडिटी है, वह बहुत तरल है। उसे हम जो सिखाते हैं, वह वही होना शुरू हो जाता है। लेकिन प्रेम के संबंध में बड़ा दुर्भाग्य है। आदमी को ऐसा ख्याल है कि प्रेम हम जानते ही हैं। वह एकदम सरासर झूठी बात है। और इसलिए उस प्रेम के किनारे ही हमारी नाव टकरा कर नष्ट हो जाती है। न तो पुरुष प्रेम जानते हैं, और न स्त्रियां प्रेम जानती हैं। प्रेम की भी बहुत बड़ी व्यवस्था और सुविधा होनी चाहिए, जहां प्रेम सीखा जा सके। जैसे, उदाहरण के लिए, जो आदमी प्रेम सीखेगा, उस आदमी से ईर्ष्या विदा हो जानी चाहिए क्योंकि ईर्ष्या और प्रेम का एक साथ अस्तित्व नहीं हो सकता। लेकिन सभी स्त्रियां प्रेम करती हैं, सभी पुरुष प्रेम करते हैं, लेकिन साथ में ईर्ष्या का जहर पूरी तरह खड़ा रहता है। यह ऐसा ही है जैसे कि हमने फल तो बहुत अच्छा बोया, लेकिन रोज उसमें जहर भी पानी में सींचते गए। तो वह मीठा फल जो था, वह जहरीला होकर खतरनाक हो जाता है। ईर्ष्या जहां है, वहां प्रेम संभव नहीं है।
ईर्ष्या और प्रेम का कोई संबंध ही नहीं है। लेकिन जैसा मैंने कहा कि स्त्री और पुरुष के मनस में एक फर्क है--पुरुषों का मन एक्टिव है, सक्रिय है, इसलिए पुरुषों का मूल दुर्गुण अहंकार है। और स्त्रियों का मन पैसिव है, निष्क्रिय है, इसलिए स्त्रियों का मूल दुर्गुण ईर्ष्या है।

ईर्ष्या निष्क्रिय हुआ अहंकार है और अहंकार सक्रिय हो गईईर्ष्या है। पुरुष अहंकार से मरे जाते हैं और स्त्रियां ईर्ष्या से मरी जाती हैं। उनका सारा चौबीस घंटे का जीवन, जन्म से लेकर मरने तक ईर्ष्या के केंद्र की परिधि पर घूमता है, इसलिए जब एक स्त्री दूसरी स्त्री से मिलती है तो जो बात उसे सबसे पहले दिखाई पड़ती है, गहने क्या हैं, कपड़े क्या हैं, घड़ी कैसी है, घड़ी का पट्टा कैसा है, चप्पल कैसी है--सबसे पहले एकदम दिखाई पड़ जाता है! व्यक्ति नहीं दिखाई पड़ता, यह सब दिखाई पड़ जाता है। ये उसकी ईर्ष्या के बिंदु हैं। आश्चर्यजनक है, लेकिन सत्य है। दो स्त्रियों को साथ रखना बहुत कठिन मामला है। उनको घंटे भर भी साथ रखना बहुत कठिन मामला है। हां, एक ही रास्ता हो सकता है कि वे तीसरी स्त्री की ईर्ष्या में निंदा कर रही हों, तो घंटे भर बैठ सकती हैं।
ईर्ष्या जिनका जीवन आधार बन गया हो उनसे प्रेम की संभावना कम हो जाएगी। लेकिन ईर्ष्या ही उसका सारा व्यक्तित्व हो गया है। अगर घर भी सजाया जा रहा है तो घर सजाने का रस नहीं है कारण, पड़ोस के घर से हो गईईर्ष्या है। अगर कार की गद्दियां बदली जा रही हैं तो कार की गद्दियां बदली जाएं, स्वच्छ हों, ताजी हों, नई हों, अच्छी हों, यह कारण नहीं है, कलात्मक हों, यह कारण नहीं है, पड़ोस के घर की गाड़ी की गद्दियां बदल गई हैं! सारा व्यक्तित्व जैसे ईर्ष्या से चल रहा है। इसलिए स्त्रियों के फैशन का कोई भरोसा नहीं कि तीन महीने चलेगी, छह महीने चलेगी, कितनी देर चलेगी। उसका कुल कारण इतना है कि एक स्त्री भी सारी स्त्रियों कोईर्ष्या से भर सकती है और फैशन फौरन बदल जाएगा।
पश्चिम में तो कपड़ों के दुकानदार सुंदर स्त्रियों को पाल कर रखे हुए हैं। जिनके कपड़े वे छह महीने में बदल देते हैं। उनके कपड़े बदले कि बाकी सभी स्त्रियों के पुराने कपड़े बेकार हो जाते हैं। फिल्म अभिनेत्रियां सारी दुनिया के कपड़े वाले और फैशन के सामान वाले खरीद कर रखे हुए हैं। अभी मैं एक घटना पढ़ रहा था, अमरीका की एक बड़ी फिल्म अभिनेत्री ग्रेटा गार्बो, उससे कोई पूछने गया था कि तुम्हारे चेहरे पर जो इतना लावण्य है, इतना सौंदर्य है, इसका कारण क्या है? उसने कहा कि पंद्रह दिन बाद बता सकूंगी। उसने कहा: क्यों, अभी पता नहीं? उसने कहा: अभी मेरी दो साबुन की कंपनियों से बातचीत चलती है, जिससे ज्यादा तय हो जाए, वही साबुन मेरे सौंदर्य का कारण है। पंद्रह दिन बाद यह तय होगा! अभी बातचीत चलती है, निगोसिएशंस चल रहे हैं। कौन कंपनी ज्यादा पैसा दे सकती है, वही साबुन मेरे सौंदर्य का कारण बन जाएगा।
इसलिए साबुन की फोटो अकेली नहीं छापनी पड़ती है। अकेली साबुन की फोटो
से कोईप्रभावित न होगा। साथ में एक सुंदर स्त्री छापनी पड़ती है, बस, फिर वह साबुन और स्त्रियों के मन को पकड़ लेता है। क्या आपको पता है, आज दुनिया की सारी उद्योग की व्यवस्था का पचहत्तर प्रतिशत स्त्रियों के साज सामान, पाउडर, साबुन, कपड़े इत्यादि में नष्ट हो रहा है। पहले पाउडर खरीदना पड़ता है, फिर उस पाउडर को धोने के लिए साबुन खरीदनी पड़ती है। फिर साबुन पाउडर को धो डालती है तो फिर पाउडर खरीदना पड़ता है और वह सिलसिला चलता रहता है। पचहत्तर प्रतिशत सारे मनुष्यों की शक्ति स्त्रियों की इस व्यवस्था में व्यय हो रही है और वह रोज बदल जाती है, क्योंकि अगर एक ही साबुन चलती रहे तो कितने उद्योगपति उससे लाभ उठा सकते हैं? और अगर एक ही पाउडर चलता रहे तो कितने उद्योगपति उससे लाभ उठा सकते हैं? और अगर एक ही फैशन रहे तो फिर कपड़ों की कितनी जाति पैदा की जा सकती हैं? फिर बहुत मुश्किल हो जाए। और इस सबके बुनियाद में स्त्री की ईर्ष्या को समझ लिया गया है। आज धंधेबाज, विज्ञापनदाता सब स्त्री की ईर्ष्या को समझ लिए हैं। यह तो मजे की बात है। मैं अभी आंकड़े पढ़ रहा था, आंकड़े मैं देख रहा था। मैंने किसी मित्र को लिखा था, स्त्रियों की पसंद, जो वह खरीदती हैं, उसमें पुरुषों का कोई हाथ नहीं होता सौ में से सौ मौकों पर। लेकिन मैंने एक मित्र को पूछा कि मैं यह जानना चाहता हूं कि पुरुष जो खरीद-फरोख्त करते हैं, उसमें स्त्रियों का कितना हाथ होता है? उसने मुझे सब आंकड़े भेजे, अमरीका के एक नगर के आंकड़े थे। आंकड़े बड़े दंग करने वाले हैं। स्त्रियां अपनी जो चीजें खरीदती हैं, वे

तो सौप्रतिशत अपनी पसंद से खरीदती हैं, और पुरुष भी जो चीजें खरीदता है उसमें भी सत्तर प्रतिशत स्त्रियों की पसंद होती है। अगर गाड़ी किस रंग की खरीदनी है उसमें सत्तर मौके पत्नी के रंग के चुनाव के होते हैं, तीस मौके पुरुष के चुनाव के होते हैं। पुरुष भी कौन से कपड़े पहने इसमें भी सत्तर परसेंट स्त्रियां तय करती हैं, तीस परसेंट पुरुष। इसलिए पश्चिम के विज्ञापन-दाताओं ने पुरुष की फिकर ही छोड़ दी। वे कहते हैं, एक सौ सत्तर दो सौ चीजों में से एक सौ सत्तर चीजें स्त्री को खरीदनी हैं; स्त्री की फिकर कर लो, पुरुष की चिंता मत करो, उसे जाने दो। इसलिए सारा का सारा विज्ञापन का, पूरा का पूरा धंधा स्त्री पर केंद्रित होकर चल रहा है कि स्त्री को किसी भांति--वे दुकानें, इसकी रिसर्च करती हैं।
अमरीका में एक दुकान ने रिसर्च की है, तो उसने इस बात का पता लगवाने की कोशिश की है कि स्त्रियां सर्वाधिक किस रंग से प्रभावित होती हैं। तो अपने डिब्बों पर वही रंग होना चाहिए। इसकी उन्होंने फिकर की और पता लगा लिया। उन्होंने सब रंगों के बाबत जांच-पड़ताल की। तो अब जिस चीज का डिब्बा बनाना हो, मनोवैज्ञानिक सलाह देता है कि अगर इसको ज्यादा बेचना हो तो इस पर यह रंग डालना। स्त्री इस रंग से प्रभावित होती है। यह भी मनोवैज्ञानिक बताता है कि जब दुकान में चीजों को सजाओ तो अलमारी में किस ऊंचाई पर रखना, क्योंकि स्त्री की आंख किस कोण से सर्वाधिक प्रभावित होती है, इसकी भी रिसर्च चलती है और उन्होंने उसका भी अंदाज लगा लिया! अगर कोई चीज कम बेचनी हो तो इतनी ऊंचाई पर रखना है। और ज्यादा बेचनी हों तो इतनी ऊंचाई पर रखना और बिल्कुल न बेचना हो तो इतनी निचाई पर रखना है, वहां नजर ही न जाएगी। तो दुकानदार को जिस चीज में ज्यादा फायदा है, वह स्त्री की आंख के बराबर ऊंचाई पर रखेगा अलमारी में।
अभी एक नई उन्होंने फिकर की। एक दुकान बहुत दिनों से उत्सुक थी, आज तो अमरीका में उद्योग बिल्कुल वैज्ञानिक होता चला जाता है, तो सारे बड़े उद्योग बड़े वैज्ञानिकों को अपने पीछे लगाए हुए हैं, कि जांच-पड़ताल वे करते रहें। एक दुकान ने इस बात की जांच-पड़ताल की कि दुकान के काउंटर पर जो लोग खड़े होते हैं अगर स्त्रियां खरीदने आतीं--अब तो सारी खरीद-फरोख्त स्त्रियां करती हैं--तो स्त्रियों से पूछना, क्या लेना है आपको? इससे दुकान को नुकसान होगा। क्योंकि अगर स्त्रियों से पूछा जाए कि क्या लेना है आपको तो उन्हें घर से तय करके आना पड़ता है कि क्या लेना है। उनको अगर दो चीजें खरीदनी हैं तो वे दो ही चीजें बता सकती हैं।
इसलिए मनोवैज्ञानिकों ने उन दुकानदारों को सलाह दी कि काउंटर पर से आदमियों को हटा दो। दरवाजे पर स्त्री को एक छोटा ठेला दे दिया जाता है, ठेलागाड़ी, और उसे दुकान में भेज दिया जाता है कि तुम्हें जो पसंद हो वह निकाल कर ठेलागाड़ी में रख लाओ। तो वह जो चीजें खरीदने आई थीं उनकी तो फिकर ही भूल जाती है। जो चीजें उसने कभी न खरीदी होतीं वह दुकान में एकांत पाकर और चुन कर अपनी गाड़ी में डाल कर बाहर आ जाती हैं। इसका हिसाब लगाया तो पता चला कि दस चीजें जो स्त्रियां इस तरह खरीदती हैं, अगर उनसे पूछा गया होता कि तुम्हें क्या चाहिए और नौकर ने लाकर चीज दी होती तो वे केवल तीन चीजें खरीदतीं। इस हालत में उन्होंने दस चीजें खरीदीं। तीस चीजों की बिक्री होती अब सौ चीजों की बिक्री होगी। सत्तर चीजें वे व्यर्थ ही खरीद कर लौट गई।
लेकिन वह व्यर्थ खरीदने का कारण क्या है? कपड़े बदलने का इतना कारण क्या है? सौंदर्य के प्रसाधनों की इतनी बिक्री का कारण क्या है?
ईर्ष्या उसके बहुत गहरे में कारण है। चारों तरफ ईर्ष्या पकड़े हुए है। स्त्री के मन से ईर्ष्या नष्ट न हो तोस्त्री कभी भी ठीक अर्थों में प्रेमपूर्ण नहीं हो सकती। क्योंकि ईर्ष्या का जहर उसके सारे जीवन को खा जाता है। ईर्ष्या भय दे देती है, ईर्ष्या डरा देती है। तोस्त्री की समझ के बाहर ही हो जाता है, अगर उसका पति किसी दूसरी स्त्री को गौर से भी देख ले तो जहर की लहर फैल जाती है। इसलिए अगर कोई पति सड़क पर बिल्कुल सम्हला हुआ चल रहा हो और इधर-उधर न देखता हो तो समझ लेना कि उसकी पत्नी आस-पास है। और अगर कोई पुरुष सड़क पर बिल्कुल मौज से चल रहा हो और कोईस्त्री साथ में हो, सब

तरफ देख रहा हो, प्रसन्न हो तो समझ लेना कि साथ में पत्नी नहीं है, किसी और की पत्नी हो सकती है।
ईर्ष्या ने भय भी पैदा कर दिया है। पुरुष स्त्री से डरा हुआ है, घबड़ाया हुआ है, एक मुक्त और सहज संबंध नहीं रह गया। सब स्ट्रेंज हो गया है, सब तन गया है। तो घर शांत कैसे हो सकता है। शांति के फूल तो बहुत सहजता में खिलते हैं। जहां ईर्ष्या नहीं है, जहां समझ है। जहां ईर्ष्या नहीं है, जहां प्रेम है। जहां ईर्ष्या नहीं है, जहां भय नहीं है, जहां अभय है और जहां एक दूसरे को समझने की चेष्टा है। एक-दूसरे की कमजोरी को भी, एक-दूसरे के दुख और पीड़ा को भी, एक-दूसरे से सहानुभूति रखने की भी क्षमता है।
और ध्यान रहे, पुरानी शिक्षा ने इस तरह की बातें सिखाई हैं कि हम एक दूसरे को कभी समझ ही नहीं पाते। पुरानी शिक्षा ने ऐसे आदर्श दिए हैं कि उनकी वजह से हम बिल्कुल विक्षिप्त हुए चले जाते हैं। यह बहुत आश्चर्यजनक नहीं है कि अगर रास्ते पर निकले हैं और कोई सुंदर पुरुष किसी स्त्री को दिखाई पड़े तो उसे अच्छा न लगे। कुछ आश्चर्यजनक नहीं है। सुंदर जो है वह अच्छा लग सकता है। जरूरी नहीं कि वह पति हो, और जरूरी नहीं है कि अच्छा लगने से कोई पाप हो गया। और अगर एक सुंदर स्त्री दिखाई पड़े तो किसी पुरुष को अच्छी लग सकती है, वह दो क्षण देख सकता है। इसमें न कुछ पाप है। लेकिन इसको भी पाप बना दिया है, अपराध बना दिया है। वह हमारी ईर्ष्या ने जो जाल बुना है सिद्धांतों का, उसने बहुत उपद्रव खड़ा कर दिया है। उसकी वजह से कोई भी सहज नहीं हो पातो। और जब हम सहज नहीं हो पाते हैं तो उसका परिणाम होता है, एक दूसरे पर क्रोध से भर जाते हैं। पति और पत्नियां एक-दूसरे पर क्रोध से भरे हुए हैं, बजाय एक-दूसरे के प्रति कृतज्ञता के। बजाय इसके कि पत्नी ने समझा हो कि पति ने उसके जीवन को धन्य किया; पत्नियां समझ रही हैं कि पति ने जीवन को नष्ट किया। बजाय इसके कि पति समझे कि पत्नी ने उसके जीवन को सौरभ दिया, सुगंध दी; पति समझ रहा है, कहां से इस स्त्री के उपद्रव में पड़ गए, यह सब नष्ट हो गया।
मैंने सुना है कि एक आदमी की पत्नी मर गई तो वह बहुत रो रहा है। फिर अरथी उठाई गई। फिर अरथी उठा कर लोग बाहर आए। सामने एक नीम का दरख्त था, उससे अरथी टकरा गई भूल से। वह स्त्री मरी नहीं थी, वह सिर्फ बेहोश थी। वह एकदम चौंक कर उठ आई। घर में बड़ी हैरानी हो गई। सब लोग विदा करने आए थे, वे सब हैरान हो गए। फिर तीन साल बीत गए, फिर वह पत्नी दुबारा मरी। फिर अरथी निकलने लगी। वह पति रो रहा था। लोग अरथी निकाल रहे थे। उसने कहा: भाइयो जरा सम्हाल कर निकालना। कहीं नीम से फिर न टकरा जाए, क्योंकि पिछली बार यह भूल हो गई थी। अब ऐसे वह रो भी रहा है पत्नी के मर जाने पर, ऐसे, लेकिन भीतर उसका कोई कोना प्रसन्न भी हो रहा है।
इतनी ही दुविधा हो गई है हमारे संबंधों में--स्त्री और पुरुष के बीच इतनी ही दुविधा हो रही है! पत्नी रोएगी पति के मर जाने पर। कितनी बार उसने नहीं सोचा है कि इससे छुटकारा ही हो जाए, इससे समाप्त ही हो जाए तो अच्छा है। पति रोएगा पत्नी के मरने पर। और कितनी बार उसने नहीं सोचा है कि इससे न मिलना होता तो ही अच्छा होता, यह मर ही जाए तो अच्छा है। यह भी साथ में चल रहा है। ये दोनों बात साथ चलेंगी तो हमारे संबंध आनंदपूर्ण, शांतिपूर्ण कैसे हो सकते हैं? और अगर परिवार ही शांतिपूर्ण न हो तो यह पृथ्वी शांतिपूर्ण नहीं हो सकती है।
इसलिए दूसरी बात यह कहना चाहता हूं कि स्त्री को थोड़ा सोच-विचार, खोज-बीन करनी जरूरी है, बड़े सामूहिक तल से कि ईर्ष्या कैसे नष्ट की जाए। ईर्ष्या के रहते स्त्री का व्यक्तित्व कभी प्रेमपूर्ण नहीं हो सकता। और प्रेम ही स्त्री का प्राण है, उसकी आत्मा है। अगर वह प्रेमपूर्ण न हो पाए तो बस वह अधूरी रह जाएगी। उसके भीतर कुछ हमेशा बढ़ने को रुका रह जाएगा--पीड़ा और दुख और परेशानी उसको घेर लेगी। अगर कोईस्त्री ठीक से प्रेम न कर पाए तो हजार बीमारियां उसे पकड़ लेंगी।
मनोवैज्ञानिक तो कहते हैं कि स्त्रियों के सारे हिस्टीरिया, और बीमारियों में अस्सी परसेंट बीमारियां, उनके प्रेम की उपलब्धि नहीं हो पाई, उसके ही कारण हैं। अगर किसी स्त्री को जीवन में प्रेम पूरी तरह मिल

जाए तो वह अचानक स्वस्थ हो जाती है। उसके जीवन का फूल ऐसा खिल जाता है, जैसा कभी भी न खिला था। उसकी सब बीमारियां विदा हो जाती हैं। उसके सारे व्यक्तित्व में एक तरंग शांति की छा जाती है। उसके सारे व्यक्तित्व में एक सुगंध आ जाती है, जो कभी भी नहीं थी। उसका व्यक्तित्व ही बदल जाता है। उसको एक नया व्यक्तित्व ही मिल जाता है, एक नई आत्मा ही उपलब्ध हो जाती है। लेकिन वह तो उपलब्ध नहीं हो पा रही है। उसको उपलब्ध करने के लिए हम बड़े गलत उपाय कर रहे हैं।
एक तो मैंने कहा कि हम यह उपाय कर रहे हैं कि कपड़े-लत्ते बदलें, यह करें, वह करें। उससे कोई वह रौनक न आएगी जोप्रेम से आनी है। कोई पाउडर, कोई व्यवस्था उस रौनक को न ला सकेगी, आंखों में वह चमक न ला सकेगी जोप्रेम ले आता है। चमड़ी पर कोई चमक न ला सकेगी जोप्रेम ले आता है।
अब तो इस पर सोचना शुरू हो गया है कि प्रेम के पास भी अपने तरह की वाइटेलिटी है, अपने तरह की विटामिन्स हैं और हो सकता है, भविष्य में हमें कभी यह समझना पड़े कि प्रेम के पास जैसे विटामिन्स हैं, शायद वैसे विटामिन्स किसी विटामिन में नहीं हैं। एक भूखा आदमी भी प्रेम मिल जाए, उससे तो ऐसा प्रफुल्लित हो जाता है, जैसे उसके जीवन में सब तरफ नई शक्ति के स्रोत दौड़ गए। जैसे झरने आ गए उसकी जिंदगी में, सब हरा हो जाता है। लेकिन वह सब तरफ कुम्हला गया है। सब कुम्हला गया है और उस कुम्हलाने की जड़ में नारी है।
और उस नारी को उस स्थिति में लाने में पुरुष का हाथ है। पुरुष ने उसका व्यक्तित्व छीन लिया है, उसको दबा कर रख दिया है, उसको पजेस कर लिया है, उसका मालिक बन गया है। उसको गुलाम बना डाला है। और स्त्री गुलाम बनने को राजी हो गई है। दोनों का हाथ है। स्त्री मिटने को राजी हो गई है। स्त्री अपने को छाया बनाने को राजी हो गई है। दोनों का हाथ है। और दोनों के इस हाथ ने बहुत अशांति पैदा कर दी है। इतना तनाव है कि अगर हम एक-दूसरे की खोपड़ी खोल सकें और खोपड़ी के भीतर से सारा तनाव बाहर निकाल सकें तो हम बहुत दंग रह जाएंगे। इतने छोटे सिर और इतना तनाव और इतनी परेशानी! इतनी बेचैनी, इतनी चिंता! इतना दुख! घबड़ाने वाला है, इसलिए कभी हम अपने भीतर भी नहींझांकते। स्त्रियां तोबिल्कुल नहींझांकती, वे तो बाहर ही लगी रहती हैं पूरे समय। वह कभी भीतर नहींझांकती। न झांकने का कारण है। भीतर, भीतर बहुत विरस हो गया है। भीतर कुछ रस नहीं है। चूंकि इतना विरस हो गया है भीतर, इसलिए स्त्रियां क्रिएटिव नहीं हो पातीं, सृजनात्मक नहीं हो पातीं।
यह दंग करने वाली बात है। होना तो यह चाहिए था कि स्त्रियों से अच्छी पेंटिंग्स किसी ने भी न बनाई होती। पुरुष को हार जाना चाहिए था। लेकिन अब तक कोई बड़ी स्त्री पेंटर नहीं हुई हैजिसके चित्र प्रथम कोटि में रखे जा सकें। होना तो यह चाहिए था कि काव्य में पुरुषों की कोई गति न हो पाती। लेकिन काव्य की दिशा में भी स्त्री का कोई बड़ा दान नहीं है। आश्चर्यजनक है, यह काव्य और यह संगीत और यह सब छोड़ दें हम। जान कर हैरानी होगी कि पाक शास्त्र में भी जितनी खोजें हैं, सब पुरुष की हैं, स्त्री की कोई खोज नहीं है। और आज भी जमीन पर जो बड़े रसोइए हैं वे पुरुष हैं, वे स्त्रियां नहीं हैं! आज भी कोई बड़ी होटल किसी स्त्री को रसोइया रखने को राजी नहीं है। उसकी क्रिएटिविटी, उसकी सृजनात्मक होने की क्षमता ही उसने खो दी है। वह कुछ निर्माण ही नहीं कर पाती, वह सिर्फ दोहराए चली जाती है। जो खाना कल बनाया था, वह खाना आज भी बना लेती है! जिस भांति से कल सुबह घर साफ किया था, आज भी साफ कर लेती है। क्या कारण है?
यह सृजन का स्रोत जब कि स्त्री में ज्यादा होना चाहिए, क्योंकि वह संतति की जन्मदात्री है, वह नौ महीने तक बच्चों को पेट में रखती है, फिर उन्हें बड़ा करती है। वह मनुष्यों को भी पैदा करती है और निर्माण करती है। और दूसरा निर्माण उससे क्यों नहीं हो पाता? जरूर कुछ कारण हैं।
सच तो यह है कि वह बच्चों की मां भी करीब-करीब मजबूरी में बनती है। वह
भी उसकी प्रसन्नता नहीं रह गई है। अगर उसका वश चले, और जिन देशों में उसका वश चल रहा है, उसने बच्चों से इनकार कर दिया है। हम इधर हिंदुस्तान जैसे देश में जनसंख्या से परेशान हैं। फ्रांस जैसे देश में जहां कि स्त्रियां

सर्वाधिक शिक्षित हो गई हैं, वहां फ्रांस की सरकार चिंतित है कि कहीं ऐसा न हो कि जनसंख्या गिरती जा रही है, तो कहीं ऐसा न हो कि मुल्क सिकुड़ता जाए। पास-पड़ोस के लोग ज्यादा हो जाएं, हम कल मुसीबत में पड़ जाएं। फ्रांस की जनसंख्या तीस साल से थिर है और इधर पांच साल से नीचे गिर रही है। तोफ्रांस की सरकार घबड़ा गई है कि क्या होगा? स्त्रियों ने बच्चे पैदा करने से इनकार कर दिया, क्योंकि स्त्रियां यह कहती हैं कि नहीं।
क्या कारण है? सृजनात्मकता से इतना विरोध? उन्होंने पहले चित्र नहीं बनाए, कविता नहीं की, ठीक था। अब वे कहती हैं कि बच्चे भी नहीं बनाएंगी। क्यों? उनके भीतर इतना दुख और पीड़ा है कि बनाने का ख्याल ही उन्हें नहीं आता। सृजन पैदा होता है आनंद से। सृजन की धारा फूट पड़ती है, जब कोई आनंदित होता है तो सृजन करना चाहता है। और जब कोई दुखी होता है तो विध्वंस करना चाहता है। कभी पता होगा, अगर घर में पति से झगड़ा हो जाए तो उस दिन प्लेट ज्यादा टूट जाती हैं, जैसे कभी न टूटी थी! उस दिन कांच के गिलास अचानक हाथ से छूट जाते हैं और जमीन पर.जार-.जार हो जाते हैं। अगर इनका आंकड़ा इकट्ठा किया जाए तो जिस दिन कांच टूटा हो घर में, प्लेट ज्यादा टूटी हों, उनके अगर आंकड़े रखे जाएं और हिसाब लगाया जाए, तो वे वे ही दिन होंगे जिस दिन घर में कलह हुई है, संघर्ष हुआ है, उपद्रव हुआ है। हां, कभी-कभी छूट भी जाते होंगे, वह दूसरी बात है। लेकिन अगर हिसाब रखा जाए तो पक्का पता चल जाता है कि जिस दिन मन क्रोध में है, उस दिन चीजें तोड़ने का मन हो जाता है।
क्रोध, दुख, चीजों का विध्वंस करना चाहता है। आनंद चीजों का निर्माण करना चाहता है। स्त्रियां दुखी हैं, अशांत हैं, इसलिए सृजन नहीं कर पातीं। क्या किया जा सकता है?
अंतिम इस बात पर विचार करें कि किया क्या जा सकता है। पुरुष का हाथ है स्त्रियों को उस दिशा में लाने में। लेकिन स्त्रियों की सहमति है। और जब कोई किसी को गुलाम बनाता है तो गुलाम बनाने वाला ही जिम्मेवार नहीं होता, बन जाने वाला भी उतना ही जिम्मेवार होता है। इस दुनिया में किसी की सहमति के बिना किसी को गुलाम नहीं बनाया जा सकता। पुरुषों को समझना होगा कि स्त्रियों को व्यक्तित्व दे दें, प्रेम के नाम पर व्यक्ति की हत्या न करें। स्त्रियों को मुक्त करें। उन्हें अपने अस्तित्व में खड़ा होने दें। वे किसी की पत्नियों की भांति न पहचानी जाएं, अपने ही नाम से पहचानी जाएं, सीधी और स्पष्ट।
अभी परसों मुझसे कोई मिलने आया था, कोई फिल्म-कथा लेखक थे। तो उनका तो परिचय हुआ तो उनका नाम बताया गया कि फलां-फलां हैं और उनकी पत्नी है, उनका बताया गया कि वह फलां-फलां की पत्नी हैं। तो मैंने कहा कि तुम्हारा पत्नी होने के अतिरिक्त और कोई होना नहीं है। छोड़ो, तुम पत्नी होओगी अपने पति के घर में। मुझे तुम्हारे पति से क्या मतलब? मुझे सीधी बात करो, तुम कौन हो। उसने कहा: नहीं-नहीं, मैं मिसेज फलां-फलां। मैंने कहा: वह अपने पति से तुम्हारा संबंध है। मुझसे क्या लेना-देना है! होओगी तुम किसी की श्रीमती, लेकिन मुझसे क्या मतलब है, मुझसे सीधी बात करो। तुम्हारे पति नहीं कहते कि मैं श्रीमान फलां-फलां, मैं फलां-फलां का पति हूं, वह कभी भी नहीं कहते। वह कहते, मैं मैं हूं और तुम पत्नी हो सदा!
पत्नी होना तुम्हारे व्यक्तित्व का एक हिस्सा है। मां होना तुम्हारे व्यक्तित्व का एक हिस्सा है। रसोई में खाना बनाना तुम्हारे व्यक्तित्व का एक हिस्सा है, तुम रसोइयन नहीं हो गई हो। और साफ करती हो घर तो तुम बुहारी लगाने वाली नहीं हो गई हो, और बच्चे का पाखाना फेंकती हो तो भंगिन नहीं हो गई हो। तो पति के साथ प्रेम करती हो तो पत्नी कैसे हो गई? तुम्हारे काम हैं बहुत, उनमें एक काम वह भी होगा। लेकिन फिर भी तुम तुम हो। तुम्हारा होना अलग से तुम्हारे कामों से प्रकट होना चाहिए।
पुरुष को मुक्ति देनी चाहिए कि स्त्री अपने पैरों पर खड़ी हो सके। लेकिन ध्यान रहे, अगर स्त्री ने यह प्रतीक्षा की कि जब पुरुष हमें मुक्त करेगा, तभी हम मुक्त होंगी; तो वह मुक्ति भी एक गुलामी होगी। क्योंकि जब दूसरा हमें मुक्त करेगा तभी हम मुक्त होंगे, तो उस मुक्ति का कोई मतलब नहीं। स्त्रियों को मुक्त होने की दिशा में कदम उठाना चाहिए। उन्हें अपने

व्यक्तित्व को अलग से निर्मित करने का विचार करना चाहिए। इतना नहीं है कि पत्नी होने पर सब समाप्त हो गया। उन्हें कवि भी होना चाहिए, संगीतज्ञ भी होना चाहिए, नृत्यकार भी होना चाहिए, चित्रकार भी होना चाहिए। उनकी अपनी जिंदगी की अपनी दिशा होनी चाहिए।
पत्नी होना उनकी जिंदगी की सब कुछ पूर्णता नहीं है। पत्नी होना इति नहीं है। वह अंत नहीं है। लेकिन पत्नी हो जाने के बाद "दि एंड" आ जाता है, एकदम से इति आ जाती है। फिर उसके बाद फिर कुछ नहीं होना है। पत्नी होना होने की शुरुआत होनी चाहिए, लेकिन वह होने का अंत हो जाता है! उसके बाद फिर कुछ भी नहीं होना है, सब काम हो गया! जैसे किसी स्त्री ने पति खोज लिया, उसकी जिंदगी पूरी हो गई, मौत आ गई, खत्म हुआ मामला! इसके बाद उसको कुछ भी नहीं करना है! बस जब तक पति खोजना था, तब तक वह कुछ करती थी। लेकिन जब पति खोज लिया तब सब समाप्त हो गया!
नहीं, जिंदगी बहुत ज्यादा है। जिंदगी में और फूल खिल सकते हैं, जिंदगी में और संगीत आ सकते हैं, जिंदगी में बहुत रस हो सकता है, लेकिन पत्नी भर हो जाने से, वह रस कभी भी नहीं होगा। कुछ और भी करना पड़ेगा। और जब वह रस होगा, जब वह आनंद होगा, जब पत्नी अपनी हैसियत से खड़ी होगी, सृजन करेगी, निर्माण करेगी, जिंदगी की दिशाओं में अपनी तरफ से खोज करेगी।
पुरुष ने रोका उसे इस खोज से, क्योंकि पुरुष को डर है कि वह और खोज में जाएगी तो वह और पुरुषों के संपर्क में भी आ सकती है। वही डर आत्मघाती हो गया। उसे डर है कि अगर उसकी पत्नी पेंटर बनेगी तो पुरुष उसकी पेंटिंग की क्लास में कहां उसके पीछे जाकर खड़ा रहेगा। उसका मन है कि वह डंडा लेकर वहां भी खड़ा रहे, वह देखता रहे कि पत्नी किसी से बात तो नहीं करती? किसी से आनंदित होकर हंसती तो नहीं है? इस डर ने पत्नी को घर के भीतर बंद कर दिया, उसे संगीत सीखने जाने में डर हो गया, संगीतज्ञ के पास जाने में डर हो गया, चित्रकार के पास जाने में डर हो गया।
लेकिन वह प्रेम बड़ा कमजोर है जो इतना भयभीत है। ऐसा प्रेम दो कौड़ी का है। अगर मैं अपनी पत्नी को किसी दूसरे पुरुष के पास अकेले में न छोड़ सकूं, बात न कर सके मेरी पत्नी तो मेरा प्रेम बड़ा कमजोर है, बड़ा भयभीत है, है ही नहीं। ऐसे प्रेम को सम्हालने का मतलब भी क्या है जो है ही नहीं। जिस प्रेम के लिए पुलिसवाला बन जाना पड़ता हो उस प्रेम का कोई भी मतलब नहीं, वह है ही नहीं। प्रेम के लिए पुलिसवाले बनने का कोई सवाल ही नहीं है। प्रेम अपनी सुरक्षा है। और अगर प्रेम अपनी सुरक्षा नहीं तो सब सुरक्षा झूठी है, बेमानी है, दो कौड़ी की है। करने की कोई जरूरत नहीं है। तो पुरुष ने इस डर की वजह से स्त्री को घर की चारदीवारी में बंद कर दिया है। पर्दे में डाल दिया है, बुर्का उढ़ा दिया है, घूंघट करवा दिया है, सब तरफ से बंद कर दिया है कि वह किसी के संपर्क में न आ जाए। यह कैसा प्रेम है?
तो मुझे लगता है कि हम प्रेम को विकसित ही नहीं कर पाए, इसलिए इतना भय है, अन्यथा इतना भय न होता। हद्द डरे हुए लोग हैं। वे इतने भयभीत हैं जिसका कोई हिसाब नहीं। उनका भय बताता है कि उन्होंने न प्रेम किया है और न प्रेम पाया है। पत्नी भी भयभीत है, उसका पति कहीं और स्त्रियों के संपर्क में न आ जाए! वह डरी हुई है। वह रोज सांझ हिसाब-किताब रखती है कि कहां थे, कहां नहीं थे, कहां से आए हो, कहां से आ रहे हो, वह सारा पता रखती है! वह सारी जांच-पड़ताल रखती है। उसका पति किसी और स्त्री के जरा से संपर्क में आ जाए तो भय है। यह कैसा प्रेम है, जो इतना कमजोर है। इतने कमजोर प्रेम का कोई मतलब नहीं है। इतना कमजोर प्रेम है ही नहीं। प्रेम बड़ी शक्ति है और पर्याप्त है।
स्त्री को अपनी मुक्ति के लिए अपने व्यक्तित्व को खड़ा करने की दिशा में सोचना चाहिए, प्रयोग करने चाहिए। लेकिन ज्यादा से ज्यादा वह क्लब बना लेती है, जहां ताश खेल लेती है; कपड़ों की बात कर लेती है, फिल्मों की बात कर लेती है, चाय-कॉफी पी लेती है, पिकनिक कर लेती है; और समझती है कि बहुत, शिक्षित होना पूरा हो गया। ताश खेल लेती होगी। पुरुषों की नकल में दो पैसे जुए के दांव पर लगा लेती होगी। बाकी इससे उसको कुछ व्यक्तित्व नहीं मिलने वाला है।

स्त्री को भी सृजन के मार्गों पर जाना पड़ेगा। उसे भी निर्माण की दिशाएं खोजनी पड़ेंगी। जीवन को ज्यादा सुंदर और सुखद बनाने के लिए उसे भी अनुदान करना पड़ेगा, तभी स्त्री का मान, स्त्री का सम्मान, उसकी प्रतिष्ठा है, वह समकक्ष आ सकती है। और मेरे देखने में, स्त्री अगर आनंदित हो जाए तो हम जीवन को शांत करने के मार्ग पर बड़े कदम उठा सकते हैं। मैं तो यहां तक कह सकता हूं, यह किसी को अतिशयोक्ति मालूम हो सकती है; लेकिन मेरी अपनी समझ यह है कि अगर दुनिया से युद्ध और हिंसा खत्म करनी हो तो जो बुनियादी इकाई है स्त्री और पुरुष की, उसको शांत कर दें। अगर वह शांत, प्रेमपूर्ण, आनंदपूर्ण बन जाए तो दुनिया में कोई लड़ने को राजी न होगा।
क्या आपको पता है, सैनिकों को अविवाहित रखना पड़ता है, क्योंकि विवाहित सैनिक ठीक से लड़ने को राजी नहीं होता। सैनिकों को अविवाहित रखना पड़ता है ताकि वे लड़ सकें। असल में जिनके जीवन में प्रेम नहीं है, वे ही लड़ सकते हैं। इसलिए सैनिकों को स्त्रियों से दूर रखना पड़ता है कि कहीं उनके जीवन में प्रेम की किरण न आ जाए। अगर प्रेम आ जाए तो न वे मरना चाहते हैं, न किसी को मारना चाहते हैं, वे फिर जीना चाहते हैं। आज वियतनाम में अमरीका के सैनिक ज्यादा ताकत होने पर भी हारते चले जाते हैं। उसका कुल कारण इतना है कि अमरीका का सैनिक स्त्री के निकट आ गया है। दुनिया का कहीं का सैनिक स्त्री के उतने निकट नहीं है। अमरीकन सैनिक अपनी गर्ल्स फ्रेंडस को लेकर वियतनाम के युद्ध पर पहुंच गए हैं, उनकी लड़कियां दोस्त, उनकी पत्नियां, उनकी प्रेमिकाएं तंबू में उनकी प्रतीक्षा कर रही हैं।
अब एक सैनिक लड़ने गया है और उसकी प्रेयसी तंबू में उसकी प्रतीक्षा कर रही है। वह युद्ध पर लड़ सकेगा? वह दिन भर इस प्रतीक्षा में होगा, किस भांति मैं वापस लौट जाऊं। और क्या वह किसी को मार सकेगा? जो आदमी किसी के प्रेम में है, वह किसी को भी मारने में असमर्थ हो जाता है।
तो पिछले कोरिया के युद्ध में कोरिया में जो अमरीकी जनरल था, उसने रिपोर्ट दी है अमरीकी सीनेट को कि हमारे सौ सैनिक लड़ने जाते हैं, उसमें से चालीस प्रतिशत बंदूकों का उपयोग नहीं करते। वे बंदूकें लटकाए हुए घूम-घाम कर वापस आ जाते हैं। और उनसे कहा जाए कि तुम मारते क्यों नहीं, तो वे कहते हैं कि जीवन इतना आनंदपूर्ण है कि दूसरे के लिए भी तो इतना ही आनंदपूर्ण होगा।
इसलिए पुरुषों को स्त्रियों से दूर रखना जरूरी है, अगर लड़ाना हो। क्योंकि जब उनका जीवन प्रेमपूर्ण नहीं होता, तब वे तोड़ने को, मारने को उत्सुक हो जाते हैं। जब अपना ही जीवन इतना दुखपूर्ण है, तो किसी को भी खत्म करो, कोई फर्क नहीं पड़ता। तोड़ो, मिटाओ, नष्ट करो!
मेरी दृष्टि में इस पृथ्वी पर एक स्वर्ग बन सकता है, लेकिन प्रेम का स्वर्ग ही नहीं बन पाया। वह पहली इकाई पर ही सब गड़बड़ हो गया है। मकान की नींव ही डगमगा गई। ऊपर के शिखर सब कंप रहे हैं। इस पर सोचें। जरूरी नहीं कि मेरी सभी बातें ठीक हों। कौन दावा कर सकता है सभी बातों के ठीक होने का। ऐसा मैं सोचता हूं, वह मैंने कहा। उस पर सोचना। हो सकता है कोई बात ठीक लगे, तो ठीक लगते ही बात सक्रिय हो जाती है। न ठीक लगे, बात समाप्त हो जाती है। मैं कोई उपदेशक नहीं हूं। मुझे जो ठीक लगता है, वह कह देता हूं, निवेदन कर देता हूं।

और मेरी बातों को इतनी शांति और प्रेम से सुना, उससे बहुत अनुगृहीत हूं। और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा कोप्रणाम करता हूं। मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

"नारी और शांति" विषय पर प्रवचन

शिक्षा में क्रांति
चौबीसवां प्रवचन

अंधविश्वासों से मुक्ति

मेरे प्रिय आत्मन्!
मनुष्य का सबसे बड़ा सौभाग्य और दुर्भाग्य एक ही बात में है और वह यह
कि मनुष्य को जन्म के साथ कोई सुनिश्चित स्वभाव नहीं मिला। मनुष्य को छोड़ कर इस पृथ्वी पर सारे पशु, सारे पक्षी, सारे पौधे एक निश्चित स्वभाव को लेकर पैदा होते हैं। लेकिन मनुष्य बिल्कुल अनिश्चित तरल और लिक्विड है। वह कैसा भी हो सकता है। उसे कैसा भी ढाला जा सकता है।
यह सौभाग्य है, क्योंकि यह स्वतंत्रता है। लेकिन यह दुर्भाग्य भी है क्योंकि मनुष्य को खुद अपने को निर्मित करने में बड़ी भूल-चूक भी करनी पड़ती है। हम किसी कुत्ते को यह नहीं कह सकते कि तुम थोड़े कम कुत्ते हो। सब कुत्ते बराबर कुत्ते होते हैं। लेकिन किसी भी मनुष्य को हम कह सकते हैं कि तुम थोड़े कम मनुष्य मालूम पड़ते हो। मनुष्य को छोड़ कर और किसी को हम दोषी नहीं ठहरा सकते। मनुष्य को हम दोषी ठहरा सकते हैं। मनुष्य को छोड़ कर इस पृथ्वी पर और कोई भूल नहीं करता क्योंकि सबकी प्रकृति बंधी हुई है। जो उन्हें करना है, वे वही करते हैं।
मनुष्य भूल कर सकता है। क्योंकि मनुष्य विकास करने की संभावना लिए हुए है। इसलिए मैं कह रहा हूं, यह सौभाग्य भी है क्योंकि स्वतंत्रता है विकास की और दुर्भाग्य भी क्योंकि बहुत भूल-चूक भी करनी स्वाभाविक है। मनुष्य को स्वयं को निर्माण करना होता है, बाकी सारी जातियां, पशुओं की, पक्षियों की निर्मित ही पैदा होती हैं। मनुष्य को खुद अपने को ढालना और निर्माण करना होता है। इसलिए दुनिया में हजारों तरह की सभ्यताएं विकसित हुई हैं। हजारों तरह से लोगों ने मनुष्य को निर्माण करना चाहा है।
हमने भी इस देश में एक खास ढंग का आदमी पैदा करने की कोशिश की थी। हम उसमें सफल नहीं हुए। लेकिन बड़ी हिम्मत की कोशिश थी, और फिर दाद दी जानी चाहिए और हमने बड़ा साहस किया था। और ऐसा साहस किया पृथ्वी पर जैसा पृथ्वी पर किसी समाज ने कभी नहीं किया। साहस ही नहीं, कहना चाहिए दुस्साहस किया। हमने यह कोशिश की कि हम आदमी को परमात्मा की शक्ल में ढालेंगे। हमने
यह कोशिश की कि हम आदमी को पृथ्वी पर भला रहे वह, लेकिन उसकी आंखें सदा स्वर्ग पर लगी रहेंगी। हमने यह कोशिश की कि हम रहेंगे पृथ्वी पर, लेकिन सोचेंगे स्वर्ग की। हम पृथ्वी की तरफ देखेंगे भी नहीं। यह बड़ी दुस्साहसपूर्ण कोशिश थी। बड़ी असंभव चेष्टा थी। असफल हम हुए, बुरी तरह असफल हुए। इस बुरी तरह असफल हुए कि स्वर्ग देखना तो दूर रहा, हमें जमीन की धूल चाट लेनी पड़ी, हम जमीन पर सीधे गिर पड़े।
लेकिन हमने हिम्मत का प्रयोग किया था इन पांच हजार वर्षों में। वह हिम्मत गलत रास्ते पर गई थी, यह, यह साबित हो गया है। हमारी दीनता से, हमारे दुख से, हमारी दरिद्रता से, हमारी दासता से यह सिद्ध हो गया कि वह हमारी भूल हो गई। लेकिन फिर भी हमने एक अदभुत प्रयोग किया था। और वह प्रयोग यह बताता है कि ताकत हमारे पास थी और आज भी है। हम दूसरा प्रयोग भी कर सकते हैं।
वह समाज युवा है, जो सदा दूसरा प्रयोग करने की क्षमता फिर से जुटा ले।
वह समाज बूढ़ा हो जाता है, जो एक ही प्रयोग में झुक जाए। क्या हम एक ही प्रयोग में चुक गए हैं या हम नया प्रयोग कर सकेंगे? भारत के युवकों के सामने आने वाले भविष्य में यही सवाल है कि क्या हम एक प्रयोग करके हमारी जीवन ऊर्जा समाप्त हो गई है? या हम मनुष्य को बदलने का, नया बनाने का दूसरा प्रयोग भी कर सकते हैं।
पांच हजार वर्ष से हम एक ही प्रयोग के साथ बंधे हैं। हमने उसमें हेर-फेर नहीं किया। हमने बदलाहट नहीं की। लेकिन अब उस प्रयोग के साथ आगे जाना असंभव हो गया है। तो पहले तो हम उस प्रयोग के संबंध में थोड़ा समझ लें जो हमने किया था और जो असफल हुआ। क्योंकि अपनी असफलता को समझ लेना सफलता के रास्ते पर जाने का पहला चरण है। अपनी भूल को ठीक से पहचान लेना भूल को

सुधारने की जरूरी शर्त है। अपने अतीत को ठीक से समझ लेना, ताकि भविष्य में हम उसे न दोहरा सकें, अत्यंत जरूरी है।
मंदिर हम देखते हैं। मंदिर में आकाश की तरफ उठे हुए स्वर्ण के कलश होते हैं। मन हो सकता है किसी कवि का, किसी स्वप्नशील का, किसी कल्पना आविष्ट का कि हम एक ऐसा मंदिर बनाएं जिसमें सिर्फ कलश ही हों, स्वर्ण के चमकते हुए, आकाश की तरफ उठे हुए, सूरज की किरणों में नाचते हुए, हंसते हुए-- हम सिर्फ स्वर्ण के कलश ही बनाएं। हम गंदी नींव न बनाएंगे। क्योंकि गंदी नींव गंदी जमीन में गड़ी होती है। अंधेरे में छिपी होती है, सूर्य से डरती है, अंधेरे से प्रेम करती है। कूड़े में, करकट में नीचे दबी रहती है। हम नींव न बनाएंगे, हम गंदी, कुरूप नींव नहीं बनाएंगे, हम तो सिर्फ स्वर्ण के शिखर बनाएंगे। हम दीवालें न बनाएंगे, पत्थर की, मिट्टी की। हम तो सिर्फ स्वर्ण के शिखर ऊपर चमकते हुए बनाएंगे। हम एक ऐसा मंदिर बनाएंगे जो सिर्फ स्वर्ण-कलशों का मंदिर हो। यह कल्पना तो अच्छी है, काव्य भी अच्छा है। लेकिन यह जिंदगी में सफल नहीं हो सकता। क्योंकि वे जो स्वर्ण के शिखर दिखाई पड़ते हैं ऊपर मंदिर के, स्वर्ण के कलश, वे उस गंदी नींव पर ही खड़े हैं जो नीचे जमीन में दबी है। अगर नींव को हम भूल गए तो स्वर्ण-कलश गिरेंगे, बुरी तरह गिरेंगे, और आकाश में खड़े न रहेंगे; वहां गिर जाएंगे, जहां गंदी नींव होती है। नीचे गिर जाएंगे, पृथ्वी पर गिर जाएंगे। उन्हें ऊपर उठाए रखने में, उन्हें आकाश की तरफ उन्मुक्त रखने में, वह नींव जो जमीन के भीतर छिपी है वही आधार है। वे मिट्टी की, पत्थर की दीवालें उनका सहारा है, इसीलिए वे आकाश में उठे रह पाते हैं। वे आकाश में उठे रह पाते हैं क्योंकि नींव के पत्थरों ने यह त्याग किया है कि वे जमीन में पड़े रहने को तैयार हैं। उनके त्याग के कारण कलश आकाश में उठे हुए हैं।
भारत ने जिंदगी को इसी भांति ढालने की कोशिश की, कलश की जिंदगी बनानी चाही, नींव को इनकार कर दिया। जिंदगी की नींव है भौतिक, जिंदगी की नींव है मैटीरियलिस्ट, जिंदगी की नींव है पदार्थ में और जिंदगी के शिखर हैं परमात्मा में। हमने कहा, हम पदार्थ को इनकार करेंगे, हम भौतिकवादी नहीं हैं, हम शुद्ध अध्यात्मवादी हैं। हम तो सिर्फ अध्यात्म के कलशों में ही जीएंगे, हम आकाश की तरफ उन्मुख होंगे, पृथ्वी की तरफ नहीं देखेंगे।
सुंदर था सपना। लेकिन सुंदर सपने कितने ही हों, सत्य नहीं हो पाते हैं। सिर्फ सपने का सुंदर होना सत्य के होने के लिए पर्याप्त नहीं है। मैंने सुना है, यूनान में एक बहुत बड़ा ज्योतिषी था। वह एक सांझ निकल रहा है रास्ते से। आकाश के तारों को देखता हुआ और एक कुएं में गिर पड़ा है क्योंकि जो आकाश के तारों में जिसकी नजर लगी हो उसे जमीन के गड्ढे दिखाई पड़ें, मुश्किल है! दोनों एक साथ नहीं हो पाता। वह एक गड्ढे में गिर पड़ा है, एक सूखे कुएं में। हड्डियां टूट गई हैं, चिल्लाता है। पास के झोपड़े से एक बूढ़ी औरत उसे बामुश्किल निकाल पाती है। निकलते ही वह उस बूढ़ी औरत को कहता है कि मां, शायद तुझे पता नहीं कि मैं कौन हूं। मैं एक बहुत बड़ा ज्योतिषी हूं। संभवतः मुझसे ज्यादा आकाश के तारों के संबंध में आज पृथ्वी पर कोई भी नहीं जानता है। अगर तुझे कभी आकाश के तारों के संबंध में कुछ जानना हो तो मेरे पास आना। दूसरे लोग तो आते हैं तो हजारों रुपये फीस देनी पड़ती है, तुझे मैं ऐसे ही सब समझा दूंगा।
उस बूढ़ी औरत ने कहाः बेटे, तुम फिकर मत करो, मैं कभी न आऊंगी। क्योंकि जिसे अभी जमीन के गड्ढे नहीं दिखाई पड़ते, उसके आकाश के तारों के ज्ञान का भरोसा नहीं। उस बूढ़ी औरत ने कहा कि अभी गड्ढे नहीं दिखाई पड़ते जमीन के, तुम्हारे आकाश के ज्ञान का भरोसा क्या है? पास का नहीं दिखाई पड़ता है, दूर का तुम्हें क्या दिखाई पड़ता होगा? पास के लिए तुम इतने अंधे हो तो दूर के तरफ तुम्हारे दर्शन का बहुत विश्वास नहीं किया जा सकता।
भारत से किसी को आज कहने की जरूरत पड़ गई है। हमने पांच हजार वर्ष आकाश
के तारों को देख कर चलने की कोशिश की है। आकाश के तारे बहुत सुंदर हैं, आकाश के तारों को देख कर चलने की कामना बहुत सुंदर है। आकाश के तारों में जीने की इच्छा बहुत महान है। लेकिन जमीन भी है, और पैर जमीन पर ही रहते हैं, आंखें भला आकाश में हों। और जमीन पर गड्ढे भी हैं, और गड्ढों में गिर जाने

की संभावना भी है। हमने जमीन को इनकार ही कर दिया था। हमने यह कह ही दिया, यहां सब माया है, सब झूठ है, यह सब पदार्थ, यह पदार्थ का जगत सब असत्य है। सत्य तो कहीं और है, जो दिखाई नहीं पड़ता। जो दिखाई पड़ता है वह असत्य है, और जो दिखाई नहीं पड़ता है वह सत्य है। ऐसा शीर्षासन करने की हमने कोशिश की है। ऐसे हम उलटे खड़े होने की चेष्टा में बुरी तरह गिरे हैं।
मैं यह नहीं कहता हूं कि आकाश में तारे नहीं हैं। वे जरूर हैं, लेकिन
वे भी उन्हीं के देखने के लिए हैं जिनकी जमीन सुनिश्चित हो गई हो और रास्ते बन गए हों और जहां गड्ढे न रह गए हों। आकाश के तारे देखने का हक उन्हें है जिन्होंने जमीन के गड्ढे मिटा लिए हों। आकाश के तारों को देखने की क्षमता और पात्रता उन्हीं की हो सकती है जिनके पैर इतने मजबूत हो गए हों कि अब नीचे गिरने का कोई डर नहीं। जिनके पैरों में भी आंखें पैदा हो गई हों, वे अब आकाश की तरफ देख कर चल सकते हैं। लेकिन हमने तो पैरों को इनकार ही कर दिया है।
भारत के इतिहास की बुनियादी भूल यह है कि हमने भौतिक को इनकार किया और हमने सोचा कि अध्यात्म कुछ भौतिक का विरोधी है। यह भूल ऐसी ही है जैसे कोई कहे कि जड़ें फूलों की विरोधी हैं। माना कि जड़ें बहुत कुरूप हैं, और फूलों जैसी सुंदर नहीं हैं। और यह भी माना कि जड़ें बहुत अंधेरे में हैं, बेढंगी फैली हैं और फूलों जैसी हैं अनुपात में और कवि की कल्पना में प्रकट नहीं हुई हैं; और यह भी माना कि जड़ों के लिए आज तक किसी ने गीत नहीं गाया और यह भी माना कि आज तक जड़ों की किसी ने प्रशंसा नहीं की है; लेकिन ध्यान रहे, जड़ों के बिना इस जगत में एक भी फूल नहीं खिल सकता है। सारे फूल जड़ों को धन्यवाद देते होंगे, क्योंकि जड़ों से ही सारा रस आता है, जड़ों से ही सारा जीवन आता है। हमने ऐसा किया कि हमने कहा कि जड़ों को हम पानी न देंगे। हम कुरूप को क्यों पानी दें? हम तो सिर्फ फूलों को पानी देंगे। फूलों को पानी देने से फूलों का हित नहीं होता।
माओ ने अपने बचपन का एक संस्मरण लिखा है, जो मुझे बहुत प्रीतिकर रहा है। उसने लिखा है कि मेरी मां की एक बगिया थी। एक छोटी बगिया मेरी मां ने बसाई थी। वह बूढ़ी हो गई और बीमार पड़ गई। वह इतनी बीमार थी कि बगिया में नहीं जा सकती थी, तो वह बहुत चिंतित थी कि कहीं फूल कुम्हला न जाएं। तो उसने अपने बेटे को कहा कि तू देख सकेगा? उसके बेटे ने कहा, तू बिल्कुल निश्चिंत रह, मैं बगिया की पूरी फिकर कर लूंगा। लेकिन उस बेटे को यह पता न था कि फूलों के प्राण जमीन में छिपी हुई जड़ों में होते हैं। जड़ें तो दिखाई पड़ती नहीं हैं, दिखाई तो फूल पड़ते हैं। उस बेटे को पता न था। उस बेटे ने एक-एक फूल को पानी दिया, एक-एक फूल को झाड़ा, पोंछा, प्रेम किया।
पंद्रह दिन में बगिया सूख गई। जब बूढ़ी उठी, उसने देखा, उसने कहा, यह क्या हुआ बगिया का? यह बगिया तो नष्ट हो गई। ये फूल तो सूख गए। तो उस बेटे ने कहा, मैं क्या करूं? मैंने तो एक-एक फूल को प्रेम किया, एक-एक फूल को झाड़ा, पोंछा, बुहारा, लेकिन पता नहीं क्या हुआ कि ये फूल सूखते चले गए। उस बूढ़ी औरत ने कहा, बेटे, जड़ों की फिकर की? उसने कहा, कैसी जड़ें? जड़ों का तो मुझे कुछ पता ही नहीं, जड़ें कहां हैं? उस बूढ़ी स्त्री ने कहा कि जड़ें जमीन में दबी हैं। फूलों की फिकर करनी हो तो फूलों की फिकर नहीं करनी पड़ती है, जड़ों की फिकर करनी पड़ती है। जड़ों की फिकर हो जाए, फूलों की फिकर अपने आप हो जाती है। और अगर किसी ने यह भूल की कि फूलों की फिकर की और जड़ें भूल गईं तो फूल कुम्हला जाएंगे, उनकी फिकर से उनको नहीं बचाया जा सकता।
इस देश ने ऐसी भूल कर ली है। हमने जड़ों को इनकार कर दिया, इसलिए विज्ञान पैदा नहीं हो सका। विज्ञान जीवन की जड़ है। धर्म जीवन के फूल हैं। इसलिए हमारा शरीर कमजोर होता चला गया। शरीर जीवन की जड़ है। आत्मा जीवन का फूल है। हम फूलों की ही बात करते रहे। हम फूल से नीचे उतरने को राजी ही न हुए। हमने सारे शास्त्र फूलों के लिखे, जड़ की हमने एक किताब न लिखी। हमने उपनिषद लिखे, हमने वेद लिखे, हमने गीता लिखी। ये सब फूलों की किताबें हैं। हमने फिजिक्स और कैमिस्ट्री न लिखी, हमने गणित और भूगोल न लिखा। वे जड़ों की किताबें थीं। इसलिए हम पिछड़ गए, हम बुरी तरह पिछड़े। फूलों की बात करते

रहे और फूल कुम्हलाते चले गए। फूलों की चर्चा में रत रहे और फूल मरते चले गए।
ऐसे हमने फूलों को प्रेम तो किया, लेकिन फूलों के हत्यारे भी हम ही सिद्ध हुए। क्योंकि फूलों को प्रेम करना ही फूलों को बचाने के लिए पर्याप्त नहीं है। जड़ों को भी प्रेम करना पड़ता है। माली जड़ों की फिकर करता है, फूलों की फिकर ही नहीं करता। फूल अपने आप आ जाते हैं। फूलों को लाना नहीं पड़ता, जड़ें सम्हल जाएं, फूल चले आते हैं। फूल जड़ों की सहज छाया की भांति आते हैं।
मैं आऊंगा आपके घर तो मेरी छाया चली आएगी। लेकिन आप अगर मेरी छाया को निमंत्रण दे गए और मुझे भूल गए तो मैं तो आऊंगा ही नहीं, मेरी छाया के आने की भी कोई संभावना नहीं है।
हमने फूलों को निमंत्रण दिया कि आओ। हमने परमात्मा को बुलाया कि आओ, विराजो हमारे भवन में, लेकिन हमने जड़ों को, प्रकृति को, पृथ्वी को अस्वीकार कर दिया।
जहां परमात्मा का मंदिर बन सकता था पृथ्वी पर, वह पृथ्वी अस्वीकृत थी, मंदिर ही न बना। निमंत्रण व्यर्थ ही पड़ा रहा। परमात्मा को आने के लिए जगह भी नहीं मिल सकी। हम दोनों तरफ चूक गए। यहां प्रकृति के साथ हमारा संबंध गहरा न हो पाया, वहां परमात्मा के लिए दिया गया निमंत्रण व्यर्थ हो गया क्योंकि वह निमंत्रण तभी स्वीकार हो सकता था, जब जड़ों को प्रेम किया गया हो तभी फूलों को दिए गए निमंत्रण स्वीकार होते हैं। आने वाले भविष्य में हमें इस भूल को दोहराने से बचना होगा।
क्या इसका यह मतलब है कि मैं कह रहा हूं कि भारत भौतिकवादी हो जाए? नहीं, इसका यह मतलब नहीं है। इसलिए दूसरी बात भी आप से कह दूं। भारत ने यह भूल की थी, यह आधी भूल थी--जिंदगी के आधे को अस्वीकार करने की, आधे को स्वीकार करने की। जिंदगी पूरी स्वीकृत होनी चाहिए। उसमें पदार्थ भी है, परमात्मा भी है। उसमें शरीर भी है, आत्मा भी है। उसमें अंधेरा भी है, प्रकाश भी है। पूरी जिंदगी स्वीकृत हमने नहीं की। आधी जिंदगी स्वीकार करके हमने बहुत दुख झेल लिया। लेकिन अब एक नया डर पैदा हो गया है।
पश्चिम ने भी आधी जिंदगी स्वीकार की है। उसने सिर्फ जड़ों को ही स्वीकार कर लिया है और जड़ों में ही रत हो गया है और उसने ऊपर से ठूंठ ही काट दिया है वृक्ष का। उसने फूलों के, पत्तों के आने की संभावना ही मिटा दी है। क्योंकि उनका कहना है, फूल सब झूठ हैं, सब सपने हैं, फूल कहीं आते नहीं। जड़ें ही सत्य हैं। उन्हीं को पानी देना, उन्हीं की पूजा करना। तो पश्चिम जड़ों को बहुत पानी दे रहा है। जड़ें बहुत मोटी होती चली गईं। अब वे पृथ्वी के ऊपर भी निकलने लगी हैं। जड़ों का जाल ही फैलता चला जा रहा है, वह बहुत कुरूप है। क्योंकि उन जड़ों में फूल आने का उपाय न रहा। फूल पश्चिम ने अस्वीकार कर दिए हैं।
पश्चिम है निपट भौतिकवादी और पूरब था निपट अध्यात्मवादी। यह दोनों ही अधूरी गलतियां हैं। आधे-आधे की भूल है।
आज दूसरा डर यह है कि हम पुरानी भूल से बच कर कहीं पश्चिम की भूल न पकड़ लें, इसकी बहुत संभावना है। इसकी बहुत संभावना है क्योंकि जब आदमी एक भूल छोड़ता है तो दूसरी अति पर, दूसरी एक्सट्रीम पर चला जाता है। घड़ी की पेंडुलम की तरह हमारा चित्त बाएं से जाता है तो फिर ठीक दाएं पहुंच जाता है। और एक बहुत मजे की बात है, जब घड़ी का पेंडुलम बाईं तरफ जाता है, तब कभी खयाल नहीं किया होगा कि बाईं तरफ जाता हुआ पेंडुलम दाईं तरफ जाने की शक्ति इकट्ठी करता है। जितना वह बायां जाता है, उतना दायां जाने का मोमेंटम इकट्ठा करता है। जाता है बायां, तैयारी हो रही है दाएं जाने की। जाता है दायां, तैयारी हो रही है बाएं जाने की।
पश्चिम भौतिकता में बहुत गहरे गया है और उसकी तैयारी हो गई है अध्यात्म में जाने की। वह दूसरी अति की भूल करेगा। इसलिए महेश योगी या और किसी को पश्चिम में जो सम्मान मिलता है, वह दूसरी अति को दिया गया सम्मान है। वह पश्चिम दूसरी अति पर जाएगा। और हम भी तैयार हो गए हैं यहां, अध्यात्म में बहुत गहरे चले गए हैं। अब हमारा पेंडुलम भौतिकवाद की तरफ

जाने की तैयारी में है। तो आज हमारा युवक अगर भौतिक को, शरीर को बहुत सम्मान दे रहा है, आदर दे रहा है तो कोई आश्चर्य नहीं है, वह दूसरी अति में जाने की कोशिश कर रहा है। खतरा यह है कि कहीं पश्चिम पूरब न हो जाए और पूरब पश्चिम न हो जाए। और यह इसका डर है।
मैंने सुना है, एक गांव में ऐसा एक बार हुआ। एक गांव में एक बहुत बड़ा नास्तिक था और एक बहुत बड़ा आस्तिक था और दोनों बहुत गांव को परेशान किए थे। वादी परेशान किए ही रहते हैं। आस्तिक कहता था कि ईश्वर है और सारे गांव को समझाता था। उसकी दलीलों में ताकत थी, जान थी। और नास्तिक कहता था, ईश्वर नहीं है, उसकी दलीलें भी कम ताकतवर न थीं। थोड़ी ज्यादा ही ताकतवर थीं। आस्तिक समझा जाता, नास्तिक मिटा जाता। नास्तिक समझाता, आस्तिक मिटा देता। गांव परेशान हो गया। और गांव के लोगों ने कहा, तुम दोनों कोई निर्णय ही कर लो तो अच्छा था, ताकि हमारी परेशानी मिट जाए। एक पूर्णिमा की रात दोनों का विवाद हुआ। दोनों ने सख्त से सख्त दलीलें दीं--आस्तिक ने आस्तिकता की, नास्तिक ने नास्तिकता की। विवाद रात भर चला। और आखिर सुबह परिणाम यह हुआ कि नास्तिक की दलीलों से आस्तिक प्रभावित हो गया और आस्तिक की दलीलों से नास्तिक प्रभावित हो गया। उस गांव में फिर एक आस्तिक रहा, फिर एक नास्तिक रहा। गांव की मुसीबत बरकरार रही, गांव की मुसीबत वही की वही रही।
आज पूरब पश्चिम को समझा रहा है, पश्चिम पूरब को समझा रहा है। धर्म के संबंध में पूछना हो तो पश्चिम पूरब के चरणों में आकर बैठता है। और विज्ञान के संबंध में पूछना हो, पूरब को पश्चिम के चरणों में जाकर बैठ जाना पड़ता है। आज अगर विज्ञान की फिकर करनी हो, ऑक्सफोर्ड और कैंब्रिज, हार्वर्ड में बैठना पड़ता है। और अगर धर्म की फिकर करनी हो तो ऋषिकेश आना पड़ता है। लेकिन ये दोनों कहीं खतरा न हो जाए, जमीन फिर वही भूल में न पड़ जाए कि हम आधे-आधे फिर आधे-आधे बदल जाएं। उससे कुछ फर्क न पड़ेगा।
तो दूसरी बात ध्यान में रखने की है कि भारत को अपने अतीत की भूल से बचना है। और पश्चिम की अतीत की भूल से भी बचना है। अगर मैं पश्चिम के लोगों से कहूं, तो उनसे भी कहूंगा कि तुम अपनी भूल से भी बचना, और भारत की भूल से भी बचना। अन्यथा तुम भी मुश्किल में पड़ जाओगे। पूरी जिंदगी स्वीकृत होनी चाहिए। मेरा कहना है, भौतिकवाद जीवन का आधार बने, अध्यात्म जीवन का शिखर। न तो शिखर को इनकार करना उचित है, न बुनियाद को इनकार करना उचित है। जीवन इकट्ठा है।
विज्ञान और धर्म एक साथ स्वीकृत होने चाहिए। भारत में आने वाले विचारशील युवकों को कैसी जिंदगी बनानी है, उसको सोचते समय धर्म और विज्ञान दोनों के समन्वय पर दृष्टि रखनी होगी। और ध्यान रखना होगा कि कहीं ऐसा न हो कि हम सिर्फ धर्म के आधार पर जिंदगी बना लें। वह बड़ी कविता है, लेकिन कविता से पेट नहीं भरते। और कहीं ऐसा न हो कि हम विज्ञान के आधार पर जिंदगी बना लें। वह बहुत मजबूत रोटी है, लेकिन अकेली रोटी से आदमी तृप्त नहीं हो पाता।
जीसस का एक वचन है बाइबिल मेंः मैन कैन नॉट लिव बाई ब्रेड अलोन, आदमी अकेली रोटी से नहीं जी सकता। लेकिन यह अधूरा वचन है। आदमी बिना रोटी के भी नहीं जी सकता। यह भी सच है कि आदमी बिना रोटी के भी मर जाएगा। और यह भी सच है कि आदमी को सिर्फ रोटी मिले, और कुछ न मिले तो भी मर जाएगा। ये दोनों बातें एक साथ सच हैं। अकेली रोटी तृप्ति नहीं दे सकती। और भी बहुत कुछ चाहिए। जिंदगी की बड़ी लंबी आकांक्षाएं हैं। जिंदगी बड़ी ऊंची उठना चाहती है। रोटी पर ही नहीं रुक जाना चाहती है।
एक अच्छे से अच्छा मकान बना कर भी मन तृप्त नहीं होता। धन इकट्ठा करके
भी मन तृप्त नहीं होता। सब पा लो, फिर भी मन तृप्त नहीं होता। मन कहता है, कुछ और, कुछ और। मन कहे ही चला जाता है, कुछ और। कुछ उसकी और गहरी खोज की, वह आकाश की यात्रा पर भी जाना चाहता है। ये आधी-आधी भूलें हो चुकी हैं। हमें समझ लेना चाहिए कि हमें अपने मंदिर के शिखर के नीचे, मंदिर के कलश के नीचे पत्थरों की नींव भी बनानी है।।

एक बात--कि हमें पत्थर की नींव पर स्वर्ण के कलश चढ़ाने हैं। भारत को शरीर की, पदार्थ की, भूत की पूरी चिंता करनी पड़ेगी। हमने चिंता ही नहीं की है, इसलिए जिम्मा ज्यादा है। पांच हजार वर्ष में जो चिंता होनी चाहिए थी, वह हमें पचास वर्ष में पूरी करनी है। अगर पचास वर्ष में वह हम पूरी नहीं कर पाते तो शायद फिर जगत की दौड़ में हम कभी भी ठीक-ठीक साथ खड़े नहीं हो पाएंगे। पांच हजार वर्ष का लंबा इतिहास हमें पचास वर्ष में तीव्रता से पूरा कर लेना है। उस तीव्रता से पूरा करने के लिए कुछ आधार बिंदु खोजने होंगे। तो मैं भारत के युवकों से कुछ आधार बिंदु की निरंतर बात करता हूं। दो तीन आधार बिंदु आप से भी कहना चाहूंगा।
पहली तो बात यह है कि जिंदगी विरोध से बन कर निर्मित हुई है। हमारा मन करता है कि विरोध से एक का चुनाव कर लें। लेकिन जिंदगी विरोध से ही निर्मित है--कभी किसी मकान का दरवाजा देखा है, तो वहां दोनों तरफ से ईंटें लगाते हैं हम, उलटी ईंटें लगाते हैं दरवाजे पर आर्च बनाने को। दोनों तरफ की ईंटें जाकर बीच में जुड़ जाती हैं और मकान के सारे बोझ को झेल लेती हैं, विरोधी ईंटें! कोई कह सकता है कि एक सी ईंटें लगाएं तो हर्ज क्या है! एक सी ईंटें लगाएं तो मकान गिर जाएगा। विरोधी ईंटों के दबाव और तनाव पर मकान खड़ा होता है।
जिंदगी का सारा मकान विरोधी ईंटों से बना है। अगर हमने एकतरफा विचार किया और एक सी ईंटें लगा दीं तो मकान गिरेगा। लेकिन अब तक हम इसी भाषा में सोचते रहे हैं कि एक तरह की ईंट ही होनी चाहिए। अगर उपनिषद हम लिखेंगे तो उपनिषद ही लिखेंगे हम; अगर हम आत्मा की बात करेंगे, तो आत्मा की ही बात करेंगे; दूसरे को हम इनकार कर देंगे। इसलिए हमने जगत को इनकार कर दिया था। लेकिन इनकार करने से कुछ इनकार नहीं होता है। जगत है, बहुत मजबूती से है, बहुत पूरी तरह से है। हमारा इनकार भी कहता है कि जगत है। इनकार करना पड़ता है उसे ही, जो है, अन्यथा इनकार की भी कोई जरूरत न रह जाए। हम कितना ही इनकार करें, वह मौजूद है। हम कितनी ही माया कहें, वह मौजूद है। हम कितना ही असार कहें, वह मौजूद है। असार कहने से हिंदुस्तान एक हजार साल की गुलामी से नहीं बच सका। हमला होगा तो गुलामी आएगी। गुलामी बहुत सत्य है। असार कहने से हिंदुस्तान का संन्यासी भूखा नहीं रह सकता, रोटी खानी पड़ेगी। पेट बहुत वास्तविक है, उसकी भूख बहुत वास्तविक है।
माया कहने से जिंदगी से इनकार नहीं होता, सिर्फ जिंदगी को सम्हालने
से इनकार हो जाता है। जिंदगी तो चलती है अपने रास्ते पर, वह है। लेकिन अगर हमने इनकार कर दिया, असार कह दिया, व्यर्थ कह दिया, तो जिंदगी के जिन राजों को हम खोल कर जिंदगी को ज्यादा सुंदर और सुखद बना सकते थे, वे राज हम खोजना बंद कर देंगे। इसलिए पांच हजार वर्षों में अब माया में विज्ञान कैसे खड़ा हो! अगर हमने कह दिया, सब माया है तो विज्ञान का क्या मतलब है। कैसे विज्ञान खोजेंगे हम? जगत को हम सत्य मानेंगे तो विज्ञान का जन्म होगा। क्योंकि सत्य के ही नियम हो सकते हैं, स्वप्न के तो कोई नियम नहीं हो सकते हैं। झूठ के तो कोई नियम नहीं हो सकते। पांच हजार वर्ष में इतने प्रतिभाशाली लोग हमने पैदा किए, लेकिन एक बड़ा वैज्ञानिक पैदा नहीं किया! इसे भविष्य में सोच लेना पड़ेगा। बुद्ध जैसा आदमी पैदा किया, महावीर, कृष्ण और राम और शंकर और नागार्जुन और दिग्नाद। हमने एक से एक प्रतिभाशाली लोग पैदा किए। लेकिन, इनमें से एक भी वैज्ञानिक नहीं था। वैज्ञानिक हम पैदा न कर पाए, एक आइंस्टीन पैदा न कर पाए! उसका कुछ विचार करना पड़ेगा। जिस मुल्क के पास इतनी प्रतिभा है, उसके पास एक आइंस्टीन पैदा न हो तो जरूर कहीं हमारे सोचने में कोई भूल हो गई है। दस आइंस्टीन पैदा हो सकते हैं, एक बुद्ध के व्यक्तित्व से। एक कृष्ण की क्षमता से दस आइंस्टीन पैदा हो सकते हैं, लेकिन हम एक आइंस्टीन पैदा न कर पाए! प्रतिभाशाली लोग पैदा हुए, लेकिन हमने उनको एक ही धारा में बहने को मजबूर कर दिया। बस वह आत्मा की धारा में बहते चले गए। जीवन की वास्तविकता की खोज में एक भी नहीं गया।
भविष्य में हमें आइंस्टीन पैदा करने होंगे, और तीव्रता से पैदा करने होंगे, क्योंकि पचास साल में पांच हजार साल के विकास को पूरा करना है। लेकिन आइंस्टीन कैसे पैदा होंगे? क्या सिर्फ गणित पढ़ लेने से कोई

आइंस्टीन पैदा हो सकते हैं? या कालेज में, युनिवर्सिटी में विज्ञान पढ़ लेने से आइंस्टीन पैदा हो सकते हैं? नहीं, विज्ञान तो हम दो सौ साल से पढ़ रहे हैं। दो सौ साल से विज्ञान पढ़ कर भी हम वैज्ञानिक नहीं पैदा कर पाते हैं। उसका कारण है कि हमारे पास वैज्ञानिक बुद्धि, साइंटिफिक आउटलुक नहीं है। तो विज्ञान की शिक्षा तो हो जाती है, टेक्नीशियंस पैदा हो जाता है, लेकिन वैज्ञानिक पैदा नहीं होता। टेक्नीशियंस और साइंटिस्ट में बहुत फर्क है। टेक्नीशियन का मतलब है कि वह जानता है कि कैसे क्या करना; नो-हाउ उसे पता है, लेकिन वैज्ञानिक की जो दृष्टि है, वह उसमें नहीं है। मैं कुछ उदाहरण से समझाने की कोशिश करूं।
एक डाक्टर के घर में मैं कलकत्ते में मेहमान था। उस डाक्टर ने मुझे ले जाकर... सांझ को मीटिंग में ले जा रहा है। अपनी गाड़ी में मैं बैठने को गया हूं कि उसकी लड़की को छींक आ गई। उस डाक्टर ने कहाः रुकें एक मिनट। वह डाक्टर टेक्नीशियन है। वह जानता है फोड़े को कैसे काटना और टी. बी. में कौन सी गोली देनी है, लेकिन साइंटिस्ट नहीं है। मैंने उससे कहा कि तुम्हारी लड़की को छींक आती है, इससे मेरे रुकने का क्या संबंध है? और तुम्हारी लड़की को छींक आए तो क्या सारी दुनिया रुक जाए? तुम्हारी लड़की को तुम बड़ा महत्व दे रहे हो। उन्होंने कहाः नहीं-नहीं, यह सवाल नहीं है। मैंने कहा कि और तुम डाक्टर हो, तुम भलीभांति जानते हो कि छींक क्यों आती है। और अगर छींक आना भी नहीं जानते तो टी. बी. का आना तुम कैसे समझ पाओगे? बहुत मुश्किल में पड़ जाओगे। उस डाक्टर ने कहा: जानता हूं कि छींक क्यों आती है, लेकिन फिर भी एक मिनट रुकने में हर्ज क्या है?
मैंने कहा, हर्ज बहुत बड़ा है, क्योंकि वैज्ञानिक बुद्धि की कमी का पता चलता है। हर्ज बहुत बड़ा है। डाक्टर भी यही कह रहा है। और वह डाक्टर हिंदुस्तान में नहीं पढ़ा है, यूरोप में पढ़ा है। लेकिन उसके पास जो एक साइंटिफिक आउटलुक चाहिए, वैज्ञानिक चिंतन चाहिए कि चीजों के कार्य कारण में प्रवेश करे, कल्पनाओं में, अंधविश्वासों में नहीं, वह नहीं है।
मैं अभी एक पंजाब के बड़े नगर में एक मित्र के घर का उदघाटन करने गया।
वे बड़े इंजीनियर हैं, बड़ा अच्छा मकान बनाया। खुद ही इंजीनियर है, तो अच्छा मकान बनाया है। उनका फीता काट रहा था तो सामने देखा कि मकान के ऊपर एक हंडी लटकी है। हंडी पर आदमी का चेहरा बना है, बाल लटके हुए हैं। मैंने पूछाः यह क्या है? उन्होंने कहा कि मकान को नजर न लग जाए। एक इंजीनियर भी सोचता है कि मकान को नजर लग सकती है! तो फिर इस देश में वैज्ञानिक पैदा नहीं हो सकेगा।
वैज्ञानिक पैदा करने का मतलब है, अंधविश्वासों से मुक्ति। वैज्ञानिक पैदा करने का मतलब है, अंधी श्रद्धा से मुक्ति। वैज्ञानिक पैदा करने का मतलब है, विश्वास नहीं, विचार। वैज्ञानिक पैदा करने का मतलब है, आस्था नहीं, संदेह। तो हम वैज्ञानिक पैदा कर सकेंगे; अन्यथा नहीं पैदा कर सकेंगे। अब एम.एस.सी. पढ़ रहा है लड़का। वह सब विज्ञान की शिक्षा ले रहा है। लेकिन परीक्षा के वक्त हनुमान जी के मंदिर के सामने मिल जाएगा! तब थोड़ा सोचना जरूरी है कि हनुमान जी की क्या गलती है। उनकी परीक्षा के लिए हनुमान जी की क्या जिम्मेवारी है। वह हनुमान जी को क्यों मुसीबत में फंसा देने के खयाल में है। नहीं, लेकिन वह पांच आने की रिश्वत दे रहा है! वह कह रहा है, एक नारियल चढ़ा देंगे!
भारत में, अगर हमें एक वैज्ञानिक समाज की दिशा में सोचना हो तो हमें वैज्ञानिक चित्त कैसे निर्मित होता है इस दिशा की बात समझ लेनी जरूरी है। जीवन चलता है कार्य-कारण से, अंध-विश्वासों से नहीं। जिंदगी चलती है एक वैज्ञानिक व्यवस्था से, हमारी कल्पनाओं और श्रद्धाओं से नहीं।
सोमनाथ पर हमला हुआ। तो सोमनाथ में पांच सौ पुजारी थे। करोड़ों रुपये
की संपत्ति थी। आस-पास के राजपूत राजाओं ने उन्हें खबर भेजी कि हम रक्षा के लिए आएं? तो उन पुजारियों ने कहा, पागल हो गए हो? जो भगवान सबकी रक्षा करता है, उसकी रक्षा तुम करोगे? उनकी दलील तो बिल्कुल ठीक थी। उनकी दलील से लड़ना मुश्किल हो गया। और इसलिए भी मुश्किल हो गया कि वे राजा भी उसी दलील को मानते थे। उन्होंने कहाः यह बात तो ठीक है। भगवान सबका रक्षक है।

हम उसकी रक्षा कैसे करेंगे? तो राजाओं का यह निवेदन कि हम रक्षा करने आएं, पुजारियों ने इनकार कर दिया। उन्होंने कहा, यह तो नास्तिकता की बात है। तुम और भगवान की रक्षा करोगे? भगवान सबकी रक्षा कर रहा है। पुजारी खड़े होकर प्रार्थना करते रहे, और गजनी आया और उस मूर्ति को टुकड़े-टुकड़े कर दिया। और भगवान ने कोई रक्षा नहीं की। वह मूर्ति बिखर गई।
अंधविश्वास से जीए हम, वैज्ञानिक चिंतन से नहीं जीए हैं। वैज्ञानिक चिंतन से जीते तो हम कुछ और ढंग से सोचते। क्योंकि जब भगवान की मूर्ति आदमी बनाता है तो रक्षा भी आदमी को ही करनी पड़ेगी। हां, उस भगवान की रक्षा की हमें कोई जरूरत नहीं, जिसको हमने नहीं बनाया। वह अपनी रक्षा करेगा। लेकिन जिस भगवान को हमने बनाया, बनाएंगे हम, और रक्षा भगवान करेगा?
नहीं, यह वैज्ञानिक चिंतन न हुआ। इसमें बुनियादी भूल हो गई। इस भूल का हमने परिणाम भोगा। एक हजार साल हम गुलाम थे इस भूल के कारण। हमारी पिछली एक हजार वर्ष की, दुख की, दारिद्रय की, दीनता की, दुर्भाग्य की, हार की, पराजय की कथा हमारे अवैज्ञानिक होने की कथा है। लोग हमें यही समझाते हैं कि फूट की वजह से हम हार गए। फूट की वजह से हम नहीं हारे। फूट सारी दुनिया में है। ऐसा कोई मुल्क नहीं है जिसमें फूट न हो। ऐसी जमीन पर कोई कौम नहीं है जिसमें फूट न हो। सब तरफ फूट है। लेकिन हम ही क्यों हारते चले गए। कुछ कारण थे। हमारी वैज्ञानिक सूझ में बहुत कमी थी।
इधर हिंदुस्तान सिकंदर आया तो पोरस उस सिकंदर से कमजोर आदमी न था। और अगर दोनों मैदान में लड़ते तो सिकंदर के जीतने के कोई उपाय न थे। पोरस सिकंदर से बहुत मजबूत और बहुत हिम्मत का आदमी था। सिकंदर ने भी स्वीकार किया है कि किसी आदमी से लड़ने में मजा आया तो पोरस से मजा आया। लेकिन पोरस के पास वैज्ञानिक बुद्धि न थी। सिकंदर घोड़ों पर चढ़ कर आया था और पोरस हाथियों पर चढ़ कर लड़ने गया।
हाथियों पर बरात वगैरह ठीक होती है। बरात जा रही हो तो हाथी बड़ा अच्छा योग्य जानवर है। लेकिन युद्ध के मैदान पर हाथी बहुत महंगा है और बहुत खतरनाक है। न तो उसकी चाल उतनी तेज है जितनी घोड़े की। वह जगह भी ज्यादा घेरता है। जहां एक हाथी खड़ा हो वहां दस घोड़े खड़े हो जाएंगे। वह जगह ज्यादा घेरता है। एक हाथी पर दस घोड़े हमला कर सकते हैं। घोड़े गतिमान हैं, तेज हैं, चंचल हैं, जल्दी भागते हैं, जल्दी बचते हैं। हाथी के पास कोई क्षमता नहीं है। वह बहुत शानदार शाही जानवर है। वह धीरे चलता है, आहिस्ता चलता है। बरात के लिए बिल्कुल ठीक है, युद्ध के लिए बिल्कुल ठीक नहीं है।
पोरस हाथियों पर लड़ने गया और पोरस की हार सिकंदर से कम हुई, अपने हाथियों से ज्यादा हुई। सिकंदर ने भी अपने मित्रों को यह कहा कि पोरस की हार उसके हाथियों के कारण हुई।
यह बिल्कुल अवैज्ञानिक चिंतन है। बाबर हिंदुस्तान आया, तो वह तो बंदूकें लेकर आया था, हम तलवारें लेकर लड़ने गए थे। अब बंदूक के सामने तलवार नहीं जीत सकती। कितना ही बहादुर आदमी पीछे खड़ा हो, कुछ फर्क नहीं पड़ता। कितनी ही मजबूत मसल का आदमी हो, क्या करेगा? तलवार क्या करेगी? गोली के सामने तलवार कुछ भी नहीं कर सकती। गोली बहुत वैज्ञानिक है। बड़ा विज्ञान तो उसमें यह है कि बहुत दूर से हमला कर सकती है। तलवार के लिए बहुत करीब होना चाहिए, तब हमला हो सकता है। गोली दूर से हमला कर सकती है। एक कमजोर आदमी, डरपोक आदमी गोली से जीत जाएगा बहादुर हिम्मतवर आदमी से, जो तलवार लिए है। क्योंकि गोली फासले से हमला करती है, डिस्टेंस से हमला करती है। पचास फीट से भी, दूर से हमला कर सकती है। तलवार के लिए तो पचास फीट की दूरी बेमानी है, कुछ भी नहीं कर सकती। हिंदुस्तान हारा, तलवारों से लड़ा। फिर अंग्रेज आए। लेकिन हम सीखते ही नहीं भूलों से। हम अपनी पुरानी भूलों के लिए ऐसे पक्के नियम बांधे हुए हैं कि हम उनको दोहराए चले जाते हैं। अंग्रेज हिंदुस्तान में आए तो वे तोपें लेकर आए थे। हम बंदूकों से लड़ रहे थे। फिर वही भूल हो गई। वह भूल निरंतर वही होती रही है। आज भी, अभी भी, चीन के साथ जो हमारा उपद्रव हुआ उसमें वही भूल हुई। हमारे पास कम विकसित साधन हैं। आज चीन के पास दुनिया में चौथे नंबर के विकसित साधन हैं। चीन से हम जीत नहीं सकते।

हां, कविताएं हम कितनी करें, कविताओं से कुछ भी न होगा। हिंदुस्तान पूरा का पूरा कवि हो गया था। पता है जब चीन से हमला हुआ। तो गांव-गांव में कवि कहने लगे कि हम सोए हुए सिंह हैं, हमको छेड़ो मत। मैं तो बहुत हैरान हुआ। मैं इसलिए हैरान हुआ कि अब तक किसी सिंह ने कभी कविता नहीं की। और सिंह को छेड़ो तो पता चल जाता है कि क्या होता है। तो कुछ कहने की जरूरत नहीं होती। सारे हिंदुस्तान में कवि कविताएं करने लगे, रंगमंचों पर नाटक होने लगे। जैसे कि रंगमंचों के नाटकों, कविताओं से कोई युद्ध जीते जाने वाले हैं। और फिर हम हार गए। और लाखों मील की जमीन चीन ने कब्जा कर ली। जिन्होंने कविताएं की थीं, उनमें से कोई पद्मश्री हो गए, कोई कुछ हो गए, कोई कुछ हो गए।
अभी मैं गांव-गांव पूछता हूं, वह पद्मश्री कहां हैं, जिन्होंने कहा था
कि हम सिंह हैं, हमें छेड़ो मत। वह जमीन का क्या होगा? दिल्ली में एक बड़े नेता से मैं कह रहा था। उन्होंने कहाः वह जमीन बिल्कुल बेकार है। उसमें घास भी पैदा नहीं होती है। तो मैंने कहाः अगर ऐसा ही था तो पहले से चुपचाप दे देनी थी, फिर झंझट क्यों करनी, इतने आदमी क्यों मरवाए? और नाहक इतनी कविता किसलिए की। पहले ही कह देते कि जमीन बेकार है? सम्हालो, जब हार गए तो कहते हो जमीन बेकार है। लड़े क्यों थे उस पर, अगर जमीन बेकार है। तो फिर तुम जिम्मेवार हो हजारों लोगों के खून के, जिनको तुमने मरवाया वहां। जिनको तुमने मरवाया उनका जिम्मा किसका है फिर? अगर तुम कहते हो, जमीन बेकार है तो वहां लड़वाया क्यों अपने जवानों को, वहां जाकर उनकी जान क्यों मरवाई, वहां उनको क्यों कटवाया? उन्हें नहीं कटवाना था, बस चुपचाप पीछे हट आना था। और मैंने कहा, और पता लगा लो कि मुल्क में जमीन कहां-कहां बेकार है। उन सबको सौंप दो, नहीं तो किसी दिन झंझट हो जाए।
हम कविताएं करते हैं, हम कल्पनाएं करते हैं। लेकिन कल्पनाएं और कविताएं जीवन के यथार्थ के संघर्ष में टिक नहीं सकतीं। वैज्ञानिक होने का अर्थ है--जीवन के यथार्थ की पकड़। वह जो ऑथेंटिक रियलिटी है, उसकी पकड़, जीवन के तथ्य की पकड़। जीवन के तथ्य की पकड़ हमारी बहुत कम रही, इसलिए हम बहुत दुर्दिन देखे। आने वाले भविष्य में जीवन के तथ्य को ठीक से पकड़ना जरूरी है। एक बात, अंधविश्वास से नहीं वैज्ञानिक विचार से जीवन के तथ्यों को पकड़ना होगा।
अब जैसे आज हमारी संख्या बढ़ी चली जाती है, तो हम वही बातें कर रहे हैं
जो हमें नहीं करनी चाहिए। हम कहते हैं, बच्चे तो भगवान दे रहा है। अब यह, यह तथ्य का पकड़ना न हुआ अगर बच्चे भगवान दे रहा है तो रूस के साथ अलग नियम का उपयोग करता है और हमारे साथ अलग नियम का? फ्रांस के साथ अलग नियम का और हमारे साथ अलग नियम का? फ्रांस की बीस साल से जनसंख्या नहीं बढ़ी। तो भगवान भी बड़ा अदभुत है कि यहीं-यहीं बच्चे दिया चला जाता है। इधर हमसे नाराजगी क्या है उसकी? यानी हमसे ज्यादा पूजा नहीं करता, हमसे ज्यादा कोई प्रार्थना नहीं करता, हमसे ज्यादा भजन-कीर्तन नहीं, अखंड चल रहे हैं। चाहे किसी की नींद हो पाए चाहे न हो पाए, रात-रात भर चल रहे हैं। फिर भी, फिर भी नाराज हैं कुछ हमसे। लेकिन हम यही कहे चले जाते हैं कि बच्चे तो भगवान देता है, हम क्या कर सकते हैं?
नहीं, बच्चे भगवान नहीं देता। बच्चे हम ही पैदा करते हैं। और हम चाहें
तो बच्चे रोक सकते हैं। यह तो जीवन के तथ्य को पहचानना होगा। और अगर आज हम बच्चे नहीं रोकते तो हम दस साल में उस जगह पहुंच जाएंगे, जिस हालत में हम कभी भी नहीं पहुंचे थे। अभी पश्चिम के सारे वैज्ञानिक, विचारक इस चिंता में पड़ गए हैं कि दस साल या पंद्रह साल के भीतर हिंदुस्तान में इतना बड़ा अकाल पड़ेगा जिसमें दस करोड़ लोग भी मर सकते हैं। लेकिन हिंदुस्तान में किसी को फिकर नहीं है! यानी मैं बहुत हैरान हूं कि वे कैलिफोर्निया युनिवर्सिटी में सेमिनार करते हैं कि हिंदुस्तान में पंद्रह साल के बीच जो अकाल पड़ेगा, उसमें कितने लोगों के मरने की संभावना है। लेकिन हिंदुस्तान में हमें कोई फिकर नहीं है। हम सोचते भी नहीं। हम कहते हैं, पंद्रह साल? पंद्रह साल बहुत लंबा वक्त है। अभी हमको पंद्रह साल जब आएगा तब देखेंगे। जब आग लग जाएगी घर में, हम कुआं खोद लेंगे। इतनी जल्दी कुआं

खोदने की जरूरत क्या है? पंद्रह साल में हम इतनी संख्या पैदा कर लेंगे कि हमारा जीना बहुत मुश्किल हो जाएगा।
उन्नीस सौ सैंतालिस में पाकिस्तान अलग हुआ था। बीस साल में जितने पाकिस्तान में लोग गए थे, उससे ज्यादा हमने पैदा कर लिए। एक पाकिस्तान हमने पैदा कर लिया। हमारा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता, कितने ही पाकिस्तान बनाओ, हम फिर पैदा कर लेंगे। इतनी बड़ी संख्या का बोझ, इतनी बड़ी संख्या का बोझ हमें जिंदगी को ठीक से जीने में समर्थ नहीं बना सकता। हम रोज दरिद्र होते चले जाएंगे, हम रोज दरिद्र हो रहे हैं। लेकिन तथ्य की हमारी पकड़ नहीं है। हम कहते हैं, हम पुरानी बातें कहे चले जाते हैं कि दाने-दाने पर लिखा है खाने वाले का नाम। बड़ी मजे की बात है। तो हम अभी, अभी भी यह कहे चले जा रहे हैं। पर दाना भी तो होना चाहिए, तब तो उस पर नाम होगा। दाना ही नहीं होगा तो नाम कैसे होगा। दाना भी पैदा करना जरूरी है।
आज अमरीका में चार किसान जो मेहनत करते हैं, उसमें एक किसान की मेहनत
का हम भोजन कर रहे हैं। यह कब तक चलेगा। अमरीका पर बोझ भारी हो गया है। और अमरीका की जनता अमरीका पर दबाव डालती है कि अब ज्यादा नहीं। क्योंकि क्या मतलब है देने का? कोई मतलब नहीं है देने का। आज हम मजे से जी रहे हैं एक अर्थ में। चुपचाप खाने-पीने को मिल जाता है तो हमें कोई फिकर नहीं है। लेकिन हमारे लिए मेहनत अमरीका का किसान कर रहा है। केनेडा का किसान हमारे लिए मेहनत कर रहा है। दवा हमारे लिए कोई भेज रहा है, खाना कोई भेज रहा है, कपड़े के लिए कोई फिकर कर रहा है। यह कितनी देर चल सकता है। दुनिया के ऊपर निर्भर होकर हम कितनी देर समर्थ हो सकते हैं। और अगर यह दीनता हमारी बढ़ती चली जाती है और हम तथ्यों को नहीं पकड़ते तो हमारे अतिरिक्त और कोई जिम्मेदार नहीं होगा।
तो मैं यह कह रहा हूं कि हम तथ्य को पकड़ें। अब तथ्य यह है कि संख्या जरा भी आगे नहीं बढ़नी चाहिए तो हम शायद कोई उपाय कर सकें कि मुल्क को किसी तरह बचाया जा सके। अन्यथा, अगर दस करोड़ लोग मरे अकाल में, तो जो बचेंगे जिंदा उनकी हालत भी जिंदा जैसी नहीं रह जाएगी। अगर एक गांव में, पचास हजार की बस्ती में पांच हजार, दस हजार आदमी एकदम से मरने की हालत में पहुंच जाएं तो बाकी लोग भी अधमरी हालत में हो जाएंगे। उनकी, उनकी जिंदगी भी ठीक अर्थ में जिंदगी नहीं रह जाएगी। आज वैसी हालत है। लेकिन हम तथ्य पर सोचने के आदी नहीं हैं। हम कहते हैं, जिसने पैदा किया है, वह फिकर करेगा। हम कहते हैं कि जब उसने हमें मुंह दिया है तो वह हमको रोटी भी देगा। जिसने चोंच दी है वह चुन भी देता है, यह हमारा खयाल है।
इस तरह नहीं चल सकता है। जिंदगी के और सारे पहलुओं पर सोचने पर खयाल में आएगा, इस तरह नहीं चल सकता है। आज भी हम ज्योतिषी के पास जाकर अपना हाथ दिखला रहे हैं कि हमारी उम्र कितनी है, जब कि सारी दुनिया उम्र बढ़ाए चली जा रही है। रूस में उन्नीस सौ सत्रह में उम्र थी तेईस वर्ष, औसत उम्र। आज रूस की औसत उम्र है अड़सठ वर्ष। प्रति वर्ष एक वर्ष औसत उम्र बढ़ी है। आज स्वीडन और स्विटजरलैंड की औसत उम्र है अठहत्तर वर्ष; बैल्जियम जैसे मुल्क की औसत उम्र है बयासी वर्ष। वे अपनी उम्र बढ़ाए चले जा रहे हैं।
सोचें थोड़ा, हमारी उम्र है उनतीस वर्ष, औसत उम्र। उनतीस वर्ष जब हमारी औसत उम्र है, तब हमारे यहां सत्तर-अस्सी साल का बूढ़ा बहुत आसानी से मिल जाता है। जिनकी उम्र अस्सी साल औसत उम्र है उनके यहां अगर दो सौ साल का बूढ़ा मिलने लगे तो कोई कठिनाई है? कोई कठिनाई नहीं है। आज रूस में डेढ़ सौ वर्ष के ऊपर, हजारों लोगों की संख्या में उम्र के लोग हैं। जब डेढ़ सौ वर्ष की उम्र तक कोई बूढ़ा आदमी जीता है तो जवानी का स्पेन बढ़ जाता है, क्षेत्र बढ़ जाता है। वह सौ वर्ष तक जवान होता है।
अभी बर्ट्रेंड रसल ने बानवे वर्ष की उम्र में शादी की तो हम बहुत हैरान हुए कि बानबे वर्ष का बुड्ढा शादी करता है। हम गलती में हैं। असल में बानवे वर्ष का बुड्ढा ही नहीं है। वह बानवे वर्ष हमारे खयाल से, हमारे खयाल से तो मरा हुआ आदमी शादी कर रहा है। बानवे वर्ष का बुड्ढा भी कहां होता है हमारे पास। हमारे हिसाब से तो पोस्थमस मैरिज है यह। आदमी मर चुका होगा, अब कहां शादी कर रहा है। मर जाना था सत्तर साल में, बाईस साल हो चुके

मरे हुए, अब शादी कर रहा है। नहीं, लेकिन बर्ट्रेंड रसल बानवे वर्ष में भी स्वस्थ है, ताजा है, प्रसन्न है, आनंदित है, शादी कर सकता है।
सारी दुनिया उम्र बढ़ाए चली जाती है और हम कहते हैं, उम्र तो भाग्य में लिखी है। और सारी दुनिया को हम नहीं देखते कि उम्र बढ़ती चली जा रही है, भाग्य में कैसी लिखी है? सिर्फ हमारे भाग्य में लिखी है और किसी के भाग्य में नहीं लिखी है। सारी दुनिया में आदमी का स्वास्थ्य अच्छा हुआ है, उम्र बढ़ी है, मस्तिष्क अच्छा हुआ है, बुद्धि बढ़ी है, प्रतिभा बढ़ी है; लेकिन हम भाग्य को मान कर बैठे हुए हैं। हम कहते हैं, भाग्य में जो लिखा है वह हो रहा है। यह तथ्य को छोड़ना है और कल्पनाओं में जीना है। हमने बहुत मुसीबत में ये कल्पनाएं गढ़ी थीं, अब हमें छोड़ देनी चाहिए। असल में बहुत तकलीफ में एक ही सहारा था हमारे पास कि हम यह कहते कि यह तकलीफ हमारा भाग्य है। इस भांति सहने में सुविधा हो जाती है। बहुत मुसीबत हो तो यह कह कर कि हमारा भाग्य है, सहने में सुविधा मिल जाती है, संतोष करने में रास्ता बन जाता है, कंसोलेशन के लिए, सांत्वना के लिए व्यवस्था हो जाती है। हमने हजारों वर्ष की दुख और परेशानी में भाग्य की धारणा विकसित की। और हमने कहा, सब भाग्य है, जैसा है वैसा होता है। जब यह मान लिया कि जैसा है वैसा होता है तो फिर हमारे भीतर पीड़ा मिटाना, बदलना सब समाप्त हो गया। हम चुपचाप राजी हो गए। जिंदगी के लिए परिवर्तन की और क्रांति की संभावना विदा हो गई।
तो मैं आप से यह कहना चाहता हूं कि जीवन के चारों तरफ जगत में जो हो रहा है उसे देख कर, तथ्यों को पहचान कर हमें अपने अब तक के डायरेक्टिवस, अब तक के जो मार्गदर्शक सूत्र थे भारत के, वे बदल देने पड़ेंगे। हमें कहना पड़ेगा, उम्र भाग्य से तय नहीं होती और संख्या भी परमात्मा निर्णीत नहीं करता है, संख्या भी हम निर्णीत करते हैं और उम्र भी हम निर्णीत कर सकते हैं। और जितना मनुष्य विकसित हो रहा है, निर्णय अधिकतम उसके अपने हाथ में आता चला जा रहा है। वह बहुत सी चीजें निर्णय कर रहा है। आज रूस में कोई जरूरत नहीं है कि वह किसी खेत पर पानी न गिरे तो भगवान की तरफ प्रतीक्षा करनी पड़े। और अच्छा है।
मैं कहता हूं, भगवान को जितनी ज्यादा फुर्सत हम दें उतना ही हम भगवान
के प्रेमी हैं। छोटे-छोटे काम में उसको खींचना अभद्रता है। आपके खेत में पानी नहीं गिरा, आप बैठे हैं हाथ जोड़े कि भगवान इसमें पानी गिराओ। अब भगवान आपके खेत में पानी गिराएं, और भी कुछ काम है उनके पास? कि बस आपके खेत में पानी गिराना कोई बहुत बड़ी घटना है। नहीं, सारी दुनिया का आदमी कहता है, हम अपने हाथ में ले लेते हैं। जो हम कर सकते हैं, वह हम करते हैं। आज रूस में जहां उन्हें पानी गिराना है, वहां वे पानी गिरा लेते हैं। जहां पानी नहीं गिराना है वहां नहीं गिराते। क्योंकि बादल से पानी गिराने का सूत्र समझ में आ गया। बहुत कठिन नहीं है मामला। बादल किस तरफ जाता है, वह भी उसे ले जाया जा सकता है। आखिर बादल को भी तो लगाम बांधी जा सकती है। वह भी इस गांव के ऊपर से गुजरे, यह व्यवस्था की जा सकती है। हवाएं उसे किस भांति यहां से ले जा सकती हैं यह जाना जा सकता है। और फिर बादल ठंडा किया जा सके, ऊपर हवाई जहाज से उस पर बर्फ फेंका जा सके तो उसका भरा हुआ पानी नीचे छलक जाता है।
तो उन्होंने तो अब पानी बरसाने की व्यवस्था कर ली, लेकिन हम? हम आज इस बीसवीं सदी में भी अगर पानी न गिरे तो यज्ञ कर रहे हैं! हम यज्ञ करेंगे, अगर पानी न गिरे तो! और मजा यह है कि हम हजारों साल से यज्ञ कर रहे हैं, फिर भी हमने अब तक यह नहीं सीखा कि यज्ञ इतना करने पर भी पानी नहीं गिरा है। लेकिन हम उसे दोहराए चले जाएंगे! फिर मैं यह नहीं कहता हूं, मैं यह कहता हूं कि यज्ञ भी जिन्हें करना हो, वह भी प्रयोगशाला में सिद्ध करके दिखा दें कि हमने यह यज्ञ किया, यह बदली से पानी गिरा लिया। वह प्रयोगशाला में सिद्ध कर दें तो सारी दुनिया के काम की हो जाएगी बात, सारी दुनिया यज्ञ कर लेगी। लेकिन हम वह भी सिद्ध करके क्या बताएंगे? हमारा चेहरा कुछ भी सिद्ध करने का नहीं रह गया है। हमारा चेहरा हमारी असफलता की गवाहियां दे रहा है।
हम सारी दुनिया में आज अपनी असफलता की कहानी बन कर खड़े हो गए हैं।
जीवन को वैज्ञानिक बनाना हो तो उसके सारे नियमों पर पुनर्विचार की जरूरत

है। यह एक! और दूसरी बात फिर दोहरा दूं अंत में, वह यह कि इसका यह मतलब नहीं है कि विज्ञान सब कुछ है। इसका यह मतलब नहीं है कि विज्ञान हमने सीख लिया तो सब सीख लिया कि खेत पर हमने पानी गिरा लिया तो सब आ गया। इसका यह मतलब भी नहीं है कि हमने बीमारियां ठीक कर ली हैं तो हम जिंदगी के सब सूत्र पा गए। इसका यह मतलब भी नहीं है कि हमने आदमी की उम्र बढ़ा ली तो हमने आदमी का आनंद भी बढ़ा दिया, इसका यह मतलब नहीं है।
पश्चिम ने उम्र भी बढ़ा ली, स्वास्थ्य भी बढ़ा लिया। बीमारियां भी कम कर लीं। कुछ बीमारियां तो इतिहास की घटना हो गई। बच्चों को पता ही नहीं कि ये बीमारियां कभी होती थीं। जिंदगी ज्यादा व्यवस्थित हो गई, लेकिन ज्यादा आनंदित नहीं हो गई। ज्यादा दुखी हो गई। यह बहुत चमत्कार की घटना घटी है, पश्चिम में। सारी सुविधा बढ़ गई है, समृद्धि बढ़ गई, स्वास्थ्य बढ़ गया, लेकिन शांति कम हो गई। शांति एकदम खो गई है। शांति का कोई पता ही नहीं रहा। आदमी डेढ सौ साल जीने लगा है। लेकिन कैसे जीए, यह भूल गया है--ज्यादा जीने से क्या होगा। आखिर कैसे जीए यह भी तो पता होना चाहिए, नहीं तो डेढ सौ साल की उम्र भी डंड हो जाएगी। आनंद न रह जाएगी, हजार साल आदमी जीए और कष्ट में, दुख में, चिंता में, पीड़ा में। तो एक तरफ पश्चिम में उम्र बढ़ी तो दूसरी तरफ आत्महत्या बढ़ गई।
अब यह बड़े मजे की बात है, एक तरफ वैज्ञानिक कोशिश में लगा है उम्र बढ़ाने की और दूसरी तरफ आदमी हैं कि कहते हैं हमें जिंदा नहीं रहना, हमें मरना है। आत्महत्या बढ़ती जा रही है। हर सेकेंड एक आत्महत्या यूरोप में हो रही है। एक घंटा मैं बोलूंगा यहां तो कितनी आत्महत्याएं हो जाएंगी! हर सेकेंड एक हो रही है। एक मिनट में साठ लोग सारे पश्चिम में आत्महत्या कर लेंगे। एक घंटें में साठ गुणा, साठ! इतने लोग अपने को समाप्त कर लेंगे। चौबीस घंटे इसी क्रम से आत्महत्या चल रही है। इतना जीवन दुखी हो जाए तो भी सोचना जरूरी है। तो मेरा मानना है कि पश्चिम भी अधूरा है। इसलिए मैं आपसे कहता हूं, वैज्ञानिक बुद्धि लानी है और वैज्ञानिक बुद्धि के आधार पर धार्मिक चिंतन को खड़ा करना है। धार्मिक चिंतन से मुक्त नहीं हो जाना है। विज्ञान के आधार पर धर्म का चिंतन खड़ा करना है।
धर्म का चिंतन बहुत भिन्न बात है। धर्म को न तो मतलब है आपकी उम्र से,
न धर्म को मतलब है आपके खेत में पानी से, न धर्म को मतलब है आपके मकान से, न आपके कपड़े से। धर्म को तो सीधा मतलब है आपसे। आप कैसे हैं भीतर, आनंदित! शांत! प्रफुल्लित! परमात्मा के प्रति कृतज्ञता से भरे हुए, धन्यवाद से भरे हुए! प्रार्थना से भरे हुए, प्रेम से भरे हुए, आप कैसे हैं! विज्ञान आप को छोड़ कर सब व्यवस्था कर लेगा और आप छूट जाएंगे। लेकिन धर्म आपकी भी व्यवस्था करना चाहता है भीतर से कि आप भी विकसित हो सकें।
एक छोटी सी कहानी, अपनी बात मैं पूरी करूंगा।
मैंने सुना है कि रामतीर्थ जब जापान गए तो टोक्यो के एक बड़े मकान में
आग लग गई थी। वह उस मकान के सामने ठहरे हुए थे। मकान में आग लग गई है रात को। हजारों लोग मकान की आग बुझाते हैं। राम बाहर आकर खड़े होकर देख रहे हैं। मकान का मालिक रो रहा है। छाती पीट रहा है। लोग सामान निकाल रहे हैं बाहर--तिजोड़ियां, कपड़े, बहुमूल्य फर्नीचर। वह सब निकाला जा रहा है। सब सामान निकल गया है। फिर उन लोगों ने आकर मकान के मालिक को पूछा कि कुछ और जरूरी रह गया हो तो बता दें क्योंकि अब आखिरी बार मकान के भीतर जाया जा सकता है। उसके बाद लपटें इतनी बढ़ जाएंगी कि भीतर जाना असंभव है। उस मकान के मालिक ने कहा, मुझे कुछ भी होश नहीं। मुझे कुछ समझ में नहीं आता, तुम एक दफा और जाकर देख लो। कुछ बचा सको तो बचा लो। वे लोग भीतर गए। भीतर जाकर वे बहुत मुश्किल में पड़ गए। मकान मालिक का इकलौता बेटा भीतर ही सोता रह गया था। वे उसकी लाश को लेकर बाहर आए। वह तो मर चुका था। वे बाहर चिल्लाते, रोते, छाती पीटते आए और उन्होंने मकान मालिक को कहा, हमसे बड़ी भूल हो गई। हम तो मकान का सामान बचाने में लग गए और मकान का मालिक भूल गया, वह मर ही गया।
रामतीर्थ ने अपनी डायरी में लिखा कि आज इस मकान में जो घटना घटी है, उसे देख कर मुझे खयाल आता है कि सारी दुनिया में यह घटना घट रही है। आदमी

सामान को बचाने में लग गया है और आदमी, खुद मालिक सामान का, भीतर मरा जा रहा है, समाप्त हुआ जा रहा है।
विज्ञान सामान को बचा सकता है, आदमी को नहीं। विज्ञान बाहर की सारी व्यवस्था को बचा लेगा, आत्मा को नहीं।
इसलिए दूसरी बात निरंतर ध्यान में रखनी जरूरी है कि वैज्ञानिक बुद्धि अधार्मिक बुद्धि न हो जाए। वैज्ञानिक बुद्धि धार्मिक बुद्धि हो, वैज्ञानिक बुद्धि धर्म के विपरीत न चली जाए। वैज्ञानिक बुद्धि बाहर की व्यवस्था करे और धर्म को मनुष्य के भीतर की व्यवस्था करने दे। और धर्म भी एक विज्ञान ही है। धर्म परम विज्ञान है। धर्म है चेतना का विज्ञान। बाहर जो है उसकी खोज साइंस है, भीतर जो है उसकी खोज धर्म है। और मनुष्य दोनों तरफ फैला है, बाहर भी, भीतर भी। इन दो में से हम एक को काटेंगे तो मनुष्य मर जाएगा। पूरब ने बाहर को काटा, पश्चिम ने भीतर को काटा। आने वाले भविष्य में भारत के युवकों को ध्यान रखना है कि हम दोनों के समन्वय को उपलब्ध हो सकें। अगर यह समन्वय हो सका तो भारत के जीवन में सुख भी, और आनंद भी... । सुख मिलता है बाहर से और आनंद मिलता है भीतर से। अगर यह संभव हो सका समन्वय तो शक्ति भी और शांति भी--शक्ति मिलती है बाहर से और शांति मिलती है भीतर से-- संभव हो सकती है। परमात्मा करे, यह संभव हो सके।

मेरी बातों को इतने प्रेम और शांति से सुना, उससे बहुत अनुगृहीत हूं।
और अंत में सबके भीतर बैठे प्रभु को प्रणाम करता हूं। मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

युवकों के समक्ष प्रवचन

शिक्षा में क्रांति
पच्चीसवां प्रवचन

शक्ति-नियोजन

मेरे प्रिय आत्मन्!
शिक्षा का जगत सदा से क्रांति का विरोधी रहा है। शिक्षा सदा से प्रतिगामी रही है, रिएक्शनरी रही है। ऐसा होने का कारण था--आज तक की सारी शिक्षा अतीत-उन्मुख रही है, पीछे की तरफ देखती रही है। यही कारण है कि शिक्षकों ने आज तक क्रांतिकारी विचारक पैदा नहीं किए। शिक्षकों के ऊपर आज तक किसी आविष्कार का इल्जाम नहीं लगाया जा सकता। शिक्षकों ने कोई आविष्कार नहीं किए। शिक्षालय और विद्यापीठ नये का अब तक स्वागत नहीं करते रहे हैं, उसका कारण था कि पुराने को नई पीढ़ी तक पहुंचा देना ही उनका काम था। वह काम पूरा हो जाए, शिक्षा का काम पूरा हो जाता था।
यह अब तक ठीक था, लेकिन आगे ठीक न हो सकेगा। शिक्षा के सामने एक नई बात
और पैदा हो गई है। अतीत का ज्ञान ही युवकों को नहीं दे देना है, युवकों को भविष्य का नागरिक भी बनाना है। एक काम अब तक किया गया। दूसरा काम पहली बार शिक्षक के हाथ में आया है। अब तक शिक्षक अपने को उस काम को पूरा करने में समर्थ नहीं बना पाता था। अतीत के ज्ञान को दे देना अत्यंत यांत्रिक कृत्य है। भविष्य के नागरिक को निर्मित करना बहुत सृजनात्मक, बहुत क्रिएटिव बात है। अतीत के ज्ञान को दे देने के लिए बहुत बुद्धिमान लोगों की जरूरत नहीं है। सच तो यह है कि बहुत बुद्धिमान लोग अतीत के ज्ञान को देने के काम में लगाए ही नहीं जा सकते। बुद्धिमान सदा भविष्योन्मुख होता है। बुद्धिमान को अतीत का ज्ञान दूसरों को सौंपने का काम बहुत व्यर्थ का मालूम पड़ेगा। अतीत के ज्ञान को नई पीढ़ी को सौंपने के लिए बहुत मध्यमवर्गीय बुद्धि की जरूरत है। लेकिन भविष्य का नागरिक बनाने के लिए प्रथम कोटि की प्रतिभा जरूरी है।
शिक्षक का व्यवसाय समादृत हो रहा है, लेकिन प्रथम कोटि की प्रतिभा शिक्षक की तरफ आकर्षित नहीं हुई है। परिणाम में अब तक तो ठीक था, लेकिन नया जिम्मा जो शिक्षक के ऊपर आया है उसे पूरा करना मुश्किल पड़ेगा। इस नये जिम्मे को थोड़ा सा समझ लेना जरूरी है। बंधे-बंधाए उपलब्ध ज्ञान को देना बहुत सरल है, लेकिन नये ज्ञान की खोज की क्षमता और प्यास पैदा करना बहुत कठिन है। और भविष्य का नागरिक यदि बनाना हो नई पीढ़ी को तो केवल स्मृति, मेमोरी के आधार पर नहीं; बुद्धि, इंटेलिजेंस के आधार पर ही उसे बनाया जा सकता है। पिछली सारी शिक्षा स्मृति पर केंद्रित है और इसीलिए अक्सर ऐसा हुआ है कि विश्वविद्यालय जिन्हें गोल्ड मेडल देता है, जिंदगी उन्हें मिट्टी के मेडल भी नहीं दे पाती। वे गोल्ड मेडलिस्ट जिंदगी में कहां खो जाते हैं, कुछ पता नहीं चलता। जिंदगी में उनकी कहीं कोई उपादेयता नहीं मालूम पड़ती है। वे जो विश्वविद्यालय में चमकते हुए सितारे थे वे अचानक जिंदगी में बुझ जाते हैं और राख हो जाते हैं।
कुछ कारण हैं--जिंदगी मांगती है बुद्धिमत्ता, इंटेलिजेंस, वि.जडम; और विश्वविद्यालय देता है स्मृति, मेमोरी। जिंदगी में स्मृति काफी नहीं है। और यह भी बड़े मजे की बात है कि बहुत ज्यादा स्मृति होना अनिवार्य रूप से बहुत बुद्धिमान होने का लक्षण नहीं है। आमतौर से उलटा होता है। बहुत बुद्धिमान आदमी की स्मृति कमजोर होती है। बहुत बुद्धिमान लोग भुलक्कड़ होते हैं। असल में स्मृति बिल्कुल यांत्रिक प्रक्रिया है। उससे बुद्धि का कोई संबंध नहीं है। लेकिन अब तक की सारी शिक्षा स्मृति को ही आरोपित करने में व्यय होती रही है। जितने पीछे हम लौटेंगे उतनी स्मृति की शिक्षा गहरी थी। स्मरण करा देना ही शिक्षक का काम था। रटा देना, पक्का मजबूत मन में बिठा देना, संस्कारित कर देना, कंडीशनिंग कर देना ही शिक्षा का काम था। शिक्षा ने बुद्धिमत्ता पैदा नहीं की। शिक्षा ने स्मृति पैदा की है; जो पुनरुक्त कर सकती है।
इसलिए हमारी सारी परीक्षाएं स्मृति की परीक्षाएं हैं, बुद्धिमत्ता
की नहीं, इंटेलिजेंस की नहीं। हम परीक्षाओं में सिर्फ इस बात की जानकारी

कर लेना चाहते हैं कि कौन व्यक्ति ठीक से दोहरा सकता है। लेकिन ठीक से दोहराने वाला आदमी जिंदगी में खो जाएगा क्योंकि जिंदगी रोज नये सवाल उठाती है। और ठीक से दोहराने वाला सिर्फ पुराने उत्तर दोहरा सकता है। पुराने उत्तर जिंदगी के नये सवालों के सामने हार जाते हैं, बेमानी हो जाते हैं। बंधी हुई टेक्स्ट बुक में जो लिखा है, परीक्षा दे देना एक बात है। जिंदगी की कोई बंधी हुई परीक्षा नहीं है। जिंदगी बहुत चपल है, बहुत चंचल है, उसकी परीक्षा का बंधा हुआ हिसाब नहीं है। और जिंदगी की किताब के पीछे कहीं उत्तर नहीं लिखे हैं जिनकी चोरी की जा सके।
तो जिंदगी में जिसे हम विश्वविद्यालय में प्रतिभा कहते हैं, वह जिंदगी में प्रतिभाहीन होती है। और कई बार तो ऐसा होता है कि विश्वविद्यालय में जिसकी कोई गणना न थी वह जिंदगी में बड़ा प्रतिभावान सिद्ध हो जाता है। अगर हम दुनिया के प्रतिभाशाली लोगों के नाम उठा कर देखें तो उनमें से गोल्ड मेडलिस्ट शायद ही कोई हो।
कुछ कारण हैं--स्मृति पर बहुत आधार खतरनाक है। फिकर करनी पड़ेगी बुद्धि के विकास की। शिक्षा में क्रांति का पहला आधार होगा स्मृति को केंद्र से हटाएं, बुद्धि को केंद्र पर रखें। पहला सूत्र आपसे बात करना चाहता हूं। स्मृति नहीं, क्योंकि स्मृति का काम तो अब यंत्रों से भी लिया जा सकता है। टेप-रिकार्डर और कंप्यूटर भी काम कर देंगे। अब, अब बहुत जल्दी छोटे कंप्यूटर बन जाएंगे जिनको एक आदमी खीसे में लेकर चल सके और जो भी उत्तर पूछना हो पूछ ले। फिर गोल्ड मेडलिस्ट का क्या होगा? उसका कोई उपयोग ही नहीं रह जाने वाला है। उपयोग खत्म हो गया है। रोज-रोज स्मृति का उपयोग कम हुआ है, बुद्धि का उपयोग बढ़ा है।
पुरानी भाषाएं अगर हम एक दृष्टि डालें तो हमारी समझ में आएगा-- संस्कृत, अरबी, ग्रीक या लैटिन इस भांति से बनाई गई थीं कि स्मरण की जा सकें। इसलिए पुरानी भाषाएं गद्य में नहीं, पद्य में लिखी हुई हैं, कविता में लिखी हैं। पुरानी सारी भाषाएं ऐसी हैं कि उनको गाया जा सके--जैसे, संस्कृत या अरबी या ग्रीक। गाने से कोई चीज जल्दी याद की जा सकती है इसलिए पुरानी भाषाएं कविता पर जोर देती थीं। यह जान कर हैरानी होगी कि संस्कृत में गणित, भूगोल, ज्योतिष और वैद्यक की किताबें तक काव्य में लिखी गई थीं। उनको याद करने का सवाल था। बड़ा सवाल याद करने का था कि कोई चीज याद कैसे हो सके? रिदिम अगर हो तो याद जल्दी हो जाए।
लेकिन जैसे-जैसे मनुष्य की बुद्धि विकसित हुई उसे दिखाई पड़ा कि सवाल याद करने का नहीं है, सवाल नये को खोजने का है। याद किया जाता है पुराने को, खोजा जाता है नये को। और जो कौम और जो विद्यार्थी और जो शिक्षा याद करने पर ही निर्भर हो, नये को नहीं खोज पाएगी। नये को याद नहीं किया जा सकता। याद सिर्फ पुराने को किया जा सकता है। नये को तो खोजना पड़ेगा, डिस्कवर करना पड़ेगा।
हमारे विद्यालय, अब तक के विद्यालय नये की खोज के लिए कुछ भी नहीं कर रहे हैं। पुराने को याद करा देने की चेष्टा में संलग्न हैं। स्मृति बहुत ज्यादा से ज्यादा हमें संग्रह बना सकती है, लेकिन व्यक्तित्व नहीं देती है, आत्मा नहीं देती है। नये की खोज कैसे हो? स्मृति पर जोर कम करना पड़े, प्रतिभा पर जोर देना पड़े। मेरी दृष्टि में दो-तीन बातें खयाल में आती हैं। पहली बात तो यह--अब तक का शिक्षक जोर देता है कि बंधा हुआ उत्तर दो; वही सही है। भविष्य के शिक्षक को जोर देना पड़ेगा, बंधा हुआ उत्तर कृपा करके मत दो, नया उत्तर खोजो। नये उत्तर का ज्यादा सम्मान होगा, चाहे नया उत्तर थोड़ा गलत ही क्यों न हो। पुराने उत्तर का सम्मान नहीं होना चाहिए, चाहे पुराना उत्तर बिल्कुल ठीक ही क्यों न हो। क्योंकि बिल्कुल ठीक उत्तर भी अगर सिर्फ दोहराया जाता है तो प्रतिभा को विकसित नहीं करता है। और नया उत्तर अगर थोड़ा गलत भी है तो प्रतिभा को विकसित करता है। असल में भूल करने का भय हमें छोड़ देना चाहिए। भूल वह करेगा ही जो नये रास्ते पर चलेगा। सिर्फ वही आदमी भूल नहीं करता जो बंधी हुए लकीरों पर घूमता है। नये की खोज में भूल अनिवार्य है।

मेरी अपनी दृष्टि है कि अब तक शिक्षाशास्त्री भूल से इतना डरा रहा है
कि नये में कदम नहीं रख पाता है। हां, भूल एक बार ही करनी चाहिए। रोज नई भूल करनी चाहिए, पुरानी भूलें नहीं दोहरानी चाहिए। क्योंकि पुरानी भूल दोहराने से सिर्फ बुद्धि को नुकसान पहुंचता है। जो आदमी रोज नई भूलें कर सकता है उसकी प्रतिभा निरंतर विकसित होती चली जाती है। नई भूलें करना बहुत बड़ा साहस है। दुनिया में जितने अभीष्ट आदमी हैं वे उन लोगों से हुए हैं, जो भूल करने के लिए तैयार हैं, नहीं तो नये की खोज नहीं हो सकती। नये के साथ भूल तो होगी ही।
मैंने सुना है कि आइंस्टीन अपने एक युवक खोजी के साथ एक प्रयोग में लगा था। कोई डेढ़ वर्ष से प्रयोग चल रहा था और सात सौ बार असफलता आ गई, सात सौ बार प्रयोग करने पर बार-बार असफलता हुई। वह जो युवक था वह थक गया और भाग गया। लेकिन आइंस्टीन रोज सुबह फिर ताजा, भागा हुआ लबोरेटरी में चला आता और फिर काम में लग जाता। उस युवक ने कहाः हद्द हो गई। सात सौ बार हार चुके हैं, सात सौ बार भूल हो चुकी है, आप थकते नहीं! मैं तो बुरी तरह थक गया और ऊब गया। आइंस्टीन ने कहाः मैं तो सोचता था, तुम जवान हो। तो तुम इतनी जल्दी बूढ़े हो गए? भूल करने से इतनी जल्दी थकते हो? मैं तो बहुत प्रसन्न हूं। उस युवक ने कहाः मैं भी हैरान हुआ आपकी प्रसन्नता को देख कर। सात सौ बार भूल करने के बाद भी आप प्रसन्न हैं? आइंस्टीन ने कहाः तुम्हारे देखने का ढंग ही गलत है। मैं इस तरह सोचता हूं कि सात सौ रास्ते हमने खोज लिए, सात सौ रास्ते गलत हो गए। अब ठीक रास्ता करीब आता जा रहा है। अब सात सौ रास्तों पर भटकने की जरूरत न रही। हो सकता है, सात सौ एकवां रास्ता ठीक हो। तो हमने सात सौ काट डाले। हमारा प्रयोग असफल नहीं हो रहा है। हम असफलता को काट रहे हैं। हम सफलता के करीब पहुंच गए हैं। आखिर वह क्षण आ जाएगा कि भूल-चूक के सब रास्ते बंद हो जाएंगे और ठीक रास्ता मिल जाएगा।
सत्य की खोज भूल से गुजर के ही हो सकती है। सत्य का मतलब है, हमने असत्य के सब द्वार खोज डाले और गलत पाए। फिर अंत में वही शेष रह गया जो सत्य है। और जिंदगी बहुमुखी है, बहुआयामी है, मल्टी-डाइमेन्शनल है। उसमें तो खोजना पड़ेगा। सत्य कहीं रेडीमेड नहीं रखा है कि हम जाएंगे और मिल जाएगा। भूल करनी पड़ेगी, चूकना पड़ेगा, भटकना पड़ेगा। सत्य की खोज ऐसे ही है जैसे कोई पहेली में भटकता है। लेकिन जितनी भूलें हो चुकती हैं उतने हम सत्य के करीब पहुंचने लगते हैं क्योंकि उतनी भूलें करने का फिर कोई उपाय नहीं रह जाता है। पुरानी शिक्षा जोर देती है, भूल मत करो। और अगर भूल नहीं करनी है तो जो बंधा हुआ उत्तर है उसको ही पकड़ना पड़ेगा।
अगर स्मृति से मुक्त और बुद्धि पर केंद्र रखना हो तो हमें ध्यान रखना होगा कि भूल करने का स्वागत करना चाहिए। कक्षा में उस विद्यार्थी को सर्वाधिक आदर मिलना चाहिए जो सर्वाधिक भूलें करने के लिए निरंतर तत्पर है। और जो और नई भूलें करने के लिए आतुर हैं; लेकिन जो दोहराने की उत्सुकता में नहीं हैं, कुछ खोज लेने की उत्सुकता में हैं तो हम बुद्धिमत्ता को विकसित करेंगे।
और ध्यान रहे, अब तक ऐसा ही समझा जाता था कि पिछली पीढ़ी ज्यादा जानती थी, उससे पिछली पीढ़ी और ज्यादा जानती थी। जितना पुराना आदमी उतना ज्यादा जानता था, वह बात एकदम गलत है। पिछली पीढ़ी से नई पीढ़ी ज्यादा जान सकेगी। संभावना आगे है। आने वाले बच्चे और ज्यादा जानेंगे, इसकी संभावना और ज्यादा है। ज्ञान रोज विकसित हो रहा है, ज्ञान का विस्तार रोज फैलता चला जा रहा है। इसलिए ध्यान रहे, पुरानी पीढ़ी नये बच्चों के मस्तिष्क को इस भांति न पकड़ ले कि उनके विकास और विस्तार में बाधा बन जाए। अब तक शिक्षक, बाप जो जानता था वह बेटे तक पहुंचाने का काम करता था। अब शिक्षक को यह काम भी करना पड़ेगा कि बाप जितना जानता था, बेटे को उससे ज्यादा जानने की यात्रा पर संलग्न करना है। इतना ही काम काफी नहीं है कि बाप जितना जानता था, बेटा उतना जान ले। काम इतना है कि बेटा बाप को पराजित करके आगे जा सके। अब तक शिक्षक बाप का एजेंट था और बेटे को बाप की शक्ल में ढाल रहा था। अब शिक्षक को बेटे के पक्ष में होना पड़ेगा और बेटा बाप की शक्ल में न ढल जाए इसकी चिंता करनी पड़ेगी, ताकि बेटा आगे जा सके।

निश्चित ही बाप जिस दुनिया का नागरिक था, बेटा उस दुनिया का नागरिक नहीं होगा। और बाप ने जो दिन देखे, बेटे नहीं देखेंगे। बेटे नये रास्तों पर चलेंगे, नई दुनिया को खोजेंगे। इसलिए भूल हो जाएगी। अगर बेटा बाप की शक्ल में ढल गया तो बेटा नये भविष्य में जीने में असमर्थ हो जाएगा, कमजोर और पंगु हो जाएगा। हम अपना ज्ञान तो दें, लेकिन हमारा ज्ञान नये ज्ञान के आने में बाधा न बने। हमारा ज्ञान नये ज्ञान की खोज में प्रेरणा बने, यह शिक्षक को ध्यान में लेना पड़ेगा। अब तक ऐसा नहीं था। अब तक शिक्षक का काम यही था कि वह बेटे को बाप की दुनिया में फिट कर दे। वह जो बाप की दुनिया थी, एक ढांचा था, एक व्यवस्था थी, बेटा उसमें फिट कर दिया जाए। इसलिए शिक्षक बेटे को काटने, छांटने, तराशने और बाप की दुनिया में मौजूं बना देने की चेष्टा में संलग्न था। और वही शिक्षक कुशल था जो यह काम कर देता था। और वही विद्यार्थी कुशल था जो इस काम में, कर लेने में शिक्षक का सहयोगी हो जाता था।
नहीं, आगे यह नहीं हो सकता है। आगे हमें बेटे को ऐसा बनाना है कि वह नये, अनजान और अज्ञात के लिए तैयार हो सके। ज्ञात, बीते में उसे फिट नहीं कर देना है, उसे अज्ञात के लिए तैयार करना है। शिक्षा के सामने बहुत बड़ा सवाल है यह। क्योंकि शिक्षक के लिए सबसे बड़ी कठिनाई यही है। शिक्षक भी पिता की पीढ़ी का प्रतिनिधि है। यह सबसे बड़ी कठिनाई है। शिक्षक भी पिता की पीढ़ी का प्रतिनिधि है। वह भी जाने-अनजाने किसी बेटे का पिता है। वह भी अतीत से बंधा है। उसका अहंकार भी कहता है कि हम जानते हैं, और ज्यादा जानते हैं।
वह अहंकार अब महंगा पड़ेगा। उसे समझना होगा कि हम जितना जान सकते थे, हमने जाना, लेकिन तुम हमसे ज्यादा जान सकोगे। तुम हमसे आगे जा सकोगे। और हम तुम्हें उतना बता देते हैं जहां तक हम गए और आगे की यात्रा तुम कर सको, इसके लिए मुक्त किए देते हैं। लेकिन शिक्षा ने अब तक यह नहीं किया और इसलिए आज शिक्षा के जगत में जो बेचैनी है, मेरी दृष्टि में उस बेचैनी का एक कारण यह भी है। बच्चे भविष्य में जाना चाहते हैं, शिक्षक अतीत में ले जाना चाहते हैं। दोनों के बीच टेंशन है, तनाव है, खिंचाव है। बच्चे और शिक्षक एक दूसरे की तरफ पीठ करके खड़े हैं, आमने-सामने मुंह नहीं रह गया है उनका। पहले ऐसा कभी न हुआ था। उसके दो कारण थे--एक कारण तो यह था कि युवक घटना पहली है। युवक पहले कभी था ही नहीं। अतीत के इतिहास में युवक कभी था ही नहीं। युवक बिल्कुल बीसवीं सदी की घटना है। वह जिसको यंगर जनरेशन हम कहें, युवा पीढ़ी, वह बीसवीं सदी की घटना है। वह पहले कभी थी ही नहीं, वह बिल्कुल नई घटना है। और हमने युवक का कभी सामना ही न किया था। पहली दफे युवक पैदा हुआ था। उसके कारण थे। हम युवक होने ही न देते थे किसी को।
पहली तो तरकीब यह थी कि सेक्सुअल मैच्योरिटी के पहले हम शादी कर देते थे। बाल-विवाह कर देते थे। बाल-विवाह युवा पीढ़ी को पैदा नहीं होने देता था। यह बहुत सोचने जैसी बात है। बाल-विवाह युवा पीढ़ी को पैदा नहीं होने देता था। क्योंकि जैसे ही बच्चे यौन की दृष्टि से प्रौढ़ होते थे, गृहस्थ हो जाते थे। उनके बच्चे पैदा होने लगते थे और एक चक्कर शुरू हो जाता था जो बूढ़े होने का चक्कर है। वे युवा नहीं हो पाते थे। अब किसी लड़के का लड़का हो गया तो उसकी उम्र कितनी ही हो, वह बूढ़ी दुनिया का हिस्सा हो गया। वह बाप हो गया और बाप की तरह सोचने लगा। वह अपने लड़के को सुधारने में लगें कि खुद बिगड़ने में लगें? और कठिनाई खड़ी हो गई उसके सामने। सत्रह-अट्ठारह साल का जवान बाप हो जाए तो वह जवान कभी हो नहीं पाता।
पहला मौका है कि हम पच्चीस साल तक विवाह से युवकों को रोक रहे हैं। बचपन खत्म हो जाता है तेरह-चौदह साल में और बुढ़ापे की यात्रा पच्चीस साल में शुरू होती है। दस साल का गैप है बीच में, उस गैप में यंगर जनरेशन पैदा हुई है। वह जो बीच में दस साल का खंड है उस खंड में बच्चे भी नहीं हैं हम, और हम बूढ़े होने की यात्रा पर भी नहीं गए। एक दस साल में जवान पैदा हुआ है। यह जवान बिल्कुल नई घटना है दुनिया में। इस जवान को हमने पहली दफे देखा है। इसलिए, इस जवान के साथ क्या व्यवहार करें, यह हमें भी पता नहीं। और यह जवान

हमारे साथ क्या व्यवहार करे, इसको भी पता नहीं है। नई घटना में ऐसा होना स्वाभाविक है।
और भी एक बात ध्यान रखनी जरूरी है। मनुष्य के पास जो शक्ति है जीवन की
वह अगर बहुत जल्दी यौन के मार्गों से बहनी शुरू हो जाए तो व्यक्ति के भीतर अतिरिक्त शक्ति कभी इकट्ठी नहीं हो पाती। अगर हम दस-ग्यारह साल, आठ साल, नौ साल के बच्चों का विवाह कर दें तो उनकी यौन शक्ति बहनी शुरू हो जाती है। उनके पास अतिरिक्त शक्ति कभी इकट्ठी नहीं होती। दुनिया में नई पीढ़ी पैदा हुई है क्योंकि यौन का निकास नहीं है और यौन की शक्ति अतिरिक्त इकट्ठी हो जाती है। इस अतिरिक्त शक्ति के ही द्वारा खोज की जा सकती है, शिक्षित हुआ जा सकता है, संस्कृति को जन्म दिया जा सकता है। इस अतिरिक्त शक्ति के द्वारा ही विज्ञान, साहित्य, सभ्यता को विकसित किया जा सकता है। लेकिन यही अतिरिक्त शक्ति विनाश का कारण भी बन सकती है। अगर इसे ठीक मार्ग न मिले तो यह डिस्ट्रक्टिव हो सकती है।
शायद आप जान कर हैरान होंगे कि अमरीका के मनोवैज्ञानिक आज अमरीका में
यह सलाह दे रहे हैं कि बाल-विवाह फिर से शुरू कर दिया जाए। किन्से ने अपनी रिपोर्ट में दस साल की मेहनत के बाद यह खबर की है अमरीका की सरकार को कि बाल-विवाह के लिए हमें प्रोत्साहन देना चाहिए, क्योंकि युवकों के पास इतनी शक्ति इकट्ठी हो गई है कि कहीं वह डिस्ट्रक्टिव न हो जाएं। कहीं वे पूरे समाज को न तोड़ डालें।
यह इस बात की खबर है कि अतिरिक्त शक्ति खतरनाक हो सकती है। लेकिन अतिरिक्त शक्ति सृजनात्मक भी हो सकती है। सृजन और विध्वंस एक ही शक्ति से होते हैं। आज जो बच्चे पत्थर फेंक रहे हैं बसों पर, स्कूल के कांच तोड़ रहे हैं, शिक्षक के विरोध में खड़े हैं, वे सृजनात्मक भी हो सकते हैं। सिर्फ उनके पास अतिरिक्त शक्ति है और इस अतिरिक्त शक्ति का नियोजन शिक्षा के सामने एक नया सवाल है। स्मृति की जगह बुद्धिमत्ता को जगह देना है और अब तक की शक्ति जो पैदा हुई है, उसका नया नियोजन करना है। वह नियोजन नहीं है। हमें खयाल में नहीं है कि अगर एक युवक दो घंटे तक हॉकी खेलता रहे तो पत्थर फेंकने की क्षमता उसमें कम हो जाती है। क्योंकि हॉकी फेंकने में, बॉल को चोट मारने में, गेंद को हमला करने में वही शक्ति निकल जाती है जो बस के ऊपर पत्थर फेंकती है, जो कांच तोड़ती है। शक्ति वही है, नियोजन का सवाल है। हमें अब तक खयाल था कि बच्चे खेलते हैं।
असल में दुनिया में जवान कभी था नहीं, इसलिए जवान की अतिरिक्त शक्ति
के लिए खेल भी ठीक से विकसित नहीं हो पाया। और हमारे मुल्क में तो और कठिनाई है कि जवान करीब-करीब खेल ही नहीं रहा है। और मैं मानता हूं कि जब तक जवान तीन-चार घंटे खेलने में नियोजित न हो तब तक बसें टूटती रहेंगी और कांच फूटते रहेंगे। यह जवान अपनी तरफ से खेलने का रास्ता खोज रहा है। बूढ़े इसको गंभीरता से ले रहे हैं। जवानों के लिए यह खेल से ज्यादा नहीं है। बूढ़े इसे गंभीरता से ले रहे हैं। यह उनके लिए खेल है। अतिरिक्त शक्ति बाहर निकलना चाहती है, ओवरफ्लो होना चाहती है। अतिरिक्त शक्ति तो हमने इकट्ठी कर ली, ओवरफ्लो का कोई मार्ग नहीं है।
दूसरी बात, यह जो अतिरिक्त शक्ति है यह केवल स्कूल या कालेज में पांच घंटे बैठ कर टेबल पर पढ़ने से नहीं निकल पाती। बल्कि पांच घंटे टेबल पर बैठने से और इकट्ठी हो जाती है। स्कूल से बच्चों को निकलते आपने देखा होगा। स्कूल से वे ऐसे निकलते हैं जैसे कारागृह से छूट गए हों। किताबें फेंकते हुए, बस्ता उछालते हुए, स्लेटें फोड़ते हुए घर की तरफ भागते हैं। और जिस दिन पता चल जाए कि कल छुट्टी है तो सारे वातावरण में चिल्लाहट मच जाती है कि छुट्टी है और वह कल इस कारागृह में वापस नहीं आना पड़ेगा। पांच घंटे, छह घंटे बच्चे बैठे हैं। छोटे बच्चे! उनको बिठाया हुआ है वह छह घंटे उनकी बेचैनी इकट्ठी हो रही है। कहीं छह घंटे बच्चे इकट्ठे बैठ सकते हैं? अगर छह घंटे बच्चे को आप घर में छोड़ें तो आप देखो वह कितना दौड़ेगा, कितना भागेगा, वृक्ष पर चढ़ेगा, नदी में कूदेगा, लड़ेगा, गिरेगा, सब करेगा और छह घंटे वह बैठा रहा है। वह लड़ना, दौड़ना, वृक्ष पर चढ़ना वह सब इकट्ठा हो गया है। अब

इसका क्या होगा? कंडेंस्ड, इकट्ठा हो गया है, इसका क्या होगा? इसका कुछ परिणाम होगा भयंकर। वह भयंकर परिणाम हम भोग रहे हैं।
शिक्षक और पुरानी पीढ़ी के लोग समझते हैं कि युवक बिगड़ गए हैं। गलत है उनका सोचना। कोई बिगड़ नहीं गया है। सिर्फ अतिरिक्त शक्ति इकट्ठी हो गई है उसका निष्कासन नहीं है। और यह भी ध्यान रहे कि इस अतिरिक्त शक्ति के इकट्ठे होने के और भी कारण हैं, जो पहले नहीं थे।
एक तो मैंने कहा, बाल-विवाह अतिरिक्त शक्ति को कभी इकट्ठा नहीं होने देता था। दूसरा मैं आपसे कहूं, दुनिया में स्वास्थ्य इतना अच्छा कभी भी नहीं था जितना अच्छा आज है। दस बच्चे पैदा होते थे पुरानी दुनिया में तो आठ बच्चे मर जाते थे। जिस दुनिया में दस बच्चे पैदा हों और आठ मरते हों, उसमें दो बच्चे जो बचते थे वे भी अधमरे ही बचते थे। वह भी ठीक से नहीं बच सकते थे। पुरानी दुनिया में पचास प्रतिशत लोगों के चेहरों पर चेचक के दाग मिल जाते थे। मलेरिया था, प्लेग था, हैजा था, न मालूम कैसी-कैसी महामारियां थीं। उनकी वजह से अतिरिक्त शक्ति कभी इकट्ठी न हो पाती थी और आदमी मरा-मरा जीता था, इसलिए आज्ञाकारी था। आज्ञाकारी सिर्फ मरे-मराए लोग ही हो सकते हैं। जहां जिंदगी है वहां थोड़ी आज्ञा का टूटना शुरू होगा। और या फिर जिंदगी को नियोजित करने के लिए हमें चिंता करनी पड़ेगी, मार्ग देना पड़ेगा। इसलिए बेटे सदा सिर झुकाए हुए बाप की आज्ञा मानते हैं। असल में "नो", नहीं, कहने के लिए अतिरिक्त शक्ति चाहिए। "हां" कहने के लिए शक्ति की कोई जरूरत नहीं होती। "हां" शक्तिहीन भी कह सकता है। "न" शक्तिशाली ही कह सकता है। पुरानी पीढ़ी के बच्चों ने कभी "न" न कहा, क्योंकि इतनी शक्ति ही न थी।
न स्वास्थ्य था, न ज्यादा उम्र थी, न विटामिंस थे, न बीमारियों से लड़ने के लिए दवाइयां थीं। आदमी ऐसा जीता था बुझा-बुझा। दीया भी जल लेता है, तेल कम हो तो भी, लेकिन भभक कर नहीं जल सकता। और तूफानों से टक्कर लेने का विचार नहीं कर सकता। लेकिन जब तेल पूरा हो और बाती स्वच्छ हो तो फिर दीया धीमे- धीमे नहीं जलता। फिर वह भभक कर जलता है। फिर वह तूफानों से टक्कर लेना चाहता है, फिर वह हवाओं से जूझना चाहता है और उस जूझने में आनंद लेना चाहता है।
युवक पहली दफे पैदा हुआ है। वैज्ञानिक सुविधा ने युवक को पैदा किया है। और इस युवक के साथ हम क्या करें, हमें कुछ भी पता नहीं है। क्योंकि पुराना कोई अनुभव काम नहीं देता।
शिक्षा में दूसरी क्रांति का सूत्र हमें ध्यान रखना होगा, अतिरिक्त शक्ति का नियोजन। वह कैसे हो? अतिरिक्त शक्ति है, उसका नियोजन कैसे हो? वह कैसे सब्लिमेटेड हो, वह कैसे रूपांतरित हो? वह कैसे नये मार्गों पर दिशाओं में गति करे? और अगर उस नई शक्ति को "नो" कहना है तो वह किन चीजों के लिए "नो" कहे वह भी नियोजन देना पड़ेगा। हमें आदत रही है बच्चे से "हां" सुनने की। "न" सुनने की आदत नहीं रही है। लेकिन अब आने वाली पीढ़ियों के बच्चे रोज-रोज जोर से "न" कहेंगे तो हमें "न" को किस दिशा में नियोजित करना है, वह ध्यान में रखना पड़ेगा। अगर बच्चों को पत्थर फेंकने का शौक है तो पत्थर कहां फेंके जाएं, इसका नियोजन करना पड़ेगा। अगर बच्चे कुल्हाड़ी चलाना चाहते हैं, तो वे किन दरख्तों पर जाकर चलाएं, उसकी हमें फिकर करनी पड़ेगी। अगर बच्चे दौड़ना चाहते हैं, कूदना चाहते हैं, चिल्लाना चाहते हैं तो हमें उसकी चिंता लेनी पड़ेगी कि वे कैसे चिल्लाएं, कैसे कूदें, कैसे दौड़ें!
अब जैसे मेरी अपनी दृष्टि यह है, निश्चित ही जब अतिरिक्त शक्ति होती
है तो वह नाचना चाहती है, कूदना चाहती है। लेकिन हमारे जैसे मुल्क में नृत्य का कोई उपाय नहीं है तो लड़के क्लास रूम में नाच रहे हैं और बूढ़ा मन राजी नहीं है कि नृत्य का हम कोई उपाय खोजें। अब नृत्य में तो एक सौंदर्य है, और क्लास में नाचने में एक कुरूपता है। नृत्य तो एक अदभुत सौंदर्य है। और जब शरीर में अतिरिक्त शक्ति हो तो नृत्य एक आनंद है। लेकिन वह रुका हुआ है। उसका कोई उपाय नहीं है। शायद इस समय पृथ्वी पर हम अकेली कौम हैं जो नाचना भूल गए हैं। नृत्य से कोई संबंध न रहा। एक आदमी, हो सकता है पूरी जिंदगी गुजार दे और नाचा न हो। उस आदमी की जिंदगी में कुछ कमी रह गई है, कुछ भूल हो गई है।

शरीर की अपनी एक भाषा है और एक-एक अंग के कंपन का अपना अनुभव है और शरीर का एक-एक रोआं अनुभव करने में समर्थ है। लेकिन जब पूरा शरीर एक रिदमिक गति से नाचता है तो उसकी शक्ति भी बहती है और शरीर को एक सौंदर्य भी उपलब्ध होता है। लेकिन वह नहीं होगा तो लड़के कूदेंगे, फांदेंगे। स्कूल के फर्नीचर पर कूदेंगे, उसको तोड़ेंगे और तब हमें लगेगा, बड़ी अनुशासनहीनता हो रही है।
तो मैं यह कह रहा हूं कि नियोजन करना पड़ेगा। इस देश के युवकों को नृत्य भी सिखाना पड़ेगा, लेकिन नृत्य से हम डरते हैं। नृत्य से हम भयभीत हैं। गीत गाना सिखाना पड़ेगा। चिल्लाने की बहुत इच्छा है युवकों की। अगर गीत गाना नहीं सिखाएंगे तो वह किसी को जिंदाबाद, मुर्दाबाद चिल्लाएंगे। फिर वे यह भी भूल जाएंगे कि किसके लिए चिल्ला रहे हैं, फिर चिल्लाने का ही सुख हो जाएगा। फिर उनके चिल्लाने से हम परेशान होते हैं, हैरान होते हैं, मुश्किल में पड़ते हैं। युवकों की तोड़ने की इच्छा है तो हमें उन्हें तोड़ना सिखाना पड़ेगा। बहुत कुछ तोड़ने जैसा है, बहुत कुछ बनाने जैसा है, बहुत कुछ मिटाने जैसा है। इसलिए नियोजन देना पड़ेगा।
भविष्य के शिक्षक के सामने बड़े से बड़ा सवाल रोज खड़ा होता जाएगा और वह
यह है कि अतिरिक्त शक्ति है, सुपरफलुअस एनर्जी है, उसे हम कैसे नियोजित करें, उसे हम कैसे मार्ग दें? हम उसे कैसे नये मार्गों पर ले जाएं? हम कैसे उसे सृजनात्मक बनाएं? शिक्षक के सामने यह सवाल पहले कभी भी नहीं था। क्योंकि जो बच्चे आते थे--एक तो गरीब का बच्चा कभी स्कूल में आ ही नहीं पाता था। उपाय ही नहीं था आने का। बहुत थोड़े से बच्चे आते थे, अमीरों के बच्चे होते थे। सच तो यह है कि अमीर का बच्चा भी पिछली सदियों का आज के गरीब के बच्चे से ज्यादा कमजोर और बीमार था। यह हमें खयाल में नहीं है। क्योंकि जो मिल गया है उसका हमें पता नहीं चलता। अशोक ने बहुत शानदार कपड़े पहने होंगे लेकिन आज का साधारण लड़का भी जो कपड़े पहने है वह भी अशोक को उपलब्ध नहीं थे। और अकबर बहुत शानदार बिस्तर पर सोए होंगे, लेकिन आज का साधारण आदमी भी जैसे बिस्तर पर सो रहा है उसका अकबर को कोई पता नहीं था। जिंदगी बहुत विकसित हुई है।
बुद्ध के जमाने में सारी दुनिया की आबादी अंदाजन दो करोड़ थी--सारी दुनिया की। क्योंकि इससे ज्यादा आदमी बच ही नहीं सकते थे। आदमी पैदा तो बहुत होते थे। खयाल रहे, आदमी ज्यादा पैदा होते थे क्योंकि जितने नासमझ लोग हों, उतने ज्यादा बच्चे पैदा करते हैं। तो आदमी तो बहुत पैदा होते थे लेकिन मर जाते थे। बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस बच्चे एक आदमी पैदा करता था और एकाध बच्चा बच जाए तो बहुत कृपा थी। वह भी नहीं बचता था, वह भी गोद लेने के लिए यहां-वहां घूमना पड़ता था। बच्चे कम बचते थे, मुश्किल से बचते थे। वे जो थोड़े से बचे हुए बच्चे थे उनको पढ़ाने-लिखाने का मार्ग एक था मास स्केल पर, इतने वृहत्त पैमाने पर--क्या आपको अंदाज है, इस वक्त बच्चे कम हैं, बूढ़े कम हैं, जवान ज्यादा हैं। जवानों का विस्तार सबसे बड़ा है और यह विस्तार बढ़ता चला जाएगा, क्योंकि जवानी की उम्र बढ़ती चली जाएगी। जैसे-जैसे औसत उम्र बढ़ेगी, जवान का पीरिएड बड़ा होता जाएगा और बच्चों का पीरिएड छोटा होता जाएगा और बूढ़ों का पीरिएड भी छोटा होता जाएगा। यह खयाल में हमें नहीं है। बच्चे--जैसे आज अमरीका में बारह वर्ष की लड़की मैच्योर होने लगी है। हिंदुस्तान में चौदह वर्ष की लड़की मैच्योर होती है। और अमरीकी वैज्ञानिक का कहना है कि आने वाले दस वर्षों में अमरीका में नौ वर्ष की लड़की मैच्योर हो जाएगी। जितना स्वास्थ्य होगा, जितना ठीक भोजन होगा, जितनी ठीक हवा होगी उतना बचपन छोटा होता चला जाएगा। जितना स्वास्थ्य होगा, जितना ठीक इंतजाम होगा बीमारी से लड़ने का, बुढ़ापा छोटा होता चला जाएगा। बर्ट्रेंड रसल नब्बे वर्ष की उम्र में भी शादी कर सकता है। इधर हमारे बूढ़े थोड़े हैरान होते हैं कि कैसा खराब आदमी है! खराब आदमी नहीं है। नब्बे वर्ष में जब किसी कौम में शादी हो सकती है तो इसका मतलब यह है कि जवानी का फासला बड़ा हो गया है। जवानी लंबी हो गई। नब्बे वर्ष का आदमी भी एक अर्थ में जवान है।
हम सोचते हैं कि बूढ़ा शादी करे तो बेहूदी बात है। उसका कारण है--उसका कारण यह है कि हम यह सोच ही नहीं सकते कि बूढ़ा भी जवान हो सकता है। आज रूस

में डेढ़ सौ वर्ष की उम्र के हजारों लोग हैं। अगर डेढ़ सौ वर्ष का एक आदमी होगा तो उसकी जवानी एक सौ बीस वर्ष तक तो जाने देंगे कि नहीं जाने देंगे? जवानी का फासला बड़ा हो जाएगा। और जितनी ज्यादा देर तक कोई आदमी जवान रहेगा उतनी कम देर तक बच्चा, उतनी कम देर तक बूढ़ा रहेगा। बुढ़ापा सिकुड़ता जाएगा। यह भी हो सकता है कि वैज्ञानिक सुविधा पूरी तरह जुट जाए तो बुढ़ापा जैसी चीज विदा हो जाए। आदमी मरते दम तक जवान रह सके, यह बहुत कठिन नहीं है, यह संभव है। और बचपन भी सिकुड़ता चला जाएगा, क्योंकि जितनी हमारी समझ बढ़ती है उतना बचपन को सिकुड़ना होगा।
अभी नई से नई खोजें यह कहती हैं कि चार वर्ष की उम्र में बच्चा अपनी जिंदगी का पचास प्रतिशत सीख लेता है। यह बड़ी सोचने जैसी बात है। चार वर्ष की उम्र का बच्चा अपनी जिंदगी का पचास प्रतिशत सीख लेता है। और चार वर्ष की उम्र तक सीखने की जितनी क्षमता है, वह चार वर्ष के बाद निरंतर कम होती चली जाती है। इसका मतलब, इसके इंप्लीकेशंस बहुत गहरे हैं। शिक्षक को और शिक्षाशास्त्री को विचार करना पड़ेगा कि शिक्षा हमें कब शुरू करनी चाहिए-- सात साल में, छह साल में नहीं।
शिक्षा हमें दो साल में शुरू करनी पड़ेगी, क्योंकि सीखने का सबसे ज्यादा कीमती और ग्राहक क्षण चार साल के पहले है। और अगर हमें ठीक से सिखाना है तो हमें चार साल के भीतर कीमती सब बातें सिखा देनी चाहिए, जिंदगी के मूल आधार रख देने चाहिए। लेकिन चार वर्ष तक तो हम कोई आधार ही नहीं रखते हैं। चार वर्ष तक तो बच्चा ऐसे ही घूमता रहता है। फिर हम उसे सिखाना शुरू करते हैं। और खोज यह कहती है कि पचास प्रतिशत वह सीख ही चुका है, वह आधा ज्ञान तो उसको उपलब्ध हो चुका है। और ध्यान रहे, जो ज्ञान सीख लिया चार वर्ष की उम्र में उसके विपरीत कुछ भी सिखाना बहुत कठिन है। उससे भिन्न कुछ भी सिखाना बहुत मुश्किल है क्योंकि वह चार वर्ष में जितनी रिसेप्टिविटी है उतनी फिर कभी नहीं होगी। चार वर्ष में जो पकड़ लिया गया है वह जिंदगी का आधार बनेगा। बाद में उसी पर आप ऊपर रख सकते हैं। और चार वर्ष तो फिजूल खो जाते हैं।
इस वक्त जो सोचते हैं वे चिंतित हैं कि शिक्षा और जल्दी, और जल्दी शुरू करनी पड़े। वह दो वर्ष में शुरू करनी पड़े कि एक वर्ष में शुरू करनी पड़े। बहुत कठिन नहीं है कि बहुत जल्द हम इस खयाल पर पहुंचें कि मां के गर्भ को भी क्यों अशिक्षित छोड़ा जाए? कुछ रास्ते खोजे जा सकते हैं कि मां के गर्भ से शिक्षा शुरू हो जाए। बराबर खोजे जा सकते हैं, निश्चित खोजे जा सकते हैं। और कुछ तो इस संबंध में काम शुरू हुआ है क्योंकि मां के गर्भ में भी बच्चा सीख रहा है। ऐसा नहीं कि नहीं सीख रहा है। जहां चेतना है वहां सीखना शुरू हो गया। वह सीख रहा है, वह निरंतर सीख रहा है। मां के पेट में अगर मां बीमार है तो बच्चा बीमारी सीख रहा है। अगर मां स्वस्थ है तो बच्चा स्वास्थ्य सीख रहा है। और अगर मां भूखी है तो बच्चा गरीबी सीख रहा है। और मां का पेट अगर भरा है तो बच्चा अमीरी सीख रहा है। वह मां के पेट में सीखना शुरू हो गया है। उस पर भी ध्यान देना पड़ेगा। इधर बचपन सिकुड़ता चला जाएगा। फिर एक और नई घटना घटी है कि ज्ञान इतना बढ़ गया है कि हम पच्चीस साल भी अगर लड़कों को युनिवर्सिटी में रखें तो पूरा ज्ञान नहीं दिया जा सकता है। पुराना ज्ञान बहुत कम था। इतना कम था, जिसका कोई हिसाब नहीं। अगर दो हजार साल पहले का हम ज्ञान लें तो वह एक छोटी सी किताब में समा सकता था और एक आदमी मजे से उसका मास्टर हो सकता था। सच तो यह है कि पुरानी दुनिया में एक आदमी सारे ज्ञान का मालिक हो जाता था। जो कवि होता था वह एक वैद्य भी होता था। जो गांव का ब्राह्मण होता था वही शिक्षक भी होता था। जो पुजारी था वही शिक्षक भी था, वैद्य भी था। असल में जो आदमी थोड़ा समझ सकता था, वह सभी पकड़ लेता था।
एक ही सब्जेक्ट था दुनिया में--फिलॉसफी। कोई सब्जेक्ट दूसरा न था, एक
ही सब्जेक्ट था। अभी भी पुरानी आदत चलती है। ऑक्सफोर्ड में फिजिक्स डिपार्टमेंट के ऊपर अभी नेचरल फिलासफी की तख्ती लगी हुई है। वह पुरानी आदत है, फिलॉसफी ही एक सब्जेक्ट था। आज भी हम, आप कॉमर्स में डाक्टरेट करें और डिग्री मिलेगी पी.एचड़ी. की, डाक्टर ऑफ फिलॉसफी की। अब कॉमर्स से

फिलॉसफी का क्या लेना-देना है? अब कोई लेना-देना नहीं है। पुरानी आदत! हजार साल पहले फिलॉसफी एक ही विषय था। एक ही विषय सब कुछ घेर लेता था। फिर ज्ञान बढ़ता चला गया। अब ज्ञान इतना है कि हैरानी की बात है। एक दिन एक डाक्टर पूरे शरीर के संबंध में सब कुछ जानता था। फिर हमें कई डाक्टर बनाने पड़े--आंख का डाक्टर अलग, शरीर का डाक्टर अलग, पेट का डाक्टर अलग; हमको बांटना पड़ा।
मैं एक मजाक सुन रहा था। मैं सुन रहा था कि आज से पचास साल बाद एक औरत
एक डाक्टर के दफ्तर में गई, एक आंख के विशेषज्ञ के दफ्तर में। और उसने कहा कि मेरी आंख में बड़ी तकलीफ है। उस विशेषज्ञ ने पूछा, देवी, कौन सी आंख में? क्योंकि मैं बायीं आंख का स्पेशलिस्ट हूं। दाईं आंख का स्पेशलिस्ट आगे है।
यह बहुत कठिन नहीं है क्योंकि आज आंख के संबंध में इतनी किताबें हैं
कि एक आदमी जिंदगी भर पढ़े तो नहीं पढ़ सकता है। सिर्फ आंख के संबंध में इतना ज्ञान विकसित हुआ है। आंख छोटी चीज नहीं है, आंख बहुत बड़ी घटना है। इतनी बड़ी घटना है कि जिसका कोई हिसाब नहीं। आंख की पूरी वर्किंग को समझना इतना बड़ा मामला है कि एक आदमी पूरी जिंदगी लगाए तो नहीं समझ सकता।
इसलिए शिक्षाशास्त्री के सामने एक नया सवाल है कि जितना ज्ञान पुरानी पीढ़ी ने पैदा कर लिया है वह नई पीढ़ी को कैसे दिया जाए? इसलिए रूस में एक नया खयाल आया है, वह है स्लीप टीचिंग का। बच्चों को रात में सोते में भी शिक्षा देनी पड़ेगी; अन्यथा कोई उपाय ही नहीं है। रात में जब बच्चा सो रहा है, उसके सोने को ऐसे नहीं छोड़ा जा सकता। तो टेप-रिकार्डर कान में लगा रहेगा पिल्लो के पास, और रात भर धीरे-धीरे उसे शिक्षित करता रहेगा। क्योंकि तब हम रात भी शिक्षा दें तो ही हम पुरानी सदी का ज्ञान उसको सौंप पाएंगे, नहीं तो नहीं सौंप पाएंगे।
युवक की उम्र लंबी हो जाएगी और शिक्षा का काल भी बढ़ाना पड़ेगा। शिक्षा
का काल भी काफी नहीं रहेगा। इसलिए नये सवाल सामने हैं और नये सवालों से जूझने के लिए नये विचारों को खोजना पड़ेगा। लेकिन हम और हमारी शिक्षा तो बहुत पीछे जी रही है, हम बीसवीं सदी में नहीं हैं। हमारा बीसवीं सदी से कोई संबंध नहीं है। हमारा शिक्षक एकदम आउट ऑफ डेट है। क्योंकि शिक्षक जब पढ़ा था--समझ लीजिएः शिक्षक उन्नीस सौ तीस में पढ़ा था, फिर उन्नीस सौ तीस के बाद उसने किताब नहीं उठाई आगे। वह उन्नीस सौ तीस पर रुक गया है। और वह वही उन्नीस सौ तीस में जो उसने पढ़ा था, पढ़ाए चला जा रहा है। उसने जो नोट्स उन्नीस सौ तीस में बनाए थे वह अब भी उसके लेक्चर के नोट्स हैं। उन्हीं से काम ले रहा है। इधर तीस साल में दुनिया बदल गई, इधर तीस साल में सब बदल गया। तीस साल पहले जो भी अर्थपूर्ण था, आज अर्थहीन हो गया है। लेकिन वह उसे पता नहीं। इसलिए हमारी शिक्षा बहुत पिछड़ी हुई है, सारी दुनिया से पिछड़ी हुई है। हम दुनिया के साथ खड़े हुए नहीं हैं। इसका मतलब यह हुआ कि शिक्षक को अब चौबीस घंटे शिक्षित होना पड़ेगा। अब ऐसा नहीं हो सकता कि एक दफे आप शिक्षित हो गए और शिक्षक हो गए! अब शिक्षक को निरंतर विद्यार्थी बना रहना पड़ेगा-- विद्यार्थी से भी ज्यादा। उसे चौबीस घंटे जागा हुआ, समझा हुआ होना पड़ेगा कि क्या हो रहा है।
मैं अभी देख रहा था, पश्चिम में बड़ी किताब लिखनी मुश्किल हो गई हैं! साइंस पर तो बड़ी किताबें नहीं लिखी जा रही हैं, छोटी-छोटी किताबें लिखी जा रही हैं। तो मैंने एक मित्र को लिख कर पूछा कि बात क्या है, बड़ी किताबें क्यों नहीं लिखी जाती हैं? तो उन्होंने मुझे लिखा कि कारण यह है कि बड़ी किताब लिखने में दो वर्ष लग जाते हैं। दो वर्ष में जो लिखा, वह बेकार हो जाता है। महीने भर में किताब पूरी होनी चाहिए। नहीं तो किताब लिखे जाने के पहले ही व्यर्थ हो जाएगी। इतने जोर से रिसर्च है, इतने जोर से अन्वेषण है, इतनी दिशाओं में खोज चल रही है। पांच हजार ग्रंथ प्रति सप्ताह नये प्रकाशित हो रहे हैं। पांच हजार ग्रंथ प्रति सप्ताह नये प्रकाशित हों, इसका मतलब क्या हुआ? इसका मतलब हुआ, ज्ञान पूर की तरह आकाश से टूट रहा है चारों तरफ। उसे सम्हालना मुश्किल है। हमें कोई दिक्कत नहीं है। क्योंकि हम आंख बंद किए खड़े हैं, हमें कोई कठिनाई नहीं है। हम बड़े निश्चिंत बैठे

हुए हैं। हमें कुछ पता नहीं है कि सारी दुनिया में क्या हो रहा है। और हम इस तरह की बातें कर रहे हैं कि जो हमें और सारी दुनिया से तोड़ने वाली सिद्ध होती हैं, जोड़ने वाली सिद्ध नहीं होतीं।
शिक्षक को निरंतर शिक्षित होना पड़ेगा। अब पुराने ढंग से काम नहीं चलेगा। और शिक्षा कभी पूरी नहीं हो जाती। और शिक्षक को, अपने विद्यार्थी को भी इस भांति तैयार करना होगा कि वह यह न समझें कि किसी दिन शिक्षा पूरी हो जाती है। अब किसी डिग्री पर शिक्षा पूरी नहीं हो सकती। अब शिक्षा पूरी हो ही नहीं सकती। अब तो आदमी को निरंतर शिक्षित होना ही पड़ेगा। उसे चौबीस घंटे, मरने की आखिरी घड़ी तक शिक्षित होना पड़ेगा। रोज ज्ञान का नया एक्सप्लोजन होता चला जाएगा। इसलिए विश्वविद्यालय सिर्फ आप आगे भी कैसे शिक्षित होते रहें, इसकी तैयारी करवा दें तो काफी है। आपको शिक्षित बना कर न निकाल दें। अब आपको शिक्षित बना कर निकालना महंगा है।
अब यह भ्रम नहीं पैदा होना चाहिए कि एक लड़के को एम ए की डिग्री मिल गई
तो वह शिक्षित हो गया। और वह अपनी डिग्री लेकर चला गया दुनिया में शिक्षित होने की हैसियत की। नहीं, अब विश्वविद्यालय को समझाना पड़ेगा कि कोई डिग्री शिक्षा पूरी नहीं करती है। डिग्री सिर्फ इतना कहती है कि अब कृपा करके इन दीवालों के बाहर जाकर शिक्षित हों। अब यहां काम पूरा हुआ, अब आप बाहर जाएं। डिग्री सिर्फ इतना कहती है कि अब बिना शिक्षक के शिक्षित हों। अभी तक शिक्षक आपको साथ देता था। अब शिक्षक आपके साथ नहीं होगा। अब आप ही शिक्षक होंगे और आप ही शिक्षार्थी होंगे। डिग्री सिर्फ इतना कहेगी कि आप जाएं और शिक्षित हों। यह भ्रम हमें छोड़ देना पड़ेगा कि डिग्री से कोई शिक्षित हो जाता है तो हम जिंदगी को एक ओपनिंग और एक खुलापन दे पाएंगे। और बहुत जरूरी हो गया है कि मन खुला हो, रोज शिक्षित होने को तैयार हो, रोज नया होता चला जाए।
कठिन होता है नये को सीखना। इसलिए कठिन होता है कि पुराने की आदत बन
गई होती है, और पुराना ढांचा बन गया होता है। आदमी तो आदमी है। अगर हम एक कमरे में एक बाल्टी पानी डाल दें तो पानी, तो पानी एक रास्ता बना कर बह जाता है। फिर थोड़ी देर में सूख जाता है। पानी चला गया। एक सूखी रेखा छूट जाती है। अगर आप दोबारा पानी डालें तो वह पानी उसी सूखी रेखा को पकड़ कर बहना चाहेगा--वह भी लीस्ट रेसिस्टेंस को खोजेगा। वह भी यह सोचेगा कि यही रास्ता अच्छा है। बना बनाया है, पहले से तैयार है, इससे बह जाओ। मन भी यही करता है। जो तैयार है उस पर ही बह जाने की कोशिश करता है। वह सरल है, उसमें झंझट नहीं है, प्रतिरोध नहीं है। लेकिन अब हमें ऐसा मन तैयार करना पड़ेगा जो रोज नये रास्ते पर बहने को तैयार हो, क्योंकि रोज नया रास्ता निर्मित हो रहा है। अगर आप नहीं बहे तो रास्ता नहीं रुकेगा, रास्ता तो बढ़ता चला जाएगा। जो तैयार होंगे नये रास्ता पर जाने को, वे जीतते चले जाएंगे। और जो तैयार नहीं होंगे, वे हारते चले जाएंगे।
इस देश के निरंतर पराजय का एक कारण यह भी है--यह मैं अंतिम बात कहना चाहूंगा। हम कोई दो हजार साल से निरंतर हार रहे हैं। कोई समझता होगा कि यह हार हमारे विजेताओं की ताकत की कमी से है। मैं नहीं समझता। कोई सोचता हो पोरस कमजोर था सिकंदर से, तो गलत है। और कोई सोचता हो कि मुसलमान इस मुल्क में जब आए हमलावर की तरह तो इस मुल्क के रहने वाले कमजोर थे, तो गलत थे। और कोई सोचता हो कि अंग्रेजों ने हमें हराया तो अंग्रेज बड़े शक्तिशाली थे, हम बहुत कमजोर थे, तो गलत है। नहीं, हमारी कुल कमी दो हजार वर्ष से एक है, और वह यह है कि हम नये रास्ते पकड़ने में करीब-करीब असमर्थ हो गए हैं। हम पुराना रास्ता पकड़े रहते हैं। दूसरे लोग नये रास्ते पकड़ कर आ जाते हैं और हमें हार जाना पड़ता है।
सिकंदर आया घोड़ों पर सवार होकर। हम हाथियों पर बैठे थे तो हम हाथियों
पर ही बैठे रहे। हमने सोचा भी न कि घोड़ों से हाथी कैसे जीत सकते हैं? पोरस सिकंदर से जीत सकता था, लेकिन हाथी घोड़ों से नहीं जीत सकते थे। हाथी बरात वगैरह के लिए बड़े अच्छे हैं। बरात निकलती है, हाथी बड़ा शानदार जानवर है। लेकिन युद्ध के लिए हाथी बिल्कुल ही बेमानी है। लेकिन हम हाथियों पर लड़ते रहे थे तो जब तक आपस में लड़ते थे तब तक कोई दिक्कत न थी, क्योंकि दूसरी तरफ

से भी हाथी पर लड़ने वाला और हम भी हाथी पर लड़ने वाले थे। कभी झंझट न आई थी। पहली दफा झंझट आई कि सिकंदर घोड़े पर सवार होकर आ गया।
घोड़ा ज्यादा तेज जानवर है, चंचल है, गतिमान है। थोड़ी जगह घेरता है, जल्दी घूमता है, जल्दी भागता है, बचता है, बचाव करता है। हाथी बहुत शाही जानवर है, धीरे घूमता है, धीरे चलता है और अगर घबड़ा जाए तो अपनो को ही रौंद डालता है।
और यही हुआ। पोरस की सेनाएं पोरस के ही हाथियों के पैरों के नीचे मरीं, लेकिन हम सीख न पाए, हम समझ न पाए कि यह, यह नया रास्ता लेकर आया है, घोड़ों पर जो लड़ने आया है।
फिर बाबर हिंदुस्तान आया तो हम तलवार, तीर-तरकस से लड़ते रहे। वह बंदूक लेकर आ गया। बंदूक नई चीज थी। तलवार कितने ही बहादुर के हाथ में हो, बंदूक एक कमजोर आदमी के भी हाथ में हो, तो तलवार वाला बंदूक से नहीं जीत सकता है। क्योंकि बंदूक ने एक नई खोज कर ली है। वह है डिस्टेंस से, दूरी से हमला करने की, जो तलवार में असंभव है। तलवार के लिए फासला कम चाहिए। आप मेरे करीब हों तो मैं तलवार से लड़ सकता हूं। लेकिन अगर आप मुझसे दूर हैं तो तलवार बेमानी है। बंदूक की खोज यह थी कि हम दूर से हमला कर सकते हैं। तलवार हार गई, बंदूक जीत गई।
हम मुश्किल से बंदूक सीख पाए, तब तक अंग्रेज आ गए; वे तोपें लेकर आ गए।
हम फिर बंदूक लिए हुए खड़े थे। हम दो हजार साल से दुनिया की आंखों में शिक्षा में पीछे हैं। हर स्थिति में पीछे हैं। हम पुराने को पकड़ लेते हैं, जब नया आता है तो हम मुश्किल में पड़ जाते हैं। तब हम चौंक जाते हैं। हमारी कुछ समझ में नहीं आता है कि अब हम क्या करें। अब अभी भी हमारा सैनिक जो है वह लेफ्ट-राइट कर रहा है--अभी भी। अब उसे पता नहीं है कि अब लेफ्ट-राइट का वक्त गया। अब उसका कोई मतलब नहीं है। अब युद्ध जमीन पर नहीं है, अब युद्ध आकाश पर है। सच तो यह है कि अब युद्ध बहुत और तरह का है। अब युद्ध बिल्कुल ही टेक्नालॉजिकल है। अब युद्ध का कोई संबंध आदमी से नहीं है। अब बटन दबाने से युद्ध हो सकता है। आदमी तो मैदान से हट गया है। हम आदमी को ट्रेंड कर रहे हैं। वह आदमी बेमानी हो जाएगा। अब आदमी का कोई संबंध ही नहीं है। अब युद्ध का माप ही बदल गया है। अब युद्ध है टेक्नीक का। कौन टेक्नीक में विकसित है, वह जीतेगा। अब आदमी-वादमी से कुछ लेना-देना नहीं है क्योंकि एक कमजोर से कमजोर आदमी एक कमरे में बैठ कर बटनों से लड़ सकता है। आप कितने ताकतवर हो, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। हम पीछे हैं दो हजार वर्ष से शिक्षा में।
मैं यह कह रहा हूं, हम नये को पकड़ने में बड़े असमर्थ हैं, इनकेपेबल सिद्ध हुए हैं, अपात्र सिद्ध हुए हैं। और अगर नये को पकड़ते भी हैं तो बड़ी मुश्किल में, मजबूरी में, परेशानी में, जब कोई रास्ता नहीं रह जाता है तब। नहीं, जब कोई रास्ता नहीं रह जाता तब हम नये को पकड़ते हैं--उसका मतलब, तब तक नया पुराना हो चुका होता है और दूसरे लोग और नये पर निकल गए होते हैं। फिर हम अपने को बामुश्किल राजी कर पाते हैं। फिर वहीं तकलीफ खड़ी हो जाती है। हमें नये का स्वागत करना पड़ेगा। पुराने को छोड़ने की हिम्मत और नये को तत्काल अंगीकार करने का साहस जुटाना पड़ेगा तो हम इस पृथ्वी पर खड़े हो सकेंगे--शिक्षित, सुसंस्कृत, सभ्य, अन्यथा हमारा अब आगे कोई इतिहास नहीं हो सकता। ऐसे पीछे भी जो इतिहास है, उसे इतिहास कहना उचित नहीं। वह भी सिवाय दीनता, दुख, दरिद्रता, दासता के और क्या है? वह भी पीछे का इतिहास सिवाय अपमान के और क्या है? वह पीछे का इतिहास भी सिवाय घावों के और क्या है हमारी छाती पर? लेकिन आगे शायद वह भी न हो। हम एकदम दुनिया की दौड़ में रास्ते के किनारे खड़े रह गए हैं। सिर्फ लोगों के पैरों की धूल हमें मिल पाती है जो जा रहे हैं और हम किनारे खड़े देख रहे हैं। बहुत दिन से हम सोचते थे। हम तमाशबीन हो गए हैं, हम किनारे खड़े देख रहे हैं। हम पार्टिसिपेंट नहीं हैं आज पृथ्वी पर। आज जगत के विकास में हमारा कोई दान नहीं है। आज हम जगत के विकास के भागीदार नहीं हैं।

और ध्यान रहे, जो जगत के विकास में भागीदार बनता है वही अंततः विजेता बनता है। जो जगत को विकास देता है वह जीत जाता है। जो किनारे खड़ा हो जाता है वह हार जाता है, पराजित हो जाता है।
शिक्षक के सामने यह सवाल भी है कि हमने भारत में दो हजार साल में जो भूल की है उसे पचास साल में पूरा करना पड़ेगा। बड़ी तीव्र गति से पूरा करना पड़ेगा। अगर हम पचास साल में पूरा नहीं करते तो हम चूक ही जाएंगे, जैसे ही हम चूक जाएंगे, हम खड़े न हो पाएंगे दुनिया के साथ।
क्या इतनी बड़ी जिम्मेवारी शिक्षा लेने को तैयार है? मुश्किल दिखाई पड़ता है क्योंकि शिक्षक लगा है इलेक्शन में। वह कह रहा है कि मैं वाइस चांसलर कैसे हो जाऊं? प्रोफेसर परेशानी में है कि वह हेड ऑफ दि डिपार्टमेंट कैसे हो जाए? उसकी अपनी पॉलिटिक्स है, वह उसमें लगा हुआ है। वह वहां चक्कर खा रहा है। कुछ थोड़ा बहुत वक्त बच जाता है तो वह पढ़ा देता है, ऐसे उससे कोई खास संबंध नहीं है। वह कोई खास बात नहीं है। वह वहां संलग्न है। शिक्षक कहीं और उलझा है। विद्यार्थी के पास अतिरिक्त शक्ति है। वह अपनी शक्ति से परेशान है। वह लड़कियों को धक्के दे रहा है, पत्थर मार रहा है, कांच फोड़ रहा है, उसे कोई मतलब नहीं है। मौका बच जाता है लड़कियों से कुछ छोड़ कर तो थोड़ा-बहुत पढ़ लेता है। बाकी उसे उससे कोई मतलब नहीं है। बल्कि अगर लड़कियां हों क्लास में तो ही थोड़ा-बहुत पढ़ लेता है। अगर लड़कियां क्लास में न हों तो क्लास में ही नहीं लौटता।
यह हमारा शिक्षक और विद्यार्थी जहां खड़ा है, वहां हम आशा नहीं बांध सकते कि पूरा हम जगत से दो हजार साल पिछड़ गए हैं, हम पचास साल में उसे कैसे पूरा करेंगे? लेकिन पूरा हम कर सकते हैं। थोड़े बोध की जरूरत है। थोड़ी समझ की जरूरत है। थोड़ी इस कांशसनेस की जरूरत है कि हम इतिहास के किस बिंदु पर आकर खड़े हो गए हैं और सारा जगत किस जोर से भागा जा रहा है। हम उसके साथ, अगर एक दफा हमें बोध आ जाए तो हम गतिमान हो सकते हैं।
मेरी समझ में, आज शिक्षक के ऊपर जितना बड़ा दायित्व है, इतना किसी के ऊपर नहीं है। और शिक्षक को जितना बड़ा रोल अदा करना है, उतना किसी को नहीं करना है। इस संक्रमण की कड़ी में शिक्षा ही वह माध्यम बन सकती है, जिससे हम दुनिया के साथ खड़े होने में समर्थ हो सकें। शिक्षक को राजनीतिज्ञ से थोड़ा बचना पड़ेगा। शिक्षक को राजनीति से थोड़ा बचना पड़ेगा। और शिक्षक को उपदेश छोड़ कर विद्यार्थी की मनोदशा को समझने के लिए नीचे उतरना पड़ेगा और समझना पड़ेगा, उसकी मनोदशा क्या है? उसकी आंतरिक पीड़ा और तकलीफ क्या है? उसकी अतिरिक्त शक्ति के बहाव का यह उपद्रव क्या है? यह उसे समझना पड़ेगा। लेकिन वह अपने मंच पर खड़े होकर पुराने उपदेश दिए जाता है कि अनुशासन होना चाहिए, गुरु का आदर होना चाहिए। ये उपदेश अब कोई भी नहीं सुन रहा है। न सुने जा सकते हैं, क्योंकि एक नई घटना, एक यंगर जनरेशन पैदा हुई है जो कभी पहले थी ही नहीं। इस नये फिनामिना को, इस नई घटना को पूरा समझ कर इसकी अतिरिक्त शक्ति के सब्लिमेशन के उपाय खोज कर, और इस नई शक्ति को भविष्य उन्मुख बना कर एक क्रांति घटित हो सकती है। वह क्रांति बहुत जरूरी है।
बहुत तरह की क्रांतियां हो रही हैं--आर्थिक क्रांति होगी, सामाजिक क्रांति होगी, राजनीतिक क्रांति होगी। लेकिन मैं आपसे कहना चाहता हूं कि बुनियादी क्रांति सदा शिक्षा की क्रांति है, बाकी सब क्रांतियां परिधि पर हैं। केंद्रीय क्रांति शिक्षा की क्रांति है। और अगर यह क्रांति का मिशन शिक्षक के खयाल में आ जाए तो शायद हमारा भी अस्त हुआ सूर्य फिर उदय हो सकता है।
ये थोड़ी सी बातें मैंने कहीं इस आशा में कि शायद इससे थोड़ा धक्का लगे
और आप सोचने की यात्रा पर निकल जाएं। उससे ज्यादा प्रयोजन नहीं है। मैं जो कहता हूं वह सही है, ऐसा नहीं है। मैं जो कहता हूं वह आपको सोचने में संलग्न कर दे तो मेरा काम पूरा हो जाता है। कई बार मुझे लगता है कि चाहे मेरी बात गलत ही क्यों न हो, अगर आपको सोचने की दिशा में ले जाती है तो मैं उसे कहता रहूंगा। और बात सही ही क्यों न हो, अगर आपको सोचने की दिशा में नहीं ले जाती है और मुर्दा हां भरवा देती है तो मैं उसे नहीं कहूंगा। देश में एक चिंतन की जरूरत है।

मेरी बातों को इतनी शांति और प्रेम से सुना उससे बहुत अनुगृहीत हूं।
और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं। मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

शिक्षा में क्रांति
छब्बीसवां प्रवचन

जीवंत शिक्षकों की खोज

मेरे प्रिय आत्मन्!

आधुनिक शिक्षक के संबंध में कुछ कहना थोड़ा कठिन है। इसलिए कठिन है कि शिक्षक आज के पहले कभी दुनिया में था ही नहीं। आधुनिक ही शिक्षक का होना है। जैसा अभी परिचय में कहा, शिक्षक का धंधा, वह बहुत आधुनिक घटना है। वह कभी पहले था नहीं। गुरु थे, वे शिक्षक से बहुत भिन्न थे। शिक्षण उनका धंधा नहीं था, उनका आनंद था। शिक्षण पहली दफे धंधा बना है। और जिस दिन शिक्षण धंधा बन जाएगा, उस दिन शिक्षक गुरु होने की हैसियत खो देता है। उस दिन वह गुरु नहीं रह जाता, नौकर ही हो जाता है या व्यवसायी हो जाता है।
आधुनिक शिक्षक आधुनिक घटना है। पुराने युगों में लोग थे। वे शिक्षण में धंधे की भांति संबंधित नहीं थे। असल में कभी सोचा ही नहीं गया था कि शिक्षण भी कभी धंधा बन सकता है, लेकिन अब बन गया है। और उसका परिणाम यह हुआ है कि शिक्षण संस्थाएं फैक्ट्रियों और कारखानों से ज्यादा नहीं हैं। कारखानों में चीजें बनाई जाती हैं, विश्वविद्यालयों में आदमी ढाले जाते हैं, उतना ही फर्क है। लेकिन आदमी भी उसी तरह ढाले जाते हैं, जैसे मशीनें ढाली जाती हैं। गुरु नहीं है, लेकिन शिक्षक के मन में यह भ्रम है, अभी भी गुरु होने का। उससे शिक्षक को बड़ा कष्ट भी है, उसको पीड़ा भी बहुत है। वह आदर तो उतना ही चाहता है जितना गुरु को मिलता था। सम्मान उतना चाहता है जितना गुरु को मिलता था।
शिक्षकों से मिलता हूं तो सब जगह उनकी तकलीफ यही है कि विद्यार्थी सम्मान नहीं दे रहा है, आदर नहीं दे रहा है। लेकिन उसे पता ही नहीं है कि गुरु नाम का प्राणी बहुत और बात थी। शिक्षक वह नहीं था, जिसको आदर मिला था। शिक्षक बहुत और बात है। उसे आदर नहीं मिल सकता है। उसे आदर की आकांक्षा भी छोड़ देनी चाहिए और या फिर गुरु होने की हिम्मत जुटानी चाहिए। ऐसा नहीं है कि गुरु को आदर देना पड़े। बात उलटी है। जिसे हमें आदर देना ही पड़ता है उसको ही गुरु कहते हैं। जिसे आदर दिए बिना कोई रास्ता ही नहीं है, जो हमारे आदर को खींच ही लेता है, उसे ही हम गुरु कहते हैं। लेकिन शिक्षक और बात है। शिक्षक कुछ काम ही दूसरा कर रहा है।
क्या काम शिक्षक कर रहा है आज? वह जो मास प्रोडक्शन है, वह जो बड़े पैमाने पर आदमियों को ढालने की कोशिश चल रही है, वह जो बड़े-बड़े कारखाने हैं, प्राइमरी स्कूल से लेकर युनिवर्सिटी तक, उन सब कारखानों में जो आदमी को ढालने का प्रयास चल रहा है। शिक्षक उसमें नौकर है और वह जो काम वहां कर रहा है, वह काम किसी भी व्यक्ति की आत्मा को नहीं जगा पाता।
गुरु वह है जो किसी की आत्मा को जगा दे, किसी के व्यक्तित्व को गरिमा
दे दे, उसके बंद फूल खिल जाएं। शिक्षक वह है जो पुरानी पीढ़ियों के द्वारा अर्जित सूचनाओं को, नई पीढ़ी तक पहुंचाने का वाहन का काम कर दे और विदा हो जाए। शिक्षक सिर्फ पुरानी पीढ़ियों ने जो ज्ञान अर्जित किया है, उसे नई पीढ़ी तक जोड़ने का काम करता है, इेससे ज्यादा नहीं। वह मध्यस्थ है।
और वहां भी एक क्रांतिकारी घटना घट गई है। जीसस के मरने के बाद कोई साढ़े अट्ठारह सौ वर्षों में मनुष्य जाति का जितना ज्ञान बढ़ा था, उतना ज्ञान पिछले डेढ़ सौ वर्षों में बढ़ा है और पिछले डेढ़ सौ वर्षों में जितना ज्ञान बढ़ा था, उतना ज्ञान पिछले पंद्रह वर्षों में बढ़ा है। पंद्रह वर्षों में उतना ज्ञान बढ़ रहा है अब, जितने ज्ञान को बढ़ने के लिए पहले साढ़े अट्ठारह सौ वर्ष लगते थे। इसका एक बहुत गहरा परिणाम होना स्वाभाविक है, वह परिणाम यह हुआ है कि पहले, आज से दो सौ साल पहले बाप हमेशा बेटे से ज्यादा जानता था, गुरु हमेशा शिष्य से ज्यादा जानता था। आज ऐसा जरूरी नहीं है। आज संभावनाएं बिल्कुल बदल गई हैं, क्योंकि बीस वर्ष में एक पीढ़ी बदलती है, और बीस वर्ष में नये ज्ञान का इतना विस्फोट हो जाता है कि बीस साल पहले जो शिक्षित हुआ था, वह अपने विद्यार्थी से भी पीछे पड़ जाता है।

आज तो शिक्षक और विद्यार्थी में जो फर्क होता है, पहले तो फर्क होता
था बहुत भारी, क्योंकि सारा ज्ञान अनुभव से उपलब्ध होता था। और ज्ञान थिर था, हजारों साल तक उसमें कोई बदलाहट नहीं होती थी। इसलिए शिक्षक बिल्कुल आश्वस्त था। वह जरा भयभीत न था। वह बिल्कुल मजबूती से जो कहता था, उसे जानता था कि वह ठीक है, कल भी ठीक था, कल भी ठीक रहेगा। हजारों साल से बातें ठीक थीं, अपनी जगह ठहरी हुई थीं।
इधर पिछले सौ वर्षों में सब अस्त-व्यस्त हो गया है। वह शिक्षक का आश्वस्त रूप भी विदा हो जाएगा, हो ही गया है। आज वह जोर से नहीं कह सकता कि जो वह कह रहा है, वह ठीक ही है, क्योंकि बहुत डर तो यह है कि पंद्रह वर्ष पहले जब वह विश्वविद्यालय से पास होकर निकला था, तब जिसे ज्ञान समझा जाता था, पंद्रह साल में वह सब आउट ऑफ डेट हो गया, वह सब समय के बाहर हो गया है। उसमें से कुछ भी अब ज्ञान नहीं है। आज शिक्षक और विद्यार्थी के बीच अक्सर तो एक घंटे का फासला होता है। वह एक घंटे पहले तैयार करके आता है, एक घंटे बाद विद्यार्थी भी उतनी बातें जान लेता है। जहां इतना कम फासला होगा तो वहां बहुत ज्यादा आदर नहीं मांगा जा सकता। आदर फासले से पैदा होता है। सम्मान दूरी से पैदा होता है। कोई शिखर पर खड़ा है और हम भूमि पर खड़े हैं, तब सम्मान पैदा होता है। लेकिन जरा सा आगे कोई खड़ा है, और थोड़ी देर बाद हम भी उतने करीब पहुंच जाएंगे। पहले हमेशा ऐसा होता था कि बाप बेटे से ज्यादा ज्ञानी होता ही था, क्योंकि अनुभव से ही ज्ञान मिलता था। एक आदमी अस्सी साल जी लिया था तो उसके पास ज्ञान होता था। लेकिन आज हालत बहुत बदल गई है। आज उम्र से ज्ञान का कोई संबंध नहीं रह गया है। संभावना तो इस बात की
है कि बेटा बाप से ज्यादा जान ले, क्योंकि बाप का जानना कहीं रुक गया होगा और बेटा अभी भी जान रहा है। और जो बाप ने जाना था वह सब जाना हुआ बदल गया है।
अब नये जानने के बहुत से नये तथ्य सामने आ गए हैं। यह तथ्यों का एक्सप्लोजन इतनी तेजी से हुआ है कि बाप के भी पैर हिल गए हैं और उसके साथ शिक्षक के भी पैर हिल गए हैं। वे आश्वस्त नहीं रह गए हैं। और अब आज कोई सिर्फ उम्र के कारण, या आगे होने के कारण, या पहले जन्मे होने के कारण किसी बात को थोपना चाहेगा तो थोपना मुश्किल है। इसलिए आधुनिक शिक्षक को बहुत विनम्र होना पड़ेगा। शिक्षक की विनम्रता कभी भी गुण न था, गुण था विद्यार्थी का कि वह विनम्र हो। शिक्षक अविनम्र ही था। बहुत अकड़ी हुई हालत में था। बड़े अहंकार से भरा हुआ था।
हालतें अब बदल गई हैं। शिक्षक को विनम्र होना पड़ेगा। और शिक्षक की इस विनम्रता की बात को अभी हम स्वीकार करने में बड़ी कठिनाई अनुभव करते हैं। लेकिन सारी दुनिया में विद्यार्थियों की बगावत है, वह शिक्षक की अविनम्रता के खिलाफ है जो हजारों पीढ़ियों में सीखी गई है आदत, उसके खिलाफ। अब विद्यार्थी यह कह रहा है कि अब शिक्षक केंद्र होकर नहीं रहेगा शिक्षा संस्थान में, केंद्र तो विद्यार्थी ही होगा।
शिक्षक केंद्र था कल तक। विद्यार्थी उसकी परिधि पर था। अब हालत बिल्कुल बदल गई है। अब विद्यार्थी केंद्र होगा, शिक्षक बिल्कुल परिधि पर होगा। इतनी उलटी हो गई हालतें, अपने को पुनआर्योजित करने में, शिक्षक के लिए बड़ा सवाल है। और अगर वह पुरानी आदतों को लेकर चलता है तो शिक्षक और विद्यार्थी के बीच की खाई बड़ी होती चली जाएगी। उस खाई को कम करने की पहली तो बात यह, और वह बहुत जरूरी है नहीं तो शिक्षक का बचना ही मुश्किल है। उस खाई को कम करने की पहली तो बात यह जरूरी है समझ लेना कि शिक्षक को विनम्र होना और हमें सारी अब तक सोचने की जो भी हमारीे व्यवस्था थी, वह सारी की सारी बदल देनी होगी।
मेरे एक मित्र रूस गए हुए थे। और एक कालेज में एक क्लास को देखने गए
थे। एक युनिवर्सिटी में प्रोफेसर हैं, तो सोचा वहां भी देख आएं। तो उन्होंने वहां देखा कि एक विद्यार्थी जूते टिकाए हुए टेबल के ऊपर, टिका हुआ पीछे आंख बंद किए हुए, क्लास में शिक्षक की बातें सुन रहा है। उनको तो बहुत ही इन-डिसिप्लिन मालूम पड़ी। हद्द हो गई! क्लास के भीतर कोई जूते टेक कर बैठा हो, आंखें बंद करके बैठा हो, टिक कर बैठा हो, तो शिक्षक का बहुत

अपमान हो गया। कक्षा पूरी हो जाने पर, उस क्लास के शिक्षक से उन्होंने पूछा कि यह क्या हो रहा है, आप इसमें अपमान अनुभव नहीं करते? यह तो बहुत अनुशासनहीनता है।
उस शिक्षक ने कहाः अनुशासनहीनता! नहीं, आप शिक्षक की बहुत पुरानी धारणाएं लिए हुए हैं, अनुशासनहीनता नहीं है। विद्यार्थी मुझे इतना प्रेम करते हैं कि मेरे साथ एट इ.र्ज हो सकते हैं। वे मुझे जानते हैं कि मुझसे इतना प्रेम है उनका कि जैसे वह अपने घर बैठ सकते हैं, वैसे मेरे सामने बैठ सकते हैं। और उस शिक्षक ने कहा, मेरा काम इससे जरा भी संबंधित नहीं है कि वे कैसे बैठें। मेरा काम इससे संबंधित है कि मैं जो समझा रहा हूं, उसे वे समझ रहे हैं या नहीं समझ रहे हैं। और मैं मानता हूं कि वे जितना आराम से बैठे हैं उतना ही ज्यादा समझ सकेंगे और जितने तनाव से बैठे हैं, उतना कम समझ सकेंगे। लेकिन हमें यह पचाना बहुत कठिन पड़ जाएगा। इसलिए कठिन पड़ जाएगा कि हमारे मन में शिक्षक की एक पुरानी धारणा काम कर रही है, गुरु की धारणा काम कर रही है, जिसे सब तरह का आदर अनिवार्य था।
भविष्य में शिक्षक को आदर का खयाल छोड़ कर प्रेम के खयाल पर आना पड़ेगा।
और मेरा मानना है, प्रेम आदर से ज्यादा मूल्यवान है। क्योंकि प्रेम में आदर तो समाविष्ट है, लेकिन आदर में जरूरी रूप से प्रेम समाविष्ट नहीं होता। प्रेम बड़ी वैल्यू है, आदर उतनी बड़ी नहीं। हम जिसे आदर करना पड़ता हो, उसे हम घृणा ही करते हैं, प्रेम नहीं। लेकिन जिसे हम प्रेम करते हैं, उसे हम किसी गहरे अर्थों में आदर भी करने लगते हैं। प्रेम में तो आदर समाविष्ट हो सकता है, लेकिन आदर में जरूरी नहीं है कि प्रेम समाविष्ट हो। क्योंकि आदर जब मांगा जाता है, तो अपमानजनक हो जाता है। और आदर जब थोपा जाता है, तो भीतर निषेध और बगावत पैदा करता है। आज्ञा जब ऊपर से डाली जाती है तो अपने को तोड़े जाने का निमंत्रण देती है।
अब यह नहीं हो सकेगा। शिक्षक को अपना पूरा चेहरा, अपने पूरे व्यक्तित्व की अब तक की परिकल्पना को ही बदल देने की जरूरत आ गई है। अन्यथा आने वाला शिक्षक और विद्यार्थी, दो वर्ग बन जाएंगे जिनके बीच संघर्ष होगा जैसे मजदूर और पूंजीपति के बीच संघर्ष होता है। संघर्ष शुरू हो गया है। और उस संघर्ष को तोड़ने का कोई उपाय नहीं हो रहा, क्योंकि शिक्षक सोच रहा है कि हमारे अनुशासन की व्यवस्था में कुछ कमी है, इसलिए आदर कम हो रहा है। नहीं, आदर की मांग ही गलत हो गई है नये परिवेश में, इसलिए सारा उपद्रव हो रहा है।
तो मैं शिक्षकों से मिलता हूं तो वे तो कहते हैं कि कुछ और इंतजाम करना चाहिए सख्ती से, शिक्षक के हाथ में ज्यादा ताकत होनी चाहिए दंड देने की, तो हम अनुशासन रख पाएंगे और आदर बचा पाएंगे। लेकिन जितनी भी ताकत दी जाएगी उतनी ही विपरीत ताकत तोड़ने के लिए खड़ी होगी, क्योंकि नई स्थितियों में शिक्षक का पूरा स्थान बदल गया है। वह अब केंद्र पर नहीं है। अब केंद्र पर शिक्षार्थी है। वह जो शिक्षा ले रहा है और यह है भी ठीक। होना भी यही चाहिए।
बाप केंद्र पर नहीं होना चाहिए, बेटा ही केंद्र पर होना चाहिए। क्यों? क्योंकि बेटा भविष्य है और बाप अतीत है। बाप जा चुका, बेटा आ रहा है। जो आ रहा है वही केंद्र पर होना चाहिए, जो जा रहा है, वह नहीं। जो उबर रहा है, वही केंद्र पर होना चाहिए, जो डूब रहा है, वह नहीं। जहां तक परमात्मा का संबंध है वहां तक तो बेटा ही कीमती है, क्योंकि बाप को विदा कर रहा है परमात्मा और बेटे को बड़ा कर रहा है। बाप को हटा रहा है और बेटे के लिए जगह खाली कर रहा है।
परमात्मा नये में सदा से उत्सुक है, पुराने को रोज विदा कर देता है। नये को रोज जन्मा देता है। लेकिन अब तक हमारे चिंतन की जितनी धारणाएं थीं, वे पुराने को केंद्र बनाती थीं और नये को परिधि पर रख देती थीं। अब यह नहीं हो सकेगा। यह अब असंभव ही हो गया है। असंभव अब तक क्यों न हुआ था? अब तक न होने के भी कारण थे। जैसे मैंने कहा कि शिक्षक एक नई घटना है, वैसे ही युवक भी एक नई घटना है। पहले दुनिया में बच्चे होते थे और बूढ़े होते थे, युवक नहीं होता था। उसके कारण थे। युवक न हो सके, इसकी हमने पूरी व्यवस्था की

थी। वह सब व्यवस्था टूट गई। छोटे बच्चों का विवाह कर देते थे, वह उन्हें कभी युवा नहीं होने देता था। विवाहित होते ही वह बूढ़े की दुनिया में प्रविष्ट हो जाते थे और एक बच्चे के बाप बन जाने के बाद--उम्र कितनी है, यह सवाल नहीं है, बाप बूढ़ा हो ही जाता है।
सारी पुरानी दुनिया में बच्चों को हम सीधा वृद्धावस्था में प्रवेश कर देते थे। बीच का जो अंतराल था, युवा होने का वह विलुप्त हो जाता था। इसलिए पुरानी दुनिया ने बगावत नहीं थी, क्योंकि बगावत न तो बच्चे कर सकते हैं, न बूढ़े कर सकते हैं। बगावत सिर्फ युवक कर सकता है। इसलिए पुरानी दुनिया में नई घटना नहीं घटती थी, क्योंकि नई घटना न तो बच्चे घटा सकते हैं, न बूढ़े घटा सकते हैं। बच्चे असमर्थ होते हैं, बूढ़े शक्तिहीन हो जाते हैं। बच्चों को कुछ पता नहीं होता और बूढ़े अब नये को बनाने और जानने में उत्सुक नहीं रह जाते।
युवक भी नई घटना है। इसलिए दुनिया की सारी की सारी व्यवस्था में मुसीबत खड़ी हो गई है, क्योंकि युवक पहले था ही नहीं। उसको हमने सोच कर कुछ नियम न बनाए थे। बच्चे आदर देते थे, बूढ़े आदर ले लेते थे। और शिक्षक पुराना जो था, वह निरंतर सदा ही बूढ़ा होता था, क्योंकि अनुभव के बाद ही तो वह कुछ सिखा सकता था। इस मुल्क में तो ऐसा ही था कि चौथे आश्रम में, जब आदमी कुछ करने में समर्थ न रह जाए तब वह शिक्षक हो जाए। तब उसने जो जीवन में जो जाना है वह उन बच्चों को बता दे जो कल आ रहे हैं। बूढ़े सिखाते थे, बच्चे सीखते थे। आज हालत बिल्कुल बदल गई है। आज युवक ही सिखा रहे हैं, और युवक ही सीख रहे हैं। यह स्थिति बिल्कुल भिन्न है और नई है। इसलिए बच्चे बूढ़ों को जो आदर देते थे वह युवक ही युवकों को आदर देंगे, यह असंभव है।
लेकिन स्थितियां बदल जाती हैं, हमारा मन नहीं बदलता, हमारे आग्रह पुराने बने रहते हैं। और हम जब पुराने आग्रह को नई स्थितियों में थोपते हैं, तो आग्रह टूटता है, स्थिति नहीं बदलती। स्थिति बहुत बलशाली है। लेकिन यदि यह सब समझा जा सके, तो एक नये शिक्षक की अवधारणा, एक नये शिक्षक का कंसेप्ट विकसित हो सकता है।
नये शिक्षक का काम अब ज्यादा से ज्यादा बड़े भाई का होगा, पिता का नहीं। नया शिक्षक ठीक अर्थों में मित्र होगा, गुरु नहीं। उसको मित्रता की कोई धारणा विकसित करनी होगी। उसे आज्ञा देने वाले की शक्ल छोड़ देनी पड़ेगी। अब वह आज्ञा नहीं देगा, कमांड नहीं करेगा, ज्यादा से ज्यादा परसुएड करेगा, समझाएगा, बुझाएगा, राजी करेगा। और राजी हो जाए तो ठीक है; न राजी हो तो नाराज नहीं हो जाएगा। इसलिए आधुनिकशिक्षक के सामने जो बड़े से बड़ा सवाल है वह यह है कि उसे पुरानी सारी की सारी जो परिकल्पनाएं थीं शिक्षक के आस-पास, वे छोड़नी हैं और नई परिकल्पनाएं विकसित करनी हैं, जो अब तक नहीं थीं। उसे विनम्र होना पड़ेगा। जैसे मैंने कहा, एक बहुत बुनियादी आधार--हम सदा सिखाए हैं अब तक कि बच्चों को, विद्यार्थियों को विनम्र होना चाहिए। क्योंकि हम कहते थे कि जो विनम्र है वही सीख सकता है।
अब सूत्र बदलना पड़ेगा। अब तो जो विनम्र है, वही सिखा सकता है। असल में, विनम्र हुए बिना कोई सिखा नहीं सकता। और मेरा मानना है, जिस दिन सिखाने वाला विनम्र होगा उसी दिन सीखने वाला भी विनम्र हो सकता है। क्योंकि सिखाने वाला ही विनम्र न हो, तो सीखने वाला विनम्र कैसे हो सकता है? सिखाने वाला अब तक बहुत अविनम्र था। अगर हम पुराने शिक्षक की कल्पना करें, तो वह बहुत ईगोसेंट्रिक है, वह बहुत अहंकार से भरा हुआ है। उसके अहंकार के आस-पास उसने पैर छूने से लेकर सब तरफ से नई पीढ़ी को झुकाने का काम किया था। अब यह नहीं संभव है, उचित भी नहीं है, बहुत हिंसात्मक थी यह बात और इस बात को चलाए रखने के लिए बहुत इंतजाम करना पड़ा था और वह इंतजाम ऐसा था कि उसने मनुष्य को विकसित न होने दिया। अगर हमें अंधी श्रद्धा मांगनी हो, अगर किसी से भी अंधी विनम्रता मांगनी हो तो हमें जिनसे भी अंधी श्रद्धा मांगनी है उनके भीतर विचार की हत्या करनी चाहिए। उसके बिना अंधी श्रद्धा नहीं मिल सकती। जो विचार कर सकता है वह अंधी श्रद्धा देने में असमर्थ हो जाता है। तो पुरानी सारी की सारी शिक्षा अंधे विश्वास पर और अंधी श्रद्धा

पर निर्भर थी। विचार करने की प्रेरणा नहीं दी जाती थी, विचार को रोकने की चेष्टा की जाती थी।
और ध्यान रहे, विचार बहुत विद्रोही है, विचार सदा विद्रोही है। विचार
का मतलब ही विद्रोह है, क्योंकि विचार हमेशा इनकार करने से शुरू होता है। जो इनकार नहीं करता है, वह विचार ही नहीं कर सकता है। अगर मैं हां कहता हूं तो विचार करने का आगे कोई उपाय नहीं रह जाता। हां, डेड एंड है। जब मैं कहता हूं, "हां", तो अब आगे कोई उपाय नहीं है। जब मैं कहता हूं, "नहीं", तो अब आगे सब उपाय हैं। "नहीं", जो है, वह द्वार है, क्योंकि जब मैं कहता हूं नहीं, तो तर्क करना पड़ेगा, सोचना पड़ेगा, दलील देनी पड़ेगी। और जब मैं कहता हूं " हां" तो न सोचना पड़ेगा, न तर्क देना पड़ेगा, न दलील करनी पड़ेगी।
पुरानी सारी व्यवस्था सिखाती थी हां कहना, वह यस सेयर्स पैदा करती थी
जो हां कहें। उससे एक फायदा था कि समाज की जो व्यवस्था थी वह इन हां कहने वालों की वजह से कभी बदलती नहीं थी। लेकिन बड़ा नुकसान था कि समाज विकसित नहीं होता था। गतिमान नहीं होता था। इस दुनिया में जितना विकास हुआ है, वह ना कहने वाले लोगों की वजह से हुआ है। जिन्होंने किसी गहरे तल पर इनकार किया है, वे विकास के कारण बने हैं। चाहे वह कोई दिशा रही हो--चाहे वह गणित हो, और चाहे वह दर्शन हो, चाहे धर्म हो, चाहे विज्ञान हो। जिन्होंने इनकार किया है, वे विकास के आधार बने हैं। जिन्होंने हां किया है, वे पुराने घेरे में, वह जो स्थिति-स्थापक घेरा है, उसमें ही जीए हैं। तो पुरानी एक व्यवस्था थी, जिसने हां कहलवा ली थी युवकों से, और तब बूढ़ों के बाहर वह व्यवस्था कभी नहीं गई थी, वह चुपचाप एक घेरे में बंद होकर जीती थी। वह ऐसी थी, जैसे एक बंद तालाब, जो बहता नहीं है; बंद है, सड़ता है, उड़ता है धूप में उसका पानी, गंदगी फैलती है; लेकिन गति नहीं है।
नई मनुष्यता ने तालाब के किनारे तोड़ दिए हैं और वह नदी बन गई है। और यह सौभाग्यपूर्ण है। लेकिन नदी के साथ हम तालाब की अपेक्षाएं नहीं कर सकते। तालाब बंद होकर जीता था एक ही जगह, नदी रोज किनारे बदल देती है। रोज तट बदल जाता है, रोज पानी बहा चला जाता है। गंगा जहां कल थी, आज वहां नहीं है। कल जहां होगी, उसका हमें पता नहीं है।
पहली दफे मनुष्य की चेतना नदी बन गई है और अज्ञात की तरफ रोज भागी चली
जा रही है। शिक्षक का काम था, जो ज्ञात है वह दे देना, अब तक, और चूंकि तालाब की दुनिया थी, इसलिए सब ज्ञात था। हजारों वर्ष से वही किनारा था, वही वृक्ष थे, वही मछलियां थीं, वही सूरज था। सब बंद था। इसलिए शिक्षक ज्ञान को दे देता था। पुराने शिक्षक का महत्वपूर्ण काम यह था कि वह ज्ञान को दे दे बच्चों को। नये शिक्षक का महत्वपूर्ण काम सिर्फ ज्ञान देना नहीं होगा, बल्कि अज्ञात का बोध देना भी होगा--वह जो दी अननोन है। क्योंकि बच्चे कल वहां होंगे जहां हम कभी भी नहीं रहे। और अगर हमने उन्हें सिर्फ ज्ञान ही दिया जो कि अतीत का है, तो हम उन्हें भविष्य की रेत पर खड़े होने में समर्थ नहीं बना पाएंगे।
शिक्षक के सामने एक नया काम आ गया है कि वह अज्ञात का बोध दे। वह न केवल इतना बताए कि हम क्या जानते हैं, वह यह भी बताए कि जो भी हम जानते हैं वह कल व्यर्थ हो जाएगा, और नये जानने के द्वार खुल जाएंगे। इसलिए पुराना शिक्षक एक सरटेंटी में था, एक निश्चय में था। नया शिक्षक एक अनिश्चय में है। वह निश्चित नहीं हो सकता। और अगर निश्चित होता है, तो मनुष्य को गति नहीं दे सकता। पुराना शिक्षक कहता था, जो मैं कहता हूं वह ठीक है और तुम्हारा काम है कि मान लो। नये शिक्षक को बहुत रिलेटिविस्ट होना पड़ेगा, उसे सापेक्षवादी होना पड़ेगा। उसे कहना पड़ेगा कि शायद जो मैं कहता हूं वह ठीक है। अब तक ठीक है, कल गलत भी हो सकता है। पुराना शिक्षक कहता था, जो मैं कह रहा हूं, ठीक है। तुम भी अपनी जिंदगी में उसको ठीक सिद्ध करना। नये शिक्षक को कहना पड़ेगा, जो मैं कह रहा हूं, वह ठीक है। भगवान से प्रार्थना है कि तुम उसे अगर गलत सिद्ध कर सको तो हित होगा मनुष्य का, आगे गति होगी। बहुत भिन्न काम शिक्षक के ऊपर है। और दो-चार बातें कहना चाहता हूं। एक
तो यह कि शिक्षा की हमारी जो धारणा है वह भी नये शिक्षक को बदलनी पड़े तो ही नया शिक्षक भी पैदा हो सकता है। शिक्षा की हमारी अब तक की धारणा सिर्फ

इंफार्मेशन फीडिंग की है, सूचनाएं डाल देने की है। अंग्रेजी में शब्द है एजुकेशन, वह बहुत अच्छा है। उसका मतलब होता है, टु ड्रा आउट। उसका मतलब होता है, भीतर कुछ है, उसे बाहर निकाल लेना है। लेकिन शिक्षा अब तक की जो है वह भीतर जो है उसे बाहर नहीं निकालती; बाहर जो है, उसे भीतर डालती है--टु पुश इन। उसका जो काम है वह भीतर डालने का है। बाहर कुछ सूचनाएं हमारे पास हैं, शिक्षक उनको भीतर डाल देता है। वह उन्हें हेमर करता रहता है खोपड़ी पर और भीतर डाल देता है। भीतर वह व्यक्ति क्या हो सकता था, इससे कोई संबंध नहीं है, बाहर हमारे पास क्या डालने को है, वह हम उसके भीतर डाल देते हैं। सूचना देने का काम ही क्या शिक्षा का काम है? शिक्षा पर्याप्त हो जाती है? और ध्यान रहे, सूचना और ज्ञान में बहुत फर्क है। सूचना वह है जो हमें बाहर से मिलती है और ज्ञान वह है जो हमारे भीतर से आता है। अब अकेली सूचना से काम न चलेगा। अभी हिंदुस्तान में चलता है, लेकिन बीस साल के बाद यहां भी न चलेगा। यूरोप और अमरीका में चलना मुश्किल हो गया है। आज लाखों लड़के हैं, लड़कियां हैं जो कालेज की क्लासेस छोड़ कर भाग गए हैं और जो यह कह रहे हैं, कि अगर यही सब है तो फिर ठीक है। हमें इसकी जरूरत नहीं है। हमें ज्ञान चाहिए। हमें सिर्फ इंफर्मेशन नहीं चाहिए। तो वे ज्ञान की तलाश में उलटे-सीधे न मालूम कितने तरह के प्रयोग कर रहे हैं। वे एल एस डी भी ले रहे हैं, मेस्कलीन भी ले रहे हैं, समाधि भी लगा रहे हैं, ध्यान भी कर रहे हैं, किसी गुरु के पीछे भी जा रहे हैं, वे सब कर रहे हैं। वे यह कहते हैं कि बस यह सूचनाओं का संग्रह अगर हम हैं, तो यह काम तो कंप्यूटर कर देगा, इसके लिए आदमी की क्या जरूरत है? अभी हमें कंप्यूटर का पूरा बोध नहीं है। बीस साल में हमें बोध हो जाएगा और हम भी कहेंगे कि जो काम कंप्यूटर की मशीन कर सकती है, वह आदमी से क्यों लेना!
टिम्बकटू कहां है, मेडागास्कर कहां है, यह आदमी की खोपड़ी में भरने से कोई बहुत अर्थ नहीं है। यह कंप्यूटर कर सकेगा। आदमी को चाहिए ज्ञान। ज्ञान का मतलब है कि आदमी के भीतर जो छिपा है वह कैसे पूरा प्रकट हो, कैसे मैनीफेस्ट हो। आदमी के भीतर जो बीज छिपे हैं, वे कैसे फूल बनें। इतना काफी नहीं है कि हम बाहर से कुछ बातें सिखा दें। हम सिखा रहे हैं। पांच साल के बच्चे से हम सिखाना शुरू करते हैं और पच्चीस साल तक हम सिखाते रहते हैं। और अगर पच्चीस साल के व्यक्ति को जो युनिवर्सिटी से निकलता है, उसकी हम खोपड़ी की जांच-पड़ताल करें, तो वह कोई बुद्धिमत्ता लेकर नहीं आता, वह सिर्फ स्मृति का संग्रह लेकर बाहर आता है। और इसीलिए अक्सर ऐसा होता है कि विश्वविद्यालय जिन्हें गोल्ड मेडल देता है, जिंदगी उन्हें मिट्टी के मेडल भी नहीं देती। वे खो जाते हैं, उनका कुछ पता नहीं चलता है कि वे कहां चले जाते हैं!
दुनिया में इतने विश्वविद्यालय हैं, हर वर्ष वे न मालूम कितने स्वर्ण-पदक बांटते हैं, कितनी पदवियां बांटते हैं, कितने लोग प्रथम आते हैं, फिर वे कहां खो जाते हैं, जिंदगी में उनका कुछ पता नहीं चलता है। जिंदगी पर उनकी छाप छूट ही नहीं पाती। और जिंदगी पर जिनकी छाप छूट पाती है, अक्सर वे, वे लोग नहीं होते जो स्वर्ण-पदक धारी हैं। कुछ बात है, कहीं कुछ गड़बड़ हो रही है।
एक लड़का एक दिन सुबह अपने घर आया है। और अपने पिता को उसने स्कूल की चिट्ठी दी है। उसके हेडमास्टर ने लिखा है कि यह लड़का सीख नहीं सकता है, इसकी स्मृति बहुत कमजोर है। यह किसी परीक्षा में पास ही नहीं हो सकता। इसे कृपा करके स्कूल से उठा लें, हम थक गए हैं। उस लड़के का नाम उस वक्त किसी को पता नहीं था, वह तो बाद में पता चला। उसका नाम था थॉमस अल्वा एडीसन। जिस आदमी ने बाद में एक हजार आविष्कार किए हैं, उसके स्कूल के हेडमास्टरों ने लिख दिया है कि इसको स्कूल से हटा लें; यह हमारे काम का नहीं है; इसकी स्मृति ठीक नहीं है; यह कुछ सीख सकता नहीं।
एक आदमी बस में चल रहा था और उसने बस कंडक्टर से टिकट ली है और पैसे दिए हैं। उसने कुछ पैसे वापस लौटाए हैं, उसने गिनती की है और वापस पैसे लौटा कर कंडक्टर को कहा है कि पैसे कम मालूम पड़ते हैं। उस कंडक्टर ने पैसे वापस गिने हैं, हाथ में जोर से पैसे पटक दिए हैं, और कहा कि इट सीम्स, यू डू

नॉट नो फिगर्स। ऐसा मालूम पड़ता है, तुम्हें अभी इकाइयां भी पता नहीं हैं गणित की। किसी को पता नहीं था, वह आदमी अलबर्ट आइंस्टीन था।
जिसको एक बस कंडक्टर कह सकता है कि तुम्हें अभी गणित की इकाइयां पता नहीं हैं। वह आदमी दुनिया का सबसे बड़ा गणितज्ञ हो जाएगा, यह हम सोच ही नहीं सकते। असल में गड़बड़ इसीलिए हो गई थी, वह बड़ा गणितज्ञ होने को था। और वह जो पैसे गिनने में उससे भूल हो गई थी, वह इसीलिए हुई थी, क्योंकि उस वक्त भी वह निरंतर यह सोचता रहा था कि ये दस इकाइयां ही क्यों हैं। यह एक से लेकर दस तक की संख्या सारी दुनिया में क्यों हैं? और इसकी जरूरत क्या है? इससे कम में काम नहीं चल सकता है? वह यही सोच रहा था। वह इसी सोचने में निरंतर लगा रहा था।
और ठीक भी है, अगर कोई गणितज्ञ से आप पूछेंगे कि दस की संख्या होने का क्या वैज्ञानिक कारण है तो बताना मुश्किल है, सिवाय इसके कि आदमी के हाथ में दस अंगुलियां हैं। और कोई कारण नहीं है, और कोई बेसिस नहीं है उसकी, वह जो भी आदमी पहले अंगुलियों से गिनना शुरू किया, दस अंगुलियां थीं, इसलिए सारी दुनिया की भाषाओं में दस फिगर्स हैं। और कोई उसके भीतर गणितज्ञ का कोई मीनिंग नहीं है। आइंस्टीन सोच रहा था कि इतनी ज्यादा, क्योंकि एक वैज्ञानिक को सोचना चाहिए कि कितने कम से कम में काम चल जाए। तो वह सोच रहा था कि फिर इनसे तीन से काम चल सकता है। और बाद में उसने गणित के बड़े-बड़े हल भी तीन से ही किए और एक-दो तीन के बाद उसका दस आ जाता था। ग्यारह-बारह, तेरह, फिर बीस आ जाता, ऐसी उसकी संख्या चलती थी। वह इसीलिए गड़बड़ा गया था। उसने वह गिनती की थी, वह गड़बड़ हो गई थी। लेकिन कंडक्टर एक बस का उसको कह सका कि आपको मालूम होता है कि अंकगणित मालूम नहीं है, आप कृपा करके पैसे खीसे में रख लें। थॉमस अल्वा एडीसन को उसके हेडमास्टर ने कह दिया कि इस लड़के को स्कूल से अलग कर लें, क्योंकि इसकी स्मृति कमजोर है।
हमारा स्कूल सिवाय स्मृति के और परीक्षा में कुछ भी नहीं जांच पाता है। और ध्यान रहे, स्मृति का अच्छा होना बुद्धि के अच्छे होने का जरूरी लक्षण नहीं है। अक्सर उलटा होता है। अक्सर बहुत अच्छी स्मृति वाले लोग बहुत गहरी बुद्धि वाले लोग नहीं होते। क्योंकि स्मृति बिल्कुल मैकेनिकल है, यांत्रिक है। और बुद्धि बड़ी और बात है। स्मृति अतीत से संबंधित है और बुद्धि भविष्य से। स्मृति उससे संबंधित है जो ज्ञात है और बुद्धि उससे संबंधित होती है जो अज्ञात है, अननोन है। उन दोनों की यात्रा अलग-अलग है। जो नोन है, जो मालूम है, स्मृति उससे संबंधित है। स्मृति संग्रह है। और जो अज्ञात है, जो अनजान है उसकी तो स्मृति में कोई जगह नहीं है, क्योंकि उसका हमें कोई पता ही नहीं है, बुद्धि उससे संबंधित है। विज्ञान एक पैदा होता है तब जब वह अज्ञात में प्रवेश कर पाता है। चिंतक पैदा होता है तब, जब वह अनजान में प्रवेश कर पाता है। स्मृति सिर्फ पंडित बना सकती है, ज्ञानी नहीं, और पंडित कभी ज्ञानी नहीं हो पाता है।
आज के शिक्षक के सामने सवाल होगा कि वह विद्यार्थियों को सिर्फ पांडित्य न दे। क्योंकि पांडित्य अब ऊब पैदा करने वाला हो गया है। अब पांडित्य किसी को भी अर्थपूर्ण नहीं मालूम हो रहा है। क्योंकि जब से कंप्यूटर विकसित हुए हैं तब से नया सवाल पैदा हो गया है कि यह सारी की सारी स्मृति तो मशीन रख सकती है। हमसे हजार गुना ज्यादा रख सकती है, हमसे जल्दी उत्तर दे सकती है। बहुत जल्दी छोटे पाकेट-कंप्यूटर्स होंगे जो खीसे में आदमी रख कर चल सकेगा। तो सिर में बहुत किताबें रखने की जरूरत न होगी। वह अपने कंप्यूटर से पूछ लेगा कि टिम्बकटू कहां है। वह कंप्यूटर बता देगा कि वहां है। अभी भी हम यही कर रहे हैं। अभी हमको कंप्यूटर खोपड़ी में रखना पड़ता है। तो वहां बहुत बोझ हो जाता है। वहां बहुत भारी हो जाती है बात। आधुनिक शिक्षक के सामने ये सारे सवाल हैं। उसे ध्यान में लेना पड़ेगा कि उसके शिक्षक होने का भविष्य का जो फंक्शन है, भविष्य में उसका जो बड़े से बड़ा काम है--जिसके कारण विद्यार्थी उसे प्रेम करेगा और सम्मान से भरेगा, वह है अज्ञात में प्रवेश कराने की क्षमता पैदा करवाना। निश्चित ही यह संदेह से होगा, विश्वास से नहीं होगा। निश्चित ही यह विचार से होगा, आस्था से नहीं होगा। निश्चित ही यह ना और इनकार और अस्वीकार से होगा। यह हां, और

चुपचाप स्वीकृति से नहीं होगा। डिनायल, डाउट, आने वाले शिक्षक के बुनियादी शब्द होंगे कि वह सिखा सके इनकार करना। वह सिखा सके संदेह करना। अगर हम एक युवक को विश्वविद्यालय से संदेहों से भरा हुआ बाहर निकाल देते हैं, अनिश्चय में डांवाडोल, निश्चित ज्ञान का मालिक नहीं, लेकिन बहुत से अनिश्चित आयामों में उत्सुक--निश्चित ज्ञान का पंडित नहीं, लेकिन बहुत से अज्ञात प्रश्नों से उद्विग्न, तो शिक्षक ने काम पूरा किया है। पहले वे उत्तर देते थे। शिक्षक का काम था उत्तर दे देना कि वह सब उत्तर सिखा दे। नये शिक्षक का काम होगा कि वह ऐसे प्रश्न सिखा दे जिनके उत्तर खोजने पड़ें, जिनके उत्तर नहीं हैं।
हम आज सारी दुनिया में पिछड़े हुए हैं, उसका एक कारण है कि हमारी शिक्षा आज भी उत्तर पर निर्भर है। अभी भी प्रश्नों पर निर्भर नहीं है। बर्ट्रेंड रसल ने लिखा है कि जब मैं बच्चा था तो मैं सोचता था कि फिलासफी पढूंगा, दर्शन शास्त्र पढूंगा, तो मुझे सब उत्तर मिल जाएंगे। अब जब मैं बूढ़ा हो गया हूं, नब्बे वर्ष पार कर रहा हूं, तब मैं यह कहना चाहता हूं कि वह मेरी बड़ी भूल थी कि मैं सोचता था कि सब प्रश्नों के उत्तर मिल जाएंगे। अब मैं नब्बे वर्ष में जानता हूं कि जो उत्तर बचपन में उत्तर मालूम पड़ते थे वह भी उत्तर नहीं रहे हैं, और हजार नये प्रश्न खड़े हो गए हैं, जिनका कोई उत्तर नहीं है। तो उसने लिखा है कि पहले मैं परिभाषा करता था फिलासफी की कि वह शास्त्र जो उत्तर देता है। अब मैं परिभाषा करना चाहता हूं, वह शास्त्र जो प्रश्न देता है। पुराना शिक्षक उत्तर देता था। जो उत्तर हमें मालूम न था वह बता देता था। नया शिक्षक प्रश्न देगा, जो प्रश्न हमें नहीं मालूम, वह हममें जगा देगा। और जब प्रश्न जगता है किसी के प्राणों में तो एक बड़ी क्रांति हो जाती है। और जब उत्तर आता है, तो क्रांति नहीं होती, बड़ा संतोष हो जाता है।
नहीं, मरे हुए उत्तर नहीं चाहिए, जीवंत प्रश्न चाहिए। क्यों? ताकि हम अपने उत्तर की खोज पर निकल सकें। और जब कोई व्यक्ति प्रश्नों को लेकर उत्तर की खोज पर निकलता है, तो उसका जीवन एक यात्रा बन जाती है। नया शिक्षक नई पीढ़ियों को जीवन की खोज की, जिज्ञासा की यात्राओं पर निकलने का माध्यम बनना चाहिए--अतीत के प्रश्नों को दोहरा देने वाला, अतीत के उत्तर हाथ में दे देने वाला नहीं। भविष्य के प्रश्नों को जगाने वाला, और भविष्य के अनजान प्रश्नों में आतुरता भरने वाला--तो शिक्षक नई स्थिति में, नया मापदंड और नया मूल्य बन सकता है। जैसा मैंने कहा, शिक्षा का मौलिक और गहरे से गहरा अर्थ--वह जो भीतर है वह बाहर लाना है। इसका मैं कुछ उदाहरण देना चाहूंगा। रवींद्रनाथ को उनके घर के लोग पढ़ा रहे हैं, लेकिन वह हैं कि वे पढ़ते नहीं हैं। कुछ उनके भीतर है जो बहुत भिन्न है। गणित पढ़ाया जाता है और गणित उनकी पकड़ के बाहर है। जिसकी भी कवि होने की संभावना है, गणित उसकी पकड़ के बाहर होगा। गणितज्ञ और कवि एक साथ होना असंभव है, क्योंकि गणित के नियम बहुत और हैं, काव्य के नियम बहुत विपरीत हैं। गणित में दो और दो चार होते हैं, काव्य में कभी दो और दो तीन भी होते हैं और कभी पांच भी होते हैं। असल में काव्य तरल है, गणित ठोस है। गणित बिल्कुल पथरीला है और काव्य बहुत तरल और बहाव वाला है। गणित के अपने नियम हैं और काव्य के अपने नियम हैं। गणित के नियम गणित की दुनिया में ठीक हैं और काव्य के नियम काव्य की दुनिया में ठीक हैं। अगर गणितज्ञ कविता लिखेगा तो बड़ी बेरस होगी।
आइंस्टीन की पत्नी गणितज्ञ नहीं थी, कवि थी, आइंस्टीन तो गणितज्ञ था।
वह पहली रात को ही उसकी पत्नी जब उसे मिली थी, तो उसने एक कविता सुनानी चाही थी। पहली रात को जो कवि नहीं होते वे भी कविताएं सुनाते हैं, तो वह कवि थी। उसने कविता सुना देनी चाही। लेकिन आइंस्टीन कविता को ऐसे सुनता रहा, जैसे कोई परीक्षक सुनता है, या तो पुलिस का इंस्पेक्टर सुनता है, वैसा सुनता है। पूरी कविता सुनने के बाद उसने कहाः एब्सर्ड, एब्सर्ड, एब्सर्ड बिल्कुल बेकार है!
उसकी पत्नी ने कहाः क्या कहते हैं आप? कई लोगों ने इसकी प्रशंसा की है। उसने कहा, वे कुछ जानते नहीं होंगे। क्योंकि उसने उस कविता में कुछ प्रेमी की, प्रेयसी की बात की है और प्रेमी प्रेयसी के लिए कह रहा है कि

तेरा चेहरा चांद जैसा सुंदर है। आइंस्टीन कहता है, हो ही नहीं सकता, हो ही नहीं सकता। क्योंकि कहां चांद और कहां प्रेयसी का चेहरा, इसमें कोई अनुपात ही नहीं है। इसमें कोई प्रपोर्शन ही नहीं है। और उसने कहाः एक स्त्री के ऊपर अगर हम चांद को रख दें तो उस स्त्री का कहीं पता ही नहीं चलेगा कि वह कहां गई। चेहरा तो बन ही नहीं सकता। और उसने कहाः तुझे पता ही नहीं चांद--किसने कहा कि सुंदर है? बड़े गड्ढे हैं, खाइयां हैं, टीले हैं, बड़ा कुरूप है, किसने कहा कि चांद सुंदर है? उसकी पत्नी ने किताब बंद कर दी। उसने कहाः यह बात ही बंद करो, क्योंकि यह, इसमें कम्युनिकेशन संभव नहीं है।
रवींद्रनाथ को मां-बाप पढ़ा रहे हैं। घर में बहुत बच्चे थे। रवींद्रनाथ के घर में एक किताब रखी हुई है। अभी भी रखी हुई है। उस किताब में हर बच्चे के जन्म दिन पर घर के जो बड़े बूढ़े हैं, वे अपने बच्चों के बाबत कुछ भविष्यवाणियां करते रहे हैं। तो उसमें रवींद्रनाथ की मां ने लिखा है कि और सब बच्चे तो ठीक हैं, उनसे बड़ी आशा है, रवींद्र से कोई आशा नहीं है। कैसे आशा होगी, क्योंकि जब शिक्षक क्लास में गणित पढ़ाता है, तब वह शिक्षक का चित्र बना रहे हैं। और जब शिक्षक पढ़ाने आया है, तो वह उसके नाक-नक्शे का ध्यान कर रहे हैं कि कल उसका चित्र कैसे बन जाए। वह चूक गए, वह कभी मैट्रिक पास नहीं हुए। लेकिन भगवान की बड़ी कृपा कि उनके मां-बाप सफल नहीं हुए, नहीं तो वह मैट्रिक पास करवा सकते थे और दुनिया एक बहुत अदभुत आदमी से वंचित रह जाती। क्योंकि उस आदमी के भीतर काव्य था, और ऊपर से गणित, भूगोल और इतिहास थोपे जा रहे थे।
आत्मिक चिंतन के लिए एक बड़ी समस्या है, और वह यह कि क्या हम हर विद्यार्थी में वह थोपते जाएं जो हमने तय किया है, या किसी सिलेबस कमेटी ने तय किया है, या दिल्ली में किसी आयोग ने तय किया है। या कि उस व्यक्ति को देखें कि वह व्यक्ति क्या भीतर होने की क्षमता लेकर आया है। बड़ा कठिन है-- बड़ा कठिन है, क्योंकि एक-एक व्यक्ति की क्षमता अलग है, और हमें तो मास एजुकेशन देनी है, तो यह हो नहीं सकता, यह होना बड़ा मुश्किल मालूम पड़ता है। एक-एक व्यक्ति अलग तरह का आदमी होने आया है और शिक्षा सबको एक जैसी दी जानी है। तो ऊपर से थोपने का काम ही हो सकता है।
यह ऐसे ही है कि जैसे कि किसी गांव में बहुत मरीज हों और एक ही डाक्टर हो, और उसके पास एक ही दवाई हो, और वह परेशान हो कि एक-एक मरीज की कहां जांच करूं और कहां पता लगाओ कि किसको टी. बी. है, किसको कैंसर है, किसको नजला है, किसको क्या है, और दवाई भी ज्यादा नहीं है। आदमी भी एक है और मरीज बहुत हैं, तो वह जो भी आए, उसको दवा देता चला जाए।
तो जो उस गांव की हालत हो जाए, वह दुनिया की हालत हो गई है, शिक्षकों के कारण। क्योंकि शिक्षक को एक-एक व्यक्ति के व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं है। मैं आपसे कहता हूं, टी. बी. और कैंसर में जितना फर्क है उससे ज्यादा फर्क दो आदमियों में होता है। और मजा तो यह है कि दो आदमियों को भी अगर टी. बी. हो जाए तो दो तरह की टी. बी. होती है, एक तरह की टी. बी. नहीं होती है। हमारी हाथ की रेखाएं जितनी अलग हैं और हमारे अंगूठे के निशान जितने अलग हैं। अभी मैं अंगूठे का निशान बनाऊं, तो सारी जमीन पर खोज कर भी वह निशान फिर नहीं मिल सकता है। उतना ही व्यक्तित्व अलग है। और शिक्षा को इसकी अभी तक कोई चिंता नहीं रही है। यह चिंता करनी पड़ेगी--यह चिंता करनी ही पड़ेगी। अगर यह चिंता हम नहीं कर पाएंगे तो शिक्षा का पूरा अर्थ ही प्रकट नहीं हो पाता। सबके लिए न तो भूगोल जरूरी है, सबके लिए न गणित जरूरी है, सबके लिए न काव्य जरूरी है, न पेंटिंग जरूरी है।
लेकिन हमने जो अभी दुनिया बनाई है उस दुनिया में कुछ चीजें बहुत जरूरी हैं और कुछ चीजें बिल्कुल गैर-जरूरी हैं। जैसे अगर गणित में आप सफल हो जाते हैं, तो आप काम के आदमी हो जाएंगे और कविता में सफल हुए तो बेकाम हुए। अगर कविता में सफल भी हो गए तो भी भूखों मरना पड़ेगा, अगर गणित में बहुत सफल न भी हुए तो रोजी-रोटी मिल जाएगी। यह दुनिया हमने बनाई है, चारों तरफ वह जैसी सब आदमियों के लायक नहीं बनाई है और शिक्षा भी जो हम दे रहे हैं, वह किन्हीं खास ढांचों में सबको ढाल देना चाह रहे हैं। उस ढांचे में

जो ठीक पड़ जाता है उसको तो आनंद आ जाता है, जो ठीक नहीं पड़ता है, वह मुश्किल में पड़ जाता है। उससे वह बहुत कठिनाई में पड़ जाता है।
इस समय जो बेचैनी है मनुष्य-जाति की और आदमी पागल होता जा रहा है, आत्महत्या कर रहा है। चित्त परेशान है, रात नींद नहीं है, मानसिक अशांति है, और जितनी शिक्षा बढ़ती है, उतना यह सब उपद्रव बढ़ता है। ऐसा कुछ मालूम पड़ता है कि शिक्षित होने में और पागल होने के अनुपात में कोई गहरा संबंध है। होता चला जाता है। आज अमरीका में पंद्रह लाख से लेकर तीस लाख लोग रोज मानसिक चिकित्सा के लिए सलाह लेते हैं। और ये सरकारी आंकड़े हैं और सरकारी आंकड़े कभी भी सही नहीं होते हैं। क्योंकि अमरीकी सरकार कैसे कहे कि कितने आदमी रोज पागलपन की हालत में हैं, तो घटा-बढ़ा कर तीस लाख बताती है। लेकिन यह संख्या इससे चौगुनी होनी चाहिए।
जितना कोई मुल्क सभ्य होता है, शिक्षित होता है उतनी मुश्किल में पड़ जाता है। वह तो डी. एच. लारेंस एक अदभुत विचारक था, उसने तो यहां तक क्रोध में सुझाव दे दिया कि सौ साल के लिए सब कालेज, सब स्कूल, सब युनिवर्सिटी बंद कर दो, अगर आदमी को बचाना है। पहले तो लोगों ने समझा कि वह मजाक कर रहा है, लेकिन उसकी मजाक धीरे-धीरे गंभीर होती जा रही है। और ऐसा लगता है कि कहीं वह ठीक ही तो नहीं कह रहा है।
आज अमरीका में कोई तीस लाख लड़के हिप्पी हैं। हिप्पी का मतलब, वह लड़के
और लड़कियां जिन्होंने कह दिया है कि सब बेकार है, तुम्हारी सब व्यवस्था, तुम्हारी शिक्षा, तुम्हारे संस्कार, तुम्हारी नीति--सब बेमानी है, हम कुछ नहीं मानते। हमको तो जैसा जीना है हम जीएंगे, हमको सड़क के किनारे सोना है तो हम सोएंगे। हमको शराब पीनी है तो पीएंगे। हमको नंगा नाचना है, तो हम नंगा नाचेंगे, क्योंकि कौन कहता है कि नहीं नंगा नाचना कोई बहुत अच्छी बात है, और कौन कहता है कि शराब नहीं पी, तो कोई बहुत बड़ा काम हो जाएगा। क्योंकि जिन्होंने शराब नहीं पी है, उन्होंने क्या कर लिया है!
वे बच्चे यह सवाल अपने बाप से यह पूछ रहे हैं। वे यह पूछते हैं कि हम
आज शादी करेंगे, कल तोड़ेंगे, हम शादी ही नहीं करेंगे। हमें जिस लड़की के साथ रहना ठीक लगता है, हम रहेंगे, जब तक ठीक लगता है ठीक, नहीं ठीक लगता है, नहीं। अगर पिता समझाता है कि यह बात ठीक नहीं है, तो वे कहते हैं कि हम तुम्हारे और अपनी मां के बीच जो संबंध देख रहे हैं, कलह का और दुश्मनी का, कृपा करके हम पर मत थोपो। इस मार्ग को जाने पर हम राजी नहीं हैं। शिक्षक समझा रहा है, पढ़ो-लिखो, वे शिक्षक से पूछ रहे हैं, कि आपको पढ़-लिख कर क्या मिल गया है? आपने क्या पा लिया है, पढ़-लिख कर? जो आपको मिल गया है पढ़-लिख कर, वही हमको मिल जाएगा। कृपा करो, हम ऐसे ही अच्छे हैं।
हिंदुस्तान में भी ये सवाल उठ ही आएंगे। अभी हम बहुत गरीब हैं, इसलिए थोड़ी देर लगेगी, लेकिन ये सवाल उठ ही आएंगे, यह देर-अबेर की बात है। यह क्या हो गया है? कहीं कुछ भूल हो रही है। सभी के योग्य और सभी के व्यक्तित्व के भीतर, जो छिपा है उसे प्रगट करने की संभावना की तरफ हमारी खोज कम है। हमारी खोज टाइप के लिए है। हम एक खास टाइप सोच कर बैठ गए हैं, उस टाइप में सबको ढाल देना है। उसमें कुछ के लिए ठीक पड़ जाता है और वे प्रसन्न हो जाते हैं। कुछ के लिए ठीक नहीं पड़ता है, और वे मुश्किल में पड़ जाते हैं। अधिक के लिए ठीक नहीं पड़ता है और वह मुश्किल में पड़ जाते हैं। उनकी बेचैनी परेशानी बन जाती है। उनकी परेशानी, चिंता और बीमारियां बन जाती हैं।
जब एक आदमी चिंतित और परेशान होता है, तो ध्यान रखना, दस को चिंतित और परेशान कर देता है। क्योंकि चारों तरफ उसकी चिंता और परेशानियों के वर्तुल फैलने शुरू हो जाते हैं। जिन-जिन से उनका संबंध होगा सबको वह बीमार कर डालता है, सबको परेशान कर डालता है। क्या करना होगा?
आधुनिक शिक्षक के सामने सवाल यह है कि वह व्यक्ति के भीतर सिर्फ बेचैनी और अशांति और तनाव की दुनिया खड़ी न करे, व्यक्ति के भीतर एक शांति और एक आनंद और एक प्रकाश का फूल खिलाने में भी सहयोगी हो जाए। लेकिन यह तभी हो सकता है, यह तभी हो सकता है गुलाब का फूल अगर पूरी तरह खिल जाए तो गुलाब के पौधे को पास से देखना। उसके रोएं-रोएं में आनंद छा जाता है। जब भी कोई पौधा अपना पूरा फूल खिला लेता है, तो आनंद से भर जाता है।

और आदमी का पूरा फूल नहीं खिल पाता है। आदमी में भी जब पूरा कोई फूल खिलता है--जैसे कोई कृष्ण, या कोई बुद्ध या कोई क्राइस्ट जब पूरी तरह खिल जाता है, तो उसके सारे प्राण का रोआं-रोआं आनंद से पुलकित हो जाता है। लेकिन हम नहीं खिल पाते। मेरी दृष्टि में चाहे कितनी ही कठिनाइयां हों, हमें शिक्षा के ऐसे प्रयोग और ऐसी प्रक्रियाएं खोजनी पड़ेंगी, जिनमें एक-एक व्यक्ति के भीतर का फूल खिल सके। शिक्षण संस्थाएं फैक्ट्रियां नहीं होनी चाहिए, शिक्षण संस्थाएं सिर्फ प्रत्येक व्यक्ति की उसकी आत्म-खोज में सहयोग के स्थल होने चाहिए। तो वह अपने आत्म-खोज की, सेल्फ आइडेंटिटी की खोज में निकल जाए। और अपने को पा ले कि वह कौन है, क्या हो सकता है। सारा ढांचा सोच कर फिर से बदलना पड़ेगा। और इसके पहले कि हम पश्चिम के पूरे ढांचे को ओढ़ लें, जो कि हम कर रहे हैं और हमारे नेता बहुत जिद्द में हैं, वे कहते हैं, हम बहुत जल्दी करके रहेंगे, हम पूरे ढांचे को ओढ़कर रहेंगे। उन नेताओं को मुझे करीब-करीब ऐसा मालूम पड़ता है कि कुछ दिखाई नहीं पड़ता, अंधे हैं। क्योंकि जिस ढांचे को पश्चिम में सफलता मिल गई है, उसका परिणाम उनको दिखाई नहीं पड़ता है। वह परिणाम वहां क्या हो रहा है? वे कहते हैं, हम सबको शिक्षित करके रहेंगे--बिल्कुल करके रहिए। अब आप राजी हो गए तो होना पड़ेगा सबको शिक्षित। वे कहते हैं, कंप्लसरी शिक्षा देकर रहेंगे। वह भी करिए। सबको शिक्षित करिए, बड़ा अच्छा मालूम पड़ता है, लेकिन जहां अनिवार्य शिक्षा है और जहां शिक्षा ने सारे लोगों को शिक्षित कर दिया है, वहां परिणाम क्या हुआ है, वह बिना देखे ही हुए, यह सब किए जाना पागलपन होगा।
मैं सोचता हूं, हिंदुस्तान बहुत दुर्भाग्यों के कारण, एक सौभाग्य की स्थिति में है और वह यह कि पश्चिम जो प्रयोग कर रहा है उसे पूरा करके हमें देखने की जरूरत नहीं है। हम पिछड़ गए हैं, इसलिए, हमें कोई पूरा करके देखने की जरूरत नहीं है। हम कुछ नये प्रयोग कर सकते हैं। और वे नये प्रयोग पश्चिम के लिए भी मार्गदर्शक हो सकते हैं।
वह तो विस्तार की बात होगी कि कैसे व्यक्ति के फूल खिलने की, स्पांटेनियस, उसके सहजस्फूर्त होने के लिए हम क्या करें। लेकिन अगर इतनी स्वीकृति भी हमारे मन में आ जाए कि प्रत्येक व्यक्ति अलग है और दूसरे जैसा नहीं बनाया जा सकता, न बनाया जाना चाहिए, तो हम बहुत ही गहरे परिणाम ला सकते हैं। अगर एक विद्यार्थी गणित में कमजोर है, तो शिक्षा को यह जोर देने की जरूरत नहीं है कि वह गणित में मजबूत होगा तभी वह स्कूल से बाहर निकल सकता है। नहीं कोई जरूरत है। गणित कुछ ऐसी बात नहीं है कि उसके बिना जिंदगी नहीं हो सकती। और हमारे जोर देने से भी कुछ बहुत फर्क पड़ने वाला नहीं है। सिर्फ एक फर्क पड़ेगा कि वह व्यक्ति एक इनफिरिआरिटी काम्पलेक्स लेकर, एक हीनता का भाव लेकर दुनिया में जाएगा कि मैं कमजोर हूं गणित में, और यह भाव उसको जिंदगी में दूसरे तरफ भी हराने वाला भाव बन जाएगा।
इसलिए जो व्यक्ति जो हो सकता है--तो मेरी दृष्टि में ऐसा मालूम पड़ता है, जो मैं अंतिम बात कहना चाहता हूं वह यह कि सबसे पहला काम तो यह है कि प्राथमिक स्कूल, जहां हम पहली दफा बच्चों से साक्षात्कार करते हैं, जहां छोटे बच्चे पहली दफे पुरानी पीढ़ी के आमने-सामने खड़े होते हैं, जहां एनकाउंटर शुरू होता है, वहां श्रेष्ठतम शिक्षक होने चाहिए। अभी हमने वहां निकृष्टतम शिक्षक बिठा रखे हैं। जिनको हम युनिवर्सिटी में बिठाए हुए हैं, उनको सबको प्राइमरी स्कूल में होना चाहिए। क्योंकि वहां पहला मुकाबला है, पुरानी पीढ़ी का नई पीढ़ी से। वहां पुरानी पीढ़ी को अपने श्रेष्ठतम व्यक्ति खड़ा करना चाहिए, क्योंकि वह अनुभव सदा के लिए कीमती होगा।
लेकिन हमारा ऐसा खयाल है, प्राथमिक शिक्षक तो कोई होना न चाहे। युनिवर्सिटी में भी जो शिक्षक जरा दो-चार साल आगे हुआ कि वह कहता है कि अंडर ग्रेजुएट नहीं पढ़ाएंगे, तो पोस्ट ग्रेजुएट पढ़ाएंगे। अंडर ग्रेजुएट बेइज्जती है पढ़ाना। जब कि सचाई यह है कि प्राथमिक स्कूल से ज्यादा कठिन और कहीं कोई बात नहीं है, बाद में सब सरल होता चला जाता है। असली सवाल वहां है जहां बिल्कुल नई पीढ़ी, कच्ची पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के सामने खड़ी होती है, वहां, वहां श्रेष्ठतम शिक्षक होने चाहिए।

देश में सारे मनोवैज्ञानिकों को हमें प्राथमिक स्कूल में उलझा देना चाहिए कि वहां खोज कर लें कि व्यक्ति हो क्या सकता है। वे चार वर्ष दो काम के लिए होने चाहिए, एक तो हम जिसको बहुत प्राथमिक ज्ञान कहें, जो जिंदगी के लिए, सब के लिए जरूरी होगा, वह दे दें। और दूसरी, उससे भी कीमती बात कि हम चार वर्ष में यह खोज लें कि यह व्यक्ति हो क्या सकता है, इसकी संभावना क्या है! ताकि हम उसे मार्ग दे सकें।
तो ऐसा न हो कि जो चमार बन सकता था वह मिनिस्टर बन जाए, जो मिनिस्टर बन सकता था वह चमार बन जाए। ऐसा हो रहा है और सब अस्त-व्यस्त हो गए हैं। जिसको जहां होना चाहिए, वह वहां नहीं है। कोई कहीं है, कोई कहीं है। सब अस्त-व्यस्त है। उसका कारण है कि वह प्राथमिक शिक्षा फिर शिक्षा का ही केंद्र नहीं होना चाहिए, वहां हमारी जांच-पड़ताल भी होनी चाहिए कि यह व्यक्ति चार साल में हम परख लें कि यह हो क्या सकेगा। इसकी पहचान कर लें, इसको पकड़ लें, इसको जान लें, इसकी दिशा को खोज लें।
लेकिन अभी कोई दिशा का सवाल नहीं है। चौथी कक्षा के बाद, पांचवीं कक्षा के बाद उसे कहां भर्ती होना है, क्या पढ़ना है, ये सब संयोग तय कर रहे हैं, इसमें कोई वैज्ञानिकता नहीं है। पिता तय कर देता है कि लड़के को डाक्टर बनाना है और लड़का पता नहीं क्या बनने को पैदा हुआ है। लड़का पता ही नहीं क्या बनने को पैदा हुआ है और पिता तय कर रहा है। और पिता बेचारा इसलिए तय कर रहा है कि डाक्टर की मार्केट वैल्यू है। बाजार में कीमत है, लड़के को बाजार में बेचना है, तो वहां डाक्टर के पैसे मिलेंगे वहां और किसी के पैसे मिल सकते नहीं। इंजीनियर बनाना है, वहां पैसे मिल जाएंगे और तो पैसे मिल सकते नहीं हैं और पैसा महत्वपूर्ण है, यह व्यक्ति महत्वपूर्ण नहीं है, जो यह पैदा हुआ है। उसके हिसाब से सब चल रहा है। वह तय कर देगा, वह उसे पढ़ना है, उसमें उसे जी जान लगा देनी है।
मेरी अपनी समझ यह है कि प्राथमिक शिक्षा पर सबसे पहले ध्यान दिया जाना जरूरी है, क्योंकि प्राथमिक शिक्षक सबसे महत्वपूर्ण शिक्षक है। और वहां हमें श्रेष्ठतम लोगों को खड़ा कर देना चाहिए। इधर मैं ऐसा सोचता हूं, यह तभी संभव हो सकेगा जब कि हम प्राथमिक स्कूल में कोई पढ़ाता है उस हिसाब से उसकी तनख्वाह तय न करें। तनख्वाह हम उसकी इस हिसाब से तय करें कि वह आदमी क्या है। वह चाहे युनिवर्सिटी में पढ़ाए और चाहे पहली कक्षा में पढ़ाए। और श्रेष्ठतम को हम नीचे ले आएं। असल में बुनियाद के पास श्रेष्ठतम होने चाहिए, शिखर तो सम्हल सकता है।
लेकिन आदमी तो डगमगा गया है, उनकी बुनियाद तो बिल्कुल कमजोर है। शिखर बहुत मजबूत बनाते हैं। शिखर भारी होता चला जाता है। उलटा पिरामिड बना रहे हैं, आदमी का। नीचे बहुत छोटा सा आधार रख देते हैं, ऊपर बड़ा भवन बनाते हैं। उससे बड़ी आशाएं करते हैं, वे सब आशाएं गिर जाती हैं। क्योंकि वह आदमी खड़ा नहीं हो पाता। नीचे बड़ा भवन बनाना पड़े।
और यह समझ लेना जरूरी है कि इसके पहले कि हम शिक्षा के जगत में किसी व्यक्ति को प्रवेश कराएं, वह क्या हो सकता है, इसकी खोज-बीन सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है। इसकी खोज-बीन न हो सके तो कोई हर्जा नहीं है, एक आदमी अशिक्षित रह जाए। लेकिन इस खोज-बीन के पहले उसको शिक्षित करना बहुत खतरनाक है। कहीं ऐसा न हो कि वह जो हो सकता था उससे उलटे ढांचे में उसको फंसा दें, तो वह जिंदगी भर अपने ढांचे से लड़ता रहे और मरता रहे, और परेशान हो जाए।
रोज मुझे लोग मिलते हैं जो अपने ढांचों से लड़ रहे हैं। वे परेशान हैं, घबड़ा गए हैं, हैरान हो गए हैं, मुश्किल में पड़ गए हैं। बचने का कोई उपाय नहीं है क्योंकि जो ढांचा है, जिसमें वे शिक्षित हुए हैं, अगर उसको छोड़ दें तो वे उनके पास कुछ अर्थ नहीं रह जाता, काम नहीं रह जाता, उपयोग नहीं रह जाता। और अगर उसमें ही लगे रहते हैं, तो उनकी आत्मा तड़फती है और आत्मा के लिए मार्ग नहीं मिल पाता। आदमी इतना मुर्झाया हुआ हो गया है, उसका और कोई कारण नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति जो हो सकता है, वह नहीं हो पा रहा है। शिक्षक के लिए बड़े काम हैं, भविष्य में। शायद उसी के लिए बड़े काम हैं।
और सब क्रांतियां असफल हो गई हैं। राजनीतिक क्रांतियां असफल हो गई हैं,

आर्थिक क्रांतियां हुईं, वे भी असफल हो गई हैं, आदमी नहीं बदला। न फ्रांस में कुछ हुआ, न रूस-चीन में कुछ हुआ। आदमी वैसा का वैसा है। अब एक ही आशा है भविष्य में कि एक शिक्षा की क्रांति हो जाए--एक रिवोल्यूशन इन एजुकेशन हो जाए तो शायद एक आशा बची है, और मुझे लगता है कि वही सबसे बड़ी संभावना है क्रांति की। अगर शिक्षा पूरी वैज्ञानिक हो सके और आदमी की आत्मा की तलाश बन सके, तो शिक्षक के सामने बड़ा काम है जो पुराने शिक्षक के पास कभी भी नहीं था। शिक्षक के सामने बड़ा भविष्य है जो पुराने शिक्षक के पास कभी भी नहीं था। लेकिन आज बड़ी मुश्किल है। पुराना शिक्षक खो गया है, नया पैदा नहीं हुआ है और बीच की बेचैनी है। उस बीच की बेचैनी में शिक्षक अटका हुआ है।
ये थोड़ी सी बातें मैंने कहीं, हजार बातें हैं कहने की; लेकिन एक छोटी
सी कहानी से मैं अपनी बात पूरी करूंगा।
मैंने सुना है, एक गांव में एक छोटा सा चर्च था। और उस राष्ट्र का जो सबसे बड़ा पुरोहित था वह उस चर्च को विजिट दे रहा था, आ रहा था मिलने चर्च को। देश भर में घूम रहा था। दस-पांच वर्ष में एक दफा वह चक्कर लगाता था, बड़ा पुरोहित। जब उस चर्च के दरवाजे में प्रविष्ट हुआ और गांव का छोटा सा पुरोहित उसको अंदर ले जाने लगा तो उस बड़े पादरी ने एक सवाल उठाया, क्योंकि परंपरागत नियम था कि जब भी बड़ा पादरी, बड़ा पुरोहित किसी चर्च में जाता तो उसके स्वागत में घंटियां बजाई जातीं। उस रोज पादरी से पूछा कि क्या बात है, तुम्हारे चर्च में घंटियां नहीं बजाई जा रही हैं। उसने कहा, हजार कारण हैं। उस बड़े पुरोहित ने कहाः हजार कारण? मसलन, पहला? तो उसने कहाः पहला तो एक है कि चर्च में घंटी ही नहीं है। उस बड़े पुरोहित ने कहा बाकी हजार अब रहने दो। एक ही काफी है।
तो ऐसे तो हजार बातें मेरे मन में कहने को हैं, लेकिन एक ही बात काफी
है कि शिक्षक अभी है नहीं और इसके लिए थोड़ी सी बातें मैंने कही हैं। मेरी बातों को सोचना, मानने की कोई जरूरत नहीं है। मैं कोई गुरु नहीं हूं कि आपको उत्तर दे दूं। मैं तो कुछ प्रश्न देना चाहता हूं। मैं कोई निश्चित बात आपको नहीं दे रहा। आपको अनिश्चय में छोड़ना चाहता हूं, ताकि आप सोचें, खोजें और शायद कुछ हो सके।

मेरी बातों को इतने प्रेम और शांति से सुना है उससे बहुत अनुगृहीत हूं और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं। मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

शिक्षा में क्रांति
सत्ताईसवां प्रवचन

अंकुरित होने की कला

मेरे प्रिय आत्मन्!
जीवन मिलता नहीं, निर्मित करना होता है। जन्म मिलता है, जीवन निर्मित करना होता है। इसीलिए मनुष्य को शिक्षा की जरूरत है। शिक्षा का एक ही अर्थ है कि हम जीवन की कला सीख सकें। एक कहानी मुझे याद आती है।
एक घर में बहुत दिनों से एक वीणा रखी थी। उस घर के लोग भूल गए थे, उस वीणा का उपयोग। पीढ़ियों पहले कभी कोई उस वीणा को बजाता रहा होगा। अब तो कभी कोई भूल से बच्चा उसके तार छेड़ देता था तो घर के लोग नाराज होते थे। कभी कोई बिल्ली छलांग लगा कर उस वीणा को गिरा देती तो आधी रात में उसके तार झनझना जाते, घर के लोगों की नींद टूट जाती। वह वीणा एक उपद्रव का कारण हो गई थी। अंततः उस घर के लोगों ने एक दिन तय किया कि इस वीणा को फेंक दें--जगह घेरती है, कचरा इकट्ठा करती है और शांति में बाधा डालती है। वह उस वीणा को घर के बाहर कूड़े घर पर फेंक आए।
वह लौट ही नहीं पाए थे फेंक कर कि एक भिखारी गुजरता था, उसने वह वीणा उठा ली और उसके तारों को छेड़ दिया। वे ठिठक कर खड़े हो गए, वापस लौट गए। उस रास्ते के किनारे जो भी निकला, वे ठहर गया। घरों में जो लोग थे, वे बाहर आ गए। वहां भीड़ लग गई। वह भिखारी मंत्रमुग्ध हो उस वीणा को बजा रहा था। जब उन्हें वीणा का स्वर और संगीत मालूम पड़ा और जैसे ही उस भिखारी ने बजाना बंद किया है, वे घर के लोग उस भिखारी से बोलेः वीणा हमें लौटा दो। वीणा हमारी है। उस भिखारी ने कहाः वीणा उसकी है जो बजाना जानता है, और तुम फेंक चुके हो। तब वे लड़ने-झगड़ने लगे। उन्होंने कहा, हमें वीणा वापस चाहिए। उस भिखारी ने कहाः फिर कचरा इकट्ठा होगा, फिर जगह घेरेगी, फिर कोई बच्चा उसके तारों को छेड़ेगा और घर की शांति भंग होगी। वीणा घर की शांति भंग भी कर सकती है, यदि बजाना न आता हो। वीणा घर की शांति को गहरा भी कर सकती है, यदि बजाना आता हो। सब कुछ बजाने पर निर्भर करता है।
जीवन भी एक वीणा है और सब कुछ बजाने पर निर्भर करता है। जीवन हम सबको मिल जाता है, लेकिन उस जीवन की वीणा को बजाना बहुत कम लोग सीख पाते हैं। इसीलिए इतनी उदासी है, इतना दुख है, इतनी पीड़ा है। इसीलिए जगत में इतना अंधेरा है, इतनी हिंसा है, इतनी घृणा है। इसलिए जगत में इतना युद्ध है, इतना वैमनस्य है, इतनी शत्रुता है। जो संगीत बन सकता था जीवन, वह विसंगीत बन गया है क्योंकि बजाना हम उसे नहीं जानते हैं। शिक्षा का एक ही अर्थ है कि हम जीवन की वीणा को कैसे बजाना सीख लें। लेकिन ऐसा मालूम पड़ता है कि जिसे हम आज शिक्षा कहते हैं, वह भी जीवन की वीणा को बजाना नहीं सिखा पाती। वह जीवन की वीणा को रंग-रोगन सिखा देती है करना। जीवन की वीणा को हम रंग कर लेते हैं। जीवन की वीणा को सजा लेते हैं, फूल लगा देते हैं। जीवन की वीणा पर हीरे-मोती जड़ देते हैं, लेकिन न हीरे-मोतियों से वीणा बजती है, न फूलों से, न रंग-रोगन से।
आज की शिक्षा आदमी को सजा कर छोड़ देती है, लेकिन उसके जीवन के संगीत को बजाने की संभावना उससे पैदा नहीं हो पाती। और ऐसा नहीं है कि पहले शिक्षा से हो जाती थी। पहले तो शिक्षा करीब-करीब थी ही नहीं। आज की शिक्षा से भी नहीं होती है, पहले की शिक्षा से भी नहीं हो पाती थी। कहीं न कहीं कोई भूल हो रही है। और वह भूल यही हो रही है कि वीणा के बजाने के नियम पर ध्यान नहीं है, वीणा को सजाने पर ध्यान है। वीणा को सजाने का अर्थ है--एक व्यक्ति को अहंकार दे देना, महत्वाकांक्षा दे देना। आज की सारी शिक्षा एक व्यक्ति के भीतर अहंकार की जलती हुई प्यास के अतिरिक्त और कुछ भी पैदा नहीं कर पाती है। विश्वविद्यालय से निकलता है कोई, तो अहंकार से भरी हुई आकांक्षाएं लेकर निकलता है यह होने की, यह होने की, वहां पहुंच जाने की। सर्व प्रथम हो जाने की पागल दौड़ से भर कर बाहर निकलते हैं। जीवन की वीणा तो पड़ी रह जाती है, प्रथम होने की दौड़ प्रारंभ हो जाती है। पहले ही दिन कक्षा में कोई

भर्ती होता है तो हम उसे सिखाते हैं पहले आने का पागलपन। वह एक तरह का बुखार है, जिससे सभी पीड़ित हैं।
महत्वाकांक्षा एक तरह की बीमारी है जो हम सबके प्राणों को घेर लेती है। और अब तक की सारी शिक्षा महत्वाकांक्षा के ज्वर पर ही खड़ी है। मां-बाप भी वह जहर देते हैं, शिक्षक भी वह जहर देते हैं, लेकिन वह जहर देते हैं। वह हर आदमी को सिखाते हैं कि नंबर एक होना है तो ही जिंदगी में सुख है। वह यह हमारा तर्क है शिक्षा का कि जो प्रथम है, वह सुखी है। जीसस ने एक वचन लिखा है जो हमें बहुत पागलपन का मालूम पड़ेगा। जीसस ने लिखा है: धन्य हैं वे लोग जो अंतिम खड़े होने में समर्थ हैं! और हमारी शिक्षा कहती है, धन्य हैं वे लोग जो प्रथम खड़े होने में समर्थ हो जाते हैं! या तो जीसस पागल हैं, या हम सब पागल हैं। जीसस कहते हैं, धन्य हैं वे लोग जो अंतिम खड़े होने में समर्थ हैं। क्यों? क्योंकि जो अंतिम खड़ा हो जाता है, वह सभी बुखार से मुक्त हो जाता है। दौड़ से मुक्त हो जाता है। और जहां कोई बुखार नहीं है, जहां कोई दौड़ नहीं है, जहां कोई पागलपन नहीं है कहीं पहुंचने का; वहां अपने जीवन की वीणा के अतिरिक्त बजाने को और कुछ भी नहीं बचता है।
लेकिन हम तो सभी को दौड़ दे रहे हैं! सारे जगत में एक पागलपन पैदा कर रहे हैं और इसलिए इतनी बेचैनी है, इतनी परेशानी है, इतनी प्रतिस्पर्धा है, इतना संघर्ष है। शिक्षित आदमी उस संघर्ष में ज्यादा है, अशांति में ज्यादा है। सच तो यह है कि जिस देश में जितना ज्यादा लोग पागल होते हों, समझ लेना चाहिए उस देश में उतनी ज्यादा शिक्षा फैल गई है। शिक्षित ज्यादा होंगे तो मानसिक रुग्ण, बीमार ज्यादा होंगे। आज अमरीका सबसे ज्यादा शिक्षित देश है। क्योंकि सबसे ज्यादा आदमियों को पागल वही कर पाता है। सबसे ज्यादा लोग मानसिक रूप से बीमार होते हैं, क्योंकि हर आदमी एक ऐसी दौड़ में है जो पूरी नहीं हो सकती। और अगर पूरी भी हो जाए, तो दौड़ के अंत में पता चलता है कि हाथ खाली रह गए हैं और कुछ भी नहीं मिला है।
मैंने सुना है, सिकंदर मरा और जिस राजधानी में मरा, उसकी अरथी निकाली
गई तो मरने के पहले उसने अपने मित्रों से कहा, मेरे दोनों हाथ अरथी के बाहर लटके रहने देना। मित्रों ने कहाः पागल हो गए हैं आप? अरथी के भीतर हाथ होते हैं सदा, बाहर नहीं होते। सिकंदर ने कहाः मेरी इतनी इच्छा पूरी कर देना हालांकि जीवन में मेरी कोई इच्छा पूरी नहीं हो पाई है। मर कर तुम कम से कम मेरी इतनी इच्छा पूरी कर देना कि मेरे दोनों हाथ बाहर लटके रहने देना। मरे हुए आदमी की इच्छा पूरी करनी पड़ी। उसके दोनों हाथ बाहर लटके हुए थे। जब उसकी अरथी निकली तो लाखों लोग देखने को आए थे। हर आदमी यही पूछने लगा कि अरथी के बाहर हाथ क्यों लटके हैं? कोई भूल-चूक हो गई है। हर आदमी यही पूछ रहा था। सांझ होते-होते लोगों को पता चला, भूल नहीं हुई है। सिकंदर ने मरने के पहले कहा था कि मेरा हाथ बाहर लटके रहने देना। और जब मित्रों ने पूछा था, क्यों? तो सिकंदर ने कहा थाः मैं लोगों को दिखा देना चाहता हूं कि मैं भी खाली हाथ जा रहा हूं। जो पाने की कोशिश की थी, वह नहीं पा सका हूं। मेरे दोनों हाथ खाली हैं, यह लोग देख लें।
शायद इसीलिए हम हाथों को अरथी के भीतर छिपाते हैं ताकि पता न चल जाए
कि हाथ खाली हैं। जिंदगी भर दौड़ते हैं और कहीं नहीं पहुंचते हैं। हां, दिल्ली पहुंच सकते हैं। लेकिन वहां पहुंच कर भी कहीं नहीं पहुंचते हैं। पहुंचना नहीं हो पाता। क्योंकि जिस चीज की तलाश में चलता है आदमी आनंद की तलाश में, वह कहीं भी पहुंच कर नहीं मिलता। वह तो उस आदमी को मिलता है जो पहुंचने की दौड़ छोड़ देता है। क्यों? क्योंकि आनंद आदमी के भीतर है, बाहर नहीं। अगर बाहर होता तो हम दौड़ कर पहुंच जाते और पा लेते। अगर मुझे तुम्हारे पास आना हो तो चलना पड़ेगा। लेकिन अगर मुझे मेरे ही पास जाना हो तो चलने की कोई जरूरत नहीं है। अगर मुझे दूर पहुंचना हो तो यात्रा करनी पड़ेगी। लेकिन अगर मुझे पास ही पहुंचना हो तो कम ही यात्रा करनी पड़ेगी और अगर मुझे वहीं पहुंचना हो जहां मैं हूं, तब तो यात्रा करनी ही नहीं पड़ेगी। एक बहुत बुनियादी भ्रम है कि आनंद कहीं पहुंचने पर मिलेगा। सारी शिक्षा उस भ्रम को पैदा करती है। वह कहती है, फलां जगह पहुंच जाओ तो आनंदित हो सकते हो। यही है प्रमाण-पत्र मिल जाने पर आनंद मिल जाएगा। प्रमाण-पत्र

मिल जाते हैं, आनंद नहीं मिलता। तब हाथ में कागज का बोझ घबराने वाला हो जाता है। और तब यह लगता है कि आनंद तो नहीं मिला, लेकिन हम आदमी को दौड़ाते रहते हैं। प्राइमरी में पढ़ता है तो उससे कहते हैं हाईस्कूल में। हाईस्कूल में पढ़ता है तो कहते हैं लक्ष्य है युनिवर्सिटी में। युनिवर्सिटी के बाहर निकलता है तो हम कहते हैं, अब जिंदगी में, शादी में, विवाह में। और सब कहानियां, सब उपन्यास और सब फिल्में जहां शादी विवाह हुए, वहीं दि एण्ड आ जाता है। उधर से हम कह देते हैं, बस। सब कहानियां पढ़ें तो एक बड़ी मजेदार बात है। उन कहानियों में लिखा है, उन दोनों की शादी हो गई, फिर वे दोनों सुख से रहने लगे, हालांकि ऐसा होता नहीं। इसके बाद कहानी नहीं चलती है, क्योंकि इसके बाद कहानी बहुत खतरनाक है। कहानी यहां पूरी हो जाती है। नहीं, न तो शिक्षित होने से आनंद मिल पाता, न तो विवाह से आनंद मिल पाता है, न संपत्ति से आनंद मिल पाता है, न पद-प्रतिष्ठा से आनंद मिल पाता। काश! दुनिया के सब वे लोग जो बड़े पदों पर पहुंच जाते हैं, ईमानदारी से कह सकें तो वे कह सकेंगे कि कुछ भी नहीं मिला। वे सारे लोग, जो बहुत धन इकट्ठा कर लेते हैं, अगर ईमानदार हों और लोगों को कह दें, शायद वे कहेंगे, धन तो मिल गया, लेकिन और कुछ भी नहीं मिला। लेकिन इतनी कहने की हिम्मत भी नहीं जुटाते। उसका कारण है। कारण यह है, जो आदमी जिंदगी भर दौड़ा हो और जब उसने उस चीज को पा लिया हो, जिसके लिए दौड़ा है। अब अगर वह लोगों से कहे कि पा तो लिया, लेकिन कुछ भी नहीं मिला तो लोग कहेंगे कि तुम व्यर्थ ही दौड़े, तुम्हारा जीवन बेकार हो गया। अब वह अपने अहंकार को बचाने की कोशिश करता है। भीतर तो जान लेता है कि कुछ भी नहीं मिला।
मैंने सुना है, एक जेलखाना था और उस जेलखाने में एक अस्पताल था और उस अस्पताल में जेलखाने के कैदियों को, बीमार कैदियों को रखा जाता था। जंजीरें बंधी रहती थीं, अपनी-अपनी खाटों से। सौ खाटें थीं और जेलखाने की बड़ी दीवाल थी। दरवाजे के पास नंबर एक की खाट थी। उस नंबर एक के खाट का जो मरीज था, सुबह उठ कर बाहर देखता था दरवाजे के और कहता था, अहा! कितना सुंदर सूरज निकला है। निन्यानबे मरीज जो अपनी खाटों में अपनी जंजीरों से बंधे थे, तड़फ कर रह जाते थे कि उनके पास दरवाजा नहीं है, नहीं तो वे भी सूरज को देख लेते। रात होती और वह आदमी कहता कि आज तो पूरे चांद की रात है। चांद आकाश में उठ गया है। और वे निन्यानबे मरीज जो अपनी खाटों से बंधे थे, उनके प्राण तड़फड़ा कर रह जाते कि काश! वे भी नंबर एक की खाट पर होते। नंबर एक की खाट का मरीज बहुत आनंद ले रहा है। कभी वह कहता है कि नर्गिस के फूल खिल गए हैं, कभी कहता, रातरानी खिल गई है, कभी कहता जुही खिल गई है, कभी कहता कि इस समय तो गुलमोहर, सुर्ख आकाश को ढंके हुए है। वे निन्यानबे मरीज उससे कहते कि तुम बड़े सौभाग्यशाली हो, लेकिन मन में कहते कि हे भगवान! यह आदमी कब मर जाए।
नंबर एक तो होना बहुत खतरनाक है। पीछे के सब लोग प्रार्थना करते हैं
कि यह आदमी कब मर जाए। ऐसे कोई राष्ट्रपति हो जाता है तो सारे लोग शुभ संदेश भेजते हैं और अगर उनके मन में हम उतर सकें तो वे कहेंगे कि यह आदमी कब विदा हो जाए, कब इसे हम राजघाट पहुंचा दें। यह जगह कब खाली हो, क्योंकि यह जगह खाली हो तो हम पहुंच सकें। वे एक नंबर के मरीज के मरने की प्रार्थनाएं करते थे। कई बार वह मरीज बीमार इतना पड़ जाता था कि होने लगता था कि अब प्रार्थना पूरी हुई, अब पूरी हुई। लेकिन प्रार्थनाएं इतनी आसानी से पूरी तो होती नहीं। वह फिर ठीक हो जाता था, फिर फूलों की बातें करने लगता था। कभी कहता पक्षियों की कतार निकल रही है; कभी कुछ, कभी कहता कि बदलियों ने आकाश को घेर लिया है; बूंदें पड़ रही हैं, लेकिन एक दिन वह मरा। निन्यानबे मरीजों में से सभी ने कोशिश की कि नंबर एक पर पहुंच जाएं। डाक्टरों को रिश्वत दी, जेलर को रिश्वत दी। आखिर एक सफल हो गया। कोई तो सफल हो ही जाएगा और एक आदमी नंबर एक की खाट पर पहुंच गया है। वहां जाकर उसने देखा कि गुलमोहर के फूल कहां हैं, चांदनी के फूल कहां हैं, सूरज कहां है, चांद कहां है, वहां कुछ भी न था। उस दरवाजे के बाहर जेल की और बड़ी परकोटे की दीवाल थी, और वहां से कुछ भी न दिखाई पड़ता था--न आकाश, न फूल, न चांद, न सूरज।

वह आदमी हैरान हो गया। लेकिन उसने सोचा कि अब मैं लौट कर पीछे क्या कहूं। अगर मैं कहूं, कुछ भी नहीं है, सिर्फ दीवाल है तो लोग मुझ पर हंसेंगे। हंसना वह चाहते हैं कि हम तो पहले ही जानते थे, वह कहेंगे। इसीलिए तो हमने कोशिश नहीं की। कोशिश उन सबने भी की थी, लेकिन वे कहते हमने कोशिश ही नहीं की, हम पहले ही जानते थे। उस आदमी ने लौट कर, मुस्कुरा कर कहा कि आश्चर्य, जिंदगी व्यर्थ गई जो इस द्वार पर न आ पाए। कितने फूल खिले हैं! सूरज की किरणों का कितना अदभुत जाल है! खुला आकाश है और पक्षी उड़ रहे हैं और उनके गीत सुनाई पड़ रहे हैं! वहां सिर्फ पत्थरों की दीवाल थी, नंबर एक के आगे। लेकिन उसने फिर फूलों की बात की, वह अपनी असफलता को भी स्वीकार नहीं करना चाहता था। ऐसा उस जेल के अस्पताल में रोज होता रहा है। फिर नंबर एक आदमी मर जाता है, दूसरा फिर पहुंच जाता है। वह भी वही कहता है जो पहले आदमी ने कहा था। और पीछे जो लोग हैं, वे सब उसी दौड़ से भर जाते हैं।
हम अपने बच्चों को भी उसी दौड़ से भर देते हैं जिससे हमारे बूढ़े भरे हुए हैं। महत्वाकांक्षा की, एंबीशन की दौड़ से भर देते हैं। और जिस आदमी को एक बार महत्वाकांक्षा का पागलपन चढ़ जाता है, उसका जीवन विषाक्त हो जाता है। उसके जीवन में फिर कभी शांति न होगी, फिर कभी आनंद न होगा और उसके जीवन में फिर कभी विश्राम न होगा। और शांति न हो, विश्राम न हो, आनंद न हो तो जीवन की वीणा को बजाने की फुरसत कहां है?
मैंने तो सुना है, एक आदमी जब मर गया, तब उसे पता चला कि मैं जिंदा था। क्योंकि जिंदगी की दौड़ में पता ही न चला, फुरसत न मिली जानने की कि मैं जिंदा हूं--भागता रहा, भागता रहा, भागता रहा। जब मर गया, तब उसे पता चला कि अरे! जिंदगी हाथ से गई। बहुतों को जिंदगी मरने के बाद ही पता चलती है कि-- थी। जब तक हम जिंदा हैं, तब तक हम दौड़ने में गवां देते हैं। मेरी दृष्टि में ठीक शिक्षा उसी दिन पैदा हो पाएगी जिस दिन शिक्षित व्यक्ति गैर-महत्वाकांक्षी होगा, नॉन-एंबीशस होगा; जिस दिन शिक्षित व्यक्ति पीछे अंतिम खड़े होने में भी राजी होगा। मैं अशिक्षित उसको कहता हूं जो प्रथम होने की दौड़ में है, क्योंकि वह नासमझ है।
मैं शिक्षित उसे कहता हूं जो अंतिम खड़े होने के लिए राजी है। अंतिम खड़े होने के लिए राजी होने का मतलब यह है कि अब दौड़ न रही। जिंदगी अब दौड़ न रही, जिंदगी अब जीना होगी। जिंदगी एक जीना है और जीना अभी होगा, कल नहीं और दौड़ सदा कल के लिए है। दौड़ने वाला हमेशा भविष्य की तरफ देखता रहता है। जब इतना धन मिलेगा तब जीऊंगा। जब इतनी बड़ी गाड़ी होगी तब जीऊंगा। जब इतना बड़ा मकान होगा तब जीऊंगा। अभी कैसे जी सकता हूं? फिर उतना बड़ा मकान बन जाता है। लेकिन जब उतना बड़ा मकान बनता है, तब तक आकांक्षाओं का जाल और आगे चला गया होता है।
अमरीका में एक अरबपति मरा, एण्ड्रू कारनेगी। जब वह मरा तो उसके पास अंदाजन दस अरब रुपयों की संपदा थी। मरने के दो ही दिन पहले एक मित्र ने उससे पूछा कि तुम तो संतुष्ट हो गए होओगे। दस अरब रुपये तुम्हारे पास हैं। उसने कहाः संतुष्ट! मेरी योजना सौ अरब रुपये की थी, मुझसे ज्यादा असंतुष्ट कोई भी नहीं है। मैं एक हारा हुआ आदमी हूं जो अपनी इच्छा पूरी नहीं कर पाया। दस अरब रुपये, उसने कहा, अभी कुछ भी नहीं है मेरे पास। उसने दस अरब रुपये इस भांति कहा, जैसे कोई दस रुपये के लिए कह रहा हो कि सिर्फ दस रुपये! क्या हम पूछें कि अगर एण्ड्रू कारनेगी के पास सौ अरब रुपये हो जाते तो
वह संतुष्ट हो जाता? जो दस अरब से संतुष्ट नहीं हुआ वह सौ अरब से संतुष्ट हो जाता? सौ अरब होते-होते उसका असंतोष हजार अरब पर पहुंच जाता। इसी की संभावना, इसी का गणित ज्यादा साफ मालूम पड़ता है।

भविष्य में जीता है महत्वाकांक्षी, और वर्तमान में है जिंदगी, और वह जीता है कल की आशा में। और जो कल की आशा में जीता है वह आज को खो देता है। और जो कल की आशा में जीता है वह आज क्रोधी रहेगा, दुखी रहेगा, पीड़ित और परेशान रहेगा। सुखी तो कल होना है। लेकिन कल कभी आता नहीं। जब आता है तब आज ही आता है। आज उसके दुखी रहने की आदत बन जाएगी और कल सुखी रहने की आशा की आदत बन जाएगी। अब यह गलत व्यवस्था जिंदगी भर उसे पीड़ित करेगी। इसी गलत व्यवस्था

के कारण हमने स्वर्ग में सुख का इंतजाम किया है, मरने से बाद। हम कहते हैं, जब मर जाएंगे तब स्वर्ग में सुख होगा। जब मर जाएंगे तब मोक्ष में सुख होगा। यह महत्वाकांक्षियों की आकांक्षाएं है जिनका लॉजिकल, तार्किक परिणाम यह हो गया है कि इस पृथ्वी पर सुख हो ही नहीं सकता। सुख तो मरने के बाद होगा। यहां तो हम दुखी ही रहेंगे। आज तो दुखी ही रहेंगे, सुख कल होगा। जिस आदमी के जीवन में इस भांति की भ्रांत धारणा बैठ गई, उस आदमी का जीवन बुनियाद से सड़ जाता है और नष्ट हो जाता है।
सुख आज है और अभी हो सकता है। लेकिन सिर्फ उस व्यक्ति के लिए हो सकता
है जो भविष्य की आशा में नहीं, वर्तमान की कला में जीने का रहस्य समझ लेता है। तो मैं शिक्षित व्यक्ति उसको कहता हूं जो आज जीने में समर्थ है--अभी और यहीं। लेकिन इस अर्थ में तो शिक्षित आदमी बहुत कम रह जाएंगे। असल में हम पठित आदमी को शिक्षित कहने की भूल कर लेते हैं। जो पढ़-लिख लेता है, उसे हम शिक्षित कह देते हैं! पढ़ने-लिखने से शिक्षा का कोई संबंध नहीं है।
कबीर जैसे आदमी को भी मैं शिक्षित कहूंगा। यद्यपि वह पढ़-लिख नहीं सकता है। वह कहता है कि मैंने कागज और अक्षर नहीं जाने, लेकिन फिर भी वह आदमी शिक्षित है। क्योंकि वह परम आनंद में जीता है। उसने जीवन की कला सीख ली है। वह जान गया है जीवन की वीणा को कैसे बजाना है। वह शिक्षित है। और यह हो सकता है कि बुद्ध और महावीर अगर हमारे साथ मैट्रिक की परीक्षा में बिठाले जाएं तो पास न हो सकें। कोई पक्का नहीं है। राम ने रावण को जीत लिया, वह ठीक है। लेकिन मैट्रिक की परीक्षा भी जीत पाएं, यह कोई पक्का नहीं है। हमारे अर्थों में वे शिक्षित नहीं हैं। जीसस बिल्कुल बेपढ़े-लिखे आदमी हैं और मोहम्मद निपट निरक्षर हैं। लेकिन जीवन की किसी कला को वे जानते हैं, जिनसे हम अपरिचित हैं। कुछ उन्होंने सीख लिया है जो हमें पता नहीं है।
और हम शिक्षित होंगे और आधी जिंदगी, कोई पच्चीस साल की जिंदगी आदमी शिक्षा में व्यय कर देता है और तब अचानक पाता है कि वह खाली हाथ खड़ा है और उसके पास कुछ भी नहीं है। जरूर कहीं कोई भूल हो रही है। और पहली भूल यह हो रही है कि हम भविष्य की आशाओं को सिखा रहे हैं, वर्तमान के सत्य को नहीं। भूल यह हो रही है कि हम महत्वाकांक्षा में जीने की प्रेरणा दे रहे हैं। हम जीवन की वीणा को बजाना नहीं सिखा पा रहे हैं। इस भूल के बहुत से हिस्से हैं जिनकी मैं बात करना चाहूंगा।
पहला हिस्सा तो यह है कि हमारी शिक्षा पांच साल या सात साल के बाद शुरू होती है जो कि बहुत गलत बात है। असल में मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि चार साल की उम्र में आदमी पचास प्रतिशत बातें सीख लेता है। जिंदगी भर की पचास प्रतिशत बातें चार साल की उम्र तक सीख ली जाती हैं। फिर इसके बाद पचास प्रतिशत ही सीखने को बचता है। चार साल की उम्र तक आदमी सबसे ज्यादा रिसेप्टिव और ग्राहक होता है। चार साल तक वह आधा हिस्सा सीख लेता है जिंदगी का, जिसे वह जिंदगी भर फिर कभी नहीं भूल पाता है। और हमारी शिक्षा शुरू होगी सात वर्ष में, पांच वर्ष में, जब कि आधा आदमी बन चुका। अब इस आधे बने आदमी को मिटाना और नया बनाना बहुत मुश्किल हो जाएगा।
मैंने सुना है, वेजनर जर्मनी में एक बहुत बड़ा संगीतज्ञ था। उसके दरवाजे पर एक बोर्ड लटका हुआ था। उस बोर्ड पर फीस लिखी हुई थी उसकी कि वह जो लोग संगीत सीखने आते हैं उनसे कितनी फीस लेगा। उसमें पहली फीस तो लिखी हुई थी कि जो आदमी बिल्कुल संगीत नहीं जानता उससे आधी फीस लूंगा। और जो आदमी कुछ संगीत जानता है उससे दुगुनी फीस लूंगा। बड़ी मुश्किल की बात थी। जो आदमी जाता था वह कहता था, मैंने दस साल संगीत सीखा है तो मुझसे कुछ कम फीस लें। वेजनर कहता है कि पहले तुमने जो सीखा है वह भुलाना पड़ेगा। उसमें अलग मेहनत करनी पड़ेगी। तुम्हें फिर से कोरा करना पड़ेगा ताकि मैं तुम्हें नया सिखा सकूं। पुराना भुलाना पड़ेगा।
नवीनतम शिक्षा शास्त्री इस बात के लिए चिंतित है कि सात साल के बच्चे
को शिक्षा देनी शुरू करना, काफी सीखे हुए आदमी को शिक्षा देनी है जो बहुत कठिन हो जाता है। शिक्षा अंदाजन दो वर्ष के करीब शुरू हो तभी ठीक से शुरू हो सकती है। लेकिन जिसको अभी हम शिक्षा कहते हैं, उसको दो वर्ष के करीब

शुरू करना मुश्किल है। दो वर्ष के बच्चे को गणित कैसे सिखाओगे, दो वर्ष के बच्चे को भूगोल कैसे सिखाओगे, दो वर्ष के बच्चे को औरंगजेब कब पैदा हुआ, कब मरा, यह नासमझी की, फिजूल की बातें कैसे सिखाओगे? दो साल का बच्चा कहेगा, कभी भी मरा हो, हमें क्या मतलब! दो साल के बच्चे से कहो, टिम्बकटू यहां है, मेडागास्कर यहां है, वह कहेगा, कहीं भी हो, हमें क्या मतलब है! दो वर्ष के बच्चे को जिसे हम अभी शिक्षा कहते हैं, वह नहीं दी जा सकती। दो वर्ष के बच्चे को कुछ और ढंग से सिखाना पड़ेगा।
न्यूयार्क में एक छोटा सा स्कूल है और एक नर्तकी ने वह स्कूल शुरू किया है। वह छोटे-छोटे बच्चों को उस स्कूल में बहुत और ढंग से सिखा रही है। वहां अगर बच्चों को दो और दो चार होते हैं, यह उसे सिखाना है तो सारे बच्चे नाचते हैं और उनकी अध्यापिका भी नाचती है। और दो और दो चार, दो और दो चार इसी ताल पर नाच शुरू हो जाता है। बच्चे दो और दो चार चिल्ला कर नाचना शुरू कर देते हैं। वह गणित नहीं उनका रस है, उनका रस है नाचना। लेकिन नाचने के बाद वे पूछते हैं, यह दो और दो चार क्या है? तब उनका गणित भी शुरू हो जाता है। दो साल के बच्चों को हमें और ढंग से शिक्षा शुरू करनी पड़ेगी। वे नाचना चाहेंगे, वे गीत गाना चाहेंगे, वे छलांग लगाना चाहेंगे, वे दौड़ना चाहेंगे। सच तो यह है कि पांच साल के बच्चे भी यही चाहते हैं। सात साल के बच्चे
भी यही चाहते हैं। लेकिन सात साल के बच्चों को पांच घंटे, छह घंटे, सात घंटे बूढ़ों की भांति स्कूल में बंद होकर बैठना पड़ता है। उनकी आत्मा की हत्या शुरू हो जाती है। इसलिए जिस दिन छुट्टी होती है स्कूल की, उस दिन बच्चों की खुशी का कोई ठिकाना नहीं, हालांकि घर के लोग सब दुखी हो जाते हैं। और जब स्कूल का घंटा बजता है और बच्चे बाहर निकलते हैं तो उनकी खुशी देखने जैसी है। उनका बस्तों को उछाल कर कूदना और चिल्लाना कि छुट्टी हो गई, ऐसा मालूम पड़ता है कि वे किसी विद्यापीठ से नहीं, किसी कारागृह से मुक्त हुए हैं।
सच में अब तक जिसे हम स्कूल कहते हैं, वह एक तरह का कारागृह है। जिसे
हम स्कूल की दीवालें कहते हैं वे अभी भी बच्चों के लिए इनप्रिजनमेंट है। उनके लिए जेल है और पांच-सात घंटे तक छोटे बच्चों को सख्ती से, गंभीरता से बिठा रखना बहुत खतरनाक है। उनके भीतर कुछ कोमल तंतु सदा के लिए टूट जाएंगे। उसमें एक कोमल तंतु तो वह टूट जाएगा जो सहज होने से पैदा होता है, स्पांटेनियस होने से पैदा होता है। वे बच्चे हमेशा के लिए नियंत्रित, कंट्रोल्ड, सम्हाले हुए, अपने को जबरदस्ती दबाए हुए हो जाएंगे। उनकी जिंदगी एक सप्रेशन की, दमन की जिंदगी होगी। और इस, इस दमन के कारण वे आज के, अभी के सुख को लेने में सदा के लिए असमर्थ हो जाएंगे।
बूढ़े भी याद करते हैं बाद में कि बचपन में बड़ा सुख था। उनका सिर्फ एक कारण है कि बच्चे भविष्य की आशा में नहीं जीते। बच्चे अभी जीते हैं। अगर एक बच्चा नदी के किनारे बैठा है तो वह अभी जी रहा है, पत्थरों के साथ, रेत के साथ, पानी के साथ, फूल के साथ। उसे कल की कोई फिकर नहीं है, उसका कल का कोई खयाल ही नहीं है। बच्चा जीता है अभी और हम सारी शिक्षा में ऐसा इंतजाम करते हैं कि वह अभी न जीए, वह आगे जीए। बस रोग शुरू हो जाता है, उसे हम बीमार करना शुरू कर देते हैं।
क्या हम ऐसा नहीं कर सकते हैं कि वह अभी जीए और सीखे? ये दोनों बातें
एक साथ नहीं जोड़ी जा सकतीं? क्या खेल और पढ़ना साथ-साथ नहीं हो सकते हैं? थोड़ा पढ़ना कम हो पाएगा शायद, लेकिन हर्ज क्या है? जिंदगी जो आदमी जितना खेल की तरह ले सके, उतना आनंद को उपलब्ध हो सकता है। क्या कभी यह विचार किया है कि खेल सदा अभी होता है। लेकिन हम जिंदगी को एक धंधे की तरह लेते हैं। धंधे का फल सदा आगे होता है। दुकान मैं अभी करूंगा, फल साल भर के बाद आने शुरू होंगे, लाभ फिर होगा। खेल अभी होता है, यहां और अभी।
छोटे बच्चों की जिंदगी में खेल के तत्व को, खेल की व्यवस्था को नष्ट किए बिना यदि हम उन्हें शिक्षा दे सकें, जिसके रास्ते खोजे जा सकते हैं तो शायद हम ज्यादा सुखी मनुष्य को पैदा कर सकते हैं। और ध्यान रहे, जब कोई आदमी दुखी होता है तो वह आस-पास के लोगों को भी दुखी बनाने लगता है। और जब कोई आदमी सुखी होता है तो आस-पास के लोगों को भी सुखी बनाने लगता है।

क्योंकि हमारे पास जो है, वही हम बांट सकते हैं--सुख है तो सुख, दुख है तो दुख।
हमारी शिक्षा चेहरों को दुखी कर देती है, उदास कर देती है, हारा हुआ कर देती है। अब एक कक्षा में तीस बच्चे हैं। एक ही बच्चा प्रथम आ पाएगा, उनतीस बच्चे पीछे रह जाएंगे। वह कोई भी उनतीस हों, वह कोई भी एक हो। एक पहला आएगा, उनतीस हार जाएंगे। एक जीत जाएगा। जो बच्चे हार रहे हैं, उनके मन को हम सदा के लिए घातक नुकसान पहुंचा रहे हैं। क्योंकि उनके मन में सदा इनफिरिआरिटी कांप्लेक्स, हीनता का भाव पैदा हो जाएगा कि हम हार गए। अगर दो-तीन वर्ष एक बच्चा हारता चला गया, हारता चला गया तो वह जिंदगी भर के लिए हारा हुआ हो जाएगा।
एक वैज्ञानिक एक प्रयोग कर रहा था। उसने एक कक्षा में--एम.ए. की एक कक्षा के तीस बच्चों को आधा-आधा बांट दिया। पंद्रह लड़कों को एक कमरे में बिठा दिया, पंद्रह को दूसरे कमरे में बिठा दिया। पहले हिस्से को उसने गणित का एक सवाल दिया। वे सब गणित के विद्यार्थी हैं। और सवाल लिखने के पहले उसने एक व्याख्यान दिया। उसने कहा कि यह सवाल बहुत कठिन है। इसको आइंस्टीन भी कर सके, इसमें भी डर है। यह गणित का सवाल इतना कठिन है कि यह शायद ही कोई कर सके। इसके लिए एक बहुत प्रतिभाशाली व्यक्ति चाहिए और प्रतिभाशाली भी तीन-चार घंटे लगाएगा, तभी कर सकता है। उनमें से एक विद्यार्थी ने पूछा, फिर हमसे आप क्यों करवा रहे हैं? उसने कहा, हम सिर्फ यह जानने की कोशिश कर रहे हैं कि तुममें से अगर कोई एकाध दो स्टैप, एकाध दो कदम भी ठीक कर सके तो भी बड़ी गुणवत्ता है। कोशिश करो, सफल तो नहीं हो सकते हो। पंद्रह लड़के थे, उन्होंने कोशिश की।
वह दूसरे कमरे में गया, जहां उसी क्लास के पंद्रह लड़के हैं। वही सवाल बोर्ड पर लिखा और उसने कहाः यह सवाल बहुत सरल है जो गणित नहीं जानते हैं वे भी इसे हल कर सकते हैं। तो एक लड़के ने पूछा फिर हमें करने को क्यों दे रहे हैं? उसने कहा, हम सिर्फ यह जानना चाहते हैं कि क्या एम. ए. की कक्षा में आकर भी एकाध ऐसा विद्यार्थी है जो इसे न कर पाए। उन्होंने भी सवाल हल किया।
जहां उसने कहा था सवाल कठिन है, वहां पंद्रह लड़कों में से सिर्फ तीन लड़के उसे कर पाए, बारह लड़के नहीं कर पाए! और जहां उसने कहा सवाल सरल है, वहां चौदह लड़के कर पाए। सिर्फ एक लड़का नहीं कर पाया! वे एक ही कक्षा के विद्यार्थी हैं! क्या हो गया उनके मन को? अगर मन यह मान ले कि नहीं कर पाऊंगा तो करना असंभव हो जाता है।
जब हम कक्षा में एक विद्यार्थी को प्रथम लाते हैं और उनतीस को पीछे छोड़ देते हैं, तो उनतीस का मन मान लेता है कि प्रथम नहीं आ पाएंगे। वे जिंदगी भर के लिए हारे हुए लोगों की जमात हम पैदा कर रहे हैं। और जिस एक लड़के को प्रथम आने का भाव पैदा हो गया, उसके अहंकार को जगा रहे हैं। वह भी उतना ही खतरनाक है। अब वह जिंदगी भर यह खयाल रखेगा कि मुझे नंबर एक ही खड़े होने की जरूरत है, वह नंबर दो बैठने में बेचैन हो जाएगा।
बर्नार्ड शॉ मजाक में कहा करता था कि अगर मुझे नरक जाना पड़े तो मैं राजी हूं, लेकिन होना चाहिए नंबर एक। स्वर्ग में भी नंबर दो होने की मेरी इच्छा नहीं है। अगर स्वर्ग भी मिलता हो और नंबर दो रहना पड़े तो मैं वहां नहीं जाता। नरक भी मिलता हो, नंबर एक मिलता हो तो मैं राजी हूं। बर्नार्ड शॉ के पास गांधी जी का एक मित्र, एक भक्त मिलने गया और उसने बर्नार्ड शॉ से कहा कि आपका महात्मा गांधी के संबंध में क्या खयाल है? उसने कहा कि महात्मा हैं, बड़े महात्मा हैं, लेकिन नंबर दो। उस आदमी ने पूछाः और नंबर एक कौन है? उसने कहा कि नंबर एक तो मैं हूं। दो ही महात्मा हैं दुनिया में--एक बर्नार्ड शॉ नंबर एक, और एक महात्मा गांधी, नंबर दो। वह आदमी बहुत चकित हुआ। उसने लौट कर गांधी जी को कहा कि यह बर्नार्ड शॉ कैसा आदमी है, अपने मुंह से कहता है कि मैं नंबर एक हूं!
लेकिन बर्नार्ड शॉ गलत आदमी नहीं था, वह हम सब पर मजाक कर रहा है। हम सभी नंबर एक हैं, अपने मन में। नंबर दो भी कोई भी नहीं है। अगर जिंदगी हमें नंबर दो कर देती है तो हम जिंदगी के प्रति क्रोध से भर जाते हैं। और अगर

जिंदगी हमें नंबर एक कर देती है तो हम नंबर एक होने के प्रति इतने दुराग्रह से भर जाते हैं कि फिर हम और ढंग से जी ही नहीं सकते। और हमारी सारी शिक्षा हममें यह हालत पैदा कर देती है। इसे बदलना पड़ेगा। यह शिक्षा बहुत वायलेंट है, हिंसात्मक है। यह बहुत से लोगों को दुखी कर देती है, थोड़े से लोगों को सुखी कर देती है। जिन्हें सुखी कर देती है, नंबर एक होने का सुख दे देती है। वे पागल हो जाते हैं सदा के लिए। उन्हें सब जगह नंबर एक होना चाहिए, अन्यथा वे जी न सकेंगे। और जिन्हें नंबर दो कर देती है वे सदा के लिए दुखी हो जाते हैं और हारे हुए हो जाते हैं।
क्या ऐसा नहीं हो सकता कि हम कंपेरिजन को शिक्षा से अलग ही कर दें, तुलना को अलग ही कर दें? यह हो सकता है। इसकी कोई जरूरत नहीं है कि हम तुलना करें एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति से। सच तो यह है कि दोनों व्यक्ति--दो व्यक्तियों के बीच तुलना असत्य है, असंभव है। मेरे हाथ के अंगूठे पर जो निशान है, वह इस दुनिया में किसी दूसरे के अंगूठे पर नहीं है। मेरा अंगूठा मेरा है, आपका आपका है, कोई तुलना नहीं हो सकती। जब अंगूठे तक इतने अलग हैं तो आत्माएं तो बहुत-बहुत भिन्न हैं, व्यक्तित्व तो बहुत भिन्न-भिन्न हैं। अगर हम पृथ्वी पर एक पत्थर को उठा कर खोजने चले जाएं कि इसी जैसा दूसरा पत्थर मिल जाए तो हमें न मिलेगा।
एक आदमी से दूसरे आदमी की कोई तुलना नहीं हो सकती। एक आदमी अपने ढंग
का अनूठा है, अद्वितीय है। एक ऐसी शिक्षा चाहिए जो एक-एक व्यक्ति को यूनिक होने का बोध दे सके। जो यह बोध दे सके कि हर व्यक्ति अद्वितीय है, दूसरे से तुलना की कोई भी जरूरत नहीं है; तब इस जमीन पर ज्यादा सौंदर्य, ज्यादा आनंद संभव हो सकेगा। क्योंकि तब दुख का कोई कारण न रहा। न मुझसे कोई पीछे है, न मुझसे कोई आगे है। मैं अकेला हूं, बिल्कुल मेरे जैसा मैं ही हूं, मेरे जैसा कोई दूसरा नहीं है। है भी सत्य यही।
लेकिन अभी हमारी सारी शिक्षा कंपेरिजन, तुलना पर चलती है। बाप अपने बेटे से कहता है, पड़ोसी के बेटे को देख रहे हो, कितने नंबर आ रहे हैं उसके, और तुम्हारी क्या हालत हो जा रही है! वह उसमें जहर डाल रहा हैं। बाप है, सोचता है कि प्रेम कर रहे हैं, लेकिन जहर डाल रहा है। तुलना का जहर डाल रहा है। वह आग भर रहा है उस बच्चे में। अब वह उसको पागल कर देगा कि पड़ोसी के बच्चे से कैसे आगे होना है, और पड़ोसियों की भीड़ है। जमीन पर साढ़े तीन अरब लोग हैं। फिर हर आदमी साढ़े तीन अरब लोगों का दुश्मन हो जाता है। और सबसे लड़ रहा है।
हम कहते तो सहपाठी हैं एक दूसरे को, लेकिन होते हैं सह-दुश्मन। कहते
तो यही हैं कि हम साथ-साथ पढ़ रहे हैं, सहपाठी हैं, कलीग्स हैं। कोई कलीग नहीं है इस दुनिया में, क्योंकि इस दुनिया में प्रतिस्पर्धा है, कोई सहपाठी हो कैसे सकता है। वे जो तीस बच्चे एक साथ पढ़ रहे हैं, वे सब उनतीस हरेक के दुश्मन हैं। और हरेक बाकी उनतीस का दुश्मन है, क्योंकि भीतर दुश्मनी चल रही है कि कौन आगे जाता है, कौन किसको पीछे छोड़ जाता है।
यह सारी दुनिया एक शत्रुओं का घेरा हो गई है। वहां सब एक दूसरे से शत्रुता में भरे हैं। ऐसा नहीं है कि वहां दिल्ली की राजनीति में ही शत्रुता है और एक दूसरे को धक्के देकर आगे जाने की कोशिश... हर घर में, हर गांव में, हर कक्षा में, हर स्कूल में, जिंदगी के हर पहलू में और हर कोने में वही दौड़ है कि हम किस तरह दूसरे को धक्का दे दें और आगे हो जाएं। और कोई भी यह नहीं पूछता है कि आगे होकर मिल क्या जाता है। यह जरूरी सवाल कोई उठाता ही नहीं है कि आगे होकर मिल क्या जाता है। किसको क्या मिल गया है आगे होकर? किसी को कुछ नहीं मिला है। लेकिन आगे होने की दौड़ में जिंदगी खराब जरूर हो जाती है। और जिंदगी में जो मिल सकता था, वह चूक जाता है।
जिंदगी में एक ही चीज मिल सकती है और वह है व्यक्तित्व का खिल जाना। मेरे व्यक्तित्व का खिल जाना। दूसरे की तुलना में नहीं, मेरी कली का खिल जाना, किसी की तुलना में नहीं; किसी पड़ोसी के फूल की नजर से नहीं, मेरी अपनी कली पूरी खिल जाए तो मुझे आनंद मिल सकता है।
एक गुलाब का फूल खिलता है और जब पूरा खिल जाता है तो उस पौधे की जिंदगी में कैसा संगीत छा जाता है। लेकिन वह संगीत इसलिए नहीं छाता है कि पड़ोसी

के फूल से वह फूल बड़ा है। नहीं, इसलिए नहीं, बल्कि इसलिए कि कली नहीं रह गया। खिल सका, पंखुड़ी-पंखुड़ी खिल गई है और सुगंध बिखेर सका है आकाश में और सूरज में नाच सका है। पड़ोसी फूल से उसे कोई प्रयोजन नहीं है। लेकिन हो सकता है अगर, अगर हमारे शिक्षाशास्त्री कोशिश करें और बगीचे के फूलों को समझाने चले जाएं और गुलाब के फूल को कहें, क्या तू, तू भी कोई फूल है? देख, पड़ोस का गुलाब का फूल कितना बड़ा खिला है। और चमेली को कहें कि तू भी कोई फूल है? गुलाब हो जा! और गुलाब को कहें कि कमल हो जा! देख कमल के फूल को! पहली तो बात है, फूल सुनेंगे नहीं। क्योंकि फूल इतने नासमझ नहीं हैं
कि किसी की सुनने को राजी हो जाएं--सुनेंगे ही नहीं। लेकिन हो सकता है, आदमी के साथ रहते-रहते कुछ फूल बिगड़ गए हों। आदमी की आदतें साथ रहते-रहते प्रवेश कर गई हों, तो हो सकता है, फूल भी सुनने को राजी हो जाएं। और अगर किसी बगिया के फूल सुन लें यह बात और गुलाब का फूल अपनी तुलना करने लगे कमल से, तो पागल हो जाएगा। पागल होने का मतलब यह है कि गुलाब का फूल लाख कोशिश करे, तो भी कमल नहीं हो सकता। और कमल होने की कोशिश में गुलाब भी नहीं हो सकेगा जो कि वह हो सकता था। उसकी ताकत लग जाएगी कमल होने में, उसकी शक्ति लग जाएगी एक व्यर्थ दिशा में और वह जो हो सकता था वह नहीं हो पाएगा, उसकी शक्ति खो जाएगी। उस बगीचे में फिर फूल नहीं खिलेंगे।
आदमी के बगीचे में बहुत कम फूल खिलते हैं। लेकिन कभी खयाल किया है कि
जब आदमी के बगीचे में फूल खिलते हैं तो खिलने का एक बहुत सीक्रेट, राज है। कोई नहीं पूछता कि कृष्ण ने किससे अपनी तुलना की और वे किसकी तुलना में अपने को कृष्ण बनाए, कोई नहीं पूछता। कोई नहीं पूछता कि रामकृष्ण किसकी तुलना में अपने को बनाते हैं। कोई नहीं पूछता कि लिंकन किससे तुलना करता है। कोई नहीं पूछता कि रवींद्रनाथ किसकी तुलना में अपने को बनाते हैं। दुनिया में जब भी आदमी के जगत में कोई फूल खिलते हैं तो बिना किसी तुलना के खिलते हैं। लेकिन हम सबको यही सिखाया जाता है।
हम कहते हैं, विवेकानंद जैसे बनो! कोई कहता है, राम जैसे बनो! कोई कहता है, कृष्ण जैसे बनो! आज तक कोई आदमी बन सका है किसी जैसा? कितने हजार साल हो गए कृष्ण को मरे हुए? राम को गए हुए कितने दिन हो गए? अब तक कोई राम तो नहीं बन सका। रामलीला के राम को छोड़ देना। रामलीला के रामों से कोई संबंध नहीं है। रामलीला के राम बन सकते हैं, अगर कोशिश करें तो। सब कोशिश नकली आदमी पैदा करवा देती है। असली तो सिर्फ मैं "मैं" ही बन सकता हूं। और अगर नकली बनना हो तो दूसरे जैसे बनने की कोशिश में लग जाना। और जब नकली खोल बन जाएगी तो जिंदगी बड़ी मुश्किल में हो जाएगी--बाहर कुछ होगा, भीतर कुछ होगा। बाहर राम होगा, भीतर तो वही आदमी होगा। इसलिए स्टेज पर वह राम का काम करेगा, स्टेज के पीछे सिगरेट पीएगा। यही होगा, यही हो रहा है।
हर आदमी के दो चेहरे हैं। और वह एक चेहरा वह है जो उसने कंपेरिजन में तुलना में बना लिया है, किसी और जैसा बना लिया है। और एक उसका चेहरा है जो हो सकता था, जो हो नहीं पाया। असली आदमी अंधेरे में छिप गया है, नकली आदमी रोशनी में आ गया है। तो जिंदगी सब झूठी और पाखंड हो गई है। एक-एक स्कूल और एक-एक बच्चे के मन पर यह बात लिख दी जानी चाहिए कि तुम अपने जैसे बनना। तुम कभी भूल कर किसी जैसे बनने की कोशिश मत करना।
हम कब इतने, इतने सभ्य होंगे कि हम हर आदमी को स्वीकार कर सकें, वह जैसा है वैसा। हम इतने सभ्य कब होंगे जब हम प्रत्येक व्यक्ति को बिना तुलना के सीधा देख सकें, वह जैसा है वैसा। हम कब बंद करेंगे यह गलत खयाल कि हम दूसरे से तौलें हरेक को। नहीं, कोई तराजू नहीं है। कोई किसी से तौला नहीं जा सकता। लेकिन तौल चल रही है!
अब तक की सारी शिक्षा महत्वाकांक्षा, तुलना और दूसरे से प्रतिस्पर्धा
पर खड़ी है। इसलिए उसे मैं ठीक शिक्षा नहीं कहता। और अगर वह शिक्षा चलती रही तो आश्चर्य नहीं है कि पचास साल में सारी जमीन एक बड़ा पागलखाना हो जाए। अभी भी हो गई है। अभी भी हो गई है और कोई आश्चर्य नहीं है कि अभी हम पागल लोग हो जाते हैं तो पागलखाने के भीतर बंद करते हैं। कोई आश्चर्य नहीं है कि पचास सौ साल में इंतजाम उलटा करना पड़े क्योंकि पागल इतने ज्यादा हो जाएं कि उनको पागलखाने के भीतर कैसे रखो। तो जो लोग ठीक हों, उनके लिए एक

दीवाल बना कर अंदर रखना पड़े और बाकी लोग बाहर रहें। यह हो सकता है। ये हालतें रोज बढ़ती जा रही हैं, ये रोज फैलती जा रही हैं। और इस सबके पीछे गलत शिक्षा है।
एक सम्यक शिक्षा चाहिए जो एक-एक व्यक्ति को आनंद दे सके, शांति दे सके। उसके अपने जीवन के फूल को खिलने की सुविधा दे सके। उसे स्वीकृति दे सके, वह जैसा है वैसी स्वीकृति दे सके। पिता अगर बेटे को प्रेम करता है तो बेटे को प्रेम करने का एक ही मतलब है। और शिक्षक अगर विद्यार्थी को प्रेम करता है तो प्रेम करने का एक ही मतलब है कि वह प्रेम तो दे, लेकिन बेटे को या विद्यार्थी को ढांचों में ढालने की कोशिश न करे। आदमी सांचों में नहीं ढाला जा सकता। आदमी मशीन नहीं है। फोर्ड की कारें एक जैसी हो सकती हैं, लाखों कारें एक जैसी हो सकती हैं। लेकिन आदमी एक जैसा नहीं हो सकता है। दुर्भाग्य होगा उस दिन जिस दिन हम एक जैसे आदमी ढालने में समर्थ हो जाएंगे। लेकिन हमारी कोशिश यही है कि एक जैसे आदमी हम ढाल दें। सब आदमी एक जैसे हो जाएं।
लेकिन यह कोशिश आदमी को मिटाने की कोशिश है। और आदमी इनकार करता है इस कोशिश से, बगावत करता है। आज सारी दुनिया में बच्चे इनकार कर रहे हैं पुरानी शिक्षा से, शिक्षक से, पुराने विद्यालय से। उनके इनकार का कारण हैं। बच्चे क्रोध से भर गए हैं, उनके क्रोध का कारण है। बच्चे तोड़-फोड़ की इच्छा से भर गए हैं। उनकी तोड़-फोड़ की इच्छा का कारण है। सबसे बड़ा कारण यह है कि जो ढांचा हम दे रहे हैं वह ढांचा उनकी आत्मा की कैद बन जाता है; उनकी आत्मा को विकसित नहीं होने देता है; उनकी आत्मा को रोकता है, फैलने नहीं देता। ऐसा है जैसे हमने किसी पौधे के चारों तरफ लोहे की बागुड़ लगा दी है और पौधे की शाखाओं को कहा है, इस तरफ बढ़ना, इस तरफ नहीं और पौधे के फूलों को कहा, इस तरह खिलना, इस तरह नहीं। और पौधे की जान मुसीबत में पड़ गई है और पौधा सारे ढांचे को तोड़ कर जहां उसकी मर्जी हो वहां बढ़ जाना चाहता है। आदमी अब तक स्वीकृत नहीं हो सका है। हम उसे ढांचे में ढालने की कोशिश करते रहे हैं। क्या हम स्वतंत्र आदमी पैदा कर सकेंगे, शिक्षा से? अगर नहीं कर सकेंगे तो आदमी डूबेगा, उसकी सभ्यता डूबेगी। और यदि हम स्वतंत्र आदमी पैदा करना चाहें तो मैंने सूत्र की दो तीन बातें कही हैं।
एक तो नॉन-एंबीशस माइंड, गैर-महत्वाकांक्षी चित्त पैदा करना पड़ेगा। दूसराः एक ऐसा चित्त जो तुलना नहीं करता।
और तीसराः एक ऐसा व्यक्ति जो अपने होने को स्वीकार करता है, वह जैसा है।
एक फकीर के पास कोई मिलने गया था। और उस फकीर से वह कहने लगा, आप बड़े शांत हैं और मैं बड़ा अशांत हूं। मुझे शांत होना है, आप कोई रास्ता बता दें। उस फकीर ने कहाः भाई ठीक है, मैं शांत हूं, तुम अशांत हो, बात खत्म हो गई। मैं तो कभी तुम्हारे पास पूछने नहीं आया कि आप अशांत हैं, आप मुझे अशांत होने का रास्ता बता दें। उस आदमी ने कहाः ठीक है, आप पूछने नहीं आए क्योंकि आप शांत हैं, लेकिन मैं अशांत हूं। मुझे आप जैसा होना है, मुझे रास्ता बता दें। उस फकीर ने कहाः अगर मुझ जैसे होने की कोशिश की तो और अशांत हो जाओगे। अगर शांत होना हो, तो जो हो उसके लिए राजी हो जाओ। किसी और जैसे होने की कोशिश मत करो।
ठीक कहा उस फकीर ने। लेकिन वह आदमी न माना। उसने कहाः नहीं, कोई रास्ता बताएं। फकीर उसे हाथ पकड़ कर बाहर ले गया और बाहर एक चिनार का वृक्ष है आकाश को छूता हुआ, चांदनी में खड़ा--फकीर ने कहाः उस वृक्ष को देखते हो। उस आदमी ने कहाः देखता हूं। देखते हो कितना लंबा है? उसने कहाः देखता हूं। पास में एक गुलाब की झाड़ी है छोटी सी, जमीन को छूती हुई। उसने कहाः इस झाड़ी को देखते हो? इस पौधे को देखते हो? उस आदमी ने कहाः देखता हूं। उस फकीर ने कहाः मैं बीस साल से रह रहा हूं इन्हीं झाड़ियों के पास, इसी वृक्ष के पास। मैंने कभी इस छोटे पौधे को बड़े पौधे से पूछते नहीं सुना कि तू बड़ा लंबा है, मैं कैसे लंबा हो जाऊं, यह बता दे। यह छोटा पौधा अपने छोटे होने से बड़ा आनंदित है। यह बड़ा पौधा अपने बड़े होने से बड़ा आनंदित है। यह बड़ा पौधा छोटा नहीं होना चाहता है, यह छोटा पौधा बड़ा नहीं होना चाहता है। और चूंकि कोई

कोई नहीं होना चाहता है, इसलिए इनकी दुनिया में बड़े-छोटे का कोई सवाल नहीं है--जो है, वह है।
लेकिन आदमी ने बड़े सवाल पैदा कर लिए हैं। हर आदमी किसी और जैसा होने
की कोशिश में लगा हुआ है। सब हमारी आंखें भटक रही हैं चारों तरफ कि कौन किस जैसा हो जाए। और इस जाल में इतनी मुसीबत हो गई है कि कोई भी वह नहीं हो पा रहा है जो होने के लिए भगवान प्रत्येक को अधिकार देता है। जो अधिकार है मेरा, वह मैं नहीं हो पा रहा हूं और जो मैं नहीं हो सकता हूं उसके होने की कोशिश कर रहा हूं! जो मेरी नियति है, जो मेरी डेस्टिनी है, जो मैं हो सकता हूं, वह मैं नहीं हो रहा हूं।
लिंकन अमरीका का राष्ट्रपति हुआ। वह चमार का लड़का था, गरीब का लड़का था। लोगों को बड़ी तकलीफ हो गई उसके राष्ट्रपति हो जाने से। और जिस दिन, पहले दिन सिनेट में खड़ा हुआ तो एक आदमी ने खड़े होकर कहा कि महाशय लिंकन, यह मत भूल जाना कि तुम्हारे बाप एक चमार थे। लिंकन की आंखों में खुशी के आंसू आ गए और उसने जो कहा, वह याद रखने जैसा है। लिंकन ने कहा, धन्य हैं मेरे मित्र, जिन्होंने यह याद दिला दी। एक बात मैं कहना चाहता हूं कि मेरे बाप जितने अच्छे चमार थे उतना अच्छा प्रेसिडेंट शायद मैं नहीं हो सकूंगा। मेरे बाप जितने अच्छे चमार थे उतना अच्छा प्रेसिडेंट शायद मैं नहीं हो सकूंगा। और दूसरी बात लिंकन ने यह कही कि क्या मैं पूछ सकता हूं, जहां तक मुझे याद आती है, जिन मित्र ने मेरे पिता की याद दिलाई है, मेरे पिता उनके घर के जूते भी बनाते थे। क्या मैं पूछ सकता हूं कि कोई जूता अब तक गड़ रहा है? कोई जूता गलत बना है? कोई जूता--अब तक। मेरे पिता को मरे वर्षों हो गए-- तकलीफ दे रहा है? अगर तकलीफ दे रहा हो तो मुझे कहें, हालांकि मेरे पिता की यह ख्याति थी कि उनके जूते कभी किसी को तकलीफ नहीं दिए हैं। वे बड़े कुशल चमार थे।
एक कुशल चमार होने का भी आनंद है। एक कुशल शिक्षक होने का भी आनंद है।
एक गिट्टी फोड़ने वाले की भी अपनी कुशलता है। लेकिन हम सब दौड़ में लगे हैं! हम सब दौड़ में लगे हैं कि हम दूसरे जैसे हो जाएं, इसलिए कोई आदमी कुशल नहीं हो पाता। क्योंकि कुशल तो हम वहीं हो सकते हैं, जो हम हो सकते हैं। शिक्षा का एक मात्र लक्ष्य होना चाहिए कि हम प्रत्येक व्यक्ति को उसकी नियति का उदघाटन करा दें। हम उसे उदघाटन करा दें कि वह क्या हो सकता है। और वह जो हो सकता है, उसके होने के लिए उपकरण जुटा दें, और वह जो हो सकता है, उसके होने के लिए सुविधा जुटा दें। एक बीज को हम डाल देते हैं, फिर खाद डाल देते हैं, फिर पानी डाल देते हैं। फिर बीज से अंकुर निकल आता है। बस, शिक्षा अंकुरण बननी चाहिए, आरोपण नहीं।
यह अंतिम बात कहना चाहता हूं, शिक्षा अंकुरण बननी चाहिए, आरोपण नहीं। बीज मैं हूं। शिक्षा भूमि बननी चाहिए, खाद बननी चाहिए, पानी बननी चाहिए। और जो मेरे भीतर से अंकुर निकलेगा, उस अंकुर के निकलने की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए। तो हम एक ऐसा आदमी पैदा कर सकेंगे जो सुखी है। और हम एक ऐसा आदमी पैदा कर सकेंगे जो वीणा से संगीत पैदा कर लेता है। और जिस दिन हम ऐसा आदमी पैदा कर सकेंगे, उस दिन स्वर्ग को मृत्यु के बाद रखने की जरूरत न होगी, उसे हम पृथ्वी पर ही निर्मित कर सकते हैं।
आने वाली पीढ़ियों को यह सब सोचना पड़ेगा। मैंने ये थोड़ी सी बातें कहीं, ताकि आप सोच सकें। मेरी बातों को मान लेना जरूरी नहीं है। मेरी बातें हैं, आपको मान लेना जरूरी हो भी कैसे सकता है। और मेरी बात को मानने की जल्दी नहीं करना, क्योंकि वह फिर आरोपण हो जाती है। सोचना, विचारना, शायद कुछ ठीक हो। अगर कुछ ठीक लगे खुद के सोचने से, तब वह मेरा नहीं रह जाएगा, वह आपका हो जाता है। और जो सत्य अपना है, वह जीवन में संपत्ति बन जाता है।

मेरी बातों को इतने प्रेम और शांति से सुना, उससे बहुत अनुगृहीत हूं।
और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं। मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

शिक्षा में क्रांति
अट्ठाईसवां प्रवचन

कम्यून-जीवन

(प्रश्न का ध्वनि-मुद्रण स्पष्ट नहीं।)

यह सवाल हिंदू-मुस्लिम का नहीं है। असल में बड़ा सवाल सदा यही है कि जो ऊपर से लक्षण दिखाई पड़ता है उसे हम बीमारी समझे हुए हैं। लक्षण को बदलने में बड़ी मेहनत उठानी पड़ती है। जब तक लक्षण को बदल पाते हैं तब तक बीमारी नया लक्षण दे जाती है। सवाल हिंदू-मुसलमान का नहीं है और न सवाल गुजराती और मराठी का है, और न सवाल उत्तर और दक्षिण का है। सवाल यह है कि आदमी बिना लड़े नहीं रह सकता है। इसलिए जब तक हम, जो-जो लड़ाइयां वह लड़ता है उनको हल करने में लगे रहेंगे, तब तक जारी रहेगा। सवाल बदलेंगे, नाम बदलेंगे, खूंटी बदलेगी, लेकिन जो हमें टांगना है वह हम टांगे चले जाएंगे।
आदमी बिना लड़े नहीं रह सकता है। इसको अगर हम बीमारी समझें तो कोई हल
हो सकता है। यह है बीमारी। मगर हमेशा भूल हो जाती है। बुखार चढ़ आया है किसी को, तो हम समझते हैं शरीर का गर्म हो जाना बीमारी है। तो ठंडे पानी को डाल कर शरीर को हम ठंडा करते हैं। शरीर पर बुखार का आना सिर्फ खबर है किसी गहरी बीमारी की, कि शरीर के भीतर कोई संघर्ष हो रहा है इसलिए उसे गरम हो जाना पड़ा है। गरम हो जाना बीमारी नहीं है। इधर ठंडा करते हैं, वह कहीं और गरम हो जाता है, उधर ठंडा करते हैं तो कहीं और गरम हो जाता है। ज्यादा से ज्यादा जो राहत मिलती है, वह वैसी है जैसी अरथी को ले जाते हैं लोग मरघट पर और कंधा बदलते हैं। एक कंधा थक जाता है, दूसरे कंधे पर रख लेते हैं। बीच का जो छोटा सा गैप है उसको चाहे आप राहत समझ लें, चाहे हल समझ लें, बल्कि बीमारी दूसरे कंधे पर खड़ी हो जाती है।
हम सदा इसी भाषा में सोचते रहे हैं--कभी दूसरे नाम हैं! कभी दूसरे नाम हैं हिंदू-मुसलमान नहीं होगा तो कम्युनिस्ट, गैर-कम्युनिस्ट होगा, मजदूर-पूंजीपति होगा। मजदूर पूंजीपति नहीं होगा, तो मैनेजर्स होंगे और मैनेज्ड होंगे। झगड़ा जारी रहेगा। और तब तक जारी रहेगा जब तक हम इस सीधे सत्य को स्वीकार न कर लें कि आदमी लड़ने को बहुत आतुर है। और इस आतुरता को हम बीमारी समझें तो कोई हल हो सकता है। तब देखना पड़े कि आदमी आखिर लड़ने को इतना आतुर क्यों है? जीने से भी ज्यादा लड़ने को आतुर है। असल में जीने में भी उसे रस तभी आता है जब वह लड़ता है। वैसे लड़ने के रूप बहुत तरह के हो सकते हैं। शरीर से लड़ सकता है, बौद्धिक रूप से लड़ सकता है, और बहुत तरह की लड़ाइयां लड़ सकता है। लेकिन रस उसे तभी आता है जब वह लड़ता है। जीने को भी दांव पर लगा सकता है, लड़ने के लिए। यह जो मन का रस है लड़ने में, द्वंद्व में, जीतने में, हारने में, हराने में, इस रस को बीमारी समझे, तो कुछ काम हो सके।
लेकिन हम बीमारी को पकड़ते हैं सदा लक्षणों से। हिंदू-मुसलमान को अगर बीमारी समझते हैं तब तो हल नहीं होगा--कभी नहीं होगा। आदमी की लड़ने की वृत्ति है। इस वृत्ति को अगर बीमारी समझते हैं तो कुछ सोचा जा सकता है। मेरी समझ यह है कि आदमी लड़ने में रस लेता है, उसका एक ही कारण है कि कहीं न कहीं समाज, संस्कृति, सभ्यता आदमी को जीने के रस से वंचित कर देती है, किसी तल पर--उसे जीने के रस से वंचित ही कर देती है। तो जीने का रस जब वंचित हो जाता है, तो क्रुद्ध होकर लड़ने का रस बनता है। वह उसका लड़ने का रस हो जाता है। यानी तब वह अपने जीने के उतनी फिकर में नहीं है जितनी आपको न जीने देने की फिकर में है। और एक अर्थ में वह सिर्फ उत्तर लौटा रहा है। आप सबने मिल कर उसके साथ यह किया है, वह उत्तर लौटा रहा है। उसे भी शायद बहुत साफ नहीं है।
मनुष्य के सारे धर्म जीवन-विरोधी हैं--लाइफ निगेटिव हैं। वे सब जीवन
रस की निंदा कर रहे हैं। वे सब निंदा करके जीवन रस को जगह-जगह से तोड़ने की कोशिश कर रहे हैं। कहीं बहुत गहरे में जीवित होने का जो मजा है वह कंडेम्ड है। और इसके गहरे कारण हैं, वह हम देखें तो खयाल में आ जाए।

पहला कारण तो यह है कि बच्चे को मजबूरी में अनिवार्यतः बूढ़े के हाथों में पलना पड़ता है--बूढ़ा जो कि जीवन से जा चुका, जिसके हाथ से सब शक्ति बह चुकी। बूढ़ा जो कि जा चुका, बूढ़ा जो कि रिक्त हो चुका, खाली हो चुका, और अब जो भी भरा दिखेगा, बहुत गहरे में वह उसके विरोध में हैं। और बच्चे को बूढ़े के हाथ में पलना पड़ता है, इसलिए बूढ़ा बच्चे की जीवन रस की जो क्षमता है, उसको सब तरफ से काटता और तोड़ता है। बूढ़े के पंजे में बच्चा जब तक है; वह दबाएगा, रोकेगा। बूढ़े के पंजे में जवान हो तो वह दबाएगा, और रोकेगा। जिसे वह नहीं भोग सकता उस भोगने को वह पाप ही कहेगा। अगर कोई और भोगता है, तो वह पापी है और नरक का रास्ता ले रहा है।
यह जो जटिलता है, यह जटिलता बड़ी अनिवार्य जैसी है कि निश्चित ही आने वाली पीढ़ी, जाने वाली पीढ़ी के हाथों में पलेगी और जाने वाली पीढ़ी क्रुद्ध हो चुकी है। सब उससे छीना जा रहा है, वह तिक्त हो चुकी है। तो अभी आपने कहा, सब उसे खारा हो चुका है। अब उसमें कुछ मीठा बचा नहीं। और खारा इसलिए हो चुका है कि मीठे लेने की जो क्षमता है वह गई, जाएगी, वह खारा हो चुका है। यह पीढ़ी आने वाले, अंकुरित होने वाले पौधे को बड़े क्रोध से देख रही है, बड़े विरोध से, बड़ी शत्रुता से। वह उसे सब तरफ से मार रही है। बूढ़ों का वश चले, तो बच्चों को तत्काल बूढ़ा बना दें। जितना वश चलता है, उतना वह बनाता है। अपनी गंभीरता थोप रहा है, अपने अनुभव थोप रहा है और अपना बुढ़ापा थोप रहा है और वह जो मरण से अब आक्रांत है। वह मरण का जो आक्रांत भाव है वह भी थोप रहा है उस पर, जिसको अभी जीवन की सुबह होनी है।
एक पौधा है, वह मरे हुए पौधों के हाथ में पड़ जाए, जो सूख गए हैं और सिर्फ ठूंठ रह गए हैं--तो जो व्यवहार वह उसके साथ करे, वही पूरी मनुष्यता ने अपने बच्चों के साथ किया है। आपका सब प्रेम, आपका सब सदभाव, आपकी सब शुभाकांक्षा--इतने मूल्य की नहीं है, जितना आपका रिक्त हो जाना है। और वह रिक्तता सब तरह से घेर कर मार डालती है। इसलिए लाइफ अफरमेटिव धर्म पैदा नहीं हो सका, जीवन को परिपूर्ण रूप से स्वीकार करने वाला, समग्र रूप से स्वीकार करने वाला, जीवन जैसा है वैसा स्वीकार करने वाला धर्म पैदा नहीं हो सका। न संस्कृति पैदा हो सकी जो उसे सब रूपों में स्वीकार लेती, अंगीकार कर लेती आह्लाद से, अनुग्रह से। और नहीं हो सकी इसलिए कि सब संस्कृति बूढ़े बनाएंगे। यह सब संस्कृति जा चुका बनाएगा और उनके लिए छोड़ जाएगा, जो आ रहे हैं। यह जिद्द है। इस जिद्द की वजह से प्रत्येक बच्चा जो हो सकता था वह नहीं हो पा रहा है। जो होने की संभावना थी उसमें जीवन को भोगने की, जीवन में नाचने की वह नहीं हो पाता है। वह जीवन के प्रति क्रुद्ध होकर ही बढ़ता है, फ्रस्ट्रेशन से ही बढ़ता है और बड़ा होता है।
और तब मेरी अपनी समझ यह है कि वह जो हमारे भीतर जीवेषणा है, वह जो जीवन
की आकांक्षा है, अगर कहीं भी अतृप्त हो जाए, तो वह मृत्यु की आकांक्षा में बदल जाती है। उसके दो रूप हो सकते हैं और दोनों ही रूप प्रचलित हैं। वह दूसरे को भी मारने में आतुर हो जाएगा और बहुत गहरे में अपने को भी मारने में आतुर हो जाएगा। इसलिए युद्ध भी लाएगा, आत्मघात भी लाएगा--वह दोनों ही काम लाने वाला है। अब ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अब किस व्यक्ति में यह कौन सा सिक्का वजनी हो जाएगा, यह दूसरी बात है। यह उसकी सारी परिस्थितियों और सारे संस्कारों और सारी व्यवस्था पर निर्भर होगा कि वह दूसरे को मिटाने में उत्सुक हो जाएगा या अपने को मिटाने में। अगर वह ऐसी हवा में पला है जो आक्रामक थी, तो वह दूसरे को मिटाने में उत्सुक हो जाएगा और अगर वह किसी हवा में पला है जो आक्रामक नहीं थी, स्त्रैण थी तो वह अपने को मिटाने में उत्सुक हो जाएगा; अपने को मारने में उत्सुक हो जाएगा। सवाल इसलिए ऊपर नहीं है, सवाल बहुत गहरे में है और इसलिए आज नहीं कल, मनुष्यता को यह निर्णय लेना पड़ेगा कि हम अपने बच्चों को अपने बूढ़ों से कैसे बचाएं? उपाय हो सकते हैं--एक दफा खयाल में आ जाए तो उपाय हो सकता है।
जैसे अभी इजरायल में किबुत्ज है। मेरे एक मित्र इजरायल गए तो उन्हें मैंने कहा, किबुत्ज जरूर देख आना। क्योंकि मेरी समझ जो है, इस वक्त पृथ्वी पर जो बड़े से बड़ा कीमती प्रयोग हो रहा है वह किबुत्ज में--वे इस बात की पूरी फिकर कर रहे हैं कि पलने वाली पीढ़ी और पालने वाली पीढ़ी के बीच यह गैप कितना

कम हो, जितना कम हो सके! जैसे अगर बच्चे खाना खा रहे हैं, उनको बूढ़ी औरतें खाना न खिलाएं। उनसे साल, दो साल बड़े बच्चे और बच्चियां उनको खाना खिलाएं। क्योंकि बूढ़ी औरतों का खाने का सब स्वाद जा चुका। खाना उनके लिए अब एक काम रह गया है, एक आनंद नहीं। और खाने के साथ बहुत तरह के दुख जुड़ गए हैं उनके मन में। खाना उनके लिए अब हर तरह से रोग हो गया है। न खाना उनके लिए ज्यादा अपीलिंग है--ज्यादा उनको ठीक रखता है। एक ही बार खा लें, कम खा लें--यह न खाएं, वह न खाएं--वह ज्यादा ठीक है। लेकिन वह उनकी कठोर आंखें छोटे-छोटे बच्चों को कस रही हैं, जो अभी जीवन में सब खाएंगे और नाचेंगे, कूदेंगे। न वह खाने में नाचने देंगे क्योंकि उन्हें नाच महत्वपूर्ण नहीं है। थाली न गिर जाए, सामान खराब न फिंक जाए, वह बहुत महत्वपूर्ण है।
तो दो साल के फासले की लड़की या दो साल के फासले के लड़के उन्हें खिला रहे हैं। इनके बीच फासला इतना कम है कि वह मेरे मित्र जब किबुत्ज में गए और खाने की टेबल पर देखा तो वह दंग रह गए। छोटे-छोटे बच्चे ला रहे हैं, परोस रहे हैं, छोटे बच्चे खा रहे हैं। कोई बच्चा टेबल पर चढ़ कर नाच रहा है, कोई गीत गा रहा है, तीन घंटे तक खाना चल रहा है। उस खाने में सब कुछ चल रहा है, जो कहीं भी नहीं चलता है। उसमें जूठा-मीठा चल रहा है, उसमें थालियां बदली जा रही हैं, उसमें झगड़ा भी चल रहा है, धक्के भी मारे जा रहे हैं, गीत भी गाया जा रहा है, नाचा भी जा रहा है। वह खाना एक आनंद है।
लेकिन बच्चे ही वैसा खा सकते हैं और अगर एक भी बूढ़ा वहां खड़ा हो जाए,
तो तत्काल पुलिसवाला बन जाएगा, और सब रोक देगा। यह एक उदाहरण के लिए मैं कह रहा हूं, उसमें भी एज ग्रुप का फासला बहुत कम किया जा सकता है। बहुत कम किया जा सकता है, एज का फासला बहुत कम किया जा सकता है। वह संभावना अब हमारे पास है, और कम किया जा सकता है, एज का फासला भी और यह बोध स्पष्ट किया जा सकता है कि तुम्हारी उम्र किसी भी तल पर बोझ नहीं बननी चाहिए। पुरानी उम्र बहुत बोझ है।
असल में पुराने आदमी के पास सिवाय उम्र के कुछ भी नहीं है। वह उम्र को
एक संपत्ति बना देता है और वह आपसे कहता है कि जो मैं कहता हूं, वह ठीक है। उसके ठीक होने से कोई संबंध नहीं है। मैं कहता हूं, मैं सत्तर साल का हूं।
जैसे कि सत्तर साल का जो आदमी कहता है वह ठीक होने की कोई अनिवार्यता है।
बहुत डर तो उसके गलत होने का है। बहुत डर इसलिए गलत होने का है कि वह मौत के करीब पहुंच रहा है। सत्तर साल के आदमी के गलत होने के बहुत कारण संभावी हैं।
पहला तो गलत होने का यह डर है कि वह मौत के करीब पहुंच रहा है। यह इतना बड़ा खतरा है उसके गलत होने का। जीवन के संबंध में उसका कोई भी आदेश खतरे से खाली नहीं है। दूसरा खतरा यह है कि वह अनुभवी है। उसके पास सत्तर साल का अनुभव है। और जितने ज्यादा अनुभव की पर्त होती है उतना ही तथ्य को देखना असंभव हो जाता है। तथ्य को देखने के लिए कुंवारी आंख चाहिए, अनुभवी आंख नहीं। अनुभवी आंख तथ्य को देख ही नहीं पाती। असल में उसके पास इतना अनुभव होता है कि देखने के पहले वह निष्कर्ष लेता है। वह इतना जान चुका होता है कि अब और कुछ जानने को शेष नहीं रह जाते हैं। उसके सब नतीजे अतीत के होते हैं और जिंदगी कभी अतीत की नहीं होती है, वह सदा वर्तमान की होती है। इसलिए जीवन के संबंध में बच्चे क्या कहते हैं, जिस दिन हम इसे सूत्र बनाएंगे, जीवन के संबंध में जवान क्या कहते हैं; जिस दिन यह हमारी संस्कृति के आधार पर खड़ा होगा, उस दिन मारना और मरना कम हो जाएगा। यह मौत के प्रभाव में आए हुए लोगों ने जो व्यवस्था दी है, इसमें मरना और मारना अनिवार्य है--यह मौत के प्रभाव में आए हुए लोगों की, जिन पर मौत की छाया पड़ चुकी है।
बूढ़ा आदमी अब तक बूढ़े होने की वजह से मूल्यवान था। मेरी समझ में बूढ़े होने की वजह से ही वह मूल्यहीन हो गया है। असल में बूढ़ा ही वह तब होता है जब वह मूल्यहीन हो गया है जीवन की व्यवस्था में। उसके विदा का क्षण आ गया है लेकिन जाता हुआ सूरज, डूबता हुआ सूरज उगने वाले सूरज के लिए व्यवस्था कर जाए। तो आपका यह सूरज भी इतना ताजा न उगेगा दूसरे दिन। इसमें भी यह रोशनी न होगी, इसमें भी यह आनंद न होगा।

बूढ़े होने से आपका आशय क्या है?

बूढ़ा मैं कहता ही उसको हूं जो अनुभवी हो गया है। और जो अब जीवन को नहीं देखता, अनुभव को और स्मृति को देख रहा है। उम्र का वास्ता नहीं है बड़ा, जिसकी संपदा बन गया अनुभव, उम्र जिसकी संपत्ति बन गई है, उम्र जिसका ज्ञान बन गया है। यह बहुत ही खतरनाक है आदमी। अभी हिप्पियों ने एक छोटा सा नारा दिया वह बड़ा कीमती है और बड़ा सूचक है। वह नारा यह है कि तीस साल के बाद के आदमी का कभी भरोसा मत रखना। अजीब सा है! लेकिन उसमें सचाइयां हैं। उसमें सचाइयां हैं क्योंकि तीस साल के बाद के आदमी की बहुत कम संभावना है कि वह सरल रह जाए, वह जटिल हो जाएगा। बहुत कम संभावना है कि वह चालाक न हो जाए, कनिंग न हो जाए। मेरी, जो आप सवाल किए उस बाबत मेरी जो धारणा है, वह यही है कि इस प्रश्न को जब तक हम ऐसे न पकड़ेंगे कि मनुष्य में मारने और मरने की इतनी तीव्र आकांक्षा का उदय कहीं न कहीं उसके जीवन की इच्छा के फ्रस्ट्रेशन का फल है। इसी तल पर उसे सब तरफ से रोक दिया गया है और इसलिए बूढ़े ने सबसे ज्यादा हमला सेक्स पर किया है। सेक्स पर बूढ़े का हमला सर्वाधिक है। क्योंकि जीवन को भोगने की, जीवन में जीने की, नाचने की, गीत गाने की, जीवन में रंग फैलाने की जो सारी क्षमता है, वह कहीं न कहीं गहरे में सेक्स से संबंधित है। असल में जीवन का जो सारा उभार है, जो सारी अभिव्यक्ति है, खुशी की, आनंद की, वह कहीं न कहीं सेक्स से संबंधित है।
यह समझ तो बहुत साफ आ गई, बहुत पहले कि आदमी में--आदमी में ही नहीं, पशु में, पक्षी में, पौधे में, जीवन के सब तरफ, और जिसको हम वसंत कहें वह कहीं गहरे में सेक्स है, काम है। वह काम का ही रूपांतरण है, वह हमारा वसंत जो है। और बूढ़ा अब वहां जाकर रिक्त हो गया है। वह वसंत से निरंतर दूर होता चला गया। तो वह सेक्स की निंदा करेगा। इतनी निंदा उसने की है कि उसने जिंदगी में सेक्स जैसी चीज है, इसे उसने बाहर कर दिया है।
अगर कोई मंगल ग्रह से कोई यात्री उतर आए और हमारी बातें सुने और हमारे मंदिरों में जाए और सड़कों पर चलते लोगों को देखे तो मैं नहीं समझता कि उसे खयाल आ सके कि सेक्स जैसी कोई चीज है आदमी के पास। उसे हमने हटा-हटा कर अंधेरे कोनों में दबा दिया है, जहां वह चोर की तरह जी रही है वृत्ति, जो कि जीवन की मूल वृत्ति थी और जो जीवन के सारे फूल खिलने की जिसमें संभावना थी, वह अब अंधेरे में चोर की तरह जी रही है। और हम सब उसके प्रति कंडेमनेशन से भर गए हैं। तो अगर हम उसमें कभी जाते भी हैं तो पापी और गिल्टी और अपराधी की तरह।
जहां जीवित होना अपराध हो जाए, वहां आपको जीवित देखना असंभव हो जाएगा। तो जीवित होना एक गिल्ट है और यह बूढ़े का आरोपण है। यह बूढ़े का आरोपण है सारे जीवन पर, यह उसका अंतिम वक्तव्य है जो वह सौंप जाता है। वह सौंप ही नहीं जाता है, वह पूरा इंतजाम कर जाता है। बूढ़ा चित्त जब तक मनुष्य के ऊपर से नहीं हटाया जा सकता, तब तक हम जीवन के आनंद से न भर सकेंगे। वह अभी जो आप कविता कह रहे थे, बढ़िया है, लेकिन बूढ़ा चित्त रेखाएं खींचेगा। सबसे पहली रेखा वह क्या शुभ है और क्या अशुभ है, वहां से खींचना शुरू करता है। क्या ठीक है और क्या गलत है? जिंदगी ठीक है और मौत गलत है, ऐसा नहीं, क्योंकि यह तो कोई सवाल ही नहीं है। जिंदगी में कौन सी जिंदगी ठीक है और कौन सी जिंदगी गलत है, जीना कौन सा ठीक है और जीना कौन सा गलत है, यहां से वह सीमाएं खींचना शुरू करता है, मर्यादाएं बनाना शुरू करता है, और मजा यह है कि जीना अपने आप में शुभ है। जीने में गलत जीने जैसी कोई ही चीज नहीं है, अशुभ जैसी कोई चीज ही नहीं है। अगर कोई पूरी तरह जी सके तो वह शुभ ही होगा, सुंदर ही होगा। और अगर अशुभ आया है तो वह सीमा बांधने से आया है। तो पशु के जीवन में कुछ अशुभ नहीं मालूम होता है।
अभी मैं एक मित्र के घर था, वे बड़े शिकारी हैं। बहुत डरते-डरते उन्होंने मुझसे कहा कि कुछ मैंने शिकार की फिल्में बनाई हैं, वह आपको दिखाऊं? लेकिन मैं डरता हूं, आप शायद पसंद न करेंगे, क्योंकि उनमें हिंसा होगी। मैंने कहाः आदमी को छोड़ कर और कहीं हिंसा हो नहीं सकती। मैंने कहा, तुम्हारा अगर गोली मारने का कोई चित्र हो शेर को तो कुरूप होगा, लेकिन शेर

ने किसी पशु को या पक्षी को मारा हो, तो सुंदर होगा। जब मैंने देखा--मैंने तो कभी देखा नहीं था, जब मैंने देखा उनकी फिल्म को तो मैं सच में हैरान हुआ। जब शेर एक पशु पर हमला करता है तो कहीं भी हमलावर नहीं मालूम होता-- जस्ट प्ले, जैसे खेल रहा है। किसी को मारने नहीं जा रहा, अपने को जिला रहा है। जो गहरे में है--वह अपने जीने के लिए रास्ता खोज रहा है। किसी को मारने नहीं जा रहा है, और उसके जीने में कोई मर रहा है। वह बिल्कुल और बात है, मारने नहीं जा रहा है किसी को, तो उसके ढंग में न तो अग्रेशन है, न हमलावर की वृत्ति है और बिल्कुल ऐसा लगता है, जैसे वह खेल खेल रहा है। और वह खेल वैसे ही है जैसे फूल खिलता है, वैसे शेर हमला भी करता है।
हिंसा मनुष्य की ईजाद है। हिंसा मनुष्य को छोड़ कर कहीं भी नहीं है, क्योंकि मनुष्य ही अकेला ऐसा है जो कि जीवन के लिए नहीं मारे किसी को, मारने के लिए जीने लगे। मार सके, तो ही जी सके। मारना कोई साधन न रह जाए, साध्य बन जाए। मेरी अपनी दृष्टि यह है कि फ्रस्ट्रेटेड लाइफ इंस्टिंक्ट है तो वह विक्षिप्त हो जाएगी--विक्षिप्त हो जाएगी तो उपद्रव करेगी।
तो बूढ़ा चित्त पहली सीमा खींचता है जीवन में कि कैसा जीवन ठीक और कैसा जीवन गलत। वह जीवनमात्र को ठीक कहने की हिम्मत नहीं जुटा पाता। वह कैसे जुटाए? बहुत सा जीवन उसके लिए असंभव हो गया है। जो उसके लिए असंभव हो गया है, वह सबके लिए गलत हो गया है। और उसके हाथ में शक्ति थी। बूढ़ा आदमी सदा शक्तिशाली था। इधर इन बीस-पच्चीस वर्षों में उसकी शक्ति का शिखर टूटना शुरू हुआ। जो कि बड़ा शुभ लक्षण है, जिससे कि मनुष्य की बड़ी संभावनाएं खुली थीं। वह सदा शक्तिशाली था और उसकी शक्ति बिल्कुल ही चुनौती के बाहर थी-- चुनौती भी नहीं दी जा सकती। कोई उपाय भी नहीं था चुनौती का। तो उसने जो व्यवस्था दी है, उस व्यवस्था ने हमारी जीवन की धारा को सब तरफ से पंगु किया है। पंगु जीवन क्रोध से भर जाए, यह बिल्कुल स्वाभाविक है; हिंसा से भर जाए, यह बिल्कुल स्वाभाविक है।
इधर मेरी अपनी समझ है--इसलिए जिन मुल्कों में, जिन सदियों, जिन क्षणों में और जिन कालों में जीवन को भोगने की कामना प्रकट हुई वह देश दूसरे देशों से फौरन हार गया--चाहे वह यूनान हो, चाहे भारत हो, चाहे कहीं भी। जब भी किसी देश में जीवन को भोगने की जरा सी क्षमता प्रकट हुई, वह दूसरे देशों से फौरन हार गया। क्योंकि उसमें लड़ने की वृत्ति एकदम क्षीण हो गई। लड़ने की वृत्ति पैदा करनी हो तो सेक्स फ्रस्ट्रेशन जरूरी है। इसलिए अगर कुश्ती लड़ने वाला या घूंसेबाजी करने वाला महीने भर ब्रह्मचर्य साधता हो तो अर्थपूर्ण है। अर्थपूर्ण इसीलिए है कि वह जितना जीवन की धारा को रोकता है, जीवन की धारा उतनी तीव्रता से आक्रामक होना शुरू हो जाती है। इसलिए सैनिक को अविवाहित रखना, स्त्रियों से दूर रखना पड़ता है। वियतनाम में अमरीकी सैनिक के पास ताकत बहुत है, लेकिन वह जीत नहीं सकता है। उसका कुल कारण यह है कि वह वियतनामी सैनिक के मुकाबले सेक्स फुलफिल्ड है, और कोई कारण नहीं है। हिंदुस्तान में जो हमलावर लोग आए वे हमसे हर हालत में कमजोर थे, असंस्कृत थे, शक्ति संपन्न भी नहीं थे, समृद्ध भी नहीं थे, बिल्कुल जीने- मरने की हालत में थे, लेकिन वे हमसे जीत सके। और उसका कुल कारण इतना था कि हम एक तरह से तृप्त थे और वे एक तरह से बहुत अतृप्त थे और अतृप्ति उनको बड़ी दिक्कत दे गई।
तो अतृप्त चित्त करना जरूरी है लड़ाने के लिए। इसलिए दुनिया में जब भी कोई कौम समृद्ध हो जाती है तो लड़ने में कमजोर हो जाती है। यह बड़े मजे की बात है, समृद्ध कौम लड़ने में कमजोर हो जाती है, गरीब कौम लड़ने में शक्तिशाली हो जाती है। असल में अमीर को आप लड़ा नहीं सकते, सिर्फ गरीब को ही लड़ा सकते हैं। इसलिए दुनिया की सारी राजनीतिक पार्टियां गरीब पर विश्वास, भरोसा रखती हैं। अमीर को आप लड़ा नहीं सकते। वह ऐसा तृप्त है जो कहां लड़ने जाए? कैसी बात करते हैं? एयर कंडीशंड में बैठा हुआ है, आराम से जी रहा है।

अमीर की आप बात कर रहे हैं, किस चीज से वह तृप्त है? क्या वह हर चीज से तृप्त है?

नहीं-नहीं, यह मैं नहीं कह रहा हूं--किसी भी तरह की तृप्ति, किसी भी तल
की तृप्ति और किसी भी मात्रा में लड़ने की वृत्ति को कम करती है, इतना ही कह रहा हूं। तो अगर लड़ाना हो तो अतृप्त करना बहुत जरूरी है। मेरी अपनी समझ यह है कि सारी दुनिया में जो विद्यार्थियों का अनरेस्ट है, वह सेक्स स्टार्वेशन है। दुनिया में युवकों का अनरेस्ट कभी भी नहीं था। था ही नहीं दुनिया में--वह बिल्कुल ही गैर-ऐतिहासिक घटना है, जो अभी घटनी शुरू हुई है। उसका कोई इतिहास ही नहीं है कि दुनिया में कभी युवकों ने और किसी तरह की भी बेचैनी जाहिर की हो।

बड़ा इंपार्टेंट है!

बहुत इंपार्टेंट है क्योंकि जिंदगी के सेंटर पर वह है।

इसलिए म्युजिक डायरेक्टर्स सक्सेसफुल हैं!

होंगे सक्सेसफुल। वह सब सेक्स एक्सप्लायटेशन है किसी गहरे तल पर। वह गहरे तल पर एक्सप्लायटेशन है युवकों को जिन-जिन मुल्कों में बाल-विवाह था, वहां युवकों का प्राब्लम कभी भी नहीं था। क्योंकि इसके पहले कि वे युवा हों और उनके पास कोई शक्ति संचित हो जो लड़ सके, हम उनका विवाह कर दिए हैं। वे कभी भी नहीं लड़ेंगे, लड़ने का कोई कारण नहीं है। अभी तो किंसे ने अमरीका में रिपोर्ट दी है और यह सुझाव दिया है दस साल की मेहनत के बाद कि अमरीका को अगर युवकों के उपद्रव से बाहर होना है, तो बाल-विवाह का विचार करना चाहिए, नहीं तो युवक सब नष्ट कर देंगे।
क्योंकि मामला यह है कि चौदह-पंद्रह साल से पच्चीस साल का वक्त सबसे ज्यादा सेक्सुअली पोटेंशियल है--सबसे ज्यादा है। उसके बाद तो सब क्षीण होने लगती हैं ताकतें। सबसे ज्यादा पोटेंशियल वक्त--सबसे ज्यादा स्टार्व्ड हो तो आप खतरे पर खड़े हैं। आप ज्वालामुखी के मुंह पर खड़े हो-- बिल्कुल ज्वालामुखी के मुंह पर खड़े हो। सेक्सुअल एनर्जी भी आदमियों के पास इतनी नहीं थी पहले, जितनी आज है। अमरीका में आज से बीस साल पहले चौदह साल की लड़की मेच्योर हो रही थी। फिर वह बारह साल में मेच्योर होने लगी। अब ग्यारह साल की लड़की भी मैच्योर हो रही है। और डर है इस बात का कि इस सदी के पूरे होते-होते सात साल और नौ साल के बीच में लड़की सेक्सुअली मेच्योर हो जाएगी, क्योंकि इतना भोजन कभी उपलब्ध न था शरीर को।
तो जो मैं कह रहा हूं, यह कह रहा हूं कि अगर मनुष्य की कभी युद्ध की प्रवृत्ति--वह जो आप कह रहे हैं, वह यहां-वहां नहीं लड़ता, तो वह घर में लड़ता होगा। पति पत्नी से लड़ता होगा, पत्नी पति से लड़ती होगी, क्योंकि वह भी बहुत गहरे में फ्रस्ट्रेशन है। क्योंकि आदमी का चित्त जो है वह एक से भरने का उसका स्वभाव नहीं है।

तो प्रॉब्लम कैसे साल्व होगा?

प्रॉब्लम साल्व तो पीछे हो, पहले प्रॉब्लम समझ लिया जाए। साल्व करना सदा आसान है। समझना ही सदा कठिन है।

भारत में इस परिवेश में कि पच्चीस साल तक ब्रह्मचर्य रखना... तो क्या इसका उस एजुकेशन में कुछ होता नहीं था?

स्टुडेंट्स ही नहीं थे, सिर्फ ब्राह्मणों के थोड़े से लड़के थे।

... तो उसमें एक्टिव नहीं होता था?

उसमें बहुत होता था। गुरुओं की पत्नी ले भागते थे, सब होता था। उसके कारण बहुत हैं। एक तो पूरी सोसाइटी को शिक्षित करने का सवाल नहीं था।

शूद्रों को तो हमने बंद कर रखा था, एक तिहाई हिस्सा तो शिक्षित नहीं होता था। वैसे भी शिक्षित होने की चिंता में नहीं था। क्षत्रिय और तरह से शिक्षित होता था। स्त्रियों को हमने शिक्षा से काट डाला था। ब्राह्मणों का एक छोटा सा हिस्सा शिक्षित होता था। वह भी बहुत छोटा था। और उसको हम जरूर ब्रह्मचर्य से रखवाते थे गुरुकुल में। इसलिए ब्राह्मण से ज्यादा अहंकारी और लड़ाकू प्रवृत्ति का आदमी खोजना सदा मुश्किल रहा है--एग्रेसिव, ब्राह्मण से ज्यादा दंभी, अभिमानी, लड़ने में तीव्र।

फिजिकली नहीं?

फिजिकली नहीं, क्योंकि उसकी तो ट्रेनिंग सारी की सारी बौद्धिक थी। वह बौद्धिक रूप से लड़ेगा। हिंदुस्तान का पूरा इतिहास फिजिकल लड़ने का इतिहास नहीं है, इंटलेक्चुअल लड़ने का इतिहास है। फिजिकली तो हम किससे लड़ें? क्योंकि हमने जिसे शिक्षित किया था, उसे हम सिर्फ तर्क में, न्याय में और इस सबमें शिक्षित करते थे तो वाद-विवाद करता था--करता रहता था वाद-विवाद। इसलिए जितना हिंदुस्तान ने वाद-विवाद किया, दुनिया में कहीं भी नहीं हुआ। और ये जो युवक वहां थे पच्चीस वर्ष तक, अगर इनकी डाइट तुम देखो तो तुम्हें समझ में आएगा कि इनको पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य से रखा जा सकता था। डाइट जो थी पूरी नहीं थी, नींद जो थी वह पूरी नहीं थी। अगर नींद और डाइट को व्यवस्थित किया जा सके, अगर युवकों को पांच घंटे सुलाया जा सके, खाना एकदम कम और न्यून दिया जा सके, तो एक बड़े मजे की बात घटती है।
अभी एक अमरीका में एक युनिवर्सिटी ने एक प्रयोग किया। तीस युवकों को तीन सप्ताह तक भूखा रखा। तो जो युवक बिल्कुल सामान्यतया, जिसको मनो- वैज्ञानिक नार्मल कहता है ऐसे युवकों को, जो कि सब चीजों में रस लेते हैं-- नग्न स्त्री में जिनकी उत्सुकता है, नंगी फिल्म भी देखते हैं, गीत भी गाते हैं, नाचते भी हैं; यानी सामान्य अमरीकी युवा हैं, उनको भूखा रखा इक्कीस दिन तक। नौवें दिन के बाद उनमें सेक्स का खयाल विदा होना शुरू हो गया। पंद्रहवें दिन उनके सामने आप बिल्कुल ही नग्न मेगजीन लाकर रख दो, वह रखी ही रहेगी वहीं। वह उसको नहीं उलटा कर देखेंगे। और इक्कीसवें दिन जब उनसे सेक्स के बाबत बात की गई तो उनमें से किसी को कोई प्रयोजन नहीं था, उन्होंने कहा कि फिजूल की बकवास है। इसलिए सारे धर्मों ने जिन-जिन की सेक्स से लड़ाई है, उपवास को नियम मान लिया। जैसे जैनों में--सेक्स से भारी लड़ाई है, वहां उपवास धर्म बन गया। सेक्स से लड़ना हो तो उपवास धर्म माना गया।

यह जो कहावत है--अभी यह "भूखा बटेरा" ज्यादा लड़ता है... !

यह जो कहावत हम कहते हैं, यह भी किसी दूसरे अर्थ में सही है, वह मैं आपसे बात करूंगा। अभी जो मैं कह रहा हूं, वह मैं यह कह रहा हूं कि उपवास उन बटकों का जिनकी आप बात कर रहे हैं, पुराने गुरुकुल की, जो कि बहुत छोटी संख्या में होते हैं, उपवास; एक बार भोजन--भोजन भी ऐसा जो कहीं भी उनको भरता नहीं और श्रम बहुत तो जो भोजन भी होता है, वह भी पच जाए। सेक्स जो है वह ओवरफ्लोइंग एनर्जी है। जब आपकी शरीर की सब जरूरतें पूरी होती हैं तब वह ओवरफ्लो होना शुरू होता है। तो अगर आपको ओवरफ्लो न होने दिया जाए--आपकी शक्तियों को, तो आपके सेक्स को बहुत देर तक अटकाया जा सकता है, कोई कठिनाई नहीं है। लेकिन उस अटकाव से भी आप में दंभ, आक्रमण की वृत्ति, हमलावर पैदा होगा--वह हुआ पैदा। ब्राह्मण को अगर गौर से देखें तो वैसा दंभी वर्ग सारी दुनिया में कहीं पैदा नहीं हुआ। क्योंकि कहीं दुनिया में किसी एक वर्ग पर इतनी व्यवस्था से सैकड़ों सदियों तक प्रयोग नहीं हुए। कोई ऐसा नहीं कि ब्राह्मण को दंभी होना पड़ता है, दंभी होना उसका खून हो जाता है--उसकी आंख में, उसकी नाक में, उसके चेहरे में वह भर जाता है।
तो मेरी दृष्टि में अगर पति-पत्नी भी लड़ते हैं तो वह भी जीवन की हममें पूरी स्वीकृति नहीं है, क्योंकि सच बात यह है कि पति-पत्नी होना हमारा,

जीवन की जो विविधता का रस है व्यक्तित्व का, जो सहज स्वाभाविक है, उसको रोका है। इसलिए पति-पत्नी दुश्मन की तरह जीते हैं, जीएंगे ही। मैं नहीं मानता कि पति-पत्नी कभी भी मित्र की तरह जी सकते हैं। असंभव है यह जीना, यह बहुत कठिन है जीना। उनके बीच एक शत्रुता अनिवार्य हो गई है क्योंकि दोनों का स्वभाव सब तरफ से रोक कर बांधने की कोशिश की गई है। यह बिल्कुल ऐसा ही है। हम सारी चीजों को लेकिन इस ढंग से लेते हैं कि बड़ी मुश्किल हो जाती है। आज आपको एक खाना खिलाया, कल भी वही खाना खिलाया, परसों भी वही खाना खिलाया, तो सात दिन बाद आप कहेंगे, क्षमा करिए, आप मुझे मार डालना चाहते हैं। पहले दिन अच्छा लगा था, दूसरे दिन कम अच्छा लगा, तीसरे दिन और कम अच्छा लगा। यह सहज स्वभाव है। यह स्वभाव प्रॉब्लम्स खड़े करेगा लेकिन इस स्वभाव को समझ कर ही उनको हल किया जाना चाहिए।
हमने क्या किया है कि हमने इतने रेडीमेड रास्ते खोजे हैं कि स्वभाव
की चिंता ही नहीं की। उसकी कोई चिंता करने की जरूरत नहीं है। असल में पति- पत्नी की जो हमारी व्यवस्था है, एकदम अवैज्ञानिक है। इसलिए पति-पत्नी भारी कलह में जीएंगे। और जब पति-पत्नी कलह में जीएंगे तो पूरा का पूरा संसार करीब-करीब कलह में जीएगा। और कलह हमारा जीवन हो जाएगा। और फिर हम कलह के लिए राजी हो जाएंगे तो मोनोटोनी होगी और बोर्डम होगी और सब होगा! तो फिर इसके लिए हमें दूसरे रास्ते खोजने पड़ेंगे। सारा व्यभिचार पति-पत्नी की अवैज्ञानिकता से पैदा हुआ है--सारा व्यभिचार। फिर वेश्या बनानी पड़ेगी और यह सब इंतजाम करना पड़ेगा। जो-जो जिस चित्त को आपने जबरदस्ती रोका है, वह इधर-उधर से इंतजाम खोजेगा। तो सॉल्यूशन क्या है, मैरिज बंद कर दें या मैरिज में... ।
असल में अगर हम मनुष्य के स्वभाव को पूरी तरह समझें और नीति और सिद्धांत मनुष्य के स्वभाव से बड़े न समझे जाएं--क्योंकि मेरे खयाल से वे बड़े हो भी नहीं सकते। जब तक बड़े रहेंगे तब तक उपद्रव रहेगा। मनुष्य के स्वभाव को समझें तो बहुत तरह की व्यवस्था हो सकती है। बहुत तरह की व्यवस्था हो सकती है। यह एक तरह की व्यवस्था है जो हम प्रयोग करके असफल हो गए हैं। यह एक ऑल्टरनेटिव था जो आज से कोई तीन हजार, या चार हजार, या पांच हजार साल पहले जो आदमी ने चुना। यह ऑल्टरनेटिव असफल हो गया। हजार ऑल्टरनेटिव हो सकते हैं। यह असफल हो गया, यह हमें साफ हो जाए, तो उन पर प्रयोग किया जा सकता है। उनको गति दी जा सकती है।
और अब बहुत संभव हो गया है क्योंकि अब उन प्रयोगों को करने की वैज्ञानिक सुविधा उपलब्ध हो गई है जो कि कल तक नहीं थी। कल तक उनको करना भी मुश्किल था। अगर एक आदमी डिजाइन भी बना लेता हवाई जहाज की, तो भी तीन सौ साल पहले हवाई जहाज उड़ाना मुश्किल था। क्योंकि पेट्रोल नहीं था, फलां नहीं था, और सारी व्यवस्था नहीं थी। तो हवाई जहाज की योजना तो बहुत दिन से है आदमी के दिमाग में, लेकिन और जो सहयोगी व्यवस्था चाहिए वह नहीं थी। आदमी के पास अब सहयोगी व्यवस्था है कि वह जिसको हमने अब तक पति-पत्नी का एक सख्त बंधन बनाया था, उसको बदला जा सकता है। और मेरा मानना है कि वह बहुत सुखद होगा। पति-पत्नी के लिए बहुत सुखद होगा।
दो-तीन बातें खयाल में लेने जैसी हैं--जैसे पहली बात, सारी परिवार की व्यवस्था हमने बच्चे के, बच्चे को ध्यान में रख कर की है--सारी व्यवस्था। सारी व्यवस्था हमने इस तरह की है कि बच्चे का क्या होगा? अगर मैरिज न हो, तो सवाल सिर्फ बच्चा है। और तो कोई सवाल नहीं है, सवाल बच्चा है। बच्चे की तो बहुत व्यवस्था की जा सकती है जो इससे बहुत सुखद और बहुत कीमती हो सकती है और बहुत वैज्ञानिक हो सकती है। असल में हम यह मान कर ही क्यों चलें कि बच्चे व्यक्तिगत हैं। ऐसे भी जितने हम पीछे लौटें, बच्चे व्यक्तिगत नहीं थे।
जितनी पुरानी दुनिया थी, बहुत, चार हजार साल पहले, तो इधर मैं देख रहा
था तो फादर शब्द जो है वह अंकल शब्द से नया है। अंकल पुराना है, काका। क्योंकि फादर का पता लगाना मुश्किल था। वह बहुत बाद में जब कि परिवार सुनिश्चित हो गया तभी आ सका है। पिता जो है वह बहुत बाद की ईजाद है, काका बिल्कुल सहज है। जितने पुरुष थे वे सभी काका थे। हां, मां निश्चित थी।

इसलिए मां शब्द बहुत पुराना है, पिता शब्द बहुत नया है। पिता तो तभी आया जब कि हम दो व्यक्तियों को सुनिश्चित कर सके कि बच्चा इन्हीं का है। बच्चा ऐसे भी समाज का है। तो जब तक हम कम्युनल, कम्यून-बच्चे का इंतजाम न कर सकें तब तक हम मैरिज को शिथिल करने में कठिनाई अनुभव कर रहे हैं। वह सारी कठिनाई वहां अटकी हुई है। कम्यून को व्यवस्था करनी चाहिए। इसका यह मतलब नहीं है कि मां-बाप का प्रेम उसको नहीं मिलेगा। मैं मानता हूं, ज्यादा मिलेगा। क्योंकि जिस बच्चे के लिए मां-बाप के लिए बंधना पड़ता है वह उसको प्रेम कर सकते नहीं। कह सकते हैं, बातचीत कर सकते हैं लेकिन बहुत अचेतन में और गहरे में वही उनके लिए अटकाव है। वह पूरी मनुष्य-जाति के अचेतन मन में, कलेक्टिव माइंड में वह बात है कि बच्चा अटकाव है।

इसलिए जहां अटकाव से बचने का खयाल आता है वहां बच्चे से बचने का खयाल फौरन आना शुरू हो जाता है। आज अगर फ्रांस में, या बेल्जियम में या स्वीडन में बच्चे से बचने की जो बहुत गहरी आकांक्षा है, वह यही आकांक्षा है कि कल अगर हम अपने पार्टनर को बदलना चाहें, तो कोई बड़ी बाधा खड़ी नहीं होगी। क्योंकि कोई ऐसा सेतु नहीं बनता जिसको बांटा नहीं जा सकता। मकान बांटा जा सकता है, धन बांटा जा सकता है, बैंक-बैलेंस बांटा जा सकता है। वह बेटे को बांटना मुश्किल है, वह डिविजिबल नहीं है। उसके दो टुकड़े नहीं किए जा सकते, इसलिए वह एक झंझट की बात है। तो इसके लिए कम्यून व्यवस्था--जो मैंने किबुत्ज की बात कही है, वह कम्यून व्यवस्था है। कम्यून व्यवस्था हो सकती है और कई अर्थों में इतनी बहुमूल्य होगी कि जिसका हिसाब लगाना मुश्किल है। मैं थोड़ी बात करना चाहूं।
जैसे--जो इस संबंध में बहुत गहरी खोज में जाते हैं उन्हें कई बातें अदभुत खयाल में आई हैं जो हमें खयाल में आएं तो अच्छा है। एक बात तो यह खयाल में आई है कि मां-बाप के पास बच्चे का पलना उन्हें एक तरह की फिक्सडनेस देना शुरू कर देता है। क्योंकि उनको दो व्यक्ति ही इंटीमेट की तरह मिलते हैं निकटतम, बाकी सब दूर होते चले जाते हैं। तो ये जो दो आदमी हैं, यह उनके लिए ब्लू-प्रिंट सिद्ध होते हैं। लड़के के लिए बाप सिद्ध हो जाता है ब्लू-प्रिंट, लड़की के लिए मां सिद्ध हो जाती है ब्लू-प्रिंट। इसलिए मनुष्य में जितने अद्वितीय प्रकाशन की संभावना है वह क्षीण होती है। यह उन बच्चों को अनिवार्य रूप से नक्शा बन जाता है कि उनको क्या बनना, कैसा बनना--और करीब-करीब बेटे बाप को रिपीट करते हैं, लड़कियां मां को रिपीट करती है, सब बातों में। उनकी कलह में, उनके चुनाव में भी, उनके झगड़ों में भी वे सब रिपीट करते चले जाते हैं।
तो मनुष्य के भीतर जितनी विविधता की संभावना है वह क्षीण होती है। और
एक बहुत मजे की बात जो है, वह यह है कि एक लड़का है, वह अपनी मां के पास बड़ा होता है तो उसके मन में जो स्त्री की इमेज है, वह उसकी मां की ही निकटतम बनती है। लड़की के मन में पिता की जो इमेज बनती है वह पुरुष की इमेज है। और जिंदगी भर लड़की को जब तक बाप जैसा पति न मिल जाए, तब तक फ्रस्ट्रेशन है। और जब तक बेटे को मां जैसी पत्नी न मिल जाए तब तक उसको तृप्ति असंभव है। मां को पत्नी बनाया नहीं जा सकता और मां जैसी दूसरी औरत खोजी नहीं जा सकती। सब पुरुष अपनी मां खोज रहे हैं अपनी पत्नी में। सब पत्नियां अपने पति में अपना बाप खोज रही हैं। वह मिलता नहीं, वह है नहीं वहां। बस, फ्रस्ट्रेशन शुरू हुआ। तो यह जो इमेज है बच्चे के ऊपर, यह बहुत ही करप्ट करने वाला इमेज है। इससे बचाने की जरूरत है।
जो मैंने किबुत्ज की बात आपसे कही, वे एक प्रयोग करते हैं कि तीन महीने से ज्यादा एक बच्चे को एक नर्स के पास न रहने देंगे। नर्स हर तीन महीने में बदलती रहेगी। मां आती रहेगी, मिलती रहेगी। बच्चा घर भी जाएगा, छुट्टी भी मनाएगा, लौट आएगा, लेकिन एक नर्स के पास बच्चे को बड़ा न होने देंगे। हर तीन महीने में बच्चे को बदल देंगे, नर्स बदलती जाएगी। बच्चे को बड़ा होते-होते सैकड़ों स्त्रियों के चित्र उसके मस्तिष्क में इमेज बनेंगे। उसके पास कोई फिक्सड इमेज नहीं होगा। उसके पास सिर्फ एक वेग कल्पना भर होगी स्त्री की जिसमें सौ स्त्रियों ने कंट्रिब्यूट किया है।

उसकी एडजस्टबिलिटी सौ गुनी बढ़ जाएगी। वह अपनी पत्नी के साथ सौ गुना ज्यादा एडजस्ट हो सकता है। इसलिए किबुत्ज में जो बच्चे बड़े हुए हैं उनके पति-पत्नियों के संबंध बहुत सुखद सिद्ध हो रहे हैं, क्योंकि उसके पास फिक्सड इमेज नहीं है। वह कोई खास औरत नहीं खोज रहा है, औरत खोज रहा है।
और खास औरत खोजना बहुत खतरनाक है, क्योंकि वह खास औरत मिल नहीं सकती है, वह खास औरत आपकी मां है। तो तीन-तीन महीने में वे बदल देंगे नर्स को। तो उसके पास अनेक स्त्रियां आएंगी, जिन्होंने उसे प्रेम किया, जिन्होंने उसे सम्हाला, जिन्होंने उसकी फिकर की। और स्त्री जैसा कोई इमेज उसके मन में नहीं बनेगा, सिर्फ एक धुंधली छाया बहुत स्त्रियों से कंट्रिब्यूट की गई उसके भीतर होगी। और इन सौ स्त्रियों के निकट बढ़ने से वह न मालूम कितनी तरह की स्त्रियों का पति बनने में समर्थ हो सकता है। और उसके साथ उसकी एडजस्ट होने की संभावना बढ़ जाएगी। और बच्चे जैसे ही कम्यून पालने लगे, पति-पत्नी का संबंध पहली दफा निर्भार हो सकता है, निर्बोझ हो सकता है। और स्त्री पहली दफे स्वतंत्र हो सकती है, नहीं तो स्त्री कभी स्वतंत्र नहीं हो सकती। उसकी स्वतंत्रता की कोई संभावना नहीं है। वह बंधी ही रहेगी किसी न किसी से।

क्या स्वतंत्र होना जरूरी है?

स्वतंत्र होना सबका जरूरी है। क्योंकि जो स्वतंत्र नहीं है, वह आपको परतंत्र करेगा। गुलाम की प्रवृत्ति दूसरे को गुलाम बनाने की होती है। तो अगर पति सोचता हो कि उसने पत्नी को गुलाम बना लिया है, तो इस भ्रम में न रहे, पत्नी हजार रास्तों से उसको गुलाम बनाएगी--बनाएगी ही। अगर पति को स्वतंत्र होना है तो उसे पत्नी को स्वतंत्रता पूरी दे देने के सिवाय कोई रास्ता नहीं है। अगर उसने इंच भर भी गुलामी बचाई है तो पत्नी उससे बदला लेगी। वह गुलामी थोप देगी। और इसलिए बड़े मजे की बात है कि बड़े हिम्मतवर लोग, नेपोलियन जैसा आदमी भी घर में आकर एकदम दब्बू हो जाता है। घर में सौ में से निन्यानबे प्रतिशत आदमी एकदम दब्बू हो जाते हैं। उसमें भी बिल्कुल स्वाभाविक है यह। बाहर जो था गुलाम बना लिया। अब वह बदला कहां लेगी पति से? वह बदला लेगी--यहीं, इसी जगह बदला लेगी। वह भी उसकी गुलाम बनाने के हजार रास्ते खोज लेगी।
स्त्री का स्वतंत्र होना जरूरी है क्योंकि स्वतंत्र लोग ही दूसरे को स्वतंत्र कर सकते हैं। नहीं तो कोई उपाय नहीं है। उस स्वतंत्रता में ही सुख के फूल खिल सकते हैं, नहीं तो, नहीं खिल सकते हैं। और फिर यह फैलता चला जाता है। वह जो आप कहते हैं कि हम राष्ट्रों की सीमाएं खींचते हैं और समाजों की सीमाएं खींचते हैं और जातियों की सीमाएं खींचते हैं वह सब परतंत्र बनाने और परतंत्र न बनने का भय है। वे सारी सीमाएं--जो आप कहते हैं, आदमी-आदमी से इतना भय क्यों? आदमी-आदमी से भय है क्योंकि आदमी-आदमी एक-दूसरे को तत्काल या तो परतंत्र बनाएगा और या फिर उसे बन जाना पड़ेगा। दूसरा तब तक उसे बना लेगा, अगर वह चूक गया मौका तो दूसरा उसे बना लेगा। क्योंकि स्वतंत्रता सुख है, इसे हम स्वीकार ही नहीं कर पाए।
कम्यून के अतिरिक्त बच्चों को पालने की कोई... और एक और मजे की बात इधर खयाल में आई है कि अगर मां के पास बच्चा बड़ा होता है, तो वह मां के दो रूप एक साथ उस पर इंपेक्ट पड़ते हैं--मां उसको प्रेम भी करती है, मां उसको मारती भी है। मां उसको प्रेम भी करती है, धक्का भी देती है। मां उसे कभी बुला कर गले भी लगाती है और कभी दुश्मन की तरह उसके साथ व्यवहार भी करती है। कभी वह क्रोध करती है, कभी प्रेम करती है। कभी ऐसा लगता है बच्चे को कि वह दुश्मन है, कभी लगता है मित्र है। एक ही व्यक्ति के संबंध में प्रेम और घृणा का इंपेक्ट बड़ा ही खतरनाक है। क्योंकि जिंदगी में अब जिसको भी यह प्रेम करेगा उसकी घृणा से भयभीत रहेगा। यह इसका एसोसिएशन हुआ गहरे में। यह अब किसी व्यक्ति को बिना घृणा किए प्रेम नहीं कर सकता। यह कर ही नहीं सकता बिना घृणा किए प्रेम। इसलिए जिसको मैं प्रेम करूंगा, उसको मैं घृणा भी करूंगा। और यह सिर्फ, सिर्फ मोड्स बदलते रहेंगे--सुबह घृणा करूंगा, सांझ

प्रेम करूंगा, फिर क्षमा मांग लूंगा, फिर घृणा करूंगा, फिर प्रेम करूंगा। यह खेल चलेगा क्योंकि मेरे मन में प्रेम और घृणा जो है वह बहुत गहरे में एसोसिएट हो गए हैं।
इसलिए मां से तो बच्चे को मुक्त करना ही पड़ेगा। नहीं तो मां से बच्चे
को मुक्त किए बिना नई मनुष्यता पैदा नहीं होगी। वह रिपीट होती चली जाएगी, जो हो रही है। अगर बच्चा कम्यून में पलता है, नर्सरी में पलता है, मां जाएगी उससे मिलने सप्ताह में, लेकिन तब उसका एक ही रूप उसको पता चलता है। वह उसे प्रेम करेगी। और बच्चे के मन में प्रेम को घृणा से संयुक्त होने से बचाना बड़ी से बड़ी क्रांति है जो संभव हो सकती है। क्योंकि तब वह किसी व्यक्ति को टोटली प्रेम कर सकेगा। और नहीं तो वह कभी नहीं कर सकेगा, वह कांफ्लिक्ट हमेशा खड़ी है।

प्रतिदिन हजारों बच्चे पैदा होते हैं, क्या यह पॉसिबल है?

पॉसिबल तो सब है क्योंकि जो पॉसिबल हो गया है यह इतना इंपॉसिबल था, जो नहीं होना चाहिए था। यह इतनी बेवकूफी पॉसिबल हो गई है, जिसका कोई हिसाब लगाना मुश्किल है। तो सब पॉसिबल है, यह भी पॉसिबल हुआ है, यह भी पॉसिबल हो गया है। एक बार खयाल में आना शुरू हो जाए तो सब पॉसिबल हो सकता है। और इस वक्त माइंड जो है पूरी मनुष्यता का, बहुत रिसेप्टिव हालत में है। क्योंकि पुराना सब गलत दिखाई पड़ने लगा है, और नया क्या हो इसकी कोई साफ कल्पना नहीं बनती। इस वक्त प्लास्टिसिटी बहुत ज्यादा है माइंड में, इतनी दुनिया में कभी भी नहीं थी। क्योंकि कभी भी फर्क ऐसा नहीं हुआ था कि चुकता पुराना एकदम गलत हो गया हो। कभी हजार चीज में एक चीज गलत होती थी तो उसको हम रिप्लेस कर देते थे। लेकिन पुराना एज सच ठीक रहता था। उनमें कोई फर्क नहीं पड़ता था। अब ऐसा हुआ है कि पुराना एज सच गलत हो गया है और पहली दफे वैक्यूम पैदा हुआ है। क्रांति का क्षण जो है वह वैक्यूम का क्षण है। तो उस वैक्यूम में से बहुत कुछ संभावना है। नीत्शे ने एक बहुत अदभुत बात लिखी है कि सितारों का जन्म अराजकता से होता है, किआस आउट आफ किआस। अब उसके भीतर बहुत कुछ जन्म की संभावना है। लेकिन हमारी सबकी आंखें, जो मिट रहा है उस पर लगी हैं। जो बन सकता है उस पर नहीं लगी हैं। और जब बन सकने की हम कोई बात करते हैं तो पहला सवाल उठता है, वह यह है कि क्या यह पासिबल है? यह सवाल पॉसिबिलिटी का नहीं है। यह सवाल आपके माइंड की प्लास्टिसिटी का है। असल में आप भी पाले गए हैं, हम भी पाले गए हैं उसमें जो था। और उसके अतिरिक्त कोई पॉसिबल हो कैसे सकता है।
लेकिन मनुष्य की अनंत संभावना है। और मनुष्य की अनंत संभावनाएं ही अनंत सभ्यताओं को जन्म दे सकती हैं। और अभी तक हम करीब-करीब एक ही सभ्यता को जन्म दिए हैं। मैं नहीं मानता कि बहुत सभ्यताएं हैं। यह एक ही सभ्यता के विभिन्न रूप हैं। चाहे पूरब में, चाहे पश्चिम में और चाहे आदिवासी का हो और चाहे न्यूयार्क के सभ्य का हो, यह एक ही स्वर के विभिन्न प्रयोग हैं। अलग-अलग नहीं है यह बात। तो मूल में एक ही पकड़ है। उसको तोड़ने की जरूरत आ पड़ी है।
अब कितना कठिन है--मां से बच्चे को मुक्त करना कितना कठिन है? चूंकि वहां तो हमने सब थोप दिया है कि सारा प्रेम वहां है, सारा आनंद वहां है, सारा सुख वहां है। मां से ज्यादा पवित्रता का हमने कोई संबंध नहीं सोचा, और मेरी अपनी समझ है कि इसे भी आप खयाल में ले लें कि जहां-जहां उलटी चीजें हैं वहां हम ठीक उससे उलटे का आरोपण करते हैं। जैसे बहन और भाई में सेक्स के संबंध बढ़ जाने की पूरी संभावना है। सबसे पहली संभावना वहीं है। क्योंकि निकटतम लड़की भाई को वही उपलब्ध है। इसलिए हम पवित्रता का भारी शोरगुल मचाते हैं कि बहन और भाई की पवित्रता भारी है। यह जो शोरगुल हम इतना जोर से मचाते हैं, उसका कारण है। उसका कारण, मनुष्य के स्वभाव का हमें पता है कि लड़की निकटतम जो उपलब्ध हो, उससे संबंध हो सकता है। तो मां के संबंध को हमने भारी पवित्रता का शोरगुल मचाया, क्योंकि वह जो पिछली संस्कृति बनी थी, उसके सेंटर पर मां के प्रेम को हमने रखा था और उसके आस-

363

पास हमने परिवार बनाया था। वह परिवार असफल साबित हुआ। उस परिवार से बनी हुई सभ्यता असफल साबित हुई और असफलता के इतने प्रमाण हैं, इतने युद्ध हैं, इतनी विकृति, इतनी हिंसा, इतनी हत्या है कि आश्चर्य यही होता है कि जो लोग नहीं हत्या कर रहे हैं, वे क्यों नहीं कर रहे हैं? जो नहीं आत्महत्या कर रहे हैं, वे क्यों नहीं कर रहे हैं? यानी वियतनाम और कंबोडिया में युद्ध हो, यह आश्चर्य की बात नहीं है। बाकी जगह क्यों नहीं हो रहा है? जैसी विस्फोटक स्थिति है, वह सब जगह होना चाहिए।

क्या यह संभव हो सकता है?

यह संभव हो सका, अन्यथा संभव हो सकता है लेकिन उसे हमें बहुत फाउंडेशन
से सोचना पड़े। इसलिए मैं किसी सवाल को ऊपर से लेने की पसंद में नहीं हूं। ऊपर कोई सवाल नहीं है। ऊपर तो पत्तियां हैं? उनको हम काटते रहते हैं। एक पत्ती काटो, दो पैदा हो जाती हैं, वह कलम साबित होती है। इसलिए दुनिया के-- जिनको हम क्रांतिकारी कहते हैं, सुधारक कहते हैं, ये सब कलम करवा जाते हैं और झंझट में डाल जाते हैं। एक पत्ती काट देते हैं और दस पत्तियां पैदा करवा जाते हैं। तो रूट्स से कुछ फिकर करनी पड़ेगी, रूट्स कहां हैं हमारी इस पूरी संस्कृति की? तो मुझे दो-तीन रूट्स दिखाई पड़ती हैं, एक हमारा परिवार है, जैसा हमने बनाया। वह गलत है और मनुष्य को विक्षिप्त करने वाला, पागल करने वाला है। बूढ़ों के हाथ में बच्चे का पालना, इससे बड़ा कोई खतरा नहीं हो सकता है।
सेक्स जो कि बहुत बुनियादी जीवन की ऊर्जा है, उसकी निंदा पर खड़ी है हमारी सारी व्यवस्था। बहुत बुनियादी है, इससे बुनियादी कोई सवाल नहीं है। न परमात्मा का सवाल उतना बुनियादी है, न आत्मा का सवाल उतना बुनियादी है, न रोटी का सवाल उतना बुनियादी है।

क्या सेक्स को फ्री करने से कम होगा?

कम करने का डर आपको बूढ़े दे जाते हैं, वही तो तकलीफ है। वही तो तकलीफ है, हमें पहली फिकर यह है कि कम होगा! वही तो मैं कह रहा हूं, वही कम होगा। कम हो क्यों? यानी पूरे वक्त हमारा चिंतन तो वही है, कम होगा? यानी मुझसे वह मित्र पूछते हैं कि फ्री करने से कम होगा? यानी वह कम होता तो वह फ्री करने तक को राजी हैं। लेकिन हां, ध्यान इस पर है कि वह कम हो जाए। लेकिन कम हो क्यों? स्वस्थ हो, यह समझ में आता है, शुभ हो, यह समझ में आता है, सुंदर हो, यह समझ में आता है, सुसंस्कृत हो, यह समझ में आता है। वह बूढ़े आदमी की प्रतिक्रिया है जवान के खिलाफ। और चूंकि बूढ़े आदमी ने सब शास्त्र बनाए हैं, सब धर्म बनाए, सब संस्कृति बनाईं, इसलिए सब संस्कृति, सब धर्म सेक्स विरोधी हैं। जवान आदमी ने कोई संस्कृति नहीं बनाई, कोई धर्म नहीं बनाया। बच्चे तो बना कैसे सकते हैं? इसलिए सारी तकलीफ है। बूढ़ा जो है, जो वह नहीं कर सकता वह किसी को भी नहीं करने देने के पक्ष में है। न वह नाच सकता है, न वह गा सकता है।

शंकराचार्य तो जवान थे न?

उम्र से जवानी का सवाल नहीं है बड़ा। शंकराचार्य बिल्कुल बूढ़े आदमी हैं। उम्र से सवाल नहीं है। लाओत्सु के बाबत कहानी है कि लाओत्सु बूढ़ा ही पैदा हुआ। जब लाओत्सु से किसी ने पूछा कि हमने सुना है कि लोग कहते हैं कि तुम बूढ़े ही पैदा हुए हो, तो उसने कहा कि मैं बूढ़ा ही पैदा हुआ क्योंकि जब मैं पैदा हुआ तब भी मैं न हंस सकता था, न रो सकता था। मैं बूढ़ा ही पैदा हुआ हूं। बोल तो मैं सकता ही नहीं। तो मैं बूढ़ा ही पैदा हुआ हूं। बूढ़े से कोई संबंध उम्र का नहीं है। शंकराचार्य जैसे व्यक्ति जो हैं, ये हिंदुस्तान के सारे अतीत के बुढ़ापे के प्रतिनिधि हैं। और बुढ़ापे का जवान प्रतिनिधि बहुत खतरनाक होता है क्योंकि उसके पास ताकत होती है और वह बुढ़ापे को ताकत

देती है। बुढ़ापे का जवान प्रतिनिधि बहुत खतरनाक होता है। बुढ़ापे का तो वह होता है रिप्रेजेंटेटिव, और होता है जवान। तो जितनी उसकी ताकत होती है वह लगा देता है बुढ़ापे के समर्थन में।
जितना हम गहरे, गहरे, गहरे देखें उतना ऐसा लगता है कि हम दुखी हैं कि
हम क्यों पैदा हुए और मर जाना बड़ा सुख है, इसलिए आवागमन से मुक्ति चाहिए, मोक्ष चाहिए। भगवान के प्रति हमारी एक ही शिकायत है सारी पुरानी संस्कृति की कि तुमने पैदा क्यों किया? कामू ने एक किताब में एक छोटा सा वाक्य शुरू किया है और वह यह है कि एक ही मैटाफिजिकल समस्या है और वह सुसाइड है। एक ही दार्शनिक समस्या है, वह आत्महत्या है कि हम आत्महत्या क्यों न कर लें! लेकिन कभी भी स्वस्थ चित्त आत्महत्या नहीं करना चाहता, जीना चाहता है और जीने की अनंत कामना से भरा है। रुग्ण अस्वस्थ होकर मरना चाहता है। फिर मरने के लिए हम ग्रेजुअल रास्ते भी खोज सकते हैं जैसा संन्यासी खोजता है। सडन रास्ते भी खोज सकते हैं जैसा कि कोई कुएं में गिरता है और समुद्र में मरता है। कोई आदमी धीरे-धीरे मरता है। कम हिम्मत वाला एक, एक, एक हिस्से में मरता जाता है।
मृत्यु की पूजा है और जीवन का अनादर है। तो जिस दिन हम जीवन की पूजा करेंगे और मृत्यु को अनादर करेंगे उस दिन तो कुछ हो सकता है। उसके पहले नहीं हो सकता है। न हिंदू का सवाल है, न मुसलमान का सवाल है। ये सब सवाल से बचने की तरकीबें हैं, असली सवाल से बचने की तरकीबें हैं।

(प्रश्न का ध्वनि-मुद्रण स्पष्ट नहीं।)

मैं यह नहीं कह रहा हूं कि मां प्यार न दे। मैं यह कह रहा हूं कि आपकी व्यवस्था में मां भी प्यार नहीं दे पाती और बेटे को भी प्यार नहीं मिल पाता है। अगर उसे प्यार ही दिलाना है तो भी मां से बेटे को दूरी पर रखना जरूरी है। यह भी मेरा खयाल है कि प्रेम के लिए दूरी बड़ी सहयोगी है और निकटता बहुत खतरनाक है।

(प्रश्न का ध्वनि-मुद्रण स्पष्ट नहीं।)

तो रवींद्रनाथ कोई बुरे आदमी नहीं हो गए। मेरी बात नहीं समझ रहे हो तुम। और मां ने पाला होता तो तुम पक्का खयाल मत लो कि रवींद्रनाथ पैदा भी होते। यह भी कोई पक्का नहीं था। यह मैं नहीं कह रहा हूं--मैं यह कह रहा हूं कि मां के प्रेम के साथ अनिवार्य रूप से घृणा संयुक्त हो जाती है। इस घृणा को काटने की जरूरत है। और इस घृणा को हम तभी काट सकते हैं जब बेटा दूर हो और मां को चौबीस घंटे प्रेम न देना पड़े, कभी प्रेम देना पड़े। असल में जिनको भी हमें चौबीस घंटे प्रेम देना पड़े उन पर हमें क्रोध आना शुरू हो जाता है, क्योंकि प्रेम कोई काम नहीं होता। न तुम पत्नी को दे सकते हो चौबीस घंटे प्रेम, न पत्नी तुम्हें दे सकती है, इसलिए क्रोध आना शुरू हो जाता है। प्रेम बड़ा फूल है जो क्षण-दो क्षण को चौबीस घंटे में खिलता है। कोई ऐसा नहीं है, चौबीस घंटे आप प्रेम कर रहे हैं। और यह इतना कठिन मामला है कि जिसको हम प्रेम करते हैं उसकी अपेक्षा हो जाती है कि चौबीस घंटे प्रेम चाहिए। वह यह मान ही नहीं सकता कि जब आपने कल प्रेम किया था तो अभी क्यों नहीं कर रहे हैं। प्रेम पीक है, उस पर हम कभी-कभी पहुंचते हैं। सदा नहीं होते हैं। कभी होते हैं, कभी नहीं होते। जब होते हैं तभी ठीक है। जब नहीं होते हैं तब फासला ठीक है। जब उस पीक पर होते हैं तो निकटता ठीक है। इसलिए जब आप के मन में पीक आए, जब मां को लगे कि प्रेम से भरी है तो जाए बेटे के पास, मिल आए। जब बेटे को लगे कि वह प्रेम की पुकार से भरा है, मिल आए मां को, लेकिन चौबीस घंटे नहीं। पति-पत्नी के बीच भी बड़े फासले चाहिए, नहीं तो हम कभी अच्छी दुनिया नहीं बना सकते। जैसी दुनिया है वह रहेगी।

आपने कहा, जब सेटिस्फेक्शन होता है तब आदमी में सेक्स ज्यादा होता है। फिर आपने दूसरी ओर बताया कि जब पच्चीस साल तक ब्रह्मचर्य रखते हैं और

उधर कम खाना देते हैं तो नेचरली सेटिस्फेक्शन कम हुआ। तो उनका डिजायर ज्यादा बच जाना चाहिए, वह कम क्यों होता है?

नहीं-नहीं, डिजायर कम नहीं होता है, डिजायर तो ज्यादा ही बढ़ जाएगा। लेकिन आदमी के व्यक्तित्व में बहुत चीजें हैं। इच्छा ज्यादा हो लेकिन शक्ति ज्यादा न हो तो तुम सिर्फ आंतरिक पीड़ा में रहोगे। इच्छा ज्यादा हो और शक्ति भी ज्यादा हो तभी तुम उसे पूरा करने निकलोगे। शक्ति ज्यादा हो और इच्छा दबाई जाए, तब आक्रामक हो जाएगी। तो अगर भोजन कम दिया जाए, नींद कम लेने दी जाए और सब तरह की ऐसी व्यवस्था की जाए कि तुम्हारे भीतर काम की ऊर्जा पैदा न हो पाए तो असल में तुम्हें तुम्हारी इम्मैच्योरिटी को प्रोलांग किया जा रहा है। अभी इस पर भी वैज्ञानिक विचार करता है, खास कर रूस में। क्योंकि यह बड़ा सवाल है कि क्या हम केमिकली लड़कों को या लड़कियों को पच्चीस साल तक मैच्योरिटी रोक सकते हैं उनकी। अगर रोक सकते हैं तो उपद्रव कम होता है। केमिकली, वह भी केमिकल है, वह ढंग भी। खाना कम दो, तो वह भी केमिकल मामला है। नींद कम दो, तो वह भी केमिकल मामला है। आक्सीजन ज्यादा दो, तो वह भी केमिकल मामला है।
अब प्राणायाम करवाया जाए एक व्यक्ति को, वह केमिकल मामला है। क्योंकि आक्सीजन ज्यादा हो जाएगी और कार्बन कम हो जाएगी। तो कार्बन कम होने से जो- जो परिणाम होने हैं वे उसके भीतर हो जाएंगे। भोजन कम दिया जाए तो केमिकल मामला है। उपवास बिल्कुल केमिकल मामला है। उसमें जो फर्क होंगे वे सब फर्क केमिकल हैं। लेकिन अब वैज्ञानिक सोचते हैं कि जब इस तरह से प्रोलांग किया जा सकता है, मैच्योरिटी रोकी जा सकती है, क्रिपल की जाती है तो फिर हम केमिकल इंतजाम कर लें कि हर युनिवर्सिटी के लड़के लड़की को हम पच्चीस साल तक मैच्योर न होने दें। उसके दूसरे इंप्लिकेशन खतरनाक हैं, क्योंकि सेक्स मैच्योरिटी के साथ ही क्रिएटिविटी भी आती है। कांप्लिकेटेड है न जिंदगी। असल में जो क्रिएटिविटी का एक्सप्लोजन होता है, वह सेक्स मैच्योरिटी के साथ ही होता है। असल में सब क्रिएटिविटी गहरे में सेक्सुअलिटी है--सब क्रिएटिविटी। सब सृजनात्मकता, चाहे वह पेंटिंग में हो और चाहे काव्य में हो, चाहे धर्म में हो, चाहे मूर्ति बने, वह बहुत गहरे में सेक्स है जिसने बच्चे पैदा करने के क्रम को डायवर्ट किया है। वह बच्चा पैदा नहीं कर रहा। इसलिए आप ध्यान रखें, स्त्रियां कुछ क्रिएट नहीं कर पाईं दुनिया में।
न उन्होंने मूर्ति बनाई, न कविता बनाई, न धर्म को जन्म दिया क्योंकि उनकी सारी क्रिएटिविटी बच्चे पैदा करने में पूरी हो जाती है। स्त्री इसीलिए कुछ क्रिएट नहीं कर पाई। वह नहीं कर पाई, इसलिए कि वह बच्चे पैदा करने में उसकी क्रिएटिविटी चुक जाती है। अच्छा, पुरुष का मामला ऐसा है कि उसके लिए बच्चा पैदा करना क्षण की बात है। स्त्री के लिए वर्ष, दो वर्ष, दस वर्ष की बात है। एक बच्चा स्त्री पैदा कर लेती है, पांच साल के लिए वह चुक जाती है। पांच साल वह उसी को बड़ा करने में लग जाती है। इसलिए स्त्री को और तरह का क्रिएटिविटी की मार्ग नहीं बचता।
पुरुष के लिए बच्चा पैदा करना कोई हिस्सा नहीं है बड़ा। वह बिल्कुल बाहर है बच्चे पैदा करने के लिए, बहुत ही नॉन-एसेंशियल हिस्सा है। और इसलिए उसने सारी चीजें क्रिएट की हैं--विज्ञान खोजा, कला खोजी, साहित्य खोजा। असल में अभी इधर इस पर बहुत काम चलता है कि वे कहते हैं कि वह स्त्री से कंपीट कर रहा है, यह सब चीजें खोज कर। वह यह कह रहा है कि तू ही क्रिएटर नहीं है, क्रिएटर मैं भी हूं। तो उसने सारा का सारा इतना बड़ा जाल--क्योंकि स्त्री एक मामले में उससे बहुत बड़ी है, वह यह कि वह मां बन सकती है, वह क्रिएट कर सकती है बच्चे को। पुरुष वहां इम्पोटेंट है उस मामले में। अचानक उसे पता चलता है कि इस मामले में वह स्त्री से बिल्कुल पिछड़ गया है। वह एक जिंदा बच्चे को जन्म दे पाती है। यह वह नहीं कर पाता है। इसका बदला वह ले रहा है और इसका सब्स्टीट्यूट खोज रहा है। तो सारी साइंस, सारा लिटरेचर, सारा साहित्य, सारा धर्म, सारा योग वह एक बात के लिए तय कर रहा है कि मैं भी क्रिएटर हूं, तू ही क्रिएटर नहीं है। हां, इनफिरिआरिटी

कांप्लेक्स है पुरुष में। स्त्री से वह कई मामलों में इनफीरिअर है भी। तो वह कांप्लेक्स उसको दिक्कत देता है।

आज पूरी बात में कहानी नहीं आई?

कहानी मैं लाता थोड़े ही हूं, आ जाए तो आ जाए। यह मामला ही ऐसा था कि यह पूरी ही बात कहानी थी इसलिए कोई अलग से कहानी की जरूरत न थी।

वैसे आज जो भी बात यहां हुई है, बड़ी अच्छी हुई है लेकिन जनरली बुढ़ापे
की लाइफ में उतने लोग इंट्रेस्टेड हैं जो कि हम जवानी में इंट्रेस्टेड हैं। बुढ़ापा ज्यादा डिसकस हो रहा है जवानी से... !

जो भी आदमी जवानी में उत्सुक है उसे बुढ़ापे को बहुत ठीक से समझ लेना चाहिए, नहीं तो पता भी नहीं चलता कि कब वह जवान नहीं रह गया--पता भी नहीं चलता है!

... और जवानी पर फिल्म बनाई जाए!

बहुत कारगर हो सकती है। अगर लाइफ अफरमेटिव भाव को लेकर बनाएं तो बहुत अदभुत--जिसमें जीवन के सब रंगों को स्वीकार कर ले, जीवन को उसके सब रूपों में स्वीकार कर ले। निंदा का भाव ही न हो। जहां निंदा नहीं होगी वहां नीति से हट जाना पड़ेगा क्योंकि नीति निंदा का सूत्र है। जहां निंदा हो ही नहीं। जीवन जैसा है, वैसा स्वीकार है।
एपीकुरस ने जो गार्डन बनाया था यूनान में उसका जो बगीचा था, वह ऐसे ही थोड़े से लोगों की कॉलोनी थी जो जीवन को उसके सब रूपों में स्वीकार है। यूनान का सम्राट उससे मिलने गया है एपीकुरस से कि वहां कर क्या रहे हैं वे लोग! तो वे दिन भर बड़ी मेहनत में सारे लोग लगे थे। कोई लकड़ी चीर रहा था, कोई गड्ढे खोद रहा था। उसने कहाः मैंने तो सुना था, यहां भोगी रहते हैं। यह तुम क्या कर रहे हो! तो एपीकुरस ने कहा कि श्रम भी बड़ा भोग है। हम श्रम भोग रहे हैं अब। जब कोई लकड़ी चीरता है और कुदाली उठाता है और उसके माथे पर पसीना बहता है तो उसका अपना रस और आनंद है। उस क्षण में भी हम जीवन की गहराइयों से संबंधित हैं। फिर वह सांझ तक रुका। सांझ को जब रोटियां बनीं और सब लोग रोटियां खाने लगे और नाच के खाने लगे, और रूखी रोटियां थीं, जिन पर मक्खन भी नहीं था। तो उसने कहाः मैंने तो सुना था कि तुम सब भोगी हो, मक्खन भी नहीं है। तो एपीकुरस ने कहा कि जिन्होंने दिन में श्रम भोगा है वे कैसी भी रोटी पर, बिना मक्खन की रोटी पर भी मक्खन को भोग पाते हैं क्योंकि भूख लगी है।
जब सम्राट विदा होने लगा तो उसने कहा कि मैं कुछ भेंट करना चाहूंगा।
तो एपीकुरस ने कहा कि किसी दिन थोड़ा मक्खन भेज देना। सम्राट ने कहाः नहीं, कुछ और मांग लो। उसने कहाः नहीं, और तो सब है--रोटी है, श्रम है, भूख है। मक्खन की आपने याद दिला दी, वैसे हमें याद न थी। आपने मक्खन की बात याद दिला दी तो मक्खन भेज दीजिए। तो सम्राट खुद मक्खन लेकर गया और जब मक्खन बांटा गया, तो पहले तो सब नाचे। परमात्मा को धन्यवाद देने लगे कि मक्खन भेज दिया। तो वह हैरान हो गया कि इतनी सी साधारण सी चीज के लिए तुम इस तरह नाचते हो। तो एपीकुरस ने कहा कि जो साधारण के लिए नहीं नाच सकता है, वह असाधारण के लिए कभी भी नहीं नाच सकता है। जब नाचना ही है तो साधारण के लिए ही नाचना होता है। क्योंकि असाधारण है कहां? घटता कब है? सब साधारण घटता है, जब घटता है।
बिदा होते वक्त एपीकुरस ने उसको कहा, सम्राट को कि साधारण के लिए नाच सको आप तो वह असाधारण हो जाता है। और असाधारण के लिए भी बैठे देखते रह जाओ तो वह भी साधारण हो जाता है। आखिर साधारण असाधारण का फर्क क्या है? तो कभी इस तरह के कुछ एपीकुरस की पूरी जिंदगी पर फिल्म बने और इतनी अदभुत जिसका कोई हिसाब नहीं! लेकिन चूंकि एपीकुरस की कोई फिकर करने वाला नहीं--जीसस पर

फिल्म बन जाती है, राम पर बन जाती है, कृष्ण पर बन जाती है। एपीकुरस को कौन जाने? एपीकुरस की पूरी जिंदगी ऐसी है जैसे कि अनूठी है क्योंकि वैसा दूसरा आदमी नहीं हुआ।
हिंदुस्तान में चार्वाक हुए, लेकिन हमने उनका कुछ बचने नहीं दिया तो कुछ पता ही नहीं चलता कि क्या उनकी जिंदगी थी। वे अदभुत लोग रहे होंगे। कभी-कभी कुछ लोगों ने अश्रेष्ठ किया लेकिन वह भी जीवन की धारा नहीं बन पाई। अब कितना ही हिम्मत का आदमी हो चार्वाक, उन्होंने कहा कि अगर ऋण लेकर भी घी पीना पड़े, तो पीओ, क्योंकि ऋण तो चुक सकता है, पीना चूक जाएगा और ऋण न भी चुका तो क्या फर्क पड़ता है? बड़े हिम्मत के लोग रहे होंगे। साधारण हिम्मत के लोग नहीं रहे होंगे। हमने तो कंडेमनेटरी मान लिया फौरन कि अरे! हद्द हो गई, ऋण लेकर! लेकिन जिसने कहा है उसका भाव, उसकी पूरी दृष्टि का, बहुत अदभुत है। एपीकुरस की जिंदगी की पूरी कहानी बहुत अर्थ की है। इस वक्त बहुत संभावना बढ़ गई है कि हम उस तरह की कहानी को सोचें, तो बहुत अदभुत है। उसमें सारा संगीत और ढंग का हो सकता है जो जीवन को जगाता हो, सुलाता न हो। और बिल्कुल ही इम्मॉरल होनी चाहिए। उसमें कोई नीति भर, जरा प्रवेश न करे क्योंकि जहां नीति प्रवेश हुई कि उसके पीछे फिर बूढ़ा आया।

आपने जो बातें बताईं वे सब ठीक हैं। मगर वह नहीं बताते कि यह कैसे पता
हो कि यह बात रोंग है, यह रोंग है? मगर वह नहीं बताते कि क्या फर्क है?

नहीं, मैं तो दोनों ही कह रहा हूं एक साथ। असल में किसी चीज को गलत कहा
ही नहीं जा सकता, जब तक हम यह न कह गए हों, कह ही जाते हैं कि ठीक क्या है। किसी चीज को गलत कहना ठीक को अनिवार्य रूप से कहना है। वह दो चीजें नहीं हैं। कोई उपाय नहीं है। लेकिन चूंकि लड़ना है पुराने से--जैसा आप कह रहे हैं न बार-बार, वह वही बात कह रहे हैं। वे यह कह रहे हैं कि हम सब जवान हैं और आप बुढ़ापे की बात कह रहे हैं। आप ज्यादा उसकी चर्चा कर रहे हैं। लेकिन अगर गौर से मेरी बात को सुनो तो बुढ़ापे की चर्चा कर ही इसलिए रहा हूं कि वह जवान कैसे प्रकट हो सके। वह अंतर्गर्भित है, वह इंप्लाइड है, पूरे वक्त वही है। वह कठिनाई उन्हें होती है। कठिनाई किसी को भी होती है।

आपके हिसाब से पूर्ण अहिंसा क्या है?

मेरे हिसाब से तो जगत में जीते जी हिंसा ही है। तो हिंसा करने का भाव
भर न हो यह संभव है, हिंसा तो रहेगी। हिंसा करने का भाव अगर न हो, मेरा मतलब समझ रहे ना! हिंसा करने का रस भर न हो, हिंसा करने में मजा न आ रहा हो--हिंसा तो रहेगी। श्वास लूंगा तो हिंसा होती है, पैर रखूंगा तो हिंसा होती है। जीना ही हिंसा है। इसलिए पूर्ण अहिंसा तो सिर्फ मृत्यु हो सकती है। गांधी जी के लिए जो मैं कहता हूं, वह यह कहता हूं कि जिसे वे अहिंसा कह रहे हैं उसके पीछे पूरे हिंसक भाव हैं। यानी मैं यह कह रहा हूं कि हिंसा तो जीवन में है, होगी, हिंसा का भाव पीछे नहीं होना चाहिए। और गांधी जी जिसको अहिंसा कह रहे हैं उसके पीछे हिंसा का पूरा भाव है।
अहिंसा का भाव क्या है? जैसे--गांधी जी को लगता है कि यह बात ठीक है तो तुम्हारे द्वार पर अनशन करके बैठ गए हैं कि मैं मर जाऊंगा, अगर तुम मेरी बात ठीक नहीं मानते हो, सत्याग्रह कर रहे हैं। लेकिन मैं तुम्हें धमकी दूं कि मैं तुम्हें छुरी मार दूंगा अगर मेरी बात नहीं मानोगे तो यह हिंसा हो जाएगी, और मैं अपनी छाती पर छुरी लेकर बैठ जाऊं कि मैं अपने को छुरी मार लूंगा अगर मेरी बात नहीं मानी तो--यह अहिंसा कैसे हो जाएगी? यह हिंसा ही है। बहुत सूक्ष्म है और ज्यादा चालाक है। क्योंकि तुम्हारे गले पर छुरा रखूं तो पुलिस वाला भी आएगा और तुम्हें एक डिफेंस का मौका भी देता हूं, लेकिन अपने ही गले पर छुरा रख लेता हूं तो मैं तुम्हें मॉरली क्रिपल्ड भी कर देता हूं।
अंबेदकर के खिलाफ गांधी जी ने अनशन किया। अंबेदकर राजी हो गया। लेकिन अंबेदकर ने पीछे कहा कि मेरा कोई हृदय परिवर्तन नहीं हुआ है। और न मुझे

ऐसा लगता है कि गांधी जी जो कह रहे थे वह सही था। सिर्फ गांधीजी मर न जाएं मेरे कारण, इसलिए मैं हट गया हूं। इस मामले में मुझे अंबेदकर ज्यादा अहिंसक और गांधी ज्यादा हिंसक मालूम होते हैं। चूंकि अंबेदकर का यह हट जाना कि गांधी मर न जाए, यह अहिंसक भाव है। तो पीछे से गांधी जी का चित्त जो है बहुत वायलेंट है। गांधी जी का चित्त बहुत वायलेंट चित्त है। लेकिन उस वायलेंट चित्त को उन्होंने बड़ी अहिंसा का रूप दिया हुआ है।
इसलिए बहुत मुश्किल है पहचानना। और हिंसा दो तरह की होती है। एक तो मैसोचिस्ट हिंसा होती है जो दूसरे को सताने में रस लेती है और एक सैडिस्ट हिंसा होती है, अपने को सताने में अगर कोई रस लेने लगे। मैसोचिस्ट हो, तब तो हमें अहिंसा मालूम होने लगती है और दूसरे को सताने में रस ले, सैडिस्ट हो, तो हमें लगता है कि यह हिंसा है। लेकिन हिंसा के दो रूप हैं। असल में किसी को सताने में रस आता है वह किसी, जरूरी नहीं है कि वह दूसरा हो सकता है, वह खुद भी हो सकते हो। यह कोई जरूरी नहीं है कि मैं आपके ही बाल उखाडूं तो मुझे मजा आए, मैं अपने भी बाल उखाड़ सकता हूं। जरूरी नहीं कि आपको भूखा मारूं, मैं अपने को भी भूखा मार सकता हूं। इस वजह से मैंने कहाः मेरे कहने का तो कारण यह है। मेरा मानना है कि गांधी जी का चित्त बहुत हिंसक है। अहिंसा उनकी प्रक्रिया है अपनी हिंसा को प्रकट करने की।
होना इससे उलटा चाहिए। हिंसा तो जीवन में थोड़ी बहुत होगी ही, वह जीवन
का हिस्सा है, लेकिन चित्त अहिंसक होना चाहिए। गांधी जी में उलटा है-- चित्त हिंसक है, अहिंसक होने की व्यवस्था है। इसलिए जिनको हम महात्मा कहते हैं इनके पास रहो तो तुम्हें समझ में पता चलेगा कि कितने हिंसक लोग हैं। महात्मा के पास रहो तो ही पता चलता है कि इनकी हिंसा कितनी अदभुत है। नहीं, ये किसी को छुरा नहीं मारते, लेकिन ये बड़े गहरे में घाव करते हैं। असल में किसी दूसरे व्यक्ति को किसी आदर्श और सांचे में ढालने का आग्रह भी हिंसा है। क्योंकि मैं कहता हूं कि आप जैसे हो वैसे मुझे स्वीकार नहीं। यह कान आपका थोड़ा छोटा होना चाहिए और हाथ आपका थोड़ा लंबा होना चाहिए और आपको बीड़ी नहीं पीनी चाहिए और सिगरेट नहीं पीनी चाहिए, चाय नहीं पीनी चाहिए और यह नहीं करना चाहिए वह नहीं करना चाहिए और तीन बजे उठना चाहिए। यह सब मैं आपको काट रहा हूं। मैं यह कह रहा हूं कि मैं आपको तब स्वीकार करूंगा कि मैंने जो ब्लू-प्रिंट बनाए, आप वैसे होने चाहिए।
इसको मैं घृणा और हिंसा कहता हूं। असल में प्रेम और अहिंसा का एक ही मतलब है कि आप जैसे हो वैसे मुझे स्वीकार है। आपकी बीड़ी के साथ, आपकी सिगरेट के साथ, आपकी शराब के साथ, आप जैसे हो मुझे स्वीकार है। तो, तो चित्त अहिंसक है, नहीं तो चित्त अहिंसक नहीं है।
अभी मैं एक दिन इधर से गया तो बंबई से एक मित्र मेरे साथ चले--कोई महीना-डेढ़ महीना हुआ--यहां से गया तो मेरे कंपार्टमेंट में एक मित्र थे। वह पहले थे, मैं थोड़ी देर बाद पहुंचा। उन्होंने एकदम से मुझे नमस्कार किया कि आइए, महात्मा जी! लेकिन मैंने उनसे कहा कि आप नमस्कार तो कर रहे हैं, लेकिन आइए, आपका, आपके चेहरे को देख कर मुझे ऐसा लगता है कि जाइए! मैंने कहा कि लेकिन मेरे आने से आप खुश नहीं मालूम होते हैं। मैं दूसरे कंपार्टमेंट में चला जाता हूं। उन्होंने कहाः नहीं-नहीं, आप ऐसी कैसी बात कर रहे हैं, सत्संग रहेगा। मैंने कहाः आप अभी भी सच कह दें। उन्होंने कहा, क्या आप भीतर का खयाल कुछ पढ़ लेते हैं? मैंने कहाः नहीं, कोई भीतर का खयाल नहीं पढ़ लेता। बाहर ही आदमी इतना प्रकट होता है, हम तो उसकी तरफ देखते नहीं, इसलिए पता नहीं चलता। देखता ही कौन किसकी तरफ है! तो मैंने कहाः आपको मुझे लगता है ऐसा कि मेरे आने से खुश नहीं हुए। मैंने कहाः आप मुझे ठीक कह दें, नहीं तो अभी कुछ बिगड़ा नहीं है।
तो उन्होंने कहाः जब आपने सच में ही बात और आपने मुझे पकड़ ही लिया, तो
सच में आप आए तो मुझे अच्छा नहीं लगा। क्योंकि मैं शराब वगैरह पीता हूं, सोडा बुला कर रखा है और वेटर शराब ला रहा है। और अंडे बुलाए हुए हैं। मैंने कहाः यह महात्मा के साथ बड़ी मुश्किल हो गई। अगर लूं तो मुश्किल है और न लूं तो मुश्किल है। तो मैंने कहाः मेरे लिए तो शराब और अंडे का आपने आर्डर नहीं किया? उन्होंने कहाः नहीं-नहीं, मैं आपके लिए नहीं--तो मैंने कहाः आप

अपने लिए ही कर रहे हैं तो इसमें मैं कहां आता हूं? मेरा इससे वास्ता क्या है? आप मजे से लें। उन्होंने कहाः यह आप कह रहे हैं, शराब के लिए आपका कोई विरोध नहीं है? मैंने कहाः मैं पीऊं या न पीऊं यह मेरी मौज है। आप पीएं या न पीएं यह आपकी मौज है। मैं आपके लिए विरोध करने वाला कौन हूं? और किसने मुझे ठेका दिया है कि मैं आपके लिए विरोध करूं?
बंबई के ही मित्र हैं, यहां के बड़े इंडस्ट्रियलिस्ट हैं। खंडवा उतरे
तो वह मेरा पैर छुए। मैंने कहाः यह क्या कर रहे हैं? उन्होंने कहाः मैंने जिंदगी में किसी के पैर नहीं छुए हैं, क्योंकि महात्मा मुझे कभी अच्छे आदमी मालूम ही नहीं हुए। आप पहले आदमी हैं जो महात्मा जैसे दिखाई पड़ रहे हैं और फिर भी भले आदमी हैं।
महात्मा भला आदमी हो ही नहीं सकता है, क्योंकि महात्मा होता ही वह है
जो गर्दन दबा कर बड़ा होता है, नहीं तो बड़ा हो नहीं सकता। और गर्दन दबाने के ढंग अलग-अलग हैं--हिटलर के अपने हैं, गांधी के अपने हैं। मेरे लिए बहुत फर्क नहीं है। हिटलर भी ऐसे बड़ा महात्मा था। शराब न पीए, सिगरेट न पीए, रात दस बजे सो जाए, बड़ा पक्का महात्मा था। और मैं मानता हूं, अगर हिटलर सिगरेट पीता, शराब पीता, दो-चार स्त्रियों से प्रेम कर लेता तो दुनिया दूसरे महायुद्ध से बच सकती थी। इसलिए यह हिसाब में बहुत मंहगा है मामला। अगर हिटलर शराब पी सकता, एक-दो स्त्रियों को प्रेम कर सकता तो दूसरा महायुद्ध भी बच सकता था। क्योंकि तब यह आदमी इतना ज्यादा, इतना दुष्ट नहीं हो सकता था जितना हुआ।

शिक्षा में क्रांति
उन्तीसवां प्रवचन

नई दिशा, नया बोध

(प्रश्न का ध्वनि-मुद्रण स्पष्ट नहीं।)

लक्ष्मी ने जो पूछा है, वह सवाल तो छोटा मालूम पड़ता है लेकिन उससे बड़ा कोई और दूसरा सवाल नहीं है। नई पीढ़ी को कैसे शिक्षित करना, यह बड़े से बड़ा सवाल है। और मनुष्यता का सारा भविष्य इस पर निर्भर है। इसकी दो-तीन गहरी बातों को खयाल में लेना चाहिए।
एक तो अब तक बच्चे का पूरी दुनिया में कहीं भी कोई आदर नहीं है। बच्चे
से आदर हम मांगते थे, बच्चे को आदर देते नहीं थे। प्रेम देते थे, आदर नहीं देते थे। इसके बहुत ही भयानक परिणाम हुए। इसका सबसे बुरा जो परिणाम हुआ, वह यह हुआ कि जब तक बच्चे को आदर न दिया जाए तब तक हम किसी न किसी गहरे रूप में यह प्रकट करते हैं कि वह हमसे हीन है। हम उसमें हीनता का भाव पैदा करते हैं। यह हीनता का भाव बहुत तरह की विकृतियां पैदा करेगा, करता है और बच्चे बड़े होकर इसी हीनता का बदला जब लेना शुरू करते हैं तभी हमें पता चलता है कि यह क्या हो गया। लेकिन तब भी हम बीमारी को नहीं समझ पाते, क्योंकि बीमारी के बीज बचपन में बोए गए थे और उनका जवाब और उनके फूल और फल बहुत देर बाद आने शुरू होते हैं।
बच्चों के प्रति किया गया अनादर और अपमान अंततः बूढ़े के प्रति किए गए अपमान और अनादर का कारण बनता है। लेकिन पुरानी सारी शिक्षा और सारी संस्कृति बच्चे के सम्मान पर नहीं खड़ी थी। तो बच्चे को कोई सम्मान जैसी बात न थी। हम बच्चे से सम्मान मांगते थे। और मजे की बात यह है कि सम्मान केवल वही दे सकता है जिसको सम्मान दिया गया हो। सम्मान प्रतिध्वनि है। इसलिए बाप आदर योग्य था, मां आदर योग्य थी, शिक्षक आदर योग्य था, और ये तीनों मिल कर जिससे आदर मांग रहे थे, वह बिल्कुल आदर योग्य नहीं था। इससे हमने प्रत्येक बच्चे के मन में निरंतर सदियों से इनफिरिआरिटी और हीनता की ग्रंथियां हमने पैदा की। वह हीनता की ग्रंथि कितना दुष्परिणाम लाती है उस पर थोड़ा सा खयाल कर लेना जरूरी है।
असल में जो व्यक्ति एक दफे हीनता के भाव से भर जाता है वह... या तो उसके पास दो ही उपाय रह जाते हैं, या तो वह जीवन में दूसरों को हीन सिद्ध करने की कोशिश में लग जाएगा जो कि रुग्ण है, जैसे राजनीतिज्ञ है। ये हीनता की ग्रंथि से पीड़ित हैं। यह बड़े पदों पर चढ़ कर, बड़ी कुर्सियों पर बैठ कर दूसरों को छोटा करने की कोशिश में लगे हैं। ऐसा फिर जीवन में वह बच्चा बहुत तरह के रास्ते खोजेगा जिनसे दूसरों को कैसे हीन कर सके, छोटा कर सके। और या फिर वह अगर ऐसी स्थितियों में पला हो कि उसे कोई उपाय ही न रह जाए, दूसरे को हीन सिद्ध करने का तो वह अपनी हीनता को आत्मसात कर लेगा, स्वीकार कर लेगा कि मैं हीन हूं।
और कोई व्यक्ति यह मान ले कि मैं हीन हूं तो उसके भीतर जो-जो संभावनाएं थीं, जो प्रकट हो सकती थीं, वे अब कभी प्रकट न हो सकेंगी। उसके भीतर जो-जो बीज थे, फूल बन सकते थे, अब वे कभी फूल न बन सकेंगे। तो या तो वह सुपीरियर होने की कोशिश में लग जाएगा, श्रेष्ठ होने की। और श्रेष्ठ होने की कोशिश में अनेक लोगों को हीन करेगा। और या फिर वह खुद हीन होकर बैठ जाएगा जो कि सुसाइडल है। तो या तो वह दूसरों की हत्या करने का कारण बनेगा या अपनी हत्या करने का कारण बन जाएगा।
तो भविष्य में बच्चों की शिक्षा के संबंध में जो पहली बात मैं कहना चाहूं, वह यह कि हमें अब तक की सारी व्यवस्था का जो मूल आधार था, बच्चे से आदर मांगना और बच्चे को आदर देना--कभी नहीं! उसे आमूल मिटा देना पड़ेगा। बच्चे को आदर देना पड़ेगा। लेकिन हमारे गहरे मन में कहीं यह बात समझ में नहीं आती कि बच्चे को और आदर! असल में हम सब भी हीनता की ग्रंथि से पीड़ित हैं क्योंकि हमारे मां-बाप ने भी हमारे साथ वही किया है। तो छोटे को आदर कैसे दे सकते हैं। लेकिन बड़े आश्चर्य की बात है कि जिसे हम आदर दे नहीं

सकते, उससे आदर मांग कैसे सकते हैं! बच्चे को आदर देते ही हमारा चुकता खयाल बदलेगा।
पुराना स्कूल था, उसमें शिक्षक केंद्र पर था, बच्चा नहीं। नया स्कूल,
नई शिक्षा में बच्चा केंद्र पर होगा, शिक्षक नहीं। पुराने परिवार में मां केंद्र पर थी, बच्चा नहीं; बाप केंद्र पर था, बच्चा नहीं। नये परिवार में बच्चा केंद्र पर होगा, मां-बाप परिधि पर होंगे। जीवन की सहज स्वाभाविकता भी यही है कि आने वाला सूरज केंद्र पर हो, जाने वाला सूरज परिधि पर हो। आदमी ने जो व्यवस्था बनाई है उसमें जाने वाला सूरज केंद्र पर है और आने वाला सूरज परिधि पर है। जो उग रहा है वह महत्वपूर्ण है, जो विदा हो रहा है, फेड आउट हो रहा है, जा रहा है, उसे हमने महत्वपूर्ण बना रखा है। इसका सबसे बड़ा खतरा तो यह हुआ कि जो विदा हो रहा है, वह इस बच्चे को जिस तरह की भी शिक्षा देगा वह खतरनाक है। वह खतरनाक इसलिए है कि वह जीवन से विदा होता आदमी है। उसके ऊपर मृत्यु की छाया पड़ने लगी है। और अभी यह जीवन की जो कोंपल उग रही है, यह मृत्यु की छाया जिस पर पड़ने लगी है वह इसे शिक्षित करेगा, दीक्षित करेगा और स्वयं महत्वपूर्ण होगा। तो बहुत संभावना यह है कि वह इस उगते हुए अंकुर को जगह-जगह से काट डाले।
अब तक आदमी ने यही किया है इसलिए अच्छा आदमी पैदा नहीं हो सका। और यह विसियस सर्किल है कि क्योंकि जो हमारे मां-बाप ने हमारे साथ किया है वह ब्लूप्रिंट बन जाता है। हम अपने बच्चों के साथ वही करते हैं। बच्चे अपने बच्चों के साथ वही करते हैं। तो यह सिलसिला लंबा होता है। इसका कोई अंत नहीं मालूम होता। अगर ठीक से समझें तो आदमी विकास नहीं कर पाता, सिर्फ पुनरुक्त करता है। हर पीढ़ी दोहरा जाती है वही जो पिछली पीढ़ी ने उसके साथ किया था।
बच्चों की शिक्षा के संबंध में मौलिक आधार बदलने पड़ेंगे। असल में उगता सूरज नमस्कार के योग्य है। बच्चा परम आदर के योग्य है, कई कारणों से। एक तो अभी वह सिर्फ संभावना मात्र है, बीज मात्र है। अभी वह कुछ हो नहीं गया है, बहुत कुछ हो सकता है। काश, उसे हमारा सम्मान मिल सके, आदर मिल सके तो उसके बहुत कुछ होने की संभावनाएं प्रकट होने में सहयोग हो सके। दूसरी बात--अभी वह पवित्र है, निर्दोष है, इनोसेंट है। उम्र आदमी को चालाक कर जाती है, कनिंग कर जाती है। अनुभव आदमी को करप्ट कर जाता है। जितना-जितना अनुभवी आदमी होता है उतना बेईमान, उतना चालाक होता चला जाता है। जिंदगी के सारे धक्के उसे कठोर कर जाते हैं। जिंदगी उसे सब भांति बिगाड़ जाती है। जिंदगी से बच कर निकलना बहुत कठिन मामला है कि वह आपको न बिगाड़ पाए। वह इतने धक्के देती है चारों तरफ से कि बहुत संभावना हो जाती है कि आप बिगड़ जाएं। तो जो अभी अबिगड़ा है, वर्जिन है, कुंआरा है, जो अभी पवित्र है उससे हम आदर मांग रहे हैं, उसके लिए जो करप्ट हो गया, बिगड़ गया, सड़ गया--उसका हम आदर मांग रहे हैं।
यह पूरी प्रक्रिया बदल देनी पड़ेगी। कठिन होगी बहुत यह बात। क्योंकि मां यह सोच भी नहीं सकती कि बेटे को कैसे आदर दे, बेटी को कैसे आदर दे। मां को तो पहली दफे मौका मिला है कि उसके पास भी कोई है कमजोर, अबोध जिससे वह आदर लेने का मजा नहीं छोड़ पाई है। बाप को संभव नहीं है कि वह बेटे को कैसे आदर दे। किसी और से नहीं मिल सका आदर, तो कम से कम बेटे की गर्दन तो वह दबा ही सकता है। उससे तो आदर मांग ही सकता है। इसलिए मनुष्य को हमने जो शिक्षा दी है उससे मनुष्यता पैदा नहीं होती, उससे अध्यात्म पैदा नहीं होता। वह ज्यादा से ज्यादा इनफर्मेशन जो पिछली पीढ़ी ने इकट्ठी की थी, उनको हम ट्रांसफर कर पाते हैं, बस! हमारी शिक्षा सिर्फ ट्रांसफर है। जो पिछली पीढ़ी ने जान लिया था वह हम नई पीढ़ी को दे जाते हैं, वस्तु की भांति। जैसे मकान दे जाते हैं, धन दे जाते हैं वैसा पिछली पीढ़ी की सारी सूचनाएं नये बच्चों को हम दे जाते हैं। नये बच्चों के भीतर जो जीवन की ऊर्जा थी, जो जीवन की शक्ति थी, उसके खिलने के जो अनंत-अनंत द्वार थे, वह सब हम अवरुद्ध कर जाते हैं-- एक।
दूसरी बात यह कहना चाहूं कि जब भी हम अपने बच्चों को कुछ सिखाते हैं
तो भूल कर भी यह न समझें--मां हो, बाप हो, शिक्षक हों, कोई भी हों--भूल कर भी

यह न समझें कि जो हम सिखा रहे हैं वह अनिवार्यरूपेण बच्चे के लिए सही होगा। हमारा शिक्षक कभी भी विनम्र नहीं रहा, बहुत अविनम्र है। ह्युमिलिटी जैसी चीज शिक्षक में कभी नहीं है। बल्कि डर तो यह है कि जो लोग बहुत अविनम्र हैं, बहुत इगोइस्ट हैं वे ही लोग शिक्षक बनने की तरफ गतिमान होते हैं क्योंकि छोटे बच्चों के साथ वे पूरी तरह अविनीत हो सकते हैं और पूरी तरह ज्ञानी हो सकते हैं कि वे जो कह रहे हैं, वह परम सत्य है।
नहीं, परम सत्य किसी को भी ज्ञात नहीं है। और जो सत्य आपने जाने, मैंने जाने, वे परिस्थितिगत सत्य हैं, परम सत्य नहीं है। वे रिलेटिव ट्रूथ हैं, सापेक्ष सत्य हैं जो अनुभव ने हमें दिए। जब हम अपने बच्चों को उन्हें दे रहे हैं तो एक बात ध्यान में रख कर देना कि बच्चे उस दुनिया में नहीं जीएंगे, जिसमें हम जीए थे। और बच्चों की जिंदगी की परिस्थितियां वे ही नहीं होंगी, जो हमारी थीं। बच्चे बिल्कुल नये रास्तों पर, नई दुनिया में, नई परिस्थतियों में जीएंगे। हमारा दिया हुआ ज्ञान उन्हें नई परिस्थितियों में जीने में बाधा न बन जाए, यह बहुत ध्यान रखने की जरूरत है। क्योंकि ज्ञान हम दे इसलिए रहे हैं कि उनके जीवन में वह साधन बनेगा। उनको क्रिपल्ड नहीं करेगा, पंगु नहीं कर जाएगा, लंगड़ा नहीं कर जाएगा। लेकिन अब तक की सारी शिक्षा नई पीढ़ी को पंगु करने के काम आती है। उसके सब हाथ-पैर बांध जाती है, आंख-कान फोड़ जाती है।
फोड़ इसलिए जाती है कि पिता कहता है कि मेरी आंख ठीक है, तुम मेरी आंख उधार ले लो और अपनी आंख फोड़ डालो। क्योंकि मैं सत्तर साल के अनुभव से इस आंख को कमा पाया। अब तुम आज के बच्चे हो। तुम्हारी इस आंख, गैर अनुभवी है, इसे हटाओ। मेरी आंख लो, मेरे कान से सुनो, मेरी आंख से देखो। क्योंकि मैंने सत्तर साल में जो देखा और सुना है, वह मैं तुम्हें दे देता हूं। इस देने की कोशिश में बच्चे की अपनी सेंसिटिविटी, अपनी संवेदनशीलता, अपनी रिसेप्टिविटी, ग्राहकता वह सब मर जाती है। उसकी अपनी आंख की हत्या करके हम उसको आंख देते हैं।
आने वाली शिक्षा अगर सम्यक होना चाहे तो, शिक्षक को, पिता को, पुरानी पीढ़ी को भलीभांति जान लेना चाहिए कि तुम्हारी आंख बच्चों के काम नहीं आएगी। तुम किसी और रास्ते से गुजरे थे जिस पर बच्चे कभी नहीं गुजरेंगे। लेकिन पहले यह संभव हो सका था। क्योंकि दुनिया में ज्ञान बहुत मुश्किल से बदलता था, आज से डेढ़ सौ साल पहले। ईसा के मरने के दो हजार साल में जितना ज्ञान विकसित हुआ, उतना पिछले पांच वर्षों में विकसित हुआ है। दो हजार साल में जितना ज्ञान विकसित होता था, उतना आज पांच वर्षों में होता है। तो दो हजार साल में कितनी पीढ़ियां बदल जाती थीं, ज्ञान वही होता था। इसलिए पिता सुनिश्चित रूप से कहता था कि मैं जो कहता हूं वह ठीक है। मेरे पिता ने भी यही कहा था, उनके पिता ने भी यही कहा था और अनुभव की परीक्षा कहती है कि हम जो कहते हैं, वह ठीक है। आज हालत बिल्कुल बदल गई है। जो पिता जानता है वह बेटे कभी नहीं जानेंगे। आज बेटे और बाप के बीच इतनी बड़ी खाई हो गई है कि उस खाई में अगर किसी पिता ने, शिक्षक ने, पुरानी पीढ़ी ने यह कोशिश की कि हम अपनी आंख दे जाएं तो हम बच्चों को अंधा करने में सहयोगी होंगे, आंख देने में नहीं।
तो इस बात का ध्यान रखना, अपना अनुभव देना, लेकिन अपना अनुभव बच्चे की अपनी संवेदनशीलता को नष्ट करने वाला न बने, सिर्फ उत्प्रेरक बने, इंस्परेशन हो, प्रेरणा हो, बच्चे की आंख का सब्स्टीट्यूट न हो, जो बड़ा शिक्षा के सामने सवाल है। कि उसकी आंख पर चश्मे की तरह हावी न हो जाए, उसके देखने में सहारा बने। हम एक बच्चे को चलना सिखाते हैं, तो अपने पैर उसे नहीं दे देते। और बूढ़े के पैर अगर बच्चे को मिल जाएं, तो बड़ी आकवर्ड हालत होगी। चलने का मन होगा बच्चे का और पैर बूढ़े के होंगे। बच्चा इतनी मुश्किल में पड़ जाएगा जिसका हिसाब लगाना मुश्किल है।
ऐसा ही हुआ है शिक्षा में और ज्ञान में कि मन बच्चे का है, जो दौड़ना चाहता है, छलांग लगाना चाहता है, वृक्षों पर चढ़ना चाहता है, समुद्र पार करना चाहता है, पहाड़ों को खोदना चाहता है। और पैर बूढ़े के हैं; जो कि कहीं मसाज करवाते तो ठीक था, वह कहीं जाना नहीं चाहता। ज्ञान के संबंध में ऐसा

हुआ है। नहीं, इसलिए हम बच्चे को पैर नहीं देते, हाथ का सहारा देते हैं उस समय तक, वह भी जब तक उसके पैर अपने नहीं सम्हल जाते। जैसे ही उसके पैर सम्हल कर चलते हैं, हाथ अपना खींच लेते हैं।
ज्ञान का जो ट्रांसफर है--और शिक्षा का एक ही मतलब है ज्ञान का नई पीढ़ी
को हस्तांतरण--वह जो पुरानी पीढ़ी ने जान लिया वह नई पीढ़ी को दे जाए। उस हस्तांतरण में ध्यान रखना कि हमारा ज्ञान ऐसा ही हो जैसे चलते हुए बच्चे को थोड़ा सहारा देते हैं। सहारा बैसाखी न बन जाए कि जिंदगी भर हमारे ही सहारे की बैसाखी लगा कर ही बच्चा चल सके, खुद लंगड़ा हो जाए। और जैसे-जैसे बच्चे के पैर में बल आता है, अपना हाथ खींचते चले जाते हैं। शिक्षा की कीमती से कीमती जो वैल्यू और मूल्य है, आज मेरी दृष्टि में वह यही है कि पुराना ज्ञान, हाथ का सहारा देकर तत्काल हटने लगे, और नई जो संभावना है वह सीधी, वर्जिन, अनकरप्टेड प्रकट हो सके।
तीसरी बात, जो इन दोनों से भी ज्यादा जरूरी है, और वह यह है कि हम जो हैं--पिता हों, मां हों, शिक्षक हों, कोई भी हों--हमें यह भलीभांति जान लेना चाहिए, इसे बहुत स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि एक बच्चे को शिक्षित करना अनिवार्य रूप से स्वयं को भी शिक्षित करना है। असल में हम जब एक बच्चे को कुछ सिखा रहे होते हैं तो बच्चा सीखता है, और हम सिखाते हैं, ऐसा नहीं है। बच्चा भी सीखता है और हम भी सीखते हैं।
बच्चे को सिखाना एक प्रोसेस है जिसमें हम दोनों इनवाल्व हो जाते हैं। लेकिन पुरानी दुनिया में ऐसा न था। शिक्षक सिखाने वाला था, बाप सिखाने वाला था, बेटा सीखने वाला था; वर्ग विभाजन सीधा था, साफ था। कोई बताने वाला था, कोई मानने वाला था। लेकिन जो भी लोग शिक्षक की दुनिया से थोड़े-बहुत संबंधित रहे हैं, वे जानते हैं कि बच्चे को सिखाने में दो पीढ़ियों के बीच एनकाउंटर होता है। एक सत्तर साल का वृद्ध एक सात साल के बच्चे को कुछ सिखा रहा है। दो पीढ़ियां सत्तर साल के फासले पर हाथ मिलाती हैं। बड़ी खाई है दोनों के बीच। आर-पार दोनों हाथ फैलाते हैं, सत्तर साल का बूढ़ा सात साल के बच्चे तक हाथ पहुंचाता है। दोनों को सीखने का मौका है, क्योंकि सात साल का नया तत्व सत्तर साल के बूढ़े तत्व को बहुत कुछ सिखाएगा। सत्तर साल का अनुभव, ज्ञान सात साल के नये बच्चे को बहुत कुछ सिखाएगा।
इसलिए शिक्षा के लिए तीसरी बात में मैं कहना चाहता हूं कि कोई सिखाने वाला और कोई सीखने वाला, यह भ्रम अब जाना चाहिए। सीखने की एक प्रक्रिया है। इसलिए अच्छी दुनिया में जब अच्छे स्कूल कभी होंगे, अभी तो कल्पना हो सकती है--वहां पता लगाना मुश्किल होगा कि कौन शिक्षक है और कौन सीख रहा है। वह क्लास सीखने वालों का एक समूह होगा जिसमें पुरानी पीढ़ी भी मौजूद होगी, जिसमें नई पीढ़ी भी मौजूद होगी। नई पीढ़ी भी बहुत कुछ सिखाएगी, क्योंकि नई पीढ़ी बिल्कुल नये तत्व लेकर आई है। पुरानी पीढ़ी बहुत कुछ सिखाएगी क्योंकि पुरानी पीढ़ी बहुत कुछ पुराना ज्ञान लेकर आई है।
तो शिक्षण जो है वह, वह एक एकतरफा, वन वे ट्रैफिक नहीं है। मजा तो इसी में है कि मां को, कि वह सिखाए और कोई सीखे; बाप को कि वह सिखाए और कोई सीखे। क्योंकि जब हम किसी को सिखाते हैं तब हिंसा का बड़ा सुख मिलता है। जब भी हम किसी को कुछ सिखाते हैं तो उसकी गर्दन हमारे हाथ में हो जाती है। हम ज्ञानी हो जाते हैं वह अज्ञानी हो जाता है। हम जानने वाले हो जाते हैं, वह न जानने वाला होता है। इसलिए हिंसक वृत्ति कितना रूप ले सकती है इसका हिसाब लगाना मुश्किल है। सबसे सौम्य रूप उसका शिक्षा देने का होता है। किसी को शिक्षा देना, किसी को कुछ सिखाना, और जब हम किसी को कुछ सिखा रहे हैं, तब हमें बड़ा मजा आ रहा है, अहंकार की बड़ी तृप्ति हो रही है कि मैं जानता हूं और तुम नहीं जानते। और कितनी बेहूदी और एब्सर्ड है यह बात कि मां अपने बेटे के सामने इस तरह खड़ी है कि मैं जानती हूं और तुम नहीं जानते। और जब भी कोई यह कहता है, हम जानते हैं और तुम नहीं जानते, हमसे सीखो। तभी वह दूसरे की सीखने की क्षमता को भारी आघात पहुंचा देता है, क्योंकि अहंकार इस दुनिया में शिक्षक नहीं हो सकता।
शिक्षण किसी की तरफ से किसी को सिखाया जाना नहीं है--किसी की तरफ से किसी के लिए आमंत्रण है, निवेदन है, आग्रहहीन। अभी मैं एक छोटी सी किताब पढ़

रहा हूं। यह किताब मुझे बड़ी प्रीतिकर लगी है और एक स्त्री ने लिखी है। वह एक छोटे बच्चे के साथ रहना शुरू करती है। उसकी उम्र सत्तर साल की है। उस छोटे बच्चे की उम्र कोई तीन साल है। वह इस प्रयोग को करती है, जो मैं कह रहा हूं। वह यह नहीं कि वह शिक्षक है और वह शिक्षित है, उसको सिखाया जाना और मुझे सिखाना है, न, हम दोनों साथ रह कर सीखेंगे। तो उसने जो अनुभव लिखा है वह बहुत हैरानी का है।
वह बच्चे को सिखाती ही नहीं, बच्चे से सीखती भी है। अब बच्चा है, समुद्र के किनारे दौड़ रहा है, सीपियों को उठा रहा है। रेत को उठा कर सिर से छू कर उसका स्पर्श कर रहा है, तो वह बूढ़ी औरत भी रेत को उठा कर सिर से उठा कर स्पर्श करती है कि बच्चे को क्या पता चल रहा है, वह मैं भी तो जानूं। बच्चा जब रेत को उठा कर सिर पर डाल रहा है तो बूढ़े आदमी को सिर्फ इतना ही पता चलता है कि बाल खराब कर रहे हो और फिर सफाई करनी पड़ेगी। उससे ज्यादा कुछ पता नहीं चलता क्योंकि वह सिखाने वाला है। लेकिन बच्चा जब रेत को सिर पर डाले चला जा रहा है तो बच्चे को भी कुछ अनुभव हो रहा है जो कि सीखने योग्य हो सकता है।
तो वह बूढ़ी औरत अपने सिर पर भी उस बच्चे के साथ रेत डाल रही है और तब उसने लिखा कि जब बच्चे के साथ समुद्र तट पर खेलते, रेत में दौड़ते, बच्चे के साथ चिल्लाते, तितलियों को पकड़ते, पानी में भागते-गिरते; तब उसने कहा, मैं कई बार भूल जाती हूं कि मेरी उम्र सत्तर वर्ष है। मेरा सारा बचपन वापस लौट आता है। और उस बच्चे के साथ साल भर रह कर उन दोनों के बीच एक सिम्पैथी बनती है जो शिक्षक और विद्यार्थी के बीच बननी चाहिए। क्योंकि अब वह बच्चा बच्चा है, और बूढ़ी बूढ़ी है, ऐसा नहीं, अब ये दोनों मित्र हैं। अब वह बच्चा आकर उसका हाथ पकड़ कर उससे कहता है कि बाहर एक मेढक आया हुआ है, आवाज बड़ी अदभुत है, चलो। वह उसे घसीट रहा है सत्तर साल की स्त्री को, वह उसके पीछे भागी जा रही है। वह बच्चा एक झाड़ी में छिप कर मेढक की आवाज सुन रहा है और वह बूढ़ी भी उसके पास कान रख कर आवाज सुन रही है।
इतने विनम्र हों माता और पिता और शिक्षक कि बच्चे को सिर्फ सिखाने का मजा न लें, मजा बहुत है सिखाने का। हिंसा है इसलिए मजा है। सिखाने में मजा यह है कि दूसरे को हम अपने हिसाब में ढाल रहे हैं। मैं जब मैं कहता हूं कि आपकी गर्दन थोड़ी ऊंची है, हम थोड़ा छील कर छोटा करेंगे। आपका पैर जरा लंबा है, इसे हम जरा छोटा करके शेप में ला देंगे, तब हम हिंसा का मजा ले रहे हैं। जब बच्चे को कहते हैं कि नहीं, इतने जोर से नहीं चिल्ला सकते हो, तब भी हम हिंसा का मजा ले रहे हैं। जब हम उसको कहते हैं कि ऐसा नहीं कर सकते हो, तब भी हम हिंसा का मजा ले रहे हैं। असल में हम डॉमिनेशन का मजा ले रहे हैं। शिक्षक जो है वह बहुत गहरे में छिपा हुआ डिक्टेटर है, तानाशाह है। और बच्चे पर जितनी तानाशाही कायम हो सकती है उतनी और किसी पर नहीं हो सकती है।
अगर हिटलर को चार बच्चे होते तो हिटलर अच्छा आदमी हो सकता था। अच्छा आदमी इसलिए हो सकता था कि जो मजा उसे बच्चों को डॉमिनेट करने में मिल जाता, उस मजे को खोजने उसे इतने बड़े युद्ध को करने की जरूरत न होती। वह उसको नहीं मिल पाया।
यह तीसरी बात बहुत खयाल में लेने जैसी है कि शिक्षण की प्रक्रिया दोनों तरफ से यात्रा है। नहीं, बूढ़ा खड़ा रहेगा अपनी जगह सख्त पत्थर की तरह और बच्चे को सीखने आना पड़ेगा अकेला, तो ऐसी शिक्षा किपिल्ड करेगी। नहीं, बूढ़ा भी जाए, बच्चे से मिले हाफ-वे। कहीं जाकर बीच जगह पर मिले, जहां वह बूढ़ा नहीं रह जाऐगा, जहां बच्चा बच्चा नहीं रह जाएगा, जहां दो साथी, दो सहयोगी, दो मित्र सीखने की दुनिया की यात्रा पर निकलें।
मैंने कहा--यह तीसरा तत्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, और इसलिए मेरी यह अपनी समझ है कि मां मुश्किल से ही मां होने का मजा ले पाती है। सिर्फ प्रसव की पीड़ा झेलती है। क्योंकि मां होने का जो असली मजा है वह एक ऐसे बच्चे को पा जाना है जिसके साथ हम फिर से बच्चा हो सकें। बाप होने का जो सुख है, वह एक ऐसे बच्चे को पा जाना है, जिसके साथ बाप फिर दौड़ सके, कुश्ती लड़ सके, नाच सके, वह संभव नहीं है। बाप सख्त खड़ा है, वह गंभीर है, गुरु गंभीर। और बच्चा

अगर नाच रहा है, तो उसकी आंखें कह रही हैं कि पाप हो रहा है, नरक चले जाओगे, बंद करो। वह गुरु गंभीरता बच्चों के बीच और दूसरी पुरानी पीढ़ी के बीच कोई तादात्म्य, कोई पैसेज, कोई ब्रिज, कोई सेतु नहीं बनने देती। वे अलग खड़े रह जाते हैं, जहां तक मेरी समझ है।
अभी एक युवक ने मुझसे आकर कहा कि मैंने अपनी जिंदगी में शायद अपने पिता से दो सौ शब्द बोले हों। हमारा कोई मिलन ही नहीं होता। मिलन से डरते भी हैं। पिता भी डरता है, बेटा भी डरता है। इसलिए पिता और बेटा एक ही कमरे में छोड़ दिए जाएं, तो उस कमरे में जितना टेंशन होता है, उतना दो दुश्मन भी उस कमरे में छोड़ जाएं, तो नहीं हो सकता। बाप भी परेशान हो जाता है कि हटो यहां से क्योंकि बेटे के सामने वह एक शक्ल कायम रखना चाहता है जो उसकी असली शक्ल नहीं है। बेटे को पता नहीं कि वह भी क्लब में बैठ कर हंसी-मजाक करता है। बेटे को पता ही नहीं कि उसका बाप भी हंस सकता है। लड़की को पता नहीं कि उसकी मां भी कभी किसी को प्रेम कर सकती है, कि उसकी मां भी किसी को प्रेम करती है, कि उसकी मां भी किसी के प्रेम में, किसी की गोदी में बिल्कुल ही छोटी और बच्ची हो जाती है, कि उसका बाप भी किसी के प्रेम में किसी के पास जाकर बिल्कुल बचपन की बातें बोलने लगता है, तुतलाने वाली बातें बोलने लगता है जो कि उसे पता नहीं।
बाप और मां की एक झूठी इमेज बच्चे के सामने पड़ती है और यह इमेज बहुत क्रिपलिंग है और बहुत पंगु करने वाली है और यही हमारी सारी शिक्षा है। इससे हम बच्चे को विकृत कर देते हैं और नष्ट कर देते हैं। मां-बाप जितना बच्चों को मारते हैं उतना और कोई भी नहीं मारता। उनके बाद मारने वालों में नंबर दो जो है, वह शिक्षक है। हम सब मिल कर उसको मार डालते हैं। फिर बच्चा नहीं रह जाता, सिर्फ बच्चे की जगह हमारी आकांक्षित एक प्रतिमा रह जाती है। अगर बच्चा थोड़ा बलशाली हुआ तो वह रिएक्ट करता है, बगावती हो जाता है। अगर गोबरगणेश हुआ तो राजी होकर सेटल हो जाता है। लेकिन जिंदगी खत्म हो जाती है दोनों हालातों में। अगर बच्चा राजी होकर सेटल हो जाता है और स्थापित जगत का हिस्सा बन जाता है तो वह एक मशीन हो जाता है। अगर बगावती हो जाता है तो चीजों को व्यर्थ ही तोड़ने-फोड़ने लगता है और बनाने की क्षमता खो देता है। पुराने बच्चों ने पहला विकल्प चुना था, गोबरगणेश होने का, वे राजी हो जाते थे। पांच हजार साल में वह विकल्प बहुत उबाने वाला साबित हुआ। नए बच्चे दूसरा विकल्प चुन रहे हैं कि वे तोड़-फोड़ करके राजी हैं। लेकिन दोनों विकल्प असुंदर हैं और दोनों का जिम्मा गहरे में शिक्षण की प्रक्रिया में हैं। प्रक्रिया वही है।
ये तीन बातें ध्यान में अगर हों तो विस्तार में कैसे करना है, वह तो दूसरी बात है। अगर यह ध्यान में हो, तो होना शुरू हो जा सकता है।

(प्रश्न का ध्वनि-मुद्रण स्पष्ट नहीं।)

हां, आप जो कहते हैं, पहली तो बात यह--ठीक आप कहते हैं कि बहुत से स्कूल विशेष कर पश्चिम में, कुछ यहां भी बच्चों को पूरी स्वतंत्रता दे रहे हैं। दी गई स्वतंत्रता का बहुत मूल्य नहीं है। दी गई स्वतंत्रता भी परतंत्रता का एक ढंग है। देने वाले आप ही हैं। नहीं, मैं स्वतंत्रता देने की बात नहीं कर रहा हूं, क्योंकि देने वाले आप ही हैं। अगर पुरुष कहे कि हम स्त्रियों को स्वतंत्रता देने का इंतजाम कर दिए हैं, उस स्वतंत्रता का कोई मूल्य नहीं है। वह सिर्फ परतंत्रता को स्वतंत्रता का नाम देना होगा जो कि और खतरनाक है। क्योंकि परतंत्रता परतंत्रता ही रहे, साफ परतंत्रता समझी जाए तो कम से कम आनेस्ट होती है। और जब हम स्वतंत्रता देने की बात करने लगते हैं, लेकिन जब दी जाती है स्वतंत्रता तो स्वतंत्रता नहीं रह जाती।
कहीं दुनिया में मां-बाप ने अभी कोई स्वतंत्रता नहीं दी है और न शिक्षक कहीं ने कोई स्वतंत्रता दी है। स्वतंत्रता दे रहा है वह, यह मैं नहीं कह रहा हूं, यह निगेटिव बात हुई कि हम स्वतंत्रता दें। न, मैं बहुत पाजिटिव बात कह रहा हूं कि बच्चे को आदर, सम्मान, बच्चे से सीखने की संभावना। यह बहुत दूसरी बात कह रहा हूं मैं। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि

परतंत्रता हटा लें। हटाएगा जो, वह मालिक है हटाने में भी। मैं बहुत पाजिटिव बात--मैं यह कह रहा हूं कि बच्चों को स्वतंत्रता नहीं दे देनी है क्योंकि आप हैं कौन देने वाले? और अगर आप स्वतंत्रता देने वाले हैं तो कल आप फिर कंट्रोल कर सकते हैं, परतंत्रता फिर ला सकते हैं। लेना-देना आपके हाथ में है। यह मैं नहीं कह रहा हूं, मैं एक पाजिटिव वैल्यू की बात कर रहा हूं।
वह मैं यह कह रहा हूं कि बच्चे को आदर, सम्मान, रिवरेंस... । मैं यह भी नहीं कह रहा हूं कि बच्चे मां-बाप को आदर न दें, अनादर की उनकी इच्छा नहीं है, मैं यह नहीं कह रहा हूं। मैं मां-बाप से यह कह रहा हूं कि वे बच्चों को आदर दें। मां-बाप बरदाश्त करने को राजी हो जाएंगे कि हमें आदर न दिया जाए, इससे कोई बड़ी क्रांति नहीं होती। नहीं, बड़ी क्रांति का मतलब यह है कि मैं यह कह रहा हूं कि बच्चा बहुत आदर योग्य है। मां-बाप टालरेट कर सकते हैं इस बात को कि बच्चे आदर न दें, यह टालरेंस होगी उनकी, यह उनकी सहिष्णुता होगी, सुशिक्षण होगा, संस्कृति होगी, लेकिन जिस, जिस क्रांति की मैं बात कर रहा हूं वह बहुत दूसरी है।
वह मैं यह कह रहा हूं कि मां-बाप की आदर मांगने की आकांक्षा ही गलत थी। बच्चे को आदर दिया जा सके, इसकी संभावना खुलनी चाहिए। तब हम स्वतंत्रता देंगे, ऐसा नहीं, जिसको हम आदर करते हैं वह स्वतंत्र हो जाता है। स्वतंत्रता आदर के पीछे छाया की तरह चलती है। जिसे हम आदर करते हैं उसे हम परतंत्र नहीं कर सकते हैं। तब स्वतंत्रता सहज आएगी। और जो यह, यह जो खयाल है कि कंट्रोल न किया जाए, यह जो खयाल है कि बच्चे जैसे बढ़ना चाहें बढ़ें, मैं इसके पक्ष में नहीं हूं। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि बच्चे जैसे बढ़ना चाहें बढ़ें, क्योंकि मैं मानता हूं कि जरूरी है कि बच्चे को किसी दिन कोई हाथ का सहारा देकर पैर पर चलाए, नहीं तो अपने आप बच्चा पैर पर चलेगा नहीं। पीछे अभी एक कोई दस साल पहले कानपुर के पास एक भेड़ियों के द्वारा पाला हुआ बच्चा पकड़ा गया। वह चार हाथ-पैर से ही चलता था। और छह महीने लग गए उसको दो पैर पर खड़े होने की तैयारी करवाने में, और उसी तैयारी में वह मरा। क्योंकि बाहरी उसकी सारी मसल्स, सारी व्यवस्था चार हाथ-पैर से चलने वाली हो गई, वह सब अकड़ गई। उसके पहले भी कलकत्ते के जंगलों में पास में दो लड़कियां मिलीं, वे भी भेड़िए उठा कर ले गए थे, उन्होंने पालीं। वे भी चार हाथ-पैर से चलती थीं, दो से नहीं चलती थीं।
नहीं, मैं यह नहीं कह रहा हूं कि बच्चे को कोई सहयोग न दे पुरानी पीढ़ी,
कि उसको जैसा होना चाहे, हो जाए। यह भी बच्चे के प्रति अनादर का नया रूप है। यह भी बच्चे के असम्मान की नई प्रक्रिया है। अब, अब तक बच्चे के लिए हम सब तरफ से ऐसा बनाना चाहिए, इसकी फिकर में थे। वह अगर आप नहीं करने देते तब हम निगलेक्ट करते हैं कि बच्चे को जैसा होना हो, हो जाए। इसे हम स्वतंत्रता का नाम देंगे, सब देंगे, लेकिन बेईमानी की बात है। मैं नहीं मानता हूं कि बिना पुरानी पीढ़ी के सहारे के बच्चा कुछ हो सकेगा, आदमी भी हो सकेगा, यह भी शक है। और कुछ होना तो बहुत दूर की बात है। नहीं, सहारा तो देना होगा, लेकिन सहारा उसे बांधने वाला न हो। कंट्रोल भी रखना होगा, लेकिन कंट्रोल उसे बांधने वाला न हो, बल्कि अनकंट्रोल में उसे पहुंचाने वाला हो।
इसलिए डेलिकेट है ज्यादा बात। सारी कठिनाई हमारी यह है कि सीधे पोलेरिटी में सोचना तो सदा आसान पड़ जाता है। या तो हम सोचते हैं कि पूरी तरह कंट्रोल्ड हो कि खाए तो वही जो हम कहें, उठे तो तब जब हम कहें, सोए तो तब जब हम कहें, श्वास ले तो तब जब हम कहें, यह तो कंट्रोल है! या आप कहते हैं कंट्रोल नहीं, बस ठीक है फिर। गड्ढे में गिरें तो हम खड़े होकर देखते रहें, क्योंकि स्वतंत्रता है उसे कि उसे जो होना है वह हो जाए।
अमरीका में वही हुआ। पहली पोलेरिटी से वह दूसरी पोलेरिटी पर गए। वह
भी मां-बाप का क्रोध है। वह भी कहते हैं कि अगर सारे शिक्षा शास्त्री और सारे मनोवैज्ञानिक यह कहते हैं कि हमने बिगाड़ दिया है बच्चों को, तो ठीक है। तब हम छोड़ते हैं, अब जो होना है हो जाए। मैं दोनों में से दोनों के लिए राजी नहीं हूं। दोनों ही गलत दृष्टिकोण हैं क्योंकि जिंदगी पोलेरिटी में

नहीं बांटी जा सकती। जिंदगी सदा ही विरोधी पोल्स को एक साथ लेकर चलती है और इसलिए जिंदगी का मामला बहुत ही नाजुक है। वह ऐसा नहीं है जैसा हम उसे पकड़ लेते हैं। वह ऐसा ईदर-आर वाला नहीं है, या तो यह या इससे उलटा। यह भी और वह भी और दोनों के बीच से मार्ग जाता है। न, बच्चे को तो मां-बाप को नियंत्रण देना ही होगा! इसलिए नहीं कि मां-बाप जानकार हैं, ताकतवर हैं, बल्कि इसलिए कि बच्चा कोमल है, अपरिचित है, अज्ञात रास्तों पर है। इसलिए सहारा तो उनका पूरा चाहिए, नियंत्रण उनका पूरा चाहिए। बस इतना ही ध्यान रखने की जरूरत है कि नियंत्रण बच्चे की आत्मा की हत्या करता है या इस बात के लिए बच्चे को योग्य बनाता है कि कल वह नियंत्रण के बाहर हो सके। नियंत्रण इसलिए कि कल नियंत्रण न रह जाए। नियंत्रण दो तरह का हो सकता है। इसलिए कि नियंत्रण रोज बढ़ता चला जाए और अंत में फांसी बन जाए, या नियंत्रण इसलिए कि नियंत्रण रोज कम होता चला जाए और अंत में स्वतंत्रता बन जाए। पश्चिम में जो हुआ है वह सुखद नहीं हुआ। वह रिएक्शनरी है, रिवोल्यूशनरी नहीं है। वह प्रतिक्रिया है। जो होना था उससे उलटे जाने का खयाल है। अगर आदमी दो पैर के बल खड़े होकर अच्छी दुनिया नहीं बना पाया तो हम कहते हैं, हम शीर्षासन करके अच्छी दुनिया बना लेंगे। लेकिन आदमी वही रहेगा। शीर्षासन करने से फर्क नहीं पड़ता। सिर्फ इनवर्टेड खड़ा हो जाएगा। सारी दुनिया की पांच-छह हजार वर्ष की शिक्षा की जो व्यवस्था थी, उससे उलटी खड़ी हो गई वह। उसने भी नुकसान पहुंचाया है, यह भी नुकसान पहुंचा रही है। एक ऐसी शिक्षण व्यवस्था चाहिए जो पुरानी पीढ़ी को पूरी की पूरी तरह सहयोग ले लेती हो और फिर भी नई पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी से आगे जाने में बाधा न बनती हो। अब या हम कहते हैं कि हम बच्चों को स्वतंत्रता दे रहे हैं लेकिन हम देने वाले बीच में खड़े हैं, जिन्होंने स्वतंत्रता दी।
यह स्वतंत्रता नहीं है, सम्मान की बात मैं कह रहा हूं, स्वतंत्रता की नहीं। बच्चे कोई कैदी नहीं हैं कि जेल की दीवाल तोड़ दी और जंजीरें तोड़ दीं और कहा कि हाथ जोड़ा, अब जाओ। उनको स्वतंत्रता देने से कुछ होने वाला नहीं है। क्योंकि कोई कारागृह ऐसा नहीं है कि हमने उनको छोड़ दिया और मामला समाप्त हो गया। कि अब तुम्हें जहां जाना हो, तुम जा सकते हो। हमारी तरफ से स्वतंत्र हो। यह सम्मान न हुआ, यह आदर न हुआ। यह आने वाले, उगने वाले सूरज के प्रति सदभाव न हुआ। यह सिर्फ क्रोध हुआ कि ठीक है तुम हमारी व्यवस्था को तुम कारागृह कहते हो? तो ठीक है, हम कारागृह के बाहर छोड़े देते हैं। तो एक मां और बाप अपने बेटे को छोड़ दें कि जब तुम्हें चलना हो तो दोनों पैर से चलना, अन्यथा जैसा तुम्हें करना हो। वह कभी दो पैर से खड़ा नहीं होगा। और इसकी बहुत चिंता न करें कि जो मैं कह रहा हूं, वह नया है या पुराना है। क्योंकि सत्य के नये और पुराने होने का कोई सवाल नहीं है। वह सत्य है या नहीं, ठीक है या नहीं, इसकी फिकर करें।
इस सदी में नये-पुराने ने एक अजीब तरह का वैल्यूएशन ले लिया है जिसका कोई मूल्य नहीं है। कुछ लोग हैं जो कहते हैं कि कोई चीज पुरानी है, इसलिए ठीक है। कुछ लोग हैं, जो कहते हैं कि कोई चीज नई है इसलिए ही ठीक है। ठीक होने का नये पुराने से कोई प्रयोजन नहीं है। पुराने में भी गलत था और नये में भी गलत है। पुराने में भी ठीक था और नये में भी ठीक है। चिंतना इसकी होनी चाहिए कि ठीक क्या है और कितने दूर तक हम पुराने का उपयोग कर सकते हैं और कितने दूर तक हम नये का उपयोग कर सकते हैं। एक टोटल पर्सपेक्टिव के लिए पुरानी सारी शिक्षण पद्धति को समझा जाना जरूरी है, नई सारी शिक्षण पद्धति को समझा जाना जरूरी है। और दोनों के बीच एक माध्यम जो स्वतंत्रतापूर्ण नियंत्रण का हो या नियंत्रणपूर्ण स्वतंत्रता का हो, और उसके बहुत गहरे में सम्मान छोटे के प्रति, बढ़ते हुए के प्रति आधार और केंद्र बन सकते हैं। इस संबंध में कुछ पूछ लें तो अच्छा है क्योंकि दूसरा सवाल फिर बहुत बड़ा है वह दुबारा जब बैठे तभी हो सके। वह दांपत्य जीवन, गौरवशाली दांपत्य जीवन कैसे पैदा हो सके। वह दुबारा जब बैठें तभी, क्योंकि वह बड़ा सवाल होगा। और उसके बहुत पहलू होंगे। अभी तो दस-पांच मिनट इसी संबंध में और बात कर लें तो अच्छा है।

मेरे खयाल से बच्चों को, मैं जहां तक मानती हूं, जहां तक जितना हो सके उतना "न" कम करना चाहिए--यह मत करो, वह मत करो, ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं, वैसा नहीं! जो नकार है, तो नकार निकाल कर जितना हो सके सकार रखना और जितना हमारे को जरूरत नहीं पड़े, उनको कम किया जाना चाहिए।

हां, बबी बहन भी एक ठीक बात उठाती हैं कि बच्चों को हम जितना डोंट, "नहीं" कहने से बच सकें, उतना अच्छा है। ऐसा पिछले सौ साल के सभी मनस्शास्त्री कहेंगे, लेकिन मैं पूरी तरह राजी नहीं हूं। सारे मनःशास्त्री यह कहेंगे और बहुत दूर तक मैं भी कहूंगा कि बच्चे को जब तक बने हां कहा जा सके, तो न नहीं कहना। और अगर न भी कहना हो, तो उसे अगर हां के रूप में कहा जा सके तो बहुत अच्छा है। जैसे बच्चा एक फूल तोड़ रहा है। तो उसे रोकने की बजाय यह कहना कि फूल मत तोड़ो, उसके हाथ में फव्वारा थमा देना बेहतर है। उससे कहना कि पानी डालो। फूल तोड़ना रुक जाएगा, वह पानी डालने में लग जाएगा। और न कहने से हम बच सकेंगे, क्योंकि न जो है वह उसे बार-बार अत्यंत पीड़ा में डाल जाता है। जहां भी बढ़ता है, वहीं न खड़ा हो जाता है। वह उसकी सीमा बनने लगती है। वह परतंत्र अनुभव करने लगता है, गुलाम मालूम होने लगता है कि कुछ भी करने की स्वतंत्रता नहीं है। न भी कहना हो तो उसको हां के ही रूप में कहने की कोशिश करनी चाहिए।
मैंने सुना है कि भोज के दरबार में एक ज्योतिषी आया है और वह भोज ने उसे अपनी कुंडली दिखाई है और उसने कहा कि महाराज, आप अपनी पत्नी को भी दफनाएंगे, अपने बेटे को भी दफनाएंगे, अपने बाप को तो दफनाएंगे ही, अपने सब बेटों को भी आप दफनाएंगे। सबको मार कर तुम मरोगे। भोज बहुत नाराज हो गया। उसने उसे कैद में डाल दिया।
कालिदास बैठा सुनता था। बाद में रात जाकर कालिदास ने कहा कि वह बेचारा कुछ गलत नहीं कह रहा था, जो उसे दिखाई पड़ा था, वही कहा। लेकिन शायद उसे कहने का ढंग नहीं आया। मैं यह एक श्लोक बना कर लाया हूं। उस श्लोक में उसने कहा है कि महाराज, आप धन्यभागी हो। आपके प्रियजनों को आपकी मृत्यु का दुख न होगा। ऐसा धन्यभाग मुश्किल से मिलता है। आप सौ वर्ष से ज्यादा जीओगे। जिसकी हम कामना करते हैं कि सौ वर्ष से ज्यादा कोई जीए, वह आपकी सुनिश्चित संभावना है। और धन्यभागी हैं आप कि आपके किसी प्रियजन को, न आपके बेटे को, न आपकी बेटी को, न आपकी पत्नी को आपकी मृत्यु का दुख नहीं होगा। और एक लाख मुद्राएं राजा ने कालिदास को भेंट कीं।
ना में कही जाने वाली बात भी हां में कही जा सकती है। इनकार करने वाली बात भी स्वीकार में कही जाए, यह ठीक है। लेकिन यह अधूरा सत्य है। और इस पर पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों ने इतना जोर दिया कि दूसरे खतरे पैदा हो गए। अधूरे सत्य झूठ से भी खतरनाक होते हैं। इसलिए अधूरा सत्य है कि जिंदगी तो नहीं कहेगी, आप मत कहो। मां ने नहीं कहा नहीं, पिता ने नहीं कहा नहीं, शिक्षक ने नहीं कहा नहीं। लेकिन जब लड़का बड़ा होगा, तब जिंदगी में हजार तरफ से "नहीं" मिलेगा। और जो "नहीं" से बिल्कुल अपरिचित है, वह इतना फ्रस्ट्रेट हो जाएगा जिसका कोई हिसाब नहीं। नहीं की भी ट्रेनिंग तो चाहिए पड़ेगी। नहीं तो एक लड़का, जो बीस वर्ष तक नहीं नहीं सुना और जिसकी जिंदगी में कभी भी कहीं कोई रुकावट नहीं है, सब जगह हां था। जिंदगी इतनी फिकर नहीं करेगी।
जिंदगी मां नहीं है, जिंदगी पिता नहीं है, जिंदगी शिक्षक नहीं है। जिंदगी हजार जगह कहेगी कि नहीं। तब उस लड़के के प्राण पर ऐसा पड़ेगा कि मर गए, क्योंकि उसकी नहीं की कोई भी योजना उसके भीतर नहीं है। नहीं को सहने की कोई क्षमता उसके भीतर नहीं है। इसलिए पश्चिम बहुत कमजोर बच्चे पैदा कर रहा है, जो इतनी छोटी-छोटी बातों से फ्रस्ट्रेशन में चले जाते हैं कि जिनमें पुराना बच्चा कभी नहीं जाता। क्योंकि वह नहीं के लिए तैयार था। जिंदगी में हां भी है और नहीं भी है और उनका एक संतुलन है।
तो मैं मानता हूं कि जहां तक बने, नहीं मत कहना और नहीं वहीं मत कहना, जहां नहीं कहने में मजा आता है, वहां नहीं मत कहना। लेकिन जहां नहीं कहने से बच्चे के व्यक्तित्व में रेसिस्टेंस बढ़ता हो, वहां जरूर नहीं कहना। और

वहां नहीं का मतलब हमेशा नहीं रखना। नहीं तो मां-बाप के नहीं और हां में बहुत डांवाडोल होते रहते हैं वे, इसलिए बच्चे बहुत कंफ्यूज्ड हो जाते हैं। बच्चा कहता है मुझे पिक्चर देखने जाना है, मां कहती है कि नहीं जा सकते। और बच्चा दो दफे जोर से पैर पटकता है और मां कहती है, अच्छा जाओ। तो बच्चे को बहुत मुश्किल हो जाता है कि नहीं का मतलब क्या है, हां का मतलब क्या है? नहीं हां बन सकती है, हां नहीं बन सकती है। जिंदगी भर के लिए हम उसे एक वेगनेस दे रहे हैं, एक कंफ्यूजन दे रहे हैं जो वह बहुत मुश्किल में पड़ जाएगा।
अगर एक दफे बच्चे से कहो नहीं, तो इस दुनिया में अब दुबारा उसको हां मत बनाना, ताकि बच्चा ठीक से समझे कि नहीं का मतलब नहीं होता है। हां का मतलब हां होता है। यह भी सिखाने की जरूरत है उसे कि नहीं का मतलब ना होता है और जब ना हो जाता है तो ना ही हो जाता है। नहीं तो मां-बाप बहुत जल्दी झुकते हैं। बजाय झुकने के, पहले हां भर देना। बच्चा कहे कि पिक्चर जाना है, और रोज का अनुभव है, लेकिन हम कुछ सीखते नहीं हैं। तो पहले हम कहेंगे नहीं। असल में दूसरे को रोकने में बड़ा मजा आता है। अब वह सिर पीटेगा और चिल्लाएगा और खाना नहीं खाएगा और थाली फेंकेगा। अब हम कहेंगे कि जाओ! हां का मजा भी चला गया उसके भीतर से, नहीं का अर्थ भी न रहा और प्रतिकार का उसने एक गलत ढंग सीखा। प्रतिकार का गलत ढंग सीखा जो कि जिंदगी भर उसका पीछा करेगा। बड़ा होकर भी वह बच्चों जैसा करेगा। कल वह पति हो जाएगा और पत्नी पर नाराज होगा तो इसी तरह थाली फेंकेगा जैसा उसने मां के सामने फेंक दी थी। उसी तरह पैर पटकेगा जैसा वह पांच साल का बच्चा था, तब पैर पटकता था। तब वह बहुत ही बेहूदा मालूम पड़ेगा। लेकिन हम उसे सिखा रहे हैं।
नहीं, मेरी अपनी समझ है कि नहीं का भी उपयोग तो है, लेकिन व्यर्थ की चीजों में नहीं मत कहना। लेकिन नहीं की अपनी सार्थकता है क्योंकि जिंदगी आपकी फिकर न करेगी, वह नहीं कहेगी। और जब कहेगी तो उसकी तैयारी होनी चाहिए। और उसकी तैयारी भी शिक्षण का अनिवार्य अंग है। इसलिए पश्चिम के जो बच्चे हैं वे, वे नहीं न कहने से बिगाड़े गए बच्चे हैं। उनको इधर पिछले पचास-साठ साल में विशेष कर फ्रायड का जो प्रभाव पश्चिम की शिक्षा पर पड़ा, वह संघातक सिद्ध हुआ। उसने कुछ फायदे पहुंचाए, लेकिन उतने ही वजन के, शायद और ज्यादा वजन के नुकसान भी पहुंचाया।

मैडम मांटेसरी की शिक्षा से बच्चों में क्या फर्क पड़ा? वह ठीक है या नहीं?

साधारण है, ठीक और गलत बहुत नहीं है मामला। मांटेसरी ने एक हिम्मत की
और एक प्रयोग किया है, उस लिहाज से तारीफ की बात है, लेकिन कुछ विशेष फर्क नहीं पड़ा। क्योंकि विशेष फर्क जो है वह शिक्षा की पद्धति में कम, मां-बाप के होने के ढंग में और शिक्षक के होने के ढंग में ज्यादा है। वह बहुत सवाल नहीं है। सवाल गहरा है और ज्यादा डीप रूटेड है, वह हममें है। अब जब एक बच्चा आपसे आकर कहता है कि मैं फूल तोड़ लूं? तब आप दो क्षण भी नहीं सोचतीं कि फूल तोड़ने दिया जाए या नहीं। नहीं कहने में इतना मजा आता है कि नहीं। आप यह नहीं सोचते हैं कि फूल तोड़ा जा सकता है तो तोड़ लेने दो। यह सोचने की जरूरत नहीं है। बच्चा कहता है, मुझे बाहर खेलने जाना है, आप कहते हैं, नहीं।
हमारा "नहीं" तो एकदम सामने खड़ा रहता है। वह भी हमारे फ्रस्ट्रेशन का हिस्सा है। हां कहने की हमें भी तो हिम्मत नहीं जुट पाती। मैं तो रोज अनेक घरों में ठहरता हूं। मैं बहुत हैरान होता हूं कि जिन मामलों में कोई जरूरत न थी--अब बच्चा कहता है, बाहर खेलने जाना है, तो मां बिना सोचे--"नहीं" तैयार है, वह रेडीमेड है। और बच्चा जानता है कि रेडीमेड उत्तर है, इसने सोच कर नहीं दिया है। क्योंकि अब भी इसको प्रेस किया जा सकता है और यह कहेगी हां। क्योंकि अगर सोच कर दिया गया है तो फिर हां नहीं होना चाहिए दुबारा। क्योंकि अगर बच्चे के अहित में ही है बाहर जाना तो फिर हां कैसे हुआ वह। और अगर हां हो सका दो मिनट बाद तो दो मिनट पहले नहीं होने की क्या जरूरत थी।

यानी मेरा कहना यह है कि "हां" साफ, "नहीं" साफ, और दोनों में कभी कंफ्यूजन नहीं। वह बिल्कुल साफ होना चाहिए। तब बच्चा एक तो अपने मां-बाप का क्लीयर इमेज बना पाता है। बड़ी से बड़ी कठिनाई है कि बच्चे के मन में मां- बाप की साफ प्रतिमा नहीं बन पाती कि मां-बाप क्या चाहते हैं। क्या इरादे हैं। वह कभी पकड़ ही नहीं पाता है कि उनका क्या प्रयोजन है। उसे तो पता नहीं कि मां-बाप भी भीतर कंफ्यूज्ड हैं। उन्हें भी पता नहीं कि वे क्या कह रहे हैं, क्या कर रहे हैं, क्या नहीं कर रहे हैं। तो बच्चे के सामने बहुत स्पष्ट प्रतिमा मां-बाप की बननी चाहिए, शिक्षक की बननी चाहिए। तो बच्चे को अपनी प्रतिमा स्पष्ट बनाने में बड़ा सहयोग मिलता है। नहीं तो वह भी वैसा ही एक कंफ्यूज्ड, भ्रमित, उलटे-सीधे खयालों से भरा हुआ आदमी बन जाता है। और तब उसे पता ही नहीं रहता कि वह कब हां कहे, कब ना कहे। तब एक इनडिसीसिवनेस पैदा होती है जो जिंदगी भर पीछा करती है।
मेरी अपनी समझ में लाखों लोगों की बीमारी इनडिसीसिवनेस है कि वह कभी निर्णय नहीं ले पाते कि हां या नहीं। और अगर लेते हैं तो वह हमेशा हॉफ हार्टेड होता है। वह हां कहते हैं तो उसमें भीतर किसी परसेंटेज में नहीं भी होता। अगर एक लड़की एक लड़के को हां भरती है कि हां मैं तुझे प्रेम करती हूं तो यह मामला हां का नहीं होता है, यह साठ परसेंट हां, चालीस परसेंट नहीं का होता है। अच्छा, चालीस परसेंट कभी भी पचास परसेंट हो सकता है, क्योंकि मन कोई ऐसी चीज नहीं है। कभी साठ परसेंट हो सकता है। तब पछतावा शुरू हो जाता है। तब मुश्किल हो जाती है। और जिंदगी में सौ प्रतिशत हां निकल सके, सौ प्रतिशत न निकल सके, तो उस आदमी के पास कैरेक्टर होता है, व्यक्तित्व होता है। और अगर हर हां में न का भी परसेंटेज हो और न में हां का परसेंटेज हो, तो वह आदमी अडल्टरेटेड हो जाता है; वह आदमी फिर कैरेक्टरलेस हो जाता है। उसके भीतर कोई कैरेक्टर नहीं होता।
इसलिए मैं तो कहूंगा कि ना कहना, जब ना कहना जरूरी हो, और उस ना को कभी
मत बदलना, चाहे उसके लिए खुद जान खोनी पड़े। बेटे को, बेटी को साफ पता चल जाना चाहिए कि मां ने जब ना कहा है तो यह ना अल्टीमेट है। इसका बड़ा उपयोग है। क्योंकि इससे मां के चरित्र का पता चलता है। और बच्चे को भी एक चरित्र बनाने में सहयोग मिलता है।
तो मेरी बड़ी तकलीफ है। मेरी बड़ी तकलीफ यह है कि मैं पुराने से बहुत अंशों में राजी नहीं हूं। उससे भी बड़ी मेरी तकलीफ यह है कि मैं नये से भी बहुत अंशों में राजी नहीं हूं। इसलिए पुराना मुझसे नाराज हो जाता है कि मैंने पुराने को गलत कहा। नया मुझसे नाराज हो जाता है कि मैंने नये को गलत कहा। और मुझसे राजी होना किसी का भी मुश्किल हो जाता है। लेकिन मेरी नजर में नया और पुराना नहीं, मेरी नजर में मनुष्य है कि वह मनुष्य को क्या लाभ है।
एक छोटी सी घटना, मैं अपनी बात पूरी कर दूं!
रेनपा ने एक संस्मरण में लिखा है--वह पांच साल का बच्चा है और उसके बाप
ने रात उसको बुला कर कहा है कि कल सुबह तुझे आश्रम में शिक्षा अध्ययन करने के लिए जाना है। लेकिन हमारे वंश में कभी कोई बच्चा रोता हुआ विद्यालय नहीं गया है। इसलिए ध्यान रखना--पांच साल के बच्चे से--ध्यान रखना हमारे परिवार में कोई बच्चा कभी रोता हुआ स्कूल नहीं गया है! कल सुबह पांच बजे तुम्हें विदा कर दिया जाएगा घोड़े पर और मैं या तुम्हारी मां तुम्हें दरवाजे पर छोड़ने नहीं आएंगे। क्योंकि हो सकता है, हमें देख कर तुम्हें रोना आ जाए। और यह देखना हमारे लिए बहुत कठिन होगा कि हमारा बच्चा भी रोता हुआ स्कूल जा रहा है क्योंकि रोते हुए बच्चे क्या सीख कर वापस लौटेंगे? फिर हमारे घर में ऐसा कभी हुआ नहीं!
यह बाप-दादों की पूरी की पूरी इज्जत का सवाल है! पांच साल के बच्चे से, सुबह नौकर ने उसे उठाया है। रात बारह बजे उसकी मां ने उससे विदा ले ली है कि मैं न आ सकूंगी क्योंकि हो सकता है कि मुझे देख कर तुझे रोना आ जाए। लेकिन हमारे बच्चे कभी रोते नहीं रहे।
सुबह पांच बजे नौकर ने उसे तैयार किया। उसकी आंख में आंसू भर-भर आते हैं, लेकिन वह अपने आंसू पी रहा है क्योंकि उसके पिता ने कहा है कि उनके घर

से कभी कोई बच्चा रोता हुआ नहीं गया है। तो यह अशोभन न हो जाए, मैं ही एक ऐसा बच्चा न हो जाऊं जो रोता हुआ जा रहा हो, अपने आंसू पीए वह घोड़े पर बैठ गया है। नौकर ने कहा है, पीछे लौट कर मत देखना, पिता छत पर खड़े होकर देख रहे हैं। इस घर से जब भी कोई बच्चा आश्रम गया है अध्ययन के लिए तो उस मोड़ तक उसने कभी लौट कर पीछे नहीं देखा है। क्योंकि पीछे लौट कर देखने वाले आगे नहीं जा सकते। पांच साल का बच्चा घोड़े पर बैठा, उसकी आंखों में आंसू भरे जा रहे हैं। लेकिन वह पीछे लौट कर नहीं देख रहा है क्योंकि उसका बाप क्या सोचेगा? कभी किसी बच्चे ने पीछे लौट कर नहीं देखा।
यह बड़ी ज्यादती मालूम पड़ सकती है। लेकिन निश्चित, इससे डेफिनेट कैरेक्टर पैदा होगा।
और उसने बाद में लिखा है कि आज मैं अनुभव करता हूं कि उस सुबह, उस सुबह मेरे पिता ने जितना प्रेम मुझे किया, और मेरे सारे वंश की सारी परंपरा का मुझे हकदार और मालिक बनाया और मुझ पर इतना भरोसा किया कि पांच साल का बच्चा बिना रोए, बिना पीछे देखे जाएगा, उससे बड़ा सम्मान मेरे प्रति और क्या हो सकता था--आज! उस दिन तो उसने कहा कि बहुत दुख मुझे था कि बाप कठोर है, दुष्ट है। मां भी कैसी मां है! लेकिन आज मैं जानता हूं कि मुझे कितना सम्मान उन्होंने दिया था पांच साल के बच्चे को कि भरोसा था कि नहीं, उसने लौट कर नहीं देखा। वह मोड़ तक घोड़े पर बैठा रहा।
इसका भी उपयोग है--इसका भी उपयोग है! आज दुनिया में जो इतना दबाव, डॉमिनेशन के माध्यम से नहीं, सम्मान के माध्यम से, आदर के माध्यम से, तो तो उसके परिणाम व्यापक हो सकते हैं!

शिक्षा में क्रांति
तीसवां प्रवचन

बोध का जागरण

(प्रश्न का ध्वनि-मुद्रण स्पष्ट नहीं।)

पहली बात तो, साधारणतः हम ऐसा ही सोचते हैं कि गुलामियों के कारण हमारे चरित्र का पतन हुआ, गुलामी के कारण हमारा व्यक्तित्व नष्ट हुआ! गुलामी आई, तभी हम चरित्रहीन हुए! गुलामी आई तभी, जब कि हम चरित्रहीन हुए?

उसको ही मैं कहना चाहता हूं कि चरित्रहीनता जो है वह गुलामी के कारण नहीं आई, बल्कि चरित्रहीनता के कारण ही गुलामी आई। और चरित्रहीन हम बने, ऐसा कहना मुश्किल है, चरित्रहीन हम थे। बनने का तो मतलब यह होता है कि हम चरित्रवान थे, फिर हम चरित्रहीन बने। तो हमें कारण खोजने पड़ें कि हम चरित्रवान कैसे थे, कब थे। और कैसे हम चरित्रहीन बने! मुझे नहीं दिखाई पड़ता कि हम कभी चरित्रवान थे। हमारी चरित्रहीनता बड़ी पुरानी है और चरित्रहीन का काफी जो बुनियादी कारण है, वह हमारी संस्कृति में सदा से मौजूद है। उसकी वजह से है। गुलामी का आना बिल्कुल स्वाभाविक था, और आज भी आ जाना बिल्कुल स्वाभाविक है। और अगर हम जो भी काम करेंगे चरित्रवान बनने के, वे सफल होने वाले नहीं हैं। वे सफल इसलिए नहीं होंगे कि हम फिर वही काम करेंगे जो हमने सदा से किया है।
जैसे, एक तो चरित्र से हम जो मतलब लेते रहे हैं, इस देश में वह मतलब भी बड़ा भ्रांत है। हमने चरित्र से एक ऐसा मतलब लिया सदा से, हम उस व्यक्ति को पूरा चरित्रवान कहते रहे, जो जीवन में दर्शक की भांति खड़ा हो जाए। हमारी जो चरित्र की व्याख्या थी सदा से, वह यह थी कि श्रेष्ठतम तो आदमी वह है, जो जीवन में दर्शक की भांति खड़ा हो जाए। जो जीवन में, जीवन के कर्म में कमीटेड न हो, जो बाहर खड़ा हो जाए जीवन की सारी व्यवस्था के। तो हमने अपने देश में जिन लोगों को सर्वाधिक आदर दिया वे, वे लोग थे जो एक अर्थों में जीवन को छोड़ कर जीवन के बाहर खड़े हो गए थे। तो जो कौम जीवन के बाहर हो जाने को चरित्र की श्रेष्ठतम ऊंचाई समझेगी, उस कौम में जीवन के भीतर जो लोग हों, उनका चरित्र गिरना शुरू हो जाएगा।
जो कौम धर्म को, शील को, ज्ञान को जीवन का छोड़ना बना देगी, त्यागवादी बना देगी, उस कौम के बहुजन जीवन में चरित्र विलीन हो जाएगा, क्योंकि हमारे मन में कहीं एक बात साफ हो गई कि जीवित होना ही चरित्रहीनता है और किसी गहरे पापों का फल है। अगर एक आदमी जन्मा है, तो वह अपने पापों का फल भोग रहा है और जो आदमी पापों के बाहर हो जाएगा, वह साथ ही जीवन के भी बाहर हो जाता है। उसका आवागमन बंद हो जाता है।
तो जीवन का पाप पर्यायवाची है हमारे लिए। और जिसके मन में जीवन... और पाप की याद आती है तो जीवंत, चरित्रवान और पुण्यवान होने का उपाय न रहा। जीवन से भाग कर और पलायन ही उपाय है। तो भारत का मन हजारों साल से पलायनवादी, एस्केपिस्ट है। और इस वजह से हम जीवन के भीतर जहां चरित्र की जरूरत है वहां चरित्र पैदा नहीं कर पाए। हमने एक भगोड़ चरित्र पैदा किया था। यह चरित्र काम का नहीं था। ज्यादा से ज्यादा पूजा के योग्य हो सकता था। यह चरित्र मंदिरों में बिठलाने योग्य हो सकता था। न यह युद्ध के मैदान में किसी काम का था, न यह बाजार के मैदान में किसी काम का था, न जीवन के संबंध में किसी काम का था। तो हम एक जीवंत चरित्र पैदा ही नहीं कर पाते हैं।
इसलिए ऐसा कहना उचित नहीं है कि चरित्र हमने कभी भी खोया, ऐसा ही कहना ज्यादा उचित है कि वह जो संस्कृति विकसित थी उसमें चरित्र आ ही नहीं सका। और अगर हम इसे ऐसा देख सकें तो हमें फिर पूरा का पूरा पुनर्विचार करना पड़ेगा। और पुनर्विचार करें तो ही हम मूल-स्रोत को पा सकेंगे। पृथ्वी के जीवन को हम स्वीकार नहीं किए इसलिए पृथ्वी के जीवन में भी हम स्वीकृत न हो

सके और हमने पृथ्वी को धन्यभाग से अंगीकार नहीं किया। इसलिए पृथ्वी भी हमें धन्यभाग से अंगीकार नहीं कर सकी। हम उखड़े हुए लोग हैं जिनकी जड़ें नहीं हैं।
तो एक तो यह खयाल में लेना जरूरी है कि भारत में हम कभी भी अगर चरित्र पैदा करना चाहें तो हमें एक तरह का पुनर्विचार करना पड़े। हमें फिर से यह पृथ्वी जीने योग्य और यह जीवन आनंद योग्य और इस जीवन को भोगना; रस; और इस जीवन के भीतर पुण्य और चरित्र की संभावना को ही स्वीकार करना पड़ेगा। और हमें तब इसके आस-पास की पूरी माइथोलॉजी, इसके आस-पास का पूरा दर्शन, इसके आस-पास की पूरी दृष्टि को नया करना पड़ेगा। जो कौमें भी परलोकवादी होंगी, उनका चरित्र कूड़ा होगा, रक्तहीन हो जाएगा। असल में रक्तहीनता ही चरित्रबद्ध है। और जहां भी रक्त दिखाई पड़ेगा, वहां खतरा दिखाई पड़ेगा। क्योंकि जहां भी रक्त और स्नायु होगा, वहां जीवन के हजार स्पंदन शुरू हो जाएंगे। हम सबसे घबड़ाएंगे।
अब हमारी कठिनाई क्या है? हमारी कठिनाई यह है कि हमने रक्तहीन चरित्र! रक्तहीन चरित्र कैसा होगा? सेक्स के भीतर तो चरित्र का उपाय नहीं है, क्योंकि सेक्स तो चरित्रहीनता है, तो सेक्स से भागा हुआ ब्रह्मचारी भर चरित्रवान होगा। वह रक्तहीन होने वाला है जब कि जीवन है चरित्र के भीतर। और सेक्स के भीतर का चरित्र का एक कोड चाहिए, वह विकसित नहीं हो पाएगा, उसके विकसित होने का उपाय नहीं रह जाएगा। उसे तो विकसित हम तब करते हैं जब हम स्वीकार कर लेते हैं कि यह रहा जीवन। इस घर के भीतर जहां मुझे जीना है, यहां की नैतिकता मैं विकसित नहीं करूंगा क्योंकि मैं मानता हूं कि इस घर के भीतर होना ही अनैतिक है। इस घर के भीतर अनैतिकता आ नहीं सकती, मैं इसके बाहर हो जाऊं तो नैतिक हो जाऊंगा।
यह भारत का जो पुरातन, भागता हुआ मन है, इसको जड़ें देने की जरूरत है।
और इस जीवन को जो हमें मना है, पृथ्वी का, शरीर का उसको किसी परलोक के जीवन के लिए समर्पित करने की जरूरत नहीं है। अगर परलोक का कोई जीवन है, तो उसके आनंद, उसके पुण्य और उसके चरित्र को ही विकसित होना चाहिए, उसके भागने को नहीं है।
तो एक जो जल्दी में ऐसा खयाल लेना कि चरित्र में कमी गुलामी के कारण
आई तो बड़ी कठिनाई हो जाती है। मेरे सामने यह सवाल उठता है कि वह कब था? वह मुझे कभी नहीं दिखाई पड़ता, पूरे ज्ञात इतिहास में कभी नहीं दिखाई पड़ता है। दिखाई पड़ने की हम कुछ भ्रांति में पड़ जाते हैं और इसलिए पड़ जाते हैं कि कुछ चरित्रवान लोग हमें दिखाई पड़ते हैं। वे कुछ चरित्रवान लोग सदा थे, वे आज भी हैं। लेकिन कुछ चरित्रवान लोगों से समाज नहीं बनता। समाज का चरित्र चाहिए।
तो दूसरी बात जो मेरे खयाल में आती है वह यह है कि हमने एक चरित्र की
और भी विकसित व्यवस्था की है जो व्यक्तिवाची है। समुदाय का कोई चरित्र नहीं है। और एक-एक व्यक्ति के चरित्रवान होने में हमारा आग्रह है। अगर वह चरित्रवान होता है, तो उसको स्वर्ग मिलता है, और चरित्रहीन होता है, तो नरक मिलता है। लेकिन सामूहिक चरित्र भी कोई चीज है। उसकी हमें कोई धारणा नहीं है। मेरी समझ ऐसी है कि चरित्र होता ही सामूहिक है। व्यक्तिगत चरित्र बेमानी बात है। अगर जंगल में अकेला हूं, तो झूठ और सच बोलने का कोई भी मतलब नहीं है। ब्रह्मचारी, गैर-ब्रह्मचारी होने का भी कोई मतलब नहीं है। नैतिकता, अनैतिकता का भी कोई मतलब नहीं है। सारा चरित्र वहीं से शुरू होता है, जहां से दूसरा मुझे छूता है।
तो जिस देश का चरित्र व्यक्तिवाची रहा हो, उस देश में सच्चे अर्थों में चरित्र पैदा नहीं होगा, क्योंकि चरित्र है ही वहां, जहां से दूसरा आता है मेरे जीवन में। वहीं से पता चलता है कि मैं क्या हूं? मेरे अंर्तसबंधों में ही है, मेरी इंटर रिलेशनशिप में ही है, मैं सर्वस्व होता हूं, हमारी कसौटियां वही हैं। हमने असंगता को चरित्र कहा, दूसरों से छूट जाने को, हट जाने को, अलग हो जाने को, संबंध तोड़ जाने को। एक बेटा मां के अलावा बेटे का चरित्र पूरा कर ही नहीं सकता और एक पति पत्नी के बिना पति के चरित्र को

पूरा कर ही नहीं सकता। हमारी सारी चरित्रवानता हमारे संबंधों की बात है और हमने जो चरित्र की भावना विकसित की है, वह व्यक्तिवाची है।
तो हमने तो कुछ व्यक्ति पैदा कर लिए, वे व्यक्ति ऐसे हुए जैसे कि नट रस्सी पर चलता है। जिंदगी तो रास्ते पर चलेगी, एक नट चल सकता है कि बंबई के दो बिल्डिंगों के बीच एक रस्सी बांध कर चल ले तो वह तीर्थंकर हो जाएगा या अवतार हो जाएगा। पर सारी दुनिया तो रस्सियों पर नहीं चल सकेगी। रस्सियां चलने के लिए नहीं हैं, नाटक के लिए हो सकती हैं। एक आदमी चल लेगा, करोड़ों आदमी तो उस मोटे रास्ते पर चलेंगे। उस रास्ते पर चलने का हमने कोई नियम नहीं बनाया है। हमने नियम बनाया है, रस्सी पर चलने वालों के और इस रास्ते पर चलने वाले तो कंडेम्ड हैं ही, तो उन्हें नियम बनाने की कोई जरूरत नहीं है, जरूरत तो रस्सी पर चलने वाले नट के लिए है। तो कभी करोड़ दो करोड़ आदमी में एक आदमी नट हो जाता है और, और महात्मा बन जाता है, ज्ञानी बन जाता है और वह चल जाता है रस्सी पर। हम सब जय-जयकार करके, ताली बजा कर अपने सीमित रूप से चलने लगते हैं। उस राह का कोई नियम नहीं है, उस रूप की कोई व्यवस्था नहीं है। व्यवस्था और नियम रस्सी वाले के लिए है।
तो दूसरी मेरी समझ है, हमें समूहवाची चरित्र का, और एक ऐसे चरित्र का
जो भागता न हो, रुकता हो, ठहरता हो, संबंधित होता हो... बल्कि संबंधित होना भी चरित्रवान होने का एक लक्षण है। हम कितने बड़े पैमाने पर संबंधित होते हैं। यानी मेरी तो समझ है कि जितना चरित्रवान व्यक्ति है उतना उसके संबंधों का अंतर्जाल व्यापक होगा। जितना चरित्रहीन व्यक्ति होगा, उसके संबंधों का जाल... उतना क्षुद्र और छोटा होगा। असल में जिनसे वह संबंधित भी होगा, चरित्रवान होने के कारण उसके और उसके संबंधों के बीच दीवाल होगी, संबंध नहीं हो सकता। एक चोर का क्या संबंध हो सकता है, एक झूठ बोलने वाले का क्या संबंध हो सकता है, एक दगाबाज का क्या संबंध हो सकता है, एक जेबकट का क्या संबंध हो सकता है! असल में अनैतिकता जो है वह असंबंध है और हमारी जो नैतिकता है, वह भी असंबंध है। इन दोनों के बीच बड़ा एक समान तत्त्व है।
तो दूसरी बात जो मुझे दिखाई पड़ती है कि हम चरित्र की समूहवाची दृष्टि
का विचार करें कि समूह में चरित्र का क्या अर्थ होता है। चूंकि व्यक्तिवाची चरित्र था इसलिए घूम-फिर कर हमारी सारी चरित्र की धारणा सेक्स के आस-पास रुक गई। आज अगर हम कहते हैं कि फलां आदमी चरित्रहीन है, तो ऐसा पता नहीं चलता है कि वह समय पर न आता होगा, ऐसा पता नहीं चलता होगा कि वह किसी को पैसे में धोखा देता होगा, कि दूध में पानी मिलाता होगा। ऐसा पता चलता है--कि उसके और किसी स्त्री के बीच गलत संबंध हैं। इसलिए एक आदमी झूठ बोले, कालाबाजारी करे, बस जिंदगी भर आंखें नीचे करके गुजर जाए, किसी स्त्री की तरफ न देखे, तो हमारे लिए चरित्र की वह आखिरी सीमा है, वह आखिरी मापदंड बन जाता है कि यह आदमी महान चरित्रवान है क्योंकि स्त्री को नहीं देखता है।
अगर हम बहुत गौर से देखें तो हमारी सारी चरित्र की धारणा यौन केंद्रित है और मजा यह है कि यौन जो है वह अत्यंत व्यक्तिगत बात है, बहुत सामूहिक बात नहीं है। ज्यादा से ज्यादा दो व्यक्तियों के बीच का संबंध है। लेकिन जब मैं झूठ बोलता हूं तो यह संबंध अनंत है। मेरे सेक्स का मामला मेरे और किसी और व्यक्ति के बीच की बात है, लेकिन बहुत गहरे में इसका कोई जातिक अर्थ नहीं है। यह बहुत प्राइवेट और निजी बात है। इस निजी बात को हमने इतना गौरव दिया है और जिसका अनंत व्यापी विस्तार होने वाला है, इसका हमने कोई मूल्य नहीं दिया है। तो इधर मुझे लगता है कि हिंदुस्तान में हम चरित्र को ऊपर न उठा पाएंगे, जब तक हम उसे यौन से मुक्त नहीं कर लेते। और मेरा मानना है कि यौन की धारणा चरित्र के किसी कोने की एक धारणा है। उसको पूरा चरित्र बना लेना हिंदुस्तान में यह तकलीफ हो गई है। हिंदुस्तान में एक आदमी और कुछ भी कर रहा हो, उतना कोई विचार का कारण नहीं पैदा होता है। तो यह जो चरित्र की धारणा है यह साधु और संन्यासी के लिए शायद सार्थक होगी। साधारण जन के लिए किसी अर्थ की नहीं है। साधारण जन के लिए हमें चरित्र की व्यापक धारणा खोज लेनी आवश्यक है।

दूसरी बातः जीवन में एक बार अगर हमने पलायनवादी रुख ले लिया, तब हमारी समस्त नीति और समस्त चरित्र किसी गहरे अर्थ में उतार का और भागने का होता है। और जीवन उनका है, जो आक्रामक है, जो आक्रामक हैं। आक्रामक सामान्य अर्थ में, समस्त अर्थों में--जीवन उनका है जो आक्रामक हैं। और एक बार उन्होंने तय कर दिया हो कि आक्रमण नहीं, तो उससे कोई अर्थ नहीं होता। और जीवन की बड़ी तकलीफ यह है कि यहां विकल्प हमें चुनने पड़ते हैं। या तो आप आगे बढ़िए, या आप पीछे हटा दिए जाएंगे। बीच में खड़े होने की कोई जगह ही नहीं है। यानी कोई यह सोचता हो कि हम आगे न बढ़ेंगे तो हम वहां तो खड़े ही रहेंगे जहां हम खड़े हैं, तो गलती में हैं। जिंदगी ऐसे आदमी को वहां खड़ा नहीं रखती है पीछे हटा देती है।
एडिंग्टन ने एक बात लिखी है कि मनुष्य की भाषा में "रेस्ट"... जो सत्य
है वह जीवन में उसका पर्याय कहीं भी नहीं है। रेस्ट शब्द बिल्कुल झूठा है। विश्राम में कोई भी चीज नहीं है। या तो आगे जा रही है, या पीछे जा रही है। ठहरी हुई कोई भी चीज नहीं है, खड़ी हुई कोई भी चीज नहीं है। या तो वृक्ष जवान हो रहा है या बूढ़ा हो रहा है। या तो आप ठहर गए हैं या सिकुड़ने लगे हैं। या तो आप जी रहे हैं या मरने लगे हैं। इन दोनों के बीच में ऐसी कोई जगह नहीं है कि एक आदमी कहे कि मैं जी तो रहा हूं, लेकिन आगे जीवन में नहीं बढ़ रहा हूं, मैं ठहर गया हूं। तो उसे पता नहीं, उसने मरना शुरू कर दिया। या तो आप पहाड़ पर चढ़ गए हैं, या नीचे उतर गए हैं।
इस देश के साथ क्या कठिनाई हो गई कि जीवन की जो सारी सहज बातें हैं वे
सब हमें निंदित करते हैं। जैसे विस्तार है, वह हमारे लिए निंदित हो गया है। हमने अनेक नामों से उसकी निंदा की और संकोच को अनेक नामों से प्रशंसित किया। अब एक आदमी धन बढ़ा रहा है, तो हमने उसकी निंदा की। हमने कहा कि वह परिग्रही है। एक आदमी अगर शक्ति बढ़ा रहा है; एक आदमी अगर सौंदर्य बढ़ा रहा है, एक आदमी अगर योजनाएं बना रहा है विस्तार की तो हम सबकी निंदा करते हैं। हमने उन आदमियों की प्रशंसा की, जो सब तरफ से संकोच करता है, सिकोड़ रहा है अपने को।
तो हमारा चरित्र जो है, वह संकोचवान है, विस्तारवान नहीं है। और जीवन
जो है, विस्तार को मानता है, वह संकोच को नहीं मानता है। और जिस दिन हमने यह तय कर लिया है कि हमें सिकुड़ना है उस दिन हमारे पांव ने स्वभावतः तय किया है, हमको फैलना नहीं है, हमको ठहरना है। कोई कठिनाई नहीं है कि मैंने अपने घर को छोटा करना चाहा, पड़ोसी के घर ने अपने घर को बड़ा करना चाहा। फिर हम गुलाम हुए। इस गुलामी का सारा जिम्मा पड़ोसी पर नहीं है, हमारे संकोच की धारणा पर है। और हमारे सारे महात्मा आज भी और अनंत काल से हमको संतोष सिखा रहे हैं। वे कहते हैं सिकुड़ जाओ। उस दिन तक सिकुड़ते जाओ, जिसके आगे सिकुड़ने की जगह न रह जाए। तो हम जगह नहीं देते हैं, उस जगह में सब भर जाता है।
हिंदुस्तान में बुद्ध और महावीर के बाद भयंकर संकोच पैदा हुआ। हिंदुस्तान के मानस में बुद्ध और महावीर के बाद उतना संकोच पैदा हुआ कि उस संकोच की वजह से हिंदुस्तान में सब तरह के आक्रमण आमंत्रित हुए। मेरा मानना यह है कि हमारे सब आक्रमण आमंत्रित हैं। यानी मैं ऐसा कहता हूं कि हम आक्रमण करने ही नहीं जाते, अगर हम न करें तो हम बुलाते हैं। इन दोनों के बीच जगह नहीं है। या तो हम आक्रमण करने जाएंगे, या हम किसी आक्रामक को बुलाएंगे। और बड़े मजे की बात यह है कि जिसकी आप बात करते हैं, अनुशासन और डिसिप्लिन की, वह संकोच की कौम में कभी नहीं होता। उसकी जरूरत नहीं होती। वह विस्तारशील जाति का लक्षण है अनुशासन का, क्योंकि विस्तार के लिए अनुशासन जरूरी है। बिना अनुशासन के विस्तार नहीं किया जा सकता।
इसलिए बहुत बार ऐसा हो जाता है कि ज्यादा श्रेष्ठ संस्कृति कभी अपने
से निकृष्ट संस्कृति के सामने झुक जाती है, अगर वह विस्तारवादी नहीं है। और सदा ऐसा हुआ है--चंगीज या तैमूर या हिंदुस्तान में आए हुए सब आक्रामक चाहे वे हूण हों, चाहे वे मुगल हों, चाहे तुर्क हों, कोई भी हों जो भी हिंदुस्तान आए, हिंदुस्तान की संस्कृति के मुकाबले वे सब पिछड़ी हुई कौमें थीं। लेकिन एक मामले में हम मुश्किल में पड़ गए। वे आक्रामक थे और

डिसिप्लिनड थे। हम अनाक्रामक थे, अनाक्रामक को डिसिप्लिन की कोई जरूरत न थी। अब हमें आक्रमण करने नहीं जाना है, तो हम दंड-बैठक नहीं लगाते हैं। जब आप मुझ पर आक्रमण करते हैं तब मैं लगाना शुरू करता हूं। या वैसे ही है जैसे कि आग लग जाए, तब हम कुआं खोदने लगते हैं। कुआं जब तक खुदता है तब तक मकान जल जाता है। लेकिन आग लगाने निकलेंगे तो आग से जलने का डर सदा ही है। जैसे कि तैमूर और चंगीज एकदम अशिक्षित, एकदम बर्बर और जंगली। साधन भी उनके पास बहुत नहीं हैं, लेकिन फिर भी एक अदम्य अभीप्सा फैल जाती, तो उन्होंने यूनान तक हिला दिया और इधर चीन के कोने तक हिला दिया। पूरा एशिया और यूरोप--थोड़े से टुकड़ों ने, एक-एक ईंट बजा दी, रोम से लेकर और पेकिंग तक सबको हिला दिया एक दफा। और जो कि बड़े गिने थे, उनको, जिनके जमाने की दो लंबी पुरानी कहानी हैं और जिनको संदेह मिट गया था कि हम कभी हराए जा सकते हैं-- उनको बड़ी छोटी कौमों ने, बड़ी खानाबदोश कौमों ने, जिनके पास कोई बहुत सामर्थ्य न थी, लेकिन उनके सामने विस्तार की अभीप्सा थी।
और विस्तार की अभीप्सा के पीछे अनुशासन आता है। सिर्फ रक्षा की अभीप्सा से अनुशासन नहीं आता है। तो मेरी अपनी समझ यह है कि आप सिर्फ अनुशासन का गुणगान करें, तो आप अनुशासन पैदा नहीं करवा सकते हैं। अनुशासन का भी अपना अनुशासन है। अनुशासन का अपना मेथड है जाने का। वह आता ही तब है, जब कोई विस्तारशील भावना काम करती है, जब हम फैल जाना चाहते हैं।
अब जैसे, आज अमरीका में या रूस में समय का एक अनुशासन पैदा होगा, जो उन
दो मुल्कों के सिवाय कहीं भी पैदा नहीं होगा। क्योंकि उन्होंने अंतरिक्ष का विस्तार शुरू किया। अभी तक जो समय का अनुशासन था, वह घंटों में चल सकता था, मिनटों में चल सकता था। अब जो समय का अनुशासन है वह सेकेंड के और क्षण के भी हजारवें हिस्से में चलाना होगा। क्योंकि अब अंतरिक्ष की यात्रा जो है उसमें एक सेकेंड भूल-चूक हो जाने से हमारा यात्री सदा को मुक्त हो जाएगा। तब अमरीका एक ऐसी टाइम डिसिप्लिन को उपलब्ध हो जाएगा, जिसकी हमें कल्पना नहीं हो सकती।

असल में बैलगाड़ी में जो चल रहा है, उसके टाइम का अनुशासन अलग होगा। और राकेट में जो चल रहा है, उसके टाइम का अनुशासन अलग होगा। बैलगाड़ी में चलने वाली कौम से हम कहें कि तुम समय से आ जाओ, तो हम बात गलत कहते हैं। हम उससे कहें, तुम ठीक छह बजे आ जाना
तो इसका कोई मतलब नहीं होता। बैलगाड़ी में तीन होता है समय--सुबह, दोपहर, शाम। वह छह-छह घंटे की होती है। इनका जो विस्तार है--एक आदमी कहता है, हम सांझ आ जाएंगे सूरज ढलने पर। सूरज ढलने पर आ सकता है, सूरज ढलने के घंटे भर पहले आ सकता है, सूरज ढलने के चार घंटे बाद आ सकता है। अभी सांझ ही चली है, क्योंकि बैलगाड़ी भरोसा योग्य ही नहीं है। बैलगाड़ी का अपना समय है। पैदल चलने वाले आदमी के समय में घंटे नहीं होते हैं, दिन होते हैं। लेकिन अब, जब हम अंतरिक्ष की यात्रा पर निकलेंगे, तो सेकेंड के हजारवें हिस्से पर एक्युरेसी चाहिए। अब चांद का विस्तार अमरीका के मन में टाइम का जो बोध देगा, वह हमारे मन में नहीं हो सकता है। अमरीकी सैनिक के मन में, अमरीकी युवक के मन में जिस नई यात्रा के अभियान पर निकला है वह सारी दुनिया को पिछाड़ देगा समय के मामले में। उसके बराबर समय की सचाई किसी में नहीं रह जाएगी। लेकिन, यह आती है एक दूसरी व्यवस्था से। वह फैल रहा है, पृथ्वी को छोड़ कर बाहर जा रहा है। असल बात यह है कि अब पृथ्वी आक्रमण के लिए बहुत छोटी पड़ गई है। अब जो आक्रमणवान है, अब उनके लिए पृथ्वी बहुत छोटी है। वह एक दुर्बल विलेज से ज्यादा नहीं है, एक बड़ा गांव है जो जमीन पर फैला हुआ है। अब जो वृहत आकांक्षा है, वे चांद-तारे और मंगल और दूर के तारों पर बस्तियां बसाएंगे।
तो मेरी अपनी समझ यह है कि भारत को विस्तारवादी, अब यह शब्द बड़ा खराब मालूम पड़ता है और हमारे हजारों साल की निंदा में उसको बड़ा गंदा कर दिया है। इसके मानस में विस्तार चाहिए, वह विस्तार बहुआयामी होगा। धन का भी हो, यश का भी हो, ज्ञान का भी हो, यात्रा का भी हो, अभियान का भी हो, एडवेंचर का भी हो, वह समस्त दिशाओं में विस्तारवादी हो। तो भारत के युवक की जो पीड़ा

है, वह पीड़ा यही है कि युवक होता है विस्तारवादी और भारत का मन है संकोचवादी। भारत का मन है बूढ़े का और उसमें भारत के युवक के लिए भारत के मन के साथ बड़ी बेचैनी हो गई है।
यह लड़ाई बाप से नहीं है भारत के लड़के की, यह लड़ाई बुढ़ापे से चल रही है।
यह लड़ाई संकोच से चल रही है। वह कोई कांशस नहीं है, कोई बहुत साफ नहीं है, जो हो रहा है, वह क्या हो रहा है! और हम अपने पुराने ही ढांचे में उसको बिठालने की कोशिश में लगे हैं। वह ढांचा उसके काम का नहीं साबित होगा, वह ढांचा तोड़कर बाहर निकलेगा। क्योंकि अगर हमने समझपूर्वक काम लिया, तो वह खुद ही बिना टूटे हुए ढांचे के बाहर हो सकेगा, नहीं तो ढांचा तोड़ने में फिर भी टूट जाएगा।
तो एक तो मेरा खयाल है कि भारत के मन में हमें अभीप्सा जगाने की जरूरत है। कोई हमने ढाई-तीन हजार वर्ष से सपने नहीं देखे। कोई बड़ा सपना नहीं देखा सिवाय मरने के और मोक्ष जाने के, जो कि कोई सपना नहीं है। हमने तीन हजार वर्ष में ऐसा कोई सपना नहीं देखा जिसको पूरा करने में हमारी शक्तियों की भी पुकार आए। जिसको पूरा करने के लिए हमारा युवक डूबे, जिसको पूरा करने के लिए युवक की जवानी रस ले। हमने कोई सपना नहीं देखा। हम स्वप्न-न्यून कौम हैं। अगर हम पूरा अपने इतिहास को देखें तो हम बड़े हैरान होंगे कि हम अकेली कौम हैं इस पृथ्वी पर जिसके पास कोई उटोपिया और कोई बड़े सपने नहीं हैं। जरूरी नहीं है कि वे सपने पूरे होने वाले हैं। सच तो यह है कि सपने ऐसे चाहिए जो कभी पूरे होने वाले न हों। जो हमें रोज बुलाते रहें और हम रोज बढ़ते रहें और कभी पूरे भी न हों।
हमने जो सपना देखा है वह है सुसाइडल। हमारा सपना जो है वह मरने का है।
और मरना भी हम साधारण मरने से तृप्त नहीं हैं, हम कहते हैं हमें इस भांति मरना है कि फिर हम जन्म न सकें। हम असल में एब्सोल्यूट डेथ के आकांक्षी हैं। साधारण मृत्यु से राजी नहीं हैं। या तो पृथ्वी सिंह मरते हों, तो वह साधारण मृत्यु से राजी नहीं हैं, वे कहते हैं--फिर कहीं जन्म न हो। उनकी आकांक्षा ऐसी है कि मरें तो ऐसे मरें कि फिर जन्म ही न हो। तो हम एकदम जन्म-विरोधी, जीवन-विरोधी हैं। आत्मघाती हमारा चित्त है। निश्चित ही हमें कुछ आत्मघाती लोगों ने प्रभावित किया है। कुछ सुसाइडल माइंड्स हमारी छाती पर सवार हो गए हैं और उन्होंने हमारा पूरा का पूरा देश का मानस एक दिशा में मोड़ दिया है।
और सच यह है कि देश के पास बहुत मानस नहीं होता। दस-पांच लोग उसे चलाते हैं। अगर कहीं हमारे ऊपर ऐसे लोग हावी हो जाएं, जो आत्मघाती हों, और मरने की आकांक्षा रखते हों, तो वे हम सबको मरने की दिशा में मोड़ देंगे। तो हमें अब इस देश में ऐसे व्यक्ति चाहिए, बहुत ज्यादा नहीं थोड़े से ही चाहिए, जो जीवन के आकांक्षी हों, जिनके जीवन की आकांक्षा प्रबल और अदम्य हो और जो यह कहने को इनकार करते हों कि हम मरने वाला मोक्ष नहीं चाहते हैं, हम ऐसा मोक्ष चाहते हैं जो परम जीवन हो। हम जन्मों से नहीं डरते हैं, हम ऐसा जन्म चाहते हैं कि उसके बाद मौत ही न हो।
अगर हम यह जीवन के अभियान की कल्पना और यह सपना भारत को दे सकें तो हमारे भीतर की सब अवरुद्ध शक्तियां आज जग सकती हैं। मर नहीं जाती हैं, सिर्फ अवरुद्ध होती हैं और कई बार ऐसा होता है कि अगर भीतर शक्तियां अवरुद्ध हो जाएं, तो उनका अवरुद्ध होना बड़ी बेचैनी पैदा करता है। मार्ग मिलता नहीं और बेचैनी पैदा होती है। यह जो आज जैसा हमें दिखाई पड़ रहा है, यह आजादी भी एक नकारात्मक आजादी है।
अब मैं इधर देखता हूं कि अगर विस्तारवादी हमारा मुल्क होता, तो आजादी पाजिटिव होती, विधायक होती। संकोचवादी मन है इसलिए आजादी नकारात्मक है। हम सिकुड़ गए, पड़ोसी हमारे ऊपर कब्जा कर लिए। अब ज्यादा से ज्यादा हमारी आजादी का कुल मतलब इतना है कि कृपा करके हम पर कब्जा छोड़ो। यह नकारात्मक भाव है आजादी का। यह आजादी का इतना ही भाव है कि कृपा करके हमें गुलाम मत बनाओ। लेकिन जो गुलाम नहीं है, जरूरी रूप से आजाद नहीं हो जाता। गुलाम होना एक स्थिति है, आजाद होना बिल्कुल दूसरी स्थिति है। गुलाम न होना सिर्फ बीच की कड़ी है। जैसे हम गुलामी से आजादी में यात्रा करते हैं। तो

अभी भारत गुलाम न होना बिल्कुल बेमानी है। या तो हम आजाद बनें और या हम गुलाम हो जाएं, वे दोनों चैन की अवस्थाएं हैं। क्योंकि उनकी एक स्थिति है। गुलाम न होना सिर्फ एक सेतु है जिससे हमें आजादी को पहुंचना चाहिए। लेकिन आजादी का हम करेंगे क्या? आजादी का करने का एक ही अर्थ हो सकता
है कि हमारे पास कोई सपने हों जिनको हम पूरा करना चाहें तो आजादी का कोई मतलब है। हमारे पास कोई सपने न हों, हमारे पास सिर्फ एक भाव था, जो किसी भांति ऊपर जो बैठा है, वह नीचे उतर जाए। वह नीचे उतर गया है। अब हम बड़ी दिक्कत में पड़ गए हैं। हमारे पास एक काम भी था, वह भी खत्म हो गया कि किसी को नीचे उतारना था, वह भी नीचे उतर गया। और हमें बड़ी दिक्कत में छोड़ गया है। और ऐसे असमय में उतर गया है जब हमें आशा भी नहीं थी कि उतरेगा। हम बड़े भरोसे में जी रहे थे कि अभी नहीं उतरेगा। आजादी की लड़ाई हम जारी रखेंगे। वह अचानक गर्दन से उतर गया, अब हमारे पास कोई लड़ाई भी नहीं है, कोई काम भी नहीं है।
अब हम बड़ी बेचैनी में पड़ गए हैं। अब हमें ऐसा लगता है कि अब हम क्या करें। भारत के सामने बड़े से बड़ा मनस में सवाल है कि क्या करें, वॉट टु डू? और जो भी करना है, वह सदा विस्तारवादी होता है। उसमें किसी तरह का विस्तार चाहिए, तो हम दरिद्रता को वरण किए बैठे हैं। हम दरिद्र को कहते हैं, तुम नारायण हो--दरिद्रनारायण, हम तुम्हारी पूजा करेंगे। हम जो आदमी सड़क पर नंगा खड़ा हो जाता है, उसके जाकर पैर छुएंगे। जो आदमी ढंग के कपड़े पहने है वह हमें पापी मालूम पड़ेगा कि भोगी है, कपड़े ठीक से पहने हुए है, आराम से बैठा है। कष्ट झेले, कांटे बिछा कर सड़क पर बैठ जाए, तो महात्मा हो जाए।
यह जो हमारे चित्त की अवस्था है, तो सारे मुल्क को जब तक कांटे पर लिटा दे, तब तक हमारा मन भर नहीं सकता। जब तक सारा मुल्क नंगा न हो जाए और जब तक सारा मुल्क भीख न मांगे तब तक हम तृप्त न होंगे। वह हमारा अंतिम लक्ष्य मालूम होगा। यह हो नहीं सकता, क्योंकि मनुष्य की सहज व्यवस्था के प्रतिकूल है। और कुछ लोग मैसोचिस्ट थे। कुछ लोगों को खुद को कष्ट देने में भी रस आता है। वे उससे बड़े मजे में आनंद में आ जाएंगे। वे कांटे बिछा कर लेटे हैं। वे सिर के बल खड़े होकर शीर्षासन कर रहे हैं। हम भी बड़े प्रसन्न होंगे। और हम कहेंगे कोई बात में आगे हमसे नहीं हो सकता, लेकिन तुम कर रहे हो, तो कम से कम तुम एक आदर्श तो हो।
हमें ये सब आदतें गिरानी पड़ें और जिंदगी की जो सहजता है... इधर मैं इतना हैरान होता हूं कि कई बार ऐसी कठिनाई हो जाती है कि अगर हजारों साल तक हमने अगर कोई सहज बात को इनकार किया हो, तो हम भूल ही जाते हैं कि वह सहज है। जिंदगी की जो सहजता है वह हमें अंगीकार कर लेनी पड़ेगी। और हमारा युवक तत्काल अनुशासन में आ जाए, अगर हम सहज जीवन को स्वीकार कर लें। अगर मुल्क सपने पैदा कर सके, तो युवक अभी प्रतिबद्ध हो जाए। हम सपने के लिए कमिट कर सकें, कि हम अपने को लगा सकें। लेकिन कोई सपना नहीं है। और हम जो बातें करते हैं वे सीधी और बचकानी हैं, और हम जो आदर्श रखते हैं वह ऐसे ही कि वह बेमानी है।
हम कभी कहते हैं कि पंचवर्षीय योजना पूरी करो, जो कि कोई बड़ा सपना नहीं है। युवक के पास बड़े सपने देखने की आकांक्षा है। हम कहते हैं कि पंचवर्षीय योजना पूरी करो। उसके पास बड़ी कामनाएं हैं कि उसका मन भरे, हम उसको ऐसी क्षुद्र कामनाएं बताते हैं कि वह उसको छोड़ ही देता है कि कुछ मतलब की नहीं हैं।
अभी मैं देख रहा हूं कि रूस में पिछले... स्टैलिन के मरने के बाद पूरी शिथिलता आ गई है और रूस का लड़का इनकार करता है। वह कहता है, पंचवर्षीय योजना, इसमें क्या है! और कब तक हम इस बकवास में पड़े रहेंगे। कुछ और करने को है? प्रावदा के सारे एडिटोरियल पिछले दस वर्षों से एक ही बात समझा रहे हैं कि काम करो, काम करो, ज्यादा अन्न पैदा करो। वह यह जो खबर दे रहे हैं, कुछ मामला भीतर गड़बड़ हो गया है, या तो चाबुक के बल पर उससे काम ले लिया गया है, स्टैलिन के वक्त कि उसके पीछे बंदूक लगी है। खुद स्टैलिन उन्नीस सौ अट्ठाइस के बाद कभी किसी गांव में नहीं गया। लेकिन उसकी खेतों और ट्रैक्टर के साथ फोटो और बड़े पोस्टर लगाए गए। वह कभी नहीं गया उन्नीस सौ

अट्ठाइस के बाद। और लड़के को बस यही लगाए हुए हैं कि यह करो, यह करो, और लड़का ऊब गया है। सारा साहित्य रूस का बोर्डम पैदा करने वाला है। खेती और अनाज और ट्रैक्टर और बस वही, तो सारा सपना चाहिए उन पर।
हमारे साथ यह मुश्किल है, हमारे पास कोड़ा भी नहीं है और उनके पास कोड़ा
भी था। वह स्टैलिन, काम न हो तो आदमी को मिटा भी सकता था। हम वह भी नहीं कर सकते हैं कि हम आदमी को मरने को मजबूर कर दें ताकि कुछ करने को मजबूर होना पड़े, वह भी हम नहीं कर सकते। हम ऐसा सपना भी नहीं देख सकते कि वह स्वेच्छा से मरने की आकांक्षा से भर जाए, और अपने को जूझा दे और कहीं लगा दे। इतना भी नहीं कर सकते, भीतर से धक्का भी नहीं दे सकते। तो हम, एक जिच पैदा हो गई है जिसमें हम खड़े हो गए हैं। इस जिच को बहुत साधारण उपायों से नहीं तोड़ा जा सकता।
इस जिच को तोड़ने के लिए हमें पूरी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में कुछ बुनियादी मुद्दे तोड़ने पड़ेंगे और हमें भारत के लिए नये इमेज देना पड़ें, नई प्रतिमाएं देना पड़ें। बुद्ध और महावीर की प्रतिमाएं इस मामले में काम नहीं देंगी। शिवाजी और प्रताप भी इस मामले में अति साधारण हैं। इस मामले में हम उनको भी बहुत ज्यादा देर तक खींच कर काम में नहीं ला सकते हैं। क्योंकि जिन मुद्दे से वे लड़े थे, वे मुद्दे बहुत बचकाने और साधारण थे। आज मामला बहुत दूसरा है, और ऐसे मामले के लिए भारत की पूरी संस्कृति को सोचकर हमें फिर से निर्धारित करने का खयाल देना पड़ेगा और जहां-जहां संस्कृति में बुनियादी भूलें हैं और जिनकी वजह से सारे उपद्रव पैदा हुए, वे हमें काट कर फेंक देने पड़ें। अनुशासन लाना हो तो भारत के चित्त को विस्तार के काम देने पड़ें। उसके साथ ही अनुशासन अपने आप शुरू होता है।
अनुशासन का मतलब, बड़ा सपना, जो युवक के मन को भा जाए और वह उससे जूझ सके। अब हम देखते हैं कि लड़के को आप भेज देते हैं पढ़ने। जैसा आप कहते हैं, ठीक कहते हैं कि वह अपने बाप के प्रति जिम्मेवारी नहीं ले रहा है, और बाप मेहनत करके पढ़ा रहा है। कांट्रैक्ट वह पूरा नहीं कर रहा है। लेकिन मजा यह है कि उस लड़के को दिखाई पड़ रहा है कि वह एम.ए. के बाद फलॉप होने वाला है। आप यह नहीं देख रहे कि उसकी आगे है क्या, भविष्य क्या है उसके लिए? ज्यादा मौके इसी बात के हैं कि वह एम.ए. फर्स्ट क्लास लेकर दफ्तरों के सामने क्यू लगा कर खड़ा रहे और नौकरी न मिले। आगे पूरा क्या होने वाला है जिसके लिए वह युनिवर्सिटी में मेहनत करे।
मैं युनिवर्सिटी में देख कर इस बात से हैरान हुआ कि कितने लड़के हैं जो डरते हैं कि अगर हमारी शिक्षा विश्वविद्यालय की पूरी हो गई तो फिर? इसका भय ही मैंने अनुभव किया। इसके लिए भयभीत हैं लड़के कि अब इस साल एम.ए. पूरा हुआ जा रहा है, तो अगले साल के लिए हमें खड़े होना है, किसी एंप्लायमेंट ऑफिस के सामने, और क्लर्क के सिवाय कुछ भी नहीं है। वह भी मिले, तो मुश्किल है। सौ रुपये की नौकरी मिलना मुश्किल है। वह लड़का डर रहा है, पूरे मन से यह घबड़ाहट है कि दो साल और युनिवर्सिटी में किसी तरह गुजर जाएं तो दो साल मैं और लगा दूं। यानी आप जो देख रहे हैं कि पचास प्रतिशत लड़के फेल हो रहे हैं, इसमें फेल होने में भविष्य की कमी है, भविष्य कोई है नहीं।
पिछला जो आज से चालीस साल पहले लड़का मेहनत कर रहा था विश्वविद्यालय में, उसका भविष्य था। अगर वह मिडिल भी पास हो जाता तो तहसीलदार हो जाता। आज से चालीस साल पहले, तीस साल पहले, पचास साल पहले मिडिल जो था, वह बड़ी भारी पोस्ट थी। पहला लड़का जो इलाहाबाद में मैट्रिक हुआ उसका हाथी पर जुलूस निकाला गया था। सारे इलाहाबाद में मैट्रिक हुआ, उसका हाथी पर जुलूस निकाला गया था। सारे इलाहाबाद में फूल बरसाए गए कि एक लड़का मैट्रिक पास हो गया। उस लड़के को जो मैट्रिक पास होने का मजा आया होगा, वह आज किसी लड़के को पी.एचड़ी. होने में भी मजा नहीं है। और गधे पर भी नहीं बिठाएंगे, हाथी तो बहुत दूर की बात है। बल्कि जो पी.एचड़ी. हो गए हैं, हम उससे पूछेंगे कि किस मतलब से हुए?
आदमी को भविष्य चाहिए। असल में भविष्य रोज खींचता है और ताकत देता है। कल कुछ होना चाहिए जो पूरा होने वाला है और उसको पूरा होने के लिए तैयारी आती है। कल कुछ होने वाला नहीं है, तैयारी किसकी करना है। और यह

तैयारी कल जाकर एकदम से बेकार हो जाने वाली है, बेकार हो जाएगी। तब तैयारी करके पता चलेगा कि कुछ नहीं हुआ। यानी तैयारी ऐसी चल रही है लड़के की कि आज शादी-विवाह का भरोसा दिला रहे हैं, और वह जान रहा है कि विवाह हो जाएगा, बैंड बज जाएंगे और दुल्हन नहीं आएगी वक्त पर और हम क्यू में खड़े हो जाने वाले हैं, कुछ हाल में होने वाला है नहीं। तो वह घर में सुस्त घूम रहा है, उसके चेहरे पर खुशी नहीं है।
हम उससे कहते हैं तुम जवान हो, तुम्हारे विवाह का वक्त है, तुम खुश नजर आओ। अब वह कहता है, हम जानते हैं कि घोड़ा तो बन जाएगा और बैंड-बाजे बज जाएंगे, दुल्हन आने वाली नहीं है। तो वह डर रहा है, वह घर के भीतर घूम रहा है कि बाहर मुझे मत निकालो। बैंड-बाजे बज रहे हैं तो कहीं देख लेंगे।
आज के पहले शिक्षा थी कम, काम था ज्यादा। भले आदमियों ने अनिवार्य शिक्षा कर दी। अनिवार्य शिक्षा करके शिक्षित तो ज्यादा पैदा कर रहे हैं और काम हम पैदा नहीं कर पा रहे हैं। शिक्षित बढ़ता जा रहा है, काम बिल्कुल नहीं बढ़ रहा है। वह बिल्कुल परेशानी में पड़ गया है। उससे जब हम बातें करते हैं अपनी, तो उसको हम पर क्रोध आता है बजाय हमारी बातों को पसंद करने के। और जो हमारा नेता है, उसको समझाने जाता है तो उसका मन होता है कि इसकी गर्दन दबा दूं। और वह दबा रहा है, और दस साल के भीतर हिंदुस्तान में नेता होना अपराधी होने के बराबर हो जाने वाला है। एक चोर का... जुलूस तो निकल सकेगा, नेता का नहीं निकल सकेगा। क्योंकि नेता दुश्मन मालूम पड़ रहा है। खुद तो कब्जा करके बैठ गया है अपनी जगह पर और दूसरों को त्याग का उपदेश दे रहा है। खुद तो मजा कर रहा है, अपनी चीज को बिल्कुल सिक्युर्ड कर और दूसरों को कह रहा है, तुम त्याग करो देश के लिए और खुद तो त्याग कर नहीं रहा है! और कठिनाई इसकी भी है, यह जो नेता है इसके साथ हमारी भ्रांति हो गई है। इधर गांधी जी की वजह से बड़ी भ्रांतियां हुई हैं। एक तो गांधी जी ने हिंदुस्तान में जो आजादी का आंदोलन चलता था, उस आंदोलन में ऐसे आदमी पैदा किए कि जिनको त्याग की धारणा थी।
असल में जब भी कोई आंदोलन शक्ति पाने के लिए चलता है तब त्याग करना सदा आसान है--एकदम आसान है। क्योंकि आगे शक्ति पाने का लक्ष्य खड़ा होता है, सपना आगे होता है। जो आदमी लड़ रहा था हिंदुस्तान में आजादी के लिए उसके सामने शक्ति पाने का साफ-सीधा मौका था कि सामने एक भविष्य है। भविष्य के मौके पर त्याग करना सदा आसान है क्योंकि सारी शक्ति हमारे हाथ में आने को थी। सारे देश की ताकत हजारों साल के बाद लौटने को है, तो हम संघर्षरत हैं। हम त्याग कर सकते थे, हम जेल जा सकते थे, हम भूखे रह सकते थे, हम भूखे मर सकते थे। लेकिन न गांधी जी को खयाल था, न उनके और साथियों को खयाल था कि यह बात आजादी के पहले की है, आजादी मिलते ही सब बदल जाएगा। आजादी मिलते ही वह जो त्यागी था, वह एकदम से कहेगा कि मुझे वायसराय का भवन चाहिए। कहेगा ही, और फिर उससे आप त्याग की अपेक्षा न कर सकेंगे, क्योंकि त्याग उसने किया था, किसी बड़ी आकांक्षा के लिए। आकांक्षा समाप्त हो गई!
अब त्याग का कोई सवाल नहीं है। अब वह त्याग भंजाएगा। अब उसने--त्याग इकट्ठे कर लिए हैं, अब वह उनका बाजार में बदला चाहेगा। वह बदला ले रहा है और दूसरे युवकों को कह रहा है, त्याग करो। उनके सामने कुछ भी पाने योग्य नहीं है, जिसके लिए त्याग किया जाए। तो इस वजह से एक कठिनाई स्वभावतः होने वाली है। अब यह जो स्थिति है, इस स्थिति को हम कहां से तोड़ना शुरू करें। इस स्थिति को लाना न पड़े। यह बराबर तोड़ा जा सकता है। लेकिन हम जो आकांक्षाएं हजारों साल से सप्रेस किए हुए हैं, उनको मुक्त करना है। अब जहां तक कठिनाई है हमारे युवक की, वह अपने मन की पत्नी भी नहीं पा सकता है।
आप उसको जीवन में क्या भरोसा दिलाने जा रहे हैं? एक लड़की को प्रेम भी
तो नहीं करने की स्वतंत्रता है उसको। और तो मामला और दूर है। एक आदमी जिंदगी में, शायद मैं कहूं कि नब्बे प्रतिशत प्रेम की तृप्ति मांगता है और दस प्रतिशत जो मांगता है, वह उसके प्रेम के आसपास होती है। तो दस प्रतिशत भी वह प्रेम के लिए खो सकता है। लेकिन उसकी भी अभीप्सा हम युवक में पैदा नहीं कर पाते हैं। अगर हिंदुस्तान में हम सिर्फ प्रेम का भी मार्ग खुला छोड़ दें, तो भी हिंदुस्तान का युवक और सक्रिय हो जाता है।

वानगॉग की जिंदगी में एक बहुत अदभुत घटना है। कोई लड़की उसको प्रेम नहीं कर पाई, वह कुरूप था। कोई लड़की उसे कभी प्रेम नहीं कर पाई, करना मुश्किल था, अति कुरूप था। न वह कपड़े ढंग से पहनता था, न वह स्नान ढंग से करता था, न वह किसी से ठीक से बोलता था, न वह ठीक से खाता था। एकदम पागल और दीवाना की तरह घूमता रहता। एक दुकान पर काम करता था, वहां भी वह वैसे ही गंदे और बेवक्त कभी भी पहुंच जाता था और दुकान उसे अलग करने को सोच रही थी कि उसे अलग कर दिया जाए। लेकिन अचानक एक दिन दुकान का मालिक हैरान हुआ कि वह अच्छे कपड़े पहन कर, नहा कर, बाल-वाल कटा कर, दाढ़ी-वाढ़ी साफ करके, इत्र-वित्र लगा कर हाजिर हो गया। उसके मालिक ने पूछाः चमत्कार! हम तो विश्वास ही नहीं कर सकते कि तुम और स्नान करोगे, तुम कभी बाल कटा लोगे और कपड़े धुला सकोगे, तुम्हें हो क्या गया है? तो उसने कहा कि मत पूछिए, एक लड़की मेरी जिंदगी में आ गई है।
आदमी की जो सामान्य दुनिया है, उसमें प्रेम एक तत्व है कि उसे व्यवस्था देता है। हमने इतने अच्छे कपड़े ईजाद किए वे किसी को अच्छे लगे हैं इसलिए ईजाद किए हैं। हमने अच्छे मकान बनाए, उसमें जिसको हम प्रेम करते हैं, इसलिए बनाया है। हमने सुगंधें ईजाद कीं, स्नान ईजाद किया, सब ईजाद किया। इसलिए अगर एक संन्यासी नहाना बंद कर देता है तो बहुत आश्चर्य की बात नहीं है। वह भी किसी के लिए नहाता है। एक संन्यासी अगर कुरूपता में जीने लगता है तो बहुत स्वाभाविक है, उसे अब सुंदर होने का प्रयोजन भी क्या है? हिंदुस्तान के युवक, उस प्रेम का जो कि युवक के लिए सबसे बड़ा सपना है,
वह भी नहीं है। वह भी उसका बाप तय कर रहा है। वह भी जन्म-कुंडली मिलाई जा रही है। तो ठीक था, दस साल के लड़के की आप जन्म-कुंडली मिला लेते तो उसको पता नहीं था कि आप क्या कर रहे थे? पच्चीस साल के लड़के की जन्म-कुंडली मिला रहे हैं। उसे मुश्किल में डाल रहे हैं। तुम अपने खिलाफ उसको खड़ा कर रहे हो और उसकी जिंदगी में जाल बुन रहे हो, जो उसको नुकसान पहुंचा देंगे और उसकी जिंदगी में सप्रेशन डाल रहे हो। न प्रेम है उसकी जिंदगी में, न धन है उसकी जिंदगी में।
मेरी समझ है कि अगर धन न हो, और प्रेम हो, तो भी आदमी जीता है, जी सकता है। लेकिन प्रेम भी नहीं है और धन है नहीं। कोई महत्वाकांक्षा पूरी होती दिखाई नहीं पड़ती। तो इधर हमें कुछ चीजों पर बुनियादी चोट करनी चाहिए। जैसे मेरा मानना है कि हिंदुस्तान में प्रेम विवाह के लिए हमें जगह बनानी चाहिए। साधारण अरेंज्ड मैरिज की व्यवस्था तोड़नी चाहिए। युवक को कहना चाहिए कि पाप है, गुनाह है कि तुम अरेंज्ड विवाह कर रहे हो। जिस युवती को तुमने प्रेम नहीं किया है, उसके साथ जिंदगी भर रहना, तुम अपनी जिंदगी और दूसरे आदमी की जिंदगी बिगाड़ने की तैयारी कर रहे हो।
हमारा जो बाल-विवाह था उसमें सुविधा थी। सुविधा इसलिए थी कि पत्नी भी उसी ढंग की मिलती थी उस विवाह में जैसे बहन मिलती है, मां मिलती है। तो उसे चुनाव की कोई बात न थी। उसमें पति और पत्नी एक साथ बड़े होते थे। जब वे होश में आते थे, तो वे पाते थे कि पत्नी भी मिली है, मां भी मिली है, बहन भी मिली है। जैसे हम मां का कोई चुनाव नहीं करते और बाद में उसके लिए पीड़ित भी नहीं होते कि हमें दूसरी मां क्यों नहीं मिली। उसी तरह हमें दूसरी पत्नी क्यों न मिली, यह भी पीड़ा नहीं होती थी, क्योंकि पत्नी हमारे होश के पहले मिली हुई है। लेकिन अब यह संभव नहीं रहा है। अब होश आ गया है और पत्नी दी जा रही है और हमने इतनी महत्वाकांक्षा जगा दी है और उनको पूरा करने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है।
तो हम उन महत्वाकांक्षाओं को जगाएं जो कि हम पूरी कर सकते हैं। जैसे मेरी समझ यही है कि आजादी के बाद हिंदुस्तान में सिर्फ राजनीति एकमात्र महत्वाकांक्षा का द्वार रह गई है। इस एक द्वार से कितने लोग निकल सकेंगे। पचास करोड़ का मुल्क है, तो करोड़ मनुष्य तो नहीं हो सकते। हालांकि कोशिश हमारी यही है और कुछ हैरानी न होगी कि भारत ऐसा इंतजाम कर ले कि पचास करोड़ मनुष्य हों। यह अगर ठीक से न हो सकें, तो रोटेशन में हो सके, इसलिए रोटेशन चल रहा है। यह हर पंद्रह दिन में मनःस्थिति बदलनी चाहिए क्योंकि रोटेशन जितना होगा, उतना ही मनुष्य होने का सुख भी नहीं रहेगा।

यह जो एक ही द्वार रहा अगर हमारे सामने, तो हमारा युवक सृजनात्मक नहीं
हो सकता। तो मेरी अपनी समझ है कि साहित्य है, कला है, संगीत है, इन सबके सम्मानित द्वार हमें खोलने चाहिए। अब मेरी समझ में ऐसा आता है कि रूस में पिछले तीस-चालीस साल में, पचास साल में अगर विद्रोह का स्वर पैदा नहीं हो सका जो कि स्टैलिन जैसी हुकूमत में अनिवार्य हो गया होता, तो इसका एकमात्र कारण है कि रूस ने अपने साहित्यकार को इतना सम्मान दिया है जितना कि दुनिया में कहीं भी नहीं दिया है। और सारी क्रांतियां साहित्यकार से शुरू होती हैं। सारा उपद्रव उससे आता है। क्योंकि वे विचारते हैं, वे उपद्रव पैदा करते हैं। असल में जो विचार है, वह विद्रोह है।
जो कौम अपने साहित्यकार को तृप्त कर देती है उस कौम में बगावतें बहुत मुश्किल हो जाती हैं। हिंदुस्तान में पिछले पांच हजार साल तक नहीं हुई, क्योंकि हमने ब्राह्मण को तृप्त किया हुआ है। और शूद्र बगावतें नहीं करते हैं। और न कोई क्षत्रिय बगावतें करते हैं। क्षत्रिय लड़ते हैं, क्रांतियां नहीं करते हैं। क्रांतियां ब्राह्मण करवाते हैं, करते नहीं हैं। लड़ेगा क्षत्रिय, लड़ेगा शूद्र, लड़ेगा वैश्य लेकिन क्रांति का स्वर ब्राह्मण पैदा करेगा।
हिंदुस्तान में बड़ी तरकीब की कीमिया थी। उसकी कीमिया यह थी कि ताकत
थी क्षत्रिय के हाथ में, आदर था ब्राह्मण के हाथ में। हमने एक डिवीजन ऑफ रिस्पेक्ट, आदर का एक बहुत गहरा विभाजन किया था। ताकत दे दी थी क्षत्रिय के हाथ में, वह ताकत से तृप्त था। उसके पास शक्ति थी, लेकिन सिर उसका रखवा दिया था ब्राह्मण के पैरों में। उस ब्राह्मण को राजा के महल में नहीं जाना पड़ता था। जाना पड़ता था राजा को ब्राह्मण के झोपड़े में। ब्राह्मण अपने झोपड़े में भी आनंदित था। उसका झोपड़ा महल से ऊपर था, नीचे नहीं था। ब्राह्मणों की जो अकड़ थी, वह किसी बादशाह की भी नहीं थी। वह सड़क पर जिस शान से चलता था, सिकंदर भी नहीं चलता था। हालांकि उसको कुछ भी नहीं था। ब्राह्मण दीन था, दरिद्र था। न पैसा था, न खाना था, न मकान था, लेकिन कुछ और तृप्ति थी, जो इससे भी गहरी थी और इसके लिए वह राजी था।
तो हिंदुस्तान को अपने अब विभाजन करने पड़े सम्मान में। राजनीतिज्ञ अकेला अगर सम्मान का हकदार है, तो हिंदुस्तान में सृजन नहीं होने वाला है। तब हिंदुस्तान में नक्सलाइट पैदा होंगे, हजार तरह के नक्सलाइट पैदा होंगे। यह हिंदुस्तान का ब्राह्मण है, जो दिक्कत डालेगा। और आज ब्राह्मण युनिवर्सिटी में है, स्वभावतः। वहां सब ब्राह्मण पैदा हो रहे हैं और एक-एक युनिवर्सिटी में बीस-बीस हजार लड़के इकट्ठे हो गए हैं। दुनिया में इतने एक साथ कभी भी नहीं इकट्ठे हुए। पांच ब्राह्मणों को इकट्ठा करना मुश्किल था जो कि सदा के उपद्रवी हैं। तो जहां बीस हजार बुद्धिशाली लोग इकट्ठे हो जाएं, वहां से उपद्रव के सूत्र पैदा होने शुरू हो जाएंगे और उनकी कोई आकांक्षा की तृप्ति नहीं होने वाली है।
ऐसा मुझे लगता है कि हम अगर साहित्य को, संगीत को, कला को, चित्रकला को, मूर्तिकला को, इनको हम इतना सम्मान दें कि राजनीतिज्ञ नंबर दो हो जाएं, नंबर एक नहीं। राजनीतिज्ञ को नंबर दो होने में तृप्त होना चाहिए, क्योंकि उसके पास नंबर एक की ताकत है। नंबर दो होने में उसे परेशान नहीं होना चाहिए क्योंकि है वह नंबर एक। ताकत उसके पास नंबर एक की है, इसलिए उसे नंबर दो का नंबर लगा कर लेने में हर्ज नहीं होना चाहिए, दिक्कत नहीं होना चाहिए। उसके नंबर दो में ही खड़े होने की सुविधा है। नंबर एक की ताकत है उसके पास। वह चाहे तो सभी साहित्यकारों की गर्दन कटवा दे और वह चाहे तो सभी चित्रकारों को जेल में डाल दे, और वह चाहे तो सबको नुकसान पहुंचा दे। ताकत उसके पास नंबर एक है। इसलिए नंबर एक के आदमी को नंबर एक का तमगा नहीं चाहिए। नंबर एक का तमगा उसको दे दो जिसके पास नंबर एक की ताकत नहीं है। तो इस तरह हम तृप्ति को विभाजित करते हैं। और यह तृप्ति जितने बड़े पैमाने पर विभाजित होगी, उतना फ्रस्ट्रेशन कम होगा, उतनी सक्रियता बढ़ जाएगी।
और जैसा आपने कहा, यह जो हमारा युवक है उसकी अगर हम सिर्फ बुद्धि को ही विकास दे रहे हैं, तो हम बड़े गहरे खड्डे को अपने हाथ से खोद रहे हैं, जिसमें मुल्क बुरी तरह गिरेगा। क्योंकि अकेली बुद्धि जो है वह बहुत महंगी चीज

है। उसके साथ हृदय का साथ चाहिए, नहीं तो बुद्धि खतरनाक हो जाती है।
क्योंकि बुद्धि के पास कोई दया और ममता नहीं है। बुद्धि बहुत क्रूर है।
इसलिए ब्राह्मण जितना क्रूर हो सकता है, उतना क्षत्रिय नहीं हो सकता है।
जो उसकी नजर में जितनी तलवार होती है, उतनी क्षत्रिय की नजर में नहीं होती है। क्षत्रिय के हाथ में होती है, लेकिन ब्राह्मण की नजर में होती है।
ब्राह्मण की गर्दन तलवार होती है। ब्राह्मण जितना क्रूर होता है उतना कोई क्षत्रिय क्रूर नहीं होता है।
अकेली बुद्धि जो है, वह बड़ी कठोर हो सकती है, अब उसे सोचना विचारना नहीं है। इसलिए मेरा यह मानना है कि स्टैलिन इतना कठोर हो सका, क्योंकि वह ब्राह्मण है। उसकी सब भाषा ब्राह्मण की है। वह सिर्फ "कोट" करता है। उसको लेनिन और मार्क्स की बातें तोते की तरह कंठस्थ हैं। वह जो भी बोल रहा है, वह हमेशा थ्योरिटिकल है। वह बहुत कठोर हो सका। इतना कठोर लेनिन शायद न हो सकता था और कोई नहीं जानता कि ट्राटस्की उससे भी ज्यादा कठोर हो सकता क्योंकि जो और भी बड़ा ब्राह्मण था। यह जो सिर्फ बुद्धि है, यह बहुत कठोर हो सकती है। इसके पास हृदय नहीं है।
तो हम हृदय को कैसे विकसित करें, इसकी हमें चिंता लेनी पड़ेगी। और हृदय
के विकास के लिए भी वैसे ही नियम हैं, जैसे बुद्धि के विकास के लिए हैं। लेकिन हम अपने युवक को हृदय को विकसित करने के लिए कुछ भी नहीं कर पाते हैं। न हम उसे बागवानी सिखा रहे हैं, न हम उसे फूलों का प्रेम सिखा रहे हैं, न हम उसे वीणा का संगीत सिखा रहे हैं, जहां से कि हृदय जन्मता है। न हम उसे प्रेम करने दे रहे हैं, जहां से हृदय का द्वार खुलता है। हम उसके हृदय को सब भांति बंद कर देते हैं। हृदय उसके पास रह जाता है तीन-चार साल के बच्चे का, बुद्धि हो जाती है पच्चीस साल के जवान की। दोनों के बीच कोई तालमेल नहीं रह जाता है। हृदय पड़ा रह जाता है, बुद्धि उसको दिन-रात कठोरता में, चालाकी में, कनिंगनेस में ले जाती है। अकेली बुद्धि चालाक हो जाती है। तीसरी बातः जैसा आपने कहा, वह यह ध्यान देने की है कि हमें हमारे युवक
के शरीर पर बहुत श्रम करने की जरूरत है। हमारे युवक के पास शरीर नहीं है एक अर्थ में। शरीर पर हमारा कोई खयाल नहीं है। शरीर का खयाल न होने का भी कारण है क्योंकि हम शरीर विरोधी कौम हैं।
हिंदुस्तान से काउंट कैसरलिंग वापस लौटा तो उसने अपनी किताब में लिखा
है कि हिंदुस्तान में जाकर मुझे पता चला कि बीमार होना अध्यात्म है। ठीक पता चला उसको। अगर हमारा साधु और संन्यासी पीले चेहरे का न दिखाई पड़े, तो हमें शक होगा। इतना खून साधु-संन्यासी में हम देख कर बरदाश्त नहीं करते। वह पीले चेहरे का होना चाहिए, तभी हमें त्यागी मालूम पड़ेगा। वह हरा पत्ता नहीं, पीला पत्ता होना चाहिए, मरता हुआ पत्ता होना चाहिए। हिंदुस्तान हजार साल से शरीर का दुश्मन है। इसे आप देखें, जिस कौम में शरीर का प्रेम... जैसे यूनान ने पैदा किया।
अब यूनान की मूर्तियों को देख कर तबीयत खुश हो जाती है क्योंकि वे शरीर को इंच-इंच प्रेम करते थे और शरीर के एक-एक अनुपात को प्रेम करते थे। एक किसी आदमी का शरीर जरा भी अनुपात के बाहर गया, तो सारे गांव की नजर उस पर चली जाती कि अनुपात के बाहर चला गया। यानी वह आदमी एक अर्थ में अप्रतिष्ठित हो जाता। तो बुढ़ापे तक आदमी फिकर करता कि उसका शरीर का सौष्ठव न खो जाए, उसके शरीर का गठन न खो जाए, उसके शरीर का अनुपात न खो जाए, उसके शरीर का सौंदर्य न खो जाए। लोग एक-दूसरे के शरीर की वैसी ही प्रशंसा करते थे, जैसे एक-दूसरे की बुद्धि की करते हैं।
अगर आदमी से किसी से हम कहें कि आप बहुत बुद्धिमान हो, तो इसमें कोई कठिनाई नहीं होती, लेकिन किसी को हम कहें कि बहुत सुंदर हो, तो जरा बेचैनी सी होती है कि ऐसा क्यों कहा। पुरुष से तो अलग है बात, अगर हम किसी स्त्री से कहें कि बहुत सुंदर हो, तो वह चौंक कर खड़ी हो जाती है। हैरानी की बात है। एक स्त्री सुंदर है, तो किसी को उससे जरूर कहना चाहिए और उसमें उसके पति का ठेका नहीं है कि वही उसको कहे। जिसको भी दिखाई पड़ती है, उसका भी हक है कि वह कहे कि तुम सुंदर हो। और यह कहना उसे सुंदर बनाने में सहयोगी होगा और यह चारों तरफ की नजर उसके सौंदर्य को बताने में सहयोगी है।

इसलिए हमारे मुल्क में क्या होता है। जब तक शादी न हो, लड़की सुंदर होती है। शादी के बाद कुरूप होना शुरू हो जाती है। क्योंकि अब सौंदर्य की कोई जरूरत नहीं रहती, इसलिए शादी के बाद मुश्किल से देखते हैं कि कोई स्त्री सुंदर रह जाती है। पति को भी सुंदर बताने का कोई कारण नहीं है, उनका कांट्रेक्ट हो चुका। और किसी को सुंदर बनाने की कोई वजह नहीं है क्योंकि कोई और सुंदर कहे, तो झगड़ा हो सकता है। इसलिए मैं देखता हूं कि स्त्रियां, पत्नियां पतियों के सामने भूत-प्रेत बनी रहती हैं। कोई बोध नहीं है क्योंकि उससे कोई मतलब नहीं ह, लेकिन कैसे भी बरदाश्त करेगा।
और पुरुष को तो कोई सुंदर होने की जरूरत नहीं है। यानी पुरुष को तो कोई सौंदर्य का बोध ही नहीं है कि पुरुष को भी सुंदर होना चाहिए। क्योंकि स्त्री उसका धन पूछती है, उसकी पदवी पूछती है। उसके सौंदर्य को कभी पूछती है? कोई स्त्री फिकर नहीं करती कि उसका पति सुंदर है। वह इसकी फिकर करती है कि उसकी जेब गर्म है। उसे कोई मतलब नहीं है इस बात से। उसका एक बड़ा मकान है, बड़ी कार है, चलेगा। वह आदमी है या नहीं, इससे कोई मतलब नहीं है। तो स्त्रियों और पुरुष के शरीर को नहीं पूछते हैं इस मुल्क में, और अगर पूछे तो पुरुष भी बेचैन होता है क्योंकि हम शरीरवादी नहीं हैं।
हमको खयाल है, हम अध्यात्मवादी हैं। और अध्यात्म में कोई सौंदर्य नहीं होता। अध्यात्म में निराशा... उसका कोई आकार नहीं होता, उसका कोई अनुपात नहीं होता। उसमें कोई मोटी और पतली आत्मा नहीं होती। उसमें कोई स्वस्थ्य और बीमार आत्मा नहीं होती। फिर कोई चिंता की बात नहीं, आत्मा सबके पास है। तो सौंदर्य का बोध न होने से शरीर के संबंध में हमने बड़ी कठिनाई पैदा कर ली है। हमें यह बोध फिर से पैदा करना पड़ेगा। हमें मूर्तियां गढ़नी पड़ें, हमें इसकी प्रतियोगिता निर्मित करनी पड़े, हमें शरीर को फिर से सोचना शुरू करना पड़े कि शरीर का भी अपना मूल्य है। और जब शरीर पैदा हो, तो उसे किसी की बपौती नहीं बनानी चाहिए।
अभी एक मित्र ने मुझे आकर कहा कि बहुत घबड़ा गए। एक स्त्री ने आकर एकदम
से उनके गालों पर हाथ रख दिया और कहा कि इतने अच्छे फीचर्स मैंने कभी देखे नहीं। एक अपरिचित स्त्री थी, और उसने कहाः क्या मैं आपके गालों पर हाथ फेर सकती हूं? अपरिचित स्त्री, अपरिचित हाथ होता है तो घबड़ाहट होती है, अपरिचित हाथ था, वह बहुत घबड़ा गया। उसने कहाः यह क्या कर रही हो। लेकिन उसने तो आंख बंद करके उनके चेहरे पर हाथ फेर दिए और अपने रास्ते पर चली गई, उनको धन्यवाद दे गई कि मैंने इतना सुंदर चेहरा कभी नहीं देखा, इसलिए मैं हाथ फेरना चाहती हूं।
अब मैं मानूंगा कि वह एक सुसंस्कृत स्त्री का लक्षण होगा। यह आदमी असंस्कृत सिद्ध हुआ उस स्त्री के सामने। वह कल्चर्ड नहीं है। वह उसको धन्यवाद भी नहीं दे सका कि उसे धन्यवाद देता। बल्कि बीच में अनुभव किया हो, कि यह शक्ल थोड़ी खराब होती तो अच्छा था। तो जरूर कहीं न कहीं इसके अंतःकरण में लगा हुआ है कि यह हमारे युवक और युवतियां एक अर्थ में हमारी किसी भी पीढ़ी से ज्यादा सुंदर संभव हों, इसकी संभावना है।
अब जैसे, आज भी हिंदुस्तान में शरीर सौष्ठव की, सौंदर्य की न कोई प्रतियोगिताएं हैं बड़ी। अब इधर देखता हूं कि हिंदुस्तान की जो भी प्रतियोगिता होती है स्त्रियों की शरीर सौंदर्य की, उसमें अक्सर साधारण औरतें दिखाई पड़ती हैं। और कुछ ही स्त्रियां भाग लेती हैं, जिनको कि हम बाजारू स्त्री कहें। इसमें अच्छे घरों की कोई स्त्री भाग नहीं लेती हैं। हिंदुस्तान में बहुत सुंदर स्त्रियां हैं। लेकिन हिंदुस्तान से जो स्त्री हिंदुस्तान का प्रतिनिधित्व करने जाती है अमरीका, वह बहुत साधारण होती है। वह कभी विजेता बन कर नहीं लौटती है विश्व सौंदर्य में। वह नहीं बन सकती है। क्योंकि अमरीका में अच्छे घर की लड़की आती है, यहां से बाजारू लड़की जाती है। उसमें प्रतियोगिता में कोई जोड़ नहीं बैठता।
हममें बोध जो है, उस बोध को ऊपर जगह... अगर हम जगह बदल सकें, वह बिल्कुल तोड़ा जा सकता है, बदला जा सकता है, इस खयाल की जरूरत है। तो आप जो करना चाह रहे हैं, वह बिल्कुल ही कर लें। मेरा जो सहयोग चाहिए मैं सहयोग दूंगा। और एक व्यापक अभियान चलाएं और उस अभियान को बहुत से पहलुओं से लें और सारे

पहलुओं पर चिंतन चलाएं और नई-नई दृष्टि और नये से नया खयाल पैदा करें। काम तो बहुत बड़ा हो सकता है। और अब करना जरूरी है। अगर हम दस-पंद्रह साल, बीस साल में नहीं कर पाए तो हमारा इस पृथ्वी पर अस्तित्व बिल्कुल अनस्तित्व जैसा हो जाएगा। हम आदिवासी हालत में हो जाएंगे।

शिक्षा में क्रांति
इकतीसवां प्रवचन

शिक्षाः नया धर्म

मेरे प्रिय आत्मन्!
बीसवीं सदी नये मनुष्य के जन्म की सदी है। इस संबंध में थोड़ी सी बात आपसे करना चाहूंगा। इसके पहले कि हम नये मनुष्य के संबंध में कुछ समझें, यह जरूरी होगा कि पुराने मनुष्य को समझ लें।
पुराने मनुष्य के कुछ लक्षण थे। पहला लक्षण पुराने मनुष्य का था कि
वह विचार से नहीं जी रहा था, विश्वास से जी रहा था। विश्वास से जीना अंधे जीने का ढंग है। मानव की अंधे होने की भी अपनी सुविधाएं हैं। और यह भी माना कि विश्वास के अपने संतोष हैं और अपनी सांत्वनाएं हैं। और यह भी माना कि विश्वास की अपनी शांति और अपना सुख है लेकिन यदि विचार के बाद शांति मिल सके और संतोष मिल सके, विचार के बाद यदि सांत्वना मिल सके और सुख मिल सके तो विचार के आनंद का कोई भी मुकाबला, विश्वास का सुख नहीं कर सकता है। सुकरात से किसी ने पूछा था एक दिन सुबह कि तुम एक संतुष्ट सुअर होने
की बजाय असंतुष्ट सुकरात होना पसंद करोगे या असंतुष्ट सुकरात होने की बजाय एक संतुष्ट सुअर होना पसंद करोगे। सुकरात ने कहा कि संतुष्ट सुअर होने कि बजाय मैं एक असंतुष्ट सुकरात होना ही पसंद करूंगा, क्योंकि सुअर की जिंदगी में जहां असंतोष नहीं है वहां संतोष भी मुर्दा ही होगा। जहां जीवंत असंतोष नहीं है वहां संतोष के जीवंत होने की भी कोई संभावना नहीं है। और जहां जीवित अशांति नहीं है वहां शांति मरघट की ही हो सकती है। सुकरात का चुनाव बीसवीं सदी की पहली सूचना है, पच्चीस सौ साल पहले दी गई। बीसवीं सदी एकदम में नहीं हो गई है, बीसवीं सदी को आने में हजारों वर्ष लगे हैं--आते, आते... आई है! अभी भी सारी जमीन पर नहीं आ गई है। बीसवीं सदी से मेरा संबंध समय के मापदंड से नहीं है। इस बीसवीं सदी में आज पृथ्वी पर बहुत सदियों में रहने वाले लोग हैं। असल में हम यहां इतने लोग बैठे हैं और सभी लोग एक सदी के हों, ऐसा मानने का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता। हम सब कंटेंपरेरीज हैं, समसामयिक हैं, यह सिर्फ कैलेंडर का धोखा है। हमारे बीच में कोई आदमी बीसवीं सदी का हो सकता है और कोई आदमी पहली सदी का हो सकता है, कोई इक्कीसवीं सदी का भी हो सकता है। सुकरात बीसवीं सदी का पहला आदमी था जिसने यह कहा कि विचारपूर्वक असंतोष को भी स्वीकार कर सकता हूं, लेकिन अंधविश्वासपूर्वक संतोष का भी कोई अर्थ नहीं है।
असल में, जिंदगी का सारा विकास विचार का विकास है। और जो विश्वास को पकड़ कर बैठ जाएगा, वह विकास की गति को छोड़ कर बैठ जाता है। पुराना मनुष्य चूंकि विश्वास के केंद्र पर जी रहा था, इसलिए स्टेग्नेंट था, ठहरा हुआ था-- जैसे कोई नदी तालाब बन जाए। तालाब बहुत विश्वासी है, नदी बहुत अविश्वासी है और विचारवान है। असल में तालाब ने सारी खोज छोड़ दी है। वह जहां है वहां होने के लिए राजी हो गया है। जो है उसे उसने भाग्य मान लिया है। नदी की खोज जारी है। वह जो नहीं है, उसे पाने की चेष्टा है। वह जहां नहीं है वहां पहुंचने की आकांक्षा है। जो उपलब्ध नहीं है, उसे उपलब्ध करने की तीव्र पीड़ा है। इसलिए नदी असंतुष्ट है। नदी डिसकंटेंट है और नदी रोज नये के लिए खोज कर रही है।
निश्चित ही, अपरिचित रास्तों की तकलीफें हैं। तालाब का सुख नहीं हो सकता नदी को, लेकिन अपरिचित सागरों को पाने का आनंद भी है। वह आनंद तालाब के पास नहीं हो सकता। तालाब नहीं कहीं जाएगा, न कुछ पाएगा, जहां है वहां जिएगा, या कहना चाहिए, जिएगा कम, मरेगा ज्यादा। तालाब के पास जिंदगी नहीं होती क्योंकि जिंदगी गति के साथ है; तालाब के पास तो क्रमिक मृत्यु होती है, ग्रेजुअल डेथ होती है--सिर्फ सूखता है, सड़ता है। नदी गति है जीवन की। पुराना मनुष्य तालाब की तरह विश्वास के डबरे में बंद है। नया मनुष्य नदी की तरह है--असंतोष, विचार, तर्क, नये की खोज को आतुर, अभीप्सित। नदी और तालाब पहला प्रतीक है, जो मैं कहना चाहूं--पुराना आदमी तालाब की तरह है, नया आदमी नदी की तरह है। लेकिन कठिनाई यह पड़ रही है कि पुराना आदमी जो

तालाब की तरह था, वह पुराना पानी जो तालाब में था, नदी में आकर बहुत पीड़ा में पड़ गया है, क्योंकि उसकी आदत सदा बंद घेरे में जीने की है, बिना बहने की है। और यह जो संक्रमण का क्षण है, जब कि तालाब नदी बन गया, क्योंकि तालाब नदी में रूपांतरित हो रहा है, जब कि विश्वास संदेह में परिवर्तित हो रहे हैं तो बहुत पीड़ा की घड़ी है, प्रसव-पीड़ा की घड़ी है। बीसवीं सदी प्रसव-पीड़ा की घड़ी है जिसमें हम पुरानी सारी सीमाओं को तोड़ कर नये रास्तों की खोज कर रहे हैं।
तो पहली तो बात कि विश्वास पुराने आदमी का मौलिक लक्षण है और विश्वास नये आदमी का लक्षण नहीं है। और विश्वास और विचार के बीच इतना फासला है जितना जमीन और आसमान के बीच नहीं है। विश्वास का अर्थ ही है--विचार नहीं। असल में विश्वास में विचार के अंकुरण का कोई उपाय ही नहीं है, और अगर कोई विश्वास थोड़ा-बहुत विचार करता हो तो उसी मात्रा में अविश्वासी होता है। विचार का मतलब ही है कि संदेह मौजूद है, डाउट मौजूद है। संदेह है तो विचार है। संदेह नहीं है तो विचार कैसा? असल में अगर ठीक कोई आदमी पूरा विश्वासी है तो उसके भीतर मस्तिष्क विलीन और विदा हो जाएगा। या कहना चाहिए कि उसके भीतर मस्तिष्क पैदा ही नहीं होगा। वह तो विचार से पैदा होगा।
पुराना आदमी... इसलिए दूसरी बात आपसे कहना चाहूं, पुराने आदमी चूंकि विश्वास से जी रहे थे; इसलिए विचार, मस्तिष्क, बुद्धि उससे उनका कम वास्ता था। भाव, भावना, फीलिंग, उससे उनका ज्यादा वास्ता था। स्वभावतः भाव के अपने रस हैं। स्वभावतः भाव के अपने सुख हैं। लेकिन विचार के बाद जिस भाव का जन्म होता है उसका प्लेन, उसका तल दूसरा है, और विचार के पूर्व जो भाव होता है उसका तल दूसरा है। कभी किसी पहाड़ पर आप चढ़े हों तो बहुत बार एक ही जगह पर आ जाते हैं। जगह तो एक ही होती है लेकिन ऊंचाई में फर्क होता है। अगर आप पहाड़ पर चढ़ रहे हों तो गोल चक्रों में ही चढ़ना पड़ता है। घंटेभर बाद आप फिर पाते हैं कि उसी जगह पर आ गए हैं जहां घंटेभर पहले थे चार मील चलने के, लेकिन अब दूसरे तल पर हैं। तल बदल गया है। जगह वही है, दृश्य वही है, लेकिन तल बदल गया है।
विचार के पहले जो भाव है वह पशु का तल है, वह मनुष्य का तल है नहीं। पशु
भी विचार के बिना भाव में जी रहा है। लेकिन, विचार के बाद जब भाव का तल आता है तब पहली दफे मनुष्य के तल पर भाव की दुनिया शुरू होती है। जो विचार नहीं कर सकता है वह इसलिए भावना से भरा हुआ है, इसलिए भावना का कोई भी मूल्य नहीं है। जो विचार कर सकता है, फिर भी भावना को विकसित कर पाया है, इसकी भावना मानवीय है, मनुष्य की। लेकिन दोनों ही भाव के स्थान हैं अलग-अलग तलों पर।
पुराना आदमी भाव के पास जी रहा था, वह पशु की निकटता है, अगर पुराना आदमी बेईमान नहीं था, तो आप यह मत समझ लेना कि वह ईमानदार था। पुराना आदमी बेईमान नहीं था इसलिए बेईमान--पूर्ण था। ईमानदार सिर्फ उसी आदमी को हम कह सकते हैं जो बेईमान हो सकता है। जो नहीं हो सकता है, उसकी ईमानदारी का कोई बहुत अर्थ नहीं है। पुराने आदमी की ईमानदारी का कोई भी अर्थ नहीं है क्योंकि उसमें बेईमानी की संभावना नहीं है। अगर एक आदिवासी ईमानदार है तो उसकी ईमानदारी का कोई बहुत मूल्य नहीं है। वह बेईमान होने में असमर्थ है। बेईमान के लिए बुद्धि चाहिए। इसलिए जितनी दुनिया में बुद्धि बढ़ेगी, उतनी बेईमानी स्वभावतः बढ़ेगी। लेकिन बेईमानी बुद्धि का अंत नहीं है। असल में बेईमानी, पहली दफा ईमानदारी को वास्तविक मानवीय तल पर प्रकट होने का मौका है। बुद्धिमानी का अधूरा होना बेईमानी बन जाएगा, और बुद्धिमानी जब और बढ़ेगी तो हम फिर एक ईमानदारी को उपलब्ध होते हैं, वह ईमानदारी उपलब्धि की भांति है। वह आदिवासी की और गांव के ग्रामीण की ईमानदारी नहीं है जो कि बेईमान होने में असमर्थ था। वह एक नये मनुष्य की ईमानदारी है, जो बेईमान हो सकता है और नहीं हो रहा है।
ध्यान रखें, मनुष्य का सारा विकास विपरीत संभावनाओं की अपेक्षा में होता है। अगर गांव का आदमी भोला-भाला था तो उस भोले-भाले को मैं दो कौड़ी का भी मूल्य देने को राजी नहीं हूं। भोला-भाला होना ही उसकी नियति थी, डेस्टिनी थी। और वह भोला-भाला ही हो सकता था। अपने भोले-भालेपन के बाहर

जाने के लिए कोई रास्ता उसके पास नहीं था। वह चाहता तो भी भोले-भालेपन के बाहर नहीं जा सकता था। उसका भोला-भालापन मजबूरी थी, कंपल्शन था। वह भोले- भालेपन के लिए गौरवान्वित नहीं किया जा सकता। हां, भोले-भालेपन के लिए प्रशंसित भला किया जा सके लेकिन गौरवान्वित नहीं किया जा सकता है।
इसलिए जो लोग आज इस बीसवीं सदी में गांव की बात करते हैं, नासमझी की बात करते हैं। जो लोग कहते हैं कि पीछे लौट चलो, बैक टू नेचर वे नासमझी की बात करते हैं। उनको पता नहीं है कि गांव का भोला-भालापन वस्तुतः वह भोला- भालापन नहीं है जो मनुष्य को गौरव दे। वह वही भोला-भालापन है जिसमें सारे पशु जी रहे हैं, पक्षी जी रहे हैं, पौधे जी रहे हैं।
बीसवीं सदी ने मनुष्य को उपलब्धि के द्वार खोले, जहां ईमानदारी होना हमारा चुनाव और च्वाइस होगी। ध्यान रहे, जिस क्षण हम चुनते हैं उसी क्षण पहली दफा हम मनुष्य होते हैं। चुनाव ही मनुष्य की प्राथमिक भूमिका है। पशु जैसे हैं, हैं, वह उनका चुनाव नहीं है। वह उनकी च्वाइस नहीं है। वे ऐसे हैं, यही उनका होना है, यह उनका स्वभाव है। पौधे जैसे हैं यह उनका चुनाव नहीं है। कोई गुलाब यह चुनाव नहीं करता है कि मैं लाल फूल को चुनूं--लाल आता है तो लाल आता है, सफेद आता है तो सफेद आता है। न ही कोई गुलाब यह चुनाव करता है कि मेरा फूल सुंदर हो--सुंदर हो तो ठीक, असुंदर हो तो ठीक। न कोई वृक्ष चुनाव करता है कि उसके पत्ते कैसे हों।
मनुष्य पहला चुनाव है। और बीसवीं सदी का मनुष्य प्रत्येक चीज को चुनाव करके जिएगा। असल में विश्वास जब तक हो तब तक चुनाव भी नहीं होता। विचार हो तब चुनाव शुरू होता है। चुनाव मनुष्यता की गरिमा का पहला आधार है। आप जो हैं, अगर वह आपका चुनाव नहीं है तो आप पशु के निकट जी रहे हैं। अगर वह आपका चुनाव है तो आप पशु के ऊपर उठ रहे हैं। और ध्यान रहे, पशुता की ईमानदारी के मुकाबले में, चुनी हुई बेईमानी को भी चुनना है। अपने-आप सहज जो भोला-भालापन है उसकी बजाए तो मैं चुनी हुई चालाकी और कनिंगनेस को पसंद कर लूंगा।
कारण हैं उसके। क्योंकि चुनाव से मनुष्य का प्रारंभ होता है। और जो मनुष्य बेईमानी चुन सकता है वह आज नहीं कल ईमानदारी भी चुन सकता है। और जो मनुष्य चालाकी चुन सकता है, वह आज नहीं कल, भोला-भालापन भी चुन सकता है। लेकिन जब चुना हुआ भोला-भालापन मनुष्य में आएगा तो इसमें तल का भेद होगा। वह पहाड़ का रास्ता है जिस पर हम एकदम सीधे आ जाएंगे जहां आदिवासी था, लेकिन उसके और हमारे बीच जमीन का बहुत फासला हो गया है, ऊंचाई का बहुत फासला हो गया है। प्लेन अलग हो गया है, जगह वही है।
ऐसा समझें कि एक छोटा बच्चा है। छोटे बच्चे की इनोसेंस किसी कीमत की नहीं है। छोटे बच्चे का निर्दोष होना दो कौड़ी का भी नहीं है। छोटे बच्चे का निर्दोष होना सहज है, लेकिन अगर कोई बूढ़ा आदमी छोटे बच्चे की तरह निर्दोष हो जाए तो संत हो जाता है। लेकिन छोटे बच्चे को हम संत कहने को राजी नहीं होंगे। बालक संत होता भी नहीं क्योंकि जो अभी शैतान होने में समर्थ नहीं हुआ उसके संत होने का क्या उपाय है? इसलिए छोटे बच्चे का निर्दोषपन ठीक है, अपनी जगह। लेकिन जब कोई बूढ़ी आंखें और छोटे बच्चों की तरह सरल हो जाती हैं तो उपलब्धि है, अचीवमेंट है। कोई आसान मामला नहीं है यह, चुनाव है। यह बूढ़ा आदमी शैतान होने की पूरी जिंदगी से गुजर गया और संत है, और शैतान होने के हर मौके थे और नहीं चुने, या चुने थे और छोड़े।
हर संत का अतीत शैतानी के रास्ते से गुजरता है, लेकिन बच्चे का कोई अतीत नहीं है। बच्चे की पूरी संभावना है अभी कि वह शैतान होगा। और हम चाहेंगे कि वह उस जगह आ जाए जहां चुनाव का क्षण आए। क्योंकि जिस क्षण चुनाव का क्षण है, डिसीजन का, उसी क्षण मनुष्य पैदा होता है। डिसीजन के मूमेंट्स हैं। निर्णय के क्षण में मनुष्यता पहली दफा क्रिस्टलाइज होती है। और जितना बड़ा चुनाव, उतनी बड़ी मनुष्यता का जन्म होता है।
इसलिए मैं उनके पक्ष में नहीं हूं जो आदमी को पीछे लौटाना चाहते हैं-- चाहे रूस हो, चाहे टाल्सटाय और चाहे रस्किन और चाहे थोरो और चाहे इमर्सन और चाहे गांधी, ये सारे लोग जो मनुष्य को पीछे लौटाना चाहते हैं और सोचते हैं, पुराने दिन वापस लौट आएं, वे मनुष्य की जिंदगी में बड़े से बड़े खतरे की

बात कर रहे हैं। नहीं, कोई पुराना दिन वापस नहीं चाहिए, पुराने दिन की भांति नया आदमी चाहिए।
पुराने दिन वापस लौटाने की कोशिश रिग्रेशन है, वह आदमी को पीछे ढकेलना है। डर तो लगता है, गांव के आदमी को देखते हैं तो लगता है कि कैसा भोला-भाला है! लेकिन लाओ गांव के आदमी को शहर में और पाओगे कि वह चालाक हो गया। लाओ गांव के आदमी को शहर में और पाओगे वह शहर के आदमी से ज्यादा चालाक हो गया है। क्योंकि नया मुसलमान ज्यादा मस्जिद जाता है। चालाकी उसके लिए पहला मौका है। उसकी चेतना तेजी से चालाकी का काम करेगी। इसलिए जब ग्रामीण चालाक होता है तो शहरी चालाक से ज्यादा होगा। शहर के आदमी के लिए चालाकी थिर हो गई है, चारों तरफ का परिचित वातावरण हो गई है।
गांव का आदमी चालाक नहीं है, क्योंकि परिस्थितियां और चेतना चुनाव की नहीं हैं। नहीं, आदमी को पीछे नहीं लौटाना है, आगे ले जाना है। बीसवीं सदी ने जो मौका दिया है, वह मौका बहुत डिसीसिव है, वह मौका बहुत निर्णायक है, और हमें चुनाव का मौका पहली दफा मिला है। इसलिए दूसरी बात आपसे कहना चाहता हूं क्योंकि बीसवीं सदी के मनुष्य का जो विशेष लक्षण है वह चुनाव है, च्वाइस। अब हम जो भी होंगे च्वाइस से होंगे। अब हम वही नहीं हो सकते प्रकृति--प्रकृति ने हमें उस जगह ला दिया है जहां अब हमारा चुनाव काम करेगा।
मेरे हिसाब से बीसवीं सदी पहली दफे ठीक मनुष्य को जन्म दे रही है। निश्चित ही खतरे हैं। चुनाव के साथ खतरे शुरू हो जाते हैं। लेकिन, जितना बड़ा खतरा है, जीवन की पुलक उतनी बढ़ जाती है। जितना कम खतरा है, जीवन की पुलक उतनी क्षीण हो जाती है। अगर खतरा बिल्कुल नहीं है तो जीते और मरे आदमी में कोई फर्क नहीं रह जाता है। कब्र सबसे सुरक्षित जगह है, वहां कोई खतरा नहीं आता। न वहां बीमारी आती, और न कब्र में मौत आ सकती है। अब मरने का भी कोई उपाय नहीं है कब्र के भीतर। वहां सब सुरक्षित है।
मैंने सुना है कि एक सम्राट ने महल बनाया था और ऐसा महल कि जिसमें सब तरह से सुरक्षा थी। उसमें खिड़की दरवाजे नहीं रखे थे, सिर्फ एक दरवाजा रखा था क्योंकि कहीं कोई चोर, कहीं कोई बीमारी, कहीं कोई दुश्मन कहीं से घुस न जाएं। एक दरवाजा था और एक दरवाजे पर हजार सिपाहियों का पहरा था। पड़ोस का राजा उसके महल की खबर सुन कर देखने आया। देख कर उसने कहाः सच में, इतनी सुरक्षित जगह मैंने नहीं देखी। कोई खतरा नहीं है, मैं भी ऐसा महल बनाऊंगा। जब पड़ोस का राजा बाहर द्वार पर विदा ले रहा था और अपने रथ पर सवार हो रहा था तो उसने पुनः-पुनः धन्यवाद दिए और प्रशंसा की और उसने कहा कि ऐसा सुरक्षित महल निश्चित ही होना चाहिए, जहां कोई खतरा न हो।
रास्ते के किनारे बैठा एक भिखारी जोर से हंसने लगा। उस मकान के मालिक राजा ने पूछा कि क्यों हंसते हो? क्या बात हो गई? उस भिखारी ने कहा कि मैं इसलिए हंसता हूं कि आपके मकान को मैंने बनते भी देखा, बन गया भी देखा, दूसरों को प्रशंसा करते भी देखता हूं, लेकिन मुझे एक भूल मालूम पड़ती है। उस राजा ने कहाः कौन सी भूल? उस भिखारी ने कहाः इसमें एक दरवाजा है, यह भी खतरा है। इसको भी बंद करवा लें और भीतर हो जाएं। आप खतरे के बिल्कुल बाहर हो जाएंगे। एक दरवाजा भी कुछ खतरा तो है ही। बहुत दरवाजे बहुत खतरा था, एक दरवाजा कुछ खतरा है। लेकिन खतरे के बाहर नहीं हो गए हैं। और दुश्मन चाहे न घुस सके, मौत तो एक दरवाजे से घुस जाएगी। उस राजा ने कहाः पागल, अगर मैं यह दरवाजा भी बंद करके भीतर हो जाऊं तब तो मौत को घुसने की जरूरत ही न रह जाएगी, मैं मर ही जाऊंगा। उस भिखारी ने कहाः करीब-करीब आप मर ही चुके हैं क्योंकि जिंदगी में जितने खतरे के दरवाजे होते हैं उतनी ही जिंदगी होती है। जितने खतरे के दरवाजे कम हो जाते हैं जिंदगी कम हो जाती है। अगर खतरे के सब दरवाजे बंद हो जाएं तो जिंदगी खतम हो जाती है।
बीसवीं सदी ने पहली दफे खतरा लिया है। आज तक आदमी ने खतरे नहीं लिए थे। वह खतरे के बाहर सुरक्षा में जी रहा था। उसने सब तरह की सुरक्षाएं कर रखी थीं; सब तरह की सुरक्षाएं--मानसिक, आध्यात्मिक, सब तरह की सुरक्षाएं। जिंदगी बहुत साफ नक्शे की भांति थी जिसमें खतरे नहीं थे। रास्ते टिके हुए और ठीक से बने हुए थे, रेडीमेड थे।

बीसवीं सदी में पहली दफा आदमी ने अनिश्चित होने का खतरा लिया। आज स्वर्ग निश्चित नहीं है। आज पुण्य करना खतरे से खाली नहीं है। पहले पुण्य करना बिल्कुल ही खतरे के बाहर था। आज से पहले पुण्य करना बिल्कुल सुनिश्चित बात थी। पुण्य के बाद उसका परिणाम निश्चित था कि स्वर्ग मिलना है, उसमें कोई शक संदेह नहीं था। पाप के बाद नरक मिलना है यह साफ था, यह तय था। जिंदगी बहुत साफ-सुथरी थी। शतरंज की खेल की तरह खाने बंटे हुए थे और रास्ते बंधे-बंधाए थे। जिंदगी में हर चीज का उत्तर था। बीसवीं सदी ने सब उत्तर छोड़ दिए। अब जिंदगी में बंधा हुआ उत्तर कोई भी नहीं है। रेडीमेड आंसर जैसी कोई चीज ही नहीं।
बीसवीं सदी का आदमी पहली दफे सारे खतरों के दरवाजे खोल कर खड़ा हो गया है। उसने शतरंज उठा कर फेंक दी। उसने कहा, यह भी कोई जिंदगी है कि बंधे हुए खांचों में घूमते रहो? यह जिंदगी नहीं है, यह रेल की पटरियां जैसी बिछी हैं, उस पर रेल के डिब्बे दौड़ रहे हैं, मालगाड़ी की जिंदगी है। बंधी हुई पटरियां हैं लोहे की, आदमी उन पर दौड़ रहा है। पुराना आदमी बंधी पटरियों पर दौड़ रहा था। उसने सब पटरियां तय कर रखीं थीं, वह नीचे कभी नहीं उतरता था। सब पटरियां तय थीं और सब उत्तर सुनिश्चित थे, और जिंदगी के पास सब उत्तर थे, संदेह बिल्कुल न था। सब साफ सुथरा था।
अगर आप आज से पांच सौ साल, या हजार साल पहले पैदा होते या अभी भी हजार साल पुराने अगर किसी साधु संत के पास आपको जाने का सौभाग्य मिल जाए तो आपके लिए सब बंधे हुए उत्तर मिलेंगे। आप पूछिए तो स्वर्ग और नरक के सब नक्शे मंदिरों में टंगे हुए हैं। कुछ मंदिरों ने डर की वजह से उन्हें उतार दिए, कुछ पुराने मंदिर अभी भी टांगे हुए हैं। जिनको इस जमीन के पूरे नक्शे का भी पूरा पता नहीं था उन्होंने स्वर्ग और नरक के नक्शे भी तय कर रखे थे। जिनको यह भी पता नहीं था कि यह जमीन गोल है, उन्होंने स्वर्ग के रास्तों का भी ठीक-ठीक हिसाब बना रखा था। जिनको यह भी पता नहीं था आग कितनी डिग्री पर जलाती है, उन्होंने नरक में भट्टियां रखीं थीं। जिनको वस्तुतः कुछ भी पता नहीं था, वे इस भ्रम में जी रहे थे कि उन्हें सब पता है।
असल में, अज्ञानी चित्त एक ही तरह से अपने अज्ञान को बचा सकता है कि वह अपने अज्ञान के रहते हुए पूरी तरह ज्ञानी होने के खयाल से भर जाए। बीसवीं सदी के पहले का आदमी पूरी तरह अज्ञानी था जीवन के रहस्यों के बाबत, लेकिन पूरे खयाल से भरा था कि सब पता है। और यह सब पता का खयाल अज्ञान के खिलाफ सुरक्षा के लिए था क्योंकि अज्ञान बड़ा खतरनाक है। क्योंकि जब हमें सब पता न रह जाए तो जिंदगी डांवाडोल हो जाती है। तय करना मुश्किल हो जाता है।
आज बहुत साफ नहीं है कि धर्मशाला बनाने के बाद भगवान आपको स्वर्ग के दरवाजे पर लेने को तैयार मिलेगा कि नहीं मिलेगा। कुछ पक्का नहीं है। यह भी पक्का नहीं है कि धर्मशाला बना कर स्वर्ग भी जाइएगा कि नरक जाइएगा। यह भी कुछ पक्का नहीं है। नरक-स्वर्ग है भी, यह भी पक्का नहीं है। धर्मशाला बनाने में पुण्य हो रहा है कि पाप हो रहा है, यह भी कुछ पक्का नहीं है। पहली दफे आदमी अपने अज्ञान को स्वीकार करने की हिम्मत जुटा पाया है। यह बहुत बड़ी हिम्मत है। यह बहुत बड़ा करेज है। यह साहस इतना बड़ा है कि इतना बड़ा साहस कभी आदमी नहीं जुटा पाया था।
बीसवीं सदी साहस की है और बीसवीं सदी का आदमी साहस का आदमी है। स्वभावतः साहस के साथ खतरे आने शुरू हो जाते हैं। वे चारों तरफ से आ गए। जब जिंदगी में कोई उत्तर तय न रह जाए तब जिंदगी को मशीन की तरह चलाना मुश्किल हो जाता है। जब जिंदगी में कोई उत्तर साफ न रह जाए तो अपने उत्तर खुद खोजने पड़ते हैं और भूल-चूक होनी शुरू हो जाती है। और जब जिंदगी में बंधा हुआ ढांचा न रह जाए तब हर आदमी अपना ढांचा अलग बनाने लगता है। इसलिए समाज का ढांचा टूटने लगता है। बीसवीं सदी के पहले का व्यक्तित्व वस्तुतः व्यक्तित्व नहीं है। समाज का एक अंश था बीसवीं सदी के पहले का आदमी। पहली दफे बीसवीं सदी में इनडिविजुअल पैदा हुआ और सोसाइटी मरने के करीब पहुंची। समाज मरने के करीब है, और व्यक्ति पैदा हुआ है।
असल में अगर आज से हम पिछले गांव में लौट जाएं तो हमें पता चलेगा कि व्यक्ति पैदा ही नहीं हो सकता था। जिस गांव की हम बहुत तारीफ करते हैं, और

हमारे कवि जिसकी बहुत चर्चा करते हैं। हालांकि वे सब कवि शहरों में रहते हैं, गांव में कोई जाता नहीं। और जो महात्मा गांव की बहुत प्रशंसा करते हैं वे सब राजधानियों में ठहरते हैं, कोई गांव-आंव से मतलब नहीं है। लेकिन जिस गांव की हमारी सारी चर्चा चलती है, हमें पता नहीं कि उस गांव में व्यक्ति था ही नहीं, हो ही नहीं सकता था। गांव में व्यक्ति के पैदा होने का उपाय नहीं था। गांव समाज था, और समाज इतना भारी और मजबूत था कि उसमें इंच भर हिलना-डुलना संभव नहीं था।
अगर एक आदमी गांव में जरा सा व्यक्तित्व का प्रदर्शन करे तो उसको हुक्का-पानी बंद है। उसको कोई घर में बैठने नहीं बुलाएगा, उसका मंदिर में प्रवेश बंद हो जाएगा, गांव के कुएं पर उसको पानी नहीं मिलेगा और सारा गांव उस पर एक साथ हंसेगा, सारा गांव उसका एक साथ विरोध करेगा और सारा गांव एक-एक व्यक्ति पर आंख रखेगा कि वह क्या कर रहा है। वह क्या खा रहा है, क्या पी रहा है, कहां उठ रहा है, कहां बैठ रहा है? पूरे गांव की आंखें एक व्यक्ति पर टिकी रहेंगी। सारा गांव, सारे गांव की आंखें उस व्यक्ति को जकड़े रहेंगी। वह जरा सा भी हिल-डुल नहीं सकता है इसके बीच में।
पहली दफे बीसवीं सदी ने व्यक्ति को व्यक्तित्व दिया, प्राइवेसी दी है। इसके पहले कोई प्राइवेसी नहीं थी। अगर आप एक छोटे गांव में एक अपरिचित स्त्री के साथ निकल जाते हैं तब आपको पता चलता है कि प्राइवेसी बिल्कुल नहीं है। सारा गांव पकड़ लेता है कि स्त्री कौन है। गांव की सेंक्शन चाहिए एक स्त्री के साथ सड़क पर निकलने के लिए। गांव का लाइसेंस चाहिए तो आप एक स्त्री के साथ सड़क पर निकल सकते हैं। आदमी का प्रेम भी अगर व्यक्ति निर्णायक न हो और समाज निर्णायक हो, तो व्यक्तित्व के जन्म की कोई संभावना नहीं है। किसी को कोई हक नहीं है कि कोई किसी से पूछे कि आप किसके साथ हैं, यह अशिष्टता की हद्द है, असभ्यता की, असंस्कृति की हद्द है। लेकिन, पुरानी दुनिया इसे स्वीकार करके चलती है। असल में पुरानी दुनिया व्यक्ति को कोई मौका नहीं देती।
इसलिए पुरानी दुनिया में न व्यक्ति था, न पुरानी दुनिया में कोई क्रांति थी, क्योंकि व्यक्ति आए तो क्रांति उसके पीछे आनी शुरू होती है। व्यक्ति के बिना कोई क्रांति नहीं आती। गांव के देखते क्रांति बहुत मुश्किल है, बहुत कठिन है, क्योंकि गांव अपनी बंधी हुई लीक पर जीता है और लीक से इंचभर कोई हटा कि पूरा गांव उसका दुश्मन हो जाता है। इसलिए भारत जैसा देश, जो हजारों साल से गांवों का देश है, क्रांति-विरोधी देश है। उसमें कोई क्रांति नहीं हो सकती। भारत जैसा देश जिसमें सबकी आंखें सब पर हैं, और हरेक आदमी के बाकी लोग पुलिसवाले का काम कर रहे हैं, उस देश में व्यक्तित्व पैदा नहीं होता, उस देश में व्यक्तित्व पैदा होना मुश्किल है। उस देश में व्यक्तित्व पैदा होना अत्यंत असंभव है।
बीसवीं सदी ने पहली दफे समाज के ढांचे को ढीला किया है और व्यक्ति की आत्मा को प्रखर किया है। लेकिन इससे हमें बहुत बेचैनी होती है। क्योंकि जब ढांचे ढीले होते हैं तो अराजकता आ जाती है। जब ढांचे ढीले होते हैं तो इनडिसिप्लिन आ जाती है। जब ढांचे ढीले होते हैं तो अनुशासन टूट जाता है। असल में, अनुशासन का वक्त गया। भविष्य में पुराने दिनों का अनुशासन नहीं हो सकता। और जब तक हम पुराने अनुशासन की जिद्द करेंगे तब तक भविष्य का एक नया अनुशासन जो पैदा हो सकता है वह भी पैदा नहीं हो सकता। पुराना अनुशासन समाज आरोपित था। नया अनुशासन व्यक्ति से आविर्भूत होगा। वह एक इनर-डिसिप्लिन होगी जो व्यक्ति के भीतर से आएगी।
जब व्यक्ति पैदा हो चुका है तो अनुशासन समाज नहीं थोप सकता। जब व्यक्ति पैदा हो चुका है तो हमें नया अनुशासन खोजना पड़ेगा। जिसका निर्णायक व्यक्ति होगा।
असल में हमें अनुशासन की सारी परिभाषा बदलनी पड़ेगी। अब अनुशासन आत्मानुशासन ही होगा, अब अनुशासन समाज अनुशासन नहीं हो सकता। असल में पुराना सारा अनुशासन किसी के द्वारा दिया गया है, नया अनुशासन अब किसी के द्वारा स्वीकार नहीं किया जा सकेगा। व्यक्ति पैदा हो चुका है और आप उस ढांचे को थोपना चाह रहे हैं जो व्यक्ति-पूर्व है, प्रि-इंडिविजुअल है। वह

नहीं टिक सकता। इसलिए बच्चे अगर आपको बगावत करते मालूम पड़ रहे हैं तो इसमें बच्चों का कसूर नहीं है। असल में आपने बच्चों को व्यक्तित्व दे दिया और आप अनुशासन वह दे रहे हैं, जो समाज का है। ये दोनों बातें साथ नहीं चल सकतीं। जब व्यक्ति पैदा हो गया है, विचार पैदा हो गया है तो अब तो व्यक्ति को अपना अनुशासन स्वयं तय करना पड़ेगा।
स्वभावतः पुरानी आंखों में अराजकता, अनारकी दिखाई पड़नी शुरू हो जाएगी, लेकिन यह अराजकता पुरानी आंखों के देखने के ढंग की गलती है। यह अराजकता है नहीं। यह असल में व्यक्तियों के पैदा होने का अराजक क्षण है, जब समाज की पुरानी व्यवस्था जाएगी और नई व्यवस्था आएगी। बहुत हैरानी की बात है। अगर एक युवक या एक युवती अपने ढंग के कपड़े पहन कर सड़क पर निकलते हैं तो अराजकता क्या हो गई? कपड़े पहनने का हक भी आप तय करेंगे कि कैसे कपड़े पहनने चाहिए? तो जब कपड़े तक आप तय करेंगे तो फिर आत्मा को आप क्या तय करने देंगे किसी व्यक्ति को, कि उसकी अपनी हो पाए।
नहीं, लेकिन पुरानी आंखों में तकलीफ शुरू हो जाती है। तकलीफ शुरू हो जाती है क्योंकि कपड़े भी समाज तय करता था। उस संबंध में भी व्यक्ति की कोई हैसियत न थी। आप क्या पहनेंगे, यह समाज का निर्धारण था। आप क्या खाएंगे, यह समाज का निर्धारण था। आप कैसे उठेंगे, बैठेंगे यह समाज का निर्धारण था। नहीं, अब यह कुछ भी नहीं चल सकता है। नया आदमी जन्म के करीब है। करीब-करीब उसकी पहली खबरें आ गई हैं, उसकी प्रसव-पीड़ा करीब है, वह बगावत करेगी और बगावत कठिन हो जाएगी, अगर रुकावट डाली गई। अगर स्वीकार कर ली गई तो सरल हो जाएगी।
मैं कई दफा हैरान होता हूं कि स्वीकार करने में कठिनाई क्या है। अगर लोग अपने ढंग के कपड़े पहनते हैं तो उन्हें बेचैनी क्या है? आप अपने ढंग के पहन रहे हैं, किसी को बेचैनी नहीं है। वह अपने ढंग के पहने रहे हैं, आपको बेचैनी क्या है, लेकिन पिता को बेचैनी है कि उसका लड़का और ढंग के कपड़े पहने हुए है। पिता को बेचैनी है कि वह टोपी लगाए हुए है तो बेटा टोपी नहीं लगाए हुए है। पिता को बेचैनी है कि वह ढीले कपड़े पहने हुए है, बेटा चुस्त कपड़े पहने हुए है। लेकिन बेचैनी क्या है? बेटे बाप के कपड़े पहने, यह जरूरी क्यों है? मां बहुत परेशान है कि उसकी लड़की कैसे कपड़े पहने हुए है। कोई अर्थ नहीं है इस बात में। इसको हम व्यर्थ की अराजकता और अनुशासनहीनता समझ कर चल रहे हैं, व्यर्थ ही।
पुरानी व्यवस्था थी तो मां-बाप बच्चों का विवाह तय कर रहे थे, क्योंकि पुरानी व्यवस्था चुनाव का मौका व्यक्ति को कम से कम देना चाहती थी। चुनाव का मौका मिला कि व्यक्ति का जन्म हुआ। इसलिए बाल-विवाह सारे जगत में स्वीकृत है। बाल-विवाह का मतलब है कि हम प्रेम न होने देंगे। बाल-विवाह का मतलब है कि इसके पहले कि तुम्हारी जिंदगी में प्रेम उठे, हम तुम्हें विवाहित किए देते हैं। बाल-विवाह का मतलब है कि प्रेम से ज्यादा मूल्यवान सेक्स है। इसके पहले कि प्रेम का जन्म हो, हम तुम्हें सेक्स की सुविधा दिए देते हैं।
पुराना आदमी कामुकता के घेरे पर जी रहा था। हालांकि पुराना आदमी कहता
है कि नया आदमी कामुक है। गलत है यह बात। पुराना आदमी कहता है कि नये लोग बहुत कामुक हैं। झूठी है यह बात। पुराना आदमी बिल्कुल कामुक था। असल में नये आदमी ने पहली दफे काम के ऊपर प्रेम की आवाज बुलंद की है इसलिए तकलीफ शुरू हो गई है। और प्रेम मनुष्य के खास गुणों में से एक है, और सेक्स मनुष्य का कोई खास गुण नहीं है। पशुओं में, पक्षियों में, पौधों में, सबमें है। पुराने मनुष्य ने सेक्स की व्यवस्था दी थी, प्रेम की कोई सुविधा न दी थी। असल में पुराना मनुष्य पत्नी को भी इसी भांति, इसी तरह देखता था जिस तरह कि मां मिलती है, बहन मिलती है, भाई मिलता है, पिता मिलता है--गिवन फैक्ट्स! मैं अपनी मां को नहीं बदल सकता, वह मेरा चुनाव नहीं है। मैं अपने पिता को नहीं बदल सकता, वह मेरा चुनाव नहीं है। कोई उपाय नहीं है उसमें। अपनी बहन को नहीं बदल सकता, वह मेरा चुनाव नहीं है, यह गिवन फैक्ट्स है। जिंदगी में सिर्फ एक चुनाव है, पत्नी का, वह पुराने आदमी ने छीन रखा था, क्योंकि उससे व्यक्ति पैदा हो जाएगा। और चुनाव का मौका नहीं होना

चाहिए। मां तो चुनी नहीं जा सकती, कोई डर नहीं है। पिता चुना नहीं जा सकता, कोई डर नहीं है। पत्नी या पति चुना जा सकता है। वह भी समाज चुन लेगा। मां- बाप चुन लेंगे। वह चुनाव भी छीन लिया जाएगा और जिस आदमी की जिंदगी में प्रेम का चुनाव नहीं है उस आदमी की जिंदगी में आत्मा के जन्म की संभावना बहुत क्षीण हो जाती है। उसमें व्यक्तित्व की संभावना क्षीण हो जाती है। निश्चित ही, पुराना समाज प्रेम के खतरों से मुक्त था। विवाह में कोई खतरा नहीं है क्योंकि वह एक इंस्टीट्यूशन है। विवाह में कोई खतरा नहीं है, वह एक व्यवस्था है। विवाह में कोई खतरा नहीं क्योंकि वह मां-बाप, अनुभवी, समझदारों के द्वारा किया गया इंतजाम है। प्रेम में सदा खतरा है क्योंकि वह गैर-अनुभवी, नासमझों के द्वारा किया गया एक्सपेरिमेंट, प्रयोग है। विवाह में कभी खतरा नहीं है। प्रेम में सदा खतरा है। लेकिन विवाह में इसलिए खतरा नहीं है कि उसमें प्रेम का उपाय नहीं है, और प्रेम में इसीलिए खतरा है कि अगर प्रेम ठीक से विकसित हो तो विवाह विदा हो सकता है। विवाह समाप्त हो सकता है। विवाह में खतरा नहीं है क्योंकि वह डेड इंस्टीट्यूशन है, मरी हुई संस्था है। प्रेम में खतरा है क्योंकि वह लिविंग, वह जीवंत भावना है। तो कोई खतरा नहीं था।
दुनिया में नीति बड़ी ढंग से चल रही थी। बीसवीं सदी ने पहली दफे दुनिया
की नीति को भूकंप ला दिया। नीति बड़ी व्यवस्थित चल रही है। बड़ी व्यवस्थित दुनिया थी। पत्नियां घर में थीं, वेश्याएं सड़कों पर थीं। हमने दोनों इंतजाम कर दिए थे। हमने इंतजाम कर दिया था पत्नी का, पति का। यह जीवन स्थायी इंतजाम था। यह एक दफा हो गया तो इसमें बदलने का कोई उपाय नहीं था। दुबारा चुनाव की कोई संभावना नहीं थी। यह फिर संबंध था।
लेकिन इसमें खतरा था और डर था, और डर सिर्फ एक था कि यह भी हो सकता है
कि जिन दो अपरिचित लोगों को किन्हीं पंडितों ने जन्म कुंडली देख कर मिला दिया है, जिनका इससे कोई संबंध नहीं है, जिनका इनके प्रेम से कोई संबंध नहीं है, जिनका इनके हृदय से कोई संबंध नहीं है--किन्हीं दो पंडितों ने जिनकी जन्म-कुंडली देख कर मेल बिठा दिया है; किन्हीं मां-बाप ने धन, पद, प्रतिष्ठा, वंश, परंपरा, सब सोच-समझ कर; सिर्फ प्रेम को सोचने के बाहर छोड़ कर--बाकी सब सोच-समझ कर इंतजाम कर दिया है। हो सकता है इनके बीच तनाव रहे, हो सकता है इनके बीच लगाव न बन पाए, इसलिए विवाह की व्यवस्था को एक सब्स्टीट्यूट इंस्टीट्यूशन वेश्या की खड़ी करनी पड़ी है।
जब तक दुनिया में विवाह प्रभावी रहेगा, दुनिया से वेश्याएं नहीं मिट सकतीं, क्योंकि विवाह और वेश्या एक ही संस्था के दो पहलू हैं। असल में घर की पत्नी को अगर जीवनभर साथ रखना है और घर के पति को अगर जीवनभर साथ रखना है तो बीच-बीच में व्यावसायिक छूट के मौके होने जरूरी हैं। वेश्या खतरनाक नहीं है क्योंकि उससे पैसे का संबंध है। उससे भी प्रेम का कोई संबंध नहीं है। और पत्नी भी यही पसंद करेगी कि उसका पति वेश्या के पास चला जाए, बजाए किसी और स्त्री के पास चला जाए। क्योंकि किसी और स्त्री से प्रेम पैदा हो सकता है, वेश्या से प्रेम का कोई कारण नहीं है। वह धंधा है। इसलिए पत्नियां अपने सामने अपने पतियों को वेश्याओं को नाचते देखती रहीं, उनसे उन्हें कोई तकलीफ न थी, उसमें कोई खतरा न था, खतरे का कोई कारण न था। वेश्या से संबंध पैसे का है, वह सेक्सुअल है, वह कामुक है। प्रेम खतरा है पत्नी के लिए। उसका कोई खतरा नहीं है।
पुरानी दुनिया का आदमी सोचता तो ऐसा ही रहा है कि बड़ा ही काम-मुक्त था, बड़ा ही नैतिक था। मुझे नहीं दिखाई पड़ता है। क्योंकि नैतिक होने की संभावना अनैतिक होने की संभावना से ही शुरू होती है। इसलिए नैतिक होने की सब संभावनाएं भी कट गई हैं। बीसवीं सदी का आदमी पहली दफा मारल हो सकता है, नैतिक हो सकता है, क्योंकि चुनाव है और उसके पास मौका है कि वह चाहे तो अनैतिक हो जाए और चाहे तो नैतिक हो जाए।
यह जो हमने चुनाव रहित, व्यक्तित्वहीन, विचार रिक्त विश्वास और श्रद्धा का जाल खड़ा किया था वह सब जगह टूट गया है। हम उसी को जोड़ने में लगे हैं। हम किसी तरह उसी जाल को, पुराने जाल को जोड़ने में समय गंवा रहे हैं। जब कि जरूरी है कि हम समझ लें कि पुराना जाल न अब जोड़ा जा सकता है, न अब

लौटाया जा सकता है। न उसके वापस लौटने की कोई संभावना है। इसलिए जितनी देर हम उसको सुधारने में और उसको ठीक करने में गंवा रहे हैं, उतनी देर यह प्रसव की पीड़ा लंबी होती चली जाती है। अगर यह साफ हो सके कि वह गया ही, जा ही चुका, तो उसको दफना देने की जरूरत है और तत्काल चिंतन को नया मार्ग देने की जरूरत है कि नये मनुष्य के चुनाव के लिए हम क्या करें। उसके सामने नैतिक, अनैतिक कौन सी धाराएं उपस्थित करें? निश्चित ही पुरानी धारणाएं काम नहीं करेंगी।
जैसे--पुरानी सारी नीति भय पर खड़ी है। सब भय पर खड़ी है नीति, डर पर खड़ी है। डरा रहे थे हम आदमी को। उससे कह रहे थे कि तूने बुरा किया तो फिर आग में, नरक में, कीड़े-मकोड़ों में जिंदगी बसर करनी पड़ेगी और जिसने ये नरकों की कल्पनाएं की थीं, बड़े खतरनाक लोग रहे होंगे क्योंकि उनकी कल्पनाएं बताती हैं कि वे जरूर पैथालॉजिकल... उनका दिमाग रुग्ण रहा होगा! कैसी कल्पनाएं हैं कि कड़ाहों में आदमी को जलाया जा रहा है। जलते तो बहुत हैं लेकिन जल ही नहीं जाते। बड़े मजेदार लोग हैं, बड़े सैडिस्ट, बड़े दूसरे को दुख देने में उत्सुक लोग रहे होंगे।
आदमी को कड़ाहे में जलाया जा रहा है, जलने की पूरी तकलीफ भोग रहा है वह, लेकिन जल नहीं जाता, क्योंकि जल जाए एक दफा तो फिर दुबारा तकलीफ कैसे रहेगी। उनको तकलीफ दिए चले जाना है, अंतहीन पीड़ा होगी वह। नरक में कीड़े- मकोड़े... उसके शरीर में हजारों कीड़े-मकोड़े इधर से निकलेंगे, उधर से निकलेंगे, सब छेद कर देंगे और दौड़ते रहेंगे, वह आदमी मरेगा नहीं, जिंदा रहेगा, जिंदा रखना जरूरी है। नहीं तो कीड़े जो तकलीफ दे रहे हैं वह तकलीफ कैसे झेली जाएगी। प्यास नरक में लगेगी, पानी भी नरक में होगा लेकिन पी न सकेंगे, जैसे पीएंगे फौरन मूर्च्छित हो जाएंगे। जैसे ही होश आएगा, प्यास लगेगी, जैसे ही पानी के पास जाएंगे, मूर्च्छित हो जाएंगे।
अजीब लोग थे। इनसे ज्यादा वायलेंट, इनसे ज्यादा हिंसक आदमी खोजना कठिन है। लेकिन ये सब साधु-संत थे। इनकी हिंसा का आप विचार करें कि ये किस तरह का इंतजाम कर रहे थे, उन लोगों के लिए जो उनकी बात को न मानेंगे, उनके लिए इंतजाम कर रहे थे। इसलिए इनको, बेचारों को हर मुल्क में अलग-अलग नरक का इंतजाम करना पड़ा। क्योंकि हर मुल्क में दुख की धारणा अलग-अलग है। हिंदुस्तान में अगर हमने नरक बनाया तो उसमें आग जलानी पड़ी। तिब्बत में अगर नरक में आग जलाओगे तो वे लोग नरक में जाने को राजी हो जाएंगे क्योंकि ठंड से तिब्बत बहुत पीड़ित है। इसलिए तिब्बत के नरक में बर्फ ही बर्फ जमानी पड़ी। वहां बर्फ ही बर्फ है अंतहीन। वहां आग जल ही नहीं सकती, तिब्बत के नरक में।
बड़े मजे की बात है कि नरक भी हमें अलग-अलग राष्ट्रीयताओं के हिसाब से बांटने पड़े। तिब्बती नरक अलग है क्योंकि तिब्बती आदमी को ठंड से ही डराया जा सकता है और भारत के आदमी को गर्मी से डराया जा सकता है--यह भय! स्वर्ग में हमें इंतजाम करना पड़ा हमें प्रलोभन का, वह भय का दूसरा रूप है। प्रलोभन भी गहरे में भय है कि अगर इस बात को माना तो यह लाभ है और नहीं माना तो यह हानि है। तो हमने स्वर्ग में इंतजाम किए हैं। हमने सब वह इंतजाम कर दिए जिसको धर्मगुरु यहां इनकार करते हैं आदमी के लिए कि बुरा है। यहां वह कहते हैं कि दूसरे की स्त्री की तरफ देखना बुरा है। असल में स्त्री की तरफ देखना ही बुरा है। और वहां--वहां अप्सराएं, जिनको स्वर्गीय वेश्याएं कहना चाहिए उनका इंतजाम किया हुआ है। और मजे की बात यह है कि यहां तो जमीन पर स्त्री आखिर बूढ़ी हो जाती है लेकिन वेश्याएं जो स्वर्ग की हैं, अप्सराएं जिनका नाम है, उनकी उम्र सोलह साल से आगे नहीं बढ़ती है, वहां रुक जाती है। और यह महात्माओं ने यह सारा का सारा इंतजाम किया हुआ है लोगों को प्रलोभन देने के लिए कि अगर तुमने अच्छे काम किए, अच्छे काम के फल में यह मिलने वाला है। बहिश्त में, स्वर्ग में शराब के चश्मे बह रहे हैं। यहां शराब चुल्लू भर मत पीना और वहां चश्मे बह रहे हैं। अरब में चूंकि एक परवरटेड सेक्सुअलिटी प्रचलित थी, होमो-सेक्सुअलिटी प्रचलित थी मोहम्मद के वक्त में। चूंकि अरब में पुरुष भी पुरुषों के साथ काम संबंध तय किए हुए थे। इसलिए इस्लाम धर्म को स्वर्ग में अप्सराओं की ही नहीं, गिल्मों की भी

व्यवस्था करनी पड़ी, लड़कों की, खूबसूरत लड़कों की। कैसा पागलपन है? होमो- सेक्सुअल के लिए भी इंतजाम किया था स्वर्ग में। यानी जिनका यहां इलाज होना चाहिए उनका वहां इंतजाम किया हुआ है।
यह सारा भय और प्रलोभन पुरानी नीति के आधार में था। ये सब भय और प्रलोभन खतम हो गए हैं। हमें पता नहीं चल रहा है कि इनके आधार खतम हो गए हैं। अब न कोई स्वर्ग के लिए उत्सुक है और न कोई नरक से भयभीत है, लेकिन हम पुरानी नीति की बातें दोहराए चले जा रहे हैं और उनकी बुनियादें गिर गई हैं। मकान के नीचे से जमीन खिसक गई है और छप्पर को सम्हाले खड़े हैं तो छप्पर भारी पड़ रहा है। नहीं, हमें नई नीति को जन्म देना पड़ेगा जो भय पर आधारित नहीं हो सकती। आदमी भय के बाहर हो गया है। बीसवीं सदी का आदमी फियरलेस हो गया है, भय के बाहर हो गया है--उचित है! जब भी कोई आदमी जवान होगा तो भय के बाहर हो जाएगा। बच्चों को डराना आसान है कि चौके में मत जाना, वहां भूत-प्रेत है। लेकिन वह बच्चा जब जवान हो जाएगा, अडल्ट हो जाएगा और उससे आप कहेंगे, भूत-प्रेत है तो वह कहेगा निपट लेंगे। उसको भूत-प्रेत से कोई परिणाम नहीं हो सकता।
मनुष्यता अडल्ट हो गई है--इस सदी में आकर पहली दफे मनुष्यता प्रौढ़ हो
गई है, बचपन नहीं रहा आदमी का। अब उसको पुराने भय काम नहीं करते। लेकिन हम पुराने भय दोहराए जा रहे हैं और जब वह भय काम नहीं करते और आदमी अनैतिक होता जाता है तो हम चिल्लाते हैं, आदमी अनैतिक हो गया है। असली बात यह है कि हमारी नीति असंगत हो गई है। हमारी जो मॉरल सिस्टम थी, वह जो नीति की व्यवस्था थी वह इररिलेवेंट हो गई है। उसका कोई संबंध नहीं रह गया है। अब इस नये आदमी को, इस बीसवीं सदी के आदमी को नई नीति चाहिए।
इस नीति के नये आधार चाहिए। यह नई नीति ज्ञान पर खड़ी होगी, भय पर नहीं।
यह नई नीति इस बात पर खड़ी होगी कि आज के आदमी को समझ में आना चाहिए कि नैतिक होना उसके लिए आनंदपूर्ण है। नैतिक होना उसके लिए स्वास्थ्यपूर्ण है। नैतिक होना उसके निजी हित में है। यह किसी भविष्य के लिए नहीं है, यह कल मृत्यु के बाद किसी स्वर्ग के लिए नहीं, आज इसी पृथ्वी पर नैतिक होने का रस--और जो अनैतिक है वह अपने हाथ से अपने पैर काट रहा है। जो अनैतिक है वह भविष्य में नरक जाएगा, ऐसा नहीं; जो अनैतिक है वह आज अपने लिए नरक पैदा कर रहा है।
असल में अनीति, कर्म और फल, नरक... इतना फासला अब नहीं चल सकता। अनीति
ही नरक है, यह आदमी के ज्ञान का हिस्सा बन जाए और नीति ही स्वर्ग है, अगर यह आदमी के ज्ञान का हिस्सा बन जाए तो हम भविष्य के लिए नीति के आधार रख पाएंगे, अन्यथा हम न रख पाएंगे। लेकिन मुझे लगता है, ये आधार रखे जा सकते हैं।
आज सारी दुनिया के वैज्ञानिक कह रहे हैं कि क्रोध के क्षण में आप इसी वक्त नरक में हो जाते हैं। कहीं मरने के बाद नरक में जाने की कोई जरूरत नहीं है। क्रोध के क्षण में आपके सारे शरीर में जहर फैल जाता है। अब किसी को यह कहना कि तुम क्रोध करोगे तो नरक में सड़ना पड़ेगा, बेमानी है।
अब तो क्रोध को लेबोरेटरी में जांच करवाया जा सकता है कि जाओ और लेबोरेटरी में प्रयोग करके देखो कि जब तुम क्रोध में होते हो तब तुम्हारी कितनी उम्र कम हो जाती है क्रोध के फैलने से। जब तुम क्रोध में होते हो तब तुम्हारी कितनी बुद्धि क्षीण हो जाती है जहर के फैलने में। जब तुम क्रोध में होते हो तब तुम्हारा स्वास्थ्य कितना कमजोर हो जाता है जहर के फैलने से। और तुम्हारे बीमार होने की संभावना कितनी तीव्र हो जाती है जहर के फैलने से। और जब तुम क्रोध में हो तब तुम अपनी आत्महत्या कर रहे हो। फ्रेग्मेंट्री है यह आत्महत्या, खंड-खंड, अंश-अंश में है इसलिए पता नहीं चलती। एक आदमी जब पूरे तीव्र क्रोध में होता है तो जितना जहर उसके खून में फैलता है इसका सौ गुना जहर एक आदमी की हत्या के लिए काफी है। यह हमें ज्ञान का हिस्सा बनाना पड़ेगा।
अब भविष्य की नैतिकता ज्ञान का हिस्सा होगी। हमें प्रेम को ज्ञान का हिस्सा बनाना पड़ेगा। अभी ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी में एक लेबोरेटरी में, डीलाबार--उस लेबोरेटरी में कुछ बहुत अदभुत प्रयोग हुए हैं जो आपसे कहना

चाहूंगा, जो कि भविष्य की नीति को प्रभावित करेंगे। उन प्रयोगों ने बहुत हैरानी में डाल दिया है। एक ईसाई फकीर ने एक लेबोरेटरी में जाकर यह कहा कि मैं जिन बीजों पर प्रार्थना करके पानी डाल दूं वे उन बीजों से जल्दी अंकुरित होते हैं जिन पर मैं प्रार्थना करके पानी न डालूं। लेबोरेटरी... और वैज्ञानिक यह मानने को तैयार नहीं हो सकता कि प्रार्थना किया गया पानी और बीज को जल्दी अंकुरित कर दे!
प्रयोग किया गया, सौ प्रयोग किए गए और आज वह फकीर सही साबित हुआ। एक ही पूड़े के बीज आधे एक गमले में डाले गए, आधे दूसरे गमले में डाले गए। एक सी जमीन, एक सी मिट्टी, एक सा पानी, एक सी धूप, सारा इंतजाम है एक सा। सिर्फ इतना थोड़ा-सा फर्क--एक सा पानी, लेकिन एक पानी पर उस फकीर ने खड़े होकर प्रार्थना की और दूसरे पानी पर प्रार्थना न की, इतना ही फर्क! हर बार सौ प्रयोगों में वह फकीर सही साबित हुआ। जिस बीज पर प्रार्थना करके पानी डाला गया वह बीज जल्दी अंकुरित हुआ, सारे बीज अंकुरित हुए। जल्दी उनमें फूल आए, जल्दी वे फलों को उपलब्ध हुए। उनके फूलों की सुगंध भी और थी, उनके फलों की ताजगी भी और थी, उन वृक्षों की शान भी और थी।
और जिन बीजों पर प्रार्थना नहीं की गई उनमें कुछ भेद था। वे सारे बीज अंकुरित न हुए, अंकुरित जैसे धीरे-धीरे होने थे वैसे हुए और इन पौधों के सामने वे बिल्कुल ही ऐसे मालूम पड़ने लगे जैसे कि कोई अनिवार्य तत्व उनको नहीं मिला है जो इन पौधों को मिल गया है। लेकिन वह अनिवार्य तत्व प्रार्थना हो सकती है, इसकी कल्पना तक वैज्ञानिक को कठिन है। लेकिन प्रयोगों ने सिद्ध किया है कि प्रार्थना वह अनिवार्य तत्व हो सकती है। अब प्रार्थना भगवान से डर कर इस दुनिया में कोई आदमी नहीं करेगा। करना भी नहीं चाहिए। क्योंकि जो प्रार्थना भय के कारण की जाएगी वह प्रार्थना हो भी नहीं सकती। क्योंकि जिस प्रार्थना में भीतर भय है वह प्रार्थना नहीं बन सकती। असल में जहां भय है वहां प्रेम पैदा नहीं हो सकता। तुलसीदास ने कहाः "भय बिनु होहिं न प्रीति।" एकदम गलत बात कही है। कहा है कि बिना भय के प्रेम नहीं होता। यह पुराने आदमी का दिमाग था। मैं आपसे कहता हूं, जहां भय है वहां प्रेम कभी होता ही नहीं। जहां भय नहीं है वहीं प्रेम होता है। पुराना आदमी भय के कारण प्रार्थना कर रहा था, हाथ जोड़े, घुटने टेके खड़ा हुआ था। नये आदमी को भयभीत नहीं किया जा सकता। यह उचित है। बुरा भी नहीं हुआ है। यह आदमी का विकास है, यह ग्रोथ है। उसकी चेतना आगे बढ़ी है। अब अगर वह प्रार्थना भी करेगा तो किसी ज्ञान के कारण। नई नीति भय केंद्रित नहीं, ज्ञान केंद्रित होगी। इस फकीर के साथ एक और घटना घटी है उस लेबोरेटरी में, वह भी आपसे कहना चाहगां। जिस बीज पर इसने प्रार्थना की, उसमें से एक बीज का फोटोग्राफ लिया गया कि उसमें कोई फर्क तो नहीं हो गया बीज में। क्योंकि जब बीज के अंकुर में फर्क पड़ा, अगर उसके पत्तों में फर्क पड़ा और फूलों में फर्क पड़ा तो बीज में कोई फर्क पड़ जाना चाहिए, नहीं तो कैसे फर्क पड़ेगा। तो उस बीज का फोटो लिया गया है जिस पर प्रार्थना नहीं की गई और उस बीज का फोटो लिया गया जिस पर प्रार्थना की गई और एक मिरेकल और एक चमत्कार की घटना घटी और ऑक्सफोर्ड जैसी युनिवर्सिटी में। वह चमत्कार की घटना यह है कि जिस बीज पर प्रार्थना की गई... वह फकीर अपने गले में क्रॉस लटकाए हुए था क्राइस्ट का, उस बीज के भीतर क्रॉस का चिह्न आ गया।
अब अगर हम मनुष्य को प्रार्थना की तरफ... और बिना प्रार्थना के मनुष्य अधूरा है और बिना प्रार्थना के मनुष्य की जिंदगी में रौनक नहीं हो सकती। लेकिन बीसवीं सदी अब प्रार्थना को, प्रेम को, घृणा को, क्रोध को, अनीति को, नीति को ज्ञान-केंद्रित बनाएगी। वह नॉलेज ओरिएंटेड होंगे, फियर ओरिएंटेड नहीं हो सकते। असल में, अज्ञान में भय के अतिरिक्त और कोई उपाय न था। अब ज्ञान में भय कोई भी उपाय नहीं है। लेकिन हम पुरानी बातचीत दोहराए चले जाते हैं। हम पुराने गुरुओं को दोहराए चले जाते हैं।
हम पुराने शास्त्रों को दोहराए चले जाते हैं उन बच्चों के सामने, जो
कि बीसवीं सदी के हैं। इनके बीच हजारों साल का फासला हो गया है। इनका कोई संबंध नहीं रह गया है। अब ये सब शास्त्र और सब ग्रंथ और ये सब गुरु इनके

लिए बेमानी हो गए हैं। इनसे इनका कोई आत्मिक संबंध नहीं रह गया है। इनके भीतर और इन गुरुओं और शास्त्रों के बीच अब कोई लेन-देन नहीं है। और आप अगर इन्हीं को दोहराए चले गए तो इन बच्चों को अगर विकृति मिल जाए, अगर यह बीसवीं सदी का आदमी अनीति की तरफ झुकता चला जाए, अगर यह बीसवीं सदी का आदमी अराजक हो जाए, अगर यह बीसवीं सदी का आदमी उच्छृंखल हो जाए, तो जिम्मा किसका होगा? जिम्मा हमारा होगा। जो कि पुरानी बातें दोहराए चले गए, जो कि असंगत हो गई।
नये मनुष्य के लिए नये जीवन का ज्ञान चाहिए। नये मनुष्य के लिए परमात्मा की नई प्रतिमाएं चाहिए, नये मनुष्य के लिए नीति के नये मापदंड चाहिए, नये मनुष्य के लिए जीवन की पूरी नई व्यवस्था चाहिए। वह पुराने से सब छूट गया है। जैसे बैलगाड़ी के चक्के रेलगाड़ी में काम नहीं पड़ते वैसा ही सब पुरानी नीति के चक्के अब नये आदमी के बिल्कुल काम पड़ने वाले नहीं। यह अगर हमें स्मरण आ जाए तो कोई कठिनाई नहीं है कि बीसवीं सदी का मनुष्य एक बहुत बड़ा चरण है, एक बहुत बड़ा सोपान है, एक बहुत बड़ी उपलब्धि सिद्ध हो। और यह अगर हमें समझ में न आए तो भी पीछे लौटा नहीं जा सकता। प्रसव की पीड़ा लंबी हो जाएगी और इस प्रसव की पीड़ा में यह खतरा है कि पुरानी पीढ़ियां आदमी को पीछे की तरफ खींचती रहें, और नई पीढ़ियां सिर्फ प्रतिक्रिया में विकृत और परवर्ट हो जाएं। और पुराने आदमी से बचने के लिए कहीं भी दौड़ने लगें और विक्षिप्त हो जाएं।
यह खतरा सामने खड़ा हो गया है। आज सारी दुनिया में चाहे हिप्पी हो, चाहे बीटल हो, चाहे बीटनिक हो और चाहे हिप्पीज हों और चाहे और हजार तरह के नाम हैं, यूरोप और अमरीका में उनके वे हों, चाहे हमारे नेक्सलाइट्स और चाहे कोई और हों, ये सारे बच्चे एक बहुत गहरी घनी पीड़ा में जी रहे हैं। इनकी पीड़ा यह है कि पुरानी सारी व्यवस्था असंगत हो गई और नई कोई व्यवस्था नहीं है। और नई व्यवस्था बच्चे पैदा कर पाएं, इसमें अगर उनको पुरानी पीढ़ियों का सहारा मिल जाए, साथ मिल जाए तो बड़ी सुविधा हो सकती है। नये बच्चे पैदा करेंगे, लेकिन देर लग सकती है--बहुत देर लग सकती है। इतनी भी देर लग सकती है कि चीजें इतनी रुग्ण और इतनी विकृत हो जाएं कि उनको सुधारना निरंतर कठिनाई लगने लगे।
एक अंतिम बात फिर मैं अपनी बात पूरी करूं। और वह बात यह है आखिरी कि पुराना आदमी दुख को स्वीकार करके जी रहा था। उसकी एक एक्सेप्टिविटी थी दुख के प्रति। उसमें राजी हो गया था। मौत थी तो राजी था, बीमारी थी तो राजी था, गरीबी थी तो राजी था, जो कुछ भी था उसके लिए राजी था। नया आदमी अब दुख को स्वीकार करने को राजी नहीं है, क्योंकि विज्ञान ने सुख की सारी सुविधाएं दे दी हैं, जो पुराने आदमी के पास नहीं थीं। इसलिए अब हम नये आदमी को यदि दुखवादी दर्शन सिखाने जाएंगे तो वह अर्थहीन है। पुराना आदमी मजबूरी में था। दुख था और कोई उपाय न था। मौत थी और उसको आगे हटाने का कोई उपाय न था। इसलिए हस्तरेखा विज्ञान और ज्योतिष और सब चीजें विकसित करना सुलभ था। आदमी पता लगा लेता था, सत्तर साल जीना है, जीना है। सत्तर साल, बात खत्म हो गई। इकहत्तर साल का कोई सवाल नहीं था। अब यह बात खत्म हो गई है। अब इसका कोई अर्थ नहीं रह गया है। अब आदमी जितना लंबा जीना चाहेगा, उसके हमारे पास उपाय हैं। और अब यह भी कठिन नहीं है कि किसी आदमी को हम अगर अनंत समय तक जिंदा रखना चाहें तो पचास सालों बाद हम उसे जिंदा रख सकें।
एक आदमी ने--अमरीका में अभी मरा है, वह दस करोड़ डालर की वसीयत करके मरा
है कि उसकी लाश को सुरक्षित रखा जाए क्योंकि विज्ञान करीब-करीब उस जगह पहुंच गया है जहां बीस-पच्चीस साल में मरे हुए आदमी को पुनरुज्जीवित किया जा सके। उस आदमी की लाश पर एक लाख रुपया रोज खर्च किया जा रहा है ताकि वह उसी हालत में रहे जिस हालत में मरते क्षण में था। वह आदमी इस आशा में मरा हुआ पड़ा है--तीस-चालीस साल में जब विज्ञान उस जगह आ जाएगा, कि आदमी पुनरुज्जीवित किए जा सकें, वह पुनरुज्जीवित हो सके।
वह करीब आ रहा है। इसलिए अब मृत्यु को रेखा नहीं माना जा सकता। अब ज्योतिष उस अर्थ में सार्थक नहीं हो सकता। अब बीमारी अनिवार्य नहीं है, वह हमारा अज्ञान है। अब कुरूपता भी भाग्य नहीं है, सिर्फ हमारा अज्ञान है।

क्योंकि अब भविष्य में बीस-पच्चीस सालों में दुनिया में किसी आदमी के कुरूप होने का कोई कारण नहीं है। तो अब जो भविष्य का मनुष्य होगा वह दुख के आधार पर जीवन को निर्मित नहीं करेगा, इसलिए त्यागवादी नहीं हो सकता। भविष्य का मनुष्य सुख के जीवन पर आधार बनाएगा, इसलिए भोगवादी होगा। और ध्यान रहे, त्यागवाद हमारी मजबूरी थी और इसलिए त्याग यहां करवाते थे, भोग का इंतजाम स्वर्ग में करते थे। जब भविष्य का आदमी यहीं स्वर्ग बना सकेगा तो त्यागवादी नहीं हो सकता।
हमें समझ लेना चाहिए कि दुनिया में अब उसी धर्म का भविष्य है जो जीवन
के रस और जीवन के भोग को सहज स्वीकार कर सके। जो जीवन को दुख की दिशा न दे। जो यह न कहे कि संसार दुख है, जो यह न कहे कि जीवन पाप है, जो यह न कहे कि आवागमन से मुक्ति ही हमारा लक्ष्य है।
नहीं, अब जो धर्म यह घोषणा कर सके कि जीवन परमात्मा की देन है, जो धर्म
यह घोषणा कर सके कि जीवन परमात्मा का दिया हुआ आशीर्वाद है, अब जो धर्म यह घोषणा कर सके कि जो योग्य हैं, जो सफल हैं, जो जीवन के रस को पूरा लेते हैं, उन्हें अनंत जीवन उपलब्ध होने की संभावना है। ऐसा धर्म भविष्य की पीढ़ी के लिए धर्म बन सकता है।
ये थोड़ी सी बातें मैंने कहीं। मेरी बातों को मान लेना आवश्यक नहीं है। खतरनाक भी है मान लेना। मानने से बचना ही चाहिए। मेरी बातों को सोचना। हो सकता है, मेरी सारी बातें गलत हों--शायद आप सोचें और पाएं कि बातें गलत हैं तो भी आपका लाभ होगा। क्योंकि कुछ बातों को गलत जान लेने से आदमी सही की तरफ बढ़ जाता है। और अगर कोई बात सही मालूम पड़ जाए तो वह मेरी न रह जाएगी, वह आपकी अपनी हो जाएगी। जिसको हम विचारपूर्वक जानते हैं कि सही है, वह उधार नहीं रह जाती। वह स्वयं की हो जाती है।
और सिर्फ वे ही सत्य कारगर होते हैं जो स्वयं के हैं। दूसरे के उधार सत्य सिर्फ बोझ बन जाते हैं। मैं आपका बोझ न बनूं, इसकी आखिरी प्रार्थना करता हूं। पुराने गुरु बहुत बोझ बन गए हैं। अब किसी को सिर पर रखने की जरूरत नहीं है।

मेरी बातें इतने प्रेम और शांति से सुनीं उससे बहुत अनुगृहीत हूं। और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं। मेरे प्रणाम स्वीकार करें।